—: आदेशक :—

चारित्र चक्रवर्ती मुनिकुञ्जर समाधिसम्राट 108 आचार्य श्री आदि सागर जी महाराज ''अंकलीकर''
के तृतीय पट्टाधीश सिद्धान्त चक्रवर्ती 108 आचार्य श्री सन्मति सागर जी महाराज

श्री सोमदेव सूरि विरचित

(ग्रन्थ सं. 28)

हिन्दीटीका

सिद्धान्त विशारद, विदूषीरत्न, सम्यग्ज्ञान शिरोमणि

धर्म प्रभाविका, ज्ञान चिन्तामणि प्रथम गणिनी

105 आर्यिका श्री विजयामती माताजी

(श्री चा. च. 108 आचार्य आदिसागर जी महाराज ''अंकलीकर'' परम्परा)

प्रबन्ध सम्पादक

नाथू लाल जैन ''टोंकवाला''

सम्पादक

महेन्द्र कुमार जैन ''बड़जात्या''

प्रकाशक

श्री दिगम्बर जैन विजयाग्रन्थ प्रकाशन समिति

114, जैन भगवती भवन, शिल्प कॉलोनी, कालवाड़ रोड़,

झोटवाड़ा, जयपुर - 302 012

विषयानुक्रमणिका

विषय		पृष्ठ संख्या
1. धर्म समुद्देश:		**1 से 57**
1.	मंगलाचरण	1
2.	धर्म का स्वरूप	3
3.	सम्यग्दर्शन का स्वरूप	4
4.	आप्त का लक्षण व स्वरूप	4
5.	आगम का स्वरूप	5
6.	सम्यग्ज्ञान का स्वरूप	5
7.	सम्यक्चारित्र का लक्षण	6
8.	श्रावकों के उत्तरगुण	7
9.	सत्याणुव्रत का स्वरूप	8
10.	अचौर्याणुव्रत	9
11.	परिग्रहपरिमाणाणुव्रत	9
12.	अधर्म का निरूपण	11
13.	अज्ञान का लक्षण	12
14.	धर्म प्राप्ति के उपाय	13
15.	सर्वोत्तम सत्कर्म का निरूपण	14
16.	दयाविहीन पुरुषों की क्रियाएँ निष्फल होती हैं	15
17.	दयालु पुरुषों का कर्त्तव्य	15
18.	शक्त्यानुसार व्रत करने नियम करने का उपदेश	17
19.	त्याग दान का महात्म्य	17
20.	अपात्र को दत्त दान निष्फल	19
21.	पात्रों के भेद	19
22.	पात्रों के विषय में अन्यमत	20

विषय		पृष्ठ संख्या
23.	कृपण के धन की आलोचना	21
24.	नैतिकाचार का निरूपण	21
25.	पुनः नैतिकाचारी के सत्कर्त्तव्य निरूपण	22
26.	सच्चे लोभी की प्रशंसा	22
27.	भिक्षुक को भिक्षा में विघ्न क्यों	23
28.	दरिद्र की स्थिति	23
29.	याचक का दोष निरूपण	25
30.	तप का स्वरूप	25
31.	नियम का स्वरूप	26
32.	शास्त्र का महात्म्य	27
33.	सत्यार्थ आगम शास्त्र का निर्णय	28
34.	चंचल चित्तवालों का विवरण	29
35.	ज्ञानवान होकर भी शुभकार्य न करे-वर्णन	30
36.	परोपदेशियों की सुलभता	31
37.	तप और दान से प्राप्त फल	32
38.	सञ्चय से होने वाले लाभ का वर्णन	33
39.	धर्म, विद्या और धन की प्रतिदिन वृद्धि करने का लाभ	35
40.	एक काल में पुण्य समूह का सञ्चय दुर्भल है ।	36
41.	आलसी के मनोरथ विफल होते हैं	37
42.	धर्मफल भोगता हुआ भी पाप में प्रवृत्त का वर्णन	39
43.	विवेकी पुरुष स्वयं धर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति करे	40
44.	धर्मानुष्ठान काल में होने वाली प्रवृत्ति	41
45.	पाप में प्रवृत्त पुरुष का स्वरूप	42
46.	पाप का निषेध करते हैं	43
47.	धूर्त-स्वार्थवश धनाढ्यों को पापमार्ग में लगाते हैं	45
48.	दुष्ट संसर्ग का फल	45
49.	दुष्टों का स्वरूप	46
50.	परस्त्री सेवन का फल	47
51.	धर्म के उल्लंघन का फल	48
52.	पापी की हानी	49
53.	धर्म पुरुषार्थ साधक का कथन	50
54.	बुद्धिमान का कर्त्तव्य	51
55.	अन्याय से सुख लेश, हानि अधिक	52
56.	पूर्वकृत धर्माधर्म का अकाट्य युक्तियों से समर्थन	53
57.	धर्माधिक भाग्यशाली का महात्म्य	54

विषय		पृष्ठ संख्या
2.	**अर्थ-समुद्देश:**	**58 से 68**
1.	अर्थ धन का लक्षण	58
2.	धनाढ्य होने का उपाय	60
3.	अर्थानुबन्ध का लक्षण	61
4.	संचित धन के नाश का कारण	62
5.	तीर्थपात्र का लक्षण	63
6.	धन नष्ट करने वाले साधन	64
7.	तादात्विक का लक्षण	64
8.	मूलहर का लक्षण	65
9.	लोभी का लक्षण	66
10.	लोभी के धन की अवस्था	68
3.	**काम समुद्देश:**	**69 से 81**
1.	काम का स्वरूप व लक्षण	69
2.	काम सेवन क्रम	70
3.	तीनों पुरुषार्थों की सेवन विधि	71
4.	किसी एक पुरुषार्थ के सेवन से हानि	72
5.	कष्ट सहकर धन कमाने वाले का कथन	72
6.	सम्पत्तियों की सार्थकता	73
7.	अवश इन्द्रियों का कुफल	74
8.	इन्द्रियों को वश करने का उपाय	75
9.	इन्द्रिय जय का अन्य उपाय	75
10.	नीतिशास्त्र का परिज्ञान इन्द्रिय जय कैसे	76
11.	काम के दोष निरूपण	77
12.	कामी की क्षति	77
13.	स्त्री में अत्यन्त आसक्ति करने वाले की हानि	78
14.	निति शास्त्र विरूद्ध काम सेवन से हानि	79
15.	धर्म अर्थ व काम पुरुषार्थों में प्रथम किसका अनुष्ठान	79
16.	समयानुसार पुरुषार्थ का अनुष्ठान	80
17.	तीनों पुरुषार्थों में अर्थ की मुख्यता	81
4.	**अर्थ अरिषड्वर्ग-समुद्देश:**	**82 से 90**
1.	राजाओं के अन्तरङ्ग शत्रु-काम और क्रोध का निरूपण	82
2.	कामशत्रु का विवेचन	83

विषय		पृष्ठ संख्या
3.	क्रोध शत्रु का निरुपण	84
4.	लोभ का लक्षण निर्देश	86
5.	मान का लक्षण	87
6.	मद का लक्षण कथन	88
7.	हर्ष का लक्षण	89
5.	**विद्यावृद्ध समुद्देशः**	**91 से 143**
1.	राजा का लक्षण	91
2.	राजा के कर्त्तव्य	91
3.	राजा के अकर्त्तव्य	93
4.	राज्य के लक्षण	93
5.	वर्णों का भेदपूर्वक वर्णन	96
6.	आश्रम के भेदों का वर्णन	98
7.	उप कुर्वाणक ब्रह्मचारी का लक्षण	99
8.	नैष्ठिक ब्रह्मचारी का लक्षण	99
9.	कृतुपद ब्रह्मचारी का लक्षण	101
10.	पुत्र शून्य ब्रह्मचारी का लक्षण	101
11.	शास्त्राभ्यास विहीन पुरुष की हानि	102
12.	ईश्वर भक्ति न करने वाले की हानि	103
13.	लोक सेवा न करने वाले की हानि	103
14.	नैष्ठिक ब्रह्मचारी पुत्र विहीन होने पर भी ऋणी नहीं होता	104
15.	नैष्ठिक ब्रह्मचारी का महत्त्व	104
16.	गृहस्थ का लक्षण	105
17.	गृहस्थों के नित्य करने योग्य सत्कार्यों का निर्देश	106
18.	नैमित्तिक अनुष्ठानों गृहस्थों के भेद	107
19.	अन्य मतों की अपेक्षा गृहस्थों के भेद	107
20.	परमत की अपेक्षा वानप्रस्थ का लक्षण	108
21.	परमत की अपेक्षा से वानप्रस्त के भेद	109
22.	यति व साधु का लक्षण निर्देश	109
23.	अन्यमतापेक्षा यतियों के भेद	110
24.	राज्य का मूल	111
25.	राज्य वृद्धि का उपाय	112
26.	पराक्रम शोभित करने वाला गुण	113
27.	राज्य की क्षति का कारण	114

विषय		पृष्ठ संख्या
28.	राजनीति ज्ञान युक्त कौन राजा	115
29.	बुद्धिमान राजा का लक्षण	116
30.	नीतिशास्त्र ज्ञान विहीन की क्षति	117
31.	शास्त्रज्ञान से पुरुषों को लाभ क्या है ?	118
32.	शास्त्र ज्ञान शून्य पुरुष का विवरण	119
33.	मूर्ख मनुष्य की हीनता का वर्णन	120
34.	राज्य की क्षति करने वाले राजा का लक्षण	121
35.	अयोग्य युवराज के लक्षण	121
36.	दुष्ट राजा से प्रजा की क्षति का वर्णन	122
37.	दुष्ट राजा के लक्षण	122
38.	राज्यपद के योग्य पुरुषद्वय का लक्षण	123
39.	अयोग्य पुरुष राज्याधिकारी से हानि	124
40.	गुणवान पुरुष का वर्णन	124-125
41.	बुद्धि के गुण और उनके लक्षण	125
42.	विद्याओं का स्वरूप	126
43.	राजविद्याओं के नाम और संख्या	126
44.	आन्विक्षिकी विद्या के पठन का लाभ	128
45.	त्रयी विद्या के पढने का लाभ	128
46.	वार्ता-विद्या से लाभ	128
47.	दण्डनीति में प्रवीण राजा का लाभ	129
48.	अन्य मतावलम्बियों की अपेक्षा आन्विक्षिकी विद्या के प्रति मान्यता	129
49.	आन्वीक्षिकी-आध्यात्म विद्या के लाभ	130
50.	अनभ्यास विद्या और विद्वानों की संगति से रहित की हानि	133
51.	सदाचारी की संगति से होने वाले लाभ	134
52.	राजगुरुओं के सद्गुण	135
53.	शिष्टों के साथ नम्रता का वर्ताव करने वाले राजा के गुण	136
54.	राजा का माहात्म्य	137
55.	दुष्ट पुरुष से विद्या प्राप्त करने का निषेध	137
56.	गुरुजनों के अनुकूल शिष्यों का विवेचन	139
57.	कुलीन और सदाचारी शिक्षकों से लाभ	140
58.	दुराग्रही, हठी राजा का होना योग्य नहीं	141
59.	मूर्ख-दुराग्रही राजा का वर्णन	141
60.	हितकारकों का कर्त्तव्य	142
61.	स्वामी के प्रति विद्वानों का कर्त्तव्य	143

विषय	पृष्ठ संख्या
6. आन्वीक्षिकी समुद्देश:	**144 से 172**
1. आध्यात्मयोग - आत्मध्यान का लक्षण निर्देश	144
2. आत्मज्ञानी राजा का लाभ	146
3. आत्मा के क्रीड़ा योग्य स्थानों का विवेचन	147
4. आत्मा का संकल्प	147
5. शरीरादि से आत्मा भिन्न है	148
6. मन का स्वरूप	148
7. इन्द्रियों का लक्षण	150
8. इन्द्रियों के विषयों का निरुपण	150
9. ज्ञान के स्वरूप	150
10. सुख का लक्षण	151
11. दु:ख का लक्षण	151
12. सुख प्राप्ति के उपाय	152
13. अभ्यास का लक्षण	153
14. अभिमान का लक्षण	154
15. सम्प्रत्यय का लक्षण	154
16. विषय के स्वरूप का निर्णय	155
17. दु:ख के लक्षण का निर्देश	155
18. दु:ख का लक्षण	156
19. चार प्रकार के दु:खों का निरुपण	156
20. दोनों लोकों में दु:खी रहने वाले व्यक्ति का स्वरूप	157
21. कुलीन का महात्म्य और कुत्सित पुरुष की निन्दा	158
22. अभिलाषा इच्छा का लक्षण निर्देश	158
23. दोषों की शुद्धि का उपाय	159
24. उत्साह का लक्षण	159
25. प्रयत्न का स्वरूप	160
26. संस्कार - ज्ञानविशेष का लक्षण	161
27. शरीर का स्वरूप	162
28. नास्तिक दर्शन का स्वरूप	162
29. नास्तिक दर्शन के ज्ञान से होने वाला राजा को लाभ	163
30. मनुष्यों के कर्त्तव्य सर्वथा निर्दोष नहीं होते	164
31. एकान्ततः दयापलन से हानि	165
32. सदा शान्त रहने वाले की हानि	165

विषय		पृष्ठ संख्या
33.	राजा का कर्त्तव्य निर्देश	166
34.	मनुष्य निंद्य किससे समझा जाता है	167
35.	शत्रुओं का पराजय न करने वाले की आलोचना	167
36.	धर्म - प्रतिष्ठा का निरूपण	169
37.	दुष्ट निग्रह न करने से हानि	170
38.	राज्यपद का परिणाम	171
39.	नीतिकार कहते हैं	172
40.	स्त्रियों में विश्वास करने से हानि	172
41.	विद्वान विष्णु शर्मा लिखते हैं	172
7.	**त्रयी समुद्देश**	**173 से 197**
1.	त्रयी विद्या का स्वरूप	173
2.	त्रयी विद्या से होने वाला लाभ	175
3.	त्रयी विद्या से लाभ	175
4.	ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के समान कर्त्तव्य	176
5.	द्विजातियों का निर्देश	177
6.	ब्राह्मणों के कर्त्तव्य का विवरण	177
7.	क्षत्रियों के कर्त्तव्य	178
8.	वैश्यों का धर्म निर्देश	182
9.	शूद्रों के कर्त्तव्य	183
10.	चारों वर्णों के समान धर्मों का वर्णन	184
11.	साधारण धर्म व विशेष धर्म निर्देश	185
12.	साधुओं का कर्त्तव्य	185
13.	कर्त्तव्यच्युत होने पर साधु का कर्त्तव्य	186
14.	अभिष्ट-देव की प्रतिष्ठा का निर्देश	186
15.	बिना भक्ति के उपासना किये हुए देव से हानि	188
16.	वर्ण व आश्रम वालों के कर्त्तव्यच्युत होने पर उसकी शुद्धि	188
17.	राजा-प्रजा को त्रिवर्ग-धर्म, अर्थ काम मोक्ष की प्राप्ति	188
18.	कर्त्तव्यच्युत राजा की कटु आलोचना	189
19.	अपने-अपने धर्म का उल्लंघन करने वालों के साथ राजा का कर्त्तव्य	189
20.	प्रजापालक राजा को धर्म लाभ	190
21.	अन्यमती तपस्वियों द्वारा राजा का सम्मान	190
22.	इष्ट व अनिष्ट वस्तु का निर्णय	191
23.	मनुष्यों के कर्त्तव्यों का वर्णन	192

विषय		पृष्ठ संख्या
24.	स्नान किये मनुष्य का कर्त्तव्य	192
25.	गृहस्थ को मन्दिरों में क्या करना चाहिए	193
26.	चारों वर्णों की पृथक प्रकृति स्वभाव	194
27.	विप्रों के क्रोध उपशान्ति का उपाय	195
28.	गुरुजनों के क्रोधोपशान्ति का उपाय	195
29.	वणिक् जनों के क्रोधोपशमन	196
30.	वैश्यों की क्रोध शान्ति	196
31.	वैश्यों की श्री वृद्धि	197
32.	नीच जातियों के मनुष्यों को वश करने का उपाय	197
8.	**वार्ता समुद्देशः**	**198 से 213**
1.	वार्ताविद्या का स्वरूप व वैश्यों की जिविका	198
2.	जिविका उपार्जन के साधनों से राजा का लाभ	198
3.	गृहस्थ के सांसारिक सुखों के साधन	199
4.	फसलकाल में धान्य संग्रह न करें तो नृप की हानि	199
5.	आय के बिना व्यय करने वाले मनुष्य की हानि	200
6.	धान्य संग्रह न कर अधिक व्यय करने वाले राजा की हानि	201
7.	धन लोलुपी राजा की हानि	201
8.	गाय भैंस की रक्षा न करने से हानि	202
9.	पशुओं के अकाल मरण का कारण	203
10.	दूसरे देशों से माल आना क्यों बन्द होता है ?	204
11.	व्यापार कहां नष्ट हो जाता है ?	205
12.	व्यापारियों द्वारा मूल्य बढ़ाकर संचित धन से प्रजा की हानि	206
13.	वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करने के विषय में	206
14.	व्यापारियों के छल कपट में राजा का कर्त्तव्य	207
15.	राजा को वणिक लोगों से असावधान रहने से हानि	207
16.	ईर्ष्या से वस्तुओं का मूल्य बढ़ा देने पर राजा का कर्त्तव्य	208
17.	अन्याय की उपेक्षा करने से हानि	209
18.	राष्ट्र के शत्रुओं का निर्देश	209
19.	किस राजा के राज्य में राष्ट्र कंटक नहीं होते	210
20.	अन्न संग्रह कर देश में अकाल फैलाने वालों से हानि	211
21.	व्यापारियों की कड़ी आलोचना	211
22.	शरीर रक्षार्थ मानव का कर्त्तव्य	212

विषय		पृष्ठ संख्या
9.	**दण्डनीति समुद्देश:**	**214 से 219**
1.	दण्डनीति का महात्म्य	214
2.	दण्डनीति का स्वरूप निर्देश	215
3.	दण्ड विधान का उद्देश्य	216
4.	राजा द्वारा अग्राह्य धन	217
5.	अन्याय पूर्ण दण्ड से हानि	218
6.	अपराधियों को दण्ड विधान न करने से हानि	219
10.	**मन्त्रि-समुद्देश:**	**220 से 298**
1.	श्रेष्ठ बुद्धियुक्त मन्त्री की सलाह मानने वाला राजा	220
2.	ऐतिहासिक प्रमाण	222
3.	प्रधानमन्त्री के सद्गुण वर्णन	223
4.	आचार्य कुन्द कुन्द स्वामी ने मंत्री के 5 गुण बताये हैं	223
5.	नव गुणों में ''स्वदेशवासी'' गुण का समर्थन	223
6.	दुराचार से होने वाली हानि	224
7.	प्रधानमंत्री के कुलीन न होने से हानि	225
8.	व्यसनी मन्त्री से हानि	225
9.	राजद्रोही मन्त्री भयंकर शत्रु हैं	225
10.	राजा से द्रोह करने वाले मंत्री का स्वरूप	226
11.	व्यवहार अज्ञ मन्त्री का दोष	204
12.	शस्त्र विद्या निपुण होकर भी भीरु मंत्री का दोष	227
13.	उपधा-शत्रु चेष्टा की परीक्षा निर्देश	228
14.	नीच कुल वाले मन्त्रियों के दोष	229
15.	कुलीन मन्त्री का स्वरूप	230
16.	ज्ञानी मंत्री का ज्ञान भी नष्ट हो जाता है	231
17.	शास्त्र ज्ञान की निष्फलता	232
18.	कायर व मूर्ख मन्त्री पद के अयोग्य हैं	233
19.	राजा को षडगुण प्रयोग किस प्रकार करना चाहिए	234
20.	मंत्र-मन्त्री आदि की सलाह से लाभ	234
21.	मन्त्रियों का लक्षण व कर्त्तव्य	235
22.	मंत्रियों के साथ किये हुए विचार के अङ्ग	236
23.	मन्त्र सलाह के अयोग्य स्थान	238
24.	मन्त्र जानने के साधन	238
25.	गुप्त विचार को सुरक्षित करने की अवधि	239

विषय		पृष्ठ संख्या
26.	ऋपरिक्षित स्थान में मंत्रणा करने का फल	239
27.	गुप्त सलाह के अयोग्य व्यक्ति	240
28.	मन्त्र के समय न आने वाले व्यक्ति का स्वरूप	241
29.	मंत्र प्रकाशित होने से कष्ट होता है	242
30.	जिन कारणों से गुप्त मन्त्रणा प्रकट होती हैं	242
31.	निश्चित विचार को शीघ्र कार्यान्वित करना चाहिए	244
32.	निश्चित विचार के अनुसार कार्य न करने से हानि	244
33.	संसार में प्राणियों का शत्रु	246
34.	स्वयं करने योग्य कार्य को दूसरे से कराने से हानि	246
35.	स्वामी की उन्नति-अवनति का सेवक पर प्रभाव	247
36.	स्वामी के आश्रय से सेवक को लाभ	247
37.	गुप्त सलाह के समय मंत्रियों का कर्त्तव्य	247
38.	मन्त्र का प्रधान प्रयोजन फल	248
39.	उक्त वाक्य का दृष्टान्त द्वारा समर्थन	248
40.	राजा का शत्रु कैसा मन्त्री होता है	249
41.	मन्त्री का कर्त्तव्य	250
42.	मन्त्री को आग्रह करके भी कौन कर्त्तव्य कराना चाहिए	250
43.	मंत्रियों का कर्त्तव्य	251
44.	राजा के सुख-दुख का मंत्रियों पर प्रभाव	251
45.	कर्त्तव्यपरायण मंत्रियों के कार्यों में असफलता क्यों	252
46.	राजा के कर्त्तव्य का निर्देश	252
47.	पुनः मंत्रणा का माहात्मय	253
48.	पराक्रम शून्य राजा की हानि	253
49.	नीति या सदाचार प्रवृत्ति से लाभ	254
50.	हित प्राप्ति और अहित-त्याग का उपाय	254
51.	मनुष्य का कर्त्तव्य	255
52.	समय चूकने पर कार्य का दोष	255
53.	नीतिज्ञ मनुष्य का कर्त्तव्य	256
54.	मंत्रियों के विषय में विचार और एक मंत्री से हानि	256
55.	दो मन्त्रियों से हानि	257
56.	दो मंत्रियों से होने वाली क्षति	257
57.	राजा को कितने मंत्री रखने चाहिए	258
58.	परस्पर ईर्ष्या करने वाले मन्त्रियों से हानि	258

विषय		पृष्ठ संख्या
59.	बहुत मंत्रियों से होने वाली हानि	258
60.	स्वेच्छाचारी मंत्रियों से हानि	259
61.	राजा व मनुष्य – कर्त्तव्य	259
62.	मनुष्य का कर्त्तव्य	260
63.	कैसे मन्त्रियों से हानि नहीं	260
64.	बहुत से मूर्ख मन्त्रियों का निषेद	261
65.	दो मन्त्रियों से लाभ का दृष्टान्त	261
66.	बहुत से सहायकों से लाभ	261
67.	केवल मन्त्री के रखने से हानि	262
68.	आपत्ति काल में सहायकों की दुर्लभता	263
69.	विवेकी पुरुषों को आपत्ति से रक्षा पाने के लिए	263
70.	सहायकों का संग्रहण करने से हानि	263
71.	धन व्यय की अपेक्षा जन संग्रह उपयोगी है	264
72.	सहायकों को धन देने से लाभ	264
73.	कार्य पुरुषों का स्वरूप	265
74.	किस समय कौन सहायक होता है	265
75.	मन्त्रणा करने का अधिकार किसे है ?	266
76.	मूर्ख मंत्री का दोष	266
77.	मूर्ख राजा और मूर्ख मन्त्री से हानि	266
78.	मूर्ख मन्त्रियों का मंत्र ज्ञान	267
79.	शास्त्रज्ञान शून्य मन की कर्त्तव्यविमुखता	268
80.	सम्पत्ति प्राप्ति का उपाय	268
81.	मूर्ख मन्त्रियों को राजभार देने से हानि	269
82.	कर्त्तव्य विमुख का शास्त्रज्ञान व्यर्थ है	270
83.	गुणहीन मनुष्य की कटु आलोचना	270
84.	राज मन्त्री के महत्त्व का कारण	271
85.	मंत्र सलाह के अयोग्य कौन ?	271
86.	छत्रियों की प्रकृति	272
87.	अभिमान करने वाले पदार्थ	273
88.	अधिकारी का स्वरूप	273
89.	धनलम्पटी-राजमन्त्री से हानि	273
90.	पुरुषों की प्रकृति	275
91.	निर्दोष के दूषण लगाने से हानि	275

विषय		पृष्ठ संख्या
92.	किसके साथ मित्रता नहीं करनी चाहिए	276
93.	स्नेह नष्ट होने का क्या कारण है	276
94.	शत्रु क्या करते हैं	277
95.	मनुष्यों की धनाकांक्षा	278
96.	लोभ का स्वरूप	278
97.	जितेन्द्रिय की प्रशंसा	278
98.	सन्तोषी पुरुषों का कार्य	279
99.	[illegible] का कार्य	279
100.	अधमपुरुषों का कार्यारम्भ	279
101.	भयशंका का त्यागपूर्वक कर्त्तव्य प्रवृत्ति	280
102.	कार्यारम्भ में विघ्नों का आना	280
103.	दुष्ट अभिप्राय वालों के कार्य	281
104.	महापुरुषों के गुण व मृदुता लाभ का विवेचन	281
105.	प्रिय वचनों से लाभ	282
106.	दुर्जन व सज्जन का स्वरूप	283
107.	क्रोधी, विचारशून्य और गुप्त बात प्रकट करने वाले पुरुष से हानि	285
108.	शत्रुओं पर विश्वास करने से हानि	286
109.	चंचलचित्त और स्वतन्त्र पुरुष की हानि	286
110.	आलस्य से हानि और मनुष्य कर्त्तव्य	287
111.	शत्रुविनाश के ज्ञाता को लाभ का दृष्टान्त और नैतिक कर्त्तव्य	290
112.	मूर्ख व जिद्दी को उपदेश देने से हानि	292
113.	नितिशून्य पुरुष की क्षति	292
114.	कृतघ्न सेवकों की निन्दा	293
115.	क्षुब्धों का वशीकरण व राजा का कर्त्तव्य	294
11.	**पुरोहित समुद्देश:**	**298 से 310**
1.	पुरोहित राजगुरु का लक्षण	298
2.	मंत्र पुरोहित के प्रति राजकर्त्तव्य	298
3.	अपत्तियों का स्वरूप व भेद तथा राजपुत्र की शिक्षा	299
4.	गुरु सेवा के साधन, विनय का लक्षण व फल	299
5.	विद्याभ्यास का फल	300
6.	माता पिता से प्रतिकुल पुत्र की कटु आलोचना और पुत्र कर्त्तव्य	303
7.	गुरु, गुरुपत्नी, गुरुपुत्र व सहपाठी के प्रति छात्र का कर्त्तव्य	304
8.	शिष्य कर्त्तव्य व अतिथियों से गोपनीय विषय	305

विषय		पृष्ठ संख्या
9.	पर-गृह में प्रविष्ट पुरुषों की प्रवृत्ति व महापुरुष का लक्षण	305
10.	पर के कार्य साधन में लोक प्रवृत्ति	306
11.	राजकर्मचारियों में समदृष्टि, दरिद्र से धन प्राप्ति, असमर्थ से प्रयोजन सिद्धी	306
12.	हठी को उपदेश करना	307
13.	मूर्ख को योग्य बात कहना	307
14.	नीच पुरुष का उपकार	306
15.	क्या-क्या निष्फल होता है	308
16.	ईर्ष्यालु गुरू, पिता, मित्र तथा स्वामी की कटु आलोचना	310
12.	**सेनापति समुद्देश:**	**311 से 314**
1.	सेनापति के गुण, दोष व राजसेवक की उन्नति	311
13.	**दूत समुद्देश:**	**315 से 324**
1.	दूत के लक्षण, गुण व भेद	315
2.	दूत कर्त्तव्य	317
3.	दूत का स्वामी - हितोपदेश - हितोपयोगी कर्त्तव्य	318
4.	दूत के प्रति राजा का कर्त्तव्य	321
5.	दूत के प्रति शत्रु - रहस्य ज्ञानार्थ राजकर्त्तव्य व शत्रु लेख	324
14.	**चार समुद्देश:**	**325 से 331**
1.	गुप्तचरों का लक्षण गुण वेतन व उसका फल	325
2.	गुप्तचरों के वचनों पर विश्वास, गुप्तचर बिना हानि	326
3.	गुप्तचरों के भेद एवं लक्षण	328
15.	**विचार समुद्देश:**	**332 से 340**
1.	विचारपूर्वक कर्त्तव्य	332
2.	विचार प्रत्यक्ष का लक्षण	332
3.	ज्ञान मात्र से प्रवृत्ति	333
4.	ज्ञान मात्र से निवृत्ति	333
5.	विचारज्ञ का लक्षण	334
6.	बिना विचारे कार्य करने से हानि	334
7.	अनुमान का लक्षण व फल	336
8.	भवितव्यता प्रदर्शक चिन्ह	336
9.	बुद्धि का प्रभाव	336
10.	आगम व आप्त का लक्षण	337
11.	निरर्थक वाणी व वचनों की महत्ता	338
12.	कृपण धन की आलोचना और जन साधारण की प्रवृत्ति	338

विषय	पृष्ठ संख्या
16. व्यसन समुद्देश:	**341 से 350**
1. व्यसन के लक्षण, भेद, निवृत्ति, शिष्ट लक्षण व कृत्रिम व्यसन	341
2. 18 प्रकार के व्यसन	342
17. स्वामी समुद्देश:	**351 से 370**
1. राजा का लक्षण	351
2. अमात्य आदि प्रकृति स्वरूप	352
3. असत्य व धोका देने से हानि	352
4. लोकप्रिय, दाता, प्रत्युपकार का फल, कृतज्ञ की कडी आलोचना	353
5. क्षुद्र, दुष्ट अधिकारीयुक्त राजा कृतघ्नता, मूर्खता, लोभ, आलस्य से हानि	354
6. उद्योग, अन्यायी, स्वेच्छाचारी, ऐश्वर्य-फल व राजाज्ञा	356
7. राजकर्त्तव्य आज्ञाहीन राजा की आलोचना, सजा के योग्य पुरुष	357
8. जो पुरुष राजदण्ड में कारागार की सजा प्राप्त है उसका पक्ष कभी न लें	358
9. अज्ञात वश, राजक्रोध व पापी राजा से हानि, राजा द्वारा अपमानित व मान्य पुरुष	359
10. राजकर्त्तव्य व अधिकारियों की अनुचित जीविका	360
11. राजकर्त्तव्य में घूसखोरी से हानि	361
12. बलात् धन लेने से राजा-प्रजा की हानि	363
13. न्याय से प्रजापालन का परिणाम, न्यायी राजा की प्रशंसा	365
14. किस उपहार को गृहण न करें-हंसी मजाक की सीमा-वाद विवाद का निषेध	366
15. सेवक किसका ? दरिद्र की लघुता व विद्या का महातम्य	367
16. लोक व्यवहार निपुण की प्रशंसा	369
17. कर्त्तव्य बोधहीन विद्या	370
18. अमात्य - समुद्देश:	**371 से 392**
1. सचिव (मंत्री) महामात्य बिना राज्य कार्य - हानि	371
2. मंत्री लक्षण, कर्त्तव्य व आय-व्यय	372
3. आय व्यय का लक्षण, खर्च का संतुलन, स्वामी व तंत्र का लक्षण	373
4. मंत्री के दोष एवं अपने देश का मंत्री	374
5. योग्य अयोग्य अधिकारी, अयोग्यों से हानि बन्धु-भेद व लक्षण	377
6. मित्र को भी मंत्री पद पर नियुक्त होने के अयोग्य व्यक्ति	378
7. अधिकारियों की उन्नति, उनकी निष्फलता, राजा की हानि	381
8. राजतंत्र-स्वयं देख-रेख योग्य, अधिकार, राजतन्त्र व नीति लक्षण, आय व्यय शुद्धि और उसके विवाद में राजकर्त्तव्य	384
9. रिश्वत से संचित धन का उपायपूर्वक ग्रहण व अधिकारियों को धन एवं प्रतिष्ठा की प्राप्ति	386

विषय	पृष्ठ संख्या
10. नियुक्ति, उपयोगी गुण, समर्थन व अधिकारी का कर्त्तव्य	388
11. सहसा धन लाभ होने पर राजकर्त्तव्य, अधिक मुनाफा खोरों के प्रति राज कर्त्तव्य व अधिकारियों में परस्पर कलह से लाभ	389
12. धनाढ्य अधिकारी से लाभ, संग्रहयोग्य मुख्य धान्य संचय का फल	390
13. संचित धन का उपयोग, प्रधान व संग्रह करने योग्य रस व लक्षण का महत्त्व	391
19. जनपद - समुद्देश:	**393 से 401**
1. देश के विविध नाम और उनकी सार्थकता	393
2. देश के गुण व दोष	395
3. क्षत्रिय व वैश्यों की अधिक संख्या वाले ग्रामों से - व स्वदेशी एवं परदेशी के प्रति राज्य का कर्त्तव्य निर्धारण	396
4. सेना व राजकोष की वृद्धि के कारण, विद्वान् व विप्रों को देने योग्य दान-भूमि व तालाब दान आदि में विशेषता	400
20. दुर्ग समुद्देश:	**402 से 406**
1. दुर्ग शब्दार्थ एवं उसके भेद	402
2. दुर्ग विभूति व दुर्ग शून्य देश तथा राजा की हानि	403
3. शत्रु दुर्ग नष्ट करने का उपाय, राज कर्त्तव्य व ऐतिहासिक दृष्टान्त	405
21. कोष समुद्देश:	**407 से 411**
1. कोष का अर्थ, गुण व राजकर्त्तव्य	407
2. कोष हानि से राजा का भविष्य, कोष माहात्म्य, कोषविहीन राजा के दुष्कृत्य व विजयलक्ष्मी का स्वामी	408
3. निर्धन की कटु आलोचना, कुलीन सेव्य अयोग्य राजा, धन-माहात्म्य, मनुष्य की कुलीनता और बड़प्पन व्यर्थ होने के कारण	410
22. बल-समुद्देश:	**413 से 421**
1. बल शब्द की व्याख्या, प्रधान सैन्य, गज माहात्म्य, युद्धोपयोगी गजों की शक्ति	413
2. अशिक्षित हाथी और उनके गुण	415
3. अश्वों की सेना, उसका माहात्म्य व जात्याश्व का माहात्म्य	415
4. जाति अश्व के 9 उत्पत्ति स्थान व जातियां	416
5. रथ सैन्य का माहात्म्य व सप्तम-उत्साही सेना एवं उसके गुण	417
6. ओत्साहिक सैन्य के प्रति राज-कर्त्तव्य, प्रधान सेना का माहात्म्य स्वामी द्वारा सेवकों को दिये सम्मान का प्रभाव	418
7. सेना विरुद्ध के कारण	419
8. सेवकों को दातव्य धन, वेतन न मिलने पर भी सेवक का कर्त्तव्य	420

विषय		पृष्ठ संख्या
23.	**मित्र - समुद्देश:**	**422 से 425**
1.	मित्र के लक्षण व भेद	422
2.	मित्र के गुण-दोष, मित्रता, नाशक कार्य व निष्कपट मैत्री	423
3.	दुर्गणी मित्र	424
4.	मैत्री की आदर्श परीक्षा, प्रत्युपकार की दुर्लभता	424
24.	**राज रक्षा समुद्देश:**	**426 से 453**
1.	राजा की रक्षा, उपाय अपनी रक्षार्थ रखने योग्यायोग्य पुरूष	426
2.	स्वामी रहित अमात्य की हानि, आयु शून्य पुरुष, राजकर्त्तव्य व स्त्री सुखार्थ प्रवृत्ति व धन संग्रह निष्फल	427
3.	स्त्रियों की प्रकृत्ति का स्वरूप	429
4.	स्त्रियों के प्रतिकूल होने के कारण, उनकी प्रकृति, दूतीपन व रक्षा का उद्देश्य	432
5.	स्वेच्छाचारिणी स्त्रियों के अनर्थ, उनका इतिहास व माहात्म्य	435
6.	स्त्रियों की समिति स्वाधीनता, आसक्त पुरुष, उनकी आधीनता से हानि, पतिव्रता का माहात्म्य व उनके प्रति पुरुष का कर्त्तव्य वर्णन	437
7.	वैश्या गमन के दुष्परिणाम	439
8.	प्रकृति निर्देश	440
9.	प्रकृति, कृतघ्नों का पोषण, विकृत्ति के कारण, शारीरिक सौन्दर्य व कुटुम्बियों का संरक्षण	442
10.	आज्ञापालन, विरोधियों का वशीकरण, कृतज्ञ के साथ कृतघ्नता का दुष्फल, अकुलीन	443
11.	उत्तमपुत्र की उत्पत्ति का उपाय	445
12.	निरोगी व दीर्घजीवी संतान का कारण, राज्य व दीक्षा के अयोग्य पुरुष, अंगहीनों का राज्याधिकार की सीमा, विनय का प्रभाव, अभिमानी राजकुमारों की हानि	447
13.	पुत्र कर्त्तव्य	448
14.	पुत्र के प्रति पिता का कर्त्तव्य	450
15.	युवराजों के सुख का कारण, दूषित राजलक्ष्मी, निष्प्रयोजन कार्य से हानि	451
25.	**दिवसानुष्ठान - समुद्देश:**	**454 से 474**
1.	नित्य कर्त्तव्य, सुखी निद्रा से लाभ, सूर्योदय व सूर्यास्तकाल में सोने से हानि	454
2.	वीर्य व मल मूत्रादि रोकने से हानि, शौच और गृह प्रवेश विधि व व्यायाम	455
3.	निद्रा का लक्षण उससे लाभ, समर्थन, आयु रक्षक कार्य, स्नान का उद्देश्य व लाभ, स्नान की निरर्थकता, स्नान विधि व निषिद्ध स्नान	458
4.	आहार सम्बधी-स्वास्थ्योपयोगी सिद्धान्त	459
5.	सुख प्राप्ति का उपाय	463

विषय		पृष्ठ संख्या
6.	इन्द्रियों को शक्तिहीन करने वाला कार्य	464
7.	स्वच्छ वायु सेवन का फल	464
8.	सदैव सेवन योग्य वस्तु	464
9.	बैठक के विषय में	465
10.	शोक से हानि	465
11.	शरीर गृह की शोभा	465
12.	अविश्वसनीय पुरुष	466
13.	भगवान का स्वरूप व उसकी नाम माला	166
14.	कर्त्तव्य पालन, असमय का कार्य, कर्त्तव्य में विलम्ब से हानि	466
15.	आत्मरक्षा, राज कर्त्तव्य, राज-सभा में प्रवेश के अयोग्य विनय के लक्षण	467
16.	स्वयं देखरेख करने योग्य कार्य, कुसंगति त्याग हिंसामूल काम क्रीडा त्याग	468
17.	परस्त्री के साथ भगनी, मातृ भाव, पूज्यों के प्रति कर्त्तव्य, शत्रु स्थान प्रवेश निषेध	468
18.	रथादि सवारी, स्थान निषेध, अगन्तव्य स्थान, उपासना अयोग्य पदार्थ, कण्ठस्थ न करने योग्य विद्या, राजकीय प्रस्थान	469
19.	भोजन व वस्त्र परीक्षा विधि, कर्त्तव्यकाल, भोजन आदि का समय, प्रिय व्यक्ति का विशेष गुण, अविश्य कार्य सिद्धि के प्रतीक	470
20.	गमन व प्रस्थान के विषय में इश्वरोपासना का समय व राजा का मंत्र जाप्य	470
21.	भोजन का समय, शक्तिहीन योग्य आहार, त्याज्य स्त्री यथा प्रकृति वाले दम्पत्ति	471
22.	प्रसन्नचित्त, वशीकरण, मल-मूत्रादि रोकने से हानि, विषय भोग के अयोग्य काल व क्षेत्र, परस्त्री त्याग	472
23.	नैतिक वेषभूषा व विचार-आचरण, आयात्-निर्यात्, अविश्वास से हानि	473
26	**सदाचार-समुद्देश:**	**475 से 489**
1.	अत्यधिक लोभ, आलस्य व विश्वास से हानि, बलिष्ठ शत्रु-कृत आक्रमण से बचाव, परदेश के दोष, पाप प्रवृत्ति के कारण हानि	475
2.	व्याधि पीडित व्यक्ति का कार्य, धर्मात्मा का महत्त्व, बीमार की औषधि व भाग्यशाली पुरुष	475
3.	मूर्खता, भयकाल में कर्त्तव्य, धनुर्धारी व तपस्वी का कर्त्तव्य, कृतघ्नता से हानि, हितकारक वचन, दुर्जन व सज्जन के बचन, लक्ष्मी से विमुख व वंशवृद्धि में असमर्थ	477
4.	उत्तम दान, उत्साह से लाभ, सेवक के पाप कर्म का फल, दुःख का कारण	479
5.	कुसंग का त्याग, क्षणिकचित्त वाले का प्रेम, उतावले का पराक्रम व शत्रु निग्रह का उपाय	480
6.	रूदन व शोक से हानि, निंद्य पुरुष, स्वर्गच्युत का प्रतीक जीवित पुरुष	482
7.	पृथ्वीतल का भार रूप, सुख प्राप्ति का उपाय (परोपकार) शरणागत के प्रति कर्त्तव्य व स्वार्थ-युक्त परोपकार का दुष्परिणाम	484

विषय		पृष्ठ संख्या
8.	गुणगान शून्य नरेश, कुटुम्ब संरक्षण, परस्त्री समान पर द्रव्य रक्षण का दुष्परिणाम अनुरक्त सेवक के प्रति स्वामी का कर्त्तव्य, त्याज्य सेवक, उचित दण्ड	484
9.	वक्ता के वचन, वय, वेष-भूषा, त्याग, कार्यारम्भ, सुख, अधम पुरुष	486
10.	मर्यादा पालन, दुराचार से हानि, सदाचार से लाभ, संदिग्ध, उत्तम भोज्य रसायन, पापीयों की वृत्ति, पराधीन भोजन, निवास योग्य देश	487
11.	जन्मान्ध, ब्राह्मण, निस्पृह, दुःख का कारण, उच्चपद प्राप्ति और सच्चा आभरण	488
27	**व्यवहार समुद्देश:**	**490 से 509**
1.	मनुष्यों का दृढ़ बन्धन, अनिवार्य-पालन-पोषण तीर्थ सेवा का फल	490
2.	तीर्थ स्थानों में रहने वाले का स्वभाव, निंद्य स्वामी, सेवक, मित्र, स्त्री व देश	491
3.	निंद्य बन्धु, मित्र, गृहस्थ, दान, आहार, प्रेम, आचरण, पुत्र, ज्ञान, सौजन्य व लक्ष्मी	492
4.	इक तरफा प्रेम मुर्खों की चेष्टा मात्र	494
5.	निंद्य उपकार, नियुक्ति अयोग्य, दान दी गई वस्तु सत्पुरुषों का कर्त्तव्य	496
6.	सत्कार, धर्मरक्षा व दोष शुद्धि का साधन	497
7.	धनार्जन के लिए कष्ट की सार्थरता, नीच पुरुषों का स्वरूप, वन्द्य चारित्र, पीडा जनक कार्य व पातकी पञ्च	498
8.	प्रयोजनवश नीच संगति, स्वार्थी, गृह दासीरत, वेश्या से हानि, दुराचारी की चित्तवृत्ति	500
9.	एक स्त्री से लाभ, परस्त्री व वेश्या त्याग, सुख के कारण गृह प्रवेश	502
10.	लोभ व याचना से हानि, दारिद्र दोष, धनाढ्य की प्रशंसा	502
11.	पवित्र वस्तु, उत्सव, पर्व, तिथि व यात्रा का माहात्म्य	504
12.	पाण्डित्य, चातुर्य व लोक व्यवहार	505
13.	सज्जनता व धीरता की महिमा, सौभाग्य, सभा दोष, हृदयहीन का अनुराग व्यर्थ	506
14.	निंद्य स्वामी, लेख का स्वरूप व उसका अप्रामाण्य, तत्काल फलदायी पाप	507
15.	बलिष्ठ के साथ विरोध से हानि, बलवान के साथ उद्दण्डता से क्षति, प्रवास व सुख	508
28	**विवाद-समुद्देश:**	**510 से 524**
1.	राजा का स्वरूप, उसकी समदृष्टि, विधान परिषद के अधिकारी अयोग्य सभासद, उनसे हानि, न्यायाधीश की पक्ष-पात दृष्टि	510
2.	विवाद में पराजित का लक्षण, अधम सभासद, वाद-विवाद में प्रमण	511
3.	प्रमाणों की निरर्थकता व वेश्या और जुआरी की बात भी प्रमाण्य कब ?	511
4.	विवाद की निष्फलता, धरोहर-विवाद-निर्णय, गवाही की सार्थकता	514
5.	शपथ के योग्य अपराधी, उसके निर्णय पर दण्डविधान	515
6.	शपथ के अयोग्य अपराधी व उनकी शुद्धि का उपाय, लेख व पत्र के संदिग्ध होने पर फैसला, न्यायाधीश के बिना निर्णय की निरर्थकता, ग्राम व नगर सम्बन्धी मुकदमा, राजकीय निर्णय एंव उसको न मानने वाले को कडी सजा	516

विषय		पृष्ठ संख्या
7.	दुष्ट निग्रह, सरलता से हानि, धर्माध्यक्ष का राजसभा में कर्त्तव्य, कलह के बीज व प्राणों के साथ आर्थिक क्षति का कारण	517
8.	वाद-विवाद में ब्राह्मण आदि के योग्य शपथ	519
9.	क्षणिक वस्तुएँ, वेश्या त्याग, परिग्रह से हानि, दृष्टान्त से समर्थन, मूर्ख का आग्रह	520
10.	मूर्ख के प्रति विवेकी का कर्त्तव्य, मूर्ख को समझाने से हानि व निर्गुण वस्तु	522
29.	**षाड्गुण्य - समुद्देशः**	**525 से 549**
1.	शम व उद्योग का परिणाम, लक्षण, भाग्य व पुरूषार्थ विवेचन	525
2.	धर्म का परिणाम एवं धार्मिक राजा	529
3.	राज कर्त्तव्य, उदासीन, मध्यस्थ, विजिगीषु, अरि का लक्षण	531
4.	पार्ष्णिग्राह, आसार व अन्तर्द्धि का लक्षण	532
5.	युद्ध करने योग्य शत्रु, उसके प्रति राजकर्त्तव्य, शत्रुओं के भेद	532
6.	शत्रुता-मित्रता का कारण व मन्त्र शक्ति, प्रभु शक्ति और उत्साह शक्ति का कथन व उक्त शक्तित्रय की अधिकता से विजयी की श्रेष्ठता	534
7.	षाडगुण्य सन्धि-विग्रहादि का निरूपण	535
8.	सन्धि-विग्रह आदि के विषय में विजिगीषु का कर्त्तव्य	536
9.	शक्तिहीन व चञ्चल के आश्रय से हानि, स्वाभिमानी का कर्त्तव्य, प्रयोजनवश विजिगीषु का कर्त्तव्य, राजकीय कार्य व द्वैधीभाव	537
10.	दो बलिष्ठ विजिगीषुओं के मध्यवर्ती शत्रु, सीमाधिप्रत विजिगीषु का कर्त्तव्य भूमिफल, भूमि देने से हानि, चक्रवर्ती होने का कारण तथा वीरता से लाभ	539
11.	सामादि चार उपाय, सामनीति का भेदपूर्वक लक्षण, आत्मोप सन्धान रूप साम नीति का स्वरूप दान, भेद और दण्डनीति का स्वरूप	540
12.	दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण एवं शत्रु के निकट सम्बन्धी गृह प्रवेश से हानि	542
13.	उत्तमलाभ, भूमि लाभ की श्रेष्ठता, मैत्री द्योतक शत्रु के प्रति कर्त्तव्य	542
14.	विजिगीषु की निन्दा का कारण, शत्रु चेष्टा ज्ञात करने का उपाय, शत्रु निग्रह के उपरान्त विजयी का कर्त्तव्य, प्रतिद्वन्दी के विश्वास के साधन, चढाई न करने का अवसर	543
15.	विजयेच्छु का सर्वोत्तम लाभ, अपराधियों के प्रति क्षमा से हानि	545
16.	शत्रु निग्रह से लाभ, नैतिक पुरुष का कर्त्तव्य, अग्रेसर होने से हानि	546
17.	दूषित राजसभा, प्राप्त धन के विषय में, व धनार्जन का उपाय	546
18.	दण्डनीति का निर्णय, प्रशस्तभूमि, राक्षसीवृत्ति वाले पर प्रेमी राजा, आज्ञापालन	547
19.	राजा द्वारा ग्राह्य व दूषित धन, तथा धन प्राप्ति	548
30	**युद्ध समुद्देश्य**	**550 से 571**
1.	मंत्री व मित्र का दोष, भूमि रक्षार्थ कर्त्तव्य, शस्त्र युद्ध का अवसर	550
2.	बुद्धि युद्ध व बुद्धि युद्ध का माहात्म्य	551

विषय		पृष्ठ संख्या
3.	डरपोक, अतिक्रोध, युद्धकालीन राजकर्त्तव्य, भाग्य माहात्म्य बलिष्ठ शत्रु के प्रति राजा का कर्त्तव्य	552
4.	भाग्य की अनुकूलता, सार असार सैन्य से लाभ-हानि युद्धार्थ राज प्रस्थान	553
5.	प्रतिग्रह का स्वरूप व फल, युद्ध की पृष्ठ भूमि, जल माहात्म्य	554
6.	शक्तिशाली के साथ युद्ध हानि, राज कर्त्तव्य, मूर्ख का कार्य	555
7.	प्रशस्त व्यय त्याग बलिष्ठ शत्रु को धन न देने का दुष्परिणाम, धन न देने का तरीका	556
8.	अर्थ न देने से आर्थिक हानि, स्थान भ्रष्ट राजा व समष्टि का माहात्म्य	557
9.	दण्डसाध्य शत्रु व दृष्टान्त, शक्ति व प्रतापहीन का दृष्टान्त, शत्रु की चापलूसी	559
10.	अकेला युद्ध न करे, अपरीक्षित शत्रु व भूमि	560
11.	युद्ध या उसके पूर्व राज-कर्त्तव्य, विजय प्राप्ति मन्त्र, शत्रु पक्ष को अपने में मिलाना	560
12.	शत्रुनाश का परिणाम व दृष्टान्त, अपराधी के प्रति राजनीति	561
13.	विजय का उपाय, शक्तिशाली का कर्त्तव्य व उन्नति, सन्धियोग्य शत्रु, तेज	562
14.	लघु शक्ति वाला बलिष्ठ से युद्ध का फल व दृष्टान्त, पराजित के प्रति राज नीति, शूरवीर शत्रु के सम्मान का दुष्परिणाम	563
15.	समान शक्ति या अधिक शक्तिवाले के साथ युद्ध से हानि, धर्म, लोभ व असुर विजयी राजा का स्वरूप असुर विजयी के आश्रय से क्षति	564
16.	श्रेष्ठ के सन्निधान से लाभ, निहत्थे पर प्रहार अनुचित, युद्ध से भागने वाले बन्दियों से भेंट	565
17.	बुद्धि सरिता का बहाव, वचन प्रतिष्ठा, सदसद् पुरुषों का व्यवहार, पूज्यता का साधन	566
18.	वाणी की महत्ता, मिथ्या वचनों का दुष्परिणाम, विश्वासघात-आलोचना, असत् शपथ परिहार	567
19.	सैन्य व्यूह रचना का कारण स्थिरता, युद्धशिक्षा, शत्रुनगर प्रवेश का समय	568
20.	कूट युद्ध व तूष्णी युद्ध, अकेले सेनाध्यक्ष से हानि	568
21.	ऋणीराजा, वीरता से लाभ, युद्ध विमुख की हानि, युद्ध प्रस्थान व पर्वतवासी का कर्त्तव्य, छावनी योग्य स्थान, अयोग्य पडाव से हानि, शत्रु भूमि में प्रविष्ट होने के विषय में राजकर्त्तव्य	569
22.	पर्वतीय गुप्तचरों का कर्त्तव्य	570
31	**विवाह समुद्देश:**	**572 से 577**
1.	काम सेवन की योग्यता, विवाह का परिणाम, लक्षण ब्राह्म, देवादि चारों विवाहों का स्वरूप	572
2.	गांधर्वादि विवाहों के लक्षण, उनकी समालोचना, कन्यादूषण	574
3.	पाणिग्रहण की शिथिलता का दुष्परिणाम, नव वधू की प्रचण्डता का कारण उसके द्वारा तिरस्कार व द्वेष का पात्र, प्राप्त होने योग्य प्रणय का साधन, विवाह योग्य गुण एवं उनके अभाव से हानि	575
4.	कन्या के विषय में, पुनर्विवाह में स्मृतिकारों का अभिमत, विवाह सम्बन्ध, स्त्री से लाभ, गृह का लक्षण, कुलबधू की रक्षा के उपाय, वेश्या का त्याग, कुलागत कार्य	576

विषय		पृष्ठ संख्या
32	**प्रकीर्णक समुद्देश**	**578 से 595**
1.	प्रकीर्णक व राजा का लक्षण, विरक्त एवं अनुरक्त के चिन्ह, काव्य के गुण, दोष, कवियों के भेद तथा लाभ, गीत, वाद्य तथा नृत्य गुण	578
2.	महापुरुष, निंद्य गृहस्थ, तत्कालीन सुख चाहने वालों के कार्य, दान विचार, कर्जा के कटुफल, कर्जा लेने वाले के स्नेहादि के फल अवधि, सत्य निर्णय व पापियों के दुष्कर्म	580
3.	भाग्याधीन वस्तुऐं, रति कालीन पुरुष वचनों की मीमांसा, दाम्पत्य प्रेम की अवधि, युद्ध में पराजय का कारण, स्त्री को सुखी बनाने से लाभ, विनय की सीमा, अनिष्ट प्रतीकार, स्त्रियों के बारे में, साधारण मनुष्य से लाभ, लेख व युद्ध सम्बन्धी नैतिक विचार	582
4.	स्वामी और दाता का स्वरूप, राजा, परदेश, बन्धु-हीन दरिद्र तथा धनाढ्य के विषय में निकट विनाशी की बुद्धि, पुण्यवान, भाग्य की अनुकूलता, कर्म चाण्डाल एवं पुत्रों के भेद	585
5.	दायभाग के नियम, अति परिचय, सेवक के अपराध का फल, महत्ता का दूषण	587
6.	रति आदि की बेला, पशुओं के प्रति वर्ताव, मत्तगज व अश्व की क्रीडा एवं ऋण	588
7.	व्याधिग्रस्त शरीर, साधु जीवन-धारी महापुरुष, लक्ष्मी, राजाओं का प्रिय व नीच	590
8.	गुणों का महत्त्व, महापुरुष, सदसद् संगति का फल, प्रयोजनार्थी, निर्धन का धनी के प्रति कर्तव्य	591
9.	प्रयोजनार्थी दोष नहीं देखता, चितापहारी वस्तुएँ, राजा के प्रति कर्त्तव्य	592
10.	विचारपूर्वक कार्य न करने व ऋणी रहने से हानि, नया सेवक, प्रतिज्ञा, निर्धन अवस्था में उदारता, प्रयोजनार्थी एवं पृथक किये हुए सेवक का कर्त्तव्य	593
33	**लेखक की प्रशस्ति**	**596**
34	**टीकाकार की प्रशस्ति**	**598**

नीति वर्णानुक्रमणिका

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
" अ "		
अधर्मः पुनरेत	1	2
अर्थिषु संविभागः	1	16
अदातुः प्रियालापो	1	19
अनाचरतो	1	34
अधर्म कर्मणि	1	38
अग्निरिव	1	42
अलब्धलाभो	2	3
अर्थशास्त्रा	3	9
अयुक्तितः प्रणीताः	4	1
अविचार्य परस्यात्म	4	3
अपुत्रः ब्रह्मचारी	5	13
अनध्ययनो ब्राह्मणः	5	14
अयजनो देवानाम्	5	15
अहन्तकरो मनुष्या	5	16
अयमात्मात्मान	5	18
अनुत्सेकः खलु	5	29
अशस्त्रः शूरइव	5	34
अलोचनगोचरे	5	35
अनधीतशास्त्र	5	36
असंस्कार रत्नमिव	5	39
अथवा ज्ञान सामान्य	5	53
अधीयानो ह्यान्वीक्षिकीं	5	57
अजात विद्यावृद्ध	5	65
अनधीयानोऽपि	5	66
अन्यैवकाचित्	5	67
अलंतेनामृतेन	5	72
अंधइव वरं	5	75
अध्यात्मज्ञो हि राजा	6	2
असत्यात्मनः	6	5
अभ्यासाभिमान	6	12
अतुद्वेगे वस्तुनि	6	15
अनेक कर्माभ्यास	6	32
अपराधकारिषु प्रशमो	6	39
अन्यथा पुनर्नरकाय	6	44
अध्ययनं यजनं	7	5
अध्यापनं याजनं	7	7
अभक्तया पूजोपचारः	7	18
अतिभारो महान्	8	10
अल्पद्रव्येण	8	19
अन्यायोपेक्षा	8	20
अन्यायवृद्धितो	8	23
अप्रियमप्यौषधं	8	25
अहिदष्टा	8	26
अप्रणीतो हि दण्डो	9	7
असुन्धमपि	10	2
अकुलीनेषु	10	15
अलर्कविषवत् कालं	10	16
अनुपलब्धस्य ज्ञानं	10	23
अकृतारम्भमारब्धस्याप्यनुष्ठानम्	10	24
आकाशे प्रतिशब्दवति	10	26
आकार्यसिद्धेरक्षितव्यो मंत्रः	10	28
अनायुक्तो मंत्रकाले	10	32
अन्यथा चिकीर्षतोऽन्थावृत्तिर्वा	10	40
अननुष्ठाने छात्रवत्	10	43
आत्मसाध्यमन्येन	10	46
अविरुद्धैरस्वैरविहितो मंत्रो	10	50
अविक्रमतो राज्यं	10	60

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
अकालसहं	10	63
अवार्यवीर्यौ धुर्यौ	10	79
अनालोकं	10	94
अकार्यवेदिन:	10	98
अदष्टस्य हि दूषणं	10	110
अतिवृद्ध: कामस्तन्नास्ति	10	115
अर्थेषूपभोगरहितास्तर	10	117
अजीर्णं भयात्	10	124
अतिक्रोधनस्य	10	138
अलस: सर्वकर्मणा	10	144
अल्पमपि	10	157
अनुवृत्तिरभयं	10	165
अचिकित्स्यदोषदुष्टान	10	168
अपराध्यैरपराधकैश्च	10	169
अप्रतिविधातुराग	10	173
अमानुष्योऽग्निखर्षमतिवर्षं	11	3
अस्वातन्त्र्यमुक्तकारित्वं	11	5
अभ्यास: कर्मसु	11	8
अध्ययमकाते व्यासङ्गा	11	18
अननुसातो न	11	22
अर्थपरेष्वनुनय:	11	35
अप्रतिविधातरि	11	39
अविचारकस्य	11	42
अविशेष से प्रयास:	11	44
अकाले विज्ञातमूषरे	11	46
अफलवत: प्रसाद:	11	48
अभिजनाचारप्राज्ञानुराग	12	1
अनासन्नेष्वर्थेषु	13	1
अविसातो दुत:	13	5
अक्षय्यभावो दुत:	13	22
अलौल्यममान्द्य	14	2
असति संकेते	14	5
अनवसर्पो हि	14	6
अल्पाखिलशरीरावयव:	14	14
अहितुण्डिक:	14	16
अंगमर्दनकलाकुशलो	14	34
अलसाश्च	14	37
अतिरभसात्	15	7
अविचार्य कृते	15	8
अतीवेर्ष्यालुं	16	17
अर्थदुषक:	16	21
अतिव्ययोऽपात्र	16	22
असत्यवादिनो	17	6
अकृतज्ञस्य व्यसनेषु	17	14
अविशेषसो	17	15
अनुत्साह:	17	17
अन्यायप्रवृत्तस्य न	17	19
अधर्मपरे	17	26
अव्यसनेन	17	42
अर्थिनामुपायनमप्रतिकुर्वाणो	17	50
अनुपयोगिना	17	62
अल्पार्थतिर्महाव्ययो	18	16
अल्पायमुखो	18	17
अन्तर्दुष्टो नियुक्त:	18	36
अश्वसर्घाण:	18	43
अनिवेद्यभर्तुर्न	18	63
अनवं नवेन वर्द्धयिततव्यं	18	71
अन्योऽन्यरक्षक:	19	8
अदुर्गो देश:	20	4
अदुर्गस्य राज्ञ:	20	5
अशिक्षिता हस्तिन:	22	5

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.	श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
अश्वबलं सैन्यस्य	22	7	अपूर्वेषुप्रियपूर्वं	26	30
अश्वबलप्राधानस्य	22	8	अधिभवनमंत्रेण	26	35
अथान्यत्सप्तममौत्साहिकं	22	13	अपराधानुरूपो	26	41
अविशेषज्ञे	22	25	अप्रियकर्तु	26	65
अत्तएवोक्तं नयविद्ध	24	2	अप्रयच्छन्न	26	66
अन्यदेशीयम कृतार्थमानं	24	3	अन्तःसारधनमिव	27	27
अस्वामिकाः	24	5	अज्ञानस्य वैराग्य	27	32
अवरुद्धाः	24	21	अर्थी दोषं न	27	35
अकृतरक्षस्य	24	23	अहो लोकस्यपापं	27	38
अमृतरसवाप्य	24	37	अस्तरणं कम्बलो	27	42
अपत्यपोषणो	24	39	अलब्धार्थोऽपि	27	46
अतिप्रसक्तेः	24	40	अनभिज्ञातो	27	64
अध्रुवेणाधिकेनाप्यर्थेन	24	44	अप्लवस्य	27	66
अन्यत्र	24	64	अदृष्टाश्रुत	28	4
असति	24	72	असत्यङ्कारे	28	13
अलं तया श्रियाया	24	85	अभिचार योगैः	28	17
अव्यायामशीलेषु	25	19	अर्थ सम्बन्धः	28	29
अक्षुधितेनामृतत्युपभुक्तं	25	30	अन्त्यवर्णाव	28	38
अतिश्रमपपासोपशान्ती	25	33	अनस्तितो	28	47
अप्रमितमसुखं	25	39	अचिन्तितो	29	7
अतिमात्रभोजी	25	45	अनुष्ठीयमानः	29	15
अत्यशितुर्दुःखेनान्नपरिणाम	25	47	अग्रतःपृष्ठतः	29	21
असात्म्यमपि	25	52	अरि विजिगीषो	29	29
अतिमात्रं	25	63	अराजबीजी	29	30
अवश्यं	25	71	अनाश्रयो	29	31
अनधिकृतोऽनभिमतश्च	25	74	अनन्तरः	29	35
अमृते	25	89	अपराधो	29	45
अहनि	25	95	अभ्युदयो	29	46
अपरीक्षित	25	113	अभ्युच्चीयमानः	29	52
अलब्धप्रतिष्ठितस्य	26	4	अवज्ञायापि	29	67
अतीते च वस्तुनि	26	27	अतिक्रम्यवर्तिषु	29	90

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
अनायकां	29	91
अतितीक्ष्णो	30	11
असार बल भंग:	30	17
अल्पव्ययभयात्	30	27
अप्रयच्छतो	30	31
अशोधितायां	30	49
असुर विजयिन:	30	73
असत्य सन्धिषु	30	85
अन्याभिमुखं	30	90
अल्पस्य	31	22
अल्पस्य महता	31	23
अतिपरुषवचनविन्यास	32	6
अदातुस्तावत्सनेह:	32	17
अर्थाय	32	20
अशुभस्य	32	26
अधनस्याबान्धवस्य	32	35
असूयक:	32	40
अति परिचय:	32	44
अलं महत्तया	32	45
अत्यर्थ	32	49
अन्यत्र यतिब्राह्मणक्षत्रियेभ्य:	32	51
अप्राप्तेऽर्थे	32	71
अर्थार्थी	32	72

" आ "

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
आत्मसमृद्ध्या	19	7
आश्रितभरणे	22	19
आचित्तविश्रान्ते	24	51
आप्तविद्यावृद्धोपरुद्धा:	24	75
आत्मवक्त्रमाज्ये	25	4
आदेहस्वेदं	25	17
आतपसंतप्तस्य	25	28
आजन्मसात्म्यं	25	51
आत्मसुखानवरोधेन	25	68
आत्यन्तिके	25	70
आत्मरक्षायां	25	72
आराध्यमुत्थायाभिवादयेत्	25	75
आर्त: सर्वोऽपि	26	5
आत्मानुरक्तं	26	39
आत्मसंभावित:	26	40
आयानुरूपोव्यय:	26	44
आदित्यवद्यथावस्थितार्थ	28	3
आयुरौषधयोरपि	29	14
आयति कल्याणे	29	60
आत्मशक्तिमविज्ञा	30	24
आभिषमर्थं	30	33
आनुलोम्येन	31	28
आलीनशुद्धिर्माधुर्यातिशय:	32	9
आत्मवत्	1	3
आभिमानिकरसा	3	1
आत्मा वै पुत्रो नैष्ठिक	5	17
आचार सम्पत्ति:	5	28
आन्वीक्षिकीत्रयी	5	56
आन्वीक्षिक्यध्यात्म	5	63
आत्ममतोमरु	6	1
आत्मनोविषयानु	6	7
आगन्तुकं वर्षा	6	22
आगामिक्रिया	6	27
आत्मन: प्रत्यवायेभ्य:	6	28
आचारानवद्यत्वं	7	12
आनृशंस्यममृषा	7	13
आदित्यावलोकन	7	14
आत्मसंशयेन कार्यारम्भो	10	126
आत्मशक्तिमजानतो	10	148

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
आराध्यं न	11	13
आश्रितेषु कार्य तो	11	37
आशीविषविषवत्ते	15	17
आप्तपुरुषोपदेश	15	14
आकार:	15	9
आत्मातिशयं धनं	17	3
आत्मम्भरि:	17	16
आज्ञाफलम्	17	21
आसाभङ्गाकारिणं	17	23
आगन्तुकैरसहनैश्च	17	51
आयो व्यय: स्वामिरक्षा	18	6
आयव्ययमुखयोर्मुनिकमण्डलुर्निदर्शनम्	18	7
आयोद्रव्यस्योत्पत्तिमुखम्	18	8
आयमनालोच्य	18	10
आदायकनिबन्धक	18	51
आयव्ययविप्रत्तौ	18	54
"इ"		
इन्द्रियमनसो	1	22
इदमिह परमा	1	48
इन्द्रियमन:	3	6
इष्टेऽर्थेऽनासक्ति	3	8
इन्द्रियाणिमनो	6	3
इन्द्रियमनस्तर्पणो	6	16
इङ्गितमाकारो मद:	10	35
इङ्गितमन्यथावृत्ति:	10	36
इक्षुरसेनापि	24	56
इन्द्रियात्ममनोमरुतां	25	20
"उ"		
उक्तियुक्तिभ्यां	5	52
उच्छषऽभाग	7	25
उद्धृतमन्त्रो न	10	42
उत्तापकत्व हि	10	134
उत्सेको हस्तगतमपि	10	152
उत्कृत्योद्धाटनं	11	47
उपकारापकारासमर्थस्य	11	50
उद्धृतेष्वषि	11	19
उच्छिन्नमूलेषु	17	5
उपकर्त्तृधिकारस्य	18	34
उपायतोऽधिगमनम्	20	6
उदयास्तमनशयिषु	25	3
उत्तर: प्रवर्षवान्	25	102
उपकृत्य मूक भावो	27	23
उपाश्रुति श्रोतुमिव	27	34
उदासीन-मध्यम	29	20
उदासीन वदनियत	29	22
उपेक्षणम	29	47
उपायोपपन्न	29	68
उत्पादितदंष्ट्रो	30	41
उपचीयमान	30	60
उन्नतत्वं	31	14
"ऋ"		
ऋद्धिश्चित्तविकारिणी	18	45
ऋतावपि	24	20
ऋजुं सर्केपि	28	26
ऋणग्रहणेन	32	14
ऋणदातुरासन्नं	32	16
ऋणमददानो	32	50
ऋणशेषाद्रिपुशेषदिवावश्यं	32	68
"ए"		
एवं कीर्ति	1	13
एकोह्यत्यासेवितो	3	4
एकान्तेन कारुण्य	6	37

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
एको मंत्री न	10	66
एको हि मन्त्री	10	67
एको हि पुरुष:	10	81
एकेनापि	16	33
एकेनसह	29	49
एकंबलस्य	30	92
एते चत्वारो	31	8
एते चत्वारोऽधमा	31	13
" ऐ "		
ऐहिकामुत्रिक	1	10
ऐहिकव्यवहार	6	34
ऐन्द्रजालिकतन्त्रयुक्त्या	14	30
ऐश्वर्यानुरुपो	26	45
" औ: "		
औरस:	32	41
" क "		
किं तया कीर्त्या	1	14
कालेन संचीयमान:	1	30
कस्यनामैक	1	33
क: सुधी	1.	36
कण्ठगतैरपि	1	39
किमपिहि	1	50
कदर्यस्यार्थ	2	11
कारणेकार्योप	3	10
कामासक्तस्य	3	12
कालासहत्वे	3	16
कुलबलैश्वर्य	4	6
कृतोद्वाह:ऋतु	5	12
कुटीचरवक्षोद	5	26
क्रमविक्रमयोर	5	30
क्रमविक्रमपोरधि	5	31

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
क्रियातिशयविपाक	6	13
कृषि: पशुपालनं	8	1
काष्ठपात्र्यामेक	8	12
कार्याकार्ययो	8	24
किं तेन केनाऽपि यो	10	10
किं तस्य भक्त्या	10	12
किं तेन सहायेनास्त्रज्ञेन	10	13
कर्मणामारम्भोपाय:	10	25
कोपप्रसादजनिताशरीरी	10	37
को नाम सचेतन:	10	65
कालातिक्रमान्	10	64
किमेकशाखस्य	10	82
कार्यकाले	10	83
किं नामान्ध:	10	90
किमन्धेनाकृष्यमाणोऽन्ध:	10	91
कस्य न	10	118
कमायात्मनोऽनुकूलं	10	146
कालमलभमानोऽपकर्तरि	10	149
किन्तु खलु	10	150
कुद्धो हि सर्प इव	10	172
को नामार्थार्थी	11	36
कृत्योयग्रहोऽकृत्योत्थापनं	13	8
किं पुनर्ब्राह्मण	13	21
क: सुधीर्दूतवचनात्	13	23
किमस्त्ययामिकस्य	14	7
कामशास्त्राचार्य:	14	22
कर्मसु कृतेनाकृता	15	10
किं मितंपचेषु	15	18
कोपप्रसाद को:	17	2
किं तया गवा या न	17	11
किं तेन स्वामि	17	12
कस्तस्य	17	24

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
कार्यार्थिन:	17	36
काले वर्षति	17	47
को नामधनहीनो	17	55
किमत्र	18	4
किं तेन परिच्छदेन	18	41
का नाम निर्वृत्ति	18	42
कोशं	21	3
कुतस्तस्यायत्यां	21	4
कोशो	21	7
किं तया	21	12
को नाम सचेता:	22	22
किं तेन जलदेन	22	23
कलत्रं	24	13
कामदेवोत्संगस्थापि	24	14
कारणवशान्निर्बोऽप्यनुभूयते	24	18
कस्तासां	24	38
कुलविशुद्धिरुभयत:	24	69
किं तेन राज्येन	24	79
क्वचिदपि	24	80
किन्नु खलु राम:	24	81
कर्तव्यमेवाशुभं	24	83
कालानियमेन	25	69
कुहकाभिचारकर्मकारिभि:	25	77
कोकवद्दिवाकामो	25	97
कृते प्रतिकृत	26	12
कलहजनन	26	14
किं तेन तुष्टेन	26	22
का नाम शरणा	26	34
कं पुरुषमाशा	26	61
कस्यनाम नृपति	26	64
कलत्रं नाम	27	1
किं तेनात्मन:	27	61
कारुणां यो	28	35
क्रीतेष्वाहारे	28	40
कार्पासाग्ने	28	44
कार्पाग्निप्रज्वलिते	28	46
कर्म फलोपभोगानां	29	2
कोशदण्डबलं	29	39
किमरण्यजमौ	29	77
कुटलाहिगति	30	13
का नाम कृतधी:	30	28
कृत संघात	30	34
कण्टकेन	30	55
करिणं जंपाणं	30	101
कन्याया:	31	12
कथाव्यवच्छेदो	32	3
कार्यभारभ्य	32	67
" ख "		
खवल संगेन	1	41
खादनवारायां	10	88
खेटखड्गधरै:	20	9
" ग "		
ग्रहणं शास्त्रार्थो	5	48
गुरुजनशील	5	73
गुणहीनं धनु:	10	99
गुरुवचनमनुल्लंघनीय	11	9
गुरुजनरोषेऽनुत्तरदानम्	11	11
गुरुभिरुक्तं	11	14
गुरुणां पुरतो न	11	16
गुरुपत्नीं	11	25
गुरुमिव	11	26
गृहदौ: स्थित्यमागन्तुकानां	11	30

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
गुणदोषावनिश्चित्यानुग्रह	11	49
ग्राम्यस्त्रीविद्रावणकारि	11	51
गुरुषु स्वामिषु	13	11
गृहपतिर्वैदेहिकौ	14	12
गीतांगपटप्रावरणेन	14	23
गीतप्रबन्धगतिविशेष	14	25
गणकः	14	27
गर्भशर्मजन्मकर्मापत्येषु	24	70
गन्धलेपावसानं	25	12
गोसर्गे व्यायामो	25	14
गृहीतग्रासेषु	25	41
गृहदास्याभिगमो	27	36
गुणदोषयोस्तु	28	1
ग्रामेपुरे वा	28	22
गजेगर्दभे	28	42
गुणातिशय	29	54
गृहप्रविष्ट	29	78
गूढोपायेन	29	82
गृहीतपुत्रदारा	28	83
गण पुरश्चारिणः	29	92
गृहागतमर्थं	29	94
गजेनगजबन्धन	29	95
गुडादभिप्रेत	30	26
गृह्णीयात्	30	48
गोमिथुनपुरःसर	31	6
गृहिणी गृहमुच्यते	31	31
गृहकर्मविनियोगः	31	32
गोरिव	32	64

" घ "

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
घटप्रदीपवत्तज्ज्ञानं	10	18
घृणजग्धं	24	74
घृताधरोत्तरर भुञ्जानोऽग्नि	25	34

" च "

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
चेतपते च विद्या	5	64
चत्वारो वेदाः	7	1
चौर चरटमन्त्रप	8	21
चिकित्सागम्	9	1
चक्षुष इव	10	100
चत्वारि वेष्टनानि	13	25
चतुरङ्गेऽस्ति	18	1
चिक्करणादर्थलाभः	18	20
चिरसेवको नियोगी	18	33
चित्तविकृतेर्नास्त्यविषयः	24	4
चतुर्थदिवसस्नाता	24	19
चिरायोर्ध्वजानुर्जऽयति	25	61
चतुःपयोधिपयोधरां	25	96
चकोखन्नक्तं कामो दिवा	25	98
चणका इव	27	30
चरणेषु पतितं	30	75
चित्रगतमपि	32	66

" छ "

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
छात्र कापटिकोदास्थित	14	8
छलेनप्रतिभासेन	28	8

" ज "

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
जलवन्मार्दवोपेतः	10	128
जीवोत्सर्ग	10	162
जड़-मूक	14	38
जातिवयोवृत्त	16	30
जनस्थ वर्णाश्रमलक्षणस्य	19	5
जातिः कुलं	22	4

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
जात्यारूढ़ो	22	9
जलचरस्येव	25	26
जठराग्नि	25	31
जनन्यापि	25	79
जीवितसम्भवे	30	15
जिह्वयालिहन्	30	44
ज्यायसा सह	30	69

"त"

तद्व्रतमाचरि	1	9
तत्खलु सद्धिः	1	25
तीर्थमर्थेना	2	4
तादात्विक-मूल	2	6
तादात्विकमूलहरयो	2	10
त्रयीं पठन वर्णा	2	58
तद् दुक्खमपि न	6	16
तत्पापमपि न पापं	6	43
त्रयीतः खलु	7	2
त्रयोवर्णाः	7	6
त्रिवर्णोपजीवनं	7	10
तस्यैव तद्भूयात्	7	25
तदमंगलमपि	7	26
तस्य खलु	8	3
तत्र सदैव दुर्भिक्षं	8	6
तुलामानयोर	8	13
तथा चानुश्रूयते	10	4
तदमृतस्य विषत्वं यः	10	17
तेषो शस्त्रमिव शास्त्रमपि	10	19
तच्छस्त्रं शास्त्रं	10	20
तथा च श्रूयते	10	33
त्रयः पंच सप्त वा	10	71

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
तदेव भुज्यते	10	76
तदन्धवर्तकीयं	10	92
तावत् सर्वोऽपि शुचिनिः	10	109
तदजाकृपाणीयं यः	10	141
तत्र युक्तभप्युक्तमयुक्तसमं	10	159
ते हि गृहप्रविष्टसर्पवत्	10	170
तनुधनादर्थग्रहणं	11	38
तेषामन्तावसायिन	13	20
तुष्टिदानमेव	14	3
ते हि तल्लोभात्	14	4
तौर्यत्रयासक्तिः	16	15
तरुच्छेदेन	16	26
ते खलु प्रज्ञापारमिताः	17	61
तन्त्रं चतुरङ्गबलम्	18	12
तीक्ष्णं बलवत्पक्षमशुचि	18	13
तीक्ष्णोऽभियुक्तो म्रियते	18	14
तत्र सदा दुर्भिक्षमेव	19	10
तद्द्विविधं	20	2
तस्य किं सरसो	21	13
तर्जिका	22	10
तावद्देयं यावदाश्रिताः	22	20
तत्सहजं	23	3
तथा चोपाख्यानकं	23	11
तंत्रकोशवर्धिनी	24	59
तारुण्यमधिकृत्य	24	60
ते खलु राजपुत्राः	24	84
तथा भुञ्जीत	25	42
तस्यैवैतानि	25	67
तृतीयप्रकृतिः	25	104
तस्य कुतो वंशवृद्धि	26	16
तस्यभपते	26	36

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
तस्यगृहे	26	37
तीर्थोपवासिसु	27	4
तत्किं मित्रं	27	10
तत्किं दानं यत्र	27	12
तत्किं भुक्तं	27	13
तत्किं प्रेम	27	14
तत्किमाचरणं	27	15
तत्किमपत्यं	27	16
तत्किं ज्ञानं	27	17
तत्किं सौजन्य	27	18
तत्किं कृत्यं	27	20
तयो को नाम	27	21
तानि पर्वाणि	27	51
तास्तिथयो	27	52
तत्पाण्डित्यं	27	54
तच्चातुर्यं	27	55
तल्लोकोचितत्वं	27	56
तत्सौजन्यं	27	57
तद्धीरित्वं	27	58
तत्सौभाग्यं	27	59
तत्रालं विवादेन	28	6
तेषां युक्तितो	28	29
तच्चिन्त्यमचि	29	6
तत्रपंचविधं	29	71
तत्स्वामिच्छन्दो	29	100
तन्त्रावापौ	30	45
तेजो हि सन्धाकारणं	30	59
त्वं भवास्य	31	7
तद्सत्यमपि	32	18
तावत्स्त्रीपुरुषयो:	32	23
तादात्विकबलस्य	32	24
तावत्सर्व:	32	25
तृणेनापि	32	28
तस्यात्मदेह	32	52
तस्य किमसाध्यं	32	53
"द"		
दान प्रियवचना	1	17
दुर्भगाभरण	1	27
दानार्हेषुस्वधना	4	4
दुरभिनिवेशामोक्षो	4	5
दर्शपौर्णमास्या	5	21
द्रव्यं हि क्रियां	5	44
दु:खमप्रीति:	6	17
दु:खं चतुर्विधं	6	19
दोषजंवातपित्त	6	21
देवागारेगत:	6	29
देवाकारोपेतं	6	30
दानादिप्रकृति:	6	31
दानावसान: कोपो	7	35
दण्डभयोपधि	7	41
देशकालभांण्डापेक्षा	8	15
दण्डद्यूत-मृत	9	5
दुश्रणीतो हि दण्ड	9	6
दुस्परिजनो मोहेन	10	8
दिवा नक्तं वाऽपरीक्ष्य	10	29
द्वावपि मंत्रिणौ	10	68
द्वौ मंत्रिणौ संहतौ	10	69
दीसे गृहे	10	84
दोषभयात्र कार्यारम्भ:	10	122
दुर्भीरुत्वमासन्नशूरत्वं	10	127
दुरारोहपादप इव	10	132
दुराग्रहस्य	11	40

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
द्रव्यहेतो:कृच्छ्रेण	14	35
द्यूतासक्तस्य	16	10
दिवास्वाप:	16	13
दुर्दशौ	17	34
देवतापि	17	42
देशमपीड़यम्	18	59
दत्तपरिहारमनुगृह्णीयात्	19	18
देवद्विजप्रदेया	19	24
देवद्विजवणिजां	21	14
द्रविणदानप्रिय भाषणाभ्या	22	1
दानेन प्रणय:	23	6
देहिनि गतायुषि	24	6
दानदर्शनाभ्यां	24	16
दर्दुरस्य	24	31
दुर्बोधे	24	66
दीतो	25	46
देवान्	25	56
देवगुरुधर्मरहिते	25	65
देवगुरुधर्मकार्याणि	25	76
द्वितीयप्रकृति:	25	103
देशानुरुप:	26	42
दानं तप: प्रयोपवेशनं	27	3
दैवं धर्माधर्मौ	29	3
दैवं मानुषञ्च	29	5
द्वैधीभावं	29	63
दृष्टेप्यर्थे	30	6
दीपशिखायां	30	14
दण्डसाध्ये	30	39
दीर्घप्रयाणोपहतं	30	52
दैवानुलोम्यं	30	61
दु:खामर्षजं	30	63
द्वानशर्मा	31	1
देशापेक्षो	31	29
दानैर्दौर्भाग्यं	31	34
दूरादेवेक्षणं	32	4
दृष्टि हस्तपादक्रियासु	32	11
दैवानुकूल:	32	39
देशकालकुलापत्यस्त्रीसमापेक्षो	32	42

" ध "

धर्मश्रुतधनानां	1	31
धर्मायनित्थ	1	32
धर्मफलमनु	1	35
धर्मानुष्ठाने	1	37
धर्मातिक्रमात्	1	44
धर्मसमवायिन:	2	5
धर्मार्थाविरोधेन	3	2
धर्मार्थकामानां	3	15
3धर्मकामयोरर्थ	3	17
धारणमविस्मरणम्	3	49
धिक् तं पुरुषं	6	40
धर्मशास्त्राणि	7	4
धर्मार्थकाममदेषु	10	14
धार्मिक: कुलाचारा	17	1
धनहीन:	21	9
धनमनुभवन्ति	24	47
धनहीने कामदेवेऽपि	24	48
धर्मार्थकामशुद्धिदुर्जनस्पर्शा	25	24
धर्मार्थस्थाने	25	105
धनश्रद्धानुरूप	26	46
धनिनो यतयो	27	47
धूमाग्निरजो	30	97

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
धैर्यचातुर्यायक्तं	31	19
धर्मसन्ततिरनुपहता	31	30
	" न "	
न खलु भूत हुहां	1	5
नित्यमर्थयमानात्	1	21
नार्जितेन्द्रियाणां	3	7
न तस्य धनं धर्मः	3	13
निर्मित्तमन्यस्य	4	7
न पुनः शिरोमुण्डनं	5	3
नित्यनैमित्तिका	5	19
न ह्यज्ञानादपरः	5	37
न दुर्विनीताद्राज्ञः	5	40
न वेषु मृद्भाजनेषु	5	74
नीलीरक्ते वस्त्र	5	76
न्यक्कारावज्ञेच्छा	6	24
न तस्यैहिकमा	6	25
न खल्वे कान्ततो	6	36
निजागमोक्त	7	15
निसर्गतः शाढ्यं	7	33
निश्चलैः परिचितैश्च	7	40
नित्यं हिरण्य	8	5
न वणिगम्यः सन्ति	8	17
न हि गली वलीवर्दो	10	21
न तैः सह	10	31
निद्रान्तरितो	10	41
न ह्यौषधिपज्ञानादेव	10	44
नास्त्यविवेकात् परः	10	45
न खलु तथा	10	51
नीतिर्यथावस्थितमर्थमुपलम्भयति	10	61
निगृहीतौ तौ तं	10	70
न हि महानाप्यन्धसमुदायो	10	78
न धनं पुरुषसंग्राहद्	10	85
नालम्पटोऽधिकारी	10	105
न महताप्यु-पकारेण	10	113
न स्वभावेन	10	136
नाविज्ञाय परेषामर्थमनर्थं वा	10	130
न तथा कर्पूररेणुना	10	137
नदीरयस्तरूणामंह्रीन्	10	151
नाल्पं महद्वापक्षे	10	153
नदीपूरः	10	154
न कस्यापि	10	171
नानभिवाद्योपाध्याया	11	17
नीचेषूपकृतमुदके	11	43
नैमित्तिको	14	31
नाविचार्य कार्यं	15	1
न ज्ञानमात्रत्वात्	15	4
न परपरीवादात्	16	14
न्यायतः पारपालके	17	45
नैकस्य कार्यासिद्धिरस्ति	18	2
नद्येकं चक्रं परिभ्रमति	18	3
नागन्तुकेष्वर्थाधिकारः	18	18
न तं कमप्यीथकुर्यात्	18	31
नीवीनिबन्धकपुस्तकग्रहणपूर्वकमायव्ययौ	18	54
नित्यपरीक्षण कर्मविपर्ययः	18	55
नापीड़िता	18	56
न खलु स्वामिप्रसादः	18	61
नियोगिषु लक्ष्मीः	18	67
न खलु मुखे प्रक्षिप्तः खरोऽपि	18	69
निजापतेरुत्कर्षजनकत्वेन	19	6
न्यायेन रक्षिता	19	21
नामुद्रहस्तोऽशोधितो	20	7

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
न खलु कुलाचाराभ्यां	21	10
न तथार्थः पुरुषान्	22	16
न हि स्वं द्रव्यमव्ययमानो	22	21
न क्षीरात् परं महदस्ति	23	8
न नीरात्परं	23	9
निवृत्तस्त्रीसंगस्य	24	9
न गोष्ठी सदृक्	24	15
न स्त्रीणामकर्तव्ये	24	22
न स्त्रीणाम सहजो	24	25
नहिस्त्री गृहादायातं	24	32
नापि स्वयमनुभवनीयेषु	24	33
नातीव स्त्रियो	24	43
न खलु कपिः	24	55
निष्फलो	24	86
न प्रातर्वषधरं	25	5
नित्यमदन्तधावनस्य	25	7
न कार्यव्यासङ्गेन	25	8
न खलु युगैरपि	25	9
नित्यस्नानं	25	23
निरन्नस्य	25	32
न भुक्तिपरिमाणे	25	43
न जिह्वस्पर्शं	25	49
नादेवं	25	64
नातिक्रुद्धोऽपि	25	80
नासाशोधितपरस्थानमुपेयात्	25	81
नासजनैरनारुढं	25	82
न स्वैरपरीक्षितं	25	83
न यष्टिकैरविविक्तं	25	84
न विषापहारौषधिमणीन्	25	85
नैकोन्क्तं	25	93

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
नियमितमनोवाक्कायं	25	94
नावृषस्यन्तीं	25	101
न सन्ध्यासु न दिवा	25	109
न तद् गृहाभिगमने	25	111
न भयेषु	26	10
नाक्रान्तिः	26	24
न भृतेषु	26	26
न तेमृता	26	31
न क्षीरघृताभ्यां	26	54
निः स्पृहाणां	26	60
न दारिद्र्यात्परं	27	45
न रत्नहिरण्य	27	48
न लेखाद्वचनं	27	63
नीवीविनाशेषु	28	14
नहि दुर्वृत्तानां	28	25
न हि भर्तुरधियोगानत्	28	28
निधिराकस्मिको	28	30
न खलु दैवमीह	29	10
न हि दैवम	29	11
निश्चित एव	29	13
न मां परो	29	53
निधानादिव	29	61
न हि कुलागता	29	69
न पुण्य पुरुषा	29	88
न केवलाभ्यां	29	96
निरनुबन्धमर्था	29	101
नासावर्थो	29	102
न तथेषवः	30	5
नाप्रतिग्रहो	30	18
नद्याः नीयमानस्य	30	22
निरन्नमपि	30	23

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
नास्ति संघातस्य	30	37
न दायादादपरः	30	53
ना तप्तं लोहं	30	58
न चातिभग्नं	30	66
नयोदिता	30	81
न विश्वास घातात्	30	83
न हि शास्त्र शिक्षाक्रमेण	30	88
न कस्यापि	32	29
नीचोमहत्त्वमात्मनो	32	56
न खलु परमाणोरल्पत्वेन	32	57
न खलु निर्निमितं	32	58
नवसेवकः	32	69

"प"

परत्रा जिघांसु	1	6
पात्रं च त्रि विधं	1	12
प्रत्यहं किमपि	1	29
परार्थभाखाहिन	3	5
परपरिगृहीता	4	2
प्रकृतिपुरुषज्ञो	5	62
प्रश्रयसत्कारादि	5	14
प्रयत्नःपर निमित्तको	5	30
प्रशमैकचित्तं	5	38
परिपालको हि राजा	7	23
प्रणामावसानः कोपोगु	7	36
प्राणावसानः कोपोक्ष	7	37
प्रियवचनावसानः कोपोव	7	38
पण्यतुलामान	8	16
प्रतापवति राज्ञि	8	22
प्रजापालनाय	9	3
पानस्त्रीसंगादिजनितो	10	38

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
प्रमादो गोत्रस्खलनादिहेतुः	10	39
पीयूषमपिवतो बालस्य	10	54
प्रियंवदः शिरवीव	10	129
परस्पर मर्मकथन	10	140
प्रमादवान्	10	145
प्रामादपि	10	147
पतिवरा इव	10	158
पुरोहितमुदितोदितकुलशीलं	11	1
पुण्यावानिः	11	7
प्रज्ञयातिशयानो न	11	20
पितरमिव	11	24
परगृहे सर्वोऽपि	11	31
परकार्येषु	11	33
परोक्षे किलोपकृतं	11	45
परेणाशु	13	7
परमर्मज्ञः	14	9
प्रभूतान्तेवासी	14	11
पाटच्चरश्चौरो	14	19
प्रत्यक्षानुमाना	15	2
प्रकृतेर्विकृतिदर्शनं	15	12
परचितानुकूल्येन	16	4
पानशौण्डश्चित्त	16	8
पिशुनः सर्वेषाम्	16	12
परपरिग्रहाभिगमः	16	18
प्रजाविभवो हि	16	27
प्रत्युपकर्तुरुपकारः	17	10
परमर्भाकार्यमश्रद्धेयं	17	26
पूजितं	17	31
प्रजाकाय	17	32
प्रासादध्वंसनेन	17	40
पूज्यै	17	52

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
पुरूषस्य	17	54
परन्तु भाग्यानां	17	52
पुनः पुनरभियोगे	18	57
परस्परकलहो	18	66
पशुधान्यहिरण्यसंपदा	19	1
परिगृहीतासु	24	17
पुरुषमुष्टिस्था	24	42
परक्षेत्रं	24	87
प्रादुर्भवत्क्षुत्पिपासोऽभ्यङ्गस्नानं	25	27
प्राणयुपघातेन	25	78
परमात्मना	25	91
पारावतकामो	25	99
प्रकृतिरुपदेशः	25	107
पर्वणि पर्वणि	25	110
पराधीनेष्वर्थेषु	26	9
परोपकारो योगिनां	26	33
परस्त्री द्रव्य रक्षणेन	26	38
प्रतिपाद्यानुरूपो	26	43
परोपघातेन	26	55
प्रजापालनं हि	26	68
प्रभूतमपि	26	69
परदोषश्रवणे	27	24
परकलत्रदर्शने	27	25
प्रार्थना कं नाम	27	44
प्रवासः चक्रवर्तिनामपि	27	68
परस्परविवादे	28	21
पौरुषमवलम्ब	29	12
प्रतिपन्न-प्रथमाश्रमः	29	17
प्रबृद्धप्रताप	29	19
पार्ष्णिग्राहाद्यः	29	27
पार्ष्णिग्राहामित्र	29	28
पणबन्धः	29	44
परस्यात्मार्पणं	29	48
प्रथमपक्षे	29	50
परविश्वास	29	85
पर प्रणेया	29	98
परकोपप्रसाद	29	99
प्रज्ञा ह्यमोघं	30	9
प्रजाहताः	30	9
परैः स्वस्या	30	10
प्रहरतो	30	12
पृष्ठतः	30	21
पूर्णसरः	30	30
प्रतिहत प्रतापो	30	42
परमण्डला	30	47
पराक्रमकर्कशः	30	62
पुरुष प्रमाणोत्सेध	30	98
पणबन्धेन	31	10
प्राणवधे	32	19
पक्वान्नादिव	32	27
पुष्पयुद्धमपि	32	30
पर्वता इव राजानो	32	33
पुण्यवतः	32	38
परपैशून्योपायेनराज्ञां	32	55
" फ "		
फल्गुभुजमननुकूलं	25	40
" ब "		
बीज भोजिनः	1	45
ब्राह्मण क्षत्रिय	5	6
ब्रह्मचारीगृही	5	7
ब्रह्मदेवपित्रतिथि	5	20

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
बलात्कार स्वभाव:	7	32
ब्राह्मण क्षत्रिय	10	5
बहवो मंत्रिण:	10	73
बहुसहाये राज्ञि	10	80
बुद्धावर्थे युद्धे च	10	87
बहुक्लेशेनाल्पफल:	10	121
बहुदोषेषु	10	163
ब्रह्मचर्यमापोऽशाद्वर्षात्ततो	11	28
ब्राह्मव्रतविद्याभ्यां	14	13
बन्धुस्नेहरहिता:	14	36
बलवत्पक्षो	18	15
ब्राह्मण-क्षत्रिय-सम्बन्धिनो	18	22
ब्राह्मणो जातिवशात्सिद्धमप्यर्थं	18	23
बहुमुख्यमनीत्यं	18	48
बलेषु	22	2
बलवत्पक्षपरिग्रहेषु	24	65
ब्राह्म मुहूर्त	25	1
बहिरागतो	25	13
बलातिक्रमेण	25	18
बुभुक्षाकालो	25	29
बष्कयणीनां	25	100
बलवताधिष्ठितस्य	26	2
बलवन्तमाश्रित्य	27	67
बहुपाथेयं	27	69
बलोदृ.तमन्याय	28	12
ब्राह्मणानां	28	31
बुद्धिपूर्वहिता	29	8
बुद्धिशक्तिरात्म	29	37
बलवद्भयाद	29	57
बलद्वयमध्य	29	64

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
ब्रह्मर्थसंरक्षण	29	73
बुद्धियुद्धेन	30	4
बलवतिसीमा	30	32
बहूनेकों	30	48
बलमपीडयन्	30	51
बलं बुद्धिर्भूमि	30	86
बलादाक्रान्ता	31	18
" भ "		
भस्मनि हुत	1	11
भोगायतनं शरीरम्	6	33
भस्मनीव निस्तेजसि	6	42
भूतसंरक्षणं	7	8
भोज्येऽसमन्तोऽपि	10	11
भिषगायुर्वेदविद्वैद्य:	14	29
भर्तुमशक्यप्रयोजनं	17	53
भक्षणमुपेक्षणं	18	47
भर्तुर्दण्डकोशवृद्धिं	19	2
म्रियमाणोऽपि	19	12
भोजनवत्सर्वसमाना:	24	28
भक्तिविश्रम्मादव्यभिचारिणं	24	61
भर्तुरादेशं	24	63
भुक्त्वा	25	50
भक्तिसुरतसमरार्थी	25	90
भीतेष्वभय	26	17
भुक्ति: साक्षी	28	9
भुक्तिसापवाद:	28	10
भूभुज: प्रत्यक्षं	29	16
भूम्यर्थिनं	29	65
भू फलदानमनित्यं	29	66
भूम्यर्थं नृपाणां	30	3

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
भूचरो दोलाचरस्तु	30	100
भृत्यापराधे	32	44
"म"		
मोहसंदेह विपर्यास	5	50
मरणान्त: स्त्रीषु	6	47
मंत्रिपुरोहित सेनापतीनाम्	10	1
महद्भिपुरुषै:	10	3
मंत्रपूर्व: सर्वोऽप्यारंभ:	10	22
मुखविकारकराभिनयाभ्यां	10	27
मंत्रभेदादुत्पन्नं व्यसनं	10	34
मंत्रकाले विगुह्य	10	49
मंत्रिणो राजद्वितीयहृदयत्वात्र	10	55
मंत्राधिकार:	10	104
मंत्रिणोऽर्थग्रहणलालसायां	10	106
मृगा: सन्तीति	10	123
मार्गमावलं	11	23
मत्स्वामिनाऽसंधातुकाभो	13	6
मन्त्रिपुरोहित	13	9
महत्स्वपराधेऽपि	13	19
महासहसिक:	14	32
मृगयासक्ति	16	9
मातर्यपि हि	16	11
मातु: स्तनमपि	17	38
मुखेन परिज्ञातो	18	28
मान्योऽधिकारी	18	32
मूर्खस्य नियोगे	18	39
मार्जरिषु	18	44
मूलधनाद्	18	65
मर्यादातिक्रमेण	19	19
मौलबलाविरोधेनान्यद्	22	14
मौलाख्यमापद्यनुगच्छति	22	15
मकरदंष्ट्रा	24	11
मातृव्यंजनविशुद्धा	24	30
मातृपितरोराजपुत्राणां	24	76
मातुपितृभ्यां	24	78
मंत्रिभिषग्नैमित्तिकरहित:	25	87
मन:परिजनशकुनपवनानुलोम्यं	25	92
मूर्खदुर्जन	26	21
मदप्रमादजै:	27	28
महानधनव्यय	27	41
मूर्खस्याग्रहो	28	43
मूर्खस्याभ्युपत्ते	28	45
मानुषं नया	29	4
मित्रलक्षणमुक्तं	29	25
मेघवदुत्थानं	29	62
मित्रहिरण्य	29	79
मतिनदीयं	30	78
मातु: पितुर्बन्धूनां	31	9
मुखमपश्यतो	31	16
महत:	31	21
मन:प्रसाद:	32	8
मत्तवारणारोहिणो	32	48
"य"		
यतोऽभ्युदय	1	1
य: कामार्थ वुपहत्य	1	46
यत: सर्वप्रयोजन	2	1
य किमप्य संचि	2	7
य: पितृपैतामह	2	8

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.	श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
योभृत्यात्म	2	9	यत्किञ्चनकारी स्वै:	17	20
योऽनङ्गेनापि	3	11	यथावसरमसङ्ग	17	33
योऽनुकूलप्रति	5	1	यथास्वामिशासनमर्थस्य	18	9
य उत्पन्न:पुनीते	5	11	यौनेजीतो यौन:	18	29
य:खलुयथाविधि	5	23	यो यत्र कर्मणि	18	60
यो देहमात्राराम:	5	25	यस्याभियोगात्परे	20	1
यो युक्तायुक्तयोर	5	41	यो विपदि सम्पदि	21	1
यत्र सद्भिराधीय	5	42	[illegible]	21	8
यतोद्रव्याद्रव्य	5	43	य: सम्पदीव	23	1
या:समधिगम्या	5	55	य: कारणमन्तरेण	23	2
यमद्यापराधिषु	5	60	यद्वृत्तिजीवितहेतोराक्षितं	23	4
युक्ति: प्रवर्तयन्	5	59	येन केनाप्युपकारेण	23	10
यथार्थवादो विदुषां	5	77	यथाकामं	24	29
यत्राहमित्यनु	6	4	या यस्य प्रकृति	24	53
यत:स्मृति:	6	6	यत्प्रसादादात्मलाभो	24	77
यच्चिन्त्यते दरिद्रै	6	23	य: खलु पुत्रो	24	82
यो यस्य देवस्य	6	17	यथासात्म्यं	25	21
यथादोषं	9	2	यो मितं भुंक्ते	25	38
योयत्प्रतिबद्ध:	10	47	यथाकामसम्मीहना:	25	59
यद्बहुगुणमनपायबहुलं	10	75	यार्थेनप्रणयिनी	27	7
यथोक्तगुणसमवायिन्येकस्मिन	10	77	यादृशे तादृशे	28	15
येन सह चित्तविनाशोऽभूत	10	111	प: परद्रव्यमभि	28	16
युक्तमुक्तं वचो	10	155	यस्य यावानेव	28	41
युक्तमयुक्तं वा गुरुदेव	11	10	य एव स्वस्या	29	24
यत्कृतौ स्वामिन:	13	4	यो विजीगिषु	29	26
यं कमपि समयमास्थाय	14	10	यन्ममद्रव्य	29	72
यमपट्टिको	14	15	योगतीक्ष्ण	29	74
य एकस्मिन्	15	13	यन्त्रशस्त्राग्नि	30	40
यथानुभूतानुमित	15	15	यस्याभिमुखं	30	54
यत् साहस	16	19	यावत्परेणापकृतं	30	57
यत्र नाहमस्मीत्य	16	20	यादृशस्तादृशो	30	74
यथादोषं कोटिरपि	16	25	युधिस्वामिनं	30	95

युक्तितो	31	3
यथाप्रतिज्ञं	32	70

"र"

राज्ञो हि दुष्ट निग्रह:	5	2
राज्ञ: पृथीपाल	5	4
राज्यस्यमूलं क्रमो	5	27
राजाहि परमं दैवतं	5	70
राज्ञोऽनुग्रहविग्रहावेव	10	56
खेरविषये किं न	10	156
राज्ञो हि मंत्रिपुरोहितौ	11	2
राजामन्त्र:	11	34
रुपाजीवावृत्त्युपदेष्टा	14	24
राजपरिगृहीतं	16	28
राजाज्ञा हि	17	22
राजा ज्ञावरुद्धस्य	17	25
राज्ञासज्ञानो	17	30
राज्ञो लञ्चेन	17	41
राज्ञोऽन्यायकरणं	17	44
राज्ञो हि समुद्रावधिर्मही	17	49
राज्ञ: शरीरं धर्म: कलत्रं	18	11
राज्ञां चतुरंगबलभिवृद्धये	19	22
रथैरवमर्दितं	22	12
राज्ञि रक्षिते सर्वं रक्षितं	24	1
राज्ञस्तावदासन्ना	24	7
राज्ञोऽस्थाने	26	25
रजस्वलाभिगामी	26	49
राजा त्वपराधा	28	2
राज्ञादृष्टे	28	23
राजाज्ञां मर्यादां	28	24
राजात्मदैव	29	23
रज्जुबलनामिव	29	56
राजव्यञ्जनं	30	19
राजा राजकार्येषु	30	93
रजकशीलाकुर्कुरखर्परसमा	31	33
रतिकालेयन्नास्ति	32	22

"ल"

लोकायतज्ञो हि राजा	6	35
लोको गतानुगतिको	15	19
लञ्चलुञ्चा	17	37
लञ्चेन	17	39
लुञ्चेनार्थोपाश्रयं	17	43
लोकव्यवहारज्ञो	17	60
लवणासंग्रह:	18	72
लवनकाले	19	16
लोभप्रमाद विश्वासै	26	1
लोभवति भवन्ति	27	43
लोभ पक्षपाताभ्यां	28	5
लिंगिनास्तिक	28	18
लाभस्त्रिविधो	29	103
लघुरपिसिंह:	30	65

"व"

विहिताचरणं	1	23
विधिनिषेधा	1	24
वनगजइव	1	43
विरुद्धकामवृत्ति	3	14
वर्णाश्रमवती	5	5
वैवाहिक: शालीनो	5	22
वालिखिल्यऔदम्बरी	5	24
वरमराजकं	5	38
विज्ञातमर्थमव	5	51
विज्ञानोहापोहा	5	54
वंशवृत्तविधा	5	68
वरमज्ञानं नाशिष्ट	5	71
वरमात्मनोमरणं	5	78
वन्धनान्तोनियोग:	6	45

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.	श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
विपदन्ता खलमैत्री	6	46	वंशविशुद्ध्यर्थमनर्थपरिहारार्थं	24	27
वार्ता जीवन	7	9	विषालक्तकदिग्धेनाधरेण	24	36
वर्णाश्रमाणां	7	19	विसर्जनाकारणाभ्यां	24	45
वैश्यानां समुद्धारक	7	39	वेश्यासक्तिः	24	46
वार्तासमृद्धौ	8	2	विनियुञ्जीत	24	62
विसाध्य राज्ञ	8	4	वेग-व्यायाम-स्वाप	25	10
वृद्धबालव्याधि	8	9	विध्याते	25	37
वर्णिगजन कृतोऽर्थ	8	14	ब्रह्माधभिलाषायत्तं	25	44
विषनिषेक इव	10	7	व्याक्षेपभूतोनिरोधो	25	57
वरं स्वामिनो दुःखं न	10	53	क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः	25	66
विषमपुरुषसमूहे	10	72	ब्रह्मावन्यचक्षुषि	25	88
वरणार्थं प्रेषित इव	10	107	वंशवयोवृत्त	25	112
विध्यायतः	10	161	विदेशवासोपहतस्य	26	3
व्रतविद्याचयोधिकेषु	11	6	व्यापिग्रस्तस्य	26	7
वीरपुरुषपरिवारितः	13	13	वरमुपवासो	26	56
व्यसनिनां	14	20	व्रतं विद्या	26	59
वाग्जीवी	14	26	वेश्यासंग्रहो	27	37
विचित्रभक्ष्यप्रणेता	14	33	व्यसनिनो यथा	27	40
वक्तुर्गुण	15	17	विवादमास्थाय	28	7
व्यस्यति पुरुषं	16	1	वेश्याकितव	28	12
व्यसनं द्विविध	16	2	व्रतिनामन्येषां	28	36
वृथाढ्या	16	16	व्याधानां तु	28	37
वाक्पारुष्यं	16	29	वेश्यामहिला	28	39
वधः परिक्लेशो	16	32	विपर्ययो	29	32
वञ्चकेषु न	17	7	विरोधोविरोध	29	34
वेषमाचारं	17	27	विक्रमो बलं	29	41
विकारिणि	17	28	वरं मानिना	29	59
वेद्येषु	17	35	वधः परिक्लेशो	29	75
वाचिकसम्बन्धे	18	30	वरमल्पमपि	30	16
विविधवस्तुप्रदानेन	19	3	विनिःस्रावित	30	35
विषतृणोदकोषरपाषाणकण्टकगिरि	19	9	वनविनिर्गतः	30	36
वैषम्यं	20	3	विद्विषांचाटुकारं	30	43
व्यसनेषूपस्थानमर्थेष्वविकल्पः	23	5	विग्रहकाले	30	50

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
विल्वेन हि विल्वं	30	56
व्यभिचारिवचनेषु	30	82
विश्वासघातक:	30	84
व्यसनेषु प्रमादेषु	30	89
विषविषमपुरुषो	30	91
विग्रहायोच्चलित	30	96
विवाहपूर्वो	31	2
वरं वेश्याया:	31	24
वरं जन्मनाश:	31	25
विकृतप्रत्यूढ़ोऽपि	31	27
वर्णपदवाक्यप्रमाणप्रयोगनिष्णातमति:	31	2
वचनकविरर्थक	32	7
वार्तारमणीय:	32	34

"श"

शुश्रूषाश्रवण	5	45
श्रोतुमिच्छाशुश्रूषा	5	46
श्रवणमार्कम्	5	47
शिष्टानां नीचैरा	5	69
शब्दस्पर्शरस	5	8
शुल्कवृद्धि	8	11
श्रूयते किल रजन्यां	10	30
शस्त्राधिकारिणो	10	101
शास्त्रोपजीविनां	10	103
श्रूयते हि किल	10	116
शरदघना इव न	10	135
शिक्षालापक्रियाक्षमी	11	4
शत्रूणामभिमुख:	11	12
श्रूयते हि किल	13	14
शत्रुप्रहितं	13	15
श्रूयते हि किल	13	16
शौण्डिक:	14	17
शौभिक: क्षपायां	14	18
शाकुनिक:	14	28

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
शिष्टजनसंसर्ग	16	5
श्रूयते किल	16	24
शौर्यममर्ष: शीघ्रकारिता	17	18
शकुनि-शकुयलावत्र	18	37
शास्त्रविदप्यदृष्टकर्मा	18	62
श्रूयते किल:	20	8
श्रूयते	24	35
शुष्कश्याममुखता	24	89
शुक्रमलमूत्रमरूद्वेगसंरोधो	25	11
शरीरायासजननी	25	15
शस्त्रवाहनाभासेन	25	16
[illegible]	25	25
श्रमार्तस्य	25	48
श्रूयते हि स्त्रीवेषधारी	25	114
शत्रुणापि सूक्तमुक्तं	26	13
श्री र्न तस्याभिमुखी	26	15
शोकमात्मनि	26	28
शीलमलङ्कार:	26	63
शत्रावपि गृहा या ते	27	26
श्रीमतोऽर्थार्जने	27	29
शस्त्ररत्न	28	32
श्रवणपोत	28	33
शूद्राणां क्षीरबीज	28	34
रामव्यायामौ	29	1
शशकेनेव	29	38
शूद्रकशक्ति	29	40
शक्तित्रयोपचितो	29	42
शत्रोरागतं	29	76
शत्रोर्मित्रत्वं	29	81
शत्रुमपकृत्य	29	84
शक्तस्यापराधिषु	29	89
श्रूयते हि किल	30	7
शौर्यैकधन	30	67

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
शिथिले	31	15
श्रुतिसुखत्वमपूर्वाविरुद्धार्थाति	31	5
श्रीमतो चरणयान्यपि	32	36
शास्त्रविदः	32	65
" स "		
सर्व कार्येषु	1	4
स खलु त्यागो	1	7
स खल्वर्थी	1	8
स खलु लुब्धो	1	18
सदैव दुस्थितानां	1	20
सुलभः खलु	1	28
स खलु सुधी	1	47
सुख दुःखादिभिः	1	49
स्व व्यसन तर्पणाय	1	40
सोऽर्थस्य भाजनं	2	2
समं वा त्रिवर्गं	3	3
स उपकुर्वाणको	5	8
स्नानं विवाह दीक्षा	5	9
स नैष्ठिको ब्रह्मचारी	5	10
सांख्यं योगो लोका	5	61
समाधीन्द्रिय द्वारेण	6	9
सुखं प्रीतिः	6	10
सहजं क्षुत्तृषा	6	20
स किं पुरुषो	6	26
सातिशय लाभः	6	31
सजीवन्नपिमृत	6	46
स्वपक्षानुराग	7	3
सकृत् परिणयन	7	11
स्वधर्मव्यतिक्रमेण	7	16
स्वधर्माऽसंकरः	7	20
स किं राजा यो न	7	21
स्वधर्ममति क्रामता	7	22
सन्यस्ताग्नि	7	27
स्नात्वा प्राग्देवोपासना	7	28
समुद्रस्य पिपासायां	8	7
स्वयं जीवधन	8	8
स्पर्द्धया मूल	8	18
स किं राजा वैद्यो	9	4
समस्त पक्षपातेषु	10	6
स व्यसन सचिव	10	9
स्वामिनाधिष्ठितो	10	48
स मंत्री शत्रुर्यो	10	52
स दैवस्यापराधो न	10	57
स खलु नो राजा	10	58
सुविवेचितान्मंत्राद्भवत्येव	10	59
स्वच्छन्दाश्च	10	74
सच्छेत्रे बीजमिव	10	86
श्राद्ध इवाश्रोत्रियस्य	10	89
स घुणाक्षरन्यायो	10	93
स्वामिप्रसादः	10	95
स्ववधाय	10	97
स्थाल्येव भक्तं	10	108
सकृद्विघटितं चेतः	10	112
सू चीमुखसर्पवन्	10	114
स खलु प्रत्यक्षं दैवं	10	119
समायव्ययः	10	120
स खलु कोऽपीहाभूदस्ति	10	125
स महान यो	10	133
सर्वान् गुणान्	10	139
स्वतंत्रः सहसाकारित्वात्	10	143
स खलु पिशाचकी	10	160
स्वामिदोषस्वदोष	10	164
सर्वकोपेभ्यः	10	167
सन्दिहानो	11	15
सहाध्यायिषु	11	19
स किमभिजातो	11	21

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.	श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
स ब्रह्मचारिणि	11	27	सम्बन्धी ज्ञातिभावेनाक्रम्य	18	25
समाविद्यै:	11	29	सम्बन्धस्त्रिविध:	18	26
स खलु महान य:	11	32	सहदीक्षित:	18	27
स विभवो मनुष्याणां	11	52	सहपांशुक्रीड़ितोऽमात्योऽतिपरिचयात्	18	35
स किंगुरु:	11	53	सुहृदि	18	38
स किं प्रभुर्यश्चिर	11	54	सोऽधिकारी	18	40
स्वै: परैश्च	12	2	सर्वोऽप्यति समृद्धोऽधिकारी	18	46
स चिरं जीवति	12	3	स्त्रीष्वर्थेषु	18	49
स्वामिभक्तिख्यसनिता	13	2	स्वपरदेशजाचनपेक्ष्यानित्यश्चाधिकार:	18	50
स त्रिविधो	13	3	सकृन्निष्पीडितं	18	58
स्वयमशक्त:	13	10	सहसोपचितार्थी	18	64
स्थित्वापि	13	12	सर्वसंग्रहेषु	18	68
स्वयं रहस्यज्ञानार्थ	13	24	सर्वधान्येषु	18	70
स्वापरमण्डल	14	1	सर्वरसमथमप्यन्नमलवणं	18	73
सर्वेषां प्रहसनपात्रं	14	21	सर्वकामधुक्त्वेन	19	4
स्वयं दृष्टं	15	3	स्वभूमिकं	19	13
स्वयं दृष्टेऽपि	15	5	स्वल्पोऽप्यादायेषु	19	14
स खलु विचारज्ञो	15	6	सर्वबाधा	19	17
संभावितैकदेशो	15	11	समुहच्च	19	23
सा वागुक्ताऽप्यनुक्तसमा	15	16	सातिशयहिरण्यरजतप्रायो	21	2
सहजं व्यसनं	16	3	स खलु महान्	21	11
स्त्रियमतिशयेन	16	6	सुखेन यानमात्मरक्षा	22	6
सौम्यधातुक्षयेण	16	7	समा भूमिधनुर्वेदविदो	22	11
स्त्रियमपत्यं	16	31	स्वयमनवेक्षणं	22	17
स्वामिमूला: सर्वा:	17	4	स्वयमवेक्षीयसैन्यं	22	18
स प्रियो लोकानां	17	8	स किं स्वामी य आश्रितेषु	22	24
स दाता महान	17	9	स्त्रीसंगतिर्विवादो	23	7
सर्वधनेषु	17	56	सर्वा: स्त्रिय: क्षीरोदवेला	24	10
सरित्समुद्रमिव	17	57	स्त्रीणां वशोपायो	24	12
सा खलु विद्या	17	56	सपत्नीविधानं	24	24
स्वकर्मोत्कर्षापकर्षयोदनिमानाभ्यां	18	5	स्त्रीणां दौत्यं	24	26
स्वदेशजेष्वर्थ:	18	19	संवदनं	24	34
सोऽधिकारी	18	21	स्त्रीवशपुरुषो	24	41

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.	श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
स पशारपि	24	50	स नग्नोऽप्यनग्न	26	52
सुरक्षितापि	24	52	सर्वत्र संशयाने	26	53
सुभोजितोऽपि	24	54	स देशोऽनुसर्त्तव्यो	26	57
सन्मानदिवसादायु:	24	58	स जात्यन्धो	26	58
साधुश्चर्य माणेषु	24	67	संयमी गृहाश्रमी	26	62
स्वजातियोग्यसंस्कार	24	71	स स्वामी मरुभूमि	26	67
साधुसम्पादितो	24	73	स किं प्रभुर्य:	27	5
सुतसोदरसपत्नपितृ	24	88	स किं भृत्य: सखा वा	27	6
सुखनिद्रा प्रसन्ने	25	2	स किं देशो	27	8
सन्ध्यासुधांतमुखं	25	6	स किं बन्धुर्यो	27	9
सुघटितमपि	25	22	स किं गृहस्थो	27	11
सकृद्धरिनीरोपयोगो	25	35	सा किं श्रीर्यया	27	19
सर्व बलवत:	25	53	स्ववान्त इव	27	22
सुशिक्षितोऽपि	25	54	स पुमान् बन्धचरितो	27	31
संविभज्यातिथिष्वाश्रितेषु	25	55	स हि पंचपातकी	27	33
स्वच्छन्दवृत्ति:	25	58	स सखी यस्य	27	39
सततं	25	60	स्वयं मेध्या आपो	27	49
सततमुपविष्टो	25	62	स एवोत्सवो	27	50
सवत्सां	25	73	सा तीर्थयात्रा	27	53
सदैव जाङ्गलिकीं	25	86	सा सभारण्यानी	27	60
स्त्रीपुं सयनिं	25	106	स किं प्रभुर्यो	27	62
सर्वत्राविश्वासे	25	115	स किं व्ययो	30	29
स नीरोगो	26	6	संदिग्धेपत्रे	28	20
स महाभागो	26	8	स्वोपलम्भ	28	27
स किं धन्वी	26	11	स्वयमगुणं	28	48
स्वस्यासम्मतौ	26	18	सत्यपिदेवै	29	9
स खलु स्वस्यैवा	26	19	संजातराज्य	29	18
स सदैव दु:खि तो	26	20	सभामिजन:	29	33
स्वात्मानमविज्ञाय	26	23	सन्धिविग्रहयान	29	43
स किं पुरुषो	26	29	स्वमण्डलम्	29	55
स केवलं भूभाराय	26	32	स्वयमस्थिरेण	29	58
सहानुरुपं	26	47	सामोपप्रदान	29	70
स पुमान् सुखी	26	48	सहस्रैकोय:	29	86
सलज्जं	26	50	सूचीमुखा	29	87
स पुमान्	26	51	सा गोष्ठी	29	93
			सा राजन्वती	30	97

श्लोक	समुद्देश	नीति सं.
स किं मंत्री	30	1
संग्रामे को	30	2
सप्रतिग्रहं	30	20
सामसाध्यं	30	25
संहतैर्विस	30	38
स्वमण्डलपालन	30	46
स्व जीविते हि	30	64
समस्य समेन	30	68
स धर्म विजयी	30	70
स लोभविजयी	30	71
सोऽसुरविजयी	30	72
संग्राम धृतेषु	30	76
स्थायिषु संसर्ग:	30	77
सत्येनापि शपितव्यं	30	79
सतामसताम	30	80
साधुरचितोऽपि	30	87
स्वामिन:पुर:	30	94
सर्वसाधारणभूमिकं	30	99
स ब्रह्मण्यो	31	4
स दैवो	31	5
सुप्तप्रमत्तकन्यादानात्पैशाच:	31	11
सह शयने	31	17
समविभवाभिजनयोरसमगोत्रयोश्च	31	20
सम्यग्यवृत्ता	31	26
समुद्र इव	32	1
समत्वं	32	10
स महान्	32	12
स किमं गृहाश्रमी	32	13
स्वरय	32	15
सत्कलासत्योपासनं	32	21
स प्रभुर्यो	32	31
सुष्ठुपरिचितेष्वपि	32	47
स्त्रीप्रीतिरिव	32	54
स वन्हे:	32	59
सुचिरस्थापिनं	32	60
स्थितै: सहार्थोपचारेण	32	61
सत्पुरुषपुरश्चारितया	32	62
सपदि सम्पदमनुबध्नाति	32	63
स्वामिनोपहतस्य	32	73
"ह"		
हस्तिस्नानमिव	1	26
हिताहित प्राप्ति		29
हिताहित प्राप्ति परिहारौ	10	62
हरकण्ठलग्नोऽपि	10	96
हर्षामर्षाभ्यमकारणं	16	23
हस्तिप्रधानो	22	3
हीयमान:	29	51
हिरण्यं भूमिलाभाद्	29	80
"क्ष"		
क्षत्रियस्य परिहरत:	10	102
क्षीरवृक्षवत्	10	131
क्षणिकचित्त:	10	142
क्षयलोभविरागकारणानि	10	166
क्षुद्रपरिषत्क:	17	13
क्षत्रियोऽभियुक्त:	18	24
क्षत्रिय प्राया	19	11
क्षीरिषु	19	15
क्षीणजनसम्भावनं	19	20
क्षेत्रषप्रखण्डधूर्मायतनानामुत्तर:	19	25
क्षीणकोशो	21	6
क्षीराश्रित शर्करापान भोजितश्चाहि	24	57
क्षेत्रबीजयोर्वैकृत्यमपत्यानि	24	68
क्षुत्कालातिक्रमादन्नद्वेषो	25	36
क्षुत्तर्षपुरीषाभि	25	108
"त्र"		
त्रीण्यवश्यं	27	2
त्रीणिपातकानि	27	65
त्रिपुरुष	29	16
"ज्ञ"		
ज्ञानबलं	29	36

नीति वाक्यामृतम्

श्रीसोमदेवसूरि विरचित

1

धर्म समुद्देश

सोमं सोमसमाकारं सोमाभं सोमसंभवं ।
सोमदेवंमुनिं नत्वा नीतिवक्यामृतं ब्रुवे।।

अन्वयार्थः- (सोमसंभवं) सोमवंश में उत्पन्न (सोमामं) चन्द्र के समान कान्ति को धारण करने वाले (सोमसमाकारं) विधुवत्-आह्लादकारी आकृति युक्त (सोमदेवं मुनिं) सोमदेव सूरि के गुरु (सोमं) चन्द्रप्रभु जिनेश्वर को (नत्वा) नमस्कार कर (नीतिवाक्यामृतं) प्रस्तुत नीतिवाक्यामृत ग्रन्थ को (ब्रुवे) कहता हूँ ।

विशेषार्थः- आचार्य श्री ने अपने कर्त्तव्य की प्रतिज्ञा ज्ञापित करते हुए कार्य की निर्विध्न समाप्ति के लिए मंगलाचरण में श्री चन्द्रप्रभु भगवान को नमस्कार किया है । भाषा के सौष्ठव के साथ अपूर्व बुद्धि कौशल भी दर्शाया है । सोमदेव ने अपने स्वयं के नाम के साथ श्री चन्द्रप्रभु देव को भी जोड़ दिया है । इससे आपकी अनन्य भक्ति विदित होती है। यहाँ अनुप्रास अलंकार का प्रयोग बुद्धि कौशल सूचक है ।

पुराणों में ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण और ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं यति ये चार आश्रम कहे हैं। जनता जिन नियमों द्वारा अपने-अपने कर्त्तव्यों का यथोचित पालन करे, सदाचार रूप प्रवृत्ति में निष्ठ हो वह ''नीति'' कहलाती है । अथवा यह कहें जिसके माध्यम से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थों का अविरोध समन्वयपूर्वक अनुशासन चलता रहे वह ''नीति'' कही जाती है । इस नीति की प्रतिपादक अमृत सदृश वाक्य रचना जिस ग्रन्थ में हो वह ''नीतिवाक्यामृत'' कहा जाता है । राज्य शासन के यान, आसन, सन्धि, विग्रह आदि का यथोचित उपयोग करने के माध्यम इसमें वर्णित हैं इसी से इस ग्रन्थ का नाम स्वयं रचियता श्री सोमदेवसूरि ने युक्तियुक्त घोषित किया है । इसकी संस्कृत टीका पृ. 2 पर भी इसी भाव को दर्शाया है । ऐसा प्रतीत होता है इसके रचना काल के समय देश, व समाज में कुछ अराजक तत्व पनप चुके होंगे, राजनीति में कुछ विडम्बना उपस्थित हुई होगी, उसे देखकर दयार्द्र आचार्य श्री ने शुभ, योग्य, धर्मानुकूल, सदाचार वर्द्धक नीतियों का संग्रह किया है अर्थात् लिखा है, नीति भी है ''सर्वोपकाराय सतां विभूतयः'' महात्माओं का उद्देश्य महोपकारी होता है ।

"हिन्दी भाषानुवादकर्तृ का मंगलाचरण"

प्रथम जिन्होंने षट्कर्मों का, जगती को उपदेश किया ।
केवलज्ञान विभूति पाकर, मोक्षमार्ग उपदेश दिया ।।

नव केवल लब्धि के धारी, उन जिनवर को नमन करूँ ।
सिद्ध प्रभु का ध्यान लगाकर, टीका का विस्तार करूँ ।।1।।

अनेकान्त सिद्धान्त की प्रतिपादक जो मात ।
सरस्वती के चरण में, शीश झुकाऊँ आज ।।

कलिकाल में मुनि मार्ग का, जब हो रहा कुछ ह्रास था,
कैसे धरें दिगम्बर मुद्रा, नहीं हो रहा जब भान था ।।2।।

धरकर दिगम्बर वीर मुद्रा, सत्य मार्ग दर्शा दिया ।
उन आदिसागराचार्य चरण में शत शत वन्दन नमन किया ।।

महावीर कीर्ति आचार्य को वन्दन करूँ त्रिकाल,
विमल सिन्धु आचार्य के, चरणों नाऊँ भाल ।। 3।।

अंकलीकर आचार्य जी, आदि सूरि गुरु राज,
उनके तृतीय पद पर शोभित, हैं यतिराज महान।

सन्मति सिन्धु आचार्य को, वन्दन बारम्बार,
जिनके सद् उपदेश से कर रही टीका सार ।। 4।।

।।0।।

राज्य का स्वरूप व महत्व

धर्मार्थकामफलाय राज्याय नमः ।।1।।

अर्थ-धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि का साधक राज्य आदरणीय व मान्य होता है । यहाँ 'नमः' शब्द पूज्य व आदर अर्थ में प्रयुक्त है । अथवा ऐसा प्रतीत होता है कारण में कार्य का उपचार कर राज्य को नमन किया है । जो राज्य धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि करता है वही अंतिम मोक्ष पुरुषार्थ का साधक होता है । स्वयं राजा पुरुषार्थ चतुष्टयों का निर्विरोध सेवन करता हुआ प्रजा को भी समृद्ध करता है ।

धर्म का स्वरूप

यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिः सः धर्मः ।।2।।

अर्थ-(यतो) जिससे (अभ्युदयः) नर सुर का वैभव-चक्रवर्तित्वादि एवं इन्द्र अहमिन्द्रादि पद की तथा (निः श्रेयस) अनन्त मोक्ष सुख की सिद्धि हो (सः) वह (धर्मः) धर्म कहा जाता है । श्री स्वामी समन्तभद्र जी ने भी धर्म का लक्षण करते हुए लिखा है

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम् ।
संसार दुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे

।।2।। र.श्रा.।।

अर्थात् आचार्य कहते हैं ''जो प्राणियों को सांसारिक दुःखों से निकाल कर कर्म रहित परम् मोक्ष सुख को प्राप्त करता है वह धर्म है, उसे मैं कहता हूँ । स्वयं आचार्य सोमदेवसूरि ने भी अपने यशस्तिलकरचम्पू काव्य के षष्ठ् आश्वास से अष्टम् आश्वास पर्यन्त धर्म की विशद् व्याख्या की है । अतः यहाँ उसका संक्षिप्त वर्णन उपयुक्त होगा-

जिसके द्वारा प्राणियों को भौतिक सुखों के साथ पारमार्थिक सुख की उपलब्धि होती है उसे धर्म कहते हैं ।।1।। वह धर्म प्रवृत्यात्मक और निवृत्यात्मक के भेद से दो प्रकार का होता है । मोक्ष के साधक सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्र (रत्नत्रय) में प्रवृत्ति करना और संसार के बीज भूत मिथ्या दर्शन, ज्ञान, चारित्र का त्याग करना धर्म है । गृहस्थ धर्म और यतिधर्म के भेद से धर्म की सिद्धि होती है । अर्थात् धर्म के ये दो भेद हैं ।। 2 ।।

रत्नत्रय की प्राप्ति मोक्षमार्ग है और मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र एवं मिथ्यातप ये संसार के कारण हैं ।। 3 ।।

युक्तिपूर्वक सिद्धपदार्थों-जीवादि सप्त तत्वों का यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, इन्हीं को शंसय, विपर्य और अनध्यवसाय रहित जानना सम्यग्ज्ञान है ।। 4 ।। हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म परिग्रह इन पाप क्रियाओं का त्याग सम्यक् चारित्र है ।। 5 ।। इन तीनों का एकीकरण मोक्षमार्ग है ।

मात्र तत्त्व श्रद्धान से मुमुक्षु को मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती । क्योंकि क्षुधापीड़ित मनुष्य की इच्छामात्र से वडफल-ऊमरफल नहीं पकते, अपितु योग्य प्रयत्न करने से पकते हैं । उसी प्रकार श्रद्धामात्र से शिव की प्राप्ति नहीं

होती अपितु सम्यक् चारित्र रूप प्रयत्न से होती है ।।6।। इसी प्रकार ज्ञानमात्र से भी इष्ट (मोक्ष) सिद्धि संभव नहीं है अन्यथा "यह जल है" इस ज्ञान मात्र से ही तृषा शान्त हो जाती, परन्तु होती नहीं ।।7।। इसी प्रकार चारित्रमात्र से भी मोक्ष नहीं मिल सकता । यथा जन्मान्ध व्यक्ति अनार के वृक्षों के पास पहुँच जाये तो भी क्या छाया मात्र के सिवाय उसे फलों का लाभ हो सकता है ? नहीं ।।8।।

लंगड़ा पुरुष ज्ञान युक्त होने पर भी गमन (चारित्र) के बिना इष्ट स्थान को नहीं पा सकता, नेत्रविहीन ज्ञान के अभाव में गमनादि क्रिया करता हुआ भी अभीष्ट लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकता तथा श्रद्धाहीन होने पर क्रिया और ज्ञान भी निष्फल हो जाते हैं । अतः सम्यग्दर्शन, सम्याग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनों का एकीकरण ही मुक्ति है, मोक्षप्राप्ति है ।।9।।

सम्यग्दर्शन से स्वर्गादि वैभव प्राप्त होता है, सम्यग्ज्ञान से कीर्तिकौमुदी विस्तृत होती है, सम्यक् चारित्र से इन्द्रादि द्वारा पूजा प्राप्त होती है । इन तीनों के समन्वय से मोक्ष मिलता है ।।10।।

यह आत्मारूपी पारा अनादिकाल से मिथ्यात्वादि कुधातुओं से मिश्रित हो अशुद्ध हो रहा है उसे शुद्ध करने के लिए ये तीनों अनूठे साधन हैं। अर्थात् सम्यक् चारित्र अग्नि है, सम्यग्ज्ञान घरिया-उपाय है और सम्यग्दर्शन मूलरसौषधि (नीबू के रस में घुटा सिंध्रप) है, इनके सम्प्रयोग से आत्मारूपी पारा शुद्ध किया जा सकता है, सांसारिक समस्त व्याधियों से रहित हो मुक्त किया जा सकता है ।।11।।

मानव को सम्यक्त्वप्रातयर्थ चित्त को विशुद्ध करना चाहिए । ज्ञानलक्ष्मी लाभार्थ आप्तोक्त शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिए और सम्यक् चारित्र की सिद्धि के लिए कष्ट सहिष्णु बन कर पञ्चपापों का त्याग करना चाहिए । न्यायोपार्जित सम्पत्ति को सत्पात्रदानादि में व्यय करना चाहिए ।।12।। य.ति.पृ. 326

सम्यग्दर्शन का स्वरूप

सत्यार्थ, समीचीन आप्त (देव), आगम और सप्त तत्त्वों का तीनमूढता, आठमद और छः अनायतनों से तथा आठ शंकादि दोषों से रहित व आठ अंगों सहित जैसा का तैसा श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है । निश्चय से शुद्धात्मा का श्रद्धान ही सम्यक्त्व है । प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुणों द्वारा इसकी पहिचान की जा सकती है ।।1।। (य.ति.च.आ.6पृ.274)

आप्त का लक्षण व स्वरूप

जो अठारह दोषों से रहित है, सर्वज्ञ-तीनों लोकों के समस्त पदार्थों को उनकी अनन्त पर्यायों के साथ जो जानता है, जो वीतरागी और हितोपदेशी है ऐसे ऋषभादि तीर्थङ्कर सच्चे आप्त हैं ।।2।। (य.ति.आ. 6 पृ. 274)

आगम का स्वरूप

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थों में अविरोध रूप से जो मनुष्य को प्रवृत्ति कराने में समर्थ हो वह

शास्त्र समीचीन आगम कहा जाता है तथा हेयोपादेय-त्याज्य और ग्राह्य पदार्थों का जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान हो उसे सत्यार्थ आगम कहत हैं ।।3॥ (य.ति.च.पृ.276 आ.6)

लोक व्यवहार में जिस प्रकार माता (जाति), पिता (कुल) की शुद्धि-पिण्डशुद्धि होने पर उनकी सन्तान-पुत्रादि शुद्धि मानी जाती है, उसी प्रकार आप्त की शुद्धि (वीतरागता और सर्वज्ञाता आदि) होने पर ही उनके द्वारा प्रणीत आगम को प्रमाणिक कहा या माना जाता है । आगम के चार भेद हैं- 1. प्रथमानुयोग, 2. करणानुयोग 3. चरणानुयोग और 4. द्रव्यानुयोग ।

जिसके द्वारा त्रेसठ शलाका के महापुरुषों का जीवनचरित्र जाना जाय, अथवा किसी एक महापुरुष व तीर्थङ्कर का आख्यान वर्णित किया जाय उसे प्रथमानुयोग कहते हैं । स्वामी समन्तभद्राचार्य ने इसे बोधि, समाधि का निधान कहा है । यह पूज्य पुरुषों के जीवन का विश्लेषण कर स्वर्ग, मोक्ष के मार्ग दर्शन में सक्षम होता है ।।1॥

जिसमें ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक एवं तिर्यक् लोक का स्पष्टीकरण किया गया हो, चारों गतियों का स्वरूप उसके कारणादि निरूपण हो वह करणानुयोग है ।।2॥

सदाचार, शिष्टाचार व तपाचारादि द्वारा आत्मविशुद्धि का मार्गनिर्देश करने वाला शास्त्र चरणानुयोग कहलाता है । यह आत्मा (संसारी) को परम विशुद्ध बनने के लिए सतत् जागरुक रखकर कर्त्तव्यनिष्ठ बनने की प्रेरणा देता है। इसे चरणानुयोग कहते हैं ।। 3॥

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्व का यथार्थ ज्ञान जिसके द्वारा कराया जाता है उसे द्रव्यानुयोग कहते हैं ।।

इन तत्वादि पर अकाटय श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है ।

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप

जो वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप को हीनाधिकता से रहित, तथा संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय रूप मिथ्याज्ञान रहित निश्चय करता है-सत्यस्वरूप दर्शाता है उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं (य.ति.च.आ.6पृ.325/र.क.श्रा.अ.2.) सम्यग्ज्ञान भव्यों को हिताहित का विवेक कराता है । श्रीमाणिकनन्दि जी ने परीक्षा मुख ग्रन्थ में लिखा है "हिताहित प्राप्ति परिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ।।2॥ अर्थात् हित की प्राप्ति और अहित का परिहार कराने में जो समर्थ हो उसे प्रमाण कहते हैं और वह ज्ञान ही है ।

मतिज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न होता है और श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है । यह अतीन्द्रिय (धर्माधर्मादि) पदार्थों में भी उत्पन्न होता है । इससे स्पष्ट होता है कि राग-द्वेष रहित, निर्मल चित्तवृत्ति होने पर मनुष्य को तत्त्वज्ञान दुर्लभ नहीं हैं ।। (य.ति.आ.6पृ.325)

निर्बाध वस्तु में भी यदि बुद्धि विपर्यय हो जाय तो यह ज्ञाता का ही दोष है वस्तु का नहीं । यथा मन्ददृष्टि

वाले को दो चन्द्र दिखाई देते हैं तो यह दृष्टिभ्रम है न कि चन्द्रमा का दोष है ? चन्द्रमा का नहीं ।14॥

सम्यग्दर्शन विहीन पुरुष का ज्ञान मात्र उसके मुख की खुजली को दूर करने वाला होता है । अर्थात् वाद-विवाद कर सकता है आत्म हित के लिए कारण नहीं हो सकता । इसी प्रकार सम्यग्ज्ञान विहीन चारित्र भी विधवा के श्रृंगार के समान निरर्थक है ।15॥

जो दूध एक बार दही बन जाता है, फिर दुग्ध नहीं बनता उसी प्रकार जो आत्मा तत्त्वज्ञान से विशुद्ध हो चुकी है वह पुनः पापों से लिप्त नहीं होती ।16॥ शरीर और आत्मा सर्वथा भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले हैं, शरीर अत्यन्त मलिन और आत्मा अत्यन्त शुद्ध है । विवेकी भव्यों को इस प्रकार का नित्य चिन्तन करना चाहिए ।17॥ (आ.8 पृ.399)

जिसकी वाणी व्याकरण, साहित्य, इतिहास, अलंकारादि और आगम ज्ञान से विशुद्ध नहीं हुई है एवं जिसने नीति शास्त्रों को पढकर अपनी बुद्धि को परिष्कृत और विशुद्ध नहीं बनाया वह केवल दूसरों के सहारे रहकर क्लेश उठाता है और अन्धे के समान है ।। 8॥

सम्यक् चारित्र का लक्षण

हिंसादि पाँच पापों से विरत होना सम्यक् चारित्र है । अणुव्रत और महाव्रत के भेद से इन्हें पालन करना श्रावक और यतियों का चारित्र कहा है । श्रावकों का चारित्र दो प्रकार है - 1. मूलगुण और 2. उत्तर गुण । मूलगुण 8 होते हैं - मद्य (शराब) मधु (शहद) एवं मांस का त्याग तथा पाँच उदम्बर फलों का त्याग । समन्तभद्राचार्य ने तीन मकार त्याग और पाँच अणुव्रतों का पालन ये 8 मूलगुण कहे हैं । शास्त्रान्तरों में इनकी विशद् व्याख्या की है । यहाँ कुछ उद्धरण निम्न प्रकार हैं -

मद्यपायी के काम, क्रोधादि समस्त दोष उत्पन्न होते हैं । बुद्धिभ्रम हो जाता है । अज्ञान का पर्दा पड़ जाता है ।।1॥ हिताहित का विवेक नष्ट हो जाता है । फलतः शराबी को संसार रूप अटवी में भटक कर नाना संकटों का शिकार होना पड़ता है ।। 2॥ शराब पीने से यदुवंशी नष्ट हो गये । महुआ, गुड़ और पानी का मिश्रण शराब तैयार कर देता है, नशा उत्पन्न हो जाता है । पश्चात् पीने वाले को किंकर्त्तव्यविमूढ़ बना देती है । शराब की एक बूंद में इतने जीव हैं कि वे स्थूल रूप धारण कर विचरें तो सम्पूर्ण लोक को व्याप्त कर लें । मद्यपान मनुष्य की बुद्धि विकल कर देता है । अतः इसका सर्वथा त्याग करना उत्तम है ।

दो इन्द्रियादि प्राणियों के कलेवर से मांस की उत्पत्ति होती है। हिंसात्मक, घृणास्पद, रोगोत्पादक, महापापकारक, दुर्गतिदायक इस मांस को सज्जन पुरुष किस प्रकार भक्षण कर सकते हैं? कदाऽपि नहीं करते हैं ।

जिसका माँस मैं यहाँ खाता हूँ, वह जन्मान्तरों में मुझे भी अवश्य ही खायेगा ऐसा मां-स का अर्थ विद्वानों द्वारा प्रतिपादित किया है ।। 1॥

संसार में प्राणी अहिंसा से सुखी, समृद्ध, परिपुष्ट और समस्त भोगोपभोग की सामग्री से सम्पन्न देखे जाते हैं, उसी अहिंसा धर्म का त्याग मनीषीजन किस प्रकार कर सकते हैं? कल्पवृक्ष से कौन द्वेष करेगा? कोई नहीं ।

जो व्यक्ति स्वल्प दुःख उठाकर अपने को सुख सम्पन्न देखना चाहते हैं तो उसका कर्त्तव्य है कि "जैसा विश्वास आदि अपने प्रति चाहता है और विश्वासघातादि करना नहीं चाहते वैसा हम भी अन्य के प्रति नहीं करे" । जो व्यक्ति अन्य के सुख भोग में बाधक न होकर पुण्यार्जित फल का भोग करते हैं वे उभयलोक में सुखी रहते हैं ।। 4॥ जिस

प्रकार हमें अपना जीवन प्रिय है उसी प्रकार समस्त जीवों को भी अपना-अपना जीवन प्रिय होता है । अत: जीव हिंसा का सर्वथा त्याग करना श्रेयस्कर है ।। 5 ॥

बुद्धिमान पुरुष शराबी और मांसभक्षी मानवों के साथ, या उनके घरों में भोजन न करें । सह भोजन-पान का विचार भी नहीं करना चाहिए ।। 6 ॥ जो मांसाहारी, शराबियों के साथ उनके गृहों में भोजन-पान करते हैं वे लोक में निन्दा के पात्र होते हैं और परलोक में भी कटुफल भोगते हैं ।। 7 ॥ व्रती पुरुषों को मशक-चरश व अन्य चमड़े के पात्रों में निक्षिप्त पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए । चमड़े की कुप्पियों में रखे घी, तेल, हींगादि का उपयोग कदाऽपि नहीं करना चाहिए । आजकल चमडे की वस्तुएँ अधिक नहीं है परन्तु प्लास्टिक की कुप्पी आदि का प्रयोग किया जाता है यह भी अशुद्ध है क्योंकि प्लास्टिक को जलाने पर चर्म जैसी गंध आती है और उनमें निक्षिप्त (रखे) घी आदि पदार्थों में भी वैसी ही दुर्गन्ध आने लगती है । अनेकों रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं । अत: त्याज्य है । अव्रती कन्याओं के साथ विवाह आदि भी नहीं करना चाहिए ।। 8 ॥

आत्मकल्याण चाहने वालों को बौद्ध, सांख्य और चार्वाक आदि दार्शनिकों के कुतर्कों पर विश्वास नहीं करना चाहिए । सदैव के लिए मांसभक्षण का त्याग करना ही चाहिए । एक क्षुद्रमच्छ जो स्वयम्भूरमण समुद्र में महामत्स्य के कान में बैठा, मांसभक्षण रूप हिंसानन्दी रौद्रध्यान के कारण घोर भीषण दु:खाकीर्ण नरक बिल में जा पड़ा ।। 9 ॥ सत्पुरुषों को हिंसा-कर्म से सदैव-निरन्तर दूर रहना चाहिए ।

इसी प्रकार मधु और 5 उदम्बरों का भी त्याग करना चाहिए -

मधु मधुमक्खियों का वमन है । दूसरे शब्दों में मधुमक्खियों के अण्डे और नन्हें बच्चों के कलेवर का निचोड़ है । गर्भाशय में स्थित शुक्र और श्रोणित के सम्मिश्रण के तुल्य है भला सत्पुरुष इस प्रकार के घृणित और हिंसक पदार्थ को किस प्रकार सेवन कर सकते हैं । उन भिन-भिनाती मक्खियों और उनके मासूम निरपराध बच्चों का मल-मूत्र, रक्तादि युक्त मधु हिंसक वहेलिया, वनेचर आदि का भोज्य क्या सज्जनों द्वारा सेव्य हो सकता है ? कदाऽपि नहीं हो सकता। यदि वे सेवन करें तो यह आश्चर्यकारी ही होगा ।। 2 ॥

पञ्च उदम्बर-बड़, पीपल, गूलर, पाकर और ऊमर के फलों में प्रत्यक्ष उडते हुए त्रस जीव दृष्टिगत होते हैं। उनका भक्षण करने से वे सब मरण को प्राप्त होते हैं । अनेकों सूक्ष्म जीव आगम प्रमाण से सिद्ध हैं । एक बूंद मधु सेवन से सात ग्राम जलाकर भस्म करने के जितना पाप कहा है ।। 3 ॥ इस प्रकार श्रावकों को अपने आठ मूलगुणों को निर्दोष पालन करने का प्रयत्न करना चाहिए ।

श्रावकों के उत्तर गुण

5 अणुव्रत, 3 गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये 12 उत्तरगुण हैं। 1. अहिंसाणुव्रत, 2 सत्याणुव्रत, 3 अचौर्याणुव्रत, 4 ब्रह्मचर्याणुव्रत और 5 अपरिग्रहाणु व्रत । ये पाँच अणुव्रत हैं । इनका स्वरूप निम्न है-

काम, क्रोध, लोभादिवश प्राणियों के प्राणों का घात न करना, उन्हें मानसिक पीड़ा नहीं पहुँचाना, अहिंसाणुव्रत है । अर्थात् संकल्प पूर्वक किसी भी प्राणी का मन, वचन, काय से घात न करना अहिंसाणुव्रत कहलाता है ।

देवताओं की पूजा, अतिथिसत्कार, पितृकर्म, उच्चाटन, मारणादि कर्मों के लिए, औषधादि के निमित्त से भी प्राणियों का घात नहीं करना अहिंसाणुव्रत है । इस व्रत का धारी, आसन शैया मार्ग अन्न आदि का उपयोग भी देखभाल कर जीव रक्षा सहित ही करता है ।

दयालु गृहस्थों को कूटना, पीसना, जल छानना, आदि पञ्चसूना कार्यों को देख-भाल कर सावधानी से करना चाहिए । दूध, घी, तैलादि तरल पदार्थों को कपड़े से छानकर प्रयोग में लाना चाहिए ।। 8 ॥ अहिंसा व्रत की रक्षार्थ और मूलगुण की विशुद्धि के लिए उभयलोक दुःखकर रात्रिभोजन का त्याग कर देना चाहिए ।। 9 ॥ व्रतियों को अनन्त जीवों की योनि स्वरूप, अचार, मुरब्बा, पत्तेवाले शाक-भाजी, घुणा अन्न, पुष्प, मूल, शाक, शाखादि का भी सेवन नहीं करना चाहिए । जिन पदार्थों में त्रस राशि प्रचुर मात्रा में व्याप्त हों उनका भक्षण नहीं करना चाहिए ।। 11 ॥ मिश्र, अमिश्र, भक्ष-अभक्ष कोई भी पदार्थ द्रव्य क्षेत्र, कालादि की मर्यादा के बाहर हो गया हो तो वह भी अभक्ष्य ही है । अहिंसाव्रत धारियों को उनका दूर से ही परिहार कर देना चाहिए ।। 12 ॥

जो व्यक्ति अधिक आरम्भ-परिग्रह संग्रही है, अन्य को ठगता है, धोखा देता है, विश्वासघात करता है, दुराचारी, कदाचारी है वह भला अहिंसक किस प्रकार हो सकता है? कदाऽपि नहीं हो सकता ।। 13 ॥ शास्त्रकार पाप को अन्धकार और पुण्य को प्रकाश कहते हैं । जिनका हृदय पुण्य रूप प्रकाशपुञ्ज से व्याप्त है उनके समक्ष पाप रूप तमोराशि फटक ही नहीं सकती है ।। 14 ॥ अहिंसा धर्म के प्रभाव से प्राणी-दीर्घजीवी, भाग्यशाली, धनाढ्य, सुन्दर, यशस्वी, महिमाशाली होता है । संसार में जो कुछ भी उत्तमोत्तम, शुद्ध भोग पदार्थ हो सकते हैं, वे सब दयालु मानव के चरणों में स्वयं अनायास आ उपस्थित होते हैं ।। 15 ॥

सत्याणुव्रत का स्वरूप

इस व्रत का धारी अनर्गल वार्तालाप, परदोषोद्भावन, असभ्य, निंद्य, गर्हित वचन नहीं बोलता । उच्चकुल प्रकाशक हित, मित, प्रिय वचन बोलता है ।।1 ॥ ऐसे वचन जिसके द्वारा धर्म, प्राणी का घात हो या किसी पर विपत्ति आ जाये इस प्रकार के वचन कभी नहीं बोलता ।। 2 ॥ सौम्य प्रकृतिवाला, सदाचारी, हितैषी, प्रियवादी, परोपकारी और दयालु व्यक्ति ही सत्यवादी होना संभव है ।।3 ॥

मन्त्रभेद (दूसरों के निश्चित अभिप्राय को प्रकट करना), परनिन्दा, चुगली, झूठा दस्तावेज लिखना, असत् गवाही देना, इत्यादि कलह, विद्रोहवर्द्धक कार्यों को नहीं करता, न कराता है, न करने वालों को प्रोत्साहन ही देता है वही सत्यव्रत पालक होना संभव है ।।4 ॥

जिसवाणी से गुरुजन प्रमुदित होते हैं वह वाणी मिथ्या होने पर भी असत्य नहीं मानी जाती । इसका अभिप्राय है कि गुरुजन दूरदर्शी व तत्त्वज्ञ होते हैं वे द्रव्य, क्षेत्र, कालादि मर्यादानुसार ही शिष्यों को भाषण करने की अनुज्ञा देते हैं ।। 15 ॥

तुरीयं वर्जयेन्नित्यं लोक यात्रात्रये स्थिता ।
सा मिथ्यापि न गीर्मिथ्या या गुर्वादि प्रसादिनी ।। 15 ॥

सत्यवादी परनिन्दा व आत्मप्रशंसा न करे। पर के विद्यमान गुणों का लोप और स्वयं के अविद्यमान गुणों का उद्भावन करने की चेष्टा न करे ।। 6 ॥

विकथाओं का त्याग करना चाहिए असम्बद्ध प्रलाप नहीं करना चाहिए ।

पर का अहित करने से स्वयं अपना ही अहित होता है । संसार में प्राणियों के चित्त रूपी वस्त्र, दोष रूपी

जल में भिगोये जाते हैं तो वे भारी-वजनी हो जाते हैं-पापी होते हैं और जब सत्यादि गुणरूपी गर्मी में फैलाये जाते हैं तो सूखकर हलके-लघु व पुण्यशाली हो जाते हैं । अतएव गुणीजनों को अपना चित्त सतत् सम्यग्ज्ञानादि गुणों की गर्मी से लघु-निर्दोष बनाये रखना चाहिए ।। सत्यवादी को वचनसिद्धि हो जाती है । वह जिस विषय को अपनी वाणी का विषय बनाता है वह सर्व मान्य होता है । तथा जो मनुष्य तृष्णा, ईर्ष्या, क्रोध, लोभ, हर्ष, यशोलिप्सादि वश असत्यभाषण करता है वह उभय लोक भ्रष्ट होता है। दुर्गति से भीत मनुष्य को असत्यभाषण त्याग कर सुखी होना चाहिए ।।122।। आ.7 धर्म व नीति विरुद्ध भाषण त्याग से ही सत्यव्रत शोभित होता है ।

अचौर्याणुव्रत

धर्मानुकूल, अग्नि व पञ्चों एवं धर्म की साक्षीपूर्वक, विधि-विधान से परिणीत (विवाहिता) पत्नी के सिवाय अन्य स्त्रियों के सेवन का त्याग करना अर्थात् उन्हें माता, बहिन व पुत्रीवत पवित्र दृष्टि से देखना ब्रह्मचर्याणुव्रत कहा जाता है । इस व्रत के पालन से विद्या, बुद्धि, सत्य, अहिंसा का पालन, रक्षण व वर्द्धन होता है । इसीलिए आध्यात्म्यविशारदों ने इसे ब्रह्मचर्य व्रत कहा है ।

ब्रह्मचारी को कामोद्दीपक, अश्लील चित्र, उपन्यास, कथादि का प्रयोग नहीं करना चाहिए । काम व गृद्धि वर्द्धक रसों का सेवन नहीं करना चाहिए । कामोद्दीपक शास्त्रों को पढ़ना नहीं चाहिए । जिस प्रकार हव्य से धनञ्जय (होमाग्नि), नदियों से सागर, सन्तुष्ट नहीं होता, उसी प्रकार संसारी प्राणी भोगों के प्राचुर्य में रहते हुए भी तृप्त नहीं होता ।

अनन्तवीर्यधारी भी पुरुष कामासक्ति से प्रचुर स्त्री संभोगादि कर हीन शक्ति हो जाता है, नपुंसक हो जाता है। काम रूपी अग्नि मनुष्य की चित्तरूपी ईंधन में प्रदीप्त होकर उसके, ध्यान, त्याग, तपोनिष्ठादि की भावनाओं को ध्वस्तकर देती है। अतः काम वासना की तत्परता का त्याग कर न्याय प्राप्त भोगों का मध्यम रीति से अर्थात् धर्म की छाया में रहकर सेवन करना चाहिए । शारीरिक दाह की शान्ति हेतु व खोटे ध्यान की निवृत्ति के उद्देश्य मात्र से सेवन करना चाहिए ।

परस्त्री सेवन की लालसा होना, कामसेवन के अङ्गो से बहिर अंगो से सेवन करना, दूसरों का विवाह करना-कराना, कामसेवन की तीव्र लालसा रखना आदि क्रियाएँ ब्रह्मव्रत का नाश करती हैं ।

ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ऐश्वर्य, उदारता, धीरता, वीरता, सौन्दर्य, रूप-लावण्य आदि विशिष्ट गुणों की प्राप्ति होती है । अतः इस व्रत को निरतिचार पालना चाहिए ।

परिग्रहपरिमाणाणु व्रत

बाह्याभ्यन्तर पर वस्तुओं में "यह मेरा है" इस मान्यता या मूर्छा का नाम परिग्रह है । "मूर्च्छापरिग्रहः" यह श्री उमास्वामी जी का वचन है । इस चित्तवृत्ति का संकोच या संवरण करना परिग्रह परमाणु व्रत है। क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, दासी, दास, वस्त्र, भाण्ड, सोना चाँदी ये 10 वाह्य और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुंवेद नपुंसक वेद ये नवकषाय, अनन्तानुबन्धी आदि क्रोध, मान, माया, लोभ ये 4 कषाय तथा मिथ्यात्व ये 14 अन्तरङ्ग परिग्रह इस प्रकार 24 प्रकार के परिग्रहों की सीमा कर शेष में भी परिहार की भावना करते हुए सन्तुष्ट होना परिग्रह परिमाण व्रत कहलाता है । कहा है "सुख पावे सन्तोषी प्राणी" जहाँ सन्तोष है वहीं सुख है । तृष्णा दुःख का बीज है । धन लोलुपी तृष्णा वश अन्याय, अत्याचार कर धनार्जन करते हैं, वे नरक का मार्ग सरल बनाते हैं । धनाढ्य होकर भी जो

जिन पूजा और पात्र दानादि नहीं करता उसको दरिद्र ही समझना चाहिए । क्यों ? ''धन बुरा हु भला कहिये लीन पर उपकार सों'' यदि धन में आसक्ति है, कृपण है तो वह धन दुर्गति का कारण है और उसे परोपकार में व्यय किया जा रहा है तो सद्गति का हेतु है । विचारणीय है'' जबकि सहोत्पन्न शरीर भी नित्य नहीं, साथ जाता नहीं तो प्रत्यक्ष पर रूप दिखने वाले स्त्री, पुत्र, धन, जन, महल, मकान आदि किस प्रकार स्थायी रह सकते हैं ? नहीं रह सकते । फिर सत्पुरुष, विवेकीजन इनमें किस प्रकार प्रीति कर सकते हैं ? नहीं कर सकते । जो लोग प्राप्त धन में भी आसक्त नहीं होते, ''जल तैं भिन्न कमल'' की भांति निर्लिप्त जीवन यापन करते हैं वे उभय लोक में लक्ष्मी के स्वामी होते हैं और क्रमशः अमर-मोक्ष लक्ष्मी के भी अधिपति हो जाते हैं । आरम्भ परिग्रह संचय में अन्य पाप भी सहज आ जाते हैं। अतः परिग्रह का त्याग ही श्रेयस्कर है ।

दिग्व्रत में दशों दिशाओं सम्बन्धी आवागमन का नियम किया जाता है । इस सीमा को भी संकुचित करना देशव्रत कहलाता है । दिग्व्रत में यावज्जीवन के लिए मर्यादा कही है परन्तु देशव्रत में कुछ समय के लिए गली मोहल्ला ग्रामादि को लेकर आने-जाने का नियम किया जाता है । जीवनपर्यन्त की मर्यादा को यम और कालकृत मर्यादा को नियम कहते हैं । इन व्रतों का धारी सीमा के बाहर के क्षेत्र की अपेक्षा महाव्रत का लाभ प्राप्त करता है ।

अनावश्यक या निष्प्रयोजक कार्यों को करने का त्याग करना अनर्थदण्डव्रत है ।

बाज, बिलाव, मयूर, मुर्गा, सर्प, नेवला, विष, कंटक, शस्त्र, अग्नि, चाबुक, जाल, रस्सी, छुरी, कटारी आदि हिंसात्मक प्राणियों को पालना, वस्तुओं का संग्रह करना एवं दान देना आदि अनर्थदण्ड हैं इन कार्यों का त्याग करना अनर्थदण्ड व्रत कहलाता है। पाप का उपदेश देना, दुर्ध्यान करना, हिंसात्मक-क्रीडाएँ करना, दूसरों को कष्ट देना, चुगली करना, शोक, चिन्ता करना, रोना, कलह करना, ईर्ष्या व द्वेष करना, प्रतिशोध की भावना रखना ये सब अनर्थ हैं इनका सर्वथा त्याग करने से अनर्थ दण्डव्रत होता है । इस व्रत का धारी अनेकों व्यर्थ की पाप क्रियाओं से तो रक्षित होता ही है साथ ही उसका जीवन नियमित, विचार पावन और आत्मा पवित्र होती जाती है । सम्पूर्ण शुभाशुभ क्रियाओं में विशेष जाग्रति रहती है । मन, वचन, काय का संचार सीमित और मर्यादित होने से आस्रव मन्द होता है । अतः प्रत्येक श्रावक को इसका अवश्य पालन करना चाहिए । ये तीनों व्रत पाँचों अणुव्रतों में वैशिष्ट्य उत्पन्न करते हैं इसलिए गुणव्रत कहलाते हैं । गुणों की वृद्धि करने वाले हैं ।

सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और अतिथि संविभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं ।

यथायोग्य काल की सीमा कर समस्त सावद्य क्रियाओं का परित्याग कर, मन-वचन, काय को अशुभ भाव, संकल्प-विकल्प व क्रियाओं से निर्वृत करना सामायिक शिक्षाव्रत है । अथवा प्रातः, मध्यान्ह व सायंकाल उत्तम, मध्यम, जघन्य कालानुसार समस्त पाप क्रियाओं से विरत हो आत्मचिन्तन करना, पञ्चपरमेष्ठी का ध्यान करना, अपराजित महामंत्र (णमोकार मंत्र) का जाप करना या अन्य आगमोक्त मंत्रों का, बीजाक्षरों का स्मरण करना सामायिक शिक्षाव्रत कहलाता है । इस व्रत के धारण, पालन से साम्यभाव की जाग्रति होती है । जीवन-मरण, लाभालाभ, संयोग-वियोग, शत्रु-मित्र, कञ्चन-पाषाण, वन-महलादि में साम्यभाव प्राप्त होता है । यह आत्म विशुद्धि का सर्वोत्तम साधन है । सम्यक् समाधि का हेतु है । इसका अभ्यास सकलसंयम धारण का साधक होता है ।

एक भुक्ति को प्रोषध कहते हैं, एक दिन-रात्रि को चतुर्विध आहार (खाद्य-स्वाद्य, लेह्य और पेय) का त्याग करना उपवास होता है, प्रोषध (एकाशन) पूर्वक उपवास करना प्रोषधोपवास कहलाता है । अर्थात् चतुर्दशी का

प्रोषधोषवासी को त्रयोदशी और पूर्णिमा को एकाशन व चतुर्दशी को उपवास करना होगा । इस प्रकार 16 प्रहर को चारों प्रकार के आहार-जल के साथ विषय-कषायों का त्याग करने से प्रोषधोपवास होता है । यह व्रत इन्द्रियों का दमन करने में विशेष सहायता देता है । विकारों का संवरण करता है ।

भोग और उपभोग को मिलाकर भोगोपभोग शब्द निष्पन्न हुआ है । जो पदार्थ एक बार ही भोगे जा सकते हैं वे भोग कहलाते हैं यथा भोजन, जल, तेल, इत्र, गंधादि । जो पदार्थ पुनः पुनः भोगने में आवे उसे उपभोग कहते हैं । यथा स्त्री, वस्त्र, आभूषण, शैय्या आदि । इन भोग और उपभोग के पदार्थों की सीमा निर्धारित करना भोगोपभोग परिमाण व्रत कहलाता है । इससे इच्छाओं का दमन होता है । तृष्णा का शमन होता है । लोभ का ह्रास होने से परिणाम शुद्धि होती है ।

अतिथि संविभाग व्रतधारी यथा शक्ति चारों प्रकार का दान देता है । या उत्तम मध्यम जघन्य पात्रों को आहार दान देना अतिथि संविभाग व्रत है । जिसकी कोई तिथि न हो वह अतिथि कहलाता है । दिगम्बर साधु किसी का निमंत्रण स्वीकार नहीं करते । अपने अवग्रह (प्रतिज्ञा) के अनुसार उत्तम, शुद्ध, जाति कुल वंश वाले घरों में विधिवत् आहार ग्रहण करते हैं । अतः वे अतिथि कहलाते हैं । उन्हें यथावसर भक्ति, श्रद्धापूर्वक आहार देना अतिथि संविभाग व्रत कहलाता है । इस प्रकार ये 12 व्रत हैं । इनका पालन करने से श्रावक धर्म सुचारु रूप से पालित होता है । धर्म जीवन का प्राण है । आत्मा की पुष्टि करने वाला है । तत्वार्थ श्लोक वार्तिक में आचार्य श्री विद्यानन्दि जी ने लिखा है "जिस प्रकार ज्वर के निदान-प्रतिनियत कारणों (वात, पित्त, और कफ की विषमता आदि) का ध्वंश, उसको नष्ट करनेवाली औषधि के सेवन से हो जाता है, उसी प्रकार मुमुक्षु प्राणी में भी सांसारिक व्याधियों के कारणों (मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम) का ध्वंश भी उनकी औषधि के सेवन से अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की सामर्थ्य से हो जाता है । ऐसा होने से कोई आत्मा समस्त दुःखों की निवृत्तिरूप मोक्षप्राप्त कर लेता है । इसलिए जिन सत्कर्तव्यों (उक्त सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र) के अनुष्ठान से मनुष्य को स्वर्ग श्री और मुक्ति श्री की प्राप्ति होती है । उसे ही धर्म कहा गया है, धर्म वस्तु का स्वभाव है । अन्यत्र "दंसणमूलो धम्मो" "वत्थु सहावो धम्मो", "चारित्रं खलु धम्मो", "उत्तम खमादि दसविहो धम्मो" जीवाणं रक्खणं धम्मो" कहकर कुन्दकुन्द देव ने धर्म की विशद् व्याख्या की है । सबका सार एक ही आत्म स्वरूपोपलब्धि है । जिस प्रकार भी हो धर्म का सेवन अवश्य ही करना चाहिए । "बिन जाने तें दोष गुणन को कैसे तजिये गहिये" युक्ति के अनुसार धर्म के तत्त्व को समझने के लिए अधर्म को जानना भी आवश्यक है । अधर्म का निरूपण करते हैं ।

अधर्मः पुनरेतद्विपरीतफलः

अर्थ-(पुनः) धर्म के अनन्तर (एतत्) इससे (विपरीत) उलटा (फलः) फलदेने वाला (अधर्मः) अधर्म कहलाता है।। 2 ॥

विशेषार्थ-मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम, सप्त व्यसन, पाँच पापादि दुष्कर्म विपरीत फल देने वाले हैं । अर्थात् नरकादि दुर्गति के प्रदाता हैं । इन्हें अधर्म कहा गया है। पर्वत नारद के संवाद में नारद कहते हैं-

मद्यमांसाशनासंगैर्यो धर्मः कौलसम्मतः ।
केवलं नरकायैव न स कार्यो विवेकिभिः ।। 1॥

य.ति.च.

अर्थ-कौल (नास्तिकों) ने मद्यपान, मांसभक्षण, परस्त्री सेवन आदि दुष्कर्मों को धर्म कहा है परन्तु इनसे प्राणियों को नरक के भयानक दुःख भोगने पड़ते हैं । अतः विवेकियों को ये कार्य कदाऽपि नहीं करने चाहिए । आचार्यों ने अधर्म के मूल मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम ही बताये हैं ।

आप्त, आगम और मोक्ष के साधक सप्त तत्वों में श्रद्धान नहीं करना मिथ्यात्व है । यशस्तिलक में आचार्य लिखते हैं-

अदेवे देवता बुद्धिमधर्मे धर्मभावनाम् ।
अतत्त्वे तत्त्वविज्ञानमतोमिथ्यात्वमुत्सृजेत् ।।

अर्थात् जिन रागी द्वेषी, मोही, अज्ञानियों में सत्यार्थ देव के लक्षण (सर्वज्ञता, वीतरागता, हितोपदेशिता) नहीं हैं उनको देव मानना, तथा मद्यपायी, मांसभक्षी आदि दुराचारियों को सदाचारी मानना एवं प्रतीति विरुद्ध तत्वों को मुक्ति के हेतु तत्त्व समझना मिथ्यात्व है । विवेकियों को इस कुबुद्धि का त्याग करना चाहिए । यदि इस मूढता को मनुष्य हठाग्रह से त्याग न करे तो वह स्वयं का सर्वनाश करने वाला मिथ्यादृष्टि है । कहा भी है-

तथापि यदि मूढत्वं न त्यजेत् कोऽपि सर्वथा ।
मिथ्यात्वेनानुमान्योऽसौ सर्वनाशो न सुन्दरः ॥2॥ य.ति.

धर्म मानकर नदी-नादों में स्नान करना, पाषाणों-बालू आदि के ढेर लगाना, पर्वत से गिरना, अग्नि प्रवेश करना, सागर की लहर लेना, पुत्र-धन-आरोग्य की कामना से रागी-द्वेषी-मोही देवी देवताओं की मान्यता करना, पाखण्डी जनों का आदर सत्कार करना, सूर्य, चन्द्र, गौ आदि की पूजा करना, देहली पूजना, वृक्षादि पूजना, पहाड़ों, कुए, तालाबादि की पूजा करना आदि घोर मिथ्यात्व है । दुर्गति का कारण होने से अधर्म है, उभय लोक का नाशक है, विषपान से भी भयंकर है मिथ्यात्व की उपासना। हालाहल विष एक ही भव में प्राणों का नाश करता है परन्तु मिथ्यात्व भव-भव में पीड़ा देता है । प्राणियों का नाश करता है।

अज्ञान का लक्षण

अश्वमेध, नरमेधादि यज्ञों के प्रतिपादक, मांसादि भक्षण से धर्म कहने वाले, हिंसादि पापों से स्वर्गादि फल प्राप्ति की चर्चा करने वाले, विकथाओं से भरे ग्रन्थों का पठन-पाठन, अध्ययन करना अज्ञान है । आत्म स्वरूप से भटका कर जिसके द्वारा विषय-कषायों का पोषण होता है वह समस्त अज्ञान या कुज्ञान है । संसार परिभ्रमण का कारण है। सर्वथा हेय-त्याज्य है । मुमुक्षुजनों को इसका पूर्णतः परिहार करना चाहिए । क्योंकि यह भी दुःख का मूल अधर्म है।

असंयम :- इन्द्रियों को अशुभ विषयों में प्रवृत्त करना, षट्काय के जीवों का रक्षण नहीं करना असंयम है। नीतिकारों ने इसके 3 भेद कहे हैं -

(1) मानसिक (2) वाचनिक और (3) कायिक ।

स्वतः की विद्या, बल, ऐश्वर्य, पूजा, कुल, जाति, प्रभुता आदि का अहंकार करना दूसरों के गुणों व वैभवादि की वृद्धि में ईर्ष्या-द्वेष करना, पर का पराभव चिन्तन करना, चित्त में खेद उत्पन्न कराना, हर क्षण पर पीड़ा का भाव रखना आदि मानसिक असंयम है । अतः संयमियों को चित्त शुद्ध रखना अनिवार्य है।

मर्मभेदी वचन बोलना, असत्य-असभ्य, निंद्य-कठोर-गर्हित वचन बोलना, आगम विरुद्ध वार्तालाप करना, आर्षपरम्परा के विरुद्ध उपदेश करना आदि अनेक प्रकार से विरुद्ध वाक् प्रयोग करना वाचनिक असंयम है ।

निरपराध व सापराध प्राणियों की हिंसा करना, परधन हरण करना, धन को ग्यारहवाँ प्राण माना है, किसी की सम्पत्ति हरण करने का अर्थ उसके प्राणों का नाश करना है । चोरी के समान दु:खदायी पाप अन्य है क्या ? नहीं । कुशील सेवन करना, जुआ खेलना, परिग्रह संचय करना, पशु आदि को कोड़े आदि से मारना इत्यादि वध बन्धन के कार्य करना ये सर्व कायिक असंयम हैं । इस प्रकार अव्रतों में प्रवृत्ति करना, शुभ कार्यों में प्रमाद करना, कठोरता रखना, सतत् अतृप्त बने रहना, इन्द्रियों की इच्छानुसार प्रवर्तन करना आदि असंयम के लक्षण हैं । कहा भी है -

''अव्रतित्त्वं प्रमादित्त्वं निर्दयत्त्वमतृप्तता।''
इन्द्रियेच्छानुवर्तित्वं सन्तः प्राहुरसंयमम्।।1 ॥

य.ति.च.आ.6.

सारांश यह है कि भव्यात्माओं को गुण दोषों का विचार कर गुणग्राही बनने का प्रयत्न करना चाहिए । आत्मार्थी अहर्निश आत्मगुणों की चिन्ता करता है, उन्हीं का अन्वेषण करता है, उनको संचित-प्रकट करने में संलग्न रहता है। समस्त वाह्य विकल्प जालों का परिहार ही निश्चय संयम और मुक्ति का साधक उपाय है।

धर्म प्राप्ति के उपाय

''आत्मवत् परत्र कुशल वृत्ति चिन्तनं शक्तितस्त्यागतपसी च धर्माधिगमोपायाः'' ।।3 ॥

अन्वयार्थ- (आत्मवत्) अपने समान (परत्र) दूसरों के प्रति (कुशलवृत्ति चिन्तनम्) कल्याणकारी क्रियाओं का विचार करना, (शक्तितस्त्याग) शक्ति-योग्यतानुसार त्याग (च) और (शक्तित: तप:) योग्यतानुसार तपश्चरण करना (धर्माधिगम:) धर्म को अधिगम-प्राप्त करने के (उपाया:) उपाय हैं ।

विशेषार्थ :- हम दूसरों से अपने प्रति क्या चाहते हैं, वैसा ही अन्य के प्रति व्यवहार करने की चेष्टा करना। प्राणी मात्र के कल्याण की भावना करना, अपने योग्यता तथा द्रव्य, क्षेत्र काल भावानुसार सप्त क्षेत्रों में दान देना, तथा चतुर्विध संघ को आवश्यकतानुसार चार प्रकार का दान देना और यथा शक्ति 12 प्रकार का तपश्चरण करना ये धर्म प्राप्ति के उपाय हैं । इस प्रकार अनुष्ठान करने से भव्य जीवों का विवेक जाग्रत होता है । मन, वचन, काय में सरलता और प्राञ्जलता की झलक प्रकट हो जाती है । नीतिकार शुक्र ने भी कहा है-

आत्मवित्तानुसारेण त्यागः कार्यो विवेकिनाः ।
कृतेन येन नो पीड़ा कुटुम्बस्य प्रजायते ।।

कुटुम्बं पीडयित्वा तु यो धर्मं कुरुते ।
न स धर्मो हि पापं तद्देश त्यागाय केवलं ।।

अर्थात् विवेकी पुरुष को अपने धन के अनुसार दान देना चाहिए । योग्यता के अनुसार त्याग करने से परिवार को कष्ट नहीं होगा और कर्त्तव्य पालन कर स्वयं को सन्तोष भी होगा । पारिवारिक स्थिति को लक्ष्य में न रखकर यदि दानादि क्रिया की जायेगी तो परिवार के साथ दानी को भी मानसिक तनाव होना संभव है जिससे अशान्ति भी हो

सकती है । अतः सुखानुभूति के स्थान पर विपरीत दुःखानुभव होगा । अतः संतुलित वातावरण बनाकर दानादि करना धर्म का हेतु है । इस विषय में गुरु नामक विद्वान का मन्तव्य विचारणीय है-

शरीरं पीडयित्वा तु यो व्रतानि समाचरेत् ।
न तस्य प्रीयते चात्मा तत्तुष्यात्तप आचरेत् ।।

अर्थ :- जो मनुष्य अपने शरीर को कष्ट देकर व्रतों का पालन करता है, उसकी आत्मा सन्तुष्ट नहीं होती। अर्थात् शक्ति से अधिक तप आर्तपरिणाम का कारण हो सकता है । इसलिए आत्मपुष्टि-सन्तुष्टि कारक ही तपश्चरण करना उचित है।

जैनागम में वही तपश्चरण श्रेष्ठ, उत्तम, आत्मकल्याणकारी धर्म कहा है, जिसके आचरण से योगों की क्षति न हो, मानसिक सन्तुलन बना रहे और उत्तरोत्तर तप, ध्यान, त्याग, ज्ञान की वृद्धि की भावना उत्कृष्ट होती जाय । यही धर्म का साधन है । आत्मसिद्धि का उपाय है । परमार्थ का साधक है ।

"सर्वोत्तम सत्कर्म का निरुपण ।।"

सर्वसत्त्वेषु हि समता सर्वाचरणानां परमं चरणम् ।। 4॥

अन्वयार्थ :- (सर्वा) समस्त (सत्त्वेषु) प्राणियों में (समता) साम्यभाव् (हि) निश्चय से (सर्व) सम्पूर्ण (आचरणानाम्) आचरणों का (परमं) सर्वोत्कृष्ट (चरणम्) आचरण (अस्ति) है ।। 4॥

भावार्थ :- संसार के समस्त जीवों के प्रति जीवत्त्व दृष्टि से एक समान बुद्धि, मति का होना सर्वोत्तम आचरण है जिसका जीवन में यथोचित प्रयोग किया जाय वह प्रक्रिया आचरण कहलाती है । आत्मोपयोगी क्रियाएँ सदाचार कहलाती हैं ।

संसार में जितने भी शील, संयम, तप, दान, जप आदि पुण्यजनक क्रियाएँ हैं उनमें जीव रक्षण सर्वोपरि है । दया का मूल समता है । क्योंकि दया रूपी जाह्नवी के तट पर सर्वगुण धर्म तृणवत् (घास) उत्पन्न होते हैं । दया रूपी जल के सूख जाने पर ये धर्माङ्कुर किस प्रकार हरे-भरे रह सकते हैं? कहा भी है—

दया नदी महातीरे सर्वे धर्मास्तृणाङ्कुराः।
तस्यां शोषमायातां कियन्नन्दन्ति ते चिरम् ॥1॥

यही भाव यशस्तिलक उ.पृ. 337 पर भी व्यक्त किये हैं । श्लो. 2-3-4 में-

जीव दया को एक ओर रखकर धर्म के सभी अवान्तर भेदों को अन्यत्र स्थापित किया जावे, उनमें खेती के फल की अपेक्षा चिन्तामणिरत्न के *समान जीवदया ही विशेष फलप्रद होगी ।*

समता वह रसायन है जिसके सेवन से संसार जन्य समस्त ताप नष्ट हो जाते हैं । इसीलिए नीतिकारों ने कहा है "शिष्ट पुरुषों को जूं, खटमल, डांस, मच्छर आदि जीवों का भी अपने बच्चों के समान संरक्षण करना चाहिए । इससे मैत्रीभाव प्रसरता है और इसके त्याग से बैर-विरोध फैलता है । आचार्य श्री आगम में निरूपित करते हैं-

जीवा जिणवर जो मुणह जिणवर जीव मुणेह
सो समभाव परट्ठिउ लहु णिव्वाण लहेहि ।।

अर्थात् जो भव्यात्मा जिनेन्द्रवत् समस्त जीवों को मानते हैं और जिन प्रभु को जीव समझते हैं उनमें ही साम्यभाव होता है । जो इस प्रकार समताभाव में स्थिर होते हैं वे ही शीघ्र निर्वाणपदारोही बनते हैं । अतः सुसिद्ध है प्राणिरक्षा ही धर्म का मूल है ।

दयाविहीन पुरुषों की क्रियाएँ निष्फल होती हैं

''न खलु भूतद्रुहां कापि क्रिया प्रसूते श्रेयांसि ।।5।।

अन्वयतार्थ :- (भूतद्रुहां) प्राणियों के साथ विद्रोह करने वाले की (कापि क्रिया) कोई भी क्रिया-कार्य (खलु) निश्चय से (श्रेयांसि) कल्याण रूप में (न) नहीं (प्रसूते) उत्पन्न होती है ।

अर्थात् जो मनुष्य अन्य जीवों के प्रति कटु भावना रखते हैं, दूसरों के अहित करने की चेष्टा करते हैं उनका कोई भी प्रयत्न किसी भी प्रकार से सुखप्रद, कल्याणकारी नहीं होता है । कहा भी है ''जो सतावे अन्य को, वह सुख कभी पाता नहीं ।।''

विशेषार्थ :- नीतिकारों ने कहा है-''पर पीडा सम नहि अधमाई ।'' दूसरे के प्रति दुःखोत्पादन का भाव रखने वाला महापापी होता है । पातकी को सुख कहाँ ? नहीं मिलता । व्यासजी ने भी लिखा है-

अहिंसकानि भूतानि यो हिनस्ति स निर्दयः ।
तस्य कर्म क्रिया व्यर्था वर्द्धन्ते वापदः सदा ।।

अर्थात् जो व्यक्ति निरपराध जीवों का घात करता है, वह निर्दयी है, उसकी पुण्य क्रिया निष्फल होती है । यही नहीं विपत्तियाँ वृद्धिंगत होती जाती हैं । कहा है ''दया धर्म का मूल है ।'' जीवाणं रक्खणं धम्मो ।'' अतः करुणाविहीन पुण्य क्रियाएँ भी पापोत्पादक सिद्ध होती हैं । इसलिए मानव को आत्म-सिद्धयर्थ सतत् दया-कृपा का रक्षण करना चाहिए ।

दयालु पुरुषों का कर्त्तव्य

परत्राजिघांसुमनसां व्रतरिक्तमपि चित्तं स्वर्गाय जायते ।।6।।

अन्वयार्थ :- (परत्र) अन्य प्राणियों को (अजिघांसुमनसां) नहीं मारने का संकल्प करने वालों की (व्रतरिक्त) व्रतरहित (अपि) भी (चित्तं) मनोवृत्ति (स्वर्गाय) स्वर्ग के लिए (जायते) होती है ।

अर्थात् जो मानव व्रत धारण करने में असमर्थ है, किन्तु मन में करुणारस से परिपूर्ण है तो अपनी सरल-सहज भावना से वह स्वर्ग सम्पदा प्राप्त कर लेता है ।

विशेषार्थ:- दया का महात्म्य प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि सभी व्रत एक दया के आश्रय से फलित होते हैं । यशस्तिलक के 4 थे आ. में आचार्य लिखते हैं कि जो राजा स्वयं को दीर्घायु, शक्तिशाली, आरोग्यता युक्त चाहता है उसे स्वयं जीवहिंसा कदाऽपि नहीं करना चाहिए । राज में प्रचलित जीव हिंसा को भी रोकना चाहिए ।

भारत के वर्तमान शासकों को इस नीति का विशेष मथित रूप में चिन्तन कर मांसाहार, अण्डेप्रचार एवं मद्यादिपान को रोकने की चेष्टा करनी चाहिए । जैन समाज को भी सरकार को भारतीय संस्कृति के अनुकूल शासन व्यवस्था का प्रयास करना चाहिए । कोई पुरुष सुमेरुपर्वत के बराबर भी विशाल धनराशि दान करे और अन्य पुरुष एक जीव को

जीवनदान करे तो उस दान से यह अनन्तगुणा है, अभय दान से उस दान की तुलना नहीं हो सकती । यदि हम किसी को जीवन दान नहीं दे सकते तो हमें उसके प्राण लेने का अधिकार क्या ? व्यास ने भी इसका विवरण करते हुए कहा है -

येषां परविनाशाय नात्र चित्तं प्रवर्तते ।
अव्रता अपि ते मर्त्याः स्वर्गे यान्ति दयान्विताः

जो कृपालु अपने चित्त को जीवघात के भाव से अलिप्त रखता है वह असंयमी-आव्रती होने पर स्वर्ग के अद्भुत सुख भोगता है । अर्थात् अहिंसक होने से देवपर्याय प्राप्त करता है । सुखाभिलाषी प्राणियों को शत्रु-मित्र सबके रक्षण का भाव रखना चाहिए कहा है-

जो तोको कांटा बुवै, ताहि बोय तू फूल ।
तोय फूल के फूल हैं, वाको हैं त्रिशूल ।।

सुखेच्छुओं को सदा दयान्वित रहना चाहिए ।

शक्ति से अधिक दान देने का फल

''स खलु त्यागो देश त्यागाय यस्मिन कृते भवत्यात्मनो दौः स्थित्यम् ।। 7 ।।''

अन्वयार्थ :- (यस्मिन्) जिस (दाने) दान के (कृते) करने पर (आत्मनः) आत्मा के (दौःस्थितम्) दारिद्र का कष्टानुभव हो (सः) वह (त्यागो) दान (खलु) निश्चय से (देशत्यागाय) देश त्यागने के लिए होता है ।

जिस दान के करने से दाता को व उसके परिवार को दारिद्रजन्य कष्ट भोगना पड़े तो निश्चय ही वह अपने स्वाभिमान की रक्षार्थ देश का त्याग कर अन्यत्र चला जायेगा ।।

विशेषार्थ:- जो मनुष्य अपनी आय का विचार न कर, आमदनी से अधिक दान देता है वह दान जघन्य कोटि का कहा गया है । कारण ऐसा करने से वह ऋणी होगा और उसका परिवार भी दुःखी होगा । अन्ततः उसे देश त्याग कर भागना ही पड़ेगा। कहा भी है -

आगतेरधिकं त्यागं यः कुर्यात् तत्सुतादयः ।
दुःस्थिताः स्युः ऋणग्रस्ताः सोऽपि देशान्तरं व्रजेत् ।।

॥ शुक्रः ॥

अर्थात् जो व्यक्ति स्वयं की आय से अधिक व्यय करता है, वह ऋणी होता है, उसके पुत्रादि कष्ट में पड़ते हैं वह भी लोकलाज के भय से भयातुर होकर देशत्याग कर चला जाता है । अमित गति आचार्य ने सुभाषित रत्न सन्दोह में लिखा है ''सम्यग्दृष्टि भव्यजीव कर्मों का नाश करने के लिए पात्रदान देता है । उसके प्रभाव से स्वर्गादि में देवाङ्गनाओं के साथ रमण करता है, पुनः वहाँ से चयकर उत्तम कुल में मनोज्ञ रूप, जिनधर्म प्राप्त कर मोक्ष लक्ष्मी भी प्राप्त करते हैं । यद्यपि दान का अचिन्त्य, अनुपम माहात्म्य है तो भी विवेकियों को यथाशक्ति ही पात्रदान देकर पुण्यार्जन करना चाहिए । उत्तम, मध्यम जघन्य पात्रों को विधिवत प्रदत्त दान दुष्कर्मों का नाशक व सातिशय पुण्यवर्द्धक होता है । तथा परम्परा से मुक्ति प्रदाता भी होता है ।

याचक का कर्त्तव्य

''स खल्वर्थी परिपन्थी यः परस्य दौःस्थित्यं जानन्नप्यभिलषत्यर्थम् ।। 8 ॥''

अन्वयार्थ :- (यः) जो (अर्थी) भिक्षुक (परस्य) दूसरे के (दौः स्थित्यं) दरिद्रता को (जानन्) ज्ञातकर (अपि) भी (अर्थम्) धन (अभिलषति) चाहता है (सः) वह (खलु) निश्चय से (परिपन्थी) उसका शत्रु है ।

यदि याचक किसी दरिद्री से याचना करता है तो वह उसके लिए कष्टदायी होता है क्योंकि वह कुछ देने में असमर्थ रहता है जिससे उसे मानसिक कष्टानुभव होता है ।

विशेषार्थ :- समर्थ के पास याचना करने पर दाता और याचक दोनों को तृप्ति होती है । इसके विपरीत दोनों ही पीड़ित होते हैं । कहा भी है-

''असन्तमपि यो लौल्याज्जानन्नपि च याचते ।''

''शक्तयनुसार व्रत नियम करने का उपदेश''

तद्व्रतमाचरितव्यं यत्र न संशयतुलामारोहतः शरीरमनसी ।। 9 ॥

अन्वयार्थ :- (तद्) वह (व्रतम्) व्रत (आचरितव्यं) आचरण करना चाहिए (यत्र) जिससे (जहाँ) (शरीरमनसी) शरीर और मन (संशयतुलाम्) सन्देह की तराजु पर (न) नहीं (आरोहतः) चढने पायें ।।

नैतिक मनुष्य को ऐसे व्रतों का आचरण करना चाहिए जिनसे उसके मन और शरीर क्लेशित न हों ।

विशेषार्थ :- चारायण मुनि ने कहा है ''जो मनुष्य शरीर की सामर्थ्य का विचार न कर व्रत का नियम करता है उसका मन संक्लेशित होता है'' । पुनः वह पश्चात्ताप करने लगता है । तथा इससे व्रत का शुभ फल नहीं मिलता। यथा -

अशक्त्या यः शरीरस्य व्रतं नियम मेव वा ।
संक्लेशं भवेत् पश्चात् पश्चात्तापात् फलच्युतिः ।।

यश. आ. 7

सारांश यह है कि न्यायोपात्त धन को भी श्रावकों को यथायोग्य रीति से योग्य पात्रों में वितरण कर पुण्योपार्जन करना चाहिए ।

त्याग-दान का माहात्म्य

ऐहिकामुत्रिक फलार्थमर्थव्ययस्त्यागः ।।10 ॥

अन्वयार्थ :- (ऐहिक) इस लोक सम्बन्धी (आमुत्रिक) परलोक सम्बन्धी (फलार्थम्) फल की प्राप्ति के लिए (अर्थव्ययः) धन खर्च करना (त्यागः) त्याग धर्म (अस्ति) है ।

विशेषार्थ :- आगम में कहा है ''अनुग्रहार्थं स्वस्याति सर्गो दानम् ।'' उभयलोक में अनुग्रह-उपकार करने के लिए स्व वित्त का त्याग करना दान कहा जाता है । तीर्थंकर भगवान के पञ्चकल्याणक होते हैं, परन्तु पञ्चाश्चर्य किसी भी कल्याण में नहीं हुए । किन्तु जिस दाता के घर में आहार होता है नियम से पञ्चाश्चर्य (रत्नवृष्टि, गंधोदक

वृष्टि, पुष्पवृष्टि, मन्दसुगन्ध पवन का चलना और जय जय ध्वनि-दुंदुभिवाजे) होते हैं । साथ ही तीर्थङ्कर प्रभु का प्रथम पारणा कराने वाले उसी भव में अथवा तीसरे भव में नियम से मुक्ति प्राप्त करता है । इसी प्रकार अन्य पात्रों को दान देने वाला दाता भी यथायोग्य फल को पाता है। "आदिपुराणपर्व"

प्राणियों का मन उत्तम होने पर भी यदि दान, पूजा, तप और जिनभक्ति से शून्य है तो वह कोठी में भरे धान आदि बीजों के समान है । स्वर्गादि फलों की उत्पत्ति नहीं कर सकते । इन्हीं बीजों को धर्म रूपी भूमि में वपित कर दिया जाय तो सुख शान्ति रूपी फल उत्पन्न कर सकते हैं।

आहार, अभय, औषधि और ज्ञानदान के भेद से दान चार प्रकार का है । दान देने वाले की विधि का निरूपण करते हुए उमास्वामी जी ने लिखा है "विधिद्रव्य दातृ पात्रविशेषात्तद्विशेषः ।।39॥ विधि विशेष-नवधाभक्ति से, सप्तगुण युक्त होकर न्यायोपार्जित धन से उत्पन्न आहारादि प्रदान करना । द्रव्य-शुद्ध, मर्यादित, भक्ष्य, तपध्यान स्वाध्याय वर्द्धक, वात-पित्त-कफादि रोग अवरोधक वस्तु देना । दाता विशेष सप्तगुण युक्त उदार, सन्तोषी होना । पात्रविशेष-उत्तम मध्यम जघन्य पात्र होना । इन चारों की योग्यता पर दान का फल हीनाधिक होना संभव है ।

अपात्र, कुपात्रादि को दिया दान निष्फल होता है । कंकरीली भूमि में बोया बीज अल्प फलता है एवं पाषाण शिला पर वपित व्यर्थ ही चला जाता है । इसी प्रकार अपात्र, कुपात्रों में वितरित दान का फल समझना चाहिए । कहा भी है -

धूर्ते वंदनि मल्ले च कुवैद्ये कैतवे शठे ।
चाटुचारण चौरेषु दत्तं भवति निष्फलम् ।। 1॥

नम्रता युक्त धूर्त पुरुष, पहलवान, खोटा वैद्य, जुआरी-द्यूतव्यसनी, शठ (मूर्ख) चापलूस-चाटुकारी करने वाले भाट और चोरादि को दिया जाने वाला धन व्यर्थ ही जाता है । दान का फल बताते हुए नीतिकार कहते हैं -

ज्ञानवान ज्ञान दानेन, निर्भयोऽभयदानतः
अन्नदानात्सुखी नित्यं, आरोग्यं भैषजाद् भवेत् ।।

सम्यग्ज्ञान के साधन भूत शास्त्रादि दान देने से ज्ञानावरणी कर्म का क्षयोपशम बढ़ता है-ज्ञान की बुद्धि होती है, प्राणियों के जीवन रक्षण का उपाय अभयदान है, तथा साधु-सन्तों को वसतिकादि प्रदान करना अभयदान है, शुद्ध-पवित्र, आरोग्य-ज्ञान-ध्यानवर्द्धक आहार देना आहारदान है । शुद्ध, योग्य औषधि देना औषध दान है । यशस्तिलक में लिखा है-अभय दान से मनोज्ञ शरीर, आहार दान से सांसारिक भोगोपभोग की सामग्री, औषधदान से आरोग्य शरीर और विद्या-ज्ञान दान से श्रुतकेवली पद प्राप्त होता है ।। 3/4/5/6आ.8 ।।

समस्त दानों में अभय दानप्रमुख है । जीवन रक्षा के अनन्तर ही अन्य दान दिये जा सकते हैं । अभय दानी ने समस्त आगम के पठन का लाभ और सर्वोच्च तपश्चर्या का फल प्राप्त कर लिया । एक-एक दान का महत्त्वपूर्ण फल है । सदाचारी भव्य श्रावकों को यथाशक्ति और यथाभक्ति दान अवश्य ही देना चाहिए । इससे उभयलोक के सुख प्राप्त होते हैं । अतः श्रावकों को स्नान-भोजन-पान की भांति औषध स्वरूप दान अवश्य वितरित करना चाहिए । इससे प्रभूत ज्ञान और सुख प्राप्त होता है । दान फलानपेक्षी होना परमावश्यक है ।

अपात्र को दत्त दान निष्फलम्

भस्मनि हुतमिवापात्रेष्वर्थ व्ययः ॥11॥

अन्वयार्थ :- (अपात्रेषु) अपात्र-व्रत-सम्यक्त्व, तप शून्यों में (अर्थम्) धनादि दान (भस्मनि) राख में ढकी (हुतभुग्) अग्नि के समान है अथवा (भस्मनि) राख में (हुतमिव) हवन किये जाने के समान निष्फल होता है ।

विशेषार्थ :- नीति और धर्म से विमुख व्यक्ति द्वारा दिया गया दान व्यर्थ-निष्फल होता है । नारद भी यशस्तिलक में कहते हैं - खोटा नौकर, वाहन, शास्त्र, तपस्वी, ब्राह्मण और खोटा स्वामी इनके लिए धन खर्च करना भस्म में हव्य सामग्री अर्पण करने के समान निष्फल है । रत्नत्रय विहीन अपात्र कहलाता है । इनको दिया हुआ अन्न वगैरह ऊषर भूमि में वपित बीज के समान निष्फल जाता है ।

स्वाति नक्षत्र में वर्षा मेघ जल सीप को पाकर मुक्ता (मोती) रूप परिणत हो जाता है । मिथ्यात्व, अज्ञान, कषायादि से मलिन चित्त को दिया दान सर्पविष समान परिणत हो जाता है । अर्थात् भुजंग को दुग्धपान कराने पर वह हालाहल विष रूप परिणमन कर जाता है । कुत्सितों को दिया दान पाप बन्ध का कारण हो जाता है जिस प्रकार बरसा का शुद्ध मधुर जल नीम के वृक्ष में पहुँच कर कडुआ हो जाता है, सरिता का सुपेय नीर सागर में मिलकर अपेय-क्षाररूप हो जाता है ।

यदि कोई अपात्र-कुपात्र, रोगी, शोकी, विपत्ति ग्रस्त है तो उसे जीवनदान के लिए अन्न-वस्त्र, औषधि आदि दे देना चाहिए । यह दयादत्ति कहलाता है । इस दान को आचार्यों ने करुणादान कहा है । पात्र रूप मानकर मिथ्यादृष्टियों आदि को दान देने से सम्यग्दर्शन दूषित होता है जैसे कटुक पात्र में निक्षिप्त दुग्धादि मधुर पदार्थ भी कटु हो जाते हैं। अभिप्राय यह है कि दान, पूजादि कार्यों को करने से पूर्व पात्र, पूज्यादि को भी समझना अनिवार्य है । अतः अपात्र; कुपात्रों को दान देना व्यर्थ है ।

पात्रों के भेद

"पात्रं च त्रिविधं धर्मपात्रं कार्यपात्रं कामपात्रं चेति ॥ 12॥"

अन्वयार्थ :- (च) और वे (पात्रं) दान देने योग्य महानुभाव (त्रिविधम्) तीन प्रकार के हैं (धर्मपात्रं कार्यपात्रं कामपात्रं च) धर्मपात्र, कार्यपात्र और कामपात्र के (इति) भेद से ।

विशेषार्थ :- पात्र वे यति, मुनि, ऋषि, अनगार, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका ऐलक कहलाते हैं जो रत्नत्रय की समाराधना में अपने को अर्पण करते हैं । ये तीन प्रकार के हैं - 1. धर्म पात्र 2. कार्य पात्र और 3. कर्मपात्र ।

बहुश्रुताभ्यासी, विद्वान, प्रबल और निर्दोष युक्तियों द्वारा समीचीन-सत्य धर्म का विवेचन करते हैं । माता के समान कल्याणकारी शिक्षा प्रदान कर सदाचार धर्माचार व शिष्टाचार सिखाते हैं । इन मोक्षमार्ग प्रणेताओं को धर्मपात्र कहते हैं । ये भव्यों के मोहतिमिर का नाश कर, सम्यग्ज्ञान प्रदान करते हैं ।

कार्यपात्र :- स्वामी की आज्ञानुसार चलने वाले, प्रतिभा सम्पन्न, चतुर और कर्त्तव्यनिष्ठ भृत्यों को कार्यपात्र कहत हैं । विशेष स्वरूप नीति वाक्यामृत की संस्कृत टीका पृ. 11-12 देखना चाहिए ।

कामपात्र :- इन्द्रियजन्य सुखानुभव के साधन स्वरूप कमनीय, सौम्य लावण्ययुत कामनियाँ व पुरुषों को कामपात्र कहा है । ये पात्र अपने अपने नाम व स्वभावानुसार भिन्न-भिन्न फल प्रदान करते हैं । यथा-

स्वर्गाय धर्मपात्रं च कार्यपात्रमिह स्मृतम् ।
काम पात्रं निजा कान्ता लोकद्वय प्रदायकम् ।।

अर्थात् धर्म पात्र स्वर्ग के लिए पूज्य है, कार्य पात्र इस लोक सम्बन्धी इन्द्रिय जन सुख देते हैं और उभय लोक के इन्द्रिय जन्य सुखोपभोगार्थ कामिनी पात्र का सेवन करना चाहिए । यशस्तिलक में इन्हीं आचार्य ने 5 प्रकार के पात्र माने हैं ।

1. समयी जैन सिद्धान्त के वेत्ता चाहे श्रावक हों या मुनि श्रेष्ठ, 2. वे श्रावकव्रती 3. साधु, 4. आचार्य और 5. जैन शासन की प्रभावना करने वाला विद्वान् ये पांच प्रकार के पात्र कहे हैं । इन पाँचों प्रकार के पात्रों का विवेचन वहीं से ज्ञात करें ।

पात्रों के विषय में अन्यमत

''एवं कीर्ति पात्रमपीति केचित् ।।13।।''

अन्वयार्थः- (एवं) इसी प्रकार (कीर्तिपात्रम्) कीर्ति पात्र (अपि) भी है (इति) ऐसा (केचित्) कोई (मन्यते) मानते हैं । जिसको दान देने से कीर्तिस्तम्भ स्थापित हो वे कीर्तिपात्र कहलाते हैं ।

कीर्ति के कारणों का निर्देश

किं तया कीर्त्या या आश्रितान्न विभर्ति, प्रतिरुणद्धि वा धर्म भागीरथी-श्री-पर्वतवद्भवानामन्यदेव प्रसिद्धेः कारणं न पुनस्त्यागः यतो न खलु गृहीतारो व्यापिनः सनातनाश्च ।।14।।

अन्वयार्थ :- (या) जो (कीर्त्या) यश के द्वारा (आश्रितान्) अपने आश्रितों को (न विभर्ति) पालन नहीं करता (तया) उस कीर्ति से (किं) क्या (प्रयोजन) । एवं (वा) अथवा (धर्म भागीरथी) धर्मङ्ग को (प्रतिरुणद्धि) नष्ट करती है, अथवा (धर्म) धर्म (भागीरथी) जाह्नवी, (श्री) लक्ष्मी (पर्वतवद्भावानाम्) पार्वती ''पर्वत सम्बन्धी स्थान विशेष'' से (अन्यत्) अन्यत्र ही (प्रसिद्धेः) प्रसिद्धि का (कारणं) हेतू है (न पुनस्त्यागः) अन्य त्याग नहीं (यतो) क्योंकि (खलु) निश्चय से (गृहीतारो) ग्रहण करने वाला (व्यापिनः) व्यापक (च) और (सनातना) सनातन होता है ।

विशेषार्थ :- जो मूर्ख, कुकर्मी, नास्तिक लोग अपने आश्रित रहने वालों को सता कर कष्ट देकर, मद्यपान, परस्त्री सेवन आदि कुकृत्यों में फंसकर धर्म को तिलाञ्जलि देकर जो यश, कीर्ति प्राप्त करते हैं उनकी वह कीर्ति अपकीर्ति ही समझनी चाहिए । विदुर नामक विद्वान ने लिखा है -

आश्रितान् पीडयित्वा च धर्मं त्यक्त्वा सुदूरतः ।
या कीर्तिः क्रियते मूढैः किं तयापि प्रभूतया ।। 1।।

कैतवां यं प्रशंसन्ति यं प्रशंसन्ति मद्यपाः ।
यं प्रशंसन्ति बन्धक्यो कीर्तिः साकीर्तिरुपिणी ।।2।।

अर्थात् मूर्खजन धनाभिमान से अपने आश्रित दास-दासियों को सताकर, धर्म, न्याय-नीति का परित्याग कर जिस यश को अर्जित करते हैं वह यथार्थ में अपकीर्ति है । जो यश मात्र शराबी, जुआरी, निन्दक, व्यभिचारियों तथा निंदकों द्वारा गया जाता है उससे क्या लाभ ? कोई लाभ नहीं है । अशुभ कर्म, नीच गोत्र के आस्रव के कारण हैं ।

लोक में गङ्गा लक्ष्मी और पर्वतीय प्रदेश विशेष, निर्मल जल, वैभव दान और शीतल छाया देने मात्र से प्रसिद्ध नहीं हैं, अपितु इनके साथ ही परोपकार, अर्थियों का संरक्षण भी करते हैं इसीलिए इनकी कीर्तिलता गगनाङ्गण में फहराती है ।

अतः विवेकी, धर्मात्माओं को दया, शम, नीति, सौजन्य और वात्सल्यपूर्वक यश अर्जन करें । यह कीर्ति स्थायी के साथ कर्म निर्जरा की भी साधक होती है ।

कृपण के धन की आलोचना

"स खलु कस्यापि माभूदर्थो यत्रासंविभागः शरणागतानाम् ।।15।।"

अन्वयार्थः- (यत्र) जहाँ (शरणागतानाम्) शरण में आये हुओं का (असंविभागः) योग्य भाग-हिस्सा नहीं होता (सः) वह (अर्थः) धन (कस्य) किसी का (अपि) भी (मा) नहीं (अभूत्) हुआ । अर्थात् व्यर्थ है ।

विशेषार्थ :- जिस धन के द्वारा परोपकार, धर्मोद्धार, दानादि कार्य नहीं होते वह धन व्यर्थ है । कृपण अपने धन को संचित कर रखता है और दुर्गति का पात्र बनता है अर्थात् मर कर भुजंग बनता है । न स्वयं उपभोग करता है और न अन्य के ही उपयोग में आता है । वल्लभदेव नीतिकार ने भी कहा है -

किं तया क्रियते लक्ष्म्या या बधूरिव केवला ।
या न वेश्येव सामान्या पथिकैरुपभुज्यते ।।

अर्थात् उस लुब्धक की लक्ष्मी से क्या प्रयोजन जो पत्नी के समान मात्र स्वयं के ही भोगने में आवे, वेश्या समान समस्त साधारण पन्थों द्वारा न भोगी जाये ? लक्ष्मी वही सार्थक है जो सर्वोपकारिणी होती है । कृपण का वैभव स्व और पर दोनों का घातक है । स्व का घातक तो इसलिए है कि वह अहर्निश उसी के अर्जन वर्द्धन और संरक्षण में ही लगा रहता है । अपने को ही भूल जाता है, आर्त-रौद्र ध्यान में विमुग्ध हुआ अशुभ गति का आस्रव करता है और नीच पर्याय को प्राप्त होता है । वर्तमान में निंद्यक कहलाता है, सभी उससे घृणा करने लगते हैं । दान, पूजा में या अन्य धर्म कार्यों में वह कृपण धन नहीं देता, बराबर दान नहीं देता तो उसकी देखा-देखी अन्य साधारण जन भी योग्य धन नहीं देते हैं । क्योंकि उस समय उसे धनाढ्य कहकर अपने भी छुपने की चेष्टा करते हैं । इससे धर्म कार्य सुचारु रूप से नहीं चल पाते । धर्म प्रभावना की हानि होती है।

अतः भव्य जीवों का कर्त्तव्य है कि वे उदार मनोवृत्ति बनायें । आवश्यकता और समयानुसार सप्त क्षेत्रों में यथाशक्ति दान देकर चञ्चला लक्ष्मी को स्थायी बनाने का प्रयत्न करें ।

"नैतिकाचार का निरूपण"

अर्थिषु संविभागः स्वयमुपभोगश्चार्थस्य हि द्वे फले नास्त्यौचित्यमेकान्तलुब्धस्य ।।16।।

अन्वयार्थ :- (अर्थस्य) धन के (हि) निश्चय से (द्वे) दो (फले) फल हैं, प्रथम (अर्थिषु) धन के इच्छुकों-भिक्षुकों को (संविभागः) उनके योग हिस्सा करना-देना (च) और (स्वयं) अपने आप (भोगः) भी भोगना-उपयोग में लाना (एकान्तलुब्धस्य) एकान्त रूप से स्वयं ही भोगने का अभिलाषी कृपण का कार्य (औचित्यं) उचित (नास्ति) नहीं है ।

सम्पत्ति के दो ही फल हैं ? सत्पात्रों को दान देना और 2. स्वयं नीति व आवश्यकतानुसार उपभोग करना । निरन्तर लोभ परिणति बनाये रखना नीति विरुद्ध है ।

विशेषार्थ :- कृपण और कृपाण (तलवार) में मात्र अकार और आकार में अन्तर है शेष बातें समान हैं । सुभाषित रत्न भाण्डागार में कहा है -

दृढतर निबद्धमुष्टेः कोष णिसण्णस्य सहजमलिनस्य ।
कृपणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेदः ।।

अर्थ :- *कृपण (लोभी) और कृपाण (तलवार) इसमें केवल "आ" की मात्रा का ही भेद है । अर्थात् कृपण* शब्द में ह्रस्व प में अ है और कृपाण के 'प' में दीर्घ "आ" होता है । शेष सभी धर्म समान हैं । क्योंकि कृपण अपने धन को मुट्ठी में रखता है और भट तलवार को म्यान में रखकर मुट्ठी में ही रखता है ।

कृपण का मन सदैव मलिन रहता है, कृपाण-तलवार भी काली होती है-म्यान में रहती है और कृपण खजाने में रहता है । अतः दोनों ही समान हैं- अ और आ भेद छोड़कर । जिस प्रकार तलवार घातक है, उसी प्रकार लुब्धक का धन भी धर्मकार्य में न लगने से घातक है-दुर्गति का कारण-दुःखरूप ही है । लोभी पुरुष को दान-त्याग की बात सुहाती नहीं है । इसके विपरीत कुपित होता है । कहा भी है -

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये।
पयः पानं भुजङ्गानां, केवलं विष वर्द्धनम् ।।

भव्यों को लोभ का परित्याग कर दान पूजादि धर्म कार्यों में लगा कर अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग करना चाहिए ।

पुनः नैतिकाचारी के सत्कर्त्तव्य निरूपण

दानप्रियवचनाभ्यामन्यस्य हि सन्तोषोत्पादनमौचित्यम् ।।17॥ उद्धत है यह

अन्वयार्थ :- (अन्यस्य) दूसरे के लिए (दानप्रियवचनाभ्याम्) दान और मधुरवाणी से (सन्तोष) सन्तुष्टि (उत्पादनम्) उत्पन्न करना (हि) निश्चय से (औचित्यम्) उचित कर्त्तव्य है ।

विशेषार्थ :- परोपकार उत्तम कर्त्तव्य है । उचित धन देकर अन्यों को सन्तोष प्रदान करना नैतिकाचार है । लेकिन साथ ही विवेक रखना भी आवश्यक है ।

"सच्चे लोभी की प्रशंसा"

"स खलु लुब्धो यः सत्सु विनियोगादात्मना सह जन्मान्तरेषु नयत्यर्थम् ।।18॥"

अन्वयार्थ :- (खलु) निश्चय से (यः) जो (सत्सु) सज्जनों में (अर्थम्) धन को (विनियोगात्) वितरण कर (आत्मना) स्वयं के (सह) साथ (जन्मान्तरेषु) अन्य भवों में (नयति) ले जाता है (सः) वह (लुब्धः) यथार्थ लोभी है ।

जो मनुष्य सत्पुरुषों-धर्मात्माओं को दान-सम्मान देकर (पुण्यरूप गठरी ले) परलोक में अपने धन को ले जाता है, वही निश्चय से सच्चा लोभी है ।

विशेषार्थ :- जोड़-जोड़ कर धन को छाती से लगाकर रखने वाला यथार्थ लोभी नहीं है क्योंकि वह तो मृत्यु होने पर उसे यहीं छोड़ जाता है । न यहाँ भोगता है न परलोक में । उदार-दानी यथार्थ लोभी है क्योंकि पात्र-सत्पात्र दान देकर उसे वृद्धिंगत करता हुआ अक्षय बना लेता है और जन्मान्तर में प्रयाण करते समय पुण्य रूप से वहाँ भी ले जाता है और स्वर्गादि के अनुपम भोगों के रूप में वहाँ प्राप्त हो जाती है । वर्ग नामक विद्वान ने कहा है-

दत्तं पात्रेऽत्र यद्दानं जायते चाक्षयं हि तत् ।
जन्मान्तरेषु सर्वेषु दातुश्चैवोपतिष्ठते ।।

अर्थात् इस लोक में सुपात्रों को दिया गया दान अक्षय हो जाता है । जिससे उसके भवान्तरों में उसे मिलता रहता है।

वस्तुतः दान की महिमा अपार है । दानी स्वयं ज्ञानी बन जाता है । ज्ञानी से ध्यानी और ध्यान से सिद्ध हो जाता है । निरभिमानी का धन उसे उत्तरोत्तर विकासोन्मुख करता जाता है । अन्ततः अक्षय, अपार, अमूल्य आत्मानन्द स्वरूप मोक्ष लक्ष्मी में परीणत हो जाता है ।

भिक्षुक को भिक्षा में विघ्न क्यों ?

अदातुः प्रियालापोऽन्यस्य लाभस्यान्तरायः ।।19।।

अन्वयार्थ :- (अदातुः) भिक्षा नहीं देने वाले के (प्रिय आलापः) मधुर वचनों का वार्तालाप (अन्यस्य) दूसरे के (लाभस्य) लाभ-प्राप्ति का (अन्तरायः) अन्तराय सिद्ध होता है ।

विशेषार्थ :- जो वाचाल मनुष्य बेचारे भिक्षुक को भिक्षा न देकर मधुर मधुर बातों (लिप्स सिम्पैथी) में फंसा लेता है वह उसके भिक्षालाभ में अन्तराय डालता है । कारण यदि तत्क्षण उसे नकारात्मक उत्तर दे दे तो वह दूसरे घर या व्यक्ति के पास जाकर याचना कर सकता है । उसके आश्वासन में उलझ कर अन्यत्र भी नहीं जा सका और यहाँ तो कोरे वचन ही रहे । कहा भी है -

''दाता से तो सूम भला जो झटके देय जवाब ।।''

कोरी बातें बनाने वाले प्रियवादी दाता से कृपण ही अच्छा है जो भिक्षुक के आते ही उसे फटकार लगा देता है । वह तुरन्त अन्यत्र जाकर अपनी क्षतिपूर्ति कर लेता है । वर्ग विद्वान ने भी कहा है -

प्रत्याख्यानमदाता ना याचकाय करोति यः ।
तत्क्षणाच्चैव तस्याशा वृथा स्यान्नैव दुःखदा ।।

जो मनुष्य याचक को कुछ नहीं देता और स्पष्ट नकारात्मक उत्तर देकर छोड़ देता है । यद्यपि इससे उस समय पीड़ानुभव होती है परन्तु भविष्य में वह सावधान हो जाता है । अभिप्राय इतना ही है कि जिस कार्य को करना है उसे शीघ्रातिशीघ्र कर लेना बुद्धिमानी है ।

दरिद्र की स्थिति

सदैव दुःस्थितानां को नाम बन्धुः ।।20।।

अन्वयार्थ :- (सदैव) हमेशा (दुःस्थितानाम्) दारिद्र पीड़ितों का (बन्धुः) मित्र (को नाम) कौन रहता है? अर्थात् कोई नहीं ।

विशेषार्थ :- जो पुरुष असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्पादि कर्मों का सम्पादन कर आजीविका नहीं चला सकते वे प्रमादी दरिद्र-निर्धन बने रहते हैं । उनकी संसार में कोई सहायता नहीं करता । कहा भी है "God help those who help themself." भाग्य या भगवान उन्हीं की सहायता करते हैं जो स्वयं सामर्थ्य रखते हैं । हमारा आगम व सिद्धान्त भी यही कहता है, जो स्वयं पुरुषार्थी हैं, पुण्यवान हैं उनका संसार बन्धु है । ''स्वतः नास्ति शक्तिः कर्तुमन्येन न पार्यते'' जिसमें स्वयं कार्य करने की क्षमता नहीं है उसे अन्य कोई क्या कर सकता है । लोक में -

सुख के सब लोग संगाती है, दुःख में कोई काम न आता है ।
जो सुख में प्यार दिखाता है, दुःख में वह आंख दिखाता है ।।

इतना ही नहीं, जैमिनि ने लिखा है -

उपकर्तुमपिप्राप्तं निः स्वं दृष्ट्वा स्वमन्दिरे ।
गुप्तं करोति चात्मानं गृही याचनशङ्कया ।।

अर्थात् धनहीन व्यक्ति किसी के उपकार करने की भावना से भी द्वार पर आता है तो गृहस्वामी उसे देखते ही छिप जाता है इस आशंका से कि ''कहीं यह कुछ मुझसे मांगेगा ।'' नीतिकार कहते हैं संसार में सबसे बड़ा कष्ट गरीबी है -

सब बने बने के ठाट-बाट, बिगड़ी में काम न आते हैं ।

धन हो तो सब पीछे-पीछे घूमते हैं, निर्धन होने पर वे ही बात करना भी नहीं चाहते । स्वयं दरिद्री कहता है -

दारिद्रयं नमस्तुभ्यं, सिद्धोऽहं त्वत्प्रसादात् ।
अहं पश्यामि सर्वान् मां पश्यति न कश्चन ।।

भो दारिद्र ! तुम्हें नमस्कार है । क्यों तुम्हारे प्रसाद से मैं सिद्ध पुरुष हो गया हूँ । किस प्रकार ? अरे भाई मैं याचनार्थ सर्वजनों को देखता हूँ पर मुझे कोई नहीं देखता-मुँह फेरकर चले जाते हैं ।

''दीयतां दीयतां दानमदत्तस्य ईदृशी गतिः'' भिक्षुक भिक्षा याचने के साथ साथ सम्बोधन देता है, दान करो, दान करो अन्यथा आपकी भी मेरे जैसी गति होगी । इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द देव अपने कुरल काव्य में कहते हैं -

स्वर्ग मिले यदि दान में लेना दान न धर्म ।
स्वर्ग द्वार भी बन्द हो, फिर भी देना धर्म ।।12।।

प.23.दान.

दान लेना बुरा है चाहे उससे स्वर्ग ही क्यों न मिलता हो और दान देने वाले के लिए चाहे स्वर्ग का द्वार बन्द ही क्यों न हो जाय तो भी दान देना अच्छा है । दानी को दारिद्रय नहीं सताता अतएव दान करना चाहिए ।20॥

''याचक का दोष निरूपण''

नित्यमर्थयमानात् को नाम नोद्विजते ।।21।।

अन्वयार्थ :- (नित्यम्) प्रतिदिन (अर्थयमानात्) याचना करने वाले से (को नाम) कौन व्यक्ति (उद्विजते) ऊबता (न) नहीं हो ?

निरन्तर याचना करने वाले से कौन परेशान नहीं होता ? सभी हो जाते हैं । कहावत् है ''मान घटे नित के घर जाये'' प्रतिदिन घर जाने से मान-सम्मान नष्ट हो जाता है । व्यास जी ने भी कहा है-

मित्रैवं बन्धुवानौ वाति प्रार्थनार्दितं कुर्यात् ।
अपि वत्समतिपिवन्तं विषाणैरधिक्षिपति धेनुः ।।

अर्थ :- कोई भी मनुष्य चाहे वह याचक का मित्र व बन्धु ही क्यों न हो सदैव याचना करने से दुःखी हो जाता है । गाय अपने बच्चे को आतिशायि प्यार करती है, वह भी अधिक दुग्ध् पान करने वाले बछडे को लात मार देती है, सींग हिलाकर भगा देती है ।

आचार्य देव कहते हैं .

रिक्तस्य न हि जागर्ति कीर्तनीयोऽखिलो गुणः ।
अलमन्यै र्न लोकेभ्यो रोचते तत्सुभाषितम् ।।6।।

कु. का. परि.105

अर्थात् दरिद्री चेतना शून्य हो जाता है, उसके समस्त प्रशंसनीय गुण भी, अरण्य में मुकलित कुसुम की भाँति व्यर्थ हो जाते हैं । अधिक क्या कहा जाय उसकी मधुरवाणी भी लोक में प्रिय नहीं लगती । उसका मधुरालाप भी कर्कश प्रतीत होता है । अभिप्राय यह है कि उसके सद्गुण भी दुर्गुण रूप परिणमन कर जाते हैं । हमें सावधान होकर दारिद्रय नाशक पुण्यार्जन करना चाहिए ।

तप का स्वरूप

इन्द्रिय मनसोर्नियमानुष्ठानं तपः ।। 22 ।।

अन्वयार्थ :- (इन्द्रिय) पाँचों इन्द्रियाँ (मनसः) मन का (नियम) निरोध करने का (अनुष्ठानम्) आचरण करना (तपः) तपश्चरण (कथ्यते) कहा जाता है ।

इन्द्रियों और मन की अनर्गल प्रवृत्ति को रोकना तपश्चरण है । आचार्य अकलंक देव कहते हैं ''तप्यते ति तपः'' जो तपा जाय वह तप है ।

विशेषार्थ:- आचार्य श्री कुन्दकुन्द ''कुरल'' काव्य में कहते हैं -

सब विध हिंसा-त्याग कर बनना करुणा धार ।
सब दुःखों को शान्ति से, सहना तप का सार ।।1।।

अर्थ :- संकल्पी, विरोधी, उद्योगी और आरम्भी ये चार प्रकार की हिंसा होती है । नवकोटि से इनका त्याग

कर कृपालु बनना चाहिए । दयालुता सर्व दु:खों का नाश करती है । शान्तिपुर्वक कष्टों को सहन करना तप है । सहिष्णुता तपश्चरण का सार है । संस्कृत में भी यही भाव इस प्रकार है -

सर्वेषामेव जीवानां हिंसाया विरतिस्तथा ।
शान्त्या हि सर्व दु:खानां सहनं तपः इष्यते ।।

आचार्य यशस्तिलक में लिखते हैं कि जो मनुष्य कायक्लेश तप करते हैं । मन्त्रों का जाप जपते हैं देव भक्ति करते हैं, तो भी यदि चित्त में विषयभोगों की लालसा लगी है तो वह तपस्वी नहीं है । उसे उभय लोक में सुख भी प्राप्त नहीं हो सकता । शास्त्रकारों ने लिखा है कि "जिस प्रकार पाकशाला में वन्हि के अभाव में भात आदि नहीं पकाये जा सकते, मिट्टी के बिना घट नहीं बन सकता, तन्तुओं के अभाव में पाट (वस्त्र) नहीं बन सकता, उसी तरह उत्कट तपश्चरण के अभाव में कर्मों का संहार-अभाव भी नहीं हो सकता है । "कुरल" काव्य में कहा है -

तप करते जो भक्ति से, वे करते निज श्रेय ।
माया के फंस जाल में, अन्य करें अश्रेय ।।6।।

जो भक्ति श्रद्धा-सम्यक्त्व युत तपश्चरण करते हैं वे ही अपना आत्मकल्याण करने में समर्थ हो सकते हैं, और तो सब लालसा के जाल में फंसे हुए हैं वे स्वयं को हानि ही पहुँचाते हैं । निष्कांक्षित तप निर्जरा का हेतू होता है । और भी कहा है-

तप में जैसा कष्ट हो, वैसी मन की शुद्धि ।
जैसे जैसी आग हो, वैसी काञ्चन शुद्धि ।।7।।

अर्थात् सुवर्ण को अग्नि में तपाया जाता है । अग्नि का ताप जितना ही उत्कट होगा सुवर्ण की शुद्धि भी उतनी ही होती जायेगी, चमक आयेगी । उसी प्रकार इन्द्रिय मन के दमन और कषायों के शमन के साथ, कष्टसहिष्णु बनकर जितना उग्र-घोर तप किया जायेगा आत्मविशुद्धि उसी प्रकार होती जायेगी । आत्म रूप धातू तपरूप अग्नि से ही निज रूपोपलब्धि पाती है । अत: तप करना चाहिए ।

नियम का स्वरूप

विहिताचरणं निषिद्ध परिवर्जनं च नियमः ।। 23 ।।

अन्वयार्थ :- (विहित:) आगमोक्त विधि का (आचरणम्) आचरण करना (च) और (निषिद्ध:) आगम विरोधी-खोटे आचरण का (परिवर्जन) त्याग करना (नियम:) नियम है ।

विशेषार्थ :-

यद्व्रतं क्रियते सम्यगन्तराय विवर्जितम् ।
न भक्षयेन्निषिद्धं यो नियमः स उदाहृतः ।।

अर्थ :- शास्त्र विहित अहिंसादि व्रतों का शुभाचरण करना, निरतिचार निर्दोष व्रतों का आचरण करना और मद्यपानादि निषिद्ध कार्यों का सर्वथा त्याग करना नियम कहलाता है । नि: यम यहाँ नि का अर्थ है नियमित और यम

का अर्थ है प्रतिज्ञा अर्थात् काल की मर्यादा से पापों का त्याग करना नियम है । परन्तु आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने नियम का अर्थ रत्नत्रय किया है-आत्मा कहा है-देखिये-

णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसण चरित्तं ।
विवरीय परिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं ।।3।।

अर्थ :- नियम से जो करने योग्य है वह नियम है । ऐसा नियम दर्शन, ज्ञान और चारित्र है । इनमें विपरीत अर्थात् मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्र का परिहार करने के लिए "सार" वचन निश्चय से कहा गया है। सम्यक् रत्नत्रय रूप परिणति करना नियम है । यह आत्मा का स्वरूप है । निज स्वभाव रूप प्रवृत्ति सदाचार, शिष्टाचार, सम्यक्त्वाचार है । रत्नत्रय मोक्ष का उपाय है और उसका फल निर्वाण है ।

'नियम' का अर्थ सीमा भी होता है । जो सीमा या मर्यादा में चलता है, उसका ही विकास होता है । जो बढ़ता है वही मञ्जिल पर पहुँचता है । दायरे में रहने से मान-मर्यादा सुरक्षित रहती है और उत्तरोत्तर अग्रसर होता जीवन पूर्ण विकास कर लेता है । अत: नियमबद्ध होना ही चाहिए ।

शास्त्र का माहात्म्य

विधि निषेधावैतिह्यायत्तौ ।।24।।

अन्वयार्थ :- (विधि:) करने योग्य में प्रवृत्ति (निषेध:) नहीं करने योग्य से निर्वृत्ति (हि) निश्चय से (आयतौ) जिससे प्राप्त है, ज्ञात होती है (ऐति) वही आगम है । लौकिक और परलौकिक विषयों का ज्ञान कराने वाला आगम होता है ।

विशेषार्थ :- कर्त्तव्य में प्रवृत्ति विधि है । अकर्त्तव्य से निवृत्ति निषेध कही जाती है । ये दोनों समीचीन-सत्यार्थ आगम के आधीन हैं। आगम का आधार आप्त है । सर्वज्ञ, वीतरागी और हितोपदेशी ही यथार्थ वक्ता हो सकता है । अत: उसके द्वारा उपदिष्ट जो करणीय व अकरणीय विधान हैं उनमें वैसा ही प्रवृत्त और निवृत्त होना चाहिए । श्रेयस्कर कर्त्तव्यों का पालन करना एवं ऐहिक और पारलौकिक दु:खोत्पादक सर्वक्रियाओं का त्याग करना आर्षपरम्परा है । इसके अनुसार प्रत्येक मानव को अपना आचरण करना चाहिए ।

श्रेयस्कर कर्त्तव्यों का और उभयलोक में अकल्याणकारी अकर्त्तव्यों का निर्णय आगम ही कर सकता है जन साधारण नहीं ।।24।।

भागुरि विद्वान ने भी कहा है -

विधिना विहितं कृत्यं परं श्रेयः प्रयच्छति ।
विधिना रहितं यच्चा यथा भस्महुतं तथा ।।1।।

निषेधं यः पुरा कृत्त्वा कस्यचिद्वस्तुनः पुमान् ।
तदेव सेव ते पश्चात् सत्यहीनः स पापकृत् ।।2।।

अर्थात् - शास्त्र विहित कार्य करने से प्राणी का अत्यन्त कल्याण होता है और आगम निषिद्ध कार्य भस्म में

हवन करने के समान व्यर्थ है-निष्फल है । जो मनुष्य पूर्व में किसी वस्तु के सेवन का त्याग कर देता है और पुनः उसे सेवन करने लगता है वह महापापी है । जैनाचार्य कहते हैं "एक बार यथार्थ देव, शास्त्र, गुरु की साक्षी में धारण किया व्रत, जो त्याग देता है वह एक हजार शिखरबद्ध जिनालयों के भङ्ग (फोडने) के पाप का भागी होता है । अर्थात् 1000 जिनालयों को ढाहने का जो पाप होता है उतना ही पाप एक बार व्यक्त कर उसी वस्तु को पुनः सेवन करने में लगता है । नवकोटि से त्याग की वस्तु को पुनः मन से भी उसके सेवन का भाव नहीं करना चाहिए ।

सत्यार्थ आगम-शास्त्र का निर्णय

तत्खलुसद्भिः श्रद्धेयमेतिह्यं यत्र न प्रमाणबाधा पूर्वापरविरोधो वा ।।25।।

अन्वयार्थ :- (यं) जिसको (हि) निश्चय से (सद्भिः) सज्जनों द्वारा (श्रद्धेयं) श्रद्धान योग्य (ऐति) स्वीकार किया जाता है (यत्र) जहाँ-उस स्वीकृत विषय में (प्रमाणबाधा) प्रमाण के द्वारा बाधा (वा) अथवा (पूर्वापरविरोध) आगे-पीछे विरोधी कथन (न) नहीं होता (सः) वही (खलु) निश्चय से आगम-शास्त्र (अस्ति) है - समझना चाहिए।

जिसमें किसी भी प्रमाण से बाधा और पूर्वापरविरोध नहीं पाया जाता हो शिष्ट पुरुषों द्वारा उसे ही श्रद्धा करने योग्य प्रमाणीक आगम कहा जाता है ।

विशेषार्थ :- जो शास्त्र पूर्वापर विरोधों से भरा है वह मत्त और उन्मत्त के वचनों के समान हैं । अर्थात् जिस ग्रन्थ में एक स्थल पर हिंसा का निषेध है और अन्य स्थल पर धर्मादि के नाम पर विधान है, इसी प्रकार मद्यपान का निषेध लिखकर सोमपान करना स्वीकृत किया हो वह शास्त्र आगम नहीं बन सकता । आचार्य श्री उमास्वामी जी ने कहा है -

सदस तोर विशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ।।32 ।।त.सू.अ.1

जो सत् और असत् में भेद नहीं समझता हुआ जैसा चाहे वैसा कथन करे उसका वचन उन्मत्त के वचन समान समझना चाहिए । ऐसा वचन भला आगम किस प्रकार कहला सकता है ? नहीं कहा जा सकता । नीतिकार नारद ने भी कहा है कि-

स्वदर्शनस्य माहात्म्यं यो न हन्यात् स आगमः ।
पूर्वापरविरोधश्च शस्यते स च साधुभिः ।।1।।

अर्थ :- जो अपने सिद्धान्त के माहात्म्य को नष्ट न करता हो, उनकी निष्ठा करता हो, पूर्वापर के विरोध से रहित हो ऐसे आगम को सन्त पुरुष आगम कहते हैं - प्रशंसनीय बताते हैं ।

सारांश यह है कि वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी तीर्थङ्करों द्वारा भाषित द्वादशाङ्ग आगम अहिंसा धर्म का समर्थक होने से पूर्वापर विरोध रहित होने के कारण अपने सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करता है । वक्ता की प्रमाणता से वचन में प्रमाणता आती है । अतः सर्वज्ञ की प्रमाणता होने से उनके ही उपदेश प्रमाणित होते हैं । यशस्तिलक में भी लिखा है - जो शास्त्र पूर्वापर विरोध के कारण युक्ति से बाधित है वह मदोन्मत्त के वचनों के तुल्य है । अतः वह प्रमाण भूत नहीं हो सकता । सच्चे आप्त का कथित ही आगम है । स्वामी समन्तभद्र जी ने कहा है-

आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्य-मदृष्टेष्टविरोधकम् ।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं, शास्त्रं कापथघट्टनम् ।।

अर्थात् जो वीतराग का कहा हुआ, इन्द्रादिक से भी खण्डित न हो सके, प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रमाणों से भी जिसमें बाधा न आवे, तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप करने वाला, सबका हितकारक और मिथ्यात्वादि कुमार्ग का नाशक होता है उसे सच्चाशास्त्र व आगम कहा जाता है ।

चञ्चल चित्तवालों का विवरण

हस्तिस्नानमिव सर्वमनुष्ठानमनियमितेन्द्रियमनोवृत्तीनाम् ।।26।।

अन्वयार्थ :- (अनियमित) अनियन्त्रित-अनर्गल (इन्द्रिय, मनोवृत्तिनाम्) इन्द्रिय और मन वालों के (सर्वमनुष्ठानम्) समस्त जप, तप, सत्कर्म, दान पूजादि (हस्तिस्नानं) गजस्नान के (इव) समान निष्फल (सन्ति) होते हैं । जिनके मन और इन्द्रियाँ निरंकुश-मन-मानी प्रवृत्ति करते हैं उनके समस्त सत्कर्म व्यर्थ हो जाते हैं ।

विशेषार्थ :- गज का स्वभाव विचित्र होता है । वह स्वच्छ-निर्मल जल प्रपूरित सरोवर में प्रविष्ट होकर आनन्द से स्नान करता है । बाहर आते ही किनारे से पङ्क (कीचड) व धूलि लेकर सूंढ से अपने ऊपर डाल लेता है । बस यही हाल उन गृहस्थों व साधुओं का है जिनकी इन्द्रियाँ व मन वश में नहीं है । हाथी का स्नान जिस प्रकार व्यर्थ हो जाता है उसी प्रकार विषय-भोगों में इन्द्रिय मन को स्वच्छन्द विहार कराने वालों के दान, पूजा, विधान, जप, तप, शीलादि अनुष्ठान निष्फल हो जाते हैं । अतएव आत्मार्थियों को जितेन्द्रिय होना चाहिए । चञ्चल चित्त परीषहादि दुःख सहकर भी पुनः विषयों में फंस जाते हैं । कुकर्मों के गर्त में पड़ दुःखानुभव करते हैं । संसार भ्रमण चलता ही रहता है । नीतिकार कहते हैं -

अशुद्धेन्द्रियचित्तोयः कुरुते कांचित सत्क्रियाम् ।
हस्तिस्नानमिव व्यर्थं तस्य सा परिकीर्तिता ।।

अर्थात् जो व्यक्ति इन्द्रियों को वश में किये बिना ही शुभ ध्यान (धर्मध्यान) करने की लालसा रखता है, वह मूर्ख अग्नि के बिना रसोई बनाने की इच्छा करता है । जहाज के बिना भुजाओं से रत्नाकार (सागर) को पार करना चाहता है, बीजाभाव में क्षेत्र में धान्य उत्पन्न करना चाहता है, अथवा बिना पंख आकाश में उडने का प्रयत्न करता है। जिस प्रकार अग्नि आदि के बिना भोजन नहीं तैयार हो सकता उसी प्रकार इन्द्रिय और मन का दमन किये बिना धर्मध्यानादि नहीं हो सकते ।

इसी प्रकार कोई भी मनुष्य मानसिक शुद्धि के बिना समस्त धार्मिक क्रियाएँ करता हुए भी मुक्तिलक्ष्मी प्राप्त नहीं कर सकता । कहावत है नेत्र विहीन अपने हाथ में दर्पण लेकर भी क्या अपना मुख देख सकता है ? कदाऽपि नहीं । उसी प्रकार अशुद्ध इन्द्रियों एवं मन की दुष्टता वाले पुरुष कुछ भी सत्कार्य करें सार्थक नहीं होते ।

कामनाओं का त्याग करना आत्मा की शुद्धि का उपाय है । कुरल में कहा है-

हातव्या कामना दूरात् स्वकल्याणं यदीच्छसि ।
तृष्णाजाल स्वरूपेयमन्ते नैराश्यकारिणी ।।6।।

अर्थात् यदि तुम भद्रता चाहते हो तो कामना से दूर रहो, क्योंकि कामना एक जाल है और निराशामात्र है । यदि कामना करना ही चाहते हो तो मुक्ति की कामना करो -

कामना कर्तुमिच्छा चेत् तर्हि मुक्तौ विधियताम् ।
सोऽधिकारी परं तत्र येनेयं कामना जिता ।।2 ।।

यदि किसी बात की इच्छा करना है तो पुनर्जन्म के चक्र से छुटकारा पाने की कामना करो । इन्द्रिय व मन के अनुसार न चलकर इन्हें अपने अनुकूल चलाओ । सबका यही सार है ।

'ज्ञानवान होकर भी शुभकार्य न करे उसका वर्णन'

दुर्भगाभरणमिव देहखेदावहमेव ज्ञानं स्वयमनाचरतः ।।27 ।।

अन्वयार्थ :- (ज्ञानं) ज्ञान प्राप्तकर भी यदि (स्वयम) ज्ञानी (अनाचरतः) दुराचरण में प्रवृत्ति करता है तो (दुर्भगास्याः) दुर्भागी-दरिद्री विधवा स्त्री के (आभरणम्) आभरणों की (इव) भांति (देहखेदावहम्) शरीर को कष्टदायक (एव) ही (अस्ति) है ।

विशेषार्थ :- अनेकों शास्त्रों का ज्ञाता होकर भी यदि तदनुसार प्रवृत्ति नहीं करता है । कुमार्ग गामी है तो उस ज्ञान का क्या प्रयोजन ? वह प्रचुर ज्ञान मात्र विधवा स्त्री के आभरणों के समान भार भूत है ।

नारी का शृंगार सौभाग्य से शोभा पाता है । वैधव्य के प्राप्त होने पर अर्थात् पतिविहीन महिला सन्यास से शोभित होती है । सौभाग्य के चिन्ह स्वरूप आभरणों को यदि वह धारण करती है तो वे उसे लाञ्छित करने वाले ही होते हैं । लोक उसे सन्देह की दृष्टि से देखते हैं । इसी प्रकार ज्ञानी के ज्ञान की शोभा सदाचार, शिष्टाचार, नैतिकाचार और धर्माचरण से होती है न कि आगम विरुद्ध हिंसादि पाप क्रियाओं से कहा भी -

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्ति परेषां परिपीडनाय
खलस्य साधो विपरीतमेतद ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ।।

अर्थ :- दुर्जन की विद्या विवाद (झगडो) के लिए, धन अहंकार उत्पन्न करने वाला और शक्ति निर्बलों को सताने वाली होती हैं । परन्तु सच्चे सज्जन की विद्या ज्ञानवृद्धि को धन-वैभव दान के लिए और शक्ति, धर्म, शील, असहायादि के रक्षण के लिए होती है ।

यस्त नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रं किं करिष्यति ।
लोचनाभ्यां विहीनस्य, दर्पणः किं करिष्यति ।।

अर्थात् शास्त्र ज्ञान तभी कार्यकारी है जब हम बुद्धि का प्रयोग आचरण में लायें ।

नीतिकार राजपुत्र ने भी कहा है -

यः शास्त्रं जानमानोऽपि तदर्थं न करोति च ।
तद् व्यर्थं तस्य विज्ञेयं दुर्भगाभरणं यथा ।।

अर्थात् जो शाब्दिक शास्त्रज्ञ होकर उसमें विहित सत्कर्मों को नहीं करता तो उसका ज्ञान विधवा के शृंगारवत् व्यर्थ जाता है ।

सदाचारी, स्वाभिमानी कम पढ़ा, मूर्ख है तो भी विद्वानों में आदर पाता है । यथा

बिबुधों में यदि धैर्य धर रहे मूर्ख चुप-चाप । तो उसको भी यह जगत, गिनता बुध ही आप ।।3 ॥ कु.का.

अर्थ :- विद्वद जनों के मध्य मूर्ख-अनभिज्ञ व्यक्ति भी यदि सभ्यता से मौन धारण कर बैठता है तो वह भी विद्वान मान लिया जाता है । लोग उसे भी शास्त्रज्ञ मानेंगे।

सारांश यह है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और सम्यग्ज्ञानानन्तर सम्यक् चारित्र होना चाहिए। तारतम्य रूप से हीनाधिक रहे तो क्षति नहीं किन्तु सबका समन्वय अनिवार्य है ।

परोपदेशियों की सुलभता

"सुलभः खलु कथक इव परस्य धर्मोपदेशे लोकः ।।28 ॥"

अन्वयार्थ :- (परस्य) दूसरों को (धर्मोपदेशे) धर्मोपदेश देने में संलग्न (लोकः) पुरुष (खलु) निश्चय से (कथक) कथावाचकों के (इव) समान (सुलभः) सरलता से मिल जाते हैं ।

कथावाचकों की भाँति दूसरों को धर्मोपदेश देने वाले संसार में सुलभ हैं ।

विशेषार्थ :- कहावत है "परोपदेशे पाण्डित्यम् ।" दूसरों को धर्मोपदेश देने वाले पण्डित संसार में सुलभ हैं । स्वयं धर्माचरण पालन करना महान दुर्लभ है । आचार्य श्री गुणभद्रस्वामी ने सुन्दर युक्ति से इस तथ्य को समझाया है -

जनाघनाश्च वाचालाः सुलभाः स्युर्वृथोत्थिताः ।
दुर्लभा ह्यन्तरार्द्रास्ते जगदभ्युज्जिहीर्षवः ।।4 ॥

अ.नु.

अर्थात् संसार में बड-बड प्रलाप करने वाले और जल विहीन घडघडाहट करने वाले बादलों का समूह सर्वत्र सुलभता से जितना चाहें उतना मिल सकता है, परन्तु गम्भीर विचारक मनीषी और जग कल्याण करने वाले-वरसा करने वाले मेघसमूह अति दुर्लभ हैं । लोक में कहावत है -

शिक्षकाः बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः
दुर्लभाः शिक्षका प्रायः शिष्यचित्तापहारकाः ।।

संसार में उदरपूर्ति के लिए शिष्यों को दिशाभ्रम करने वाले विद्वान पण्डितों की भरमार है परन्तु शिष्यों को सरल-नैतिकता का उपदेश कर सन्मार्गारुढ करने वाले विद्वान अति दुर्लभ और कठिन हैं ।

वाल्मीकि विद्वान ने भी कहा है -

सुलभा धर्मवक्तारोयथापुस्तक वाचकाः ।
ये कुर्वन्ति स्वयं धर्मं विरलास्ते महीतले ।।

अर्थात् इस भूमण्डल पर कथावाचकों की भाँति धर्म के मर्म को समझाने वाले वक्ता बहुत आसानी से मिल जाते हैं। परन्तु धर्म का स्वयं अनुष्ठान करने वाले सत्पुरुष महानदुर्लभ हैं । करनी और कथनी में जमीन-आसमान जैसा अन्तर है । जो गंभीर तत्त्वज्ञ विशेषज्ञ होते हैं वे करते हैं और जो बक-झक करने वाले होते हैं वे मात्र हल्ला-गुल्ला कर अपने को धर्म नेता सिद्ध करने का असफल प्रयास करते हैं । सारांश यह है कि कथनापेक्षा करना उत्तम है । कहा भी है -

कम कहना सुनना अधिक यह है परम विवेक
इसीलिए विधि ने दिये कान दोय जीभ एक ।।

अर्थात् नाम कर्म रूप विधि बड़ा चतुर है । वह पुरुषों को सावधान करता है कि अधिक बोलने से क्षति होती है । इसीलिए उसने मनुष्य के दो कान बनाये और जिह्वा एक रची । सुनना अधिक बोलना कम । अभिप्राय इतना ही है कथनी के अनुसार करनी भी होने लगे तो मनुष्य के जीवन में सन्तुलन बना रहता है और प्रशस्त मार्ग पर बढने का अवसर प्राप्त हो जाता है । ज्ञान वही सार्थक है जो परोपकार और स्वोपकार दोनों सिद्ध करे । ज्ञान का फल क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में पूज्यपादस्वामी कहते हैं - ''ज्ञान फलं सौख्यमच्यवनम्'' ज्ञान का फल अक्षय सुख प्राप्त कराना है । लोभाविष्ट को यह फल कहाँ ? अर्थात् वह तो मात्र वित्तार्जन में ही अपने ज्ञान को व्यय कर देता है । ज्ञान से आत्म तुष्टि प्राप्त करना चाहिए ।

''तप और दान से प्राप्त फल''

''प्रत्यहं किमपि नियमेन प्रयच्छतस्तपस्यतो वा भवन्त्यवश्यं महीयांसः परे लोकाः ।।29।।''

अन्वयार्थ :- (लोकाः) मानव (प्रत्यहं) प्रतिदिन (नियमेन) नियमपूर्वक (किमपि) कुछ भी (प्रयच्छतः) सुपात्रदान देते हैं (वा) अथवा (तपस्यतः) तपश्चरण करते हैं (ते) वे मनुष्य (परे) परलोक में-अगले भव में (अवश्यम्) अवश्य ही (महीयांसः) महर्द्धिधारी (भवन्ति) होते हैं ।

नियमित रूप से दान, पूजा, तप करने वाला भव्यात्मा परभव (अगलेभव) में उच्च स्वर्गों में उत्तम विभूति युत होकर आनन्द से निरुत्सुक निरन्तर भोग भोगते हैं। अनासक्त हो परम्परा से मुक्ति सुख भी प्राप्त कर लेते हैं ।

विशेषार्थ :- नीतिकार चारायण ने भी कहा है -

नित्यं दानप्रवृत्तस्य तपोयुक्तस्य देहिनः ।
सत्पात्रंवाथ कालो वा स स्याद्येन गतिर्वरा ।।

अर्थ :- सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कहा है कि सदैव दान और तप में प्रवृत्त पुरुष को उसका दान और तप स्वर्ग सम्पदा प्रदान कराता है । अर्थात् वह उत्तमगति स्वर्ग को प्राप्त करता है ।

''तप्येतेति तपः'' जिसे तपा जाये वह तप है । कहा है -

सब विध हिंसा त्यागकर बनना करुणाधार ।
सब दुःखों को शान्ति से, सहना तप का सार ।।

अर्थात् शान्तिपूर्वक कष्ट सहन करना और दयाभाव रखना अर्थात् हिंसा न करना तप है और साम्यभाव ही

तप का सार है । आचार्य कहते हैं "तपसा निर्जरा च" तप के द्वारा संवर और निर्जरा होती है । तप के द्वारा समस्त कामनाएँ पूर्ण होती हैं –

सर्वेषामेव कामानां सुसिद्धौ साधनं तपः ।
अतएव तपस्यार्थं यतन्ते सर्व मानवाः ।।5 ।।

कु.का.

अर्थ :– तप समस्त इच्छाओं का पूरक होता है । यह यथेष्ट फल देने में सुसिद्ध है, इसीलिए संसार में समस्त भव्यात्माएँ तप करने में प्रयत्न करते हैं । जिन्होंने तप बल से शक्ति और सिद्धि प्राप्त कर ली है वे मृत्यु को भी परास्त कर अमर बन जाते हैं । कहा है –

यद्दूरं यद्दुराराध्यं यच्च दूरं व्यवस्थितम् ।
तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरितक्रमम् ।।

संसार में जो दूर है, जिसे दुस्साध्य समझा जाता है जो अगम्य स्थान में स्थित है वह समस्त पदार्थ तप के द्वारा उपलब्ध हो जाता है, अतः "इन्द्रिय निरोधस्तपः या इच्छा निरोधस्तपः" सर्वपापों का नाशक और सर्वाभ्युदय दायक होता है । प्रत्येक भव्यात्मा को यथायोग्य तप करना चाहिए ।

तपश्चरण की भाँति दान भी गृहस्थाश्रम व यत्याश्रम का प्रमुख अङ्ग है । जो गृहस्थ नित्य प्रति सुपात्र दान देने में दत्तचित्त रहता है, जिनेन्द्र प्रभु की पूजा करता है वह निरन्तर सुखी रहता है । दान देकर सन्तुष्ट होना सही दान है ।

दानी सब ही हैं भले, पर है वही कुलीन
जो देने के पूर्व ही रहे निषेध विहीन ।।3 ।।

कु.का.

अर्थ :– "हमारे पास नहीं है" ऐसा मलिन वचन बोले बिना जो पुरुष दान देता है वही कुलीन-श्रेष्ठ दानी कहलाता है । दान से मिथ्या दृष्टि भी भोगभूमि को प्राप्त कर लेता है, उत्तम पात्र को दान देने वाला उत्तम भोगभूमि में, मध्यम पात्र को दान देने वाले मध्यम भोगभूमि में और जघन्य पात्रों को दान वितरन से जघन्य भोगभूमि में उत्पन्न हो दस प्रकार के कल्पवृक्षों से प्राप्त भोगों को भोगता है । आयु का अवसान होने पर स्वर्ग जाता है । पुनः मनुष्य हो सम्यक्त्व प्राप्त कर यथाक्रम से मुक्ति प्राप्त कर लेता है । अतः विवेकीजनों को दान देकर लोभ पर विजय प्राप्त करना चाहिए । यथाशक्ति दान और तप अवश्य करना चाहिए ।

सञ्चय से होने वाले लाभ का वर्णन

कालेन संचीयमानः परमाणुरपि जायते मेरुः ।।30 ।।

अन्वयार्थ :– (कालेन) समय-समय में (परमाणु-परमाणु) कण-कण (अपि) भी (संचीयमानः) एकत्रित करते-करते (मेरुः) सुमेरु पर्वत (जायते) बन जाता है ।

लगन से पुरुषार्थी प्रतिक्षण एक-एक परमाणु के बराबर भी यदि अर्जन करता है तो समय आने पर सुमेरु पर्वत के बराबर प्रभूत सम्पत्ति होना संभव है ।

निशेषार्थ :- सम्पत्ति से अभिप्राय विद्या, धर्म व धनादि से है । मनुष्य यदि इन विषयों को अल्प मात्रा में भी ग्राह्य करता रहे तो एक दिन अवश्य पूर्णता प्राप्त करते हैं। विद्या के विषय में कहा है "अक्षर-अक्षर के पढै जडमत होत सुजान । रसरी आवत-जात के सिल पर होय निशान ।।" अर्थात् एक-एक वर्ण प्रतिदिन सीखता जाय तो एक न एक दिन बहुत बड़ा स्कालर हो जाता है । इसी प्रकार जप, तप, त्याग, यम, नियमों का पालन शनैः शनैः करता रहे तो वह मानव या प्राणी पूर्ण धर्म के तट पर पहुँच जाता है । कहावत है-

धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय ।
माली सींचे सौ घडा, ऋतु आये फल होय ।।

धैर्यपूर्वक उद्यम करने पर अवश्य कार्य सिद्धि होती है । जैसा कहा जाता है "रटन्त विद्या खोदन्त पानी" रटते-रटते विद्या परिपक्व हो जाती है । क्रय-विक्रय करने वाला व्यापारी लखपति, करोड़पति, अरब-खरब पति आदि बन जाता है । कहा है-

शनैः कन्था शनैः पन्था, शनैः पर्वतलंघनम् ।
शनैः शनैः हि कार्याणि, सिद्धयन्ति नाऽत्र संशयः ।।

निःसन्देह सत्पुरुषार्थी जीवन में अलौकिक कार्य कर गुजरता है । धैर्य के साथ प्रयुक्त वस्त्र शोभनीय रहता है, उत्साह से नातिमन्द गमन करता रहे तो सुखद मार्ग तय होता है, हिम्मत के साथ धीरे-धीरे कदम बढाये चलते रहने से आसानी से पर्वत की चोटी पर पहुँचना संभव हो जाता है । शान्ति और धैर्यपूर्वक कार्यों की सिद्धियाँ निःसन्देह दृष्टिगत होती हैं ।

सबका सार एक ही है, कार्यों में विघ्न आने पर भी भयभीत नहीं होना चाहिए । उन्हें मध्य में त्याग देना बुद्धिमत्ता नहीं । अपितु पुनः पुनः विघ्न के आने पर भी उससे विरत न होकर पूर्ण करने का प्रयास करना चाहिए । धर्म कार्यों में कायर बनना उचित नहीं ।

नीतिकार भागुरि ने भी यही चेतावनी दी है -

नित्यं कोष विवृद्धि यः कारयेद्यत्नमास्थितः ।
अनन्तता भवेत्तस्य मेरोर्हेम्नो यथा तथा ।।

जो उद्योगी पुरुष निरन्तर अपने खजाने की वृद्धि में प्रयत्नशील रहता है उस की धनराशि अन्त में मेरुवत विशाल हो जाती है । इसी प्रकार विवेकी अपने विद्या-धन की भी वृद्धि करे । कहा भी है -

उत्तम विद्या लीजिये, तदपि नीच पर होय
पडो अपावन ठौर में, कञ्चन तजै न कोय ।

धर्म, विद्या और धन की प्रतिदिन वृद्धि करने का लाभ

''धर्मश्रुतधनानां प्रतिदिनं लवोऽपि संगृह्यमाणो भवति समुद्रादप्यधिकः ।।31।।

अन्वयार्थ :- (प्रतिदिनम्) प्रत्येक दिन (धर्मश्रुतधनानाम्) धर्म, श्रुत-ज्ञान और धन का (लव) थोडा (अपि) भी (संग्रह्यमाणः) संचित करने पर भी (समुद्रात्) सागर से (अपि) भी (अधिकाः) अधिक विशाल (भवति) हो जाता है ।।31।।

अर्थ :- धर्म, विद्या और धन स्वल्प-स्वल्प भी अर्जित करते रहने से ये सागर से भी अधिक विशाल, विस्तृत और समूह रूप हो जाता है ।

विशेषार्थ :- पिपीलिकाएँ (चिंटिया) भी कण-कण लाकर गहरे गर्त को भी प्रपूरित कर लेती हैं । मधुमक्खियाँ बूँद-बूँद से मधु का सञ्चय कर लेती हैं । तो पूर्ण बुद्धि का धनी मानव चाहे तो क्या धर्म, विद्या और धन का अम्बार नहीं लगा सकता ? अवश्य ही संचित कर सकता है । नीतिकार वर्ग ने भी कहा है -

उपार्जयति यो नित्यं धर्मश्रुत धनानि च ।
सुस्तोकान्यप्यनन्तानि तानि स्युर्जलधिर्यथा ।।

अर्थ :- जो पुरुषार्थी-लगन से नित्य धर्म, श्रुत और धनार्जन करने में दत्तचित्त रहते हैं उनका धर्म, श्रुत, धन अति सूक्ष्म, कम, तुच्छ रहने पर भी धीरे-धीरे सागर से भी अधिक गंभीर, विस्तृत और महान ब जाता है । अभिप्राय यह है कि मनुष्य को इन कार्यों में प्रमाद नहीं करना चाहिए । कहा भी है -

सन्तोषं त्रिषु कर्त्तव्यं स्वदारे भोजने धने ।
त्रिषु नैव कर्त्तव्यं दाने तपसि च पाठने ।।

प्राणियों को स्व स्त्री, भोजन और धन में लोलुपता का त्याग करना चाहिए । परन्तु धर्म-दान-पूजादि शुभ-कार्यों, सत्पात्रदान एवं विद्यार्जन में सतत् जागरुक रहना चाहिए । बिन्दु से सिन्धु बन जाता है । धर्म से धर्मात्मा परमात्मा हो जाता है और ज्ञानार्जन से कैवल्य भोगी-केवल ज्ञानी हो जाता है । इसलिए इनका सञ्चय करते रहना चाहिए ।

धर्म पालन में उद्योग शून्य को चेतावनी

धर्माय नित्यमनाश्रयमाणानामात्मवञ्चनं भवति ।।32।।
''धर्मायनियमजाग्रतामात्मवञ्चनम्'' ।।

मु.मू.पु. में यह पाठ है अर्थ भेद कुछ नहीं है ।।32।।

अन्वयार्थ :- (नित्यम्) प्रतिदिन (धर्माय) धर्म के लिए (अनाश्रयमाणानाम्) आश्रय नहीं लेने वालों के (आत्मवञ्चनम्) स्वयं आत्मा को धोखा देना (भवति) होता है ।

जो व्यक्ति निरन्तर आत्मस्वभाव के लिए प्रयत्न नहीं करता वह स्वयं अपने ही आत्मा की वञ्चना करता है अर्थात् ठगता है ।

विशेषार्थ :- मनुष्य जन्म महान दुर्लभ है । चारों गतियों में मनुष्य गति ही आत्म सिद्धि की साधन है ।

आत्मस्वरूपोपलब्धि के लिए धर्माचरण ही साधन है । अतः मानव जीवन प्राप्त कर धर्माचरण नहीं करने वाला स्वयं की वंचना करता है । कहा है -

मनुष्यत्वं समासाद्य यो न धर्मं समाचरेत् ।
आत्मा प्रवंचितस्तेन नरकाय निरूपितः ।।

अर्थात् मनुष्य पर्याय लब्ध व्यक्ति यदि धर्माचरण पालन नहीं करता वह अपने ही को धोखा देता है और अपनी आत्मा को नरकगामी बनाता है-स्वयं नरक में जाता है । धर्म ही मनुष्य का शृंगार है, यही शोभा है । कहा है -

गन्धेन हीनं कुसुमं न भाति, दन्तेन हीनं वदनं न भाति ।
सत्येन हीनं वचनं न भाति, पुण्येन हीनं पुरुषो न भाति ।।

अर्थ :- सुवास विहीन पुष्प, दन्तपंक्ति रहित मुख, सत्य शून्य वचन, जिस प्रकार शोभनीय नहीं होते, आदर नहीं पाते, उसी प्रकार पुण्य विहीन-धर्म बिना पुरुष की शोभा नहीं होती ।

सांसारिक सुख सामग्री का भी धर्म ही साधन है । पुण्य बिना भोगोपभोग भी उपलब्ध नहीं होते । जो व्यक्ति सांसारिक सुख भोगों के लिए धर्म से विमुख होते हैं वे महा मूर्खों की श्रेणी में अग्रसर कहलाते हैं । उनका कृत्यनिम्न है -

सालंस्वर्गसदां छिनत्ति समिधे चूर्णाय चिन्तामणिम् ।
वन्हौ प्रक्षिपति क्षिणोति तरणीमेकस्य शङ्को कृते ।।1।।

दत्ते देवगवीं स गर्दभवधू ग्राहाय गर्हागृहं ।
यः संसारसुखाय सूत्रितशिवं धर्मं पुमानुज्झति ।।2।।

कस्तूरी प्रकरण से

अर्थ :- जो पुरुष सांसारिक वैषयिक सुखों के लिए मोक्ष सुख देने वाले धर्म को त्याग देता है वह निंद्य, मूढ बुद्धिविहीन उस पुरुष के सदृश है जो काष्ठ-लकडी के लिए कल्प वृक्ष को काटता है, चूर्ण के लिए चिन्तामणि रत्न को अग्नि में होमता है, और कीलों के लिए नाव को तोडता है, और गधी को खरीदने के लिए अपनी कामधेनू को दे देता है । इन कार्यों को करने वाला लोक में निंद्य और मूर्ख तो समझा ही जाता है, परलोक में भी दुर्गति ही पाता है । अतः प्राण कण्ठगत होने पर भी उभय लोक सुखदायक धर्म का सेवन, पालन और रक्षण करना चाहिए ।

"एक काल में पुण्य समूह का सञ्चय दुर्लभ है"

कस्य नामैक दैव सम्पद्यते पुण्य राशिः ।।33।।

अन्वयार्थ :- (कास्यनाम) किसके (एकदा) एक समय में (एव) ही (पुण्यराशिः) पुण्य समूह (सम्पद्यते) सम्पादन होता है ?

संसार में कौन ऐसा महान् व्यक्ति है जिसे एक काल में ही प्रभूत पुण्य प्राप्त हुआ हो ? नहीं हुआ । किन्तु धीरे-धीरे चाहे तो हो सकता है ।

विशेषार्थ :- लोक में देखा जाता है धनार्जन में, उसके व्यय और संरक्षण में महान् कष्ट सहना पडता है । एक बार में उसका पाना किस प्रकार संभव हो सकता है ? नहीं होता । श्री पूज्यपाद स्वामी जी ने लिखा है -

दुरर्ज्येनासुरक्षेण नश्वरेण धनादिना ।
स्वस्थमन्यो जनः कोऽपि ज्वरवाननिव सर्पिषा ।।13।।

पुण्य का फल धन-वैभव है किन्तु यह अति कठिनता से अर्जित होता है उससे भी अधिक परिश्रम से सुरक्षित रहता है, यह सब होने पर भी देखते देखते नष्ट हो जाता है । ज्वर पीडित मनुष्य घी पीकर स्वस्थ मानता है तो क्या वह स्वस्थ होगा ? नहीं । उसी प्रकार पुण्य के अभाव में धनादिक नहीं टिकते । पुण्य जब क्रमशः संचित होता है इसीलिए उसका फल भी स्थायी नहीं होता । नीतिकार कहते हैं -

सुखस्यानन्तरं दुःखं, दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।
न हेलया सुखं नास्ति मर्त्यलोके भवेन्नृणाम् ।।

मनुष्यों को मर्त्युलोक में सुख नहीं मिलता । मिलता है तो वह टिकता नहीं । सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख आता जाता रहता है । इससे स्पष्ट होता है क्रीडामात्र में पुण्यार्जित नहीं होता इसीलिए उसका फल सुख भी टिकाऊ नहीं रहता ।

पुण्यर्जित किसी एक साधन से, एक ही समय में, एक ही प्रकार से नहीं होता, अपितु अनेकों-पूजा, पाठ, स्वाध्याय, जप तपादि से, समय-समय पर शुभक्रियाएँ सम्पादन से, अनेकों तीर्थ वन्दनादि द्वारा होता है । अस्तु एक काल में प्रचुरपुण्य संपादन नहीं होता । उसके लिए निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए । कहा भी है

धीरे धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय
माली सींचे सौ घडा ऋतु आये फल होय ।।

अतएव सन्तोष पूर्वक सरलभाव से न्यायपूर्वक सदाचार निष्ठ हो कर्त्तव्यों में सजग रहते हुए सातिशय पुण्यार्जन करते रहना चाहिए । निसन्देह परम्परा से मुक्ति प्राप्त होगी ही ।

"आलसी के मनोरथ विफल होते हैं ।"

अनाचरतो मनोरथाः स्वप्नराज्यसमाः ।।34।।

अन्वयार्थ :- (अनाचरतः) उद्योग विहीन मनुष्य के (मनोरथाः) चित्त में चिन्तित कार्य (स्वप्न-राज्यसमा) स्वप्न में प्राप्त राज्यविभूति के समान निष्फल होते हैं । स्वप्न में किसी ने अपने को महान् राज्य का स्वामी बना देखा, वह बहुत ही खुश हुआ परन्तु निद्राभंग होने पर क्या रहा ? कुछ भी नहीं रहा । इसी प्रकार - कर्त्तव्यशून्य-प्रमादी के मनोरथ विफल ही होते जाते हैं ।

विशेषार्थ :- जो व्यक्ति जी तोड परिश्रम करता है, वही मधुर फल पाता है । नीतिकार वल्लभदेव ने लिखा है -

उद्यमेन हि सिद्धयन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।
न हि सिंहस्य सुप्तस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ।।

अर्थात् उद्यम करने से कार्यों की सिद्धि होती है, मात्र सोचते रहने से नहीं । सिंह पशुओं का राजा है, महा बलवान भी है, पराक्रमी भी है परन्तु वह भी यदि यह मानकर कि "मेरी शक्ति ही मेरा पेट भर देगी" सोता रहे तो *क्या स्वयं मृग-पशु उसके मुख में आकर मरेंगे ? नहीं । वह स्वयं शिकार करेगा तभी उसे मांस मिलेगा और क्षुधा* शान्त होगी । इसी प्रकार जो व्यक्ति जो कुछ प्राप्त करना चाहता है उसे उसकी प्राप्ति की युक्तियों के साथ-साथ प्रयत्न भी करना ही होगा । उदाहरणार्थ अश्वारोही बनने के अभिलाषी को घोड़े पर चढना होगा, उसकी कला सीखनी ही होगी, तभी इच्छापूर्ति हो सकेगी । आलसी पर राजकृपा हो तो भी उसका विकास होना संभव नहीं है । कुरल में कहा है -

आलस्य निरतोलोंकः कृपां लब्ध्वापि भूपतेः ।।
कर्त्तुं समुन्नतिं नैव शक्नोति जगतीतले ।।6।।

अर्थ :- आलस्य पीड़ित मनुष्य राजानुकम्पा प्राप्त करने पर भी भूतल पर उत्थान करने में समर्थ नहीं हो सकता है । अपवित्र वायु के समान प्रमाद को बताया है

देखो है आलस्य भी, दूषित वायु प्रचण्ड ।
झोके से नृपवंश की, बुझती ज्योति अखण्ड ।।1।।

अर्थ :- आलस्य रूपी अपवित्र वायु के झोके से राजवंश की अखण्ड ज्योति अस्त हो जायेगी । कुन्दकुन्द स्वामी तो आलस्य को हत्यारा कहते हैं -

हत्यारे आलस्य की जिसके मन में प्यास
देखेगा मतिमन्द वह, जीवित ही कुल नाश ।।3।।

अर्थ :- आलस्य-प्रमाद हत्यारा है, इसकी चाह-अभिलाषा जिसको है वह आलसी है, मन्दबुद्धि है, उसके लघु जीवन काल में ही उसका ही नहीं उसके कुल का सर्वनाश हो जाता है ।

जो व्यक्ति अपने हाथों से उद्यमशील होकर सत्कार्यों को नहीं करते, वह अपनी गृहस्थी को क्षीण करता हुआ संकट में डाल देता है । कुरल में आलसियों की चार नौकाएँ बतलाई हैं यथा -

कालस्य यापनं, निद्रा शैथिल्यं विस्मृतिस्तथा ।
उत्सवस्य महानावः, सन्त्येता हतभागिनः ।।5।।

अर्थ :- प्रमादवश जो व्यक्ति कार्य करने में टालमटोल करते हैं, निद्रा लेते हैं, शिथिलता प्रदर्शित करते हैं, व भूल जाते हैं उनके लिए ये चारों बातें सच्छिद्र नौकाएँ हैं । इन पर सवार हो अपने को संसार सागर में डुबाते हैं ।।

आलसी का सारा परिवार शत्रुओं का शिकार बन जाता है । यथा कहा है -

जो कुटुम्ब आलस्य का यहाँ बने आवास ।
शत्रुकरों में शीघ्र वह, पड़ता बिना प्रयास ।।8।।

प्रमाद के दोषों का विचार कर उसका त्याग करना ही श्रेयस्कर है । जो इस आलस्य भूत का त्याग कर उत्साहित हो कार्य करता है, उसके आने वाले अनेकों क्रूर संकट भी दूर पलायित हो जाते हैं । कहा भी है-

अहो मनुज आलस्यमय त्यागे जब ही पाप ।
आते संकट क्रूर भी, ठिटक जांय तब आप ।।9।।

कर्मलीन हो भूप यदि, करे न रञ्च प्रमाद ।
छत्र तले वसुधा वसे, नपी त्रिविक्रम पाद ।।10।।

कुरल

अर्थात् किसी व्यक्ति पर यदि आकस्मिक संकट आ जाय और वह प्रमाद त्याग उत्साह से उसका सामना करने को डट जाय तो वह आने वाले विपत्तिरूपी घन दूर से ही भागने लगते हैं ।।

जो नृप आलस्य का सर्वथा परिहार करता है, वह एक न एक दिन त्रिविक्रम से नंपी (विष्णु कुमार से मापी) सर्वभूमि का अधिपति हो जाता है । अतः जीवन का सर्वाङ्गीण विकास चाहने वालों को आलस्य का दूर ही से त्याग कर देना चाहिए।

"धर्मफल भोगता हुआ भी पाप में प्रवृत्त का वर्णन"

धर्मफलमनुभवतोऽप्य धर्मानुष्ठानमनात्मज्ञस्य ॥35॥

अन्वयार्थ :- (अनात्मज्ञस्य) आत्मस्वरूप को नहीं जानने वाले का (धर्मफलानुभव) धर्म का फल भोग (अपि) भी (अधर्मानुष्ठानम्) पापाचरण करना (मूर्खत्वं) मूर्खपना है ।

जो मनुष्य धर्म के फल-मनुष्य पर्याय, उच्चकुल, धन-ऐश्वर्य, दीर्घायु आदि का उपभोग करता हुआ भी यदि उसे न समझ कर पापाचरण में प्रवृत्ति करता है तो वह महामूर्ख ही है ।

विशेषार्थ :- पूर्वार्जित पुण्य से प्राप्त, बुद्धि कौशलादि को मूर्ख नहीं समझ पाता । फलतः धन-सम्पत्ति, बुद्धि का दुरुपयोग करने लगता है । विद्वान सौनक ने कहा है -

अन्य जन्मकृताद्धर्मात् सौख्यं संजायते नृणाम् ।
तद्विज्ञैर्ज्ञायते नाज्ञैस्तेन ते पापसेवकाः ।।

अर्थात् - जो कुछ मनुष्यों को पूर्वकृत पुण्य का फल इन्द्रिय जन्य सुख सम्पदा-बुद्धि-कौशलादि प्राप्त होते हैं, उनके रहस्य को विद्वान-ज्ञानी जन ही समझते हैं । और पुनः धर्मार्जन करने में प्रवृत्त होते हैं (अज्ञानी-मूर्खजन इसे नहीं समझते-अतएव वे अहंकार में फंस दुर्व्यसनों में फंस जाते हैं । शास्त्रकारों ने भी कहा है -

स मूर्खः स जडः सोऽज्ञः स पशुश्च पशोरपि ।
योऽश्नन्नपि फलं धर्माद्धर्मे भवति मन्दधीः ।।

स विद्वान् स महाप्राज्ञः स धीमान् स च पण्डितः ।
यः स्वतो वान्यतो वापि नाधर्माय समीहते ।।2।।

यश. ति. सोमदेवकृत

अर्थ :- जो व्यक्ति धर्म के फल का अनुभव करता हुआ भी धर्म कार्य में मन्द हो प्रवृत्ति करता है वह मूर्ख, जड़ अज्ञानी, और पशु से भी अधिक पशु बुद्धि वाला है, अर्थात् जिस वृक्ष के मधुर फलों का आस्वादन करता हो और उसी की जड़ काटे वह महामूर्ख ही है । इसी प्रकार धर्मरूपी वृक्ष का फल विषय-भोग सामग्री को प्राप्त कर उन्मत्त होने वाला भी भविष्य के सुमधुर फल स्वर्ग-मोक्षादि नाश करता है ।

जो स्वयं अधर्म व पाप क्रियाओं में प्रवृत्त नहीं होता और न अन्य को ही कुमार्गारुढ की प्रेरणा देता है वही व्यक्ति विद्वान, पण्डित, प्रज्ञाशील, बुद्धिमान और पण्डित समझा जाना चाहिए ।

पुण्य से पुण्यार्जन करना श्रेयस्कर है न कि पुण्यफल भोग कर पाप कर्म अर्जन करना । गुणभद्र स्वामी ने कहा है -

कृत्वा धर्मविघातं फलान्यनुभवन्ति ये मोहा
दाच्छिद्यतरुन् मूलात् फलानि गृह्णन्ति ते पापाः ।।

आत्मा.नु.॥

अर्थ :- जो अज्ञानी मानव मोहाविष्ट होकर धर्म का-पुण्य कार्यों का विनाश कर उनका फल भोगता है, वह महामूर्ख है मानों वृक्ष की जड़ काटकर उसके फलों का सेवन करने वाले के सदृश भविष्य को दुःखमय बनाता है । मूल से वृक्ष नष्ट किये जाने पर आगामी काल में उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा । फिर भला फल कहाँ ? इसी प्रकार पूर्व संचित पुण्य का फल भोगे और वर्तमान में नवीन उपार्जन नहीं करे तो अगले भव में क्या पायेगा ? कुछ भी नहीं ।

अतएव विवेकी भव्यजन को धर्म संरक्षण करते हुए उसका फलानुभव करना चाहिए । श्री गुणभद्राचार्य कहते हैं -

धर्मादवाप्त विभवो धर्मं प्रतिपाल्य भोगमनुभवतु ।
वीजादवाप्तधान्यः कृषीवलस्तस्य वीजमिव ।।

आ.नु.शा.

अर्थ :- जिस प्रकार चतुर कृषक, खेती पकने पर उपलब्ध धान्य में से सुन्दर, योग्य धान्य की आगामी फसल के लिए बीज निकाल कर प्रथम रख देता है । शेष धान्य का उपभोग करता है उसी प्रकार सुज्ञानी भव्यजनों का कर्त्तव्य है कि वे धर्म का पूर्णतः संरक्षण करते हुए उसका फलानुभव करें ।। अर्थात् धर्मानुष्ठान, देव, गुरु, शास्त्र की भक्ति - आराधनादि करते हुए भोगानुभव करें ।

''विवेकी पुरुष स्वयं धर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति करें''

कः सुधीर्भेषजमिवात्महितं धर्मं परोपरोधादनुतिष्ठति ।।36॥

अन्वयार्थ :- (कः) कौन (सुधीः) बुद्धिमान (भेषज) औषधि के (इव) समान (आत्महितंधर्मं) आत्मकल्याणकारी धर्म को (परः) दूसरे के (उपरोधात्) आग्रह से (अनुतिष्ठति) उस रूप आचरण करता है? कोई नहीं ।

स्वयं रोग से मुक्त होने का इच्छुक किसी अन्य की प्रेरणा से औषधि सेवन नहीं करता, अपितु स्वेच्छा से स्वयं ही करता है उसी प्रकार संसार दु:खों से निवृत्ति पाने का अभिलाषी स्वयं धर्माचरण में प्रवृत्त होता है ।

विशेषार्थ :- जिस प्रकार रोग ग्रस्त पुरुष स्वयं उचित औषधि का सेवन करता है, उसे किसी की प्रेरणा की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार आत्मकल्याणेच्छु उसके साधक धर्म, पुण्य क्रियाओं का अनुष्ठान स्वयं आत्मप्रेरणा से ही करता है । श्रद्धा भक्तिपूर्वक किये गये धर्मानुष्ठान अचिन्त्यफलप्रद होते हैं । कहा भी है -

पापात् दु:खं धर्मात्सुखमिति सर्वजनसुप्रसिद्धमिदम् ।
तस्माद्विहाय पापं चरतु सुखार्थी सदा धर्मम् ।।8।।

आत्मानुशा.

अर्थ :- सर्व साधारणजन भी इस बात को जानते हैं कि पाप दु:ख का हेतू है और धर्म से आत्मसुख प्राप्त होता है। इसीलिए सुखेच्छुओं को सदैव धर्माचरण करना चाहिए । धर्म अद्‌भुत शक्ति है । उससे कोई याचना नहीं करनी पड़ती । कहा है श्री आचार्य गुणभद्रस्वामी ने अपने आत्मानुशासन में -

संकल्प्यं कल्पवृक्षस्य चिन्त्यं चिन्तामणेरपि ।
असंकल्प्यमसंचिन्त्यं फलं धर्मादवाप्यते ।।22।।

अर्थ :- कल्पवृक्ष संकल्प (याचना) से इच्छित वस्तु देते हैं, चिन्तामणिरत्न चिन्तवन करने से फलप्रदान करता है किन्तु धर्म बिना याचना और चिन्तवन के ही सम्पूर्ण अभीष्ट फलों को प्रदान करता है । फिर कौन ऐसा सुबुद्ध भव्य होगा जो स्वयं स्वेच्छा से धर्माचरण नहीं करे ? करते ही हैं । नीतिकार भागुरि ने भी कहा है कि -

परोपरोधतो धर्मं भेषजं च करोति य: ।।
आरोग्यं स्वर्गगामित्वं न ताभ्यां संप्रजायते ।।

जो मनुष्य दूसरों के अनुरोध से औषधि और धर्म का सेवन करता है उसे क्रमश: आरोग्य लाभ और स्वर्ग सुख प्राप्त नहीं होते । संसार में कहावत है, "कहे से कोई गधे पर नहीं चढता" अर्थात् किसी भी कार्य की सिद्धि स्वयं की अन्तर्प्रेरणा से होती है । अत: प्रत्येक मानव को धर्म के प्रति स्वत: आस्था दृढ करनी चाहिए ।

धर्मानुष्ठान काल में होने वाली प्रवृत्ति

धर्मानुष्ठानेभवत्यप्रार्थितमपि प्रातिलोम्य लोकस्य ।।37।।

अन्वयार्थ :- (लोकस्य) संसारी जीवों के (धर्मानुष्ठाने) धार्मिक क्रियाओं में (अप्रार्थितम्) नहीं चाहने पर (अपि) भी (प्रातिलोम्य) विपरीतता-विघ्न (भवति) हो जाता है ।

धर्मानुष्ठान करते समय मनुष्यों को अनिच्छित विघ्न उपस्थित हो जाते हैं ।

भावार्थ : "श्रेयांसि बहु विघ्नानि" कल्याण कारक कार्यों में अनेकों विघ्न अनायास आ खड़े होते हैं । इसलिए धार्मिक कार्यों में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए । कहावत है "उतावला सो बावरा" उतावली करने वाले मूर्ख बनते हैं क्योंकि - बिना विचारे जो करे सो पाछे पछताय" स्थिरता के बिना पूर्वापर विचार नहीं हो सकता अत: कार्य निर्विघ्न

होना असंभव हो जाता है और पश्चाताप का कारण बनता है । इसलिए अवसर पाकर शान्ति से कार्य करना उत्तम है। कुन्दकुन्द स्वामी ने कुरल काव्य में कहा है -

कार्यकालं प्रतीक्षन्ते जोषं हि जयरागिणः ।
न क्षुभ्यन्ति कदाचित्ते नाप्युत्तापविधायिनः ।।5॥

अर्थ :- जिनके हृदय में विजय कामना है वे शान्त-चुप अवसर की प्रतिक्षा करते हैं । वे न तो व्याकुल होते हैं और न ही दुःखानुभव करते हैं, धैर्य से काम लेते हैं ।

जय इच्छुक हैं देखते, अवसर को चुपचाप ।
विचलित हो करते नहीं, सहसा कार्य कलाप ।।5॥

कुरल ॥

यदि स्वावसरं वेत्सि साधनानि तथैव च
शक्नोषि निजवीर्येण विजेतुं जगती तलम् ।।4॥

यदि मनुष्य यथायोग्य अवसर ज्ञात करले और तदनुकूल साधनों का संचयन कर ले तो अपनी निज शक्ति से समस्त भूतल पर विजय प्राप्त कर सकता है । अतः विघ्नों को दूर करना है तो विचारपूर्वक कार्य करो । क्योंकि

श्रेयांसि बहुविघ्नानि, भवन्ति महतामपि ।
अश्रेयसि प्रवृत्तानां यान्ति क्वापि विलीनता ।।

अर्थ :- कल्याण रूप कार्यों में महापुरुषों को भी अनेक विघ्न आना संभव है, परन्तु पापी पुरुषों के विघ्न कदाचित् विलीन भी हो जाते हैं । अस्तु हर क्षण सावधान रहना चाहिए ।

''पाप में प्रवृत्त पुरुष का स्वरूप''

अधर्मकर्मणि को नाम नोपाध्यायः पुरश्चारी वा ।।38॥

अन्वयार्थ : (अधर्मकर्मणि) पापरूप क्रियाओं में (को) कौन (नाम) नामधारी (उपाध्यायः) उपदेशक (वा) अथवा (पुरश्चारी) अगुआ (न) नहीं होता ?

पाप कार्यों में प्रवृत्त मनुष्यों को उपदेश देने वाला अथवा उनका अग्रेसर बनने वाला कौन नहीं बनता ? बहुत लोग हो जाते हैं ।

विशेषार्थ :- लोक में पाप कार्य में सहयोग देने वालों की कोई कमी नहीं । बिना पूछे ही नेता बन जाते हैं। दुष्कर्मियों की कमी नहीं है, बिना पैसे के नेता बनना कौन नहीं चाहेगा ? सभी चाहेंगे । वे नेतागिरी में अपनी तारीफ भी करते हैं और दूसरों को उस दुष्कृत्य में शामिल कर अपना मण्डल तैयार करते हैं । यहाँ कहने का अभिप्राय यह है कि सदाचारियों को ऐसे दुराचारियों से सावधान रहना चाहिए । आचार्य श्री गुणभद्र स्वामी ने कहा है -

''जनाः धनाश्च वाचाला सुलभा स्यु वृथोत्थिता'' व्यर्थ की गर्जना करने वाले घन-बादल और निरर्थक बकवास करने वाले पुरुष सुलभता से प्राप्त हो जाते हैं । रैभ्य ने भी कहा है -

सुलभा पाप रक्तस्य लोका: पापोपदेशका: ।
स्वयं कृत्वा च ये पापं तदर्थं प्रेरयन्ति च ।।

अर्थ :- पापियों को पाप का उपदेश देने वाले लोग बहुत हैं । ये पापी स्वयं भी कु-कर्म करते हैं और अन्यों को भी प्रेरित करते हैं । अत: आत्महितैषियों को इनसे सावधान रहना चाहिए । कुरल में दुर्जन-धूर्त का वर्णन किया है -

ऋषियों का जो वेशधर बनता कातरदास ।
सिंह खाल को ओढकर चरता है वह घास ।।

अर्थ :- जो कायर पुरुष तपस्वी के समान तेजस्वी आकृति बनाकर रखता है वह उस गधे के समान है जो शेर की खाल-चर्म ओढ कर घास चरता है । भूलकर भी दूसरे के सर्वनाश का विचार नहीं करना चाहिए क्योंकि न्याय उसके विनाश की युक्ति सोचता है जो दूसरे के साथ बुराई करना सोचता है । कहा है -

मत सोचो तुम भूल कर पर का नाश कदैव ।
कारण उसके नाश को सोचे न्याय सदैव ।।4।।

कुरल ।

अर्थात् न्याय, अन्याय को किस प्रकार सहन कर सकता है ? पापी दुर्जन का स्वरूप -

मुखं पद्मदलाकारं वाचा चन्दन शीतला
हृदयं कर्तरी तुल्यं त्रिविधं धूर्तलक्षणम् ।।23।।

अर्थ :- दुर्जनों का मुख कमलदल के समान मनोहर दिखाई देता है, वचन चन्दन के समान शीतल होते हैं परन्तु हृदय कैंची के सदृश भेदन-छेदन करने वाला होता है । ऐसे धूर्तों के मित्र धूर्त ही होंगे । पापियों के पीछे पाप ही घूमता है -

पाप फिरें पीछे लगे, छाया जैसे साथ
सर्वनाश के अन्त में, करते जीव अनाथ ।।

जिस प्रकार छाया मनुष्य को कभी नहीं छोड़ती, बल्कि जहाँ-जहाँ वह जाता है वहीं उसके पीछे लगी रहती है, बस ठीक इसी प्रकार पाप कर्म भी पापी के पीछे-पीछे जाते हैं और उसका सर्वनाश कर देते हैं । अत: कष्टों से बचना है तो पाप और पापियों से रक्षा करो । कहा भी है -

रक्षित वह है सर्वथा, विपदा उसकी अस्त
पाप हेतु छोड़े नहीं, जो नर मार्ग प्रशस्त ।।10।।

कुरल.

''पाप का निषेध करते हैं''

कण्ठगतैरपि प्राणै र्नाशुभं कर्म समाचरणीयं कुशलमतिभि: ।।39।।

अन्वयार्थ :- (प्राणै:) प्राणों के (कण्ठगतै:) प्राणोत्सर्जन का समय आने पर (अपि) भी (अशुभं) पापरूप

(कर्म) कार्यों को (कुशलमतिभिः) विवेकशील बुद्धिमानों को (न) नहीं (समाचरणीयम्) करना चाहिए ।

प्राणान्त काल आने पर भी श्रेष्ठ बुद्धि वालों को अनुचित कार्यों को नहीं करना चाहिए । स्वस्थ अवस्था की तो बात ही क्या है ?

विशेषार्थ :- भव्य जीवों को निरन्तर सदाचरण में प्रवृत्ति करना चाहिए । आचरण शुद्धि जीवन का सार है। सदाचार से कुलाचार का परिज्ञान होता है । कुलीनजन दुराचार या अत्याचार से दूर रहते हैं । विवेकी पुरुष स्वस्थावस्था की बात छोड़ दो मरण काल भी आ उपस्थित हो तो भी अन्याय पथ पर नहीं जाते । कितनी ही भयंङ्कर आपत्तियाँ आ जायें तो भी न्याय मार्ग से तनिक भी च्युत नहीं होते । यहाँ यही आचार्य श्री चेतावनी दे रहे हैं कि विपदापन्न होने पर भी सद्विवेक नहीं त्यागना चाहिए।

देवल विद्वान ने भी कहा है –

श्रीमद्भिर्नाशुभं कर्म प्राणत्यागेऽपि संस्थिते ।
इह लोके यतो निन्दा परलोकेऽधमा गतिः॥

अर्थ :- प्रज्ञा प्रधान मनीषियों को प्राणनाश का अवसर आने पर भी पाप कर्म नहीं करना चाहिए । क्योंकि उससे इस लोक में निन्दा और परलोक में अधम-नीचगति प्राप्त होती है । जो विपदाओं का सामना करता हैं विपत्तियाँ उससे भीत हो जाती हैं -

विपदा को विपदा नहीं, माने जब नर आप ।
विपदा में पड लौटतीं, विपदाएँ तब आप ।।3॥

करे विपद का सामना, भैंसा सम जी तोड़
तो उसकी सब आपदा, हटतीं आशा छोड़ ।।4॥

विपदा की सैना बड़ी, खड़ी सुसज्जित देख ।
नहीं तजै जो धैर्य को, डरें उसे वे देख ।।5॥

कुरल. का.

अर्थ :- जिस समय शूरवीर विपत्ति को विपत्ति नहीं मानता तो स्वयं विपदाएँ ही, विपत्ति में पड़कर भाग खड़ी होती हैं । जो भैंसा के समान जी जान लगाकर आपत्तियों का साहस से सामना करता है उसकी आपदाएँ निराश होकर भाग जाती हैं । अनेकों संकटों रूपी सेना को देखकर भी जो धैर्य नहीं तजता उस वीरभट को देखते ही वह सेना पराजित हो सर झुका देती है । अर्थात् आपत्तियों को ही परास्त होना पड़ता है । सारांश यह है कि संकटों में मुस्कुराना सीखो न कि रोना । अतएव सदाचार करो-

सदाचार सूचित करे, नर का उत्तम वंश
बनता नर दुष्कर्म से, अधम-श्रेणि का वंश ।।3॥

अर्थ :- सदाचार मनुष्य की उत्तमता का द्योतक है । दुष्कर्म नीच कुल का प्रतीक है। अतएव सदैव कठिन आपदाओं में भी सच्चरित्रता नहीं त्यागनी चाहिए ।

धूर्त स्वार्थवश धनाढ्यों को पापमार्ग में लगाते हैं

स्व व्यसन तर्पणाय धूर्तै र्दुरीहितवृत्तयः क्रियन्ते श्रीमन्तः ।।40।।

अन्वयार्थ :- (धूर्तैः) वंचकों द्वारा (स्व) अपने (व्यसन) स्वार्थ (तर्पणाय) सिद्ध करने के लिए (श्रीमन्तः) लक्ष्मी-पति (दुरीहितवृत्तयः) दुराचारी (क्रियन्ते) कर दिये जाते हैं ।

वंचक जन अपने दुर्व्यसनों की पूर्ति के लिए धनपतियों को भी कुमार्गरत कर देते हैं ।

विशेषार्थ :- धूर्तलोग अपने दुर्व्यसनों के सेवन करने में असमर्थ हो धनवानों को मित्र बना लेते हैं । चापलूसी करते हैं, फुसलाकर उन्हें भी खोटे मार्ग पर लगा देते हैं । उनसे रुपया-पैसा पाकर अपनी दुर्भावनाओं की पूर्ति करते हैं । दुर्जन पुरुष भयंकर विषधर होते हैं । नीतिकार कहते हैं -

तक्षकस्य विषं दन्ते, मक्षिकायाश्च मस्तके ।
वृश्चिकस्य विषं पुच्छे, सर्वाङ्गे दुर्जनस्य च ।।

अर्थात् - गरुड-भुजंग की दाढ में विष रहता है, मक्खियों के मस्तक पर जहर रहता है, बिच्छू की पूंछ में हलाहल होता है, परन्तु दुर्जन के तो सम्पूर्ण शरीरावयवों में भयंकर विष व्याप्त रहता है । अभिप्राय यह है कि ये घातक प्राणी तो निश्चित अंगों से विष छोड़ते हैं, परन्तु दुर्जन-धूर्त सर्वाङ्गों से विष उगलता है । अर्थात् मन, वचन काय सभी इसका विष सदृश धोखा देने वाला होता है ।

''दुष्ट संसर्ग का फल''

''खल संगेन किं नाम न भवत्यनिष्टम् ।।41।।'' पाठ भेद ''खल संसर्गः किं नाम न करोति ।।'' अर्थभेद कुछ नहीं है ।

अन्वयार्थ :- (खल संगेन) दुर्जन की संगति से (किं नाम) कौनसा (अनिष्टम्) अनिष्ट है जो (न) नहीं (भवति) होता है ।

दुर्जन की संगति सम्पूर्ण अनिष्टों की जननी है ।

विशेषार्थ :- वल्लभदेव ने कहा है -

असतां संग दोषेण साधवो यान्ति विक्रियाम् ।
दुर्योधन प्रसंगेन भीष्मो गोहरणे गतः ।।

अर्थ :- दुर्जन की संगति से सज्जन पुरुष भी पाप कर्मों में फंस जाते हैं । दुर्योधन की संगति से महात्मा भीष्म पितामह गायों के हरण करने में प्रवृत्त हुए । इसीलिए कहा है -

संगति कीजै साधु की हरै और की व्याधि ।
ओछी संगति नीच की आठों पहर उपाधि ।।

अर्थ :- सत्पुरुष का सहवास अन्य की विपदाओं को नष्ट कर देता है, परन्तु दुर्जन की संगति अहर्निश कष्टदायक होती है । दम्भी को अन्त में पछताना पड़ता है -

वाह्य प्रदर्शन के लिए दम्भी के सब काम ।
रोता पर वह अन्त में, सोच बुरे निज काम ।।5।।

कुरल

अर्थ :- पाखण्डीजन के सभी कार्य, वाह्य प्रदर्शन के होते हैं । अन्त समय में वह पश्चाताप की ज्वाला में सुलगता और रोता है । ऐसे विघातकों से दूर रहना चाहिए ।

करे प्रकट तो वाह्य में, हम में प्रीति अपार ।
पर भीतर कुछ भी नहीं, है अनिष्ट आसार ।।1।।

अर्थ :- जो व्यक्ति वाह्य में अपार प्रीति का प्रदर्शन करते हैं और अन्तरंग में अनिष्ट चिन्तन करते हैं वे अपकार के ही आधार हैं ।

पाँव पड़े जब स्वार्थ हो, स्वार्थ बिना अति दूर ।
मैत्री ऐसे धूर्त की, क्या होती गुणपूर ।।2।।

खल पुरुष अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए चरणों में नतमस्तक हो जाता है । स्वार्थ सिद्ध होने पर वह दूर भाग खड़ा होता है । ऐसे खलों से बचकर ही रहना चाहिए । अतः विवेकियों को कुसंगति से बचकर रहना चाहिए ।

''दुष्टों का स्वरूप''

अग्निरिव स्वाश्रयमेव दहन्ति दुर्जनाः ।।42।।

अन्वयार्थ :- (दुर्जनाः) दुर्जन पुरुष (अग्निः) आग के (इव) समान (स्वाश्रयम्) अपने आश्रयी को (एव) ही (दहन्ति) जलाते हैं ।।

आग लकड़ी से उत्पन्न होकर उसे ही भस्म कर देती है, उसी प्रकार दुष्टजन अपने ही पालक को दाव पाकर नष्ट कर देते हैं ।

विशेषार्थ :- दुर्जन मानव अपने आश्रय-कुटुम्ब को भी नष्ट कर देते हैं, अन्य जनों की तो बात ही क्या है ? जिस प्रकार अग्नि प्रथम उस लकड़ी को भस्म करती है जिससे वह उत्पन्न हुयी है पुनः अन्य ईंधन को जलाती है उसी प्रकार स्वार्थी-लालची, दुर्जन, धूर्त व्यक्ति प्रथम अपने भाई-बन्धु परिवार को बरबाद करता है, पुनः अन्य जनों का अपकार करते हैं । नीतिकार वल्लभ भी कहते हैं -

धूमः पयोधरपदं कथमप्यवाप्यै ।
षोऽम्बुभिः शमयति ज्वलनस्य तेजः ।।

दैवादवाप्य खलु नीच जनः प्रतिष्ठान् ।
प्रायः स्वयं बन्धुजनमेव तिरस्करोति ।।

अर्थ :- जिस प्रकार धूम अग्नि से उत्पन्न होता है और वह किसी प्रकार बादल बनकर जलवृष्टि कर उसी अग्नि

को बुझाता है, उसी प्रकार दुष्ट भी धन से अतिथि को प्रसन्न करके पुनः अपने बन्धुजनों को ही तिरस्कृत करता है । दुर्जन या मूर्खों के 5 चिन्ह हैं –

मूर्खस्य पञ्च चिन्हानि गर्वी दुर्वचनी तथा ।
हठी चाप्रियवादी च, परोक्तं नैव मन्यते ।।

अर्थात् मूर्ख या धूर्त पुरुष के पाँच चिन्ह हैं – 1. अहंकार 2. निंद्य-दुर्वचन, 3. दुराग्रह, 4. अप्रियवाद और 5. किसी का विश्वास नहीं करना । दुष्ट प्राणी कोरा अहंभाव लेकर स्व प्रशंसा और परनिन्दा करते हैं । सदैव दुर्वचनों का प्रयोग करते हैं । अपने आग्रह को छोड़ते नहीं है । कठोर, सावद्य, अप्रिय भाषण करते हैं । किसी का भी विश्वास नहीं करते । सन्देह के झूले में झूलते रहते हैं । कहावत् है –

पकडी को छोडे नहीं, मूर्ख गधा की पूंछ
शास्त्र रीति जाने नहीं, उलटी तानें मूंछ ।।

इस प्रकार के प्रतारकों से भव्यों को सदा सावधान रहना चाहिए । ये स्व और पर के घातक होते हैं।

पर स्त्री सेवन का फल

''वनगज इव तदात्वसुखलुब्धः को नाम भवत्यास्पदमापदाम् ? ।43॥

अन्वयार्थ :- (को नाम) कौन पुरुष (वनगज इव) जंगली हाथी के समान (तदात्वसुखलुब्धः) उरु-परनारी के सेवन से प्राप्त सुख का लोभी (आपदाम्) आपत्तियों का (आस्पदम्) स्थान (भवति) होता है? सभी होते हैं ।

परस्त्री सेवन के सुख का लोभी कौन पुरुष जंगली हाथी के समान खेदित नहीं होता ? होते ही हैं।

विशेषार्थ :- जिस प्रकार जंगली हाथी परनारी सेवन का लोलुपी नकली हथिनी पर आसक्त होकर गहरे गर्त में पडकर पीड़ित होता है और बध बन्धन सहता है । इसी प्रकार जो पुरुष परनारी पर लुब्ध होता है क्या वह कष्ट नहीं सहेगा? सहना ही पडेगा । भिखण्डाधिपति रावण भी इस लोक में निन्दा का पात्र बना और परलोक में नरककुण्ड दुर्गति में पड़ा। नीतिकार नारद ने भी कहा है –

करिणी स्पर्श सौख्येन प्रमत्ता वनहस्तिनः ।
बन्धमायान्ति तस्माच्च तदात्वं वर्जयेत् सुखम् ।।

अर्थ :- काम से मत्त जंगली गज हथिनी के स्पर्श सुख से बन्धन का कष्ट भोगते हैं, इसलिए नैतिक मनुष्य को परस्त्री का उपभोग सम्बन्धी सुख छोड़ देना चाहिए ।

परनारी के जाल में फंसकर चारुदत्त की क्या दशा हुयी, सर्वविदित है । रावण की दशा क्या कम खराब हुयी । आज तक उसका नाम भी कोई लेना नहीं चाहता । उसने परस्त्री सीता का हरण किया पर सेवन नहीं किया तो भी महा निन्दा का पात्र बना और दुर्गति को प्राप्त हुआ । अभी तक कोई भी अपने पुत्र का नाम भी 'रावण' नहीं रखता। अतः परस्त्री धर्म रूपी वृक्ष को कुठार समान है, यश रूपी बल्ली को विध्वंस करने वाली झंझा वायु के समान है । धन को चूसने वाली जोंक हैं। यों कहो, यह परमहिला, धन, यौवन, यश, सौन्दर्य, प्रतिष्ठा, धर्म का सर्वनाश करने वाली है । अतः इसका मन से भी चिन्तन नहीं करना चाहिए ।

धर्म के उल्लंघन का फल

धर्मातिक्रमाद्धनं परेऽनुभवन्ति, स्वयं तु परं पापस्य भाजनं सिंह इव सिन्धुरवधात् ।।44।।

अन्वयार्थ :- (धर्मातिक्रमाद्धनं) धर्म विहीन मनुष्य का अन्याय से संचित धन (परे) दूसरे (अनुभवन्ति) भोगते हैं (तु) निश्चय से (स्वयं) कमाने वाला तो (परं) 2 महान् (पापस्य भाजनम्) 3 पाप के भागी (सिंह) शेर (इव) समान है (सिन्धुरवधात्) हाथी के शिकार से।

सिंह हाथी का शिकार करता है उससे शृगालादि भोजन पाते हैं और हाथी को पाप सञ्चय होता है लाभ कुछ भी नहीं मिलता ।

अन्वयार्थ :- संसारी प्राणी स्वयं पापार्जन करता है मोहाविष्ट होकर घर कुटुम्ब को अपना मानता है उसके निमित्त धनादि कमाता है, वे आनन्द से उपभोग करते हैं और स्वयं पापों का भार ढोता है, पापों से लिप्त होता है और दुःख भोगता है । दुर्गति का पात्र बनता है । धर्म का विघात करने वाला अज्ञानी है -

कृत्वा धर्मविघातं विषय सुखान्यनुभवन्ति ये मोहात् ।
आच्छिद्य तरून् मूलात् फलानि गृह्णन्ति ते पापाः ।।24।।

आत्मा.शा.

अर्थात् जो अज्ञ जन विषयानुरक्त हो धर्म का परित्याग कर विषयों को भोगते हैं उनका यह कृत्य, मूल से वृक्ष को उखाड़ कर फलों को गृहण करने के समान हैं । इस प्रकार की क्रिया करने वाले पापी हैं । भावि फलों का विनाश कर घोर पाप बन्ध किया । स्वयं ने कितना भोगा ? कुछ भी नहीं । अन्य ही लोग खा गये । यह जीव पुण्य व पाप का स्वयं ही कर्ता है स्वयं ही भोक्ता है । सगे-साथी कोई बंटाने वाला नहीं है । नीतिकार विदुर ने कहा है -

एकाकी कुरुते पापं फलं भुङ्क्ते महाजनः ।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्ता दोषेण लिप्यते ।।

अर्थ :- यह जीव अकेला ही पाप करता है और समस्त परिवार भोग भोगते हैं, वे लोग तो छूट जाते हैं किन्तु कर्ता पाप-दोष लिप्त होकर कष्ट उठाता है । इसी लोक में देखा जाता है चोर परधन चुराता है सर्व कुटुम्ब मजा-मौज उड़ाता है। जिस समय तस्कर पकड़ा जाता है तो जेल में उसे अकेले ही जाना पड़ता है, मार खाता है कष्ट सहता है। क्या खाने वाले कोई उसके स्थान पर मार खायेगा ? बेड़ियों में बंधना चाहेगा ? कोई भी नहीं चाहेगा । फिर भला परलोक की तो बात ही क्या है ?

आचार्य कहते हैं -

आप अकेला अवतरै, मरै अकेला होय ।
यों कहूँ या जीव को, साथी सगा न कोय ।।

जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपना कोय ।
घर सम्पत्ति यह प्रकट है, पर है परजन लोय ।।

बारह भावना

अर्थात् जन्म, मरण, सुख, दु:ख सब अकेला जीव ही कर्त्ता और भोगता है । अत: पापकर्मों से बचने का प्रयास करना चाहिए और पुण्य कार्यों को सतत करते जाना चाहिए ।

"पापी की हानि"

बीज भोजिन: कुटुम्बिन इव नास्त्यधार्मिकस्यायत्यां किमपि शुभम् ।।45।।

अन्वयार्थ :- (बीजभोजिन:) बीज को खाने वाले (कुटुम्बिन:) किसान के (इव) समान (अधार्मिकस्य) पापियों-पापी के (आयत्याम) भावि आय में (किम्) कुछ (अपि) भी (शुभम्) पुण्य, कल्याण, (नास्ति) नहीं प्राप्त होता ।।

बीज सहित खेती को खाने वाले किसान को भविष्य में उत्तर काल में कुछ भी श्रेष्ठ फल प्राप्त नहीं हो सकता।

विशेषार्थ :- किसान खेती करता है । फसल पकती है । धान्य घर में आता है । यदि वह इस समस्त धान्य को आमूल-चूल खा जाये, तो उत्तर काल-भविष्य में क्या बोयेगा क्योंकि बीज के लिए तो धान्य रखा ही नहीं है । बीज के अभाव में शरदकाल या बसन्त ऋतु आने पर उसे सुख कहाँ मिल सकता है । नहीं मिलता । इसलिए कहा है -

पापासक्तस्य नो सौख्यं परलोके प्रजायते ।
बीजाशिहालिकस्येव वसन्ते शरदि स्थिते ।।

पापी जीव को पर लोक सुख प्राप्त नहीं होता । जिस प्रकार संसार में बीज सहित उपज का उपभोग करने वाले किसान को आगामी ऋतुओं में सुखानुभव नहीं होता ।

संसार में जीव के परिणाम ही पुण्य और पाप के हेतू होते हैं और तदनुसार सुख व दुख प्राप्त होता है । आचार्य कहते हैं -

परिणाममेव कारणमाहु: खलु पुण्य पापयो: प्राज्ञा: ।
तस्मात् पापापचय: पुण्योपचयश्च सुविधेय: ।।23।।

अर्थात् सुखार्थियों को श्रेष्ठ विधियुत पुण्य का सञ्चय करना चाहिए और पाप का नाश करना चाहिए । शुभ परिणाम बनाये रखने से शुभ-पुण्यार्जित होता है और अशुभ परिणामों से पाप संचित होता है । जिसे जो चाहिए वैसे परिणाम करो । जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है। "कारणानुविधायित्वं कार्यम्" यदि हेतू भूत सूत्र शुक्ल है तो वस्त्र भी शुक्ल ही बनेगा और कृष्ण धागा है तो वस्त्र भी कृष्ण ही तैयार होगा । अस्तु पाप का फल दु:ख ही होगा ।

पापी-अज्ञानी विषयान्ध हो जाता है, विवेकहीन कहा जाता हैं । कहते हैं -

अन्धादपि महानन्धो विषयान्धी कृतेक्षण:
चक्षुषान्धो न जानाति विषयान्धो न केनचित् ।।35।।

जन्मांध से भी अधिक महान् अन्धा विषय लोलुपी होता है । क्योंकि नेत्रविहीन तो कृत्याकृत्य देख नहीं पाता,

किन्तु विषयासक्त देखकर भी कुकर्म से नहीं बचता । नेत्रहीन गर्त में पड़े तो आश्चर्य नहीं किन्तु नेत्रसहित दीपक लेकर यदि गिर जाये तो आश्चर्य है । अतः मानवजन्म पाकर पाप कर्मों का परित्याग करना चाहिए ।।

धर्मपुरुषार्थ साधक का कथन

यः कामार्थावुपहत्य धर्ममेवोपास्ते स पक्वक्षेत्रं परित्यज्यारण्यं कृषति ।।46।।

अन्वयार्थ :- (यः) जो पुरुष (कामार्थौ) काम और अर्थ को (अपहत्य) त्याग कर (धर्मम्) धर्म को (एव) ही (उपास्ते) सेवन करता है (स) वह (पक्वंक्षेत्रं) पकी फसल को (परित्यज्य) छोड़कर (अरण्यं) वन प्रदेश को (कृषति) जोतता है ।

जिस प्रकार फसल पकने पर कोई उस क्षेत्र को छोडकर कंकरीली-वन भूमि को जोतने की चेष्टा करे तो उसे लाभविशेष नहीं होता उसी प्रकार गृहस्थ काम और अर्थ पुरुषार्थों को सर्वथा त्याग कर मात्र धर्मपुरुषार्थ सेवन करे तो कार्यकारी नहीं होता।

विशेषार्थ :- एकान्त मिथ्यात्व होता है । गृहस्थ धर्म पालक को अर्थ-धन सम्पत्ति भी अपेक्षित है । उसे न्यायोपात्त धन सञ्चय करना चाहिए और गार्हस्थ धर्म-चलाने तथा मुनिमार्ग चलाने के उद्देश्य से काम पुरुषार्थ सेवन करना भी अनिवार्य है । सागार धर्मामृत में पं. आशाधर जी ने विवाह का हेतू बताया है - "मुनीन् जनयितुं" अर्थात् साधु, साध्वी उत्पन्न करने को विवाह करना भी आवश्यक है । क्योंकि जिस प्रकार सुपक्व खेती को त्याग पहाड़ी भूमि का कर्षण करना विशेष लाभप्रद नहीं होता, उसी प्रकार काम-और अर्थ (जीविका) त्यागकर मात्र धर्म का सेवन करना गृहस्थ को उचित नहीं है। पक्व क्षेत्र के धान्य के समान गृहस्थी को धर्मरूप वृक्ष के फलों-काम और अर्थ का उपभोग करना चाहिए । क्योंकि गृहस्थ भी धर्म है । आचार्य कुन्दकुन्द देव ने कुरल में कहा है -

अनाथानां हि नाथोऽयं, निर्धनानां सहायकृत् ।
निराश्रितमृतानां च गृहस्थः परमः सखा ।।2।।

अर्थ :- गृहस्थ धर्म अनाथों का नाथ है, निर्धनों के लिए सहायक मित्र है, आश्रयविहीन और मृतकों का भी परम मित्र है। नीतिकार रैम्य ने भी कहा है-

कामार्थ सहितो धर्मो न क्लेशाय प्रजायते ।
तस्मात्ताभ्यां समेतस्तु कार्य एव सुखार्थिभिः ।।

अर्थ :- काम और अर्थ के साथ धर्म सेवन करने से मनुष्य को क्लेश नहीं होता । अतएव सुखाभिलाषियों को समानता से तीनों पुरुषार्थ सेवन करना उत्तम है । आचार्य श्री वादीभसिंह जी ने लिखा है कि-

परस्पराविरोधेन त्रिवर्गोयदि सेव्यते ।
अनर्गलमतः सौख्यमपवर्गोऽप्यनुक्रमात् ।।

अर्थ :- एक दूसरे का विरोध या घात न करते हुए यदि तीनों पुरुषार्थों का सेवन किया जाय तो निर्बाध स्वर्ग सुख प्राप्त होगा और अनुक्रम से अपवर्ग-मोक्ष पुरुषार्थ भी सिद्ध हो जायेगा ।

निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक क्षेत्र में नियंत्रण आवश्यक है । नियमित रूप से किया गया प्रत्येक कार्य शोभा पाता है, सीमानुसार एवं क्रमानुसार तीनों ही पुरुषार्थ सेवनीय हैं । नीतिज्ञ को मर्यादानुसार इनका उपभोग करना चाहिए ।

''बुद्धिमान का कर्त्तव्य''

स खलु सुधीर्योऽमुत्र सुखाविरोधेन सुखमनुभवति ।।47।।

अर्थ-अन्वयार्थ :- (यो) जो भव्य (अमुत्र) परलोक सम्बन्धी (सुखाविरोधेन) सुख का विरोध न कर (सुखम्) वर्तमान सुख (अनुभवति) अनुभव करता है (सः) वह (खलु) निश्चय से (सुधीः) बुद्धिमान (अस्ति) है ।

जो नीतिपूर्वक धर्म का रक्षण करते हुए वर्तमान उपलब्ध सुख भोगता है वही मतिमान है क्योंकि धर्म परभव में भी फलित रहेगा ।

विशेषार्थ :- सुख व दुख में प्रत्येक दशा में मतिमान को धर्म सेवन करना चाहिए । कहा भी है - श्री गुणभद्रस्वामी ने-

सुखितस्य दुःखितस्य च संसारे धर्म एव तव कार्यः ।
सुखितस्य तदभिवृद्धयै दुःखभुजस्तदुपघाताय ।।18।।

आ.नु.

अर्थ :- सुखी हो या दुखी सभी को धर्माचरण करना चाहिए । दुखियों को सुख प्राप्ति और दुःखनाश के लिए धर्म सेवना चाहिए और सुखी मानव को उसकी अभिवृद्धि के लिए करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए । विवेकी का कर्त्तव्य है निरन्तर आत्मकल्याणकारी क्रियाओं का सम्पादन करें । आचार्य श्री कहते हैं-

धर्मारामतरूणां फलानि सर्वेन्द्रियार्थ सौख्यानि ।
संरक्ष्य तांस्ततस्तान्युच्चिनु यैस्तैरुपायैस्त्वम् ।।19।।

अर्थ :- इन्द्रिय विषयों के सेवन से उत्पन्न होने वाले सब सुख इस धर्म रूप उद्यान में स्थित वृक्षों (क्षमा मार्दवादि) के ही फल हैं । इसलिए हे भव्यजीव ! तू जिन किन्हीं उपायों से उन धर्म रूप उद्यान के वृक्षों के भले उत्तम फलों की सम्यक् प्रकार से रक्षा करो और इन्द्रिय विषयजन्य सुखों रूपी फलों का संचय करो ।

सदाचार मानव की शोभा है । शील, संयम, सदाचार के परिकर हैं । कहा भी है -

आत्म शुद्धि के साथ में, जब हो सद् व्यवहार ।
सतीशील सम उच्चता, तब रक्षित विधिवार ।।4।।

कुरल

अर्थ :- रमणी के सतीत्व की भांति महत्त्व की रक्षा करना भी आत्मशुद्धिपूर्वक ही होती है । मनस्वी सदाचार पालन करते हैं ।

कुलीन पुरुषों को पंचपाप, सप्तव्यसन सेवन, रात्रिभोजन, अनछनाजल, कंदमूल भक्षण, परस्त्री सेवन आदि कुकर्मों का त्याग कर सतत् देवपूजा, पात्रदानादि उत्तम कार्य करने चाहिए । विद्वान वर्ग ने भी कहा है-

सेवनाद्यस्य धर्मस्य नरकं प्राप्यते ध्रुवं ।
धीमता तन्न कर्त्तव्यं कौलनास्तिक कीर्तितम् ।।

अर्थ :- बुद्धिमन्त पुरुष कौल और नास्तिकों द्वारा वर्णित धर्म (धर्माभास) यथा मद्यपान, मांसभक्षण, परस्त्री सेवन आदि में प्रवृत्ति नहीं करना चाहिए । क्योंकि यह धर्म नहीं अधर्म ही है और भयंकर नरकादि दुर्गतियों का कारण है ।

अभिप्राय यह है कि सुबुद्धजनों को सर्वज्ञप्रणीत समीचीन धर्म व कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिये । यही संसारातीत दशा प्राप्त कराने में समर्थ है । सच्चा धर्म ही सेवन करने योग्य है ।

अन्याय से सुख लेश हानि अधिक

इदमिह परमाश्चर्यं यदन्याय सुखलवादिहामुत्र चानवधिर्दुः खानुबन्धः ।।48।।

अन्वयार्थ :- (इह) इस लोक में (इदम्) यह (परमाश्चर्यम्) महान आश्चर्य है कि (सुखलवात्) थोड़े से सुख से (यत्) जो (अन्यायात्) अन्याय से हो तदर्थ (दुःखानुबन्धः) दुःख का सम्बन्ध (अनवधि) अपार हो (इहामुत्र) इसलोक और पर लोक में भी । इससे अधिक आश्चर्य क्या है ?

संसार में अन्याय से प्राप्त धन दौलत क्षणिक, अल्प सुख प्रदान करती है परन्तु उभयलोक में असीम दुःख दाता होती है । ऐसे अन्यायोपार्जित धन के पीछे लगना परमाश्चर्य है ।

विशेषार्थ :- अन्याय से प्राप्त धनराशि आने के क्षणों में क्षणिक आनन्द प्रदान करती है, परन्तु पापोदय आते ही वह अपार दुःखों का पर्वत डाह कर स्वयं कपूर सी उड जाती है । कहा भी है -

अन्यायेनोपार्जितं वित्तं दस वर्षाणि तिष्ठति ।
प्राप्तेषु एकादशे वर्षे समूलं हि विनश्यति ।।

अन्याय से कमाया धन अधिक प्रयत्न करने पर मात्र दस वर्ष टिक सकता है । ग्यारहवाँ साल आते ही समूल-पूर्णतः नष्ट हो जाता है । सत्पुरुष ऐसे नश्वर और वंचक धन का संचय कभी भी नहीं करें । कुमार्ग गामी का धन-वैभव मात्र दिखावा है । विद्युत की चमकवत् नष्ट हो जाने पर प्रभूत दुःखानुभूति कराता है । कौन विवेकी अन्याय कर, कठोर शारीरिक श्रम पर आपत्तियाँ खरीदेगा ? अपितु कोई नहीं । हमें यह कष्ट उठाना पड़ रहा है अनेकों को इसका भान भी नहीं होता, यही परमाश्चर्य है ।

जो लोग चोरी और छल-कपट द्वारा धन संचय करते हैं और किंचित मात्र सांसारिक क्षणिक, अल्प सुख भोगते हैं । उन्हें इसका भयंकर कटुफल, भयङ्कर दुःख भोगने पड़ते हैं । परन्तु अज्ञानी जन इधर दृष्टि ही नहीं डालते यही परमाश्चर्य है । विद्वान वशिष्ठ ने भी इसी बात का समर्थन किया है -

चित्रमेतद्धि मूर्खाणां यदन्यायार्जनात् सुखम् ।
अल्पं प्रान्तं विहीनं च दुःखं लोकद्वये भवेत् ।।

अर्थ :- मूर्ख अज्ञानियों को अन्याय-अत्याचार, अनाचार या दुराचारादि से उपार्जित धन राशि किञ्चितमात्र सुख उपजाती है यह भी शान्ति और यश विहीन होती है । परन्तु इससे प्रभूत पापार्जन होता है, फलतः ऐहिक और

पारलौकिक महाभयंकर दुःख भोगने पड़ते हैं । फिर भी मानव यही करता है यह परम आश्चर्य की बात है । सत्पुरुषों को अन्याय का त्याग कर न्याय से धनादि कमाने में प्रवृत्ति करना चाहिए । कहा है-

सुधीरर्थार्जने यत्नं कुर्यात् न्यायपरायणः ।
न्याय एवानपायोऽयमुपायः सम्पदां मतः ।।10॥

नी.श्लो.

अर्थ :- बुद्धिमान पुरुष न्याय में तत्पर रहता है, न्यायपूर्वक ही धनार्जन में प्रवृत्ति करे क्योंकि न्याय सर्व सम्पदाओं का निर्बाध उपाय माना गया है । कहते हैं जो कार्य लाभ कम करे और अहित अधिक करे उसे सत्पुरुष कभी नहीं करें -

धर्म बाधाकरं यच्च, यच्च स्यादयस्करः ।
भूरिलाभमपि ग्राह्यं पण्यं पुण्यार्थिभिर्न तत् ।।12॥

अर्थ :- जो धर्म में बाधा करने वाला हो, अथवा अकीर्तिकारक हो ऐसा व्यापार-सौदा अधिक लाभकारी होने पर भी पुण्यभिलाषियों को नहीं लेना चाहिए । अर्थात् धर्म विरुद्ध निषिद्ध व्यापार कभी नहीं करना चाहिए । अन्याय सर्व पापों की खान है इसे दूर ही से परित्याग कर देना चाहिए ।

"पूर्व कृत धर्माधर्म का अकाट्य युक्तियों से समर्थन"

सुखदुःखादिभिः प्राणिनामुत्कर्षापकर्षौ धर्माधर्मयोर्लिंगम् ।49॥

अन्वयार्थ :- (सुख दुःखादिभिः) सुख व दुखों के द्वारा (प्राणिनाम्) प्राणियों के (उत्कर्षापकर्षौ) उत्थान और पतन क्रमशः (धर्माधर्मयोः) धर्म-पुण्य, अधर्म-पाप के (लिङ्गम्) चिन्ह है ।

संसारी प्राणियों के सुख से उत्थान और दुःख से पतन देखा जाता है, इसका हेतू पूर्वकृत धर्म और अधर्म अर्थात् पुण्य और पाप हैं ।

विशेषार्थ :- संसारी प्राणियों की धन, सम्पत्ति, निरोगता, विद्वत्ता आदि से उन्नति और दारिद्र, मूर्खता, अविवेक आदि से अवनति देखी जाती है । सुख सामग्री पूर्व कृत धर्म-पुण्य और दुःख सामग्री पूर्वार्जित पाप-अधर्म का द्योतन करती है । ये ही पुण्य-पाप के चिन्ह हैं । संसार में नौ प्रकार का पुण्य माना जाता है । यथा -

अन्न पानं च वस्त्रं च स्वालयः शयनासनम् ।
शुश्रूषा वन्दनं तुष्टिः पुण्यं नवविधं स्मृतम् ।।21॥

नी. श्लो. सा. सं.

अर्थ :- 1. अन्न, 2. पान 3. वस्त्र 4. उत्तम भवन-आवास, 5. शयन-शैय्या 6. उत्तम आसन 7. सेवा-सेवकजन 8. वन्दन-स्तुति करने वाले, नतशिर होने वाले और 9. तुष्टि-सन्तोष यह नौ प्रकार का पुण्य माना गया है । उपर्युक्त वस्तुओं का समागम होने पर वह व्यक्ति पुण्यात्मा माना जाता है ।

संसार में सर्वत्र विषमता देखी जाती है - कोई राजा है, कोई रंक, किसी के पास खाने वाले हैं पर भोजन का ठिकाना नहीं, किसी के प्रभूत सामग्री पड़ी है परन्तु भोगने वाला नहीं - निःसन्तान है, कोई अहर्निश कमाता है किन्तु लाभ कुछ नहीं होता और कोई चुपचाप बैठा है तो भी लक्ष्मी दौड़ी आती है । ऐसा क्यों ? इसका एक मात्र उत्तर पूर्व कृत धर्म-अधर्म या पुण्य पाप है ।

एक शिविका में आरूढ है और दूसरे उसे उठाने वाले हैं यह भेद पुण्य और पाप के द्योतक चिन्ह हैं । दक्ष नामक विद्वान ने भी लिखा है -

धर्माधर्मौ कृतं पूर्वं प्राणिनां ज्ञायते स्फुटम् ।
विवृद्ध्या सुख दुःखस्य चिह्नमेतत् परं तयोः ।।1।।

अर्थ :- मानवों के सुख की वृद्धि उनके पूर्वजन्म में किये पुण्य कर्म-धर्म का, और दुःख की वृद्धि पूर्व जन्म के अर्जित पाप का फल समझना चाहिए । अतएव वर्तमान सुख-दुःख पूर्वार्जित पुण्य-पाप के चिह्न हैं । श्री समन्तभद्राचार्य भी कहते हैं-

कामादि प्रभवश्चित्रः कर्म बन्धानुरूपतः ।
तच्च कर्म स्वहेतुभ्यो जीवास्ते शुद्धयशुद्धितः ।।99।।

देवा. स्तो.

अर्थ :- संसारी प्राणियों का अनेक प्रकार की सुख-दुख रूप विचित्र सृष्टि देखी जाती है यथा-सेव्य, सेवक, मालिक-नौकर, सुबुद्ध-मूर्ख,सुन्दर-असुन्दर, धनी-गरीब, धर्मी-पापी, प्रिय-अप्रिय, आदि यह विषमता शुभाशुभ कर्मबंधन का परिणाम है । ये कर्म भी अपने हेतुओं से परिणमित हो जीव को शुद्ध-उच्चकुलीन, अशुद्ध नीचादि कुलों में उत्पन्न कराते हैं । जैसे कारण होते हैं वैसे ही कार्य होते हैं ।

शालि बीज से धान्य, चना से चना, गेहूँ से गेहूँ उपजते हैं, उसी प्रकार प्राणियों के पुण्य और पाप रूपी बीजों से तदनुरूप सुख-दुःख रूपी धान्य उपजते हैं, अर्थात् सुख दुख प्राप्त होते हैं । इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिए क्योंकि यह युक्ति और प्रमाण से सिद्ध है । कहीं भी किसी प्रकार की बाधा नहीं आती । यह स्पष्ट होता है कि पूर्वकृत कर्म जीव को सुख दुख प्रदान करते हैं यह निश्चय हो गया । अतः सुखेच्छुओं को पापकर्मों का त्याग कर सुकृत सेवन करना चाहिए । कहा है किसी कवि ने -

सुख-दुख दाता कोई न जगत में ।

पुण्य पाप का खेला रे ।।

पुण्य पाप जीव को सुखी और दुःखी बनाते हैं यह निःसन्देह सिद्ध है । जीव स्वयं आप अपने सुख-दुख का निर्माता है।

धर्माधिष्ठ-भाग्यशाली का माहात्म्य

किमपि हि तद्वस्तु नास्ति यत्र नैश्वर्यमदृष्टाधिष्ठातुः ।।50।।

अन्वयार्थ :- (हि) निश्चय से (किमपि) कुछ भी (तद्वस्तु) वैसी वस्तु (नास्ति) नहीं है (अदृष्टाधिष्ठातुः) पुण्याधिकारी (यत्र) जिस (ऐश्वर्यम्) वैभव को (न) नहीं (लभते) प्राप्त करता हो ।

निश्चय से संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे भाग्यशाली-पुण्यात्मा प्राप्त नहीं कर सकता हो ।

विशेषार्थ :- पुण्यात्मा भव्यजीव को धर्म के प्रभाव से सभी अभिलषित पदार्थ मिल जाते हैं । संसारी जीवों

को मुख्यत: गृह, वस्त्र और भोजन अभीप्सित होते हैं । धर्मात्मा इनसे वंचित नहीं रह सकते । भृगु नामक विद्वान ने लिखा है -

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितम् ।
सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति ।।

जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जित: ।
कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति ।।1।।

अर्थ :- जो अनाथ है, जिसकी रक्षा करने वाला कोई नहीं है उसकी रक्षा भाग्य दैव करता है । अर्थात् पूर्व जन्म कृत पुण्य रक्षक होता है । परन्तु जो पुण्यहीन है - आयु कर्म जिसका शेष नहीं है वह सुरक्षित रहने पर भी मरण को वरण करते ही हैं। अरक्षित प्रद्युम्न कुमार, जीवंधर आदि वन प्रदेश में एकाकी छोड़ दिये गये तो भी आयु कर्म प्रबल होने से और अनुकूल दैव रहने से सुरक्षित रहे, मरण ही भीत हो भाग गया । भाग्य प्रतिकूल होने पर हजारों उपायों द्वारा भी जीवित नहीं रहता । शास्त्रकारों ने लिखा है -

भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानम् ।
सर्वोजन: सुजनतामुपयाति तस्य ।।

कृत्स्ना च भूर्भवति सन्निधि रत्नपूर्णा ।
यस्यास्ति पूर्व सुकृतं विपुलं नरस्य ।।1।।

अर्थ :- जिस मनुष्य के पूर्वजन्म में किये हुए प्रचुर पुण्योदय चल रहा है उसके लिए भयंकर वन भी सुसज्जित नगर हो जाता है । सभी मित्र बनकर सज्जनता का व्यवहार करते हैं । सर्वत्र उसे भूप्रदेश निधियों और रत्नों से परिपूर्ण मिलते हैं। संसार में दुर्लभ वस्तुओं का वर्णन करते हुए विभिन्न पद्यों में निम्न प्रकार कहा है -

मानुष्यं वरवंश जन्म विभवो दीर्घायुरारोग्यता ।
सन्मित्रं सुसुतं सतीप्रियतमा भक्तिश्च तीर्थङ्करे ।।

विद्वत्तं सुजनत्वमिन्द्रियजय: सत्पात्रदानेरति: ।
एते पुण्य बिना त्रयोदशगुणा: संसारिणां दुर्लभा: ।।2।।

अर्थ :- संसार में 13 बातों का मिलना अति दुर्लभ है - 1. मनुष्य पर्याय 2. उच्चवंश, 3. ऐश्वर्य 4. दीर्घायु 5. निरोगी शरीर 6. सन्मित्र 7. सुयोग्य पुत्र 8. पतिव्रता पत्नी 9. तीर्थङ्करों में भक्ति 10. विद्वत्ता 11. सज्जनता 12. जितेन्द्रियता और 13. सत्पात्रदानभाव । ये सातिशय-पुण्यानुबन्धी पुण्य अर्जन करने वाले को ही प्राप्त होती हैं । पुण्यहीन को कदाऽपि नहीं मिल सकती।

धर्म सकल इष्ट पदार्थों का प्रदाता है । कहा भी है -

धर्मोऽयं धनवल्लभेषु धनद: कामार्थिनां कामद: ।
सौभाग्यार्थिषु तत्प्रद: किमपर: पुत्रार्थिनां पुत्रद: ।।

राज्यार्थिष्वपि राज्यदः किमधिका नाना प्रियकर्त्यैर्नृणाम् ।
तत्किं यन्न करोति किं च कुरुते स्वर्गापवर्गावपि ।।3।।

संग्रहीत.

अर्थ :- यह धर्म धनार्थियों को धन, इच्छित वस्तु जो चाहता है उसे वही देता है । सौभाग्य के अभिलाषियों को सौभाग्य, पुत्रेच्छुओं को पुत्र, राज्य चाहने वालों को राज्य, अधिक क्या कहें जो जो प्राणी चाहता है वह वह सब देता है, स्वर्ग और मोक्ष भी देता है फिर अन्य क्या ? जिन धर्म का प्रभाव अचिन्त्य है-

जैनो धर्मः प्रकटविभवः संगतिः साधुलोके ।
विद्वद्गोष्ठी वचन पटुता कौशलं सत्क्रियासु ।।

साध्वी लक्ष्मी चरणकमलोपासना सद्गुरुणाम् ।
शुद्धं शीलं मति विमलता प्राप्यते भाग्यवद्भिः ।।

अर्थ :- जैन धर्म धनादि ऐश्वर्य, सत्पुरुषों की सङ्गति, विद्वद्गोष्ठी, वक्तृत्वकला, प्रशस्त कार्य पटुता, रति समान सुन्दर नारी, गुरु चरणों की उपासना, शुद्धशील और निर्मलबुद्धि ये सर्व सामग्री भाग्यशाली पुरुषों को प्राप्त होती हैं ।

श्री भगवज्जिनसेनाचार्य ने भी कहा है-

धर्मप्रपाति दुखेभ्यो धर्मः शर्म तनोत्ययं ।
धर्मो नैश्रेयसं सौख्यं दत्ते कर्म क्षयोद्भवम् ।।1।।

धर्मादेव सुरेन्द्रत्वं नरेन्द्रत्वं गणेन्द्रता ।
धर्मात्तीर्थकरत्वं च परमानन्त्यमेव च ।।2।।

धर्मो बन्धुश्च मित्रं च धर्मोऽयं गुरुरंगिना ।
तस्माद्धर्मे मति धत्स्व स्वर्मोक्ष सुखदायिनि ।।3।।

धर्मात्सुखमधर्माच्च दुःखमित्य विगानतः ।
धर्मैक परतां धत्ते बुद्धोऽनर्थ जिहासया।।4।।

आदिपुराण पर्व 10 ।

अर्थ :- यह धर्म आत्मा को समस्त दुःखों से छुड़ाकर ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाले मोक्ष सुख को उत्पन्न करता है । इसके प्रभाव से प्राणी देवेन्द्र, चक्रवर्ती, गणधर, तीर्थङ्कर के ऐश्वर्य को प्राप्तकर पुनः अमृतपद-मोक्षपद को प्राप्त करता है । धर्म ही वस्तुतः सच्चा बन्धु है, मित्र और गुरु है । अतएव प्रत्येक प्राणी को स्वर्ग और मोक्ष प्रदान करने वाले शुभ समीचीन धर्मानुष्ठानों में अपनी बुद्धि को प्रेरित करना चाहिए ।।3।।

धर्म से सुख और अधर्म से दुःख प्राप्त होता है । इसलिए भव्य, विद्वान पुरुष दुःखों से निर्वृत्ति हेतू धर्म में प्रवृत्ति करते हैं । धर्म क्या है ? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं -

धर्मः प्राणिदया सत्यं क्षान्तिः शौचं वितृप्तता ।
ज्ञान वैराग्य सम्पत्तिरधर्मस्तद्विपर्ययः ।।1।।

आदि पु. प. 10 ।।

अर्थ :- जीव दया, सत्य, क्षमा, शौच, सन्तोष, सम्यग्ज्ञान और वैराग्य ये धर्म हैं इनके विपरीत - हिंसा, असत्य, कोप (क्रोध), लोभ, मूर्च्छा (परिग्रह) मिथ्याबुद्धि, मिथ्याज्ञान, मिथ्यातप ये अधर्म हैं ।।1॥

जिस प्रकार वर्षाकाल आने पर कुत्ते का विष (पागलकुत्ते का) दु:ख देता है, उसी प्रकार पाप भी समय आने पर जीव को नरकादि दुर्गतियों में धकेल कर पीड़ा देता है । भयानक यातनाएँ देता है ।

धर्म से अथाह सागर स्थल, अग्नि शीतल, स्थल जल रूप होकर सुखद हो जाते हैं । विष भी अमृत बन जाता है । आपत्तिकाल में एक मात्र धर्म ही जीव की रक्षा करता है । दरिद्रों को अपार धन देता है । इसलिए तीर्थंकर प्रणीत धर्म सेवन करना चाहिए ।

जिस प्रकार अपथ्य सेवन से रोग वृद्धिंगत होकर भयंकर पीड़ा देता है, जीवन असाध्य हो जाता है उसी प्रकार अधर्म भी शारीरिक, मानसिक और भौतिकादि अनेक यातनाओं को देता है । इसलिए अधर्म तज धर्म में बुद्धि लगाना चाहिए ।

जिनभक्ति, जिन वाणी स्तुति, जिन गुरु सेवा, जिन पूजा ये प्रथम धर्म या पुण्य हैं । लोभ कषाय त्याग सत्पात्र दान देना द्वितीय धर्म है । अहिंसादि पञ्चाणुव्रतों का धारण करना, इच्छा निरोध रूप तप करना भी धर्म है । धर्म ही सुख शान्ति और अमरत्व प्रदान करता है । पूज्यपाद स्वामी ने कहा है -

धर्म: सर्व सुखाकरो हितकरो, धर्म बुद्धिधाश्चिन्वते ।
धर्मेणैव समाप्यते शिव सुखं, धर्माय तस्मै नम:

धर्मान्नास्त्यपर:सुहृद् भवभृतां धर्मस्य मूलं दया
धर्मेचित्तमहं दधे प्रतिदिनं हे धर्म ! मां पालय ।। वी.भ.

धर्म सुख का सागर है, हित करने वाला है, बुद्धिमानों को इस धर्म का निरन्तर सञ्चय करना चाहिए । धर्म से ही मोक्ष सुख प्राप्त होता है अत: उस धर्म को बारम्बार नमन है । धर्म के सिवाय अन्य कोई श्रेष्ठ मित्र नहीं है । संसारी प्राणियों का कल्याण करना धर्म ही है । धर्म का मूल दया है । आचार्य कहते हैं ऐसे धर्म को मैं सतत् चित्त में धारण करता हूँ हे मंगलमय धर्म ! तुम मेरी रक्षा करो, मेरा पालन करो ।

पापों से पराङ् मुख हो उपर्युक्त लक्षण रूप धर्म में मति प्रवृत्त करना चाहिए ।

''इति धर्म समुद्देश समाप्त''

श्री प. पूज्य विश्ववंद्य, चारित्र चक्रवर्ती मुनिकुञ्जर सम्राट महान्तपस्वी, वीतरागी, दिगम्बराचार्य श्री आदिसागर जी अंकलीकर के पट्टाधीश आचार्य शिरोमणि श्री महावीर कीर्ति जी, महाराज संघस्था, श्री प. पू. कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य श्री विमल सागर जी की शिष्या, ज्ञानचिन्तामणि, सिद्धान्त विशारदा प्रथम गणिनी आर्यिका विजयमती जी द्वारा विजयोदय हिन्दी टीका का प्रथम परिच्छेद प. पूज्य सिद्धान्त चक्रवर्ती अंकलीकर के तृतीय पट्टाधीश श्री आचार्य सन्मति सा[illegible] जी महाराज के चरण सानिध्य में सम्पूर्ण हुआ ।।

2

अर्थसमुद्देशः

अर्थ-धन का लक्षण करते हैं

यतः सर्व प्रयोजन सिद्धिः सोऽर्थः ॥1॥

अन्वयार्थ :- (यतः) जिससे (सर्व) समस्त-उभयलोक सम्बन्धी (प्रयोजन) कार्यों की (सिद्धिः) निष्पत्ति हो (सः) वह (अर्थः) अर्थ या धन है ।

इस लोक और परलोक की सिद्धि का साधक अर्थ या धन कहा जाता है ।

विशेषार्थ :- जीवन के दो पहलू हैं - 1. भोग और 2. योग । भोग इस लोक सम्बन्धी क्रियाएँ हैं और योग पारलौकिक जीवन की साधक क्रिया । इन दोनों की सिद्धि जिसके द्वारा हो वह यथार्थ धन है - अर्थ है ।

न्याय से उपार्जित, उदार मानव धन का दान-पूजादि द्वारा सफल प्रयोग करता है, यही वास्तविक सम्पत्ति है। कृपण अपने धन को भूमि में छुपाकर रखता है, न स्वयं भोगता है और न अन्य को भोगने देता है यह यथार्थ धन नहीं है ।

भगवान ऋषभ देव ने सर्वप्रथम धनोपार्जन - जीविकोपार्जन का उपाय समझाया क्योंकि जीवन के साथ धनादि हैं । कहा है-

।। प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ।।
असिर्मषिः कृषि विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव वा ।
कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजा जीवन हेतवे ।।

आदि पु.

कर्म भूमि के प्रारम्भ में कल्पवृक्ष नष्ट प्राय हो गये । प्रजा क्षुधा तृषा से पीड़ित हो गई । उस समय श्री वृषभ तीर्थङ्कर भगवान ने सर्वप्रथम प्रजा को असि, मसि, कृषि, शिल्प, कला, विद्यादि जीवनोपाय का उपदेश दिया । जीवन सर्व से दुर्लभ है । इसका रक्षक ही धन हो सकता है अन्य नहीं । यथा वल्लभ देव ने भी कहा है -

गृहमध्यनिखातेन धनेन धनिनो यदि ।
भवामः किं तेनैव धनेन धनिनो वयम् ।।

अर्थ :- यदि गृह के मध्य में गाढे हुए धन से कृपणों को धनिक कहा जाता है तो उनके उसी धन से हम लोग (निर्धन) धनिक क्यों नहीं हो सकते ? अवश्य हो सकते हैं ।

यन्न धर्मस्य कृते प्रयुज्यते यन्न कामस्य च भूमिमध्यगम् ।
तत् कदर्य परिरक्षितं धनं चौर पार्थिव गृहेषु भुज्यते ।।

अर्थ :- वसुन्धरा के उदर में प्रक्षिप्त धन कृपणों द्वारा रक्षित किया जाता है, वह न तो धार्मिक सत्कार्यों-दान पूजादि में उपयुक्त होता है और न भोगोपभोग के ही काम आता है । अन्त में उसे तस्कर या राजा ही खा जाते हैं । मनुष्य के ऐहिक और पारलौकिक जीवन में धन बहुत महत्त्वपूर्ण साधन है । विवेकी-उदार मनुष्य इससे दान पूजादि सुकृत कर उभयलोक के सुखोपभोग प्राप्त करते हैं ।

परन्तु दरिद्री धनाभाव में प्राणरक्षा ही नहीं कर पाता फिर स्वर्गादि विभूति कहाँ ? जिस प्रकार पर्वत से नदियाँ उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार धन से धर्म उत्पन्न होता है । धनहीन पुष्ट होने पर भी बलहीन और धनाढ्य कृशकाय होने पर भी बलिष्ट समझा जाता है । धन की महिमा अपार है -

पूज्यते यदपूज्योऽपि यदगम्योऽपि गम्यते ।
वन्द्यते यदवन्द्योऽपि स प्रभावो धनस्य हि ।।1।।

वयोवृद्धास्तपोवृद्धा ये च सन्ति बहुश्रुताः ।
सर्वे ते धनवृद्धानां द्वारे तिष्ठन्ति किङ्करा: ।।2।।

अर्थ :- धन के निमित्त से अपूज्य भी पूजा प्राप्त कर लेता है, अगम्य के भी पास पहुँच जाता है और अवन्दनीय भी वन्दनीय मान लिया जाता है । यह धन का प्रभाव है ।

जो वयोवृद्ध हैं, तपोवृद्ध हैं और श्रुतवृद्ध हैं, वे सभी धनवृद्धों के द्वार पर किङ्कर समान उपस्थित होते हैं। संसार में ऐसा कोई कार्य नहीं जो धन से सिद्ध नहीं होता हो । इसलिए बुद्धिमान-विवेकियों को यत्नपूर्वक एक धन का अर्जन करना चाहिए । संसार में धन के आश्रय से सर्वगुण आ जाते हैं -

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः ।
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः ।।

स एव दाता स च दर्शनीयः ।
सर्वेगुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ।।4।।

नी. श्लो. सं.

अर्थ :- जिसके पास धन है वह नर कुलीन है, वही पण्डित है, वही श्रुतज्ञ एवं गुणी माना जाता है । उसे

ही दानी और दर्शनीय-भव्य-देखने योग्य माना जाता है क्योंकि सर्व ही गुण सुवर्ण का आश्रय लेते हैं । नीतिकार कामन्द का कथन ध्यान देने योग्य है -

"राजाओं को धर्म, धन और प्रजा के भरण-पोषण रक्षण के लिए अपने खजाने को भरपूर रखना चाहिए । " प्रामाणिक अर्थशास्त्रियों द्वारा अपने धन की वृद्धि का उपाय करना चाहिए । जिस प्रकार देवताओं के द्वारा अमृत पिये जाने पर चन्द्रमा शोभायमान होता है उसी प्रकार वह राजा भी जिसने अपना खजाना प्रजा की रक्षार्थ खाली कर दिया शोभायमान होता है । न्याय से उपार्जित धन ही धर्मादि कार्यों में व्यय होता है और उभयलोक की सिद्धि होती है । अत: मनीषियों को न्यायपूर्वक अर्थ सञ्चय करना चाहिए । कहा भी है-

न्यायेनोपार्ज्यते यच्च तदल्पमपि भूरिशः ।
विन्दुशोऽप्यमृतं साधु क्षाराब्धेर्वारिसंचयात् ।।

अर्थात् न्याय से उपार्जित थोड़ा भी धन बहुत माना जाता है । क्योंकि लवण समुद्र के जल की अपेक्षा अमृत एक बिन्दु भी श्रेष्ठ है । धन न्यायपूर्वक कमाना चाहिए ।

एक मात्र धन सम्पत्ति ही धन नहीं है अपितु मनुष्य के विशिष्ट-विशिष्ट गुण भी धन हैं और जीवन में यत्र-तत्र सिद्धि प्रदान कराते हैं यथा -

विदेशेषु धनं विद्या व्यसनेषु धनं मतिः ।
परलोके धनं धर्मः शीलं सर्वत्र वै धनम् ।।14।।

नी.श्लो.

अर्थात् विदेशों में विद्या धन है, संकटों में बुद्धि धन है, परलोक में धर्म धन है और शील निश्चय से सर्वत्र धन है।।14॥ सारांश यह है कि शीलाचार, सदाचारपूर्वक ही शुद्धधन उपार्जन कर जीवनयापन करना चाहिए ।

धनाढ्य होने का उपाय

"सोऽर्थस्य भाजनं योऽर्थानुबन्धेनार्थमनुभवति ।।2।।"

अन्वयार्थ :- (सः) वह (अर्थस्य) धन का (भाजनम्) पात्र है (यः) जो (अर्थानुबन्धेन) अर्थोपार्जन के साधनों के द्वारा (अर्थम्) धन को (अनुभवति) भोग में अनुभव करते हैं ।

जो अर्थशास्त्र की पद्धति के अनुसार व्यापारादि कर धनोपार्जन, रक्षण और व्यय करते हैं वे ही धनाढ्य होते हैं ।

विशेषार्थ :- अर्थशास्त्र धन का विश्लेषण करता है । अर्थ का सञ्चय करना, संचित की वृद्धि करना, उपलब्ध का विनिमय करना आदि का परिज्ञाता धन का अर्जन, रक्षण और खर्च विधिवत् करता है और धनपति बन जाता है। विद्वान वर्ग ने इसी अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए लिखा है -

अर्थानुबन्धमार्गेण योऽर्थं संसेवते सदा ।
स तेन मुच्यते नैव कदाचिदिति निश्चयः ।।

अर्थ :- निश्चय से वह व्यक्ति कभी भी निर्धन नहीं होता जो सदैव अविद्यमान धन की प्राप्ति, प्राप्त धन की रक्षा, रक्षित धन की वृद्धि में प्रयत्नशील होकर भोगोपभोग करता है ।

सत्यप्रयत्न सम्यगुद्योग से लक्ष्मी लाभ सुलभता से होता है । नीतिकार कहते हैं -

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी,
दैवं प्रधानमिति का पुरुषा वदन्ति ।
दैवं निरस्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ।।7 ।।

नी.श्लो.सं.

अर्थ :- लक्ष्मी, उद्योग करने वाले श्रेष्ठ पुरुष को प्राप्त होती है । दैव (भाग्य) प्रधान है ऐसा कायर पुरुष कहते हैं । अतः दैव को छोड़कर अपनी शक्ति से पुरुषार्थ करो, यत्न करने पर यदि कार्य सिद्ध नहीं होता है तो इसमें क्या दोष है ? अथवा ऐसा विचार करे कि हमारे पुरुषार्थ में कोई दोष रह गया होगा, जिससे कार्य सिद्ध नहीं हुआ । न्यायी के पास सम्पत्ति प्रेमपूर्वक स्वयं प्राप्त होती है -

सुधीरर्थार्जने यत्नं कुर्यात् न्याय परायणः
न्याय एवानपायोऽयमुपायः सम्पदां मतः ।। 10।।

बुद्धिमान पुरुष न्याय में तत्पर रहता हुआ धनोपार्जन करने का प्रयत्न करे क्योंकि यह न्याय ही सम्पदाओं का निर्बाध उपाय है । नीतिज्ञों का कथन है -

''लक्ष्मी यदा समायाति नारिकेलि फलाम्बुत्'' जिस प्रकार श्रीफल में सात परतों के अन्दर पानी आ जाता है उसी प्रकार न्यायपूर्वक उद्योग करने वाले पुण्यात्मा के आंगन में लक्ष्मी क्रीड़ा करने आ जाती है । अतः आलस्य त्यागकर सत्पुरुषों को धनार्जन करना चाहिए ।

अर्थानुबन्ध का लक्षण

अलब्ध लाभो लब्ध परिरक्षणं रक्षित परिवर्द्धनं चार्थानुबन्धः ।।3 ।।

अन्वयार्थ :- (अलब्ध) अप्राप्त का (लाभः) प्राप्त करना (लब्ध) प्राप्त का (परिरक्षणं) रक्षण करना (च) और (रक्षित) रक्षा किये गये का (परिवर्द्धनम्) वर्द्धन करना (अर्थानुबन्धः) इसे अर्थानुबन्ध कहते हैं ।

यथायोग्य विधि क्रम से धन कमाना, कमाये गये का रक्षण, रक्षित का वर्द्धन करना ही अर्थानुबन्ध कहा जाता है ।

विशेषार्थ :- व्यापार व राज्यशासन आदि में साम, दाम, भेद, दण्ड से अविद्यमान धन का कमाना, प्राप्त किए हुए धन की रक्षा करना, चोर, डाकू आदि से बचाना, अथवा पात्र दानादि देकर उसे स्थायी बनाना, यथायोग्य परिवार के पालन-पोषण में खर्च करना, व्यर्थ कार्यों में बरबाद नहीं करना, आय के अनुसार व्यय करना आदि । इसी प्रकार

रक्षित सम्पत्ति की ब्याजादि द्वारा वृद्धि करना यह अर्थानुबन्ध माना गया है । इस प्रकार की क्रिया से मनुष्य उत्तरकाल में सुखी रहता है ।

अविद्यमान धन को पाने के सम्बन्ध में नीतिकार हारीत का कहना है कि -

असाध्यं नास्ति लोकेऽत्र यस्यार्थं साधनं परम् ।
सामादिभिरुपायैश्च तस्मादर्थमुपार्जयेत् ।।

अर्थ :- जिसके पास उत्तम साधन स्वरूप धन है उसे लोक में कुछ भी असाध्य नहीं रहता । इसलिए साम, दाम, भेद और दण्डादि उपायों से संयमपूर्वक धनार्जन करना चाहिए । प्राप्त धन की रक्षा के विषय में व्यास जी का कथन मान्य है-

यथामिषं जले मत्स्यै र्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि ।
आकाशे पक्षिभिश्चैव तथाऽर्थोऽपि च मानवैः ।।

अर्थ :- जिस प्रकार जल में क्षिप्त मांस खण्ड मछलियों द्वारा, भूमि पर पड़ा सिंहादि द्वारा आकाश में पक्षिगों द्वारा खा लिया जाता है उसी प्रकार संचित धन भी चोरादि मनुष्यों द्वारा हरण कर लिया जाता है । इसलिए उसकी रक्षा करनी चाहिए। धनवृद्धि के विषय में विद्वान वर्ग के विचार प्रशंसनीय हैं -

वृद्धे तु परिदातव्यः सदार्थो धनिकेनच
ततः स वृद्धिमायाति तं बिना क्षयमेव च ।।

अर्थ :- धनवान को उसकी वृद्धि के लिए सदा ब्याज पर लगाये रहना चाहिए । इससे वह बढता रहेगा अन्यथा क्षय हो जायेगा ।

गृहस्थाश्रम में सम्पत्ति आवश्यक है, सुखी और शान्त जीवन के साथ धर्म, यश और सदाचार की प्राप्ति उचित धन से ही संभव है ।

संचित धन के नाश का कारण

तीर्थमर्थेनासंभावयन् मधुच्छत्रमिव सर्वात्मना विनश्यति ।।4।।

अन्वयार्थ :- (यः) जो व्यक्ति (अर्थेन) धन के द्वारा (तीर्थम्) तीर्थ-पात्रों को (असंभावयन्) संतुष्ट नहीं करता हुआ रहता है (तस्य) उसका धन (मधुच्छत्रम्) मधुमक्खी के छत्ता के (इव) समान (सर्वात्मना) पूर्णरूप से (विनश्यति) नष्ट हो जाता है ।

यदि धन का उपयोग धर्म कार्यों में नहीं किया जाता तो वह मधुछत्ता के समान जड़मूल से विनष्ट हो जाता है । अतः पुण्य कार्यों का सम्पादन करना चाहिए ।

विशेषार्थ :- पूर्व पर्याय में शुभ कर्म किये किन्तु मानादि कषायों से सहित होने से पापानुबन्धी पुण्य सञ्चित हुआ । इस पर्याय में उस पुण्यराशि ने धन तो उपस्थित कर दिया, परन्तु उस अशुभ डंक ने उसे टिकने नहीं दिया । अर्थात् दान, पूजा, तीर्थवन्दना, चैत्यनिर्माण, चैत्यालय निर्माण, शास्त्र प्रकाशनादि कार्यों में व्यय करने की सुबुद्धि जाग्रत

नहीं हुई । फलतः लोकोक्ति के अनुसार-धन की तीन गति हैं 1. दान 2. भोग और 3. नाश । सप्त क्षेत्रों में सम्पत्ति का विनियोजन किया तो वह स्थायी हो जाती है, विषय-भोगों में व्यय किया तो क्षणिक इन्द्रिय सुख व लघु सम्मान मिल सकता है और यदि इन दोनों कार्यों को नहीं किया तो अन्तिमगति नाश तो अनिवार्य है ही । इसे कोई नहीं रोक सकता । पुण्य लक्ष्मी के पगों की बेड़ी है, दौलत पुण्य की चेरी हैं । कहा भी है -

न दत्ते नाऽपि भुङ्क्ते यो लोभोपहतमानसः ।
जातु चेत् कोद्यधीशोऽपि वस्तुतः सोऽस्ति निर्धनः ।।5।।

कुरल ।।

अर्थ :-

नहीं किसी को देवे दान और न भोगे आप निधान ।
सचमुच वह है रंक खबीस, चाहे होवे कोटि अधीश ।।5।।

कु.

जो पुरुष सत्पात्रों या दरिद्रों को दान नहीं देते, दुःख निवारण नहीं करते, और स्वयं भी उसका भोग नहीं करते वे निश्चय ही करोड़पति होकर भी रंक ही हैं । उनका धन व्यर्थ है । वर्ग नामक विद्वान का कथन है कि -

यो न यच्छति पात्रेभ्यः स्वधनं कृपणो जनः ।
ते नैव सह भूपालैश्चौराद्यै र्वा स हन्यते ।।

अर्थात् जो व्यक्ति कृपणता से अपने धन को सत्पात्रदान में वितरण नहीं करता, वह कंजूस उस धन के साथ चोरों अथवा राजाओं द्वारा मारा जाता है । धनिकों को लोभ का परिहार करना चाहिए । लोभ परिहार से शौचगुण प्रकट होता है जिससे आत्मा पवित्र होती है । संतोष आता है- कहा है "सन्तोषी गुण रतन भण्डारी" सन्तोष के साथ अनेकों आत्मीय गुण प्रकट हो जाते हैं और जीव को सुख शान्ति का साधन धन भी टिकाऊ हो जाता है ।

तीर्थ-पात्र का लक्षण

"धर्म समवायिनः कार्य समवायिनश्च पुरुषास्तीर्थम्" ।।5।।

अन्वयार्थ :- (धर्म समवायिनः) धर्म कार्यों के सहायक (च) और (कार्यसमवायिनः) व्यावहारिक क्रियाओं में सहयोगी (पुरुषाः) मनुष्य (तीर्थम्) तीर्थ हैं ।

पारलौकिक और इसलोक सम्बन्धी कार्यों से निमित्त भूत सत्पुरुष ही तीर्थ स्वरूप हैं।

विशेषार्थ :- धार्मिक कार्यों में सहायक-त्यागी, व्रती, साधु, विद्वान, नैतिक पुरुष हैं और व्यवहार में सेवक जनादि हैं । इनमें यथायोग्य विभाग कर धन का उपयोग करने से लक्ष्मी बढती है । इसलिए ये ही जीवन्त असली तीर्थ हैं । जो व्यक्ति इन दोनों प्रकार के तीर्थों की उपेक्षा अवहेलना करते हैं वे निर्धन हो जाते हैं, उनका धन नष्ट हो जाता है । कहा भी है -

"निज हाथ दीजै साथ लीजै खाया खोया बह गया ।।"

कुए से पानी न निकाला जाय तो स्वच्छ निर्मल जल भी अपेय हो जाता है और नष्ट हो जाता है । उसी प्रकार विद्या-सरस्वती को वितरण नहीं किया जाय तो विस्मृत होकर नष्टप्राय हो जाती है यही दशा धन की है - दान-पूजादि धर्म कार्यों में न लगाया तो नष्ट हो जाता है ।

एक विद्वान वृहस्पति ने भी कहा है -

"तीर्थेषु योजिता अर्था धनिनां वृद्धिमाप्नोति"

अर्थात् श्रीमन्तों की सम्पत्तियाँ तीर्थों-पात्रों को यथायोग्य दान देने से ही वृद्धिंगत होती हैं । सत्पुरुषों को पात्रदानादि सत्कर्म करते रहना चाहिए ।

धन नष्ट करने वाले साधन

"तादात्विक-मूलहर-कदर्येषु नासुलभः प्रत्यवायः ।।6।।"

अन्वयार्थ :- (तादात्विक) बिना विचारे आय से अधिक व्यय करने वाला, (मूलहरः) मूल को खाने वाला (कदर्येषु) लोभीजनों में (प्रत्यवायः) धन विनाश (असुलभः) कठिन (न) नहीं है ।

आमदनी से अधिक खर्च करने वाला, ब्याज को छोड़कर मूल भक्षक और लोभीजनों की सम्पदा सरलता से नष्ट हो जाती है ।

विशेषार्थ :- जो व्यक्ति पुरुषार्थहीन हैं, शेखी खोर हैं अर्थात् आमदनी से अधिक खर्च करते हैं आगे-पीछे का विचार नहीं करते, अपनी पैतृक सम्पत्ति को बैठे-बैठे उड़ाते हैं, और जो लोभी-लालच में ही धन को छाती से चिपकाये रहते हैं उन मनुष्यों का धन नष्ट हो जाता है । नीतिकार शुक्र ने कहा है -

अचिन्तितार्थमश्नाति योऽन्योपार्जित भक्षकः ।
कृपणश्च त्रयोऽप्येते प्रत्यवायस्य मन्दिरम् ।।

अर्थ :- बिना सोचे विचारे धन को खर्च करने वाला, पराई-कमाई की सम्पत्ति को भोग करने वाला और कृपण ये तीनों प्रकार के व्यक्ति धननाश के स्थान हैं ।। धन की सुरक्षा के इच्छुकों को इनका परिहार करना चाहिए ।

तादात्विक का लक्षण

यः किमप्यसंचिन्त्योत्पन्नमर्थं व्ययति स तादात्विकः ।।7।।

अन्वयार्थ :- (यः) जो पुरुष (किमपि) कुछ भी (असंचिन्त्यः) विचार न कर (उत्पन्नम्) उपार्जित-कमाये हुए (अर्थम्) धन को (व्ययति) निष्प्रयोजन खर्च करता है (सः) वह (तादात्विकः) तादात्विक कहलाता है ।

विचारविमर्श करके कार्य करना चाहिए । जो फल की चिन्ता न कर कार्य करता है वह पश्चाताप का भागी होता है।

विशेषार्थ :- मनुष्य विचारशील प्राणी है । किसी भी कार्य के करने के पूर्व उसके फल का विचार करना अनिवार्य है । कुन्दकुन्द देव ने कहा है -

नाविचार्य क्वचित् किञ्चिद् विधातव्यं मनीषिणा ।
पूर्वं प्रारम्भ पश्चाच्च शोचन्ति हतबुद्धयः ।।7।।

अर्थ :- सम्यक् प्रकार विचार किये बिना किसी काम को करने का निश्चय मत करो । वह मूर्ख-अज्ञानी है जो काम प्रारम्भ करके कहे कि पीछे सोच लेंगे । देखा जायेगा । क्योंकि -

सन्मार्गं यः समुत्सृज्य स्वकार्याणि चिकीर्षति ।
तस्य यत्ना ध्रुवं मोघाः साहाय्यं प्राप्य भूर्यपि ।।8।।

अर्थात् जो सन्मार्ग का परित्याग कर कार्य करता है उसका सम्पूर्ण श्रम व्यर्थ हो जाता है । भले ही अनेकों सहायता करने वाले क्यों न रहें, वह सफल नहीं हो सकता ।

इस विषय में विद्वान शुक्र के विचार भी मान्य हैं -

आगमे यस्य चत्वारो निर्गमे सार्धपञ्चमः ।
तस्यार्थाः प्रक्षयं यान्ति सुप्रभूतोऽपि चेत्स्थितः ।।

अर्थ :- जिस व्यक्ति की दैनिक आय चार रुपये है और व्यय पाँच रुपये करता है उसकी सम्पत्ति अवश्य ही एक दिन समाप्त-नष्ट हो जाती है । चाहे वह कितना ही धनाढ्य क्यों न हो । भावार्थ यह है कि आय के अन्दर खर्च करने वाला सुखी रहता है ।

मूलहर का लक्षण

यः पितृपैतामहमर्थमन्यायेन भक्षयति स मूलहरः ।।8।।

अन्वयार्थ :- (यः) जो प्रमादी (अन्यायेन) अन्याय से (पितृ) पिता (पैतामहम्) दादा आदि के (अर्थम्) धन को (भक्षयति) खाता है (सः) वह (मूलहरः) मूलहर (कथ्यते) कहा जाता है ।

जो स्वयं पुरुषार्थ न कर अपने दादा, परदादा, पिता की सम्पत्ति का भोग करता है वह निश्चय से 'मूलहर' कहलाता है ।

विशेषार्थ :- अटूट सम्पत्ति भी वृद्धि के अभाव में अवश्य एक न एक दिन विनष्ट हो जाती है । कहा भी है :-

सन्त्येवं हि बहूद्योगा ये पूर्वं लाभ दर्शकाः
समूल घातका अन्ते तेषु हस्तो न धीमताम् ।।3।।

कुरल ।।

अर्थ :- ऐसे भी व्यापार-धन्धे व उद्योग हैं जो नफा-लाभ का हराभरा उद्यान दिखाकर अन्त में मूल से ही नष्ट हो जाते हैं । धीमान् ऐसे उद्योगों में हाथ नहीं लगाते । क्योंकि उनसे निज का धन भी नष्ट हो जाता है । नीतिकार

गुरु ने भी कहा है -

पितृपैतामहं वित्तं व्यसनैर्यस्तु भक्षयेत् ।
अन्यन्नोपार्जयेत् किंचित् स दरिद्रो भवेद् ध्रुवम् ।।

अर्थ :- जो व्यक्ति पैतृक-पिता व पितामह (दादा) आदि की सम्पत्ति को द्यूत-जुआखेलना, वेश्या सेवन करना आदि अन्यायों में अपव्यय करता है और नवीन धन तनिक भी नहीं कमाता वह निश्चय से दरिद्री हो जाता है । अभिप्राय यह है कि मनुष्य को स्वार्जन करना चाहिए ।

लोभी का लक्षण

यो भृत्यात्मपीडाभ्यामर्थं संचिनोति स कदर्यः ।।9।।

अन्वयार्थ :- (यः) जो मानव (भृत्यात्मपीडाभ्याम्) सेवकों और स्वयं को पीड़ा देकर (अर्थम्) धन (संचिनोति) संञ्चय करता है (सः) वह (कदर्यः) लोभी (अस्ति) है ।

जो व्यक्ति सेवकों तथा अपने को कष्ट पहुँचाकर धन का संचय करता है उसे कदर्य-लोभी कहते हैं।

विशेषार्थ :- जिसके पास प्रभूत धनराशि है, परन्तु वह न तो स्वयं उसका उपभोग करता है और न नौकरों को उसमें से कुछ देता है, किन्तु जमीन में गर्त खोदकर रख देता है उसे 'कदर्य' कहते हैं । उसके पास भी धन नहीं रह सकता, क्योंकि अवसर आने पर राजा या चोर ही उसे हर लेते हैं । कहावत है -

पापी का धन पल्ली जाय, धोबी की हांथे गधा खाय ।।

कृपण जोड़-जोड़ कर धर जाता है पीछे से दामाद आदि सरकार मालिक बन जाते हैं । आचार्य कहते हैं -

उत्तमपथ के जो पथिक, यश के रागी साथ ।
मिटते वे भी लोभवश, रच कुचक्र निज हाथ ।।6।।

अर्थ :- धन के लोभ में पड़कर जो कुचक्र में फंस जाते हैं, वे सन्मार्ग पर चलते हुए सुयश के भूखे रहने पर भी नष्ट हो जाते हैं । और भी कहा है-

दूरदृष्टि से हीन का, तृष्णा से संहार
निर्लोभी की श्रेष्ठता, जीते सब संसार ।।10।।

कुरल.

अर्थ :- दूरदर्शिता हीन लालच नाश का कारण होता है, पर जो यह कहता है कि मुझे किसी वस्तु की, आकांक्षा ही नहीं, उस तृष्णाविजयी की 'महत्ता' सर्व विजयी होती है ।

ऐसी बुद्धि न काम की, लालच जिसे फंसाय ।
तथा समझ वह निन्द्य जो, दुष्कृति अर्थ सजाय ।।5।।

लोभवशात् संचित धन की कामना मत करो क्योंकि अन्त में वह निंद्य, दुष्कृत दुःखरूप फल देता है।

तादात्विक और मूलहर

तादात्विक मूलहरयोरायत्यां नास्ति कल्याणम् ।।10।।

अन्वयार्थ :- (तादात्विक मूलहरयोः) तादात्विक-प्रमादी और मूलहर का (आयात्यां) भविष्य काल में (कल्याणम्) कल्याण (नास्ति) नहीं होता है ।

परार्जित धन का भोग करने वाले और आलसी व्यक्तियों का कल्याण नहीं होता, उनका भविष्य अंधकारमय हो जाता है।

विशेषार्थ :- पिण्डोपजीवी कुछ समय सुखानुभव कर दुर्भागी बन जाता है । इसी प्रकार प्रमादी की सम्पदा भी उससे रुष्ट हो जाती है । आचार्य कहते हैं -

निज गेहे कृतो येन विपुलस्त्वर्थसंग्रहः
व्यये किन्तु कदर्योऽस्ति ततो मृतवदेव सः ।।1।।

कु.का.कुन्दकुन्दकृत

अर्थ :- जिस कृपण ने अपने गृहांगण में ढेर की ढेर सम्पत्ति जमा कर रखी है, परन्तु उसका उपयोग नहीं करता उसमें और शव (मुर्दे) में कोई अन्तर नहीं है । क्योंकि वह उससे लाभान्वित नहीं होता । कंजूस का धन स्व और पर दोनों के लिए खतरनाक है । कहा भी है

धर्माधर्मावनादृत्य बुभुक्षाञ्च ावषह्य यः ।
सञ्चीयते निधिर्नित्यं परेषां म हितावहः ।।9।।

कु.का.

अर्थ :- धर्माधर्म का विचार न कर और स्वयं को भूखा मार कर जो धन जमा किया जाता है, वह केवल दूसरों के ही काम आता है । और भी कहते हैं -

कौन अर्थ का वह है कोष, नहीं गुणी को जिससे तोष ।
दुर्गुण की है एक खदान, ग्राम वृक्ष वह विष फलवान ।।8।।

कु.

अर्थ :- मानव वह सम्पादित सम्पदा, जिससे धर्म-दान नहीं किया जाता और विद्वानों को सन्तोष प्राप्त नहीं होता, वह ग्राम के मध्य विषवृक्ष फलने के समान महान् अनर्थकारी है । नीतिकार कपिपुत्र ने भी कहा है -

आगमाभ्यधिकं कुर्याद्यो व्ययं यश्च भक्षति ।
पूर्वजोपार्जितं नान्यदर्जयेच्च स सीदति ।।1।।

अर्थः जो व्यक्ति अपनी आमदनी से अधिक खर्च करता है एवं पूर्वजों के कमाये-अर्जित धन का उपभोग करता है, भक्षण करता है और नवीन धन तनिक भी नहीं कमाता वह अवश्य दुःखी रहता है । अभिप्राय है कि सुखेच्छुओं को स्वयं न्यायपूर्वक धनार्जन करना चाहिए ।

लोभी के धन की अवस्था

कदर्यस्यार्थ संग्रहो राजदायाद तस्कराणामन्यतमस्य निधिः ।।11।।

अन्वयार्थ :- (कदर्यस्य) कंजूस का (अर्थ) धन (संग्रहः) सञ्चय (राजादायादतस्कराणाम्) नृपति, कुटुम्बी व चोर (अन्यतमस्य) किसी एक का (निधिः) खजाना (भवति) होता है ।

लुब्धक के अर्जित धन का भूप, सम्बन्धी व चोर इनमें से कोई एक मालिक होता है ।

विशेषार्थ :- लुब्धक के धन को अवसर पाकर राजा हड़प लेता है, अथवा कुटुम्बीजन हिस्सा पांति कर खा पी जाते हैं, या तस्कर हरण करके ले जाते हैं । वल्लभदेवजी ने लिखा है -

दानं भोगो नाशस्तिस्त्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ।।

अर्थ :- पात्रों को दान देना, स्वयं उपभोग करना और नाश होना ये तीन अवस्थाएँ धन की होती हैं । जो व्यक्ति कभी भी न तो सत्पात्र को दान देता है, और न सम्यक् रूप से परिवार व अपना ही भरण-पोषण करता है उसके धन की तीसरी गति (नाश) ही होती है । आचार्य कहते हैं -

भू पर ऐसे भी कुछ लोग, वैभव का जो करें न भोग ।
और न देवें पर को दान, लक्ष्मी को वे रोग समान ।।6।।

अर्थात् संसार में बहुत से ऐसे लोग हैं जो वैभव को संचय करके उसका न तो स्वयं भोग करते हैं और न उदारतापूर्वक योग्य पुरुषों को ही भोगने देते हैं वे अपनी सम्पत्ति को रोग स्वरूप हैं ।

सारांश यह है कि लोभ जीव का घातक है । लोभी का यश व नाम शेष नहीं रहता । वह मात्र निन्दा और घृणा का पात्र हो जाता है । इसलिए लोभ का सर्वथा त्याग करना चाहिए । लोभी के सभी पाप मित्र बनकर उसे दुर्गति का पात्र बना देते हैं । निर्लोभी सर्वत्र आदर पाता है । कहा भी है -

दूर दृष्टि से हीन का, तृष्णा से संहार ।
निर्लोभी की श्रेष्ठता, जीते सब संसार ।।10।।

अर्थात् दूरदर्शिताहीन लालच नाश का कारण होता है, पर ओ, यह कहता है कि मुझे किसी वस्तु की आकांक्षा ही नहीं, उस तृष्णा विजयी की 'महत्ता' सर्वविजयी होती है । अतः लोभ त्याग शौचगुण धारण करना चाहिए ।

परम् पूज्य विश्ववंद्य चारित्र चक्रवर्ती मुनि कुञ्जर सम्राट् महानतपस्वी वीतरागी, दिगम्बराचार्य श्री 108 आदिसागर जी अंकलीकर के पट्टाधीश आचार्य शिरोमणि समाधि सम्राट् श्री महावीर कीर्ति जी महाराज की संघस्था एवं श्री.प.पूज्य कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य विमल सागर जी की शिष्या, ज्ञानचिन्तामणि, सिद्धान्तविशारदा प्रथम गणिनी आर्यिका विजयामती जी द्वारा विजयोदय हिन्दी टीका का द्वितीय परिच्छेद प. पूज्य सिद्धान्त चक्रवर्ती अंकलीकर के तृतीय पट्टाधीश श्री आचार्य सन्मतिसागर जी महाराज के चरण सानिध्य में समाप्त किया।

3

काम समुद्देशः

काम का स्वरूप व लक्षण

आभिमानिकर सानुविद्धा यतः सर्वेन्द्रियप्रीतिः स कामः ।।1।।

अन्वयार्थ :- (यतः) जिससे (अभिमानिक) सर्व ओर से या सर्व प्रकार से (सर्वाः) सम्पूर्ण (इन्द्रियप्रीतिः) इन्द्रियाँ प्रसन्न होती हैं (सः) वह (कामः) काम (अस्ति) है ।

मैथुन सेवन को काम कहते हैं यह स्पशन इन्द्रिय का प्रधान विषय है परन्तु इससे सर्व इन्द्रियाँ उत्तेजित हो सुखानुभव करती हैं इसीलिए इसे काम कहा है ।

विशेषार्थ :- कामी पुरुष को अपनी प्रिय कामिनी के मधुर शब्द सुनने से कर्णेन्द्रिय प्रसन्न होती है, रूपावलोकन से चक्षुरिन्द्रिय आनन्दित होती है, सुकोमल अंग स्पर्श से स्पर्शनेन्द्रिय हर्षित होती है, प्रीति भोज से रसना और कामोत्पादक गंधादि से घ्राणेन्द्रिय भी सुखानुभव करती है । इस प्रकार सम्पूर्ण इन्द्रियाँ सुखानुभव करती हैं । किन्तु यह वैषयिक सुख स्व स्त्री सम्बन्धी काम पुरुषार्थ का फल है ।

परस्त्री सेवन से धर्म का नाश होता है और वेश्या सेवन से धर्म एवं धन दोनों का ही विनाश होना निश्चित है । अतः नैतिक पुरुषों को उक्त दोनों अनर्थों का त्याग कर धर्मानुकूल, समाज और अग्नि की साक्षीपूर्वक अपनी विवाहित स्त्री को ही धर्मपत्नी स्वीकार करना चाहिए । उसी में सन्तोष कर एक पत्नीव्रत पालन करना चाहिए । कुल मर्यादा और धर्म मर्यादा के अनुसार स्वजातीय कन्या के साथ ही पाणिग्रहण संस्कार करना चाहिए । विद्वान राजपुत्र कहता है –

सर्वेन्द्रियानुरागः स्यात् यस्याः संसेवनेन च ।
स च कामःपरिज्ञेयो यत्तदन्यद्विचेष्टितम् ।।1।।

इन्द्रियाणामसन्तोषं यः कश्चित् सेवते स्त्रियम् ।
स करोति पशोः कर्म नर रूपस्य मोहनम् ।।2।।

यदिन्द्रिय विरोधेन मोहनं क्रियते जनैः ।
तदन्धस्य पुरे नृत्यं सुगीतं बधिरस्य च ।।3।।

अर्थ :- जिसके अपनी धर्मपत्नी के साथ रतिक्रीड़ा करने पर सर्व इन्द्रियाँ अनुरक्त होती हैं उसे काम समझना चाहिए। इससे विपरीत प्रवृत्ति-परस्त्री एवं वेश्या सेवन निंद्य कुचेष्टा है ।

जो पुरुष इन्द्रियों को सन्तुष्ट न कर काम सेवन करता है वह उसकी पाशविक क्रीड़ा समझनी चाहिए । स्व स्त्री भोग भी समयानुकूल होना चाहिए ।

जो कामी मनुष्य इन्द्रियों को सन्तप्त कर काम वासना तृप्ति का उपाय करता है अर्थात् स्त्री संभोग करता है उसकी वह चेष्टा अन्धे के समक्ष नृत्य और बधिर के सामने गीत गाने के सदृश है । अर्थात् व्यर्थ का आयास मात्र है ।

स्वस्त्री सुखोपभोग की साधन है और धर्म की रक्षिका है -

कीर्ति शील पतिप्रेम में, जो पूरी कर्मण्य ।
धर्म धुरीणा धन्य वह, उस सम और न अन्य ।।6।।

अर्थात् उत्तम सहधर्मिणी वह है जो अपने धर्म और सुयश की रक्षा करते हुए पति प्रेम की आराधना करती है अर्थात् पति सेवा परायणा होती है । अतः स्वदार सन्तोष व्रत पालन करना चाहिए । इसी प्रकार नारी को एक पतिव्रत में रत रहकर काम भोग सेवन करना चाहिए ।।

काम सेवन क्रम

धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत ततः सुखी स्यात् ।।2।।

अन्वयार्थ :- (धर्मः) धर्मपुरुषार्थ (अर्थः) अर्थपुरुषार्थ से (अविरोधेन) अनुकूल रहते हुए (कामं) काम पुरुषार्थ को (सेवेत) सेवन करें (ततः) उससे (सुखी) सुखी (स्यात्) होगा ।

धर्म और अर्थ की अनुकूलता के साथ काम पुरुषार्थ सफल होता है ।

विशेषार्थ :- सदाचारी, नीतिज्ञ पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह धर्म व अर्थ पुरुषार्थ की रक्षा व वृद्धि करता हुआ काम पुरुषार्थ का सेवन करे जिससे कि सुखी जीवन यापन कर सके । हारीत विद्वान का कथन दर्शनीय है-

परदारांस्त्यजेद्यस्तु वेश्यां चैव सदा नरः ।
न तस्य कामजो दोषः सुखिनो न धनक्षयः ।।1।।

नी.श्लो.

जो मानव परमहिला और वेश्या सेवन का नव कोटि से त्याग करता है, वह काम जन्य दोष-धन क्षति और धर्म नाश से त्राण पा लेता है । क्योंकि पत्नी का लक्षण करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं -

यस्यामस्ति सुपत्नीत्वं सैवास्ति गृहिणी सती ।
गृहस्यायमनालोच्य व्ययते न पतिव्रता ।।1।।

परि. 6 कुरल.

अर्थ :- वही उत्तम सहधर्मिणी है, जिसमें सुपत्नी के सर्वगुण विद्यमान हों और जो अपने पति की सामर्थ्य

से अधिक व्यय नहीं करती है । आय के अन्तर्गत व्यय खर्च करना सद्गृहणी का प्रथम लक्षण है । इससे दान पूजादि श्रावकोचित गृहस्थ धर्म का पालन सुचारु रूप से चलता है और धन का अभाव भी नहीं होता । अर्थात् धर्म और अर्थ दोनों पुरुषार्थों के साथ-साथ काम पुरुषार्थ भी सिद्ध होता है ।

तीनो पुरुषार्थों की सेवन विधिः-

समं वा त्रिवर्गं सेवेत ।।3।।

अन्वयार्थ :- (वा) अथवा (त्रिवर्गम्) तीनों वर्गों धर्म, अर्थ व काम को (समं) समान काल विभाग कर (सेवेत) सेवन करना चाहिए ।

सामान्य-सदाचारी व्यक्ति धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों को समय का समान विभाग करके सेवन करे ।

विशेषार्थ :- दिन के 12 घण्टे होते हैं । इनका त्रिभाग करने पर 4 घण्टे होते हैं इस क्रम से तीनों को सेवन करने से हर प्रकार से सुख शान्ति बनी रहती है । इसके विपरीत जो व्यक्ति कामसेवन में ही अपनी शक्ति व समय को गंवाता है-बहुभाग व्यतीत करता है वह अपने धर्म व अर्थ दोनों पुरुषार्थों को नष्ट कर देता है । जो केवल धर्म पुरुषार्थ में ही सदा लगा रहता है, वह काम और अर्थ से वंचित रह जाता है । इसी प्रकार अर्थ के ही पीछे दौड़नेवाला काम और धर्म का यथायोग्य सेवन करने में समर्थ नहीं होता है । अतएव सुखाभिलाषियों को नियमानुसार काल विभाग कर तीनों को समान रूप से सेवन करना चाहिए ।

विद्वान नारद भी उपर्युक्त आचार्य श्री की मान्यता का समर्थन करते हैं -

प्रहरं त्रिभागं च प्रथमं धर्ममाचरेत् ।
द्वितीयं तु ततो वित्तं तृतीयं कामसेवने ।।1।।

अर्थ :- मनुष्य को दिन के तीन भाग करके पहले विभाग को धर्मानुष्ठान में और दूसरे को धन कमाने में एवं तीसरे को काम सेवन में उपयोग करना चाहिए ।

वादीभसिंह सूरि ने भी कहा है कि -

परस्पराविरोधेन त्रिवर्गो यदि सेव्यते ।
अनर्गलमतः सौख्यमपवर्गोऽप्यनुक्रमात् ।।

क्षत्र चू.म. ॥1॥ लम्ब

अर्थ :- यदि धर्म, अथ और काम ये तीनों पुरुषार्थ परस्पर की बाधारहित सेवन किये जांय तो इससे उन्हें बिना रुकावट के स्वर्ग मोक्ष की लक्ष्मी प्राप्त होती है । अर्थात् स्वर्ग तो मिलता ही है क्रमशः मोक्ष भी प्राप्त होता है ।

सारांश यही है "अति सर्वत्र वर्जयेत्" अति किसी भी क्षेत्र में करना उचित नहीं है । गृहस्थाश्रम गृहस्थ धर्म का आस्पद है । तदनुसार व्रत, नियम, सदाचार और शिष्टाचारपूर्वक सविवेक उसका संचालन करना चाहिए।

षट्खण्डाधिपति भरत चक्रवर्ती के समान जो इन पुरुषार्थों का यथायोग्य सेवन करता है वह अचिरात् अन्तिम लक्ष्य पर पहुँच जाता है । शनैः शनैः गमन करने वाला नियम से गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता है, किन्तु बेहताश दौड़ने वाले का पहुँचना शंकास्पद है, फिसलने का भय है । अतः मध्यम मार्ग ही श्रेयस्कर है ।

किसी एक पुरुषार्थ के सेवन से हानि

"एकोह्यत्यासेवितो धर्मार्थकामानामात्मानमितरौ च पीडयति ।।4।।"

अन्वयार्थ :- (धर्मार्थकामानाम्) धर्म, अर्थ और काम इन तीनों में से किसी (एको) एक का (अत्यासेवितः) आतिशायि सेवन (हि) निश्चय से (आत्मानम्) स्वयं को (च) और (इतरौ) शेष दो को (पीडयति) नष्ट करता है ।

तीनों पुरुषार्थों में से किसी एक का ही निरपेक्ष भोग किया जाये तो वह शेष दो पुरुषार्थों का भी घातक होता है और स्वयं भी फलवान नहीं होता ।

विशेषार्थ :- जो व्यक्ति निरन्तर धर्म पुरुषार्थ का ही सेवन करता है, वह दूसरे अर्थ और काम को नष्ट कर देता है क्योंकि उसका समस्तकाल धर्म पालन में ही चला जाता है । इसी प्रकार धन सञ्चय करने वाला धर्म और काम से वंचित रह जाता है तथा कामासक्त धर्म और धन से पराङ्मुख रहता है । अतएव न्यायाचारी को योग्यायोग्य विचार कर यथासमय प्रत्येक का सेवन करना चाहिए ।

विद्वान बृहस्पति ने भी लिखा है -

धर्म संसक्तमनसां कामे स्यात्सुविरागता ।
अर्थे चापि विशेषेण यतः स स्यादधर्मतः ।।1।।

अर्थ :- जिनकी चित्तवृत्तियाँ धार्मिक अनुष्ठानों में सदा लगी हुयी हैं वे काम से तथा अर्थ से विशेष विरक्त रहते हैं, क्योंकि धन संचय करने में पाप लगता है ।

वास्तविक लौकिक व पारमार्थिक सुखेच्छुओं को तीनों पुरुषार्थों का यथायोग्य सेवन करना चाहिए।

"कष्ट सहकर धन कमाने वाले का कथन"

परार्थं भारवाहिन इवात्मसुखंनिरुन्धानस्य धनोपार्जनम् ।।5।।

अन्वयार्थ :- (आत्मसुखं) अपने सुख को (निरुन्धानस्य) नष्ट करने वाले का (धनोपार्जनम्) धन कमाने का कार्य (परार्थं) दूसरे के लिए (भारवाहिनः) बोझा ढोने के (इव) समान (अस्ति) है ।

वर्तमान-विद्यमान सुख की उपेक्षा कर जो व्यक्ति धन कमाने की चिन्ता में निमग्न रहता है, रात-दिन अनेकों कष्ट सहता है, उसका धन उपार्जन दूसरे के बोझा ढोने के समान व्यर्थ होता है ।

विशेषार्थ :- जो अज्ञानी अपने प्राप्त सुखोपभोग की परवाह न कर कष्टसाध्य श्रम कर धनोपार्जन में ही लगा रहता है, वह पशुवत् कोरा भारवाही है क्योंकि पशु भार ढोते हैं, अन्नादि लादते हैं परन्तु उसमें से कुछ भी खा नहीं सकते उसी प्रकार कठोर परिश्रम कर भी जो अपने सुख-दुःख की ओर ध्यान नहीं देता वह मूर्ख निरा

पशु है । स्वयं अर्जित सम्पत्ति का भी स्वयं उपभोग नहीं करता । अतः वह सुखी नहीं होता । व्यास नामक विद्वान कहता है कि -

अतिक्लेशेन ये चार्था धर्मस्यातिक्रमेण च ।
शत्रूणां प्रणिपातेन मास्मन् तेषु मनः कृथा ।।

अर्थ :- अत्यन्त भीषण संकटों को सहकर, धर्म का उलंघन कर, एवं शत्रुओं को नष्ट कर जो सम्पत्ति एकत्रित की जाती है, हे आत्मन् ! इस प्रकार की अन्याय और छलकपट से कमाई जाने वाली सम्पदा में अपने मन की प्रवृत्ति मत करो ।

"सम्पत्तियों की साथकता"

इन्द्रियमनः प्रसादनफला हि विभूतयः ।।6।।

अन्वयार्थ :- (हि) निश्चय से (विभूतयः) सम्पत्ति का (फलाः) फल (इन्द्रियमनः) इन्द्रियों और मन का (प्रसादन) प्रसन्न होना (अस्ति) है ।

धन वही है जो धनिकों की इन्द्रियों और मन को प्रसन्न करे ।

विशेषार्थ :- कृपण मनुष्य धन को प्रायः भूमि उदर में प्रच्छन्न कर रखते हैं, उसका उपभोग करते नहीं है । अपनी पत्नी के लिए भी वस्त्रालंकार में व्यय नहीं करते । साज शृंगार का साधन भी नहीं जुटाते । फलतः इन्द्रिय विषय सुखानुभव से वंचित रहते हैं । सन्तान भी उसे नहीं चाहती अपितु कोशती है, फिर उनसे सेवा-सुश्रुषादि फल कहाँ से मिलेगा ? नहीं मिल सकता। व्यास विद्वान ने भी यही अभिप्राय निम्न प्रकार प्रकट किया है-

यद्धनं विषयाणां च नैवाह्लादकरं परम् ।
तत्तेषां निष्फलं ज्ञेयं षंडाणामिव यौवनम् ।।1।।

अर्थ :- जो धन पञ्चेन्द्रियों के अनुकूल विषय देकर, उन्हें आनन्द प्रदान नहीं करें, उस धन से क्या प्रयोजन? उनका जीवन नपुंसक के समान यौवन धारी को निष्फल बना देता है । अभिप्राय यह है कि सम्पदा पाकर सतत योग्य भोगों का सेवन करना चाहिए अन्यथा वह सम्पत्ति भार रूप ही कहलायेगी, मात्र उसका रक्षक बनना होगा । इसी विषय को चारायण ने कहा है -

सेवादिभिः परिक्लेशैर्विद्यमानधनोऽपि यः ।
सन्तापं मनसः कुर्यात् तस्योषरधर्षणम् ।।1।।

अर्थ :- जो पुमान् धनेश्वर होकर दूसरों की सेवा-चाकरी आदि करके मानसिक कष्ट उठाता है उसका धन ऊषर (पथरीली) भूमि को जोतने के समान निष्फल जाता है । अतः स्वार्जित धन सम्पदा का सदुपयोग भोग और दान से करना चाहिए।

"अवश इन्द्रियों का कुफल"

नाजितेन्द्रियाणां काऽपि कार्यसिद्धिरस्ति ।।7।।

अन्वयार्थ :- (येषाम्) जिनकी (इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियाँ (काऽपि) कोई भी (अजिता) वश नहा हैं (तेषाम्) उनका (कार्य) काम (सिद्धिः) सफल (न) नहीं होता ।

जो पुरुष अपनी इन्द्रियों पर संयम की लगाम नहीं लगा सकता, वह किसी भी कार्य में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता है ।

विशेषार्थ :- जिस पुरुष की कर्णेन्द्रिय संगीत श्रवण में संलग्न है, चक्षु नाना रंगीन चित्रों को निहारने में लगी रहतीं हैं, रसना चट-पटे, मधुरादि रसों के आस्वादन में दत्त चित्त हैं, घ्राण नाना सुगन्धित तैल, इत्र, पुष्पादि चयन में लगी है और स्पर्शनेन्द्रिय कामसेवन में आसक्त है तो भला उसे धर्म ध्यान करने का अवसर किस प्रकार मिल सकता है । इन्द्रियाँ जाल हैं इनके फन्दे में फंसा व्यक्ति हिताहित का विचार करने में समर्थ नहीं हो सकता वह तो विषय-भोग की सामग्रियों को संचय में ही लगा रहता है । प्रियाओं के साज-शृंगार, आलिंगन के इच्छुक व लावण्य के लोलुपी भ्रमर के समान उसी में जीवन खपा देते हैं । अन्य कार्यों के सम्पादन का अवसर ही नहीं प्राप्त होगा । अतः इन्द्रियविजयी बनना चाहिए ।

इन्द्रियजेता ही आत्मविजेता होता है । शुक्र ने भी कहा है -

यस्य तस्य च कार्यस्य सफलस्य विशेषतः ।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तत्फलम्

अर्थ :- यदि मनुष्य उत्तम फल वाले शरीर को शीघ्रता से न कर उसमें विलम्ब कर देवे तो समय उस कार्य के फल को पी लेता है अर्थात् फिर वह कार्य सफल नहीं हो पाता । एक ऋषिपुत्रक नामक विद्वान ने भी कहा है -

स्वकृतेषु विलम्बन्ते विषयासक्त चेतसः ।
क्षिप्रमक्रियमाणेषु तेषु तेषां न तत्फलम् ।।1।।

अर्थ :- विषयों में आसक्त पुरुष अपने आवश्यक कार्यों में विलम्ब कर देते हैं, इससे शीघ्रता न करने से उन्हें उनका फल नहीं मिलता ।।1।।

अतः नैतिकाचार प्रतिपालक सत्पुरुष को विषयरूपी भयानक वन में दौड़ने वाला इन्द्रियरूपी हाथियों को जो कि मन को विक्षुब्ध-व्याकुल करने वाले हैं । सम्यग्ज्ञानरूपी अंकुश से वश में करना चाहिए । मुख्यता से मन से अधिष्ठित इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्त हुआ करती हैं इसलिए मन को वश में करना ही जितेन्द्रित्व कहा गया है। क्योंकि विषयों में अन्ध मनुष्य भयंकर विपत्तिगर्त में पड़ता है । विषय लोलुपता का त्याग करना चाहिए ।

इन्द्रियों को वश करने का उपाय

"इष्टेऽर्थेऽनासक्तिर्विरुद्धे चाप्रवृत्तिरिन्द्रियजयः ।।8।।"

अन्वयार्थ :- (इष्टे) इच्छित (अर्थे) पदार्थ में (अनासक्ति) विरक्ति (च) ओर (विरुद्धे) अनिष्ट पदार्थ में (अप्रवृत्ति) प्रवृत्ति नहीं करना (इन्द्रिय) इन्द्रिय (जयः) जय होती (अस्ति) है ।

इष्टानिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष नहीं करना इन्द्रिय जय है ।

विशेषार्थ :- कमनीय वनिता, माला, सुगन्धित इत्रादि इष्ट पदार्थ कहलाते हैं, शिष्टाचार और प्रकृति विरुद्ध पदार्थ प्रतिकूल कहे जाते हैं, यह सामान्य कथन है । विशेष रूप से जो जिसे चाहता है वही उसे इष्ट है और जिसे प्रिय न समझे वह उसे अनिष्ट है । कहा भी है -

दधि मधुरं मधु मधुरं द्राक्षा मधुरा शिताऽपि मधुरैव ।
तस्य तदैव मधुरं यस्य मनो यत्र संलनम् ।।

संसार में दही, शहद, अगूर, चीनी आदि अनेक पदार्थ मधुर होते हैं किन्तु ये सभी सबको समान रूप से मधुर प्रतीत नहीं होते । जिसे जो रुचिकर है उसका मन उसे ही स्वादिष्ट मानता है । परन्तु विवेकी पुरुष समदृष्टि होकर यथार्थ तत्त्व विचार कर राग-द्वेष का परिहार करता है । जिस क्षण वस्तु स्वभाव अवगत होता है तो तथ्य सामने आता है और इन्द्रियों की वेलगाम-घुड-दौड़ बन्द हो जाती है । मन संयत हो जाता है ।

यद्यपि इष्ट-योग्य पदार्थों का सेवन बुरा नहीं है, परन्तु आसक्तिपूर्वक उनका अतिरेकता से सेवन करना बुरा है । मिष्ठान भोजन करना अनुचित नहीं है परन्तु मात्रा से अधिक खाना अजीर्ण का कारण है दुःखद है । रोग वर्द्धक है । अतः प्रिय पदार्थों में आसक्त न होना और प्रकृति एवं ऋतु विरुद्ध या शिष्टाचार, लोकाचार विरुद्ध पदार्थ के सेवन में लुब्ध नहीं होना चाहिए । यही इन्द्रिय जय है । मन वश होने पर शेष इन्द्रियाँ नियन्त्रित हो ही जाती हैं । सर्वत्र मर्यादा अनिवार्य है । बेमर्याद सभी कार्य निष्फल हो जाते हैं । आचार्य कहते हैं "नाजीर्णं मिष्ठान्नान्नतु तन्मात्रा लंघनात् ।" अजीर्ण का कारण मिष्ठ भोजन नहीं अपितु असीम भोजन है । भृगु विद्वान कहते हैं -

अनुगन्तुं सतां वर्त्म कृत्स्नं यदि न शक्यते ।
स्वल्पमप्यनुगन्तव्यं येन स्यात् स्व विनिर्जयः ।।1।।

अर्थ :- यदि मानव शिष्ट पुरुषों का मार्ग ग्राह्य न कर सके तो उसे थोड़ा-थोड़ा अनुकरण करने का प्रयत्न करना चाहिए। इससे वह अवश्य जितेन्द्रिय बनने में समर्थ हो जायेगा ।

इन्द्रिय जय का अन्य उपाय

"अर्थशास्त्राध्ययनं वा ।।9।।"

अन्वयार्थ :- (वा) अथवा (अर्थशास्त्र-अध्ययनं) अर्थशास्त्र का ज्ञान करना इन्द्रिय जय है ।

इन्द्रिय जय का साधन अर्थ विज्ञान का अध्ययन करना है ।

विशेषार्थ :- बराबर तुली हुयी तराजू की डंडी के समान जो न्यायपूर्वक आय-व्यय का समान खाता रखता

है, न इधर झुके न उधर वह बुद्धिमान मन और इन्द्रियों को अपने काबू में रख सकता है । न्यायी की सम्पत्ति अचल रहती है -

न्यायनिष्ठ की सम्पदा, कभी न होती क्षीण ।
वंश-क्रम से दूर तक, चली जाय अक्षीण ।।2।।

कुरल.

अर्थ :- न्याय-नीति से संतुलित जीवन यापन करने वाले की सम्पदा कभी भी नष्ट नहीं होती । संतति के साथ-साथ चलती रहती है । संयम जीवन की ढाल है । प्रत्येक क्षेत्र में धैर्य और संयम रखना इन्द्रिय जय है-

मत लो वह धन भूल से, जिसमें नीति-द्वेष ।
हानि बिना उससे भले, होंवे लाभ अशेष ।।3।।

अर्थात् अन्यायों को त्यागकर जो सुख सौभाग्यवर्द्धक सम्पत्ति मिले उसको कभी भी हाथ मत लगाओ । भले ही उससे लाभ ही लाभ क्यों न हो । अभिप्राय है कि सीमा में रहने से प्राप्त पदार्थ असीम हो जाते हैं । सीमा उलंघन करने पर प्रभूत वैभव भी कम प्रतीत होता है । सरोवर के तट सही हैं तो जल-लबालब भरकर उमड़ता है कम वर्षा होने पर भी, और तट भंग होने पर बहुत वर्षा होने पर भी जल इधर-उधर बिखर जायेगा और सरोवर खाली-खाली रह जायेगा । यही दशा है असंयमी के धन की । नीतिकार वर्ग का कथन भी विचारणीय है -

नीतिशास्त्राण्यधीते यस्तस्य दुष्टानि स्वान्यपि ।
वशगानि शनैर्यान्ति कशाघातै र्हया यथा ।।1।।

अर्थ :- जिस प्रकार लगाम के आकर्षण से अश्व वश कर लिए जाते हैं, उसी प्रकार नीति शास्त्रों के अध्ययन से मनुष्य की चञ्चल इन्द्रियाँ वश हो जाती हैं । अत: इन्द्रियों को वश करना आर्थिक दृष्टि पर भी निर्भर है ।

कितना ही चञ्चल व दुष्ट घोटक क्यों न हो, यदि लगाम कसकर पकड ली है तो बेराह नहीं जा सकता, उसी प्रकार विषय वन में बेहताश दौड़ती इन्द्रियाँ भी संयम लगाम के आधीन हुयीं यत्र-तत्र नहीं जा सकतीं । अत: अर्थ-व्यय संयत रहने से इन्द्रिय संयम भी बराबर रहेगा ।

नीतिशास्त्र का परिज्ञान इन्द्रिय जय कैसे ?

।। कारणे कार्योपचारात् ।।10।।

अन्वयार्थ :- (कारणे) हेतू में (कार्यस्य) कार्य का (उपचारात्) उपचार-आरोप होने से ।

विशेषार्थ :- मुख्यता के अभाव में प्रयोजन वश अथवा निमित्त विशेष से गौण वस्तु में मुख्य की कल्पना करना उपचार कहलाता है । कारण में कार्य का उपचार करने से नीतिशास्त्र का अध्ययन करने को "इन्द्रिय जय" कहा गया है । यद्यपि इन्द्रियों को संयत करना-इष्ट विषयों में बेमर्याद नहीं जाने देना 'इन्द्रियजय' है । किन्तु नीति का परिज्ञान नहीं होने से उन्हें संयत करना दुर्लभ है अत: कारण रूप नीति-विज्ञान को "इन्द्रियजय" कहा गया है ।

जिस प्रकार चश्मे को दृष्टि में सहायक निमित्त होने से नेत्र माना जाता है, उसी प्रकार नीतिशास्त्र के अध्ययन को भी इन्द्रियों के जय-वश करने में निमित्त होने से 'इन्द्रियजय' माना गया है । अतः कारण में कार्य का उपचार करना निर्दोष है ।

काम के दोष निरूपण

योऽनङ्गेनापि जीयते स कथं पुष्टाङ्गानरातीन् जयेत ।।11।।

अन्वयार्थ :- (यः) जो व्यक्ति (अनङ्गेन) कामदेव से (अपि) भी (जीयते) जीता गया (स) वह (पुष्टाङ्गान्) राज्य शासन के अंगों से पुष्ट (अरातीन्) शत्रु राजाओं को (कथं) किस प्रकार (जयेत) जीत सकता है ?

अनङ्ग-कामदेव अङ्गरहित है उसे ही नहीं जीत सका तो फिर पुष्ट-अंग वाले राजा को किस प्रकार परास्त कर सकता है।

विशेषार्थ :- कामदेव को शरीर रहित माना जाता है, शरीर विहीन को अङ्ग नहीं होते हैं, वह निर्बल-कमजोर हुआ, यहाँ नीति है कि जो निर्बल को परास्त नहीं कर सकता वह भला-स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, एवं सेना आदि से युक्त शत्रुओं को किस प्रकार परास्त कर सकता है । नहीं जीत सकता । नीतिकार भागुरि ने कहा है -

ये भूपाः काम संसक्ता, निजराजाङ्गदुर्बलाः ।
दुष्टाङ्गास्तान् पराहन्युः पुष्टाङ्गा दुर्बलानि च ।।1।।

अर्थ :- काम के वशीभूत राजाओं के राज्य के अङ्ग-स्वामी, मंत्री आदि निर्बल-शक्तिविहीन, दुष्ट, विरोधी, बंचक हो जाते हैं, फलतः बलिष्ठ राजाओं द्वारा सहज परास्त कर दिये जाते हैं । उन्हें मरण को वश करना पडता है । विजय के इच्छुक को प्रथम काम पर विजय करना चाहिए ।

महाराज सत्यंधर अपनी प्रिया विजया में कामासक्त हुआ, फलतः उसी के मन्त्री काष्ठांगार द्वारा राज्यभ्रष्ट हो मरण को प्राप्त हुआ । काम की विचेष्टा भयंकर है । कहा भी है -

कामासक्त चित्तानां गुणाः को वा न नश्यति ।
न वैदूष्यं न पाण्डित्यं नाभिजातित्वशुद्धिभाक् ।।

अर्थात्-काम पीडित मनुष्य को सभी गुण नष्ट हो जाते हैं । उसकी विद्वत्ता, पाण्डित्य, श्रेष्ठ जाति व महानता-गौरव आदि मलिन हो जाते हैं । कामासक्त अपने किस गुण की रक्षा करता है ? किसी की नहीं वह तो गुणों की ओर से पूर्ण अन्धा ही बन जाता है, फिर रक्षा क्या करेगा ? अतः गुणी को अपने गुणों की रक्षा के लिए कामवासना का परित्याग करना चाहिए ।

"कामी की क्षति"

कामासक्तस्य नास्ति चिकित्सितम् ।।12।।

अर्थ :- (कामासक्तस्य) काम पीडा से ग्रसित की (चिकित्सितम्) औषधि (नास्ति) नहीं है ।

काम रोग महा भयंकर रोग है, इसकी औषधि भी उतनी ही दुर्लभ है । कामीजनों को हितोपदेशादि उपाय अप्रिय प्रतीत होते हैं, जिस प्रकार तस्कर को चांदनी रात, व्यभिचारिणी को ब्रह्मचारी पुरुष अप्रिय लगते हैं, उसी प्रकार कामासक्त पुरुष को हितकारी प्रवचन नहीं सुहाता । नीतिकार जैमिनी ने भी कहा है -

न शृणोति पितुर्वाक्यं न मातुर्न हितस्य च ।
कामेन विजितो मर्त्यस्ततो नाशं प्रगच्छति ।।1।।

अर्थ :- कामवासना से मूढ व्यक्ति पिता, माता और हितैषियों की बात नहीं सुनता, न मानता है, इससे उसका जीवन नष्ट प्राय हो जाता है । वह गुणों के साथ अपनी निर्मल कीर्तिध्वजा को मलिन कर लेता है और परलोक में दुर्गति का पात्र बनता है । वर्तमान धन जन की क्षति का भी शिकार होता है । यह निःसन्देह है ।

स्त्री में अत्यन्त आसक्ति करने वाले की हानि :

न तस्य धनं धर्मः शरीरं वा यस्यास्ति स्त्रीष्वत्यासक्तिः ।।13।।

अन्वयार्थ :- (यस्य) जिन पुरुषों के (स्त्रीषु) स्त्रियों में (अत्सासक्तिः) विशेष-आतिरेक आसक्ति (अस्ति) है (तस्य) उस पुरुष का (धनम्) सम्पत्ति (धर्मः) धर्म (वा) अथवा (शरीरं) देह (न) नहीं रहती।

स्त्रियों में आसक्त-कामी पुरुष अपने धन, धर्म और शरीर से भी हाथ धो बैठता है । अर्थात् उसके अविवेक से धन, धर्म और शरीर का ह्रास हो जाता है क्योंकि कामासक्ति से हेयोपादेय विचार नष्ट हो जाते हैं।

विशेषार्थ :- स्त्रियों में आसक्त व्यक्ति, व्यापार, कृषि, सर्विस आदि जीविकोपार्जित कर्मों से विरक्त हो जाता है । फलतः धनार्जन नहीं हो पाता । यही नहीं ऋणी भी हो जाता है संचित धन नष्ट होना स्वाभाविक ही है । काम वासना में लीन हुआ धर्म-कर्म विमुख हो जाता है, पूजा, दान, अनुष्ठानादि करने का भाव ही नहीं होता । धार्मिक प्रभावनादि कार्य सुहाते नहीं । देव, शास्त्र, गुरुओं के दर्शन, स्वाध्याय, वैयावृत्ति को व्यर्थ मानता है । भोगलिप्सा वृद्धिंगत होने से परिणाम शुद्धि नहीं रह पाती । अतः धर्म भ्रष्ट कहो या धर्मविहीन हो जाता है ।

इसी प्रकार अधिक वीर्य पतन होने से राजयक्ष्यादि संक्रामक रोग ग्रस्त हो जाता है । शरीर बल क्षीण हो जाता है । असाध्य रोगों का शिकार बनकर असमय में ही मृत्यु का ग्रास हो जाता है । अतएव साम्पत्तिक-आर्थिक, धार्मिक और शारीरिक उत्थान चाहने वालों को नैतिकाचार का पालन करना चाहिए, काम के पीछे पडकर सदाचार नहीं खोना चाहिए ।

नीतिकार कामन्दक ने भी कहा है -

नितान्तं संप्रसक्तानां कान्तामुखविलोकने ।
नाशमायांति सुव्यक्तं यौवनेन समंश्रियः ।।1।।

अर्थ :- सतत् कान्ताओं के आनन का अवलोकन करने में दत्तचित्त-पुरुषों का वैभव यौवन के साथ निश्चय से शीघ्र नष्ट हो जाता है । वल्लभदेव का विचार भी विचारणीय है -

यः संसेव्यते कामी कामिनीं सततं प्रियाम् ।
तस्य संजाय ते यक्ष्मा धृतराष्ट्र पितुर्यथा ।।2।।

अर्थ :- जो कामी पुरुष निरन्तर अपनी कमनीय रूप लावण्यमयी प्रिया-स्त्री का सेवन करता है उसे धृतराष्ट्र के पिता के समान यक्ष्मातपेदिक-टी.बी. के रोग का शिकार बनना पडता है । अर्थात् धातु क्षीण होने से अतिशीघ्र मृत्युवरण के कारणीभूत रोगों का शिकार होना पडता है । अतः भोगासक्ति का त्याग कर ही विवेकी को सुखी होना चाहिए ।

"नीति शास्त्र विरुद्ध काम सेवन से हानि"

विरुद्धकामवृत्तिः समृद्धोऽपि न चिर नन्दति ।।14।।

अन्वयार्थ :- (कामवृत्तिः) काम नीति के (विरुद्धः) विपरीत चलने वाला (समृद्धः) सशक्त (अपि) भी (चिरम्) अधिक समय (नन्दति) सुखी रहता है (न) नहीं ।

नीतिशास्त्र के विरुद्ध कामसेवन में रत रहने वाला मनुष्य अधिक समय पर्यन्त सुखानुभव नहीं कर सकता है क्योंकि भोगोपभोग करने के लिए शारीरिक बल भी अपेक्षित होता है ।

विशेषार्थ :- धन बल, शरीर बल से भी पुष्ट व्यक्ति भोगासक्त होने पर नीति सदाचार से विमुख हो दुःख, दैन्य, ताप से युक्त हो जाता है । वह रति सुख को सर्वस्व मान बैठता है परन्तु उसे भी अधिक काल तक पा नहीं सकता । क्योंकि असत्-नीतिविरुद्ध आचरण से संचित सम्पत्ति बर्बाद हो जाती है, नवीन उपार्जन कर ही नहीं पाता, फिर क्या होगा ? दारिद्रय का भीषण संकट सहना ही पडेगा । नीति विरुद्ध का अभिप्राय है परस्त्री सेवन, वेश्या सेवन । ये दोनों ही कार्य लोक विरुद्ध, समाज विरुद्ध और धर्म विरुद्ध हैं । इन्हें त्यागने पर ही मानवीय जीवन का आनन्द प्राप्त होता है ।

ऋषिपुत्रक ने भी इन कार्यों की भत्सर्ना की है -

परदार रतो योऽत्र पुरुषः संप्रजायते ।
धनाढ्योऽपि दरिद्रः स्याद् दुष्कीर्तिं च लभते सदा ।।

(उत्तर पद संस्कृत टीका का नहीं है ।)

अर्थ :- लोक में परनारी सेवक मनुष्य दरिद्री हो जाता है और सतत् अपकीर्ति को प्राप्त करता है ।

रावण जैसा त्रिखण्डाधिपति भी पर स्त्री सेवन के परिणाम से सुवर्ण की लंका को गंवा बैठा और कुयश का आज तक पात्र बना हुआ है । सर्वत्र उसका अपयश व्याप्त है । निष्कर्ष यही है कि सुख समृद्धि यश चाहने वालों को काम वासना का दास नहीं बनना चाहिए ।

धर्म, अर्थ व काम पुरुषार्थों में प्रथम किसका अनुष्ठान करना

"धर्मार्थकामानां युगपत् समवाये पूर्वः पूर्वो गरीयान् ।।15।।"

अन्वयार्थ :- (धर्मार्थकामानाम्) धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों क (युगपत्) एक समय में (समवाये) एक साथ आने पर (पूर्वः) प्रथम पहले (पूर्वः) प्रथम-धर्म पुरुषार्थ ही (गरीयान्) श्रेष्ठ माना है-सेव्य है ।

धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ यदि एक ही काल में एक साथ उपस्थित हो जांये तो सत्पुरुषों को सर्व प्रथम धर्मानुष्ठान करना चाहिए पुनः क्रमानुसार अर्थ और काम पुरुषार्थ सेवनीय है ।

विशेषार्थ :- सदाचारी गृहस्थ को एक ही समय में प्राप्त होने पर भी प्रथम धर्माचरण करना चाहिए । चक्रवर्ती भरत राजा को एक समय में एक साथ तीन सूचनाएँ मिलीं । तीन सेवक एक साथ आये । प्रथम ने कहा राजन्! आपकी आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है, उसी समय दूसरा कह रहा है प्रभो ! आपको पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ है और तीसरा बोल रहा है राजेश्वर ! आपके पुण्योदय से श्री ऋषभदेव को कैवल्य प्राप्त हुआ है । नीतिज्ञ भरत ने विचार किया प्रभु को केवलज्ञान प्राप्ति धर्म पुरुषार्थ का फल है, पुत्रोत्पत्ति काम का और चक्रोत्पत्ति अर्थ पुरुषार्थ की द्योतक है । अतः मुझे सर्व प्रथम जिनेन्द्र की पूजा करना चाहिए तदनन्तर चक्ररत्न की और उसके बाद पुत्रोत्सव मनाना योग्य है । इसी प्रकार उसने क्रियायें सम्पादन कीं। इससे स्पष्ट होता है सर्वप्रथम धर्मपुरुषार्थ, पुनः अर्थ और काम सेवन शिष्टाचार के अनुकूल हैं । भागुरि ने भी लिखा है-

धर्म चिन्तां तृतीयांशं दिवसस्य समाचरेत् ।
ततो वित्तार्जने तावन्मात्रं कामार्जने तथा ।।1॥

अर्थ :- मनुष्य को दिन के तीन भाग कर एक-प्रथम भाग में धर्मार्जन करना चाहिए, दूसरे हिस्से में धनार्जन और तीसरे में काम पुरुषार्थ सेवन करना योग्य है । क्रमानुसार क्रिया सम्यक् फल प्रदान करती है । अतः विधिवत् पुरुषार्थों का सेवन कर सुख-शान्ति सम्पादन करना चाहिए । यही सज्जनों का कर्त्तव्य है ।

समयानुसार पुरुषार्थ का अनुष्ठान

कालासहत्त्वे पुनरर्थ एव ।।16॥ मू.पु.में ''कालसहत्वे पुनरर्थं एव'' पाठ है ।

अन्वयार्थ :- (काल) समय (असहत्वे) पर्याप्त न होने पर (पुनः) आगे (अर्थ) अर्थोपार्जन (एव) ही (कुर्यात्) करे।

धर्म और काम अन्य समय में भी किये जा सकते हैं । अतएव तीनों में अर्थ ही श्रेष्ठ है ।

विशेषार्थ :- यदि न्यायोपात्त धनार्जन का अवसर प्राप्त हुआ हो, और उसके निकल जाने पर विशेष क्षति आने की संभावना हो कौटुम्बिक समस्याएँ आने का सन्देह होता हो, दरिद्रता का अवसर आ सकता हो, धर्म कार्यों के सम्पादन में विघ्न-बाधाएँ आने का अंदेशा हो तो प्रथम अर्थार्जन करना ही उत्तम है । क्योंकि ''अर्थ वाह्यो धर्मो न भवति ।'' अर्थ-धन के बिना-दरिद्र दशा में धर्मानुष्ठान भी संभव नहीं हो सकते हैं । सांसारिक सुखोपभोग भी संभव नहीं हो सकते ।

नारद विद्वान ने भी इसी बात की पुष्टी की है -

अर्थं कामौ न सिद्ध्येते दरिद्राणां कथंचन
तस्मादर्थो गुरुस्ताभ्यां संचिन्त्यो ज्ञायते बुधैः ।।1॥

अर्थ :- दरिद्र पुरुषों के धर्म और काम पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होते । अतः विद्वानों ने धर्म और काम पुरुषार्थ की अपेक्षा अर्थ पुरुषार्थ को श्रेष्ठ कहा है । परन्तु इसे एकान्त नहीं समझना चाहिए ।

धर्माचार्यों ने कहा है-

न जातु कामान्न भयान्न लोभात्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।।1 ॥

(संग्रहीत) ।।

अर्थ :- विवेकी मनुष्य को पूर्व में धर्म पुरुषार्थ का ही अनुष्ठान करना चाहिए । उसे विषयों की लालसा, भय, लोभ और जीव रक्षा के लालच से धर्म कभी भी नहीं छोडना चाहिए । साथ ही आचार्य श्री का आशय यह भी है कि आर्थिक संकट में फंसने पर दरिद्री व्यक्ति पूर्व में अर्थोपार्जन करे तो अयुक्त नहीं है । क्योंकि धर्म, काम, लौकिक जीवन यात्रा, तीर्थ वन्दना, पूजा-विधानानुष्ठानादि अर्थ के आश्रित हैं, अर्थ रहने पर ये कार्य निर्विघ्न होना संभव हैं अन्यथा कठिनाई या बाधा आ सकती है । अतः आवश्यकता व समयानुसार धन सञ्चय करना उत्तम है ।

तीनों पुरुषार्थों म अर्थ की मुख्यता बताते हैं -

धर्मकामयोरर्थमूलत्वात् ।।17 ॥

अन्वयार्थ :- (धर्मकामयोः) धर्म और काम का (मूलम्) जड (अर्थम्) अर्थ है ।

धर्म और काम पुरुषार्थ की जड़-मूल अर्थ पुरुषार्थ होने से वह प्रधान है । अर्थात् पैसे के अभाव में धर्म सिद्धि व भोग सिद्धि नहीं हो सकती है । अतः धर्म और काम की सुख सिद्धि के लिए प्रथम अर्थपुरुषार्थ को मुख्य बताया है । सर्वत्र आवश्यकता और अवसर का लक्ष्य रखना चाहिए ।

।।0 ॥

''इति काम समुद्देशः समाप्तः ।।3 ॥

प.पूज्य विश्ववंद्य, चारित्रचक्रवर्ती मुनिकुञ्जर सम्राट् महान् तपस्वी, वीतरागी दिगम्बराचार्य श्री 108 आदिसागर जी अंकलीकर के पट्टाधीश आचार्य शिरोमणि, समाधि सम्राट् श्री महीवीर कीर्ति जी महाराज की संघस्था, श्री प. पूज्य कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य श्री विमल सागर जी की शिष्या ज्ञानचिन्तामणि, सिद्धान्त विशारदा प्रथम गणिनी आर्यिका विजयामती जी द्वारा विजयोदय हिन्दी टीका का तृतीय परिच्छेद परम् पूज्य सिद्धान्त चक्रवर्ती, अंकलीकर के तृतीय पट्टाधीश, उग्रतपस्वी सम्राट् आचार्य प्रवर श्री सन्मति सागर जी महाराज के पावन चरण सानिध्य में समाप्त हुआ ।

4

अर्थ अरिषड्वर्ग-समुद्देशः

राजाओं के अन्तरङ्ग शत्रु-काम और क्रोध का निरूपण:

अयुक्तितः प्रणीताः काम क्रोध, लोभ, मद-मान हर्षाः क्षितीशानामन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गः ।।1।।

अन्वयार्थ :- (अयुक्तितः) अन्याय से (प्रणीतः) कथित (शत्रुः) शत्रु (काम-क्रोध-लोभ-मद-मान हर्षाः) कामवासना, कोप, लालच, अहंकार, बडप्पन का भाव व हर्ष (षड्वर्गाः) ये छः भाव (क्षितीशानाम्) राजाओं के (अन्तरङ्गः) अन्तरंग (अरि) शत्रु (सन्ति) हैं ।

काम, कोप, लालच, मद, मान और हर्ष ये यदि असीम रूप से प्रयुक्त होते ह त॥ राजाओं के शत्रु रूप सिद्ध होते हैं।

विशेषार्थ :- आवश्यकता और समय के प्रतिकूल प्रयुक्त किये जाने पर गुण दोष और दोष गुण रूप परिणमित हो जाते हैं । राजाओं के भी उपर्युक्त परिणाम असीम होने पर प्रबल शत्रु का काम करते हैं । राजनीतिज्ञ कामन्दक ने इसका निम्न प्रकार विवेचन किया है -

कामः क्रोधस्तथा लोभो हर्षो मानो मदस्तथा ।
षड्वर्ग मुत्सृज्येदेनमस्मिन् त्यक्ते सुखी नृपः ।।1।।
दण्डको नृपतिः कामात् क्रोधाच्च जनमेजयः ।
लोभादैलस्तु राजर्षिर्वातापिर्दर्पतोऽसुरः ।।2।।
पौलस्त्यो राक्षसो मानान्मदाद्म्भोद्भवो नृपः ।
प्रयाता निधनं ह्येते शत्रुषड्वर्गमाश्रिताः ।।3।।
शत्रु षड्वर्गमुत्सृज्य जामदग्नयो जितेन्द्रियः ।
अम्बरीषो महाभागो बुभुज ते चिरं महीम् ।।4।।
जितेन्द्रियस्य नृपते र्नीतिमार्गानुसारिणः ।
भवन्ति ज्वलिता लक्ष्म्यः कीर्त्तयश्च नभः स्पृशः ।।5।।

नीतिसार पृ.12-13.

अर्थ :- सुखाभिलाषी नृप को काम, क्रोध, लोभ, हर्ष, मान और मद इन छः शत्रु वर्गों का सदैव का पूर्ण त्याग कर देना चाहिए ।।1॥

राजा दण्डक कामासक्त होकर शुक्राचार्य की कन्या के उपभोग की इच्छा से नष्ट हुआ । राजा जनमेजय ब्राह्मणों पर कुपित हुआ और उनके शाप से रोगी होकर जीवन समाप्त कर दिया । इसी प्रकार राजा एल लोभ से और वातापि नाम के असुर अपने अभिमान से अगस्त्य द्वारा नष्ट हुआ ।।2॥

पुलस्त्य का बेटा रावण मानसे और दम्भोद्भव राजा मद से नष्ट हुआ । अर्थात् ये राजा लोग शत्रु षड् वर्ग-उक्त काम-क्रोधादि के आधीन होने से नष्ट हो गये ।।3॥

इसके विपरीत-काम और क्रोधादि शत्रु षड्वर्ग पर विजय प्राप्त कर जितेन्द्रिय पुरुष राम और महान भाग्यशाली राजा अम्बरीष ने चिरकाल तक पृथ्वी का उपभोग किया ।।4॥

जो राजा इन्द्रियों पर विजय करता है और नीति मार्ग पर चलता है, सदाचारी है उसकी लक्ष्मी प्रकाशमान और कीर्ति गगनाङ्गण तक प्रसरित रहती है ।।5॥

सारांश यह है कि सुखाभिलाषी मानवों और विजिगीषु राजाओं को अनुचित स्थान करने योग्य-काम, क्रोधादि शत्रुषड्वर्गों पर विजय प्राप्त करना चाहिए । क्योंकि इनके आश्रितों को न तो इस लोक सम्बन्धी सुख उपलब्ध होता है और न परलोक सम्बन्धी आनन्द ही प्राप्त होता है ।

कामशत्रु का विवेचनः

पर परिग्रहीतास्वनूढासु च स्त्रीषु दुरभिसन्धिः कामः ।।2॥

अन्वयार्थ :- (पर परिग्रहीतासु) पर स्त्री व वेश्याओं (अनुढासु) अविवाहित-कन्याओं (च) और (स्त्रीषु) स्त्रियों में (दुरभिसन्धि) काम भोग की अभिलाषा (कामः) काम (कथ्यते) कहा जाता है ।

अन्य के साथ विवाहित, वेश्या अथवा कन्याओं से विषय भोग करना उभयलोक में महा दुःख प्रदाता है।

विशेषार्थ :- धर्मानुकूल जिसके साथ विवाह हुआ है, उसे भी विवेकी जन अलोल, सन्तोषपूर्वक मर्यादा से सेवन करते हैं फिर पर स्त्री और वेश्या जो सर्वथा त्याज्य हैं उनकी क्या बात ? उन्हें तो नागिन वत् दूर ही से त्याग देना चाहिए । नलकूबर की पत्नी ने रावण पर आसक्त होकर अपना प्रेम प्रस्ताव भेजा । रावण ने निम्न प्रकार बुद्धिपूर्वक आदर्शनीय उत्तर दिया :-

विधवाभर्तृ संयुक्ता प्रमदाकुल बालिका
वेश्या च रुपयुक्तापि परिहार्याप्रयत्नतः ।।124 प.12

अर्थ :- विधवा (पतिविहीन), सौभाग्यवती, सुन्दरकुलीन कन्या, वेश्या ये कितनी भी रूप लावण्यमयी भी क्यों न हों प्रयत्नपूर्वक त्यागने योग्य हैं । अर्थात् परस्त्री सेवन व्यभिचार है दुर्गति का कारण है ।

इसी प्रकार गौतम विद्वान ने भी निम्न प्रकार लिखा है :-

अन्याश्रितां च यो नारीं कुमारीं वा निषेवते ।
तस्य कामः प्रदुःखाय बन्धाय मरणाय च ।।1।।

अर्थ :- जो पुरुष परस्त्री और कन्या का सेवन करता है, उसकी यह भोग लिप्सा अत्यन्त दुःख, बन्धन, तथा मरण उत्पन्न करती है ।

धर्म परम्परानुसार मोक्षमार्ग का हेतू भूत गार्हस्थ धर्म को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए सन्तोष पूर्वक स्व पत्नी का भोग करना उचित है । नीतिज्ञ मनीषी साधु-सन्त, साध्वी उत्पन्न करने के उद्देश्य से काम सेवन करते हैं । यह शिष्टाचार और शोभनीय समाज व्यवस्था है । कुलीन पुरुषों को धर्मानुकूल आचरण करना चाहिए ।

अब मान का लक्षण करते हैं-

अविचार्य परस्यात्मनो वापाय हेतुः क्रोधः ।।3।।

अन्वयार्थ :- (परस्य) दूसरे की शक्ति का (वा) अथवा (आत्मनः) अपनी योग्यता को (अविचार्य) विचार न कर (क्रोधः) क्रोध करना (आत्मनः) स्वयं के (अपायः) विनाश का (हेतूः) कारण (अस्ति) है ।

जो मूर्ख पुरुष स्वयं की और जिस पर कुपित होता है उसकी सामर्थ्य का विचार न करता हुआ कोप करता है वह अपना ही विनाश करने का उद्योग करता है ।

विशेषार्थ :- सामान्यतः कोपादि कषाय सभी आत्मा को कष्टदायी है । लौकिक व्यवहार व्यवस्था हेतु भी क्रोध करना स्व- पर की योग्यतानुसार नहीं है तो वह स्वयं का ही घात करने वाला सिद्ध होता है । कहा भी है :-

कोप करि मरे और मारे, जाय जेल खाने में
जो कहूँ निबल भये हाथ पांव टूट गये
ठौर ठौर पड़ी बंधी पडे सफाखाने में

अर्थात् कमजोर पर क्रोध किया तो उसे कोपांध हो मार डालता है और स्वयं भी बध-बन्धन सहता है । कमजोर होने पर हाथ-पैरों की हड्डियाँ-संधियाँ टूट-फूट जाती हैं, यत्र-तत्र अंगों में पट्टियां बंध जाती हैं । दुःख से व्याकुल हो पीड़ा सहता है । निन्दा का पात्र होता है और पर लोक में भी दुर्गति पाता है । नीतिकार भागुरि ने भी कहा है :-

अविचार्यात्मनः शक्ति परस्य च समुत्सुकः ।
यः कोपं याति भूपालः सविनाशं प्रगच्छति ।।1।।

अर्थ :- जो नृपति अपनी और शत्रु की शक्ति को बिना सोचे-समझे क्रोध करता है वह अवश्य नष्ट होता है ।।

राज शासन निपुण, न्यायप्रिय एवं राज्यवृद्धि के इच्छुक भूपाल को अप्राप्य राज्य की प्राप्ति, प्राप्त की रक्षा, और रक्षित की वृद्धि करने के लिए तथा प्रजा पीडक कण्टकों-शत्रुओं को परास्त कर वश करने के लिए न्यायपूर्वक

अपनी और शत्रु की शक्ति का विचार करना चाहिए । तदन्तर उपयुक्त क्रोध करना चाहिए । इसी प्रकार गृहस्थ भी अपनी सम्पत्ति, सन्तति आदि की रक्षार्थ तस्करादि के प्रति कोप करे तो अनुचित नहीं है । परन्तु सर्वत्र न्याय पद्धति हो। धार्मिक आदर्शतम दृष्टि से शास्त्रकारों ने कहा है कि क्रोध शत्रु आत्मा का पतन करने वाला है । जिस प्रकार अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है उसी प्रकार कोपानल भी मनुष्य के व्रत, जप, तप, नियम, उपवास, शील, संयमादि से उत्पन्न प्रचुर पुण्यराशि को भस्म कर देता है । इसलिए महापुरुष-सन्तजन इसके वश नहीं होते । फलतः उनकी पुण्य रूप सम्पदा वृद्धिंगत होती है ।

क्रोधीपुरुष के महीनों को उपवास, सत्यभाषण, ध्यान, वन में निवास, ब्रह्मचर्यधारण, परघरचर्या-आहार आदि सब निष्फल हैं -

मासोपवास निरतोऽस्तु तनोतु सत्यं
ध्यानं करोतु विदधातु बहिर्निवासम् ।।
ब्रह्मव्रतं धरतु भैक्षचरोऽस्तु नित्यम् ।
रोषं करोतियदि सर्वमनर्थकं तत् ।।2 ।।

सु. र. सं.

अर्थात् बाह्याभ्यन्तर सभी गुण व उपसर्ग परीषह जय आदि क्षमा से स्थिर और सफल होते हैं कोप से ध्वंश हो जाते हैं । और भी कहते हैं :-

दुःखार्जितं खलगतं बलभीकृतं च ।
धान्यं यथा दहति वन्हिकणः प्रविष्टः ।।
नानाविधव्रततदयानियमोपवासैः ।
रोषोऽर्जितं भवभृतां पुरुपुण्यराशिम् ।।3 ।।

सुभाषि.र.सं.

अर्थ :- श्रीअमित गति आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार खलिहान में एकत्रित धान्यराशि अग्निकण के द्वारा जला दी जाती है, उसी प्रकार नाना प्रकार के व्रत, दया, नियम और उपवास से संचित पुण्यराशि को क्रोध नष्ट कर देता है ।3 ॥ इतना ही नहीं यह कोपानल अपने में ही उत्पन्न होकर अपने ही को जलाता है । यथा :-

दहेत् स्वमेव रोषाग्निर्नापरं विषयं ततः ।
क्रुध्यन्निक्षिपति स्वाङ्गे वन्हिमन्यदिधक्षया ।।1 ।।

क्ष.चू.म

अर्थ :- जिस प्रकार कोई मनुष्य किसी दूसरे पुरुष को अग्नि से जलाने के लिए अंगारे को अपने हाथ में लेता है तो प्रथम वह स्वयं ही जलता है - उसी का हाथ जलता है, उसी प्रकार यह क्रोध रूपी दावानल जिसके हृदय में उत्पन्न होती है प्रथम उसी के सम्यग्ज्ञान, सुख, शान्ति आदि अनेक गुणों को भस्म कर देती है । अतः नीतिज्ञान सत्पुरुषों को कोपाग्नि से दूर रहना चाहिए ।

लोभ का लक्षण निर्देशः

दानार्हेषु स्वधनाप्रदानं परधनग्रहणं वा लोभः ।।4।।

अन्वयार्थ :- (दानार्हेषु) दान देने के योग्य पुरुषों में (स्वधन) अपना धन (अप्रदानम्) नहीं देना (वा) अथवा (परधनग्रहणम्) दूसरे के धन को चोरी आदि कर हड़पना (लोभः) लोभ (अस्ति) है ।

सत्पात्रों व दीनों को उनकी योग्यता और अपनी सामर्थ्य के अनुसार दान सम्मान नहीं देना और बलात् दूसरों का धन हड़पना लोभ कहलाता है ।

विशेषार्थ :- लोभ, लालच, गृद्धता, लुब्धता आदि लोभ के पर्यायवाची हैं । लोभी अपने धन का न्यायपूर्वक विनिमय नहीं करता । उसका चित्त पर धन, पर महिला, परवस्तु पर ही लगा रहता है । फलतः सदा चञ्चल बना रहता है वह किसी भी कार्य में सफल नहीं होता । कहा भी है :-

सन्मार्गं यः परित्यज्य पर वित्ताभिलाषुकः ।
खलत्वं वर्द्धते तस्य परिवारश्च नश्यति ।।1।।

अर्थ :- समीचीन मार्ग का त्याग कर जो पराये धन की अभिलाषा करता है, उसकी मूर्खता-दृष्टता बढ़ती जाती है और परिवार भी नष्ट हो जाता है । कहावत है "कर भला हो भला, कर बुरा हो बुरा" भलाई का फल भलाई है, बुराई का फल बुराई । यह लोक में देखा ही जाता है । आचार्य कहते हैं -

ऐसी बुद्धि न काम की, लालच जिसे फंसाय ।
तथा समझ वह निंद्य जो, दुष्कृति अर्थ सजाय ।।5।।

अर्थः वह बुद्धिमान और समझदार मन भी लालच में फंस जाय तो वह भी अविचारित कार्यों में फंस जाता है । यदि आप चाहते हैं कि हमारी सम्पत्ति कम न हो तो आप अपने पडौसी की सम्पत्ति धन वैभव को हडपने की चाह मत करो।

अत्रिमुनि ने लिखा है कि -

पर स्व हरणं यत्तु तद्धताढ्यः समाचरेत् ।
तृष्णयाऽर्हेषु चादानं स लोभ परकीर्तितः ।।1।।

अर्थ :- जब धनाढ्य पुरुष तृष्णा के वशीभूत होकर दूसरों के धन को चोरी वगैरह अन्यायों से ग्रहण करता है, एवं दान करने योग्य पात्रों को दान नहीं देता उसे लोभ कहा जाता है ।

लोभ मूलानि पापानि इत्येतद् यैर्न प्रमाण्यते ।
स्वयं लोभाद् गुणभ्रंशं पश्यन् पश्यन्तु तेऽपि तम् ।।6।।

श्लो.सं.

अर्थ :- पापों की जड़ लोभ है "लोभ पाप का बाप बखाना" कहा है, इस सूक्ति को जो प्रमाण नहीं

मानता वह स्वयं लोभ से अपने ही गुणों का नाश करता है । अत: लोभ को ही कृश करना चाहिए । लोभ भयंकर अग्नि है :-

निःशेषधर्मवनदाह विजृम्भमाणो,
दुःखौघभस्मनि विसर्पदधर्म धूमे ।
दाढं धनेन्धनसमागम दीप्यमाने,
लोभानले शलभतां लभते गुणौघः ।।1 ।।

अर्थ :- समस्त धर्म रूपी वन को जलाने से जो वृद्धिंगत हो रहा है, दु:ख समूह रूपी भस्म से व्याप्त है, जिसका अधर्म रूपी धुँआ दूर-दूर तक फैल रहा है और जो धन रुपी ईंधन को पाने की लालसा से प्रज्वलित हो रही है, ऐसी लोभ रूपी आग में गुणों का समूह पतङ्ग की दशा को प्राप्त हो रहा है । इस प्रकार लोभ की कुटिलता को ज्ञात कर विनीत पुरुषों को उसका त्यागकर आत्मा को पावन बनाना चाहिए । सन्तोष धारण करना चाहिए ।15॥

अब मान का लक्षण करते हैं-

दुरभिनिवेशामोक्षो यथोक्ताग्रहणं वा मानः ।15॥

अन्वयार्थ :- (दुराभिनिवेश) शिष्टाचार विरुद्ध प्रवृत्तियों में दुराग्रह, (अमोक्षः) नहीं त्यागना (वा) अथवा (यथोक्तं) यथार्थ-आगम कथित बात को (अग्रहणम्) ग्रहण नहीं करना, स्वीकार नहीं करना (मानः) मानकषाय (अस्ति) है ।

मिथ्या धारणा को त्याग नहीं करना और आगमोक्त पद्धति को स्वीकार नहीं करना मान कषाय है ।

विशेषार्थ :- आचार्य कहते हैं "मानेनभव वर्द्धनम्" मान कषाय संसार रूपी वल्लरी के सिंचन को मधुर सलिल है। मानी का जग शत्रु हो जाता है । अपने भी पराये हो जाते हैं । यशोपताका के साथ उसका नाम, धाम और काम नष्ट हो जाता है । रावण इसका उदाहरण है । व्यास ने भी कहा है -

पाप कृत्यापरित्यागो युक्तोक्तपरिवर्जनम् ।
यत्तन्मानाभिधानं स्याद्यथा दुर्योधनस्य च ।।1॥

अथ :- पाप कार्यों को न छोड़ना और कही हुयी योग्य बात को नहीं मानना उसे मान कहते हैं । जिस प्रकार दुर्योधन का मान प्रसिद्ध है अर्थात् उसने पाण्डवों का न्याय प्राप्त राज्य न देकर महात्मा कृष्ण और विदुर आदि महापुरुषों की आज्ञा-वार्ता को नहीं माना । उनके कथन की उपेक्षा की यह मान कषाय का परिणाम है । मानी जगत् में निंद्य हो जाता है । उसके गुण धूमिल हो जाते हैं । परलोक में दुर्गति का पात्र होता है । यथा -

जिह्वा सहस्त्र कलितोऽपि समासहस्त्रैः
र्यस्यां न दुःखमुपवर्णयितुं समर्थः ।

सर्वज्ञ देवमपहाय परो मनुष्य-
एतां श्वभ्रभूमिमुपयाति नरोऽभिमानी ।।1॥

श्लो.सं.

अर्थ :- अहंकारी मनुष्य महा रौरव नरक में जाता है । उस नरक के घोर दुःखों का वर्णन सर्वज्ञ भगवान के अतिरिक्त अन्य कोई हजारों जिह्वाओं से हजारों वर्षों तक भी वर्णन करता रहे तो भी नहीं कर सकता है ।

सारांश यह है कि मान स्व-पर घातक है इसका परित्याग करना ही श्रेष्ठ है कहा है "मान महाविष रूप" महाभंयकर विष के समान है मान ।

अवंश संभवो राजा, मूर्खपुत्रो हि पण्डितः ।
अधनेन धनं प्राप्तं, तृणवन्मन्यते जगत् ।।18॥

अर्थ :- यदि नीच कुल में उत्पन्न मनुष्य राजा हो जावे, मूर्ख का पुत्र पण्डित बन जावे, और निर्धन को धन मिल जावे तो वह गर्व से जगत् को तृण के समान मानता है ।।18॥ मानी का पद-पद पर मान भंग होता है-

वरं प्राणपरित्यागो न मान परिखण्डनम् ।।
मरणे क्षणिकं दुःखं मान भङ्गे पदे-पदे ।।26॥

श्लो. सं.॥

अर्थ :- प्राण त्याग श्रेष्ठ है, मान भंग होकर जीना अच्छा नहीं । क्योंकि मरण होने पर एक क्षण का कष्ट होता है, परन्तु मानभंग होने पर पद-पद पर संकट-पीड़ा सहनी पड़ती है । अभिप्राय यह है कि अहंकारी या दम्भी को प्रतिकदम अपमान की त्रास सहनी पड़ती है ।

स्वाभिमान बुरा नहीं, परन्तु अपमान का हेतू अहंकार खोटा है । मान नहीं करना चाहिए । मान मूर्खता का चिन्ह है-मूर्ख के 5 चिन्ह हैं :-

मूर्खस्य पञ्च चिन्हानि, गर्वी दुर्वचनी तथा ।
हठी चाप्रियवादी च, परोक्तं नैव मन्यते ।।25॥

अर्थ :- अभिमानी मूर्ख के पाँच चिन्ह हैं - 1. अहंकार, 2. खोटे वचन बोलना, 3. हठग्राहता, 4. अप्रिय वचन बोलना और शास्त्रोक्त उपदेश को स्वीकार नहीं करना मान कषाय के आवरण में आवृत मनुष्य उपर्युक्त लक्षण युक्त होकर उभय लोक में अयश, निन्दा, दुःख और दुर्गति का पात्र होता है । अतः मान कषाय का सर्वथा त्याग ही करना चाहिए । यह सर्व दुःखों का हेतू है ।

मद का लक्षण कथन

"कुलबलैश्वर्यरूपविद्यादिभिरात्माहंकारकरणं परप्रकर्षनिबंधनं वा मदः ।।6॥"

अन्वयार्थ :- (आत्म) अपने (कुल, बल, ऐश्वर्य, रूप, विद्यादिभिः) कुल, शक्ति, वैभव, सौन्दर्य, विज्ञान

कलादि द्वारा (अहंकारकरणं) अहंकार करना (वा) अथवा (परप्रकर्ष निबंधनम्) दूसरे के उत्थान को नहीं देख सकना-ईर्ष्या करना (मदः) मद (कथ्यते) कहा जाता है ।

लौकिक शक्ति कला-विज्ञानादि की प्राप्ति के द्वारा बड़प्पन का गर्व होना अथवा पर का विकास देखकर डाह करना मद कहलाता है ।

विशेषार्थ :- "मद" नशा है । मदिरादि नशीली वस्तु का सेवक जिस प्रकार उसके नशे में चूर होकर अपने स्वरूप को विस्मृत कर देता है, उसी प्रकार मद से उन्मत्त पुरुष भी विवेकशून्य हो जाता है । यह मद आठ प्रकार का कहा है, आचार्य श्री समन्तभद्रस्वामी कहते हैं :-

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ।।25।।

र.क.श्रा.

अर्थ :- 1. ज्ञान, 2. पूजा, 3. कुल, 4. जाति, 5. बल, 6. ऋद्धि, 7. तप और 8. शरीर इन आठ वस्तुओं के आश्रय से मद का जन्म होता है । कारण में कार्य का उपचार कर आठ ही मद के भेद कहे हैं । ज्ञान, पूजादि की प्राप्ति होना मात्र मद नहीं है, अपितु इनके पाने के अनन्तर इनके निमित्त से जो एक प्रकार का बड़प्पन या अहं का भाव जाग्रत होता है वह है मद । मदिरा उन्मत्त नहीं, किन्तु उसे पीकर मनुष्य का ज्ञान अभिभूत होता है वह है-उन्मत्तता । इसी प्रकार बल, तपादि के वैशिष्ट्य होने पर दूसरों को हीन समझने का भाव या तिरस्कृत करने की इच्छा को मद समझना चाहिए । यह मद पतन का हेतू है । परिणामों में कालुष्य उत्पन्न करता है । आगे होने वाली प्रगति को रोक देता है । शिष्टाचार और सदाचार को भुला देता है । विद्वान जैमिनि ने भी इसका स्वरूप निम्न प्रकार कहा है -

कुल वीर्य स्वरूपार्थैर्यो गर्वो ज्ञानसंभवः
स मदः प्रोच्यतेऽन्यस्य येन वा कर्षणं भवेत् ।।1।।

अर्थ :- अपने कुल, वीर्य, रूप, धन और विद्या से जो गर्व किया जाता है अथवा दूसरों को नीचा दिखाया जाता है उसे मद कहते हैं ।।1।।

इस प्रकार विचार करने पर बाह्य द्रव्यादि मदोत्पत्ति के कारण हैं-निमित्त हैं, यदि पाने वाला अपनी परिणति को सही बनाये रखे तो वह उन्मत्त नहीं होगा । गर्व करना दुर्गति का कारण है । जिन निमित्तों को लेकर मनुष्य गर्व करता है वे सब क्षणिक हैं । नाशवान हैं । उनका समय स्थिर नहीं । फिर अहंकार क्या करना ? इस प्रकार विचार कर मद का त्याग करना चाहिए ।

हर्ष का लक्षण कहते हैं

निर्निमित्तमन्यस्य दुःखोत्पादनेन स्वस्यार्थ संचयेन वा मनः प्रतिरञ्जनो हर्षः ।।7।।

अन्वयार्थ :- (निर्निमित्तम्) बिनाकारण (अन्यस्य) दूसरे के (दुःखोत्पादनेन) पीड़ा उत्पन्न करने से (वा)

अथवा (स्वस्य) अपने (अर्थ) धन (संचयेन) प्राप्त करने से (मनः) मन का (प्रतिरञ्जनो) अति आनंदित होना (हर्षः) हर्ष (कथ्यते) कहा जाता है ।

निष्प्रयोजन दूसरों को कष्ट पहुँचाकर मन में प्रसन्न होना अथवा इष्ट वस्तु-धनादि की प्राप्ति होने पर मानसिक प्रसन्न का होना हर्ष है ।

विशेषार्थ :- दुनियां दुरंगी है । कुछ लोग पर के दुःख से सुखी होते हैं और कुछ लोग अपने सुख से सुखी होते हैं । यहाँ यही दर्शाया है । बिना प्रयोजन ही दुर्जन दूसरों को सताकर हर्षानुभव करते हैं । बलि चढ़ाने वाले निरीह पशुओं को बलि चढ़ा कर आनन्द मानते हैं । अन्य भी ऐसे लोग हैं, किसी के जन-धन-यश के नाश होने पर हर्ष मानते हैं और कुछ मध्यम श्रेणी वाले अपने योग्य इष्टपदार्थों के संचय करने पर आनन्द मानते हैं तथा उत्तम पुरुष स्व और पर दोनों के सुख में हर्ष मानते हैं । चित्तवृत्ति वैचित्र्य है - भारद्वाज ने कहा है -

प्रयोजनं बिना दुःखं यो दत्त्वान्यस्य हृष्यति ।
आत्मनोऽनर्थ सन्देहैः स हर्षः प्रोच्यते बुधैः ।।3।।

अर्थ :- जो व्यक्ति बिना प्रयोजन दूसरों को कष्ट पहुँचाकर हर्षित होता है एवं अपनी इष्ट वस्तु की प्राप्ति में किसी प्रकार का सन्देह न होने पर हर्षित होता है उसे विद्वान हर्ष कहते हैं ।

वस्तुतः नैतिक मनुष्यों को मानसिक, शारीरिक व आर्थिक विकास के लिए सदैव हर्षित रहना उत्तम है । परन्तु निष्कारण किसी दीन-हीन गरीब को सताना-कष्ट पहुँचाना और सुखानुभव करना उचित नहीं । क्योंकि इससे पाप बन्ध तो होता ही है लोक निन्दा भी होती है । सत्पुरुषों की दृष्टि में वह घृणा का पात्र हो जाता है । यही नहीं धनादि इष्ट वस्तु पाकर इठलाना, अहंकार-प्रदर्शन करना और अपने को अति प्रसन्न मानना यह भी तुच्छता और संकीर्ण मनोवृत्ति का द्योतक है । क्योंकि इससे लौकिक सम्मान दूषित होता है और दूसरे लोग ईर्ष्या भी करने लगते हैं । शत्रु बहुत हो जाते हैं । तथा बहिरात्मबुद्धि होने से संसार परिभ्रमण का भी कारण है । अतएव हर्ष यथार्थ में वह है जिससे आत्मीय आनन्द जाग्रत हो । परिणामों में दया और समताभाव उत्पन्न हो । वही हर्ष मानना चाहिए ।

''इत्यरिषड्वर्ग समुद्देशः समाप्तः ।।

प. पूज्य विश्ववंद्य, चारित्र चक्रवर्ती मुनिकुंजर सम्राट् महान् तपस्वी, वीतरागी, दिगम्बराचार्य 108 श्री आदिसागर जी अंकलीकर के पट्टाधीश आचार्य शिरोमणि श्री समाधि सम्राट् महावीर कीर्ति जी महाराज संघस्था एवं श्री प.पूज्यकलिकालसर्वज्ञ आचार्य श्री विमल सागर जी की शिष्या, ज्ञानचिन्तामणि, सिद्धान्त विशारदा प्रथम गणिनी आर्यिका विजयामती द्वारा विजयोदय हिन्दी टीका का चतुर्थ परिच्छेद प. पूज्य सिद्धान्त चक्रवर्ती उग्रतपस्वी सम्राट् अंकलीकर आचार्य के तृतीय पट्टाधीश श्री सन्मति सागर जी महाराज के चरण सान्धिय में सम्पूर्ण हुआ ।

।। 0 ।।

5

अर्थ विद्यावृद्ध समुद्देशः

राजा का लक्षण

योऽनुकूल प्रतिकूलयोरिन्द्रियमस्थानं स राजा ।।1।।

अन्वयार्थ :- (यः) जो (अनुकूलस्य) अपने अनुकूल चलने वाले को (इन्द्रः) इन्द्रस्थानीय (प्रतिकूलस्य) विपरीत चलने वाले के लिए (यम) यमदूत (स्थानम्) स्थानीय हो (सः) वह (राजा) भूपति (भवति) होता है।

जो राज्य शासन के अनुकूल चलने वालों की इन्द्र के समान रक्षा करे और प्रतिकूल+विरुद्ध चलने वालों को यम के समान त्रास-दण्ड देने में समर्थ होता है वही राजा कहलाता है ।

विशेषार्थ :- शासन करने में दक्ष व्यक्ति ही राजा होता है । क्योंकि प्रजा में शिष्ट और दुष्ट, सदाचारी-दुराचारी सभी प्रकार के लोग रहते हैं । सबको यथा योग्य साम, दाम, भेद, दण्ड द्वारा अनुशासित रखना पड़ता है । भार्गव नामक विद्वान ने भी कहा है -

वर्तते योऽरिमित्राभ्यां यमेन्द्राभः भूपतिः ।।
अभिषेको व्रणस्यापि व्यञ्जनं पट्टमेव वा ।।1।।

अर्थ :- राजा शत्रुओं के साथ काल के सदृश और मित्रों के साथ इन्द्र के समान प्रवृत्तिक्रम करने वाला होता है अर्थात् निग्रह और अनुग्रह करता है । कोई व्यक्ति केवल अभिषेक और पट्टबन्धन मात्र से राजा नहीं हो सकता उसे प्रतापी और शूरवीर-सुभट होना चाहिए । क्योंकि अभिषेक-जल से धोना और पट्टबन्धन-पट्टी बांधना यह तो व्रण (फोडे) को भी किया जाता है फिर वह भी राजा माना जायेगा । अतः योग्यता ही मान्य होती है ।

राजा के कर्त्तव्य कहते हैं -

राज्ञो हि दुष्टनिग्रहः शिष्टपरिपालनं च धर्मः ।।2।।

अन्वयार्थ :- (हि) निश्चय से (दुष्टनिग्रहः) दुर्जनों का निग्रह करना (च) और (शिष्टपरिपालनम्) सदाचारियों की रक्षा-पालन करना (राज्ञः) राजा का (धर्मः) धर्म-कर्त्तव्य (अस्ति) है ।

पापियों-अपराधियों को सजा देना और उन्हें सन्मार्गारूढ करना तथा सज्जन पुरुषों की रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य है ।

विशेषार्थ :- जिस प्रकार बालक का पालन-पोषण, रक्षण, शिक्षण आदि माता-पिता के आश्रित होते हैं, उसी प्रकार प्रजा का पालन-पोषण संरक्षण भूपति के आश्रित होता है । भूप जिस प्रकार का शिष्ट व दुष्ट होता है प्रजा भी वैसी ही होती है क्योंकि वह उसी का अनुकरण करती है । कहा जाता है - नीति में - "यथा राजा तथा प्रजा"

राज़ि धार्मिणि धर्मिष्ठा मध्ये मध्या समे समा ।
लोकास्तदनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजा ।।

धर्मात्मा राजा हो तो प्रजा भी उत्तम धर्मनिष्ठ होती है, मध्यम है तो बीच की और जघन्य परिणमन करे तो प्रजा भी उसी प्रकार की होती है । राजा अनुकरणीय होता है । नृपति के सहारे प्रजा का सुख-दुःख चलता है । अतः योग्य राजा का कर्त्तव्य है पितृ वत् प्रजा पालन करे । विद्वान वर्ग ने भी युक्ति-पूर्वक कह है :-

विज्ञेयः पार्थिवो धर्मः शिष्टानां परिपालनम् ।
दण्डश्च पापवृत्तीनां गौणोऽन्यःपरिकीर्तितः ।।1।।

अर्थ :- शिष्टों की रक्षा करना और पापियों - प्रजाकण्टकों - अपराधियों को सजा देना नृप का प्रधान धर्म समझना चाहिए । इससे दूसरे कर्त्तव्य उसके लिए गौण हैं । हर प्रकार से सुख शान्ति बनाये रखना पृथ्वी पति का कर्त्तव्य है । सबको यथायोग्य समानदृष्टि से देखने वाले भूपाल की प्रजा भी उसकी मित्र-पुत्रवत् आज्ञाकारी होती है । जिससे सभी कर्त्तव्यनिष्ठ बने रहते हैं । न्याय व धर्म मार्ग चलता रहता है । अतः राजा क्या करे -

अन्तरस्थाँस्तथा बाह्यान् दण्डान् दण्डेन दण्डयन् ।
भूपः करोति कर्त्तव्यमतस्तस्मिन्न दूषणम् ।।9।।

कुरल का.

अर्थ :- जो नृप आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं से अपनी प्रजा की रक्षा करता है, वह यदि अपराध करने पर उन्हें दण्ड दे तो यह उसका दोष नहीं है, किन्तु कर्त्तव्य है जिसका पालन उसे करना ही चाहिए । राजा को प्रजा वत्सल होना चाहिए अन्यथा राज्य स्थिति संतुलित नहीं रह सकती । कहा है :-

जिसका ध्यान न न्याय में, दर्शन कष्ट निधान ।
वह नृप पद से भ्रष्ट हो, बिना शत्रु हतमान ।।8।।

कुरल का.

अर्थ :- जिस राजा की प्रजा सरलता से उसके पास नहीं पहुँच सकती और जो ध्यानपूर्वक न्याय विचार नहीं करता, वह राजा अपने पद से भ्रष्ट हो जायेगा और शत्रुओं के न होने पर भी नष्ट हो जायेगा । अतः राजा को न्यायी होना चाहिए। तथा प्रजावत्सल होना चाहिए ।

राजा के कर्त्तव्य कहते हैं-

न पुनः शिरोमुण्डनं जटाधारणादिकम् ।।3।।

अन्वयार्थ :- (शिरोमुण्डनम्) मुण्डन करना (पुनः) फिर (जटाधारणादिकम्) जटाएँ बढ़ाना आदि (न) राजा के कर्त्तव्य नहीं (अस्ति) है ।

शिर के बाल मुडाना और जटाओं का धारण करना, वल्कलादि पहननाआदि राजाओं का धर्म नहीं है ।

विशेषार्थ :- जिस प्रकार जिस अंग का आभूषण हो उसे उसी अंग पर धारण करने से शोभा होती है, पुष्प उद्यान में या देव के चरणों में शोभा पाता है उसी प्रकार राजादिकों के योग्य क्रियाएँ ही राजशोभा बढाती हैं। मूंड मुडाना (शिरोमुण्डन) या जटा बढ़ाना आदि क्रियाएँ संन्यासी की हैं न कि राजा की । अतः राजशासक इस वेषभूषा को धारण करेगा तो वह अनधिकार चेष्टा करने से नियम से अशोभन होने के साथ-साथ कर्त्तव्यच्युत होगा, जिससे नाश ही संभव है । क्योंकि प्रजापालकों को प्रजापालन रूप सत्कार्यों के अनुष्ठान से ही धर्म, अर्थ और काम-तीनों पुरुषार्थों की सहज सिद्धि होती है । अतएव उसे उस राजावस्था में राजकीय वेश-भूषा ही धारण करना शोभनीय है न कि संन्यास रूप धारण करना । भागुरि विद्वान ने लिखा है -

व्रत चर्यादिको धर्मो न भूपानां सुखावहः ।
तेषां धर्मः प्रदानेन प्रजासंरक्षणेन च ।।1।।

अर्थ :- व्रत, नियम आदि का पालन करना राजाओं को सुखदायक नहीं है क्योंकि उनका धर्म तो प्रजापालन करना है । तथा उसे पीड़ा देने वाले शत्रुओं को नष्ट करना है । गुजराती में कहावत है :-

"जाको काम जाई को छाजे, बीजो करे तो डंको बाजे"

अर्थात् जिसके योग्य जो कार्य है वह उसी को करना चाहिए । इसी भांति करने से कार्य की सिद्धि होती है अन्य प्रकार से नहीं । यदि कोई बढई चित्र बनाने बैठे, चित्रकार दीवालचिनने लगे, माला कार (माली) आभूषण गढ़ने बैठे तो क्या होगा? कार्य तो नहीं होगा, यह तो सही है, परन्तु साथ ही कार्य नष्ट ही हो जायेगा, विपरीत हो जायेगा । इसी प्रकार राजा भी राज गद्दी पर आसीन उसी के अनुकूल वस्त्राभूषण, शरीर संस्कारादि होगा तो उसकी, शासन की और शासितों की भी शोभा है । इसी प्रकार शिष्टाचार, शीलाचार, धर्माचरण, नैतिकाचार पालन भी उसे अनिवार्य हैं क्योंकि राजा प्रजा का आदर्श है, गाइड है, प्रजा के सन्मार्ग दर्शक है । यही कारण है कि उसे उसी रूप रहना पड़ता है तभी सफलता प्राप्त होती है ।

राज्य का लक्षण :-

राज्ञः पृथ्वी पालनोचितं कर्म राज्यम् ।।4।।

अन्वयार्थ :- (राज्ञः) राजा के (पृथ्वीपालनोचितं) भूमि-राज्य के प्रति-पालन करने योग्य (कर्म) कार्य को (राज्यम्) राज (कथ्यते) कहा जाता है ।

प्रजा के पालने योग्य कर्त्तव्यों का सम्पादन करना ही राज्य है ।

विशेषार्थ :- राज्य पालन के सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव, इन 6 कर्मों का यथोचित पालन करना ही राज्य है । जिस समय राजा यह देखता है कि आक्रमण कर्त्ता बलवान है तो व्यर्थ ही प्रजा-सेना का संहार क्यों किया जाय ? अतः उसके साथ सन्धि कर लेते हैं ।

अपने से दुर्बल शत्रु से युद्ध कर परास्त करना विग्रह कहलाता है । राज शासन की वृद्धि प्रसार व यश के लिए इसका प्रयोग करना उचित समझा जाता है ।

यान का अर्थ सवारी है । परन्तु यहां सत्ता स्थापन का प्रसंग है । अतः शत्रु पर चढाई करना 'यान' कहलाता है । इसमें 'अभि' उपसर्ग लगाने से अभियान-चढाई हो जाता है ।

शत्रु की उपेक्षा करना आसन् है ।

आत्मसमर्पण करना संश्रय है । अर्थात् पराजय स्वीकार कर जयी का सहारा ले लेने के संकल्प को संश्रय कहना चाहिए।

बलवान के साथ सन्धि और कमजोर के साथ युद्ध करना द्वैधीभाव कहलाता है । इस प्रकार इन छः कर्मों का प्रयोग करना पालन करना राज्य है । राज्य एक संस्था है जहाँ से स्थिति नाजुक होने पर महान् कार्य भी सम्पादित होना संभव है । राज्य के लिए अस्त्र-शस्त्र प्रयोग ही कारण नहीं हैं, अपितु न्याय-नीति प्रमुख है । कहा भी है :-

महीपतेः खरः कुन्तो विजये नास्ति कारणं ।
विशुद्धो न्याय एवास्ति विजये किन्तु कारणम् ।।6।।

कुरल

तीक्ष्ण भाला है नहीं, जय में कारण एक
धर्म न्याय ही भूप के, जय में कारण एक ।।6।।

कुरल.

अर्थ :- राजा की विजय का कारण भाले की नोक नहीं है, किन्तु एक मात्र न्यायपूर्वक दण्ड है जो सदैव सरल सीधा रहता है, कभी भी झुकता नहीं है । नीतिकार वर्ग विद्वान ने राज्य का लक्षण निम्न प्रकार किया है-

विज्ञेयः पार्थिवो धर्मः शिष्टानां परिपालनम् ।
दण्डश्च पाप वृत्तीनां गौनोऽन्यः परिकीर्तितः ।।1।।

अर्थ :- काम विलास आदि को त्याग कर षाडगुण्य-सन्धि-विग्रहादिका उचित प्रयाग करना राज्य है ।।1।।

जो राजा विषयासक्त होकर कर्त्तव्य च्युत हो जाता है । न्यायपूर्वक इनका प्रयोग नहीं करता वह स्वयं अपने राज्य के साथ समाप्त हो जाता है । तथा जो नरेश न्यायानुसार प्रवृत्ति करता है उसका राज्य उसकी अमर कीर्ति के साथ प्रख्यात होता है । कहा भी है :-

कर म लेता न्याय को, यथा शास्त्र जो भूप ।
होती उसके राज्य में, वर्षा धान्य अनूप ।।5 ।।

कुरल.

अतएव जो भूपति निष्पक्षपातपूर्वक राजदण्ड धारण करता है उसका देश समयानुकूल वर्षा और शस्य श्री का घर बन जाता है । अर्थात् सतत् उसके राज्य में सुख-शान्ति सुभिक्ष बना रहता है ।

पुनः राज्य का लक्षण करते हैं :

वर्णाश्रमवती धान्य हिरण्यपशुकुप्यवृष्टिप्रदानफला च पृथ्वी ।।5 ।।

(वर्णाश्रमवती धान्य-हिरण्य-पशु-कुप्य-विशिष्ट फलदा च पृथिवी ।।5 ॥ मू.पु. में यह पाठ है-अर्थ भेद कुछ भी नहीं है)

अन्वयार्थ :- (वर्णाः) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र (आश्रमाः) ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं यति (वती) वाली (च) और (धान्य) अन्नादि (हिरण्य) सुवर्णादि (पशु) चौपाये (कुप्य) वस्त्र (विशिष्टा) या (वृष्टि) वर्षा (प्रदानफला) देने वाली (पृथ्वी) भूमि (राज्यं कथ्यते) राज्य कही जाती है ।

जहाँ वर्णाश्रम व्यवस्था समुचित रूप से चलती है, और जहाँ जनता अन्नपान, धन सम्पन्न होती है सुशिक्षित न्यायपूर्वक प्रवृत्ति करती है वह राज्य कहा जाता है ।

विशेषार्थ :- जिस भूमि पर या जिस शासक के अधिकार में चारों वर्ण अपनी-अपनी योग्यतानुसार कर्त्तव्यनिष्ठ रहते हैं । सदाचार पालन करते हैं । वर्ण और चारों प्रकार के आश्रमों को व्यवस्थित रखते हैं । सभी अपने-अपने कर्त्तव्य पालन में निष्ठ होते हैं उसे राज्य कहा जाता है । अभिप्राय यह है कि जहाँ की वसुधा शस्यश्यामल, खनिजपदार्थों की उत्पादक, नाना रत्नों की खानों से युक्त होती है, समय पर वर्षा होती है उसे राज्य कहा जाता है । धर्मयुक्त शासन यथार्थ राज्य है । न्यायदण्ड प्रमुख है :

राजदण्ड ही धर्म का, जैसे रक्षक मुख्य ।
वैसे ही वह लोक में, विद्या-पोषक मुख्य ।।3 ।।

कुरल.

अर्थ :- राजदण्ड ही ब्रह्म-विद्या और धर्म का मुख्य संरक्षक है । जो राजा अपनी प्रजा के साथ प्रेम का व्यवहार करता है उसको लक्ष्मी कभी नहीं छोड़ती राज्य लक्ष्मी अभिन्न अङ्ग बनी रहती है ।

भृगुनामक विद्वान ने राज्य का लक्षण लिखा है :-

वर्णाश्रम समोपेता सर्वकामान् प्रयच्छति ।
सा भूमिर्भूपते राज्यं प्रोक्ता सान्या विडम्बना ।।1 ।।

अर्थ :- जिस राजा की पृथ्वी वर्ण और आश्रमों से युक्त एवं धान्य और सुवर्ण आदि द्वारा प्रजाजनों के मनोरथों को पूर्ण करने वाली हो उसे राज्य कहते हैं । अन्यथा जहाँ पर ये चीजें नहीं पायी जावें वह राज्य नहीं, किन्तु राज्याभासकोरी विडम्बना है ।

जहाँ शिष्टों का निवास और दुष्टों का परिहार हो वह राज्य है ।

अब वर्णों का भेदपूर्वक लक्षण करते हैं :-

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राश्च वर्णाः ।।6।।

(ब्राह्मणाःक्षत्रिया विशःशूद्राश्च वर्णाः '' मु.मू. पुस्तक में पाठ है)

अन्वयार्थ :- (ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राश्च) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र (वर्णाः) ये वर्ण कहते हैं

वर्ण चार हैं - 1. ब्राह्मण 2. क्षत्रिय 3. वैश्य और 4. शूद्र ।

विशेषार्थ :- भगवन्त जिनसेनाचार्य ने आदिपुराण में लिखा है कि सृष्टि के विधाता आदिनाथ भगवान ने क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों की व्यवस्था की थी । अर्थात् तीन वर्ण प्रकट किये । ये अपने-अपने कर्त्तव्यानुसार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहलाते थे । यथा :-

उत्पादितास्त्रयो वर्णास्तदा तेनादिवेधसा ।
क्षत्रिया वणिजः शूद्राः क्षतत्राणादिभिर्गुणैः ।।

आदि पु. प्र. 16

उस समय जो शस्त्र धारण कर जीविका करते थे वे क्षत्रिय और जो खेती, व्यापार और पशुपालन कर जीविका चलाते थे वे वैश्य कहलाते थे । जो क्षत्रिय तथा वैश्यों की सेवा सुश्रुषा करते थे वे शूद्र कहलाते थे उनके भी 1. कारु और 2. अकारू भेद किये गये थे । धोबी, नाई वगैरह कारु और उनके भिन्न अकारु कहलाते थे । यथा :-

क्षत्रियाः शस्त्रजीवित्वमनुभूय तदऽभवन् ।
वैश्याश्च कृषिवाणिज्य पशुपाल्योपजीविनः ।।2।।
तेषां शुश्रूषणाच्छूद्रास्ते द्विधा कार्वकारवः ।
कारवो रजकाद्याः स्युस्ततोऽन्ये स्युरकारवः ।।3।।
कारवोऽपि मता द्वेधा स्पृश्यास्पृश्यविकल्पतः ।
तत्रास्पृश्याः प्रजाबाह्याः स्पृश्याः स्तुः कर्त्तृकादयः।।4।।
यथा स्वं स्वोचितं कर्म प्रजा दध्युरसंकरं
विवाह ज्ञातिसंबन्ध व्यवहारश्च तन्मतम् ।।5।।
स्व दोर्भ्यां धारयन् शस्त्रं क्षत्रियानसृजद्विभुः ।
क्षत त्राणे नियुक्ता हि क्षत्रियाः शस्त्रपाणयः ।।6।।
अरुभ्यां दर्शयन् यात्रामस्त्राक्षीद्वणिजः प्रभुः ।
जलस्थलादि यात्राभिस्तद् वृत्तिर्वार्त्तया यतः ।।7।।

न्यग्वृत्ति नियतान् शूद्रान् पद्भ्यामेवासृजत् सुधीः ।
वर्णोत्तमेषु शुश्रूषा तद्वृत्तिर्नैककथा स्मृता ।।8।।
मुखतोऽध्यापयन् शास्त्रं भरतः स्रक्ष्यति द्विजान् ।
अधीत्यध्यापने दानं प्रतीक्ष्येज्येति तत्क्रिया ।।9।।
ब्राह्मणाः व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात् ।
वणिजोऽर्थार्जनान्न्यायात् शूद्रा न्याग्वृत्तिसंश्रयात् ।।10।।

आदि पुराणे प.16.

अर्थ :- कारू शूद्र भी दो प्रकार के बताये - 1. स्पर्श करने योग्य और अस्पृश्य (स्पर्श करने को अयोग्य) जो प्रजा से अलग निवास करते थे वे अस्पृश्य और जो मध्य में रहते थे नाई वगैरह स्पृश्य कहलाते थे ।।4।।

उक्त तीनों वर्ण के लोग अपना-अपना कार्य-जीविका करते थे । वैश्य का कार्य शूद्र या क्षत्रिय नहीं करता था और क्षत्रिय व वैश्य का कार्य कोई अन्य नहीं करता था । विवाह, जाति, सम्बन्ध और व्यवहार ये सब भगवान की आज्ञानुसार ही होते थे । जाति संकरता से सब दूर रहते थे । अर्थात् विवाहादि स्व जाति कन्या के साथ ही होता था ।।5।।

उस समय ऋषभदेव ने अपनी भुजाओं से शस्त्र धारण कर क्षत्रिय धर्म का शिक्षण दिया अर्थात् क्षत्रियों को जन्म दिया । क्योंकि जो स्वयं हाथ में शस्त्र धारण कर स्व और पर जीवों की रक्षा करे वही क्षत्रिय कहा जाता है ।।6।।

स्वयं प्रभु ने यात्रा कर, परदेश जाने का उपदेश दिया । स्वयं पैदल चलकर प्रजा को व्यापारादि में लगाकर वैश्यों की सृष्टि की । जल, थल मार्ग से गमनागमन कर ही व्यापार करना वैश्यों की मुख्य आजीविका थी । उस समय श्री आंदि प्रभु ने मर्यादापूर्वक यह कला सिखायी थी ।।7।।

सदैव नीच कार्यों में तत्पर रहने वाले शूद्रों की रचना प्रभु ने अपने ही पैरों से की । क्योंकि उत्तम वर्ण वालों के पैर दबाना, सर्वप्रकार उनकी सेवाशुश्रूषा करना और उनकी आज्ञा का पालन करना आदि शूद्रों की आजीविका के साधन निर्धारित किये थे ।।8।।

इस प्रकार तीनों वर्णों का निर्धारण पहले ही भगवान आदिनाथ द्वारा हो चुका था । तदनन्तर ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती ने स्वयं अपने मुख से शास्त्रों का अध्ययन कराते हुए ब्राह्मणों की रचना की । उनके कार्य पठन-पाठन, यजन-याजन, दान देना और लेना निर्धारित किया । यही उनकी जीवन चर्या जीविका की साधना थी ।।9।।

उपर्युक्त वर्णों के विषय में आचार्य श्री ने लिखा है कि व्रतों के संस्कार से ब्राह्मण, शस्त्रधारण से क्षत्रिय, न्यायपूर्वक द्रव्य कमाने से वैश्य और नीचवृत्ति का आश्रय लेने से शूद्र कहलाते हैं । यहाँ भी श्री सोमदेव स्वामी ने इन्हीं चारों वर्णों का संकेत किया है ।।6।।

अब आश्रम के भेदों का वर्णन करते हैं :-

ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो यतिरित्याश्रमाः ।।7।।

अन्वयार्थ :- (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचर्य (गृही) गृहस्थ (वानप्रस्थः) वान प्रस्थ (यतिः) सन्यासी (इति) इस प्रकार (आश्रमाः) आश्रम (सन्ति) हैं ।

ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम ये चार आश्रम हैं ।

विशेषार्थ :- उपासकाध्ययन नामक सातवें अङ्ग में इन चारों ही आश्रमों का उल्लेख मिलता है । अन्य जैनाचार्यों ने लिखा है –

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः ।
इत्याश्रमास्तु जैनानां सप्तमाङ्गाद्विनिसृताः ।।

सागार धर्मामृते

यशस्तिलक में इन आश्रमों के निम्न प्रकार लक्षण किये गये हैं :-

ज्ञानं ब्रह्म दया ब्रह्म काम विनिग्रहः ।
सम्यगत्र वसन्नात्मा ब्रह्मचारी भवेन्नरः ।।

अर्थः- जिस पुरुष ने सम्यग्ज्ञान, प्राणिरक्षा-दयाभाव, एवं कामवासना का निग्रह किया है और सम्यक् प्रकार आत्मा में निवास करता है वह ब्रह्मचारी कहलाता है । अर्थात् सम्यक् विवेक पूर्वक जो कामेन्द्रियों को वश कर स्त्री सेवन का त्याग करता है, भले प्रकार अपने आत्मस्वरूप में रमण करता है वह यथार्थ ब्रह्मचारी कहलाने योग्य है ।।1।।

जो गृहस्थाश्रम चलाता है वह गृहस्थ निम्न प्रकार का कहा है –

क्षान्ति योषिति यो सक्तः सम्यग्ज्ञानातिथि प्रियः ।
स गृहस्थो भवेन्नूनं मनो दैवत साधकः ।।2।।

अर्थ :- जो पुरुष क्षमारूपी स्त्री में आसक्त, सम्यग्ज्ञान और अतिथियों अर्थात् दान देने में अनुरक्त-त्यागी-वृत्तियों सेवारत, और मनरूपी देवता का साधक-वश करने वाला-जितेन्द्रिय है वह निश्चय से गृहस्थ है । कुरल काव्य में भी कुन्दकुन्द देव ने कहा है –

धर्मराज्य के साथ में, जिसमें प्रेम प्रवाह ।
तोष सुधा उस गेह में, पूर्ण फलें सब चाह ।।5।।

परिच्छेद 5

जिस घर में स्नेह और प्रेम का निवास है, जिसमें धर्म का साम्राज्य है, वह सम्पूर्णतया सन्तुष्ट रहता है – उसके सकल उद्देश्य सफल होते हैं ।।

वानप्रस्थाश्रम से तात्पर्य है 'वनवासी' । वन में निवास करना मात्र ही वानप्रस्थ नहीं है अपितु नीतिविरुद्ध अश्लील प्रवृत्तियों-हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह का त्याग कर उत्तम सम्यक् चारित्र धारण कर, वीतरागता पूर्वक वन में निवास करता है । तात्पर्य यह है कि जो पाँच महाव्रत धारण कर, संयमपूर्वक, निर्ममत्व होकर एकाकी वनप्रदेशों में निवास करता है वह वानप्रस्थ आश्रम कहलाता है । इसके विपरीत जो स्त्री आदि कुटुम्ब को लेकर सपरिवार वन में निवास करता है वह वानप्रस्थ नहीं है ।।3।।

जिस महात्मा ने सम्यग्ज्ञान द्वारा विवेकरूपी नेत्रोन्मीलन कर लिया है, सदसद्विचार से मानसिक विशुद्धि, चारित्रपालन द्वारा दीप्ति, और नियमों के पालन द्वारा जितेन्द्रियता प्राप्त की है उसे तपस्वी कहते हैं । किन्तु मात्र वाह्य वेषधारी को तपस्वी नहीं कहते ।

उपर्युक्त विवेचन का सार हम इस प्रकार समझें कि श्रावक की 11 प्रतिमाएँ होती हैं । इनमें से चारित्रपालन की श्रेणियों के अनुसार प्रथम से छठवीं तक के चारित्र को धारण करने वाले "गृहस्थाश्रमी", सातवींसे नवमीतक के चारित्र पालक "ब्रह्मचारी" तथा दशवीं और ग्यारहवीं प्रतिमाधारी-चारित्री "वानप्रस्थ" कहे गये हैं । इनके ऊपर परम वीतराग दिगम्बर मुद्राधारी मुनिवर "यत्याश्रमी" कहलाते हैं । चारों ही आश्रमों की सिद्धिसम्यग्दर्शनपूर्वक ही संभव है । अतः धर्मपूर्वक जीवन के अनुष्ठान ही कार्यकारी होते हैं ।।7।।

अब उपकुर्वाणक ब्रह्मचारी का लक्षण करते हैं :-

स उपकुर्वाणको ब्रह्मचारी यो वेदमधीत्य स्नायात् ।।8।।

अन्वयार्थ :- (यः) जो (वेदम्) अहिंसाधर्मनिरुपक शास्त्र को (अधीत्य) पढ़कर (स्नायात्) विवाह संस्कार करता है (सः) वह (उपकुर्वाणको) उपकुर्वाणक (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (अस्ति) है ।

जो अहिंसा धर्म के प्रतिपादक वेद-सच्चे शास्त्रों का अध्ययन कर विवाह संस्कार करता है उसे उपकुर्वाणक ब्रह्मचारी कहते है । यहां स्नान शब्द आया है उसका अर्थ कहते हैं :-

स्नानं विवाहदीक्षाभिषेकः ।।9।।

अन्वयार्थ :- (विवाहदीक्षा) विवाह संस्कार (अभिषेकः) स्नान (स्नानम्) स्नान कहलाता है ।

विवाह संस्कार रूप दीक्षा से अभिषिक्त होना स्नान है ।

"स्नान विवाह दीक्षा विशेषः" इस प्रकार मु. मू. पुस्तक में पाठ है परन्तु अर्थ भेद नहीं हैं ।

नैष्ठिक ब्रह्मचारी का लक्षण :-

स नैष्ठिको ब्रह्मचारी यस्य प्राणान्तिक मदारकर्म ।।10।।

अन्वयार्थ :- (यस्य) जिसके (प्रणान्तिकम्) जीवन पर्यन्त (अदारकर्म) स्त्री सेवन त्याग है (सः) वह (नैष्ठिकः) नैष्ठिक (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (कथ्यते) कहा जाता है ।

जो यावज्जीवन ब्रह्मचर्यव्रत धारण करता है - पठन-पाठन करता है उसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते हैं।

विशेषार्थ :- भारद्वाज विद्वान ने नैष्ठिक श्रावक का लक्षण कहा है -

कलत्र रहितस्यात्र यस्य कालोऽतिवर्तते ।
कष्टेन मृत्युपर्यन्तो ब्रह्मचारी स नैष्ठिकः ।।1।।

अर्थ :- जिसका समय जीवन पर्यन्त अविवाहित-बिना विवाह के यापन होता है वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाता है । अर्थात् बाल ब्रह्मचारी को नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते हैं ।

जैनाचार्यों ने 5 प्रकार के ब्रह्मचारियों का निरूपण किया है :-

प्रथमाश्रमिणः प्रोक्ता ये पञ्चोपनयादयः ।
तेऽधीत्य शास्त्रं स्वीकुर्युदारानन्यत्र नैष्ठिकात् ।।

अर्थ :- उपनयन, नैष्ठिकादि पाँच प्रकार के ब्रह्मचारी आगम में कहे हैं । इनमें नैष्ठिक को छोड़कर शेष चार प्रकार के ब्रह्मचारी अध्ययनपूर्ण होने पर विवाह करते हैं - गृहस्थाश्रम स्वीकार करते हैं । नैष्ठिक सदैव ब्रह्मचारी रहता है ।

पुत्र का लक्षण कहते हैं :-

य उत्पन्नः पुनीते वंशं स पुत्रः ।।11।।

अन्वयार्थ :- (यः) जो (उत्पन्नः) जन्म लेकर (वंशं) वंश-कुल को (पुनीते) पवित्र करता है (सः) वह (पुत्रः) पुत्र (अस्ति) है ।

जो जन्म लेकर नैतिक सदाचार रूप प्रवृत्ति से अपने कुल को पवित्र करता है वही सच्चा पुत्र है ।

विशेषार्थ :- "पुनाति कुलमिति पुत्रः" जो कुल को पवित्र करे उसे पुत्र कहते हैं । भागुरि ने भी कहा है :-

कुलं पाति समुत्थो यः स्वधर्मं प्रतिपालयेत् ।
पुनीते स्वकुलं पुत्रः पितृमातृपरायणः ।।
पुत्रः पुपूषोः स्वात्मानं सुविधेरेव केशवः ।
य उपस्कुरुते वसुरन्यः शत्रुः सुतच्छलात् ।।1।।

सागार धः मृ.

अर्थ :- जो माता-पिता की सेवा में तत्पर होकर अपने सदाचार रूप धर्म का पालन करता है वह कुलदीपक-कुल को पवित्र करने वाला पुत्र कहलाता है ।।1।।

आशाधर जी कहते हैं "जो अपना पालन-पोषण करने वाले माता-पिता का विधिवत्-सुविधिराजा के केशव नामक पुत्र की तरह उपकार सेवाभक्ति करता है (कथा के लिए आदि पु. प. 10 वां देखें) वही यथार्थ में पुत्र है शेष पुत्र के छल से शत्रु या कर्जदार समझने चाहिए । कहा भी है :-

स जातो येन जातेन याति वंश समुन्नतिं ।
परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ।।

अर्थ :- जन्म उसी का सार्थक है जो उत्पन्न होकर अपने वंश को समुन्नत करता है । अन्यथा परिवर्तनशील इस लोक में कौन नहीं मरता और कौन उत्पन्न नहीं होते ? अर्थात् अनेकों मरते-जीते हैं ।

सारांश यह है कि पुत्र को माता-पिता और गुरुजनों की यथायोग्य सेवा, भक्ति, आज्ञापालन, सदाचार सेवन करना चाहिए । वंश की रक्षा करने में तत्पर रहना चाहिए ।।11।।

कृतुपद ब्रह्मचारी का लक्षणः-

कृतोद्वाहःऋतुप्रदाता कृतुपदः ।।12।।

अन्वयार्थ :- (कृतः) किया है (उद्वाहः) विवाह जिसने एवं (ऋतुप्रदाता) मात्र ऋतुकाल-चतुर्थदिवस स्नानवाद ही भोग करने वाला (कृतुपदः) कृतुपद ब्रह्मचारी (अस्ति) है ।

विशेषार्थ :- जो जितेन्द्रिय, विवाहित होकर भी मात्र वंशवृद्धर्य ऋतु काल-चतुर्थस्नान के बाद रात्रि में गर्भाधान निमित्त स्त्री का उपभोग करता है उसे "कृतुपद" ब्रह्मचारी कहते हैं ।

विद्वान वर्ग का भी कथन है :-

सन्तानाय न कामाय यः स्त्रियं कामयेदृतौ ।
कृतुपदः स सर्वेषामुत्तमोत्तम सर्ववित् ।।

अर्थ :- जो व्यक्ति कामवासना की तृप्ति को त्यागकर केवल सन्तानप्राप्ति के लिए ऋतुकाल शुद्धि के अनन्तर ही पत्नी का संभोग करता है, वह उत्तमोत्तम और सर्व बातों को जानने वाला "कृतुपद" ब्रह्मचारी है । यह सन्तोष धारण कर गृहस्थावस्था में रहकर भी अपने मन और इन्द्रियों को सन्तुलित रखता है । इसीलिए ब्रह्मचारी कहा जाता है ।

पुत्र शून्य ब्रह्मचारी का लक्षण :-

अपुत्रः ब्रह्मचारी पितृणामृणभाजनम् ।।

अन्वयार्थ :- (अपुत्रः) पुत्रविहीन (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचर्यव्रतधारी, (पितृणाम्) पितरों का (ऋणभाजनम्) ऋणी-कर्जदार पात्र (कथ्यते) कहा जाता है ।

नैष्ठिक ब्रह्मचारी के अतिरिक्त शेष चार प्रकार के ब्रह्मचारी पुत्रविहीन हों तो वे अपने पिताओं के ऋणी समझे जाते हैं ।

विशेषार्थ :- प्रत्येक मानव अपने माता-पिता के अनन्त उपकारों से उपकृत होता है । अतएव कर्त्तव्यदृष्टि से वह माता-पिता की यावज्जीवन सेवा, सुश्रुषा, गुरुओं को भक्तिपूर्वक आहार देना आदि कार्य करता है । तो भी मातृ-पितृ के उपकारों का बदला नहीं चुका सकता है । अतः वह उनके ऋण-कर्ज से मुक्त नहीं होते । इसलिए उसके उस अत्यन्त आवश्यकीय सत्कर्त्तव्य की उत्तराधिकारी सत्पुत्र पूर्ति करता है । उनकी पावन स्मृति को तरो-

ताजा बनाये रखने को वह तत्पर रहता है । उनकी स्मृति में त्याग, तप दानादि प्रदान करते हैं । पुण्य और यश की वृद्धि के कार्य उनके नाम से सम्बन्ध कर अपने और अपने कुल के नाम को समुज्ज्वल करता है । अतः वह पुत्रयुक्त पुरुष अपने पितृ ऋण से उत्तीर्ण और श्रेष्ठ माना जाता है । इसके फल स्वरूप उसकी यशोपताका गगनाङ्गण में फहराती है । चन्द्रिकावन्निर्मल कीर्ति कौमदी का चारों ओर विस्तार फैलता है । परन्तु पुत्रविहीन पुरुष अनेकों सत्कार्य करने पर भी अपने दादा के ऋण से उऋण नहीं हो सकता । ऋणी ही बना रहता है ।

कृतज्ञ सद्गृहस्थ, पुरुष को पैतृक ऋण से मुक्त होने एवं वंश और धर्म की मर्यादा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए पुत्र युक्त होना चाहिए ।।13॥ नीतिकार कहते हैं :-

अपुत्रस्यगतिर्नास्ति स्वर्गं नैव च नैव च ।
तस्मात्पुत्रमुखं दृष्ट्वा पश्चाद् भवति तापसी ।।

अन्य मतियों का सिद्धान्त है कि वंशवृद्धि के लिए प्रथम पुत्रोत्पादन करे तदन्तर संन्यासी-तापसी-तपस्वी व साधु बने।

परन्तु स्याद्वादवादियों के लिए कुछ भी असंभव नहीं । सभी सांसारिक उद्देश्य वैराग्य के समक्ष गौण हो जाते हैं । अखण्ड बाल ब्रह्मचारी रहकर भी आत्मा की सिद्धि कर सकता है । आत्मकल्याण सर्वोपरि है ।

शास्त्राभ्यासविहीन पुरुष की हानि :-

अनध्ययनो ब्रह्मणः ।।14॥

"अनध्ययनो ब्रह्मर्षीणाम्" यह मु.मू.पु. में पाठ है जिसका अर्थ है कि जो मनुष्य शास्त्रों का अध्ययन नहीं करता वह गणधरादि ऋषियों का ऋणी होता है ।

अन्वयार्थ :- (अनध्ययनः) शास्त्रों का अध्ययन नहीं करने वाला (ब्रह्मणः) आदि ब्रह्मा-ऋषभदेव का (ऋणीभवति) कर्जदार होता है । शास्त्रों का अध्ययन नहीं करने वाला ऋषभदेव का ऋणी होता है ।

विशेषार्थ :- ऋषिपुत्रक विद्वान कहता है -

ब्रह्मचारी न वेदं यः पठते मौढ्यमास्थितः ।
स्वायंभुवमृणं तस्य वृद्धिं याति कुसीदकम् ।।1॥

अर्थ :- जो ब्रह्मचारी अज्ञान से वेदों का अध्ययन नहीं करता उसका ईश्वरऋण ब्याजयुक्त होता हुआ वृद्धिंगत होता रहता है ।

ऋषभादि चतुर्विंशति-24 तीर्थंकरों की दिव्य ध्वनि के आधार से ही द्वादशाङ्ग-अहिंसामय धर्म का निरूपण करने वाले शास्त्रों की रचना हुयी है । अतएव उन्हें मनुष्यजाति को सम्यग्ज्ञान निधि समर्पण करने का श्रेय प्राप्त है । इसलिए जो उनके शास्त्रों को पढता है वह उनके ऋण से मुक्त हो जाता है और जो स्वाध्याय नहीं करता-उनकी वाणी को नहीं पढता वह ऋणी रह जाता है ।

यद्यपि उपर्युक्त कथन लौकिक व्यवहार रूप है तथाऽपि श्रेय की प्राप्ति, ऋषभादितीर्थंकरों के प्रति कृतज्ञताज्ञापन करने और अज्ञान निवृत्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति को निर्दोष-अहिंसा धर्म निरूपण करने वाले शास्त्रों का अध्ययन

करना चाहिये । आप्त द्वारा कथित आगम ही पठनीय है ।।14।।

ईश्वर भक्ति न करने वाले की हानि :-

अयजनो देवानाम् ।।15।। "अयजमानो देवानाम्" मु.मू.पु.

अन्वयार्थ :- (देवानाम्) इष्ट देवों की (अयजमानः) पूजा नहीं करने वाला (ऋणी) कर्जदार (अस्ति) है ।

जो मनुष्य ऋषभादि चतुर्विंशति अर्हतों की भक्ति-पूजा नहीं करता वह उनका ऋणी है । आचार्य श्री विद्यानन्दि जी कहते हैं :-

अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः ।
प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात् ।।
इति प्रभवति स पूज्यस्त्वत्प्रसादप्रबुद्धयै
नहि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ।।

श्लो. वा. पृ.3.

अर्थ :- आत्यन्तिक दुःखों की निवृत्ति-मोक्ष की प्राप्ति, सम्यग्ज्ञान से होती है, वह सम्यग्ज्ञान भी निर्दोष द्वादशाङ्ग जिनवाणी के अध्ययन से प्राप्त होता है । द्वादशाङ्गवाणी के मूल दाता ऋषभादि चतुर्विंशति तीर्थङ्कर परमदेव-आप्त हैं वे पूज्य हैं क्योंकि सज्जन लोग किये उपकारों को भूलते नहीं हैं । उन्होंने मनुष्यों के हृदयों में सद्बोध और सदाचार के दीपक जलाकर उनका अनन्त और अपरिमित उपकार किया है, उनके प्रति भक्ति, पूजा, श्रद्धा, निष्ठा समर्पण होना अनिवार्य है ।

इसलिए जो व्यक्ति मूर्खता या मद के वश में होकर उनकी भक्ति-पूजा नहीं करता वह तीर्थङ्करों का ऋणी है ।

सारांश यह है कि प्रत्येक मनुष्य को देवऋण से मुक्ति-छुटकारा पाने एवं श्रेय की प्राप्ति के लिए जिनवर भक्ति करना चाहिए । जिन भक्ति और जिनागम की श्रद्धा अकाट्य और दृढ़ होनी चाहिए ।

लोक सेवा न करने वाले की हानि :-

"अहन्तकरो मनुष्याणाम् ।।16।।"

अन्वयार्थ :- (अहन्तकरो) शोक पैदा नहीं करने वाला (मनुष्याणाम्) जनता का (ऋणी अस्ति) कर्जदार है ।

जिसकी मृत्यु होने पर अन्य कोई शोक न करे वह मनुष्यजाति का ऋणी-कर्जदार है ।

विशेषार्थ :- दूसरों को शोक उत्पन्न न करने वाला मनुष्यों का ऋणी है । अर्थात् जिसकी मृत्यु के बाद जनता में किंचिन्मात्र भी क्षोभ-शोक न हो वह पृथ्वी पर भार स्वरूप होने से मनुष्य जाति का कर्जदार है । अथवा इसका अन्य अर्थ यह भी हो सकता है कि "जो मनुष्य दूसरों को दुःख-कष्ट में देखकर "हन्त" दुःख है ऐसा

नहीं बोलता अर्थात् समवेदना नहीं दिखाता पर के दुःख से द्रवित नहीं होता वह मनुष्यों का ऋणी है । संसार में दो प्रकार के मनुष्य हैं - 1. निस्वार्थ और 2. स्वार्थान्ध । अर्थात् 1. उत्तम और 2. अधम।

निस्वार्थी-त्यागीजन अपने जीवन को काँच की शीशी के समान क्षणभंगुर समझ कर स्वार्थ को ठुकरा देते हैं, जनता के उपकार में अपने जीवन को अर्पण करते हैं । अपना आत्मकल्याण भी करते हैं और पर के उपकार में सहयोगी होते हैं : उनकी चन्द्रवत् लोक में कीर्ति प्रसारित होती है । वह लोक सेवा कर जनता के कर्ज से मुक्त हो जाते हैं । क्योंकि उसके फलस्वरूप जनता उनके वियोग हो जाने पर शोकाकुल होती है । परन्तु दूसरे स्वार्थान्ध पुरुष परोपकार नहीं करते और जनता को कष्ट देते हैं, अतः उनके मर जाने पर भी किसी को जरा भी शोक नहीं होता, इसलिए वे लोग मनुष्यजाति के ऋणी समझे जाते हैं ।।16॥

नैष्ठिक ब्रह्मचारी पुत्रविहीन होने पर भी ऋणी नहीं होता -

आत्मा वै पुत्रो नैष्ठिकस्य ।।17॥

अन्वयार्थ :- (नैष्ठिकस्य) नैष्ठिक ब्रह्मचारी का (आत्मा) आत्मा (वै) ही (पुत्रः) पुत्र-सुत (अस्ति) है। नैष्ठिक ब्रह्मचारी की आत्मा ही उसका सुत है ।

ऋषिपुत्रक विद्वान ने लिखा है -

तेनाधीतं च यष्टं च पुत्रस्यालोकितं मुखम् ।
नैष्ठिको वीक्ष्यते यस्तु परमात्मानमात्मनि ।।1॥

अर्थ :- जो नैष्ठिक (बाल ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी अपनी आत्मा में परमात्मा का प्रत्यक्ष कर लेता है, उसने शास्त्र पढ़ लिए, ईश्वर दर्शन कर लिया, भगवद्भक्ति करली, पुत्रमुखावलोकन कर लिया- अर्थात् पितृऋण से मुक्त हो गया ऐसा समझा जाता है ।।

नैष्ठिक ब्रह्मचारी अविवाहित होता है अतः उसे पुत्र की कामना द्वारा पितृ ऋण चुकाने की आवश्यकता नहीं ।।17॥

नैष्ठिक ब्रह्मचारी का महत्त्व :-

"अयमात्मात्मानमात्मनि संदधानः परांपूततां सम्पद्यते ।।18॥"

अन्वयार्थ :- (अयम्) यह नैष्ठिक ब्रह्मचारी (आत्मा) पवित्रात्मा (आत्मानम्) आत्मा को (आत्मनि) आत्मा में (संदधानः) धारण करता हुआ (पराम्) उत्कृष्ट (पूतताम्) पवित्रता को (सम्पद्यते) प्राप्त कर लेता है ।

नैष्ठिक ब्रह्मचारी अपने आत्मा को आत्मा में धारण कर देखता हुआ परम विशुद्धि को प्राप्त कर लेता है।

विशेषार्थ :- आत्म स्वभाव में रमण करना ब्रह्मचर्य है । आजीवन असिधारा व्रत पालने वाला कामिनी संयोग से रहित होता है । अतः निराकुल होने से अपने आत्मा को अपनी ही आत्मा में प्राप्त कर परम विशुद्धि हो परम सुखानन्द प्राप्त करता है । नारद विद्वान ने कहा है -

आत्मावलोकनं यस्य जायते नैष्ठिकस्य च ।
ब्रह्मचर्याणि सर्वाणि यानि तेषां फलं भवेत् ।।1।।

अर्थ :- जिस नैष्ठिक ब्रह्मचारी को आत्मा का प्रत्यक्ष हो जाता है, उसे समस्त प्रकार के ब्रह्मचर्य के फल-स्वर्गादि प्राप्त हो जाते हैं । यह पद उच्च और श्रेयस्कर है क्योंकि वह कामवासना से विरक्त, जितेन्द्रिय, आत्मदर्शी और विशुद्ध होता है ।

अब गृहस्थ का लक्षण कहते है :-

नित्यनैमित्तिकानुष्ठानस्थो गृहस्थः ।।19।।

अन्वयार्थ :- (नित्य) प्रतिदिन (नैमित्तिक) अवश्य करने योग्य (अनुष्ठानस्थो) षट्कर्म पालन में दत्तचित्त (गृहस्थः) गृहस्थ होता है ।

गार्हस्थ जीवन की सत्क्रियाओं का नीतिपूर्वक पालन करना गृहस्थ का कर्त्तव्य है ।

विशेषार्थ :- अनुष्ठान-सत्कर्त्तव्य - 1. इज्या (पूजा) 2. वार्ता (न्यायवृत्ति से असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन जीविकोपार्जन की क्रिया) 3. दत्ति (दान-दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति और अन्वयदत्ति) 4. स्वाध्याय (निर्दोष शास्त्रों का अध्ययन करना) 5. संयम - (अंहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और तृष्णा त्याग-परिग्रह त्याग) 6. तप (अनशनादि तप) तथा नैमित्तिक - किसी निमित्त को लेकर उत्सवादि अनुष्ठान करना-यथा महावीर जयन्ती आदि । आर्ष में भी कहा है कि :-

कुल धर्मोऽयमित्येषामर्हत् पूजादि वर्णनम्

इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः।
श्रुतोपासक सूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ।।1।।
वार्तां विशुद्धवृत्त्या स्यात् कृष्यादीनामनुष्ठितिः ।
असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च।।2।।
कर्माणीमानि षोढ़ा स्युः प्रजाजीवनहेतवे ।।76।। पर्व 16
चतुर्द्धा वर्णिता दत्तिर्दयापात्रसमन्वये ।। 1/2
'स्वाध्यायः श्रुतभावना'
'तपोऽनशनवृत्त्यादि संयमो व्रतधारणं'
इति आदिपुराणे भगवान् जिनसेनाचार्यः पर्व 38 ।

उपर्युक्त विवेचन से गृहस्थ धर्म का विशद लक्षण स्पष्ट हो जाता है । भागुरी विद्वान ने गृहस्थ का लक्षण करते हुए कहा हैं :-

नित्यनैमित्तिक परः श्रद्धया परया युतः ।
गृहस्थः प्रोच्यते सद्भिरश्रृङ्ग पशुरन्यथा ।।1।।

अर्थ :- जो मनुष्य उत्कृष्ट श्रद्धा से युक्त होकर नित्य और नैमित्तिक सत्कर्मों का पालन करता है उसे विद्वान गृहस्थ कहते हैं, किन्तु इससे विरुद्ध प्रवृत्ति करने वाला बिना सींगों का पशु है । सोमदेवाचार्य लिखते हैं-

देवपूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानश्चेति गृहस्थाणां षट् कर्माणि दिने-दिने ।।1।।

क्षान्ति योषिति यो सक्तः सम्यग्ज्ञानातिथिप्रियः ।
स गृहस्थो भवेन्नूनं मनो दैवत साधकः ।।2।।

यशस्तिलके सोमदेव सूरिः ।।

अर्थ :- 1. जिनेंद्रप्रभु की भक्ति, 2. गुरुओं की उपासना, 3. शास्त्र-स्वाध्याय 4. संयम-अहिंसादि व्रतों का पालन और इन्द्रियों का दमन, 5. अनशनादि तप और 6. सुपात्रदान ये 6 कर्म गृहस्थों को नित्य-प्रत्येक दिन करने ही चाहिए ।

जो मनुष्य क्षमारूपी स्त्री में आसक्त, सम्यग्ज्ञान और अतिथियों को, पात्रों को दानादि में अनुरक्त रहता है और जितेन्द्रिय होता है उसे गृहस्थ कहते हैं । आचार्य कुन्दकुन्द देव कहते हैं :-

आश्रमाः खलुचत्वारस्तेषु धन्यागृहस्थिताः
मुख्याश्रया हि ते सन्ति भिन्नाश्रम निवासिनाम् ।।1।।
गृहीणां पञ्चकर्माणि स्वोन्नतिर्देपूजनम
बन्धुसाहाय्य मातिथ्यं, पूर्वेषां कीर्ति रक्षणम् ।।2।।

कुरल. प. छे. 5

अर्थ :- गृहस्थाश्रम चार आश्रमों में एक प्रमुख आश्रम है । इसमें रहने वाला गृहस्थ धन्य है क्योंकि अन्य आश्रम इसी के आश्रय से टिकते हैं । अर्थात् इसके रहने पर ही अन्य आश्रमों का जन्म होता है ।।1।।

गृहस्थों के मुख्य पाँच कर्त्तव्य हैं - 1. पूर्वजों की कीर्ति की रक्षा करना, 2. जिनेन्द्र देव की पूजा-अर्चा करना, 3. अतिथि सत्कार-दान देना, 4. बन्धु-बान्धवों की यथायोग्य यथावसर सहायता करना और 5. आत्मोन्नति करना । उपर्युक्त षट्कर्मों से इनका कोई विरोध नहीं है मात्र संख्या में अन्तर है । भाव वही का वही है ।

ऐहिक और पारलौकिक सुखेच्छुओं का कर्त्तव्य है कि उक्त नित्यनैमित्तिक कर्त्तव्यों का विधिवत् आगमोक्त पद्धति से निर्दोष-निरतिचार पालन करें ।

गृहस्थों के नित्य करने योग्य सत्कार्यों का निर्देश :-

ब्रह्मदेवपित्रतिथिभूत यज्ञा हि नित्यमनुष्ठानम् ।।20।।

अन्वयार्थ :- (ब्रह्मा:) महर्षि गणधरादि (देवाः) तीर्थंकर परमेष्ठी (पित्रः) माता-पिता गुरुजन

(अतिथिः) सत्पात्र (भूताः) समस्त प्राणियों की रक्षा (यज्ञाः) करना (हि) निश्चय से (नित्यम्) प्रतिदिन का (अनुष्ठानम्) कर्त्तव्य है ।

ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, अतिथियज्ञ, पितृयज्ञ और भूतयज्ञों का नित्य प्रतिपालन करना गृहस्थ का नैमित्तिक कर्त्तव्य है ।।20।।

विशेषार्थ :- ऋद्धिधारी ऋषियों, गणधरों की पूजा करना ब्रह्मयज्ञ है । ऋषभादि चतुर्विंशति तीर्थंकरों की पूजा, भक्ति, स्तुति, जप, ध्यानादि करना देवयज्ञ है । माता-पिता की आज्ञापालन करना-सेवा सुश्रुषा करना आदि पितृ यज्ञ है । उत्तम, मध्यम, जघन्य सत्पात्रों को दान देना, उनकी भक्ति पूजादि करना । अतिथि यज्ञ है और प्राणी मात्र पर दया करना, समताभाव रखना भूतयज्ञ कहा जाता है । गृहस्थों को इन सत्कार्यों का नित्य अनुष्ठान करना चाहिए ।

नैमित्तिक अनुष्ठानों का वर्णन :-

दर्शपौर्णमास्याद्याश्रयं नैमित्तिकम् ।।21।।

अन्वयार्थ :- (दर्श) शुभ (पौर्णमा) पूर्णिमा (अमावश्या) अमावश (आदि) इत्यादि (आश्रयम्) आश्रम से (कृतम) किये गये धर्मानुष्ठान (नैमित्तिकम्) नैमित्तिक अनुष्ठान (कथ्यते) कहे जाते हैं ।

अमावश्या, पूर्णिमा, दशहरा आदि शुभतिथियों में किये जाने वाले धार्मिक अनुष्ठानों को नैमित्तिक अनुष्ठान कहते हैं।

विशेषार्थ :- जिन शुभतिथियों में धर्मतीर्थ के प्रवर्तक तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण कल्याणक हुए हैं, या अन्य पूज्य पुरुषों-आचार्य, उपाध्याय, साधुपरमेष्ठियों के जन्म हुए हैं उन तिथियों में उन तीर्थंकरों, महापुरुषों की स्मृति रूप में उत्सवादि मनाये जाते हैं वे नैमित्तिक त्यौहार या अनुष्ठान कहे जाते हैं यथा रक्षाबन्धन, महावीर जयन्ती, श्रुत पञ्चमी वगैरह । श्रुतपंचमी को श्रुत पूर्णता तो हुयी ही, श्री 108 चारित्र-चक्रवर्ती मुनिकुञ्जर सम्राट् प्रथमाचार्य आदिसागर जी अंकलीकर का आचार्य पदारोहण भी हुआ । अतः ये नैमित्तिक पर्व हैं । अनुष्ठान हैं ।

अब अन्य मतों की अपेक्षा गृहस्थों के भेद :-

वैवाहिकः शालीनो जायावरोऽघोरो गृहस्थाः ।।22।।

अन्वयार्थ :- (वैवाहिकः) वैवाहिक (शालीनः) शालीन (जायावरः) जायावर (च) और (अघोरः) अघोर (गृहस्थाः) ये चार प्रकार के गृहस्थ (भवन्ति) होते हैं ।

गृहस्थों के चार भेद हैं -

1. जो गृहस्थ गृह में रहकर श्रद्धापूर्वक केवल गार्हपत्य अग्नि में हवन करता है उसे "वैवाहिक" गृहस्थ समझना चाहिए।

2. जो पूजा के बिना केवल अग्निहोत्र करता है - पाँचों अग्नियों की पूजा करता है उसे शालीन जानना चाहिए ।

3. जो एक अग्नि अथवा पाँचों अग्नियों की पूजा में तत्पर रहता है और जो शूद्रों की धनादि चीजों को

ग्रहण नहीं करता है वह सात्विक प्रकृत्ति युक्त ''जायावर'' कहलाता है ।। 3 ॥

जो दक्षिणा, दान-पूर्वक अग्निष्टोम आदि यज्ञ करता है वह सौम्य प्रकृति युक्त और रूपवान ''अघोर'' कहा गया है ।।4।। देखे नीतिवाक्यामृत संस्कृत टीका पृ. 49 (नोट :- जैन सिद्धान्त में उक्त गृहस्थों के भेद नहीं पाये जाते, परन्तु इस ग्रन्थ में आचार्य श्री ने जिस प्रकार कुछ स्थलों में अन्य नीतिकारों की मान्यताओं का संकलन किया है, उसी प्रकार यहां भी अन्यमतों की अपेक्षा गृहस्थों के भेद संकलन किये हैं । अथवा उक्त सूत्र किसी भी मूलप्रति में न होने से ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ का संस्कृत टीकाकार अजैन विद्वान था । इसलिए उसने अपने मत की अपेक्षा से कुछ सूत्र अपनी रुचि से रचकर मूलग्रन्थ में शामिल कर दिये हैं, अन्यथा यही आचार्य श्री यशस्तिलक में गृहस्थ का लक्षण ''क्षान्तियोषिति यो सक्तः सम्यग्ज्ञानातिथि प्रियः ।। स गृहस्थोभवेन्नूनं मनोदैवत साधकः ।।1॥'' ''क्षमारूपी स्त्री में आसक्त, सम्यग्ज्ञान, और अतिथियों में अनुरागयुक्त और जितेन्द्रिय न करते ।''

प्राचीन टीका के सम्पादक से साभार

परमत अपेक्षा वानप्रस्थ का लक्षण कहते हैं :-

''यः खलुयथाविधि जानपदमाहारं संसारव्यवहारं च परित्यज्य सकलत्रोऽकलत्रो वा वने प्रतिष्ठते स वानप्रस्थः ।।23 ॥

अन्वयार्थ :- (यः) जो पुरुष (यथाविधिः) आगमानुसार (जानपदम्) नागरिकों के (आहारम्) अन्न-पानादि (च) और (संसार व्यवहारं) सांसारिक लेन-देनादि को (परित्यज्य) त्यागकर (सकलत्रो) स्त्री सहित (वा) अथवा (अकलत्र) पत्नीरहित (वने) वन में (प्रतिष्ठते) रहता है (सः) वह (वानप्रस्थः) वानप्रस्थ (कथ्यते) कहा जाता है ।

जो आगमानुसार विधि से लौकिक आहार व पशुपालनादि व्यवहार का त्याग कर सपत्नी अथवा पत्नी रहित बन में निवास करता है वानप्रस्थ कहलाता है ।।23॥

विशेष :- आचार्य श्री सोमदेवजी ने भी कहा है :-

ग्राम्यमर्थं बहिश्चान्तर्यः परित्यज्य संयमी ।
वानप्रस्थः स विज्ञेयो न कुटुम्बवान् ।।1॥

यशस्तिलक आ.8

अर्थ :- जो ग्रामीण पुरुषों की नीति विरुद्ध प्रवृत्ति और धन-धान्यादि बाह्य तथा कामक्रोधादि अन्तरङ्ग परिग्रह का त्याग कर अहिंसा और सत्य आदि संयम धर्म को धारण करता है उसे वानप्रस्थ समझना चाहिए । स्त्री कुटुम्बादि युक्त होकर वन में निवास करना मात्र वानप्रस्थ नहीं है । चारित्रसार में ग्यारहवीं प्रतिमाधारी क्षुल्लक व ऐलक को वानप्रस्थ कहा है :-

''वानप्रस्था अपरिगृहीत जिनरूपा वस्त्रखण्डधारिणो निरतिशयतपः समुद्यता भवन्ति ।।'' चारित्रसारे

अर्थ :- मुनिमुद्रा-दिगम्बर अवस्था धारण न कर खण्डवस्त्र (खण्ड चादर व लंगोटी) धारण कर क्षुल्लक व ऐलक होकर साधारण तपश्चर्या में प्रयत्नशील हैं उन्हें ''वानप्रस्थ'' कहते हैं ।

''खण्डचादर-इतनी छोटी चादर जिससे पाँव ढंके तो शिर नहीं, और शिर ढके तो पांव नहीं ।''

इस विवेचन से स्पष्ट है कि उपर्युक्त-पूर्व लक्षण जैनसिद्धान्त की अपेक्षा नहीं है । अन्यमती संस्कृत टीकाकार न लिखा है ऐसा प्रतीत होता है ।

परमत की अपेक्षा से वानप्रस्थ के भेद :-

वालिखिल्य औदम्बरी वैश्वानराः सद्यः प्रक्षल्यकश्चेति वानप्रस्थाः ।।24।।

अन्वयार्थ :- (वालिखिल्यः) वालिखिल्य, (औदम्बरी) औदम्बरी, (वैश्वानरः) वैश्वानर, (च) और (सद्यःप्रक्षल्यकः) सद्यप्रक्षल्यक ।

वानप्रस्थ चार प्रकार के हैं - 1. वालिखिल्य 2. औदम्बरी 3. वैश्वानर 4. और सद्यः प्रक्षल्यक ।

1. जो प्राजीन गार्हपत्य अग्नि को त्यागकर केवल अरणी-समिधविशेष को साथ लेजाकर बिना स्त्री के वन को प्रस्थान करता है वह वन में रहने वाला 'वालिखिल्य' है ।

2. जो पुरुष पांचों अग्नियों से विधिपूर्वक पांच यज्ञ-पितृयज्ञ, देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, अतिथियज्ञ और ऋषियज्ञ करता है उसे ''औदुम्बर'' वानप्रस्थ कहते हैं ।

3. जो यज्ञपूर्वक त्रिकाल स्नान करता है और अतिथियों की पूजा करके- उन्हें खिला-पिलाकर स्वयं कंदमूल और फलों का भोजन करता है वह ''वैश्वानर'' कहा जाता है ।

4. जो केवल भोजन मात्र को धान्यविशेष और घृत का संग्रह करता है और अग्नि की पूजा करता है उसे ''सद्यप्रक्षालक'' वानप्रस्थ कहते हैं ।

देखिये सं. टीका पृ. 50

यति व साधु का लक्षण निर्देश करते हैं :-

यो देहमात्रारामः सम्यग्विद्यानौलाभेन तृष्णासरित्तरणाय योगाय यतते यतिः ।।25।।

अन्वयार्थ :- (यः) जो (देहमात्रारामः) शरीर मात्र से आत्मा को (सम्यक्) सम्यक्त्व (विद्या) सम्यग्ज्ञानरूपी (नौ) नाव (लाभेन) द्वारा-प्राप्ति से (तृष्णा) तृष्णारूपी (सरित्) नदी (तरणाय) पार करने के (योगाय) योग्य (यतते) प्रयत्न करता है (सः) वह (यतिः) साधु है ।

जो शरीर मात्र से अपनी आत्मा को सन्तुष्ट रखता है - शरीर के सिवाय दूसरे वहिरङ्ग-धन-धान्यादि और अन्तरङ्ग-कामक्रोधादि परिग्रह त्याग किए हुए हैं और सम्यग्ज्ञानरूपी नौका से तृष्णारूपी नदी को पार करने के लिए ध्यान करने का प्रयत्न करता है, उसे 'यति' कहते हैं ।

विशेषार्थ :- ''यतते इति यतिः'' जो प्रयत्नशील होता है वह यति कहलाता है । कहाँ यत्न करना ? आत्मा का आत्मा में, आत्मा के लिए जो कुछ प्रयत्न किया जाता है उसे सद्प्रयत्न कहते हैं - इसका कर्ता ''यति'' कहलाता है ।

विद्वान हारीत ने भी इसी प्रकार का लक्षण बताया है :-

आत्मारामो भवेद्यस्तु विद्याभ्यसन तत्परः ।
संसार तरणार्थाय योगभाग् यतिरुच्यते ।।

अर्थ :- जो आत्मा में लीन हुआ विद्या के अभ्यास में तत्पर है और संसार रूपी समुद्र से पार होने के लिए ध्यान का अभ्यास करता है उसे यति कहते हैं । स्वामी समन्तभद्रजी ने भी लिखा है :-

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते ।।

र.क.श्रा.

अर्थ :- जो पञ्चेन्द्रियों के विषयों की लालसा से रहित, आरम्भ और परिग्रह के त्यागी, ज्ञान, ध्यान और तप में लीन रहे व तपस्वी-यति प्रशंसनीय है । बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्यागी 'यति' कहलाता है । यशस्तिलक चम्पू में आचार्य श्री ने पर्यायवाची नाम निम्न प्रकार कहे हैं :-

जितेन्द्रिय, क्षपणक, आशाम्बर, नग्न, ऋषि, यति, तपस्वी और अनगार आदि अनेक गुण निष्पन्न-सार्थक नाम कहे हैं। साधु का लक्षण :-

भूपर्यङ्को मृदुभुजलता गेन्दुकः खं वितानं ।
दीपश्चन्द्रः स्वरतिवनितासङ्ग लब्धप्रमोदः ।।
दिक्कन्याभिः पवनचमरै-र्वीज्यमानोऽनुकूलम् ।
भिक्षु शेते नृप इव सदा वीतरागो जितात्मा ।।1।।

श्लो. सं.

अर्थ :- भूमि जिनका पलंग, भुजाएँ तकिया, आकाश चादर, चन्द्र दीपक आत्मानुभूति नारी-पत्नी, दिशाएँ कन्या, चमर पवन, अनुकूल हवा इस प्रकार के प्रतापी राजा के समान जो वीर-वीतरागी, जितात्मा हैं वे ही साधुश्रेष्ठ यति कहलाते हैं । साधु का समागम सर्वपाप ताप हारी होता है -

गङ्गापापं शशीतापं दैन्य कल्पतस्तथा ।
पापं तापं च दैन्यं च हन्ति साधुसमागमः ।।63।।

श्लो. सं.

अर्थ :- लोकोक्ति है गंगा पाप नाशक है, चन्द्र ताप और कल्पवृक्ष दीनता का नाश करता है परन्तु साधु समागम पाप ताप और दैन्य तीनों का नाश करता है ।

अन्यमतापेक्षा यतियों के भेद :-

कुटीचर वव्होदक हंस परम हंसा यतयः ।।26।।

अन्वयार्थ :- (यतयः) यति जन (कुटीचरः) कुटीचर (वव्होदकः) वव्होदक, (हंसः) हंस और (परमहंसः) परमहंस (सन्ति) हैं ।

साधु चार प्रकार के हैं - 1. कुटीचर, 2. वव्होदक, 3. हंस और 4. परमहंस ।

विशेषार्थ :- एक दण्डी-दण्ड में जनेऊ या चोटी बांधकर रखता है या नहीं भी रखता है, झोंपड़ी में रहता है, पुत्र के मकान में एकबार स्नान करता है और कुटिया में निवास करता है उसे 'कुटीचर' कहते हैं ।

जो कुटिया में रहकर गोचरीवृत्ति से आहार करता हो और विष्णु का जाप जपने में तत्पर हो उसे वव्होदक कहते हैं।

जो ग्राम में एक रात्रि और शहर-नगर में त्रिरात्रि निवास करता हो, धूप और अग्नि से शून्य ब्राह्मणों के घर जाकर थाली में अथवा हस्तपुट में स्थापित आहार ग्रहण करता है । जिसे आत्मा और शरीर का भेद विदित हुआ हो उसे 'हंस' कहते हैं।

जो स्वेच्छा से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों से गोचरी वृत्ति से आहार ग्रहण करता हो, दण्डविशेष का धारक हो, समस्त कृषि, और व्यापार से आदि सभी आरम्भ का त्यागी और वृक्षों के मूल में बैठ कर भिक्षा द्वारा लाया हुआ आहार ग्रहण करता हो उसे परमहंस कहते हैं ।

"नोट :- उपर्युक्त मान्यता जैनसिद्धान्त के अनुकूल नहीं है । क्योंकि हमारे आगम में "पुलाक व कुश कुशील निर्ग्रन्थस्नातका: निर्ग्रन्था: ।।" सूत्र द्वारा पाँच भेद कहे हैं । जिसका लक्षण पृथक्-पृथक् आगम से ज्ञात करें । अन्य मतियों के समाधानार्थ उनका मत यहाँ लिखा होगा ऐसा प्रतीत होता है ।"

अब राज्य का मूल बताते हैं :-

राज्यस्य मूलं क्रमो विक्रमश्च ।।27।।

अन्वयार्थ :- (राजस्य) राज्य का (मूलम्) मूल (क्रम:) परम्पराक्रम से आया क्रम (च) और (विक्रम:) अपना शौर्य (अस्ति) है ।

राज्य की जड़ एक तो कुलवंश परम्परा है और दूसरी स्वार्जित विक्रम हैं ।

विशेषार्थ :- परम्परागत आया हुआ सौजन्य, न्यायाचार-सदाचार और स्वयं का विक्रम राज्य की जड़ हैं-मूल हैं । जिस प्रकार जड़ सहित वृक्ष तना, डाली, शाखा-प्रशाखा, पत्र, पुष्प एवं फलों से विस्तृत, भरित और फलित होता हुआ शोभायमान होता है उसी प्रकार कुल परम्परा से सुरक्षित चला आया राज्य, योग्य, पराक्रमी-न्यायप्रिय, दूरदर्शी राजा को प्राप्त कर विस्तृत समृद्ध और यशस्वी प्रख्यात होता है । धन-हाथी, घोटक, रथ, पयादे आदि से एवं धान्यादि से समृद्ध रहता है । कुन्दकुन्द देव कहते हैं -

परित्राणाय साधूनां श्रेयान् दुष्टवधस्तथा ।
तृण्योच्छेदो यथा क्षेत्रे शालीनां हि समृद्धये ।।10।।

कुरल. ॥

अर्थ :- सत्पुरुषों की रक्षा, और कल्याण के लिए जो राजा दुष्टों का दमन करता है वह फलित क्षेत्र से घास को निकाल फेंकने के समान राज्य की समृद्धि के लिए ही होता है ।।10॥ यह राज्य की मजबूती का हेतू है । शुक्र विद्वान का इस विषय में मत है कि -

क्रमविक्रममूलस्य, राजस्य तु यथा तरोः ।
समूलस्य भवेद्वृद्धिस्ताभ्यां हीनस्य संक्षयः ।।1।।

अर्थ :- जिस प्रकार मूल सहित होने से वृक्ष की वृद्धि-समृद्धि होती है उसी प्रकार क्रम-सदाचार-कुलाचार और विक्रम गुणों से राज्य की वृद्धि होती है । अन्यथा इन दोनों के अभाव में राज्य नष्ट हो जाता है । कहा है-

प्रजाभ्यो योऽस्ति दुर्दर्शो न्यायेनापि विचारकः ।
अरिणा स च हीनोऽपि स्वपदाद् भ्रश्यते नृपः ।।8।।

कुरल प.छे.55

अर्थ :- जो राजा प्रजा वत्सल नहीं है, अर्थात् प्रजा जिसे अपने कष्ट निवेदन न कर सके, जो ध्यानपूर्वक न्याय-विचार नहीं करता वह राजा शत्रुओं के नहीं होने पर भी अपने पद से च्युत हो जायेगा ।

अतएव राजा का कर्त्तव्य है कि चाहे उसे कुलपरम्परा से राज्य प्राप्त हुआ हो या स्वयं के पुरुषार्थ से उसकी सुरक्षा, समृद्धि और स्थायित्व के लिए सदाचार से युक्त लक्ष्मी और सैनिक बल को न्यायपूर्वक संचित करता हुआ प्रजावत्सल बन राज्य करे । तभी वह स्थायी हो सकेगा ।।27।।

राज्यवृद्धि का उपाय :-

आचार सम्पत्तिः क्रमसम्पत्तिं करोति ।।28।।

अन्वयार्थ :- (क्रमसम्पत्तिम्) कुल परम्परा से प्राप्त राज्य को (आचार-सम्पत्तिः) सदाचार रूप लक्ष्मी (करोति) बनाये रखती है ।

अर्थ :- कुलक्रमागत या स्वपुरुषार्थ से अर्जित राज्य सम्पदा सदाचार से सुरक्षित रहकर वृद्धिंगत होती है।

विशेषार्थ :- कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं :-

स्निग्ध दृष्टयैव यो राजा स्वराज्यं शास्ति सर्वदा ।
तं भूपतिं कदापीह राजश्रीर्नैव मुञ्चति ।।4।।

अर्थ :- प्रेमपूर्ण व्यवहार से जो राजा अपनी प्रजा का पुत्रवत् पालन करता है - शासन करता है, उस राजा को राजश्री कभी भी नहीं त्यागती । अर्थात् प्रजा की सुख सुविधा बनाये रखना राजा का कर्त्तव्य है जो कर्त्तव्यनिष्ठ होता है वह सर्वप्रिय हो जाता है । "प्रेम का शासन स्थायी होता है तलवार का क्षणिक ।" यह नीति है । अतः न्याय सदाचार और न्याय प्रियता राज्य शासन की रीढ़ हैं जो राजा इनका ध्यान रखता है वह समृद्ध होता जाता है ।

विद्वान 'शुक्र' भी कहता है :-

लौकिकं व्यवहारं यः कुरुते नयवृद्धितः ।
तद्वृद्धया वृद्धिमायाति राज्यं तत्र क्रमागतम् ।।1।।

अर्थ :- जो राजा अपने नैतिक ज्ञान की वृद्धि करके लोक व्यवहार में निपुण होता है तो उसके वंश परम्परा से आगत राज्य की श्री वृद्धि होती है । कहा है :-

सम्यग्विचार्य निष्पक्षो भूत्वा चापि महीपते ।
नीतिज्ञ सम्मतः शुद्धः कर्त्तव्यो न्यायविस्तारः ।।1 ।।

कुरल क.55

अर्थ :- राज्यशासन कुशल राजा को पूर्वापर विचार कर निष्पक्ष दृष्टि से प्रजा के सुख दुःख की व्यवस्था करनी चाहिए । न्याय नीतिपूर्वक अपने राज्य की समृद्धि के लिए नीतिवेत्ताओं से परामर्श विचार विमर्श भी करते रहना चाहिए । अर्थात् नीतिनिपुण मन्त्रिमण्डल रहने से राज्य व्यवस्था विस्तृत और स्थायी होती है ।128 ॥

पराक्रम को शोभित करने वाला गुण :-

अनुत्सेकः खलु विक्रमस्यालङ्कार : ।।29 ।।

अन्वयार्थ :- (विक्रमस्य) पराक्रम का (अलङ्कारः) आभूषण (खलु) निश्चय से (अनुत्सेकः) विनम्रता व निरभिमान (अस्ति) है ।

पराक्रमी के साथ यदि राजा विनयशील और अहंकार शून्य है तो वह राजलक्ष्मी से अलंकृत हुआ शोभायमान होता है । नृपति का आभूषण विनय और निरभिमान है । 'गुरु' नीतिकार कहता है :-

भूषणैरपि संत्यक्तः स विरेजे विगर्वकः ।
सगर्वो भूषणाढ्योऽपि लोकेऽस्मिन् हास्यातां व्रजेत् ।।1 ।।
योऽमात्यान् मन्यते गर्वान्न गुरुन् न च बांधवान्
शूरोऽहमिति विज्ञेयो म्रियते रावणो यथा ।।2 ।।

अर्थ :- मानव सुवर्णादि के आभूषणों से रहित होने पर भी यदि विनयशील और सदाचारी है तो कामदेव को भी अपने सौन्दर्य से जीत लेता है । घमण्डी और पराक्रमविहीन राजा मणिमाणिक्य खचित स्वर्णालङ्कारों से युक्त होने पर भी हंसी का पात्र होता है । उसकी ऐंठ उसे विकृत बना देती है । जो राजा "मैं बहुत शूरवीर हूँ" इस प्रकार मानकर अहंकारवश हुआ मन्त्री, पुरोहित, गुरु और बांधवों का सम्मान नहीं करता, किसी के परामर्श को नहीं मानता वह रावण की भाँति अपनी कीर्ति के साथ नष्ट हो जाता है । अतः नीतिनिपुण पुरुषों को कभी भी घमण्ड नहीं करना चाहिए । अभिमान पाप का मूल है और पाप नाश की जड़ है ।129 ॥

राज्य की क्षति का कारण बताते हैं :-

क्रमविक्रमयोरन्यतरपरिग्रहेण राज्यस्य दुष्करः परिणामः ।।30 ।।

मु.मू.पुस्तक में तर के स्थान में तम् प्रत्यय है अर्थ भेद कुछ नहीं है ।

अन्वयार्थ :- (क्रमः) कुल क्रम से प्राप्त (विक्रमः) पुरुषार्थ प्राप्त (अन्यतर) दोनों में से किसी प्रकार उपलब्ध

(राज्यस्य) राज का (अन्यतर परिग्रहेण) पराक्रम और सैन्यबल में से किसी एक के ग्रहण होने से (परिणामः) प्रतिफल (दुष्करः) कष्ट साध्य (भवति) होता है ।

कुल परम्परागत या पुरुषार्थ प्राप्त राज्य में यदि पराक्रम की कमी है अथवा सेना संग्रह की कमी है तो वह राज्य नष्ट हो जाता है ।

विशेषार्थ :- पैतृक राज्य मिलजाने पर भी उसे स्थायी बनाये रखने को सत्पुरुषार्थ अपेक्षित है । अगर राजनीति से अनभिज्ञ नृपति बन गया तो वह उसे व्यर्थ ही नष्ट कर देगा । इसी प्रकार पराक्रमशक्ति से प्राप्त राज्य को भी यदि राजनैतिक ज्ञान शून्य-सन्धि, विग्रह, यान और आसनादि का उचित देश, कालानुसार प्रयोग करना नहीं जानता हो तो राज्यवृद्धि तो दूर रहे वह प्राप्त राज्य को भी स्थायी नहीं बना सकता । इस विषय में शुक्र ने लिखा है -

राज्यं हि सलिलं यद्वद्यद्वलेन समाहृतम् ।
भूयोऽपि तत्ततोऽभ्येति लब्ध्वाकालस्य संक्षयम् ।।

अर्थ :- जो राज्य जल के समान पराक्रम, सैनिक शक्ति द्वारा खींच लिया गया हो, परन्तु मनीषी, बुद्धिमान, न्यायी राजा उसे नष्ट होता हुआ देखकर राजनीति से सन्धि, विग्रह, यान, आसनादि उपायों से राज्य को पूर्ववत् सुरक्षित रखने का प्रयत्न करता है । नारद विद्वान ने भी लिखा है :-

पराक्रमच्युतो यस्तु राजा संग्रामकातरः
अपि क्रमागतं तस्य नाशं राज्यं प्रगच्छति ।।1।।

जो राजा पराक्रम से शून्य होने के कारण संग्राम से विमुख हो जाता है, सैनिक शक्ति का समुचित प्रयोग नहीं करता उसका भी कुल परम्परा से प्राप्त राज्य नष्ट भ्रष्ट हो जाता है ।

निष्कर्ष यह है कि कोई नृपति मात्र सदाचारी होकर भी राज्य रक्षा में समर्थ नहीं हो सकता क्योंकि शत्रु उस पर आक्रमण करेंगे और परास्त कर देंगे इसलिए उसे सैन्यबल भी संचित करना आवश्यक है और रसद की व्यवस्था को खजाना भी भरपूर रखना होगा, इसके लिए प्रजा वत्सल भी होना चाहिए । षडंग राज्य में निष्णात राजा सफल शासक हो सकता है ।

सेना मंत्री सुहृत कोषो दुर्गः साकं जनाश्रयः
षडेते सन्ति यत्पार्श्वे राजसिंहः स भूतले ।।1।।

कुरल. प. च्छे 39

राष्ट्र दुर्ग, मंत्री सखा, धन सैनिक नरसिंह ।
ये छै जिसके पास हैं, भूपो में वह सिंह ।।1।।

कुरल

अर्थ :- जिस राजा के पास सेना, योग्य मंत्रीमण्डल, मित्र, कोष-खजाना, दुर्ग-किला, और अनुकूल प्रजा ये छ बल योग्य, शक्तिशाली होते हैं उसका राज्य स्थायी रह सकता है । इन गुणों से विहीन राजा राज्य सहित नष्ट हो जाता है ।

अब राजनीति ज्ञान युक्त कौन राजा होता है ? समाधान :-

क्रमविक्रमयोरधिष्ठानं बुद्धिमानाहार्यबुद्धिर्वा ।।31।।

अन्वयार्थ :- (क्रमविक्रमयोरधिष्ठानम्) उभयरीति से प्राप्त राज्य संचालन को (बुद्धिमान) स्वयं जानता हो (वा) अथवा (आहार्यबुद्धिः) दूसरे मंत्रियों से राजनीति ग्रहण करे ।

जो भूपति शासन संचालन में स्वयं निपुण हो अथवा सुयोग्य मन्त्रियों से उस विद्या को सीखे वही श्रेष्ठ राजा होता है ।

विशेषार्थ :- मनुष्य जीवन में दो प्रकार से योग्यता प्राप्त होती है :- 1. परम्परागत और 2. बाह्य साधनों से । राजकुलोत्पन्न होने से बहुत सी योग्यताएँ राज्य संचालन सम्बन्धी स्वाभाविक होती हैं शौर्यता, वीर्य, तेजस्विता, प्रभुत्व आदि, दूसरी मन्त्रिमण्डल आदि के नैपुण्य-सलाह से उपलब्ध हो जाती हैं । इन दोनों प्रकार से योग्यता प्राप्त राजा ही सफल शासक हो सकता है । शुक्र विद्वान का कथन है :-

स बुद्धि सहितो राजा नीति शौर्य गृहं भवेत् ।
अथवा अमात्य बुद्धिस्तु बुद्धि हीनो विनश्यति ।।1।।

अर्थ :- जो राजा स्वयं बुद्धिमान-राजनीति में पटु है अथवा जो अमात्य की बुद्धि से प्रवृत्ति करता है वही राज्यनीति और पराक्रम का स्थान होता है । यदि बुद्धिहीन राजा होगा तो उसका राज्य टिकाऊ नहीं होगा, वह नष्ट हो जायेगा । आचार्य कुन्दकुन्द देव कहते हैं :-

सम्यग्विचार्य निष्पक्षो भूत्वा चापि महीपते ।
नीतिज्ञसम्मतः शुद्धः कर्त्तव्यो न्यायविस्तरः ।।1।।

परि.छे. 55.

अर्थ :- सम्यक् विचार कर, निष्पक्ष होकर, नीति के अनुसार नृपति को शुद्धभाव से न्यायपूर्वक शासन विस्तार करना चाहिए । राजा कैसा हो :-

राज्यसाधन विस्फूर्तिर्वृद्धिश्चापि कथं भवेत् ।
कथं कोषस्य पूर्णत्वं कथमायव्ययौ च मे
धनस्य परिरक्षा च कथं मे वर्ततेऽधुना
एतत्सर्वं हि विज्ञेयं राज्ञा स्वहित कांक्षिणा ।।5।।

प.छे.39.कुरल

अर्थ :- राजा को इस बात का परिज्ञान होना आवश्यक है कि अपने राज्य की वृद्धि के साधनों की विस्फूर्ति किस प्रकार हो, वृद्धि और खजाने की पूर्ति किस प्रकार हो, धन रक्षा किस रीति से की जाय, और किस प्रक्रिया से अर्जित-संचित धन का व्यय किया जाय ? इस प्रकार का विचारज्ञ भूपति उत्तम, न्यायी, धर्मवत्सल और प्रजापालक

समझा जाता है । जो शासक प्रीति के साथ दान दे सकता है और प्रेम के साथ शासन करता है उसका यश लोक व्यापी हो जाता है । अतएव राजा को निष्पक्ष न्याय प्रिय होना चाहिए ।

जिसका शासन प्रेममय, तथा उचित प्रियदान ।
उस नृप की शुभ कीर्तिका, भू भर में सम्मान ।।

राजा को प्रियभाषी, सत्यभाषी एवं न्यायप्रिय होना चाहिए । राजा को दुराग्रही या हठाग्रही कदाऽपि नहीं होना चाहिए।

बुद्धिमान राजा का लक्षण निर्देश :-

यो विद्याविनीतमतिः स बुद्धिमान् ।।32।।

अन्वयार्थ :- (यः) जो (विद्याविनीत) विनम्रबुद्धि (मतिः) चिन्तन शक्ति युक्त है (सः) वह राजा (बुद्धिमान्) विशारद-विचारशील (कथ्यते) कहा जाता है ।

जिसने नीति शास्त्रों के अध्ययन से राजसंचालन विज्ञान कला, व विनम्रता अर्जित की है बुद्धिवन्त कहा जाता है ।

विशेषार्थ :- भूपाल को राज्यनीति का ज्ञाता होना अनिवार्य है । जो जिस कार्य का संचालक होना चाहता है प्रथम उसे उसी कला का परिज्ञान करना अनिवार्य है । राजा बनना है तो अस्त्र-शस्त्र-संचालन कला में नैपुण्य प्राप्त करना ही होगा। अभ्यस्त रहना होगा । साम, दाम. भेद, दण्ड नीतियों का परिज्ञान करना होगा और देश, कालापेक्षा उसका प्रयोग भी अवगत करना होगा । तभी वह राज्य संचालन में सफल हो सकेगा । विद्वान गुरु कहते हैं -

शास्त्रानुगा भवेद्बुद्धिर्यस्य राज्ञः स बुद्धिमान् ।
शास्त्र बुद्धया विहीनस्तु शौर्य युक्तो विनश्यति ।।1।।

अर्थ :- जिसकी बुद्धि नीतिशास्त्रों के अध्ययन से विशुद्ध है, वह बुद्धिमान है और वह सफल राज्य संचालक होता है । परन्तु जो शास्त्र विद्या व बुद्धिविहीन है वह वीर भट होने पर भी सराज्य नष्ट हो जाता है । उसका यश और नाम विलीन हो जाते हैं ।

अतएव राजा को यथार्थ राज्य स्थापित करने और अपना अस्तित्व व नाम, यश अमर बनाने के लिए न्यायशासन का अध्येता अवश्य ही होना चाहिए ।

शास्त्रज्ञान शून्य शूर की दशा :-

सिंहस्येव केवलं पौरुषावलम्बिनो न चिरं कुशलम् ।।33।।

अन्वयार्थ :- (सिंहस्य) शेर के (केवलं) मात्र (पौरुषावलम्बिनः) पुरुषार्थ का सहारा (एव) ही है अतः (चिरम्) बहुत समय (कुशलम्) कुशलता (न) नहीं (भवति) होती है ।

वनवासी सिंह वनराज कहलाता है । किस कारण से ? मात्र पुरुषार्थ अपने विक्रम से परन्तु उसे शास्त्रज्ञान-बुद्धि-विवेक नहीं है । अतः निर्भय हो चिरकाल तक राज्य नहीं कर सकता । कभी भी किसी के द्वारा मारा जाता

है । इसी प्रकार शारीरिक बल से पुष्ट नरपति नीति विहीन-शास्त्र ज्ञान शून्य होने से सामान्य आततायिओं द्वारा मार दिया जाता है या राज्यभ्रष्ट कर दिया जाता है । विजय वैजयन्ति उसका कण्ठहार नहीं बनती । प्रजा भी उसके तीक्ष्ण-कठोर दण्डों से त्रस्त हो विरुद्ध हो जाती है और उसके मरण में सहायक बन बैठती है । अन्याय का पक्ष कौन बुद्धिमान लेगा ? कोई नहीं । अन्याय करने पर नीतिज्ञ भाई को भी तिरस्कृत कर विभीषण चला गया । भाई ही शत्रु बन गया । शुक्र ने भी कहा है :-

पौरुषान्मृगनाथस्तु हरिः स प्रोच्यते जनैः
शास्त्रबुद्धि विहीनस्तु यतो नाशं स गच्छति ।।1।।

अर्थ :- केवल आक्रमण कर्ता होने से मृगों का अधिपति केशरिसिंह 'हरि' नाम से पुकारा जाता है वह पशुओं का घात करता है "जो सतावे और को वह सुख कभी पाता नहीं" कहावत है । भला निरपराध पशुघातक मृगराज नाम धराकर कब तक धरा को कलंकित कर सकता है और वसुधा भी इस अन्याय-पाप को किस प्रकार सहन कर सकती है ? सिंह शिकारियों द्वारा प्राणविहीन कर दिया जाता है । इसी प्रकार धर्म विहीन राजसत्ता से प्रकृति क्रुद्ध हो जाती है और सहज ही उस सत्ता का जड़-मूल से विनाश हो जाता है । आज रावण को कौन पूछता है ? अन्यायी राजाओं की अर्चा क्या चर्चा भी कोई सुनना नहीं चाहता है । राज्यसत्ता महान् है उसका सदुपयोग होना चाहिए । रामराज्य को सारा संसार स्मरण करता है सब कुछ अच्छा था। राम की तनिकसी चूक ने "सीता वनोवास से" उन्हें भी कलंक लगा । सीता भी गई (साध्वी हो गई) और राज्य में अपकीर्ति भी सही । अतः राजा को दूरदर्शी होना चाहिए ।

नीतिशास्त्र ज्ञानविहीन की क्षति :-

अशस्त्रः शूर इवाशास्त्रः प्रज्ञावानपि भवति विद्विषां वशः ।।34।।

अन्वयार्थ :- (अशस्त्रः) हथियार रहित (शूरः) शूरवीर पुरुष (इव) के समान (अशास्त्रः) राजनीति के शास्त्रों को नहीं पढ़ा (प्रजावान) कुशल बुद्धि (अपि) भी (विद्विषाम्) शत्रुओं के (वशः) वशी (भवति) हो जाता है ।

पुस्तकीय ज्ञान के साथ प्रज्ञा और अभ्यास कार्यकारी होता है ।

विशेषार्थ :- नीति शास्त्र का ज्ञान प्रत्येक मानव को होना चाहिए । मात्र शस्त्रों का प्रयोग सफल नहीं होता। विद्वान गुरु का कथन है :-

नीतिशास्त्रविहीनो यः प्रज्ञावानपि हन्यते
परैः शस्त्रविहीनस्तु चौराद्यैरपि वीर्यवान् ।।1।।

अर्थ :- जिस प्रकार वीर्यवान-बलवान मनुष्य भी शस्त्रों-हथियारों से विहीन होने पर चोरादि के द्वारा प्राणरहित कर दिया जाता है । उसी प्रकार प्रज्ञावान, तीक्ष्णबुद्धि भी नीतिशास्त्र से अनभिज्ञ हो तो शत्रुओं द्वारा पराजित कर दिया जाता है । अतएव मानव मात्र को नीतिशास्त्रों का अध्ययन अवश्य करना चाहिए । न्याय या नीतिवान का महत्त्व बताते हैं :-

न क्षीणा जायते जातु सम्पत्तिर्न्यायशालिनः
वंश क्रमेण सा याति सहैवास्य सुकर्मणः ।।2।।

कुरल प.छे.12

अर्थ :- न्यायनिष्ठ की सम्पदा कभी नष्ट नहीं होती है । वह दूर तक पीढी-दर-पीढी पर्यन्त मित्र के समान चली आती है । और भी कहा है :-

स्तुतिर्निन्दा च सर्वेषां जायेते जीवने ध्रुवम् ।
न्यायनिष्ठा परं किञ्चिदपूर्वं वस्तु धीमताम् ।।5।।

कुरल-कुन्दकुन्दाचार्य कृत।

अर्थ :- प्रशंसा और निन्दा के प्रसंग मनुष्य मात्र के साथ जुड़े हुए हैं । परन्तु एक न्यायनिष्ठ मन बुद्धिमान-मनीषियों के लिए यह गौरव की वस्तु है ।

जो व्यक्ति न्यायनीति से तनिक भी नहीं चिगता, मन में चलायमान होने का विकल्प नहीं करता उसकी बात सत्य और सर्वमान्य होती है ।

न्यायच्युत मानव तिरस्कार का भाजन होता है । शंकास्पद बन जाता है और अप्रिय के साथ अविश्वास का पात्र भी हो जाता है । अतएव प्रत्येक यशाभिलाषी धर्मज्ञ पुरुष को शुद्ध न्याय का ही आश्रय लेना चाहिए । अपने में स्वयं आश्वस्त रहता है, वह सर्वत्र मान्य-समान का पात्र बन जाता है ।

शास्त्र ज्ञान से पुरुषों को लाभ क्या है ?

अलोचनगोचरे ह्यर्थे शास्त्रं तृतीय लोचनं पुरुषाणाम् ।।35।।

अन्वयार्थ :- आगम में (हि) निश्चय से (अलोचनगोचरे) नेत्रों से नहीं दिखलाई देते (तेषामवलोकनाय) उन पदार्थों के दृष्टिगोचर होने का उपाय (पुरुषाणाम) मनुष्यों के लिए (शास्त्रं) आगम (तृतीयं) तीसरा (लोचनं) नेत्र कहा है । कहा भी है - "आगम तीजा नेत्र बताया" कहा है । बहुत सूक्ष्म और नवीन पदार्थ हैं जिन्हें चर्म चक्षुओं से देखना असंभव या अशक्य है, तो भी आगम के रचयिता आचार्य देव ने आगम द्वारा उनका दृष्टिगत होना संभव कहा है ।

विशेषार्थ :- "साधूनां चक्षु आगमः" आगम चक्षु साधुः" कहा है । साधु आगम चक्षु होते हैं अर्थात् आगम द्वारा तत्व परिज्ञान कर रत्नत्रय की सिद्धि में समर्थ होते हैं । कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है :-

द्वे चक्षुषी मनुष्याणां जाते जीवित जागृते ।
एकं वर्णसमाम्नायो द्वितीयञ्चाङ्कसंग्रहः ।।2।।
यः शिक्षितः स एवास्ति चक्षुष्मानिह भूतले ।
अन्येषान्तु मुखे नूनमस्ति गर्तं द्वयाकृतिः ।।3।।

कुरल प. 40 कुन्दकुन्द

अर्थ :- मानवजाति की जीवित-जाग्रत दो आंखें हैं । एक को अंक कहते हैं और दूसरी को अक्षर ।।2।। इनके आधार से आगम बनता है ।

जो पुरुष शिक्षित होते हैं वे ही नेत्र वाले कहे जाते हैं । अशिक्षित के मुख पर रहने वाली चक्षु द्वय केवल मात्र गर्त-गड्ढे हैं । नेत्रों का फल अपाय से रक्षण करना है - अर्थात् गर्त में पड़ने, कांटों से बचना आदि है । इसी प्रकार परमार्थ दृष्टि से विषय-विष कंटकों से रक्षण करने वाला आगम है । जो आगम के आधार से जीवन यापन करता है वही सफल नेत्र मानव कहा जाता है । और भी कहा है :-

शिक्षित को सारी मही, घर है और स्वदेश ।
फिर क्यों चूके जन्म भर, लेने में उपदेश ।।7।।

कुरल.प.छे40

अर्थ :- विद्वान के लिए सभी जगह उसका घर है और सर्वत्र ही उसका अपना देश है । आचार्य यहाँ आश्चर्य प्रकट करते हैं कि फिर भी मनुष्य विद्यार्जन में क्यों प्रमाद करते हैं ? अतएव निरालस्य, उत्साहपूर्वक ज्ञानार्जन करना चाहिए । आचार्य कहते हैं कि जो मनुष्य विनयपूर्वक सोत्साह विद्यार्जन करता है वह विस्मृत भी हो जाये तो भी परभव में साथ देती है, उसका संस्कार बना रहता है । अत: विद्या प्राप्ति में विलम्ब नहीं करना चाहिए ।

शास्त्रज्ञान शून्य पुरुष का विवरण :-

अनधीत शास्त्रश्चक्षुष्मानपि पुमानन्ध एव ।।36।।

अन्वयार्थ :- (चक्षुष्मान्) नेत्रों वाला (अपि) भी (पुमान्) मनुष्य (अनधीतशास्त्र:) शास्त्र नहीं पढ़ने वाला (अन्ध:) नेत्रविहीन (एव) ही (अस्ति) है ।

अपठित मनुष्य आँखों के रहते हुए भी अन्धे के सादृश है ।

विशेषार्थ :- जिस मानव ने शुभ-समीचीन शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया, वह नेत्रसहित भी अन्धा है। जिस प्रकार चक्षुविहीन को सामने रखे हुए पदार्थ भी दीखते नहीं, योग्यायोग्य समझता नहीं, उसी प्रकार विवेक-सम्यग्ज्ञान शून्य मूर्ख व्यक्ति भी कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, योग्य-अयोग्य, सुखद-दु:खद रूप पदार्थों का निर्णय नहीं कर पाता। विद्वान भागुरि ने लिखा है :-

शुभाशुभं न पश्येच्चा यथान्ध: पुरत: स्थितम्
शास्त्रहीनस्तथा मर्त्यो धर्माधर्मौ न विन्दति ।।

अर्थ :- जिस प्रकार अन्धा पुरुष सामने रखी हुई शुभ-अशुभ वस्तु को नहीं देख सकता, उसी प्रकार शास्त्रज्ञान विहीन मूर्ख भी धर्म और अधर्म नहीं जान सकता ।।

शास्त्राध्ययन अज्ञान नाशक तो है ही साथ ही विपुल कर्मों की निर्जरा का भी हेतू है । कहा है :-

भावयुक्तोऽर्थतन्निष्ठ: सदा सूत्रं तुय: पठेत् ।
स महानिर्जरार्थाय कर्मणो वर्तते यति: ।।122।।

श्लो.सं. ॥पृ.80 ॥

अर्थ :- जो मुनि अच्छे भाव से युक्त होकर शास्त्र के अर्थ में तल्लीन होता हुआ शास्त्र को पढता है वह कर्म की बहुत अधिक निर्जरा करने के लिए समर्थ होता है । छहढाला में भी दौलतराम जी कहते हैं :-

कोटि जन्म तप तपै ज्ञान बिन कर्म झरैं जे ।
ज्ञानी के छिन माहिं त्रिगुप्ति तें सहज टरें ते ।

अर्थात् करोड़ों जन्मों में अज्ञानी जितने कर्मों की निर्जरा करता है उतने कर्मों को ज्ञानी त्रिगुप्तियों-मन, वचन और काय के निरोध से क्षण मात्र में नष्ट कर देता है ।

ज्ञान की महिमा अपार है प्रत्येक मानव को अध्ययनशील होना चाहिए ।

मूर्ख मनुष्य की हीनता का वर्णन :-

न ह्यज्ञानादपरः पशुरस्ति ।।37।।

अन्वयार्थ :- (हि) निश्चय से (अज्ञानात्) अज्ञान से (अपरः) भिन्न (पशुः) चौपाया (न) नहीं (अस्ति) है ।

संसार में मूर्खता के सिवाय अन्य कोई पशु नहीं है ।

विशेषार्थ :- चौपाया होने से ही मात्र पशु नहीं है अपितु दुर्बुद्धि ही पशु है । कारण कि पशु जिस प्रकार शुद्धाशुद्ध का विचार न कर घास आदि खाकर मलमूत्रादि क्षेपण करता है उसी प्रकार अज्ञानी, मूढ मनुष्य भी भक्ष्याभक्ष्य का विचार न कर चाहे जो कुछ भक्षण करता हुआ घूडे-पाखाने की वृद्धि करता है । अर्थात् मलमूत्रादि क्षेपण करता है ।

वशिष्ठ नामक विद्वान ने भी कहा है :-

मर्त्या मूर्खतमा लोकाः पशवः श्रृंगवर्जिताः ।
धर्माधर्मौ न जानन्ति यतः शास्त्र पराङ्मुखाः ।।7।।

अर्थ :- महान मूर्ख जो शास्त्र ज्ञान से पराङ्मुख हैं, धर्म-अधर्म में भेद नहीं करते हैं वे बिना सींग पूंछ के पश हैं । नीतिकार कहते हैं :-

आहार निद्राभय मैथुनं च, सामान्य मेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधि को विशेषः धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ।।

अर्थ :- अनादिकाल से ज्वर के समान पीड़ाकारक चार संज्ञाएं जीव के साथ लगी हैं । वे चार संज्ञाएँ हैं - 1. आहार 2. भय 3. मैथुन और 4. परिग्रह । ये पशुओं और मनुष्यों दोनों में समान रूप से होती हैं परन्तु धर्म ही एक अमूल्य और अपूर्व वस्तु है जो पशु और मनुष्य में भेद स्थापित करती है । मनुष्य यदि धर्म विरहित है तो वह भी बिना सींग-पूंछ का पशु ही है । धर्मात्मा सिद्ध करने वाला ज्ञान है । ज्ञानार्जन करना मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य है ।

नीतिकार महात्मा भर्तृहरि जी ने कहा है :-

साहित्य संगीत कला विहीना, साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ।।
तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्भगधेयं परमं पशूनाम् ।।1।।

अर्थ :- जिसे साहित्य, संगीत आदि कलाओं का ज्ञान यदि नहीं है तो मनुष्य निरा पशु है । मात्र उसे सींग पूंछ नहीं है । यहाँ कोई शंका करे कि यदि मानव पशु है तो फिर वह घास-दाना क्यों नहीं खाता ? इसका सरल उत्तर यह है कि बिना घास खाये भी यदि जीवित है तो इसमें उसका पुण्य है जो पशुओं में उत्तम हो गया है ।

अभिप्राय यह है कि प्रत्येक मानव को कर्त्तव्यबोध और श्रेय की प्राप्ति के लिए नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्रों को अध्ययन करना चाहिए । यही आत्मोत्थान का एकमात्र उपाय है ।

राज्य की क्षति करने वाले राजा का लक्षण कहते हैं :-

वरमराजकं भुवनं न तु मूर्खो राजा ।।38।।

अन्वयार्थ :- (भुवनं) पृथ्वी पर (अराजकम्) राजा का न होना (वरं) श्रेयस्कर है (तु) परन्तु (मूर्खः) मूर्ख (राजा) नृपति (न) नहीं हो ।

मूढ राजा की अपेक्षा राजा शून्य रहना अच्छा है ।

विशेषार्थ :- संसार में जिस प्रकार कुपुत्र पुत्र की अपेक्षा पुत्र विहीन होना श्रेष्ठ है, कुविद्या से अनपढ रहना, असती भार्या से अविवाहित रहना जिस प्रकार अच्छा है उसी प्रकार मूढ-मूर्ख राजा से तो पृथ्वीपति रहित राज्य ही उत्तम है । विषमक्षण की अपेक्षा क्षुधित रहना ही श्रेयस्कर है । जिस देश में मूर्ख राजा होता है वह राज्य ही नष्ट हो जाता है । गुरु विद्वान ने कहा है :-

अराजकानि राष्ट्राणि रक्षन्तीह परस्परम् ।
मूर्खो राजा भवेद्येषां तानि गच्छन्तीह संक्षयम् ।।1।।

अर्थ :- संसार में जिन देशों में राजा नहीं होते वे परस्पर एक दूसरे की रक्षा कर लेते हैं परन्तु अनीतिज्ञ-मूर्ख राजा का राज्य अवश्यमेव नष्ट हो जाता है ।

अयोग्य युवराज के लक्षण कहते हैं :-

असंस्कारं रत्नमिव सुजातमपि राजपुत्रं न नायकपदायामनन्ति साधवः । ।।39।।

अन्वयार्थ :- (सुजातम्) श्रेष्ठ कुलोत्पन्न (अपि) भी (राजपुत्रं) युवराज को (साधवः) सज्जन पुरुष (असंस्कारम्) संस्कार रहित (रत्नम्) रत्न के (इव) समान (नायकपदाय) राजा के पद के योग्य (न) नही (आमनति) समझते हैं ।

उत्तम वंशोत्पन्न होकर भी न्यायशास्त्र से पराङ्मुख युवराज को राज्यशासन के अयोग्य कहते हैं जिस प्रकार शाण पर नहीं चढे रत्न को सज्जन पुरुष आदरणीय-ग्राह्य नहीं मानते हैं ।

विशेषार्थ :- उत्तम सागर व मधुर झीलादि अथवा खान में उत्पन्न हीरा व रत्न; मुक्ता आदि भी संस्कारित

हुए बिना शोभा नहीं पाते उसी प्रकार उत्तम कुलोत्पन्न युवराज भी नीतिविज्ञान और शस्त्र विद्या से सुसंस्कृत हुए बिना सिंहासनारूढ होने योग्य नहीं होता, वह शोभित भी नहीं होता है । सुसंस्कृत हुए ही वस्त्रालंकार भी शोभा पाते हैं । संस्कार विहीन नहीं । सदाचार व शिष्टाचार के संस्कार होना परमावश्यक है ।

निष्कर्ष यह है कि सुसंस्कारों से संस्कृत, राजनैतिक ज्ञान और सदाचार रूप संस्कारों से मण्डित होना चाहिए। शाण पर चढाई तलवार ही कार्यकारी होती है । सुपक्व भोजन ही स्वास्थ्य लाभ दे सकता है, उसी प्रकार सुसंस्कारों-राज्यशासन योग्य कला-विज्ञान से मण्डित युवराज ही राज्याधिकार योग्य होता है अन्यथा नहीं । इसीलिए उसे राजसत्ता को जीवन्त रखने वाली कला से भिज्ञ होना चाहिए ।।39।।

दुष्ट राजा से होने वाली प्रजा की क्षति वर्णन :-

न दुर्विनीताद्राज्ञः प्रजानां विनाशादपरोऽस्त्युत्पातः ।।40।।

अन्वयार्थ :- (दुर्विनीतात् राज्ञः) न्याय-नीति ज्ञान रहित राजा से अधिक (प्रजानाम्) प्रजा के (विनाशात्) संहार से (अपरः) अन्य (उत्पातः) उपद्रव (न) नहीं (अस्ति) है ।

प्रजा को उपद्रित करने वाला दुष्ट-अन्यायी राजा से बढ़कर अन्य कुछ नहीं है ।

संसार में भूकम्पादि द्वारा प्रजा की क्षति देखी जाती है परन्तु अन्यायी दुष्ट राजा से बढ़कर अन्य कोई क्षति नहीं हो सकती । हारीत ने कहा है :-

उत्पातो भूमि कम्पाद्यः शान्तिकैर्याति सौम्यताम् ।
नृप दुर्वृत्तः उत्पातो न कथंचित् प्रशाभ्यति ।।1।।

अर्थ :- भूकम्पादि उपद्रव होने पर उनकी शान्ति भगवद् पूजा, मन्त्र जप, होमादि उपायों से संभव है परन्तु दुष्ट राजा से उत्पन्न उपद्रव शान्त होने का कोई उपाय नहीं है । कहावत है "बाढ ही यदि क्षेत्र (खेत) को खा जाय तो रक्षा क्या करेगा ? रक्षक ही भक्षक बन जाय तो त्राण कहाँ ? शान्ति कहाँ ? इसी प्रकार कहावत है "राजा हो चोरी करे न्याय कौन घर जाय" यदि स्वयं राजा ही चोर जार हो तो न्याय कौन करेगा ? कोई नहीं । अतः सर्वनाश का कारण है अयोग्य दुष्ट राजा ।

प्रजा का विकास तो दूर रहा दुर्जन शासक द्वारा सुसज्जित, सुसंस्कृत, कला-ज्ञान-विज्ञान-धर्मादि से सम्पन्न राज्य विनष्ट हो जाता है ।

अब दुष्ट राजा का लक्षण निर्देश :-

यो युक्तायुक्तयोरविवेकी विपर्यस्तमतिर्वा स दुर्विनीतः ।।41।।
युक्तायुक्तयोगवियोगयोरविवेकमति र्वा स दुर्विनीतः ।।

पाठान्तर ॥

अन्वयार्थ :- (यः) जो (युक्तः) योग्य (अयुक्तः) अयोग्य के विषय में (अविवेकी) भेद नहीं समझता (वा) अथवा (विपर्यस्ता) विपरीत (मतिः) बुद्धि है (सः) वह (दुर्विनीतः) दुष्ट (अस्ति) है ।

जो राजा योग्य व अयोग्य पदार्थों में भेद नहीं करता अर्थात् योग्य को अयोग्य और अनुचित को उचित समझता है । अयोग्य पुरुषों को दान सन्मानादि से संतुष्ट करता है और योग्यों को अपमान कर तिरस्कृत करता है वह विपरीत बुद्धि दुष्ट राजा कहलाता है ।

राज्यपद के योग्य पुरुषद्रव्य का लक्षण कहते हैं :-

यत्रं सद्भिराधीयमाना गुणा संक्रामन्ति तद् द्रव्यम् ।।42।।

अन्वयार्थ :- (यत्र) जहां (सद्भिः) विद्वानों द्वारा (आधीयमानाः) अरोपित गुणों से समन्वित किये गये हों (गुणाः) राजकीयगुण (संक्रामन्ति) संक्रामित होकर स्थिर हो गये हों (तद्) वह (द्रव्यम्) योग्य द्रव्य है ।

जिस पुरुष में महाविद्वानों-राजनीतिज्ञ, शास्त्रज्ञों द्वारा राज्यशासन की शिक्षा, गुण, विद्या आरोपित की हैं अर्थात् अस्त्र-शस्त्रादि राजविद्या आरोपित की गई हो वही पुरुष राजा होने योग्य "पुरुषद्रव्य" कहा जाता है । प्रजापालन, राज्यशासन का प्रधान-मुख्य कर्त्तव्य है ।

विशेषार्थ :- जिस प्रकार योग्य पाषाण में कुशल शिल्पी अपनी तीक्ष्ण दृष्टि और पैनी छैनी से मनोज्ञमूर्ति उकेर देता है और पुनः-विशेषज्ञ प्रतिष्ठाचार्य, आचार्य परमेष्ठी उसमें मन्त्र संस्कार देते हैं सूर्य मंत्र प्रदान करते हैं और वह पाषाण बिम्ब साक्षात् भगवान बन जाता है । इसी प्रकार जो पुरुष राजनीति विद्या से संस्कारित होता है वही राजा बनने की योग्यता प्राप्त कर लेता है । श्री भागुरि विद्वान ने भी लिखा है :-

योज्यमाना उपाध्यायैर्यत्रपुंसि स्थिराश्च ते ।
भवन्ति नरि द्रव्यं तत् प्रोच्यते पार्थिवोचितम् ।।1।।

अर्थ :- वही पुरुषद्रव्य नृपति होने के योग्य है, जिसमें राजनीतिज्ञ श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा सद्गुण-नीति, सदाचार, शूरत्व, वीरत्व, निर्भयत्व, स्वाधीनत्वादि गुण स्थिर किये गये हों । राज्योचित गुण जिसने जीवन में साकार किये हैं वही भूपति आदर्श शासक बनने योग्य होता है ।

लवणांकुश ने क्षुल्लकमहाराज के पास धर्म, नीति के साथ शस्त्रादि विद्याओं को प्राप्त किया था । जीवन में उतारा । फलतः पदवीधारी भी पिता और चाचा से पराजित नहीं हुए । "सिंह के बच्चे सिंह होते हैं" युक्ति प्रत्यक्ष कर दिखायी । तात्पर्य यह है कि विद्या-संस्कार अन्तरंग में छिपी शक्तियों को उभार देती हैं । अग्नि संस्कार युक्त मिट्टी का घड़ा जलधारण की योग्यता प्राप्त कर लेता है । कच्चे घड़े में यदि जल भर दिया जाय तो घडे के साथ नीर बिखर जाता है । नष्ट हो जायेगा । इसी प्रकार अयोग्य राजा राज्य के साथ नष्ट हो जाता है और नीति निपुण भ्रष्ट-नष्ट राज्य को आबाद कर देगा । राज्य योग्य गुण सम्पन्न योग्य पुरुष शासक बनना चाहिए ।

अयोग्य पुरुष राज्याधिकारी हो तो क्या हानि होगी ? :-

यतो द्रव्याद्रव्य प्रकृतिरपि कश्चित् पुरुषः सङ्कीर्णगजवत् ।।43।।

अन्वयार्थ :- (यतः) क्योंकि (द्रव्यप्रकृतिः) राज्ययोग्य गुणों से युक्त होने (अपि) पर भी (यदा) जब (अद्रव्य प्रकृतिः) अयोग-दुराचारी, व्यसनी होने पर (अपि) भी (कश्चित्) कोई (पुरुषः) पुरुष (सङ्कीर्णः) पागल (गजवत्) हस्ति समान (भवति) होता है ।

योग्य भूपति-राजनीतिनिपुण होने पर भी यदि विषयलम्पटी, दुर्व्यसनी हो जाता है तो मूर्खता, अनाचार, अत्याचार के कारण उन्मत्त गज के समान प्रजा को कष्टकारक, भय दायक होता है ।

विशेषार्थ :- जिस प्रकार सुन्दर, योग्य आज्ञाकारी भी इभ (हाथी) मदोन्मत्त हो जाता है तो लोकों को कष्टदायक, पीड़ाकारक और भयंकर भय दायक हो जाता है । उसी प्रकार प्रजावत्सल, नीतिनिपुण, सुभट और कर्मठ भी महीपति यदि सदाचार भ्रष्ट हो व्यसनों में पड़ जाय, विषय लम्पटी हो जाय तो वह भी प्रजा को पीड़ादायक, कष्टकारक और भयोत्पादक हो जाता है । राज्यपद के योग्य नहीं रहता । वह स्वयं कायर हो राजसत्ता को खतरे में डाल देगा और स्वयं भी राज्य भ्रष्ट हो जायेगा।

वल्लभदेव ने भी इसी प्रकार का अभिमत निरूपित किया है :-

शिष्टात्मजो विदग्धोऽपि द्रव्याद्रव्य स्वभावकः ।

न स्याद्राज्यपदार्होऽसौ गजो मिश्रगुणो यथा ।।1।।

अर्थ :- राजपुत्र शिष्ट और विद्वान होने पर भी यदि द्रव्य-राज्यपद के योग्य गुण से एवं अद्रव्य-मूर्ख, अनाचारी, कायरता आदि दोष हो गया हो तो वह मिश्र पागल हाथी के समान राज्य पद के योग्य नहीं रहता है । कारण कि प्रजा के लिए भयंकर हो जाता है । गुरु विद्वान ने भी कहा है :-

यः स्यात् सर्वगुणोपेतो राजद्रव्यं तदुच्यते ।

सर्वकृत्येषु भूपानां तदर्हं कृत्य साधनम् ।।1।।

अर्थ :- जो मनुष्य समस्त शासकीय गुणों से सहित है उसे राजद्रव्य कहते हैं । उसमें राजा बनने की योग्यता है । राजाओं में समस्त गुण होने पर भी सदाचार आदि का होना भी अनिवार्य है तभी वह राजा होने योग्य होता है ।

राज का संचालक योग्य, स्वस्थ होने पर ही सफलता प्राप्त कर सकता है । जो जिस कला में निष्णात होता है वही उस कला से प्राप्त सुखसम्पदा का भोग करने में समर्थ होता है । अतः राज्य सम्पदा के उपभोगेच्छु को राज्य संचालन में नैपुण्य प्राप्त करना अनिवार्य है ।

गुणवान् पुरुष का वर्णन करते हैं :-

द्रव्यं हि क्रियां विनयति नाद्रव्यम् ।।44।।

अन्वयार्थ :- (द्रव्यम्) योग्य पुरुष (हि) निश्चय से (क्रियां) पदप्राप्ति के फल को (विनयति) प्राप्त करता है (न अद्रव्यम्) अयोग्य पुरुष नहीं ।

योग्य गुणों से मण्डित-योग्य पुरुष राज्यपद को प्राप्त करता है, निर्गुण मूर्ख नहीं ।

विशेषार्थ :- जिस प्रकार उत्तम किस्म का पाषाण शाण पर रखे जाने से संस्कारित होते हैं साधारण नहीं, उसी प्रकार गुणवान और कुलीन पुरुष ही राज्य आदि उत्तम पद के योग्य है, मूर्ख उस पद को नहीं पा सकता ।।44।।

भागुरि विद्वान ने लिखा है कि :-

गुणाढ्यैः पुरुषैः कृत्यं भूपतीनां प्रसिद्धयति ।
महत्तरमपि प्रायो निर्गुणैरपि नो लघु ।।1।।

अर्थ :- प्रायः गुणज्ञों द्वारा ही राजाओं के द्वारा राजाओं के महान् कार्य सफल होते हैं, परन्तु मूर्खों से लघु कार्य भी सिद्ध नहीं होता ।

बुद्धि के गुण और उनके लक्षणों का कथन

शुश्रूषा-श्रवण-ग्रहण-धारणाविज्ञानोहापोह तत्वाभिनिवेशा बुद्धिगुणाः ।।45।।

अन्वयार्थ :- (शुश्रूषा) सेवा, (श्रवण) सुनने की योग्यता (ग्रहणा) धारणाशक्ति (धारणा) स्मरण शक्ति (विज्ञान) विशेषज्ञान (उहा-पोह) तर्क (तत्व) तत्वज्ञान (अभिनिवेश) उक्तविज्ञान (बुद्धिगुणाः) बुद्धि के गुण हैं।

बुद्धि का फल विचार तर्कणा है ।

श्रोतुमिच्छा शुश्रुषा ।।46।।

अर्थ :- सुनने की इच्छा शुश्रुषा कहलाती है ।

श्रवणमाकर्णनम् ।।47।।

अर्थ :- श्रवण शक्ति बराबर रहना अर्थात् सुनने की योग्यता होना ।

ग्रहणं शास्त्रार्थोपादानम् ।।48।।

अर्थ :- शास्त्र-आगम के अर्थ-विषय को ग्रहण करना ग्रहण करते हैं ।

धारणमविस्मरणम् ।।49।।

अर्थ :- शास्त्रादि के अर्थ को ग्रहण कर अधिक समय तक विस्मृत नहीं होना धारणा है ।

मोहसन्देह विपर्यासव्युदासेन ज्ञानं विज्ञानम् ।।50।।

अर्थ :- अज्ञान, संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय रहित ज्ञान को विशिष्ट-सम्यग्ज्ञान कहा जाता है ।

विज्ञातमर्थमवलम्ब्यान्येषु व्याप्त्या तथा विधवितर्कणमूहः ।।51।।

अर्थ :- व्याप्ति ज्ञान अर्थात् निश्चय किये गये धूमादि हेतू रूप पदार्थों के ज्ञान से अग्नि आदि साध्यरूप पदार्थों का ज्ञान करना ऊहा कहा जाता है । परीक्षामुख में भी कहा है ।

उपलम्भानुपलम्भ निमित्तं व्याप्ति ज्ञानमूहः ।।71।।

प.मु.माणिक्यनन्द

उक्तानुक्त के निमित्त व्याप्ति के ज्ञान को तर्क ज्ञान-प्रमाण कहते हैं ।

उक्तियुक्तिभ्यां विरुद्धादर्थात् प्रत्यवाय संभावनया व्यावर्तनमपोहः ।।52।।

अर्थ :- शिष्टात्माओं के उपदेश और युक्तियों-प्रबल युक्तियों से प्रकृति, ऋतु और शिष्टाचार विरुद्ध पदार्थों में अपनी हानि या विनाश का निश्चय करके उनका त्याग करना और तत्त्वाभिनिवेश, उक्त विज्ञान और ऊहा-पोह द्वारा हितकारक पदार्थों का दृढ़ निश्चय करना अपोह है ।।52।।

अथवा ज्ञान सामान्यमूहो ज्ञानविशेषोऽपोहः ।।53।।

अर्थ :- दूसरे प्रकार से अपोह का लक्षण इस प्रकार किया जा सकता है किसी पदार्थ के सामान्य ज्ञान को ऊह और विशेष ज्ञान को अपोह कहते हैं । उदाहरणार्थ जल देखकर "यह जल है" यह साधारण ज्ञान "ऊह" है और इससे तृषा का शमन होता है यह विशेषज्ञान "अपोह" हुआ ।

विज्ञानोहापोहानुगम विशुद्धमिदमित्थमेवेति निश्चयस्तत्वभिनिवेशः ।।54।।

अर्थ :- उक्त विज्ञान, ऊह और अपोह आदि के सम्बन्ध से विशुद्ध होने पर यह "ऐसा ही है, अन्यथा नहीं हो सकता" इस प्रकार के दृढ़ निश्चयपूर्ण होने वाले ज्ञान को" तत्वाभिनिवेश" कहते हैं ।

भगवज्जिनसेनाचार्य ने भी उक्त आठ प्रकार के श्रोताओं के सद्गुणों का उल्लेख किया है कि सुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, स्मृति, ऊह, अपोह और निर्णीति ये श्रोताओं के 8 गुण जानने चाहिए । यथा -

शुश्रुषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा ।
स्मृत्यूहापोहनिर्णीतिः श्रोतुरष्टौ गुणान् विदुः ।।

आ.पु.प.1श्लो.146

उपर्युक्त विवेचन से निर्णीत होता है कि ये आठों गुण बुद्धि के विशेषण हैं । इन गुणों से युक्त पुरुष राज्य शासन कला में निपुण समझा जाता है । इस प्रकार का सत्पुरुष पृथिवीपति होता है तो सर्वत्र राज्य में सुख-शान्ति बने रहना स्वाभाविक है। "तत्वविचारिणी बुद्धिः" कही है ।

अब विद्याओं का स्वरूप कहते हैं :-

याः समधिगम्यात्मनो हितमवैत्यहितं चापोहति ता विद्याः ।।55।।

अन्वयार्थ :- (याः) जो (समधिगम्य) अच्छी तरह अधीत होकर (आत्मनः) आत्मा के (हितम्) हित,

को (अवैति) जानता है (च) और (अहितम्) अहित को (अपोहति) दूर करता है (ता) वे (विद्या:) विद्याएँ (कथ्यते) कही जाती हैं ।

जिनको ज्ञात कर मनुष्य अपनी आत्मा को हित कारक सुख के साधनों में लगाता है और अहितकारक पदार्थों का स्वरूप अवगत कर उनसे हटाता है वे विद्याएं कहलाती हैं ।

विशेषार्थ :- जो सुख की प्राप्ति और दु:ख से संरक्षण करावे वे विद्याएँ कहलाती हैं । उपर्युक्त गुणों से विशिष्ट विद्याएँ **सद्विद्याएँ** कहलाती हैं और इनसे विपरीत उक्त गुणविहीन अविद्या हैं - कुविद्या है । भागुरि विद्वान ने इस सम्बन्ध में निम्न प्रकार कहा है :-

यस्तु विद्यामधीत्याथहितमात्मनि संचयेत् ।
अहितं नाशयेद्विद्यास्ताश्चान्या: क्लेशदा: मता: ।।1 ॥

अर्थ :- जो विद्वान विद्या को पढकर अपनी आत्मा को सुख और सुख के साधनों में प्रवृत्त और दुख एवं दुख के कारणों से निवृत्त होता है वही सद्विद्या है - सम्यक्-समीचीन विद्याएँ हैं इसके विपरीत अन्य अविद्याएँ हैं कुविद्याएँ हैं । ये कष्ट देने वाली हैं ।

सत्पुरुषों का कर्त्तव्य है कि वे समीचीन सत्य विद्याओं का आश्रय लेकर आत्मविकास करें ।

राजविद्याओं के नाम और संख्या

आन्विक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिरिति चतस्त्रो राजविद्या: ।।56 ॥

अन्वयार्थ :- (आन्विक्षिकी) आन्विक्षिकी (त्रयी) त्रयी (वार्ता) वार्ता (च) और (दण्डनीति:) दण्डनीति (चतस्र:) ये चार (राजविद्या:) राज विद्याएँ हैं ।

विशेषार्थ :-1. **आन्विक्षिकी** - जिसमें आध्यात्मतत्त्व, आत्मतत्व, तथा उसके पूर्वजन्म और अपर जन्म आदि की अकाट्य युक्तियों द्वारा सिद्धि की गई हो उसे "आन्विक्षिकी" विद्या कहते हैं इसे दर्शनशास्त्र व न्यायशास्त्र भी कहते हैं ।

2. त्रयी :- (चरणानुयोग शास्त्र) - जिसमें ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय एवं शूद्र इन चारों वर्णों व ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति इन चार आश्रमों के कर्त्तव्यों का विवेचन व्याख्या जिसमें वर्णित हो वह त्रयीविद्या कही जाती है । इस विद्या को "आचारचार" शास्त्र भी कहा जा सकता है या कहते हैं ।

3. वार्ता विद्या :- जिस लौकिक शास्त्र में प्रजा के जीवनोपायों - 1. असि, खड्ग-आयुध धारण करना 2. मषि-लेखन कला, 3. कृषि-खेती करना, 4. विद्या-कला, विज्ञान, 5. वाणिज्य-व्यापार और 6. शिल्प-चित्रकला, नृत्यकला गानकला आदि । इन क्रिया-कलापों-कर्त्तव्यों का जिसमें विवेचन हो वह वार्ता विद्या कही जाती है ।

4. दण्डनीति विद्या :- जिसमें प्रजाजनों की रक्षार्थ शिष्टों का पालन और दुष्टों का निग्रह करने का उपदेश हो, उसे दण्डनीति विद्या कहते हैं । अन्याय और अत्याचार की प्रवृत्ति को रोकने के लिए दुराचारियों, दुर्जनों, चोरादि

को दण्ड देना अनिवार्य है अन्यथा राज्य में इन कुप्रवृत्तियों का अड्डा जम जायेगा । इन वार्ताओं का विवेचन करने वाली विद्या दण्डनीति विद्या कही जाती है । इस प्रकार ये चार राजविद्याएँ हैं ।

आन्विक्षिकी विद्या के पठन का लाभ :-

अधीयानो ह्यान्विक्षिकीं कार्याकार्याणां बलाबलं हेतुभिर्विचारयति, व्यसनेषु न विषीदति नाभ्युदयेन विकार्यते समधिगच्छति प्रज्ञावाक्य वैशारद्यम् ।।57।। "प्रज्ञावाक्य" के स्थान में "प्रज्ञावान्" भी पाठ है । मु.मू. पूना की ह.लि.

अन्वयार्थ :- (हि) निश्चय से (आन्विक्षिकीं) आन्विक्षिकी विद्या को (अधीयानः) पढ लेने वाला (कार्यम्) कर्त्तव्य (अकार्यम्) अकरणीय, (बलं) वीर्य (अबलम्) निशक्तता को (हेतुभिः) सम्यक् निमित्तों से भली-भाँति (विचारयति) विचार करता है (व्यसनेषु) जुआदि दुर्व्यसनों में (न) नहीं (निषीदति) फंसता है । (अभ्युदयेन) वैभवादि के द्वारा (न) नहीं (विकार्यते) कुत्सित होते हैं (प्रज्ञावाक्य वैशारद्यम्) सुविचारित कार्य कर्त्ता है (समाधिगच्छति) समाधिष्ठित विचारों से ज्ञात कर, शान्तभाव प्राप्त करते हैं ।

विशेषार्थ :- आन्विक्षिकी विद्या का पाठक व्यक्ति अपने करणीय-अकरणीय कार्यों के विचार में दक्ष हो जाता है । स्वयं के बलाबल को सम्यक् विचार करता है अनेकों उत्तम हेतुओं से सोच-विचार करता है । दुर्व्यसनों में नहीं फंसता, वैभवादि पाकर विकृत नहीं होता, उन्मत्त नहीं होता, शान्तभाव से सुविचार कर कार्य करने में संलग्न होता है ।।

अब त्रयी विद्या के पढने का लाभ कहते हैं :-

त्रयीं पठन् वर्णाश्रमाचारेष्वतीव प्रगल्भते, जानाति च समस्तामपिधर्माधर्म स्थितिम् ।।58।।

अन्वयार्थ :- (त्रयीं) त्रयी विद्या को (पठन्) पढने वाला (वर्णाश्रमचारेषु) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार आश्रमों में (अतीव) बहुत अधिक (प्रगल्भते) ज्ञान प्राप्त करता है, (च) और (समस्ताम्) सम्पूर्ण (धर्माधर्म) धर्म एवं अधर्म की (स्थितिम्) स्थितियों को (जानाति) विदित कर लेता है ।

त्रयी विद्या का वेत्ता चारों वर्णों की एवं धर्म-अधर्म के विषय में विशेष रूप से विभिन्न पहलुओं का परिज्ञान प्राप्त कर लेता है । पुण्य-पापादि की प्रक्रियाओं का ज्ञाता हो जाता है । कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की प्रक्रियाओं को सम्यक् प्रकार से प्रयुक्त करने में समर्थ हो जाता है ।।58।।

वार्ता-विद्या से क्या लाभ है ? :-

युक्तितः प्रवर्तयन् वार्तां सर्वमपि जीवलोकमभिनन्दयति लभते च स्वयं सर्वानपि कामान् ।।59।।

अन्वयार्थ :- (वार्तां) वार्ता विद्या को (युक्तितः) सयुक्ति (प्रवर्तयन्) प्रयुक्त करता हुआ (सर्वम्) समस्त (जीवलोकम्) प्रजा जनों को (अपि) भी (अभिनन्दयति) प्रसन्न करता है (च) और (स्वयमपि) स्वयं भी (सर्वान्) समस्त (कामान्) इच्छित पदार्थों को (लभते) प्राप्त करता है ।

विशेषार्थ :- लोक में वार्ता विद्या का अध्येता राजा समस्त लोक को, प्रजा को आनन्दित करता है । क्योंकि जीवन की तीन प्रमुख समस्याएँ होती हैं - निवास स्थान - घर, शरीराच्छदन को वस्त्र और प्राण रक्षणार्थ भोजन।

यह विद्या आजीविका के साधन - 1. असि 2. मषि, 3. कृषि, 4. वाणिज्य शिल्प, कलादि का परिज्ञान कराती है । अतः इस विद्या का अध्येता इन समस्त सुविधाओं को प्रदान कर प्रजा को सुख-समृद्ध बनाता है । सबको सुखी-सम्पन्न बनने का मार्ग दर्शन कर प्रजा का पालन-पोषण करता है । जो पर को प्रसन्न, शान्त और सुखी बनाता है वह स्वयं भी प्रमुदित और सुखी एवं सर्वप्रिय यशस्वी रहता है ।

दण्डनीति में प्रवीण राजा का लाभ बताते हैं :-

यम इवापराधिषु दण्डप्रणयनेन विद्यमाने राज्ञि न प्रजाः स्वमर्यादामतिक्रामंति प्रसीदन्ति त्रिवर्गफलाः विभूतयः ।।60।।

अन्वयार्थ :- (यम) मृत्यु (इव) समान (अपराधिषु) अपराधियों में (दण्डप्रणयनेन) दण्ड का प्रयोग करने से (राज्ञि) राजा के (विद्यमाने) विद्यमान रहने पर (प्रजा) प्रजाजन (स्वमर्यादाम्) अपनी-अपनी मर्यादा (न) नहीं (अतिक्रामन्ति) उलंघन करते हैं एवं (त्रिवर्गफलाः) धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थों को फलाने वाली (विभूतयः) विभूतियाँ-साधन (प्रसीदन्ति) प्रसन्न होते हैं ।

योग्य-अपराधानुसार उचित नीतिपूर्वक दण्ड देने वाला नृपति अन्याय नहीं करता । अतः उसके दण्ड प्रयोग से भयातुर प्रजा सन्मार्गगामी बनी रहे प्रत्येक वर्ग-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपनी अपनी मर्यादानुसार कार्यरत रहते हैं । परस्पर प्रीति और सन्तोष का व्यवहार रखते हैं, सभी सुख-समृद्ध बने रहते हैं । कोई किसी से ईर्ष्या, द्वेष, निन्दा, पराभव रूप व्यवहार नहीं करते । अतः सभी अपने-अपने क्षेत्र में खुशहाल रहते हैं ।

दण्डनीति का ज्ञाता भूपति प्रजा सहित खुशहाल निश्चिन्त रहता है । क्योंकि कोई भी अपने कर्त्तव्य और मर्यादा का उलंघन नहीं करता । राज्य अमन-चैन से तीनों पुरुषार्थ फलते फूलते हैं । स्व चक्र और परचक्र का भय तनिक भी नहीं रहता ।।60।।

अन्यमतावलम्बियों की अपेक्षा आन्वीक्षिकी विद्या प्रति मान्यता :-

सांख्यं योगो लोकायतिकं चान्वीक्षिकी बौद्धार्हतोः श्रुतेः प्रतिपक्षत्वात् (नान्वीक्षिकीत्वम्) इति नैत्यानि मतानि ।।61।।

अन्वयार्थ :- (सांख्यम्) सांख्य (योगः) योग (लोकायितकम्) लोकायत ये (आन्वीक्षिकी) आन्वीक्षिकी विद्या के मानने वाले हैं (च) और (बौद्धाः) बौद्धमतावलम्बी (आर्हतः) जैनदर्शन (श्रुतेः) वेद के (प्रतिपक्षत्वात्) विरोधी होने से (नान्वीक्षिकीत्वम्) आन्वीक्षिकी विद्या के ज्ञाता नहीं हैं (इति) इस प्रकार की (नैत्यानिमतानि) अन्यमतियों की मान्यता (अस्ति) है ।

विशेषार्थ :- सांख्य, योग और चार्वाक दर्शन-नास्तिक दर्शन ये आन्वीक्षिकी-आध्यात्म विद्याएँ हैं । अर्थात् आध्यात्म विद्या के प्रतिपादक दर्शन हैं । बौद्ध और आर्हदर्शन-जैनदर्शन-वेदविरोधी होने से आध्यात्म विद्याएँ नहीं हैं, इस प्रकार अन्य नीतिकारों की मान्यता है ।

यहाँ पर आचार्य श्री ने अन्य नीतिकारों की मान्यता मात्र का उल्लेख किया है । क्योंकि आध्यात्म विद्या का समर्थक आर्हदर्शन वेदविरोधी होने मात्र से आन्वीक्षिकी विद्या से वहिर्भूत नहीं होता अन्यथा उनके ऊपर प्राप्त

हुआ अतिप्रसंग दोष अनिवार्य आयेगा अर्थात् सांख्य व नैयायिक दर्शन भी जैनदर्शन का विरोधी होने के कारण आन्वीक्षिकी विद्या के वहिर्भूत हो जायेंगे । किसी के द्वारा निरर्थक निन्दा किये जाने पर क्या कोई शिष्ट पुरुष अशिष्ट सिद्ध हो सकता है ? निन्दा का पात्र होगा क्या ? नहीं हो सकता । आचार्य श्री सोमदेवजी ने यशस्तिलकचम्पू में प्राचीन नीतिकारों के प्रमाणों द्वारा आर्हद्दर्शनको-अध्यात्मविद्या-आन्वीक्षिकी सिद्ध किया है ।

इस सूत्र पाठ के विषय में निम्न प्रकार स्पष्टीकरण करते हैं :-

(क) ''सांख्यं योगो लोकायतं चान्वीक्षिकी बौद्धार्हतोः श्रुतेः प्रतिपक्षत्वात्'' ऐसा पाठ भाण्डार कर रिसर्च गवर्न. लायब्रेरी पूना की हस्तलिखित मू. प्रति -(नं. 737 जो कि सन् 1875-76 में लिखी गई है) में है ।

(ख) ''सांख्यं, योगो, लोकायतं चान्वीक्षिकी बौद्धर्हतोः श्रुतेः प्रतिपक्षत्वात्'' यह पाठ उक्त पूना लाइब्रेरी की ह.लि.मू.प्रति (नं.1012 जो कि सन् 1887 से 1891 में लिखी गई है) में है ।

(ग) ''सांख्यं योगो लोकायतं चान्वीक्षिकी बौद्धार्हतोः श्रुतेः प्रतिपक्षत्वात् इति नैत्यानि मतानि'' इस प्रकार का पाठ सरस्वतीभवन आरा की हस्त लिखित संस्कृत टीका में है ।

(घ) ''सांख्ययोगौ लोकायतं चान्वीक्षिकी बौद्धार्हतोः श्रुतेः प्रतिपक्षत्वात्'' ऐसा पाठ मु.मू. पुस्तक में है जो कि बम्बई के गोपालनारायण प्रेस में मुद्रित हुई है एवं श्रद्धेय प्रेमीजी ने प्रेषित की है ।

आचार्य श्री सोमदेव स्वामी का स्पष्टीकरण :-

सांख्यं योगो लोकायतं चान्वीक्षिकी, तस्यां स्यादस्ति स्यान्नस्ति इति नग्न श्रमणक इति वृहस्पति राखण्डलस्य पुरस्तं समयं कथं प्रत्यवतस्थे ? (यशस्तिलके सोमदेव सूरि आ.4 पृ.111)

अर्थात् यशोधर महाराज अपनी माता चन्द्रमती के द्वारा जैनधर्म पर किये गये आक्षेपों (यह अभी चला हुआ है इत्यादि) का समाधान करते हुए अन्य नीतिकारों के प्रमाणों से उसकी प्राचीनता सिद्ध करते हैं कि सांख्य योग, और चार्वाक दर्शन ये आन्वीक्षिकी विद्याएँ हैं और उसी आन्वीक्षिकी विद्या-आध्यात्म विद्या- में अनेकान्त (वस्तु अपने स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा सद्रूप-विद्यमान है और पर चतुष्टय की अपेक्षा असद्रूप है अविद्यमान है इत्यादि) का समर्थक-नग्नश्रमणक आर्हद्दर्शन (जैन-दर्शन) भी अन्तर्भूत है-सम्मिलित है ।'' इस प्रकार वृहस्पति-सुराचार्य ने इन्द्र के समक्ष जिस अनेकान्त समर्थक जैन दर्शन को कैसे समर्थित किया ? अर्थात् यदि जैनदर्शन नवीन प्रचलित है तो क्यों वृहस्पति ने इन्द्र के समक्ष उसे आन्वीक्षिकी विद्या में स्वीकार किया ?

आचार्य श्री के उक्त कथन से प्रमाणित है-निर्विवाद सिद्ध है कि आन्वीक्षिकी विद्या को वृहस्पति आदि ने जैनदर्शन की आध्यात्म विद्या-आन्वीक्षिकी विद्या रूप में स्वीकृत की है ।

''अमृत'' में आचार्य जी कहते हैं कि केवल वेदविरोधी होने से कुछ नीतिकारों ने बौद्ध और जैन दर्शन को आन्वीक्षिकी विद्या नहीं मानते परन्तु आ. श्री के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट सिद्ध है अन्य निष्पक्षनीतिकारों ने भी श्री जैनदर्शन को आन्वीक्षिकी विद्या निर्विवाद स्वीकार किया है ।

आन्वीक्षिकी-आध्यात्म विद्या के लाभ

प्रकृति पुरुषज्ञो हि राजा सत्वमवलम्बते रजः फलं चापलं च परिहरति तमोभिर्नाभिभूयते ।।62।।

अन्वयार्थ :- (प्रकृति) शरीर इन्द्रियाद (पुरुषः) आत्मा (ज्ञः) ज्ञाता (हि) निश्चय से (राजा) राजा (सत्वम्) सत्व को (अवलम्बते) अवलम्बन लेता है (रजः) रजोगुण के (फलम्) फलको (च) और (चापलम्) चञ्चलता को (परिहरति) दूर करता है (तमोभिः) तमोगुण के द्वारा (न) नहीं (अभिभूयते) तिरस्कृत नहीं होता ।

विशेषार्थ :- जो राजा शरीर-इन्द्रियों आत्मा के भेद विज्ञान को आन्वीक्षिकी आध्यात्म्य विद्या के द्वारा प्राप्त कर लेता है वह सत्वगुणधारी बन जाता है । रजोगुण से जन्य चपलता और तमोगुण जन्य उच्छृंखलता उसे अभिभूत नहीं कर सकती। अर्थात् वह अज्ञानादि भावों से पराजित नहीं हो सकता । अन्याय और अत्याचार उस पर आक्रमण नहीं कर सकते ।

दर्शनशास्त्र का अध्ययन मनुष्य के मिथ्यान्धकार-अज्ञानतम को नष्ट कर देता है । सम्यग्दृष्टि का उद्घाटन कर उसे ज्ञानालोक में ला देता है । काम क्रोधादि राजसिक भावों से होने वाली दानवता उससे दूर रहती है । सात्विक प्रकृति का उद्घाटन रहने से शुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है । संसार-प्रजा की सर्वोत्तम सेवा करने के लिए प्रेरित करता है । स्वयं आत्म-कल्याण के मार्ग पर आरूढ रहता है । उसे यथार्थ मानवता प्राप्त होती है ।

राज्यसत्ता भी एक धरोहर है जिसका रक्षण, संवर्द्धन करना राजसत्ताधारियों का परम कर्त्तव्य है । यह कार्य सद्गुणों द्वारा ही संभव हो सकता है । इस विद्या का ज्ञाता ही समदर्शी होकर पुत्रवत् प्रजा की रक्षा करने में समर्थ हो सकता है । शिष्टों का रक्षण और दुष्टों का दमन करने की कला वह विद्या ही है । अतः श्रेष्ठपुरुषों को इसका यथासंभव अवश्य ही अध्ययन, मनन व चिन्तन कर कार्यरूप प्रवर्तन करना चाहिए ।।62।।

अब उक्त चारों विद्याओं का प्रयोजन कहते हैं :-

आन्वीक्षिक्यध्यात्मविषये, त्रयी-वेदयज्ञादिषु, वार्ता कृषिकर्मादिका, दण्डनीतिः शिष्टपालन दुष्ट निग्रहः ।।63।।

अन्वयार्थ :- (अध्यात्मविषये) आत्मतत्व व दर्शन शास्त्र सम्बन्धी (आन्वीक्षिकी) आन्वीक्षिकी विद्या, (वेद यज्ञादिषु) ईश्वर भक्ति, पूजन, हवन आदि विषय में (त्रयी) त्रयीविद्या (कृषिकर्मादिका) असि, मसि, खेती आदि की कला में (वार्ता) वार्ता विद्या (शिष्टपालन-दुष्टनिग्रहः) सदाचार पालन दुराचार निग्रह में (दण्डनीतिः) दण्डनीतिविद्या (कार्यकारी होती हैं) राजधर्म निरूपण करती है ।।63।।

चारों विद्याएँ राजधर्म प्रतिपालन की प्रमुख सहायिकाएँ हैं ।

विशेषार्थ :- आध्यात्मिक जीवन की आधारशिला आन्वीक्षिकी विद्या है । त्रयी जिन भक्ति, पूजन, हवन, अहिंसामयी क्रियाकाण्ड सिखलाती है । त्रयीविद्या का अध्ययन करने से भगवद्भक्ति का जीवन में संचार होता है। वार्ता विद्या-षट्कर्मों का ज्ञान कराती है अर्थात् जीवनोपयोगी असि मषी, कृषि आदि का प्रयोग सिखाती है । और दण्डनीति तराजू की दंडी के समान शिष्ट-दुष्टों का वेलैंश दिखाती हैं । अर्थात् योग्य अनुग्रह और निग्रह सिखलाती है । गुरु विद्वान कहता है :

आन्वीक्षिक्यात्मविज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ
अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ ।।1।।

अर्थ :- आन्वीक्षिकी विद्या में आत्मज्ञान का, त्रयी में धर्म व अधम का वार्ता में कृषि करने से होने वाला उत्तम फल और न करने से कुफल का, एवं दण्ड नीति में न्याय और अन्याय व सन्धि-विग्रहादि षड्गुणों के औचित्य-अनौचित्य का वर्णन है ।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करने पर विदित होता है कि मनु के अनुयायी त्रयी, वार्ता और दण्डनीति, वृहस्पतिसिद्धान्त को मानने वाले वार्ता और दण्डनीति, तथा शुक्राचार्य के अनुयायी केवल दण्डनीति को मानते हैं। परन्तु जैनाचार्य आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति चारों ही विद्याओं को मानते हैं । क्योंकि ये चारों ही सूर्य के प्रकाशवत् पृथक्-2 विषयों को स्पष्ट करती हैं । आर्य चाणक्य को भी चारों विद्याएँ इष्ट हैं । वे कहते हैं कि "विद्याओं की वास्तविकता यही है कि उनसे धर्म-अधर्म-कर्त्तव्याकर्त्तव्य का बोध होता है ।" विशेष ज्ञान को देखिये (कौटिल्य अर्थशास्त्र पृष्ठ 8 से 9 तक)।

आगमानुकूल-इतिहास प्रमाण से विदित होता है कि इतिहास के आदि काल में भगवान ऋषभदेव ने प्रजा के हितार्थ उनके जीवन के उपायों हेतु वार्ता विद्या का प्रतिपादन किया था । आदिपुराण में भगवज्जिन सेनाचार्य ने लिखा है :-

असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव वा ।
कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवन हेतवे ।।1।।

आदि. पर्व 16.

कर्मभूमि के प्रारम्भ में कल्पवृक्षों के अभाव हो जाने पर त्रसित प्रजा के प्राण रक्षणार्थ भगवान ऋषभदेव तीर्थंकर ने जीविका के साधन-1. असि 2. मषि, 3. कृषि, 4. वाणिज्य 5. शिल्प और 6. कला आदि की शिक्षा प्रदान की थी । स्वामी समन्तभद्रजी भी यही कहते हैं - वृहत्स्वयभूस्तोत्र में -

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः । शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ।।

जिस प्रकार ऊषर भूमि में उपज संभव नहीं उसी प्रकार क्षुधित, पीड़ित प्रजा में आध्यात्म्य, त्रयी, एवं ललितकलाओं का उद्भव-शिक्षण असंभव है । अतः प्रथम आजीविका के साधनों का प्रकाश किया अनन्तर पारस्परिक सम्बन्ध व कर्त्तव्यों का यथोयित व्यवहार करने के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों एवं चारों आश्रमों-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास-यति की व्यवस्था की । तथा धार्मिक सत्कर्मों के पालन का उपदेश दिया।

तत्पश्चात् त्रयी विद्या का प्रचार किया और समस्त कार्य सुचारू रूप से चलते रहें, तदर्थ दण्डनीति भी निर्धारित की। कृष्यादिकर्मों से प्राप्त सम्पत्ति का 16वाँ भाग राजकोष में दिये जाने का विधान किया । इससे सैनिक संगठन किया गया । इस प्रकार दण्डनीति प्रचलित हुयी ।

शत्रुवर्ग से रक्षित प्रजा को पुण्य-पाप का ज्ञान कराया । शिष्टाचार प्रपालन, दुराचार निवारण दण्डनीति द्वारा किया गया। इस प्रकार तीनों नीतिविद्याओं का प्रयोग होने के अनन्तर चतुर्थी आन्वीक्षिकी विद्या का प्रयोग श्री आदीश्वर प्रजापति ने सिखाया। सबको कर्त्तव्यारूढ़ किया । अन्यायी, प्रजापीडक, आततायी लोगों से रक्षा के लिए फौजदारी, दीवानी कानून-विधान बनाये इस प्रकार प्रजा के अमन-चैन की व्यवस्था कर प्रभु ने सर्व विद्याओं में शिरोमणि, कान्तिमान प्रदीप समान आन्वीक्षिकी विद्या का प्रचार किया । ठीक ही है "भूखे भजन न होय गोपाला, ले लो

अपनी कण्ठी माला ।" **हृष्ट**-पुष्ट प्रजा उन्मार्गी न हो जाये इससे आदिप्रभु ने अध्यात्म का स्वरूप समझाया ।

इसी विद्या का विस्तृत विवरण भगवान ने केवली बनकर अपनी भव्य दिव्यध्वनि द्वारा समझाया । अहिंसा, स्याद्वाद, अनेकान्त सिद्धान्त, ईश्वर-परमात्मा सम्बन्धी सर्वोत्कृष्ट विचार, सप्ततत्व, षड्द्रव्य, नव पदार्थ, पञ्चास्तिकाय आदि का विशद वर्णन अकाट्य-अबाधित युक्तियों से भरपूर प्रमाणित दिव्य सन्देश दिया । इस प्रकार संक्षिप्त इति वृत्त-इतिहास है । इनका वेत्ता कुटुम्ब, समाज, देश, राज्य, राष्ट्र और विश्व के उद्धार करने में समर्थ होता है ।

पुनः आन्वीक्षिकी विद्या से होने वाले लाभ कहते हैं :-

चेतयते च विद्यावृद्ध सेवायाम् ।।64।।

अन्वयार्थ :- (च) और कहते हैं (विद्यावृद्ध सेवायाम्) विद्यावृद्ध वयोवृद्ध की सेवा में (येतयते) आन्वीक्षिकी विद्यापठित-संलग्न होता है ।

आन्वीक्षिकी विद्या का अध्येता-निपुण मनुष्य, विद्याभ्यासी बहुश्रुत विद्वानों की सेवा में संलग्न होता है । जो राजनीति और धर्मनीति आदि के विद्वान हैं वे वृद्ध कहलाते हैं न कि केवल केश सफेद होने वाले । अतः विवेकी पुरुष और राजा का कर्त्तव्य है कि वह सभी विद्याओं का तलस्पर्शी अध्ययन कर विद्वानों की सेवा में सदैव तत्पर रहें ।।64।। वृद्ध की परिभाषा करते हुआ नीतिकार नारद ने कहा है :-

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ।।

अर्थ :- केवल मात्र शिर पर सफेद-चांदी से बाल हो जाने से कोई मानव वृद्ध नहीं कहा जाता, अपितु जो जवान होकर भी विद्याभ्यास करता है, कठोर श्रम कर विद्यार्जन करता है, विद्वानों की मान्यता में वही वृद्ध है ।।64।।

अब अनभ्यास विद्या और विद्वानों की संगति से रहित की हानि कहते हैं -

"अजात विद्यावृद्ध संयोगो हि राजा निरङ्कुशोगज इव सद्यो विनश्यति ।।65।।"

अन्वयार्थ :- (विद्या वृद्ध) शिक्षा और वृद्ध के (संयोगः) सम्बन्ध से (अजात) रहित (राजा) नृपति (हि) निश्चय से (निरङ्कुश) अंकुशरहित (गज) हाथी (इव) के समान (सद्यः) शीघ्र ही (विनश्यति) नष्ट हो जाता है ।

मूर्ख और श्रेष्ठ एवं ज्येष्ठ विद्वानों की संगति विहीन भूपति अतिशीघ्र राज्यभ्रष्ट हो जाता है । ऋषिपुत्र ने भी कहा है :-

यो विद्यां वेत्ति नो राजा वृद्धान्नैवोपसेवते ।
स शीघ्रं नाशमायाति निरंकुश इव द्विपः ।।1।।

अर्थ :- विद्याओं से अनभिज्ञ और ज्ञानवृद्धों-विद्वानों की सङ्गति नहीं करने वाला राजा बिना अंकुश के गज के समान उन्मार्गगामी हो शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाता है ।।

निष्कर्ष यह है इसलोक और परलोक में कल्याण-श्रेय चाहने वाले राज पुरुषों को व अन्य पुरुषों को विद्याभ्यास और श्रेष्ठ विद्वानों की संगति अवश्य करनी चाहिए ।।65।।

अब सदाचारी की संगति से होने वाले लाभ का निर्देश करते हैं :-

अनधीयानोऽपि विशिष्टजन संसर्गात् परां व्युत्पत्तिमवाप्नोति ।।66।।

अन्वयार्थ :- (अनधीयानः) विद्याध्ययन नहीं करने पर (अपि) भी (विशिष्टजन) विद्वानों के (संसर्गात्) सम्पर्क से (पराम्) उत्कृष्ट (व्युत्पत्ति) ज्ञान-गरिमा (अवाप्नोति) प्राप्त कर लेता है ।

विद्याभ्यास के बिना भी विद्वज्जनों की संगति करने वाला विद्वान बन जाता है ।

विशेषार्थ :- सत्संग की बड़ी महिमा है । मूर्ख भी चतुर हो जाता है । सत्संगति रूपी अमृत के प्रवाह से पवित्रित मनुष्यों के हृदय में ज्ञान लक्ष्मी, विवेक से प्रसन्न होती हुयी पादन्यास करती है अर्थात् बसती है । आचार्य कहते हैं -

शीतांशु रश्मि सम्पर्कात् विसर्पति यथाम्बुधिः ।
तथा सद्व्रतसंसर्गान्नृणां प्रज्ञा पयोनिधिः ।। 2।।

श्लो. सं. पा. 40

अर्थ :- चन्द्रमा की किरणों के सम्पर्क से जिस प्रकार समुद्रवृद्धि को प्राप्त होता है उसी प्रकार सदाचारी-विद्वानों की संगति से मनुष्यों का प्रज्ञारूपी सागर उमड़ता है-बृद्धिंगत होता है । व्यास ने भी कहा है-

विवेकी साधुसङ्गेन जडोऽपि हि प्रजायते ।
चन्द्रांशु सेवनान्नूनं यद्वच्च कुमुदाकरः ।।1।।

अर्थ :- जिस प्रकार चन्द्रमा की निर्मल किरणों के सम्पर्क से कुमुदवन युक्त सरोवर प्रफुल्ल होता है-प्रमुदित-खिल जाते हैं-कमलिनी विकसित हो जाती हैं उसी प्रकार विवेकी साधुओं की सङ्गति से जड़ बुद्धि भी सुबुद्धि हो जाता है । उसका विवेक जाग्रत हो जाता है । संसार में बहुत से पदार्थ शीतल होते हैं परन्तु साधु सङ्गति से बढ़कर अन्य कुछ भी नहीं है । कहा भी है :-

चन्दनं शीतलं लोके चन्दनादपि चन्द्रमाः ।
चन्द्रचन्द्रनयोर्मध्ये शीतला साधुसंगतिः ।।8।।

श्लो.सं.पा.40

अर्थ :- भूमण्डल पर चन्दन-मलयागिरि चन्दन को उत्तम शीतल कहा गया है उससे भी अधिक चन्द्र को माना जाता है परन्तु चन्दन एवं चन्द्रमा से भी बढ़कर-उत्तम साधु की संगति है । चन्दन और चन्द्रमा की शीतलता शरीर की दाह मिटा सकता है, आत्मा की नहीं । परन्तु साधु-विद्वान-विवेकी की संगति आत्मा को शान्ति प्रदान करती है । हृदय की जड़ता नष्ट हो जाती है ।

उक्त विषय को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं :-

अन्यैव काचित् खलु छायोपजल तरुणाम् ।।67।।

अन्वयार्थ :- (छायोपजल तरुणाम्) जल के समीप रहने वाले वृक्षों की छाया (काचित्) कोई (अन्यैव) अन्य ही प्रकार (खलु) निश्चय से (भवति) हो जाती है ।

जल के समीप रहने वाले वृक्षों की छाया अपूर्व-विलक्षण हो जाती है, उसी प्रकार विद्वानों के सान्निध्य में मूर्ख भी छवियुक्त विद्वान हो जाता है ।

विशेषार्थ :- मनुष्यों के अन्दर छिपा हुआ भी अनादिकालीन अन्धकार सत्संगति रूपी प्रदीप समूह से विखण्डित हो जाता है । कहा भी है कि :-

कल्पद्रुमः कल्पितमेव सूते,
सा कामधुक् कामितमेव दोग्धि ।
चिन्तामणिश्चिंतितमेव दत्ते,
सतां हि सङ्गः सकलं प्रसूते ।।11।।

श्लो.सं.पृ.244.

अर्थ :- कल्पवृक्ष संकल्पितवस्तु को ही देता है, कामधेनू इच्छित वस्तु को ही प्रदान करती है और चिन्तामणि रत्न चिंतित पदार्थ को देता है, परन्तु सज्जन-विद्वानों की सङ्गति सम्पूर्ण वस्तुओं की दाता है, आत्म साता की विधाता है ।

सत्सङ्गति बुद्धि की जडता का हरण करती है, वचन में सत्यता लाती है, सत्य का सिंचन करती है, चित्त प्रसन्न करती है, और दिशाओं में कीर्ति का प्रसार करती है । यों कहें कि "सत्संगति पुरुषों को क्या नहीं करती? अर्थात् सब कुछ करती है"।

वल्लभदेव विद्वान ने भी कहा है कि :-

अन्यापि जायते शोभा भूपस्यापि जडात्मनः
साधुसङ्गाद्धि वृक्षस्य सलिलादूर वर्तिनः ।।1।।

अर्थ :- जो राजा मूर्ख होने पर भी शिष्टपुरुषों-सत्पुरुषों या श्रेष्ठी मंत्रिमण्डलादि परिकर के मध्य रहता है । उनका सहवास करता है-सङ्गति करता है, उसकी शोभा-कान्ति अपूर्व हो जाती है यथा जल-जलाशय के समीप रहने वाले वृक्षों की छवि हरी-भरी कान्ति युक्त हो जाती है ।

अभिप्राय यह है कि प्रत्येक पुरुष को अपनी सङ्गति श्रेष्ठ, उत्तम विद्वानों के साथ करने का प्रयत्न करना चाहिए ।

अब राजगुरुओं के सद्गुण बताते हैं :-

वंशवृत्तविद्याभिजनविशुद्धा हि राज्ञामुपाध्यायाः ।।68।।

अन्वयार्थ :- (येसाम) जिनके (वंशः) जाति-कुल परम्परा (वृत्तः) आचरण (विद्या) ज्ञान (अभिजन) नाम (विशुद्धाः) निर्दोष हों वही (हि) निश्चय से (राज्ञाम्) राजाओं का (उपाध्यायाः) गुरु (भवन्ति) होते हैं ।

जिनकी कुल वंश परम्परा शुद्ध होती है, निर्दोष चारित्र-आचरण और उत्तम विद्या हो वही राजाओं का गुरू होने के योग्य होता है ।

विशेषार्थ :- उच्चकुलोत्पन्न, शिष्टाचारी और सद्विद्यायुक्त व्यक्ति नृपतियों का उपाध्याय गुरु होना चाहिए । क्योंकि दाता जैसा होगा दातव्य वस्तु भी उसी प्रकार की रहेगी । सत्कर्त्तव्यों का पालन स्वयं करने वाला ही दूसरे को पढ़ा सकेगा-सिखायेगा । कहावत है :-

जितना जो कुछ जानता, उतना दिया बताय ।
बाको बुरो न मानिये, और कहाँ से लाय ।।

पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश ग्रन्थ में बड़ा मार्मिक कथन किया है :-

अज्ञानोपासितिरज्ञानं ज्ञानी ज्ञानसमाश्रयम् ।
ददाति यस्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः ।।

अर्थ : अज्ञानी-जड़बुद्धि व्यक्ति की उपासना का फल अज्ञान और ज्ञानी की सेवा का फल ज्ञान प्राप्ति है। क्योंकि नीति है "जो कुछ जिसके पास है, दूसरे को वह वही वस्तु देगा ।" यह संसार प्रसिद्ध बात है । अतः नीतिविद्या के इच्छुकों को नीतिविद्वानों का ही आश्रय करना चाहिए । नीतिकार विद्वान नारद का कथन है :-

पूर्वेषां पाठका येषां पूर्वजा वृत्तसंयुताः ।
विद्याकुलीनता युक्ता नृपाणां गुरवश्च ते ॥1॥

अर्थ :- जिनके पूर्वज राजवंश में अध्यापक रह चुके हों, जो सदाचारी हो, विद्वान और कुलीन हों वे ही भूपालों (राजाओं) का गुरू हो सकते हैं ।

कुलभूषण देशभूषण राजकुमारों के राजगुरू दिगम्बर मुनि थे, अतः उनकी विद्या भी अज्ञान तिमिर हारक, वीतराग परिणति उद्रेक सिद्ध हुयी । इसी प्रकार अन्यत्र भी सदाचार, शिष्टाचार, लौकिकाचार, धार्मिकाचार और सामाजिक आचार-विचार का ज्ञाता ही राज संचालन विद्या का अध्ययन करा सकता है। तभी राज्य संचालन की योग्यता विद्यार्थियों में आ सकती है । औचित्यज्ञाता राजा हो सकता है ।

शिष्टों के साथ नम्रता का बर्ताव करने वाले राजा के गुण-

शिष्टानां नीचैराचरन्नरपतिरिह लोके स्वर्गे च महीयते ।।69॥

अन्वयार्थ :- (शिष्टानाम्) महापुरुषों के प्रति (नीचैः) नम्रता का (आचरन्) व्यवहार करने वाला

(नरपतिः) भूपति (इह) इस (लोके) संसार में (च) और (स्वर्गे) स्वर्ग लोक में (महीयते) पूज्य होता है ।

जो राजा उत्तम पुरुषों के साथ नम्रता का व्यवहार करता है वह उभय-लोक में पूज्य हो जाता है ।

विशेषार्थ :- विनय को आचार्यों ने मुक्ति का द्वार बताया है । जिसके द्वारा अशुभ-पाप कर्म चुन-चुन कर निकाल दिये जाते हैं उसे विनय कहते हैं । विनय से मनुष्य महान् बनता है । कवि की युक्ति है कि-

'' ॥ झाड पात सब बह गये दूब खूब की खूब ॥''

वर्षा-तूफान आने पर बड़े-बड़े वृक्ष भी उखड़ कर बह जाते हैं, परन्तु दूब क्योंकि यह विनम्र भूमि पर मस्तक लगाये रहती है तो आनन्द से समस्त तूफानों को सहकर भी हरी-भरी, फैली हुयी रहती है । उसकी कोई क्षति नहीं होती। विद्वान् धारित लिखते है :-

साधु पूजापरो राजा माहात्म्यं प्राप्य भूतले ।
स्वर्गगतस्ततो देवैरिन्द्राद्यैरपि पूज्यते ।।1॥

अर्थ :- जो राजा शिष्ट पुरुषों की भक्ति करने में तत्पर है वह परलोक में माहात्म्य-वडप्पन को प्राप्त कर स्वर्ग में देवों और इन्द्रों से भी पूजित होता है । योग्य राजा का चित्र निम्न प्रकार प्रकट होता है-

किं चित्रं यदि राजनीति निपुणो राजा भवेद्धार्मिकः ।।

अर्थ :- यदि राज्य संचालन कला में निपुण राजा धर्मात्मा भी हो तो क्या आश्चर्य है ? कुछ भी नहीं । अभिप्राय यह है कि धर्मात्मा और सदाचारी का अनन्य सम्बन्ध है । धर्म की आधार विनय है । विनय से राजा, महाराजा मान्यता प्राप्त करते हैं । अतः राजसत्ता पाकर अहंकारी नहीं होना चाहिए । तभी राजा प्रजावत्सल और सर्वप्रिय हो सकता है । अन्यथा उसका यश विस्तृत नहीं हो सकता ।

राजा का माहात्म्य

राजा हि परमं दैव तं नासौ कस्मैचित् प्रणमत्यन्यत्र गुरुजनेभ्यः ।।70॥

अन्वयार्थ :- (हि) निश्चय ही (राजा) पृथिवीपति (परमम्) उत्कृष्ट (दैवतम्) देवस्वरूप (भवति) होता है (असौ) वह (गुरुजनेभ्यः) पूज्यपुरुषों के (अन्यत्र) सिवाय अन्य (कस्मैचित्) किसी के लिए (न) नहीं (प्रणमन्ति) नमस्कार करता है ।

भाग्यशाली राजा सच्चे देव शास्त्र, गुरु, धर्म और माता-पिता आदि के सिवाय किसी अन्य को नमस्कार नहीं करता है । भगवज्जिन सेनाचार्य जी ने कहा है ''प्रतिवध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजा व्यतिक्रमः ।।'' (आदि.पु.) अर्थात् पूज्यों की पूजा का उल्लंधन करने से कल्याण के मार्ग में रुकावट आ जाती है । इसलिए देव, गुरु और धर्म तथा माता-पिता आदि गुरुजनों की भक्ति करना प्रत्येक प्राणी का कर्त्तव्य है ।

दुष्टपुरुष से विद्या प्राप्त करने का निषेध :-

वरमज्ञानं नाशिष्टजनसेवया विद्या ।।71॥

अन्वयार्थ :- (अज्ञानम्) मूढ़ता (वरम्) श्रेष्ठ है (अशिष्ट) दुर्जन (जन) मनुष्य की (सेवया) सेवा द्वारा (विद्या) ज्ञानाभ्यास (न) श्रेष्ठ नहीं ।

दुष्ट पुरुष की सेवाकर विद्यार्जन करने की अपेक्षा अनपढ़-मूर्ख रहना श्रेष्ठ है ।

विशेषार्थ :- भूखा रहना अच्छा है, किन्तु विषभक्षण कोई श्रेष्ठ नहीं समझ सकता । इसी प्रकार मूर्ख रहना अच्छा है, दुर्जन-दुराचारी-शिक्षक की सेवा कर विद्यार्जन करना उचित नहीं है । हारीत कहता है-

वरं जनस्य मूर्खत्वं नाशिष्टजनसेवया ।
पाण्डित्यं यस्य संसर्गात् पापात्मा जायते नृपः ॥1॥

अर्थ :- जिसके साहचर्य से राजा पाप क्रियाओं में प्रवृत्त हो, ऐसे दुष्टजन से विद्याध्ययन करना उचित नहीं। उसकी अपेक्षा तो मूर्ख रहना ही उत्तम है ।

कुसंगति पाप को बढ़ाती है, कुमति का संचय करती है, कीर्ति रूपी स्त्री नष्ट होती है, धर्म का विध्वंश करती है, विपत्ति को विस्तृत करती है, सम्पत्ति को नष्ट करती है, नीति और विनय का घात करती है, क्रोध उत्पन्न करती है और शान्ति को दूर करती है । इस प्रकार दुर्जन संगति उभयलोक को नष्ट करती है । आचार्य कहते हैं :-

अहो दुर्जनसंसर्गान्मानहानि पदे-पदे ।
पावको लौहसंगेन मुद्गरैरभिहन्यते ॥2॥

श्लो.सं.पृ.428

अर्थ :- दुर्जन की सङ्गति से पद-पद पर मानहानि सहन करनी पड़ती है । यह बडा आश्चर्य है । अग्नि लौह की संगति करने से मुद्गर-घनों से पीटी जाती है । सारांश यह है कि स्वविवेक जाग्रत करना चाहिए, एवं विवेकी की सङ्गति करना उत्तम-उचित कार्य है ।

उक्त कथन का दृष्टान्त देते हैं :-

अलं तेनामृतेन यत्रास्ति विषसंसर्गः ॥72॥

अन्वयार्थ :- (तेन) उस (अमृतेन) अमृत से (अलम्) क्या प्रयोजन (यत्र) जहाँ (विष संसर्गः) विष मिला (अस्ति) है ।

विषाक्त अमृत निषेव्य नहीं हो सकता ।

विशेषार्थ :- जिस प्रकार विष मिश्रित अमृत मृत्यु का कारण होता है, उसी प्रकार अमृत समान विद्या भी दुष्टपुरुष के संसर्ग से हानि कारक होती है । यथा एकलव्य ने शब्दभेदी वाणविद्या पाकर बेचारे मूक-निर्दोष कुत्ते का मुख भेदन कर दिया । अतः हिंसा पापार्जन कर दुर्गति का पात्र बना । नारद विद्वान ने भी कहा है :-

नास्तिकानां मतं शिष्यः पीयूषमिव मन्यते ।
दुःखावहं परे लोके नोचेद्विषमिव स्मृतम् ॥1॥

अर्थ :- नास्तिकों के सिद्धान्त शिष्य को सुधा तुल्य प्रतीत होते हैं । परन्तु वह परलोक में विषतुल्य घातक दुःखदायक सिद्ध होता है । यदि इस प्रकार का कष्टदायक न होता तो अमृत समान मानना उचित है । आचार्य कुन्दकुन्द देव भी यही अभिप्राय व्यक्त करते हैं :-

पशुभ्योऽयं नरो यावान् साधुर्भवति भूतले ।
अशिक्षितेभ्यो वरस्तावान् शिक्षितोऽप्यस्ति विश्रुतः ॥10॥

कुरल

हिन्दी - **पशुओं से जितना अधिक, उत्तम नर है तात ।**
बस उतना ही मूर्ख से, शिक्षित वर विख्यात ॥10॥

प.च्छे.41

अर्थ :- मनुष्य पशुओं से जितना उच्च है ? इसी प्रकार अशिक्षितों से योग्य, शिक्षित उतना ही श्रेष्ठ होता है । अतः समीचीन शिक्षा अमृत है और चार्वाकादि नास्तिकों का विष है । योग्य शिक्षा प्राप्त करना मानव के लिए कल्याणकारी होता है ।72॥

गुरुजनों के अनुकूल शिष्यों का विवेचन :-

गुरुजनशीलमनुसरन्ति प्रायेण शिष्याः ॥73॥

अर्थ :- (प्रायेण) प्रायः कर (शिष्याः) योग्य विद्यार्थी (गुरुजनशीलम्) गुरुजनों के स्वभाव का (अनुसरन्ति) अनुशरण करते हैं ।

शिक्षार्थी प्रायः कर बालक वत् अपने गुरुजनों का - शिक्षकों का अनुकरण करते हैं ।

विशेषार्थ :- शिष्य वर्ग बहुधा अपने शिक्षकों के स्वभाव, आचार-विचार, शीलाचार, सदाचारादि का ग्राहक होता है । उनके अनुकूल वृत्ति करने वाले होते हैं । इसी प्रकार शिक्षक-गुरु यदि अनैतिक दुराचारी, अशिष्ट होगा तो शिष्य समुदाय भी वैसा ही बन जायेगा ।

वर्ग विद्वान ने भी लिखा है :-

यादृशान् सेवते मर्त्यस्तादृक् चेष्टा प्रजायते ।
यादृशं स्पृशते देशं वायुस्तदगन्धमावहेत् ॥1॥

अर्थ :- जिस प्रकार पवन सुरभित प्रदेश-उद्यानादि का स्पर्श करती हुई बहती है तो सुगन्धित हो जाती है और दुर्गन्धित-श्मशानादि प्रदेश को स्पर्शकर असुरभित बन जाती है, उसी प्रकार मनुष्य जैसे दुष्ट या शिष्ट, असद, सद् पुरुष की सेवा करता है उसी समान दुर्जन व सज्जन बन जाता है । सत्संगति का फल अतुल, अनुपम और मिष्ठ होता है -

तपः कुर्वन्ति ये मा वा चेद् वृद्धान् समुपासते ।
तीर्त्वा व्यसनकान्तारं यान्ति पुण्यां गतिं नराः ॥13॥

श्लो.सं.पृ.242

अर्थ :- कोई व्यक्ति तप करे या न भी करे, किन्तु वृद्ध-ज्ञानवृद्ध-तप वृद्धों की संगति उपासनादि करते हैं तो वे मानव संकटरूपी अटवी को पारकर पुण्यगति को स्वर्गादि को प्राप्त कर लेता है । और भी कहते हैं :-

मनोऽभिमतंनिःशेषफलसम्पादन-क्षमम् ।
कल्पवृक्ष इवोदारं साहचर्यं महात्मनाम् ॥6॥

श्लो.सं.पृ.240

अर्थ :- महात्माओं की संगति मनचाहे समस्त फलों को प्राप्त कराने में समर्थ कल्पवृक्ष के समान उदार है ।।6॥

सारांश यह है कि शिक्षक-गुरुजन-विद्वान्, नीतिज्ञ, सदाचारी, कुलीन, भद्र, विनम्र, धर्मबुद्धि होना चाहिए । उनके शिष्य भी तदनुकूल, शीलवान, शिष्टाचारी, धर्मात्मा, न्यायप्रिय, पापभीरु और ऐहिक एवं पारलौकिक सुखों के भोक्ता बनेंगे ॥73॥

कुलीन और सदाचारी शिक्षकों से लाभ :-

नवेषु मृद्भाजनेषु लग्नः संस्कारो ब्रह्मणाप्यन्यथा कर्तुं न शक्यते ॥74॥

अन्वयार्थ :- (नवेषु) नवीन (मृद्भाजनेषु) मिट्टी के पात्र पर (लग्नः) लगे हुए (संस्कारः) प्रभाव-संस्कारों को (ब्रह्मणा) ब्रह्मा (अपि) भी (अन्यथा) अन्य प्रकार (कर्तुम) करने को (न शक्यते) समर्थ नहीं हो सकता है ।

कच्चे मिट्टी के पात्रों-बर्तनों पर जो भी चित्रकारी चित्रित हो जाती है - अग्नि का संस्कार होने पर उन्हें ब्रह्मा भी मिटाने में समर्थ नहीं हो सकता है । इसी प्रकार सुकोमल बच्चों-मानव शिशुओं के मृदु-आर्द्र चित्त में बचपन के शुभ-अशुभ-अच्छे बुरे संस्कारों को परिवर्तित करना अति कठिन-दुर्लभ है । बदला नहीं जा सकता ।

विशेषार्थ :- बचपन में नन्हें सुकोमल बालक-बालिकाएँ मिट्टी के कच्चे घड़ों के समान नम्र रहते हैं उनके ऊपर वाह्य वातावरण का प्रभाव जो कुछ भी अच्छा-बुरा पड़ता है अमिट-अंकित हो जाता है । पुनः उसे अन्यथा करना असंभव है । अभिप्राय यह है कि गुरूजनों को बच्चों पर उत्तम संस्कार अंकित करना चाहिए । वर्ग का अभिप्राय है कि -

कुविद्यां वा सुविद्यां वा प्रथमं यः पठेन्नरः ।
तथा कृत्यानि कुर्वाणो न कथंचिन्निवर्तते ॥1॥

अर्थ :- जो मनुष्य प्रथम-बालावस्था में सुविद्या या कुविद्या अच्छी-बुरी उत्तम-अनुत्तम विद्याभ्यास करता

है वह उसी प्रकार के शुभ-अशुभ पुण्य-पाप रूप कार्यों को करने में अभ्यस्त हो जाता है । पुनः उनमें परिवर्तन करना संभव नहीं होता । अर्थात् प्रारम्भिक प्रवृत्तियाँ अमिट सी हो जाती हैं । अतः माता-पिता गुरु, शिक्षकों का कर्त्तव्य है कि वे अपने बच्चों में समीचीन शुद्ध पवित्र धार्मिक आचरणों को अंकित करें । वर्तमान के पाश्चात्य संस्कृति के अशोभन, पापजन्य संस्कारों से उनका रक्षण करें ।।74॥

दुराग्रही, हठी राजा का होना योग्य नहीं :-

अन्ध इव वरं पर प्रणेयो राजा न ज्ञानलव दुर्विदग्धः ।।75॥

अन्वयार्थ :- (अन्धः) जन्मान्ध-नेत्रहीन (इव) समान मूर्ख (परप्रणेयो) मूर्ख-मंत्री आदि द्वारा राज्य शासन वाहक (राजा) नृपति (वरम्) श्रेष्ठ है, परन्तु (ज्ञानलव) अल्प राजनीति ज्ञाता (दुर्विदग्ध) अभिमानी हठी, (राजा) भूपति (न) अच्छा नहीं ।

जन्मान्ध राजा भी मंत्री आदि की सहायता से नीतिपूर्वक प्रजापालन करता है तो अल्पज्ञ दुराग्रही नृप से कहीं श्रेष्ठ है, अच्छा है ।

विशेषार्थ :- सुयोग्य मन्त्री और पुरोहितादि की कुशल राह के साथ प्रजा के सुख-दुख को दृष्टि में रखकर जो भूपति जन्मान्ध होकर भी सुयोग्य न्यायपूर्वक शासन चलाता है श्रेष्ट है, उस चक्षुष्मान राजा की अपेक्षा जो राजनीति का अल्पज्ञान कर अहंकार वश दुराग्रह-हठाग्रह वश अन्याय करता है प्रजा को पीड़ा देता है । अनेक प्रकार से सताता है । क्योंकि चक्षुविहीन होने पर भी वह सन्धि, विग्रह, यान, आसनादि षाड्गुण्य में प्रेरित हो राज्य की रक्षा में दत्तचित्त है । परन्तु दुराग्रही राज्य की क्षति ही करता है वह कुशल नहीं । गुरु विद्वान कहता है :-

मंत्रिभिर्मंत्र कुशलैरन्धः संचार्यते नृपः ।।
कुमार्गेण न स याति स्वल्पज्ञानस्तु गच्छति ॥1॥

अर्थ :- मूर्ख राजा कुशल मन्त्रियों द्वारा राजनैतिक कर्त्तव्यों का पालन-सन्धि, विग्रहादि षाड्गुण्य में प्रेरित कर दिया जा सकता है, वह कुमार्ग में प्रवृत्त नहीं होता । प्रजा का पालन सही प्रकार करता है, परन्तु अल्पज्ञान से युक्त राजा अन्याय पथ पर आरूढ़ हो जाता है ॥1॥

अभिप्राय यह है कि राजा को कर्त्तव्यनिष्ठ होना चाहिए । जो नृप अपने योग्य-कुशल मन्त्रियों-आमात्यों के साथ विचार-विमर्श कर राजकीय कर्त्तव्यों में प्रवृत्त होता है वह प्रजा सहित सुख, शान्ति का अनुभव करता है ।।75॥

मूर्ख-दुराग्रही राजा का वर्णन :-

नीली रक्ते वस्त्र इव को नाम दुर्विदग्धे राज्ञि रागान्तरमाधत्ते ।।76॥

अन्वयार्थ :- (नीलीरक्ते) नील रंग में रंगे (वस्त्रम्) वस्त्र के (इव) समान (को नाम) कौन पुरुष (दुर्विदग्धे) दुर्बुद्धि-दुराग्रही (राज्ञि) राजा में (रागान्तरम्) दूसरा रंग या अन्य पृवृत्ति को (आधत्ते) धारण करा सकता है ?

नील वर्ण पर जिस प्रकार दूसरा रंग नहीं चढ़ता उसी प्रकार दुराग्रही, मूर्ख नृपति पर भी सन्मार्ग का रंग चढ़ना दुर्लभ है । कौन चढ़ा सकता है अर्थात् कोई नहीं ।

विशेषार्थ :- किसी भी वस्तु की प्रकृति-स्वभाव को बदलना-सरल नहीं है । नीम मधुर नहीं हो सकता और इक्षु कटु नहीं हो सकता, उसी प्रकार दुर्जन को सज्जन में बदलना संभव नहीं कहा जा सकता । कहा भी है - नारद का वचन है :-

दुर्विदग्धस्य भूपस्य भावः शक्येत नान्यथा ।
कर्त्तुं वर्णोऽत्र यद्वच्य नीलीरक्तस्य वाससः ॥1॥

अर्थ :- नील वर्ण से रंजित वस्त्र के समान दुराग्रही-हठी राजा को तथा उसके अभिप्राय को बदलना अशक्य है ।

मूर्ख व दुराग्रही, अपनी ही हठ पर अड़ा रहता है । उसके दुरभिप्राय को प्रथम तो समझना ही दुर्लभ है क्वचित् समझ में भी आ जाय तो उसमें परिवर्तन लाना असंभव-अशक्य है । क्योंकि वह स्वयं को दुर्बुद्धि होने पर भी सर्वोपरि विद्वान समझता है । किसी की बात मानना तो दूर रहा सुनना भी नहीं चाहता । यदि बलात् कोई उसे हितकर कहता भी है तो उसका ही अहित कर देता है । उसे कहा है :-

सीख ताको दीजिये जाको सीख सुहाय ।
सीख दीनी बानरा को, घर वया का जाय ॥

अतएव सुनिश्चित है कि मूर्ख दुराग्रही राजा राज्य-राष्ट्र का विनाशक ही होगा क्योंकि हितकारी पथ्य उसे अरुचिकर होता है । हितैषियों की अवहेलना उसे इष्ट होती है फिर सुधार कहाँ ? अतः उससे राज्य की श्रीवृद्धि होना संभव नहीं हो सकता ।

हितकारकों का कर्त्तव्य कहते हैं :-

यथार्थ वादो विदुषां श्रेयस्करो यदि न राजा गुणप्रद्वेषी ॥77॥

अन्वयार्थ :- (यदि) अगर (राजा) भूपति (गुणप्रद्वेषी) गुणों से द्वेष (न) नहीं करता हो तो (विदुषाम्) विद्वानों को (यथार्थ) यथोचित (वादः) कथन करना (श्रेयस्करः) कल्याणकारी (अस्ति) है ।

यदि राजा गुणग्राही है तो विद्वज्जनों को उसे हितकारक, राज्यशासन के योग्य शिक्षा देना श्रेयस्कर है-कल्याणकारी है ।

विशेषार्थ :- उपजाऊ भूमि में बीजारोपण करना लाभप्रद होता है । बंजर भूमि में डाला बीज निष्फल जाता है। इसी प्रकार सरल परिणामी-गुणग्राही राजा को हितकर उपदेश दिया जाय तो प्रजा के लिए उपकारी होता है अन्यथा हानिकारक ही होता है । यथार्थ वचन श्रवण करने वाला नृपति विद्वानों की बात सुनता है और उसे धारण करने की चेष्टा करता है। अतः उसे उपदेश देना सार्थक है ।

श्रेयस्कराणि वाक्यानि स्युरुक्तानि यथार्थतः ।
विद्वद्भिर्यदि भूपालो गुणद्वेषी न चेद्भवेत् ॥1॥

अर्थ :- राजा के समक्ष राजनीतिवेत्ताओं द्वारा प्रदत्त उपदेश तभी कार्यकारी-सफल होता है जबकि राजा गुणों से प्रेम करता हो, उन्हें प्राप्त करने की अंतरंग में चेष्टा हो । तथा राजगुणों से द्वेष भी नहीं करता हो ।

स्वामी के प्रति विद्वानों का कर्त्तव्य :-

वरमात्मनो मरणं नाहितोपदेशः स्वामिषु ॥78॥

अन्वयार्थ :- (आत्मनः) स्वयं की (मरणम्) मृत्यु (वरम्) श्रेष्ठ है किन्तु (स्वामिषु) अपने स्वामी को (अहितो-पदेशः) अहितकारी उपदेश देना (न) उचित नहीं है ।

सत्पुरुष का कर्त्तव्य है कि अपने स्वामी को कभी भी विपरीत परामर्श सलाह नहीं देनी चाहिए । व्यास जी भी इस विषय में कहते हैं :-

अश्रृण्वन्नपि बोद्धव्यो मंत्रिभिः पृथिवीपतिः ।
यथात्मदोषनाशाय विदुरेणाम्बिकासुतः ॥1॥

अर्थ :- यदि राजा अपनी हितकारी वार्ता-सलाह को ध्यानपूर्वक नहीं श्रवण करता है, तथाऽपि कर्त्तव्यनिष्ठ, राजभक्त मन्त्रियों को बार-बार हित की बातें समझाते रहना चाहिए । राजा को सन्मार्गारूढ़ करने का प्रयत्न करना चाहिये । निदर्शनार्थ-महात्मा विदुर ने धृतराष्ट्र को नाश करने के लिए-अन्यायपूर्ण राज्यशासन की लोलुपता का त्याग करने के लिये समझाया था ।

महात्मा विदुर ने धृतराष्ट्र को अनेक बार उसे हितकारक उपदेश दिया था कि "हे राजन् ! पाण्डवों का अब वनवास काल की अवधिपूर्ण हो चुकी है । अतः आप उनका न्याय-प्राप्त राज्य लौटा दें, आपको अन्यायपूर्ण राज्य लिप्सा या तृष्णा छोड़ देनी चाहिए, अन्यथा आपके कुरुवंश का भविष्य खतरे से खाली न रहेगा । तुम्हें आप्त पुरुषों की अवहेलना नहीं करनी चाहिये । मैं आपको तात्कालिक-अप्रिय परन्तु भविष्य में अति प्रिय, उत्तम-हितकारक बात कह रहा हूँ" इत्यादि रूप में समझाया । सच्चा हितैषी वही है जो अपने स्वामी के हितार्थ कटु होने पर सत्यमार्गारूढ़ करने का प्रयत्न करे । परन्तु उसने (धृतराष्ट्र) तनिक भी ध्यान नहीं दिया । अपनी अनीति को नहीं छोडा । फलतः महाभारत के भयंकर युद्ध में सकुटुम्ब नष्ट हो गया, दुर्गति पात्र हुआ और अपयश का पात्र भी हुआ । "यतोऽपि भ्रष्टः ततोऽपिभ्रष्ट" वाली दशा हुई । जो हो मनीषियों को कर्त्तव्य च्युत नहीं होना चाहिए । ॥0॥

इति श्री प.पूज्य प्रातः स्मरणीय विश्ववंद्य चारित्रचक्रवर्ती, मुनि कुञ्जर सम्राट् महान् तपस्वी, वीतरागी दिगम्बराचार्य श्री 108 आदिसागर जी अंकलीकर के पट्टाधीश तीर्थभक्त शिरोमणि आचार्य परमेष्ठी श्री महावीर कीर्ति जी महाराज के संघस्था, प.पू.कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज की शिष्या, ज्ञानचिन्तामणि प्रथम गणिनी आर्यिका सिद्धान्त विशारदा श्री विजयामती द्वारा श्री.प.पूज्य सिद्धान्त चक्रवर्ती तपस्वी सम्राट् आचार्य श्री सन्मतिसागर जी महाराज के चरण सान्निध्य में हिन्दी "विजयोदय टीका" के अन्तर्गत "विद्यावृद्ध सम्मुद्देश" पांचवां समाप्त हुआ ।15॥

6

अथ आन्वीक्षिकी समुद्देशः

आध्यात्म्ययोग-आत्मध्यान का लक्षण निर्देश करते हैं :-

आत्ममनोमरुत्तत्त्व समतायोग लक्षणो ह्यध्यात्मयोगः ॥1॥

अन्वयार्थ :- (आत्मा) जीव (मनः) चित्त (मरुत्) प्राणवायु-कुम्भक, पूरक, रेचक (तत्व) पृथ्वी, जल, अग्नि (समता) साम्यभाव (योग) मन-वचन, काय की स्थिरता (लक्षणः) स्वरूप वाला (हि) निश्चय से (अध्यात्म) आत्म स्वरूप (योगः) योग (भवति) होता है ।

विशेषार्थ :- आत्मा-बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा, चित्त, वायु-कुम्भक-प्राणायाम की शक्ति से शरीर के मध्य में प्रविष्ट की जाने वाली घटाकार वायु को 'कुम्भक' कहते हैं ।

पूरक :- उक्त विधि से ही घटाकर वायु सम्पूर्ण शरीर में फैली वायु ।

रेचक :- शरीर में सर्वत्र वायु को शरीर से बाहर निकालने की क्रिया को 'रेचक' कहते हैं । इनके साथ पृथिवी, जल, अग्नि और वायु आदि तत्त्वों की समानता और दृढ़ निश्चलता-स्थिरता को अध्यात्म्य योग-आत्मध्यान (धर्मध्यान) कहते हैं । ऋषिपुत्रक विद्वान ने कहा है :-

आत्मा मनो मरुत्तत्वं सर्वेषां समता यदा ।
तदा त्वध्यात्मयोगः स्यान्नराणां ज्ञानदः स्मृतः ॥1॥

अर्थ :- जिस काल आत्मा, मन, और प्राणवायु की समानता-स्थिरता होती है, उस समय मनुष्य को सम्यग्ज्ञान का जनक अध्यात्मयोग प्रकट होता है । व्यास भी इसी का समर्थन करते हैं :-

न पद्मासनतो योगो न च नासाग्र वीक्षणात् ।
मनसश्चेन्द्रियाणां च संयोगो योग उच्यते ॥1॥

अर्थ :- पद्मासन लगाकर बैठ जाना योग नहीं है, नासाग्रदृष्टि स्थिर कर देखते रहना भी योग नहीं कहा

जाता, अपितु समस्त इन्द्रियों और मन की चञ्चलता को रोकना-स्थिर करना योग है । यही ध्यान है अध्यात्म योग में धर्मध्यान हेतूभूत होकर प्रमुख स्थान रखता है -उस धर्मध्यान के चार भेद कहे हैं-1. पिण्डस्थ, 2. पदस्थ, 3. रुपस्थ और 4. रुपातीत । शुभचन्द्र स्वामी ने ज्ञानार्णव में कहा है :-

पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ।
चतुर्द्धा ध्यानमाख्यातं भव्य राजीव भास्करैः ॥1॥

ज्ञानार्णव ।।

पिण्डस्थ ध्यान में ध्याता-जितेन्द्रिय, विवेकी मनुष्य को- 1. पार्थिवी, 2. आग्नेयी, 3. वायु-श्वसना, 4. वारुणी और 5. तत्व रुपवती इन पाँच धारणाओं का चिन्तवन करना चाहिए । प.पू. तीर्थभक्त शिरोमणि मेरे विद्या गुरुवर्य आचार्य महावीर कीर्ति जी महाराज जो (आचार्य चारित्र चक्रवर्ती मुनिकुञ्जर, समाधि सम्राट् श्री 108 आदिसागर जी अंकलीकर के द्वितीय पट्टशिष्य थे) कहा करते थे कि आप लोग निरन्तर ध्यानाभ्यास करो । साधु बनकर आत्मदर्शन नहीं किया तो पिछी कमण्डलु लेने से क्या: लाभ ? कुछ भी नहीं । दु:खों की निवृत्ति के लिए ध्यानाभ्यास अवश्यंभावी है । पाचों धारणाएँ निम्न प्रकार हैं-1. पार्थिवी धारणा :- मध्यलोक स्थित मेरु से स्वयम्भूरमण नामक उदधिपर्यन्त एक विशाल सागर-तिर्यक्लोक पर्यन्त लम्बा-चौडा, नि:शब्द, निस्तरङ्ग और वर्फ सदृश शुभ्र-समुज्ज्वल क्षीर सागर का चिन्तवन करे उसके मध्य सुन्दर रचनायुक्त, अमित दीप्ति से शोभित, तपाये हुए सुवर्ण के समान कान्ति वाले प्रभापुञ्ज युत सहस्र दल कमल जो जम्बूद्वीप के सदृश एक लक्ष योजन विस्तार वाला हो प्रमुदित करता हो कमल का चिन्तवन करें । तत्पश्चात् उस कमल के मध्य सुमेरुपर्वत समान पीतवर्ण कान्ति से व्याप्त कर्णिका का ध्यान करें । पुन: उसमें शरत्कालीन चन्द्र के समान शुभ्र और ऊँचे सिंहासन का चिन्तवन करें । उसमें अपने आत्म द्रव्य को सुख से शान्तिपूर्वक विराजमान करे उसमें अपने आत्म द्रव्य को सुख से शान्तिपूर्वक विराजमान करें और क्षोभरहित-राग,द्वेष, मोह रहित, समस्त पाप कर्मों को क्षय करने में समर्थ और संसार में उत्पन्न हुए ज्ञानावरणादि कर्म समूह को भस्म करने में समर्थ-प्रयत्नशील चिन्तवन करें । इस प्रकार पार्थिवी धारणा का स्वरूप है ।

2. आग्नेयी धारणा :- निश्चल अभ्यास से नाभिमण्डल में सोलह दल का उन्नत, मनोहर कमल चिन्तवन करे, उसकी कर्णिका में महामंत्र (हँ) का तथा उन सोलह पत्तों पर अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अ: इन 16 स्वरों को क्रमश: लिखा हुआ चिन्तवन करे ।

पश्चात् हृदय कमल में एक ऐसे कमल का चिन्तवन करे जिसका मुख नीचे की ओर हो, आठ पंखुडियाँ हों और प्रत्येक कली पर क्रमश: ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम गोत्र व अन्तराय हों ।

तदनन्तर पूर्व चिन्तित नाभिकमल की कर्णिका में स्थित 'हँ' रेफ से मन्द-मन्द निकलती हुयी धुँए की शिखा का और उससे निकली हुयी प्रवाह रूप चिनगारियों की पंक्तियों का, पुन: उससे निकलती हुई ज्वाला की लपटों का चिन्तवन करे । इसके अनन्तर उस ज्वाला (अग्नि) के समूह से अपने हृदयस्थ कमल और उसमें स्थित कर्मराशि को भस्म होता चिन्तवन करे । इस प्रकार आठों कर्म जल-बल कर खाक हुए विचारे । यह ध्यान का सामर्थ्य है ऐसा चिन्तवन करे ।

पुनः शरीर के वाह्य में त्रिकोणाकार अग्नि फैली है ऐसा विचारे ज्वालाएँ निकल रही है, वडवानल समान, अग्नि वीजाक्षर ''र'' की माला से व्याप्त अन्त में स्वस्तिक चिन्ह से चिन्हित, ऊर्ध्वमण्डल उत्पन्न, धूमरहित और सुवर्ण के समान कान्ति युक्त हों । इस प्रकार धग धगायमान फैलती हुयी लपटों के समूह से दैदीप्यमान वाह्य अग्निपुर अंतरङ्ग की मंत्राग्नि को दग्ध करता है। इस प्रकार यह अग्निमण्डल नाभि में स्थित कमल और कर्मों को भस्म कर नोकर्म-शरीर दाह्य को भी भस्मकर स्वयं शान्त हो जाता है, इस प्रकार विचारे । यह आग्नेयधारणा कर्म नोकर्म को भस्म करती है ।

3. वायु धारणा :- अग्नि से हुई क्षार को उड़ाने वाली वायु धारण चिन्तनीय है । इसे मारुती धारणा भी कहते हैं । ध्यान करने वाला संयमी पुरुष को विशाल आकाश में व्याप्त होकर संचरण करने वाला, महा-प्रचण्ड वेग युक्त, देव-दानवों की सेना को भी चलायमान करने वाला, सुमेरु को कम्पित करने में समर्थ, घनघोर मेघ समूहों को तितर-वितर करने वाला, समुद्र को क्षुब्ध करने वाला, दशों दिशाओं में संचार करने वाला, लोक के मध्य में संचार करता हुआ और विश्व व्याप्त ऐसे वायु मण्डल का चिन्तवन करे । तत्पश्चात् उस भयंकर झंझावात से कर्मों की हुई राख को उड़ते हुए चिन्तवन करे । पुनः उस वायुमण्डल को स्थिर चिन्तवन करे ।

4. वारुणी धारणा :- ध्यानी साधक आकाश तुल्य आकाश तत्व का चिन्तन करे । यह आकाश मेघों से आच्छादित विद्युत की चमक, मेघों की गर्जन से व्याप्त विचारे । इसके अनन्तर अर्द्धचंद्राकार, मनोज्ञ और अमृतमय जल के प्रवाह से आकाश को बहाती हुई जलधारा सम्पन्न जल मण्डल-जलतत्व का विचार करे ''वं'' का चिन्तवन करे, उसके द्वारा उक्त कर्मों की भस्म को धोते हुए चिन्तवन करे ।

5. तत्वरूपवती धारणा :- इसमें संयमी साधक-ध्याता सप्त धातु विवर्जित, शुभ्र, निर्मल स्फटिक, पूर्ण कान्तिमय चन्द्र सदृश कांतिवाला और सर्वज्ञ प्रभु सदृश अपने आत्मतत्व का-विशुद्धात्मा का ध्यान करे । इस प्रकार अभी तक पिण्डस्थ ध्यान का संक्षिप्त विचार यहाँ किया । अन्य पदस्थ आदि का ज्ञान करने के लिए ''ज्ञानार्णव'' शास्त्र का अवलोकन स्वाध्याय करना चाहिए । क्योंकि यह नीतिग्रन्थ है, विस्तार भय से यहाँ कथन नहीं किया ।

आत्मज्ञानी राजा का लाभ :-

अध्यात्मज्ञो हि राजा सहज-शरीर-मानसागन्तु भिर्दोषैर्न बाध्यते ॥2॥

अन्वयार्थ :- (अध्यात्मज्ञः) आत्मीय-अध्यात्म विद्या का ज्ञाता (राजा) नृपति (हि) निश्चय से (सहज) स्वाभाविक (शरीर) शरीर से उत्पन्न (मानस) मानसिक (च) और (आगन्तुकभिः) परचक्र से प्राप्त (दोषैः) पीड़ाओं बाधाओं से (न बाध्यते) पीड़ित नहीं होता ।

आत्म तत्व का अध्येता-विचारज्ञ भूपति चार प्रकार के संकटों के आने पर अपने कर्त्तव्य से च्युत नहीं होता।

विशेषार्थ :- नृपतियों को चार प्रकार के कष्ट आने संभव हैं । 1. सहज-कषाय, और अज्ञान से उत्पन्न होने वाले राजसिक और तामसिक दुःख । 2. शरीर-ज्वर, ताप, गलगण्डादि बीमारियों से होने वाली पीड़ा । 3. मानसिक - परकलत्र आदि की लालसा से उत्पन्न कष्ट । एवं 4. आगन्तुक :- भविष्य में होने वाले -अतिवृष्टि, अनावृष्टि और शत्रु कृत अपकार आदि कारणों से होने वाले दुःख । इनसे पीड़ा होती है । परन्तु अध्यात्म विद्या

का विद्वान राजा इन कष्टों से उपद्रुत नहीं होता । वह विवेक और धैर्य से अपना कर्त्तव्य पालन करता हुआ अपनी और प्रजा की रक्षा का उपाय सोचता है । नारद विद्वान लिखता है :-

अध्यात्मज्ञो हि महीपालो न दोषैः परिभूयते ।
सहजागन्तुकैश्चापि शारीरै र्मानसैस्तथा ॥1॥

अर्थ :- अध्यात्मविद्या का ज्ञाता महीपाल सहज-राजसिक और तामसिक, दुःख, आगन्तुक-भविष्यकालीन उपद्रव, शारीरिक-ज्वर,ताप आदि और मानसिक - परकलत्रादि के चिन्तन से उत्पन्न आधि-कष्ट इत्यादि पीड़ाओं से पीड़ित नहीं होता । कर्त्तव्यनिष्ठ रहता हुआ राजशासकीय कार्यों का सम्पादन ही लक्ष्य समझता है ।

आत्मा के क्रीड़ा योग्य स्थानों का विवेचन :-

इन्द्रियाणि मनो विषया ज्ञानं भोगायतनमित्यात्मारामः ॥3॥

अन्वयार्थ :- (इन्द्रियाणि) इन्द्रियों को (विषयाः) रुप, रस, गंध और स्पर्श (मनः) मनके (विषयाः) श्रुत-शब्द (ज्ञानम्) ज्ञान (इति) ये (आत्मा) के (भोगायतनम्) भोग के योग्य (आरामः) उद्यान हैं।

इन्द्रियों और मन के विषय एवं ज्ञान व शरीर ये सब आत्मा के क्रीड़ा भवन हैं ।

विशेषार्थ :- संसारी प्राणियों की आत्मा शरीर में निवास करती हैं । शरीर के आश्रय या अंगभूत इन्द्रियाँ और मन हैं, इनसे जुड़ा ज्ञान है । आत्मा इन्हीं के साथ खेल करती है-रमण करती है । विर्भीटीक विद्वान ने लिखा ह कि :-

इन्द्रियाणि मनो ज्ञानं विषयाभोग एव च ।
विश्वरूपस्य चैतानि क्रीड़ास्थानानि कृत्स्नशः ॥1॥

अर्थ :- इन्द्रियाँ, मन, ज्ञान, और इन्द्रियों के विषय स्पर्श, रस, गंध, और वर्ण व शब्द तथा मन का विषय ये सब आत्मा के क्रीड़ा करने के स्थान उद्यान स्वरूप हैं । संसारी आत्मा इन विषयों में रमण करता है । अहंकार और ममकार इन्हीं में रच-पच रहा है ।

आत्मा का स्वरूप वर्णन :-

यत्राहमित्यनुपचरित प्रत्ययः स आत्मा ।।4॥

अन्वयार्थ :- (यत्र) जहाँ (अहम्) मैं-मैं (इति) ऐसा (अनुपचरित) मूल रूप-स्वसंवेदन रूप (प्रत्ययः) प्रतीत हो (सः) वही (आत्मा) आत्मा है ।

जिस द्रव्य में मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ, इच्छावान् हूँ धनी हूँ इत्यादि वास्तविक प्रत्यय-ज्ञान हो वही आत्मा है । अर्थात् "मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ" इस प्रकार के ज्ञान के द्वारा जो प्रत्येक प्राणी को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा

जाना जाता है वही शरीर, इन्द्रिय और मन से पृथक, चैतन्यात्मक, अनाद्यनिधन, ज्ञाता-दृष्टा और अखण्ड आत्मद्रव्य है ।

शरीरादि से आत्मा भिन्न है यह युक्तिपूर्वक दिखाते हैं :-

असत्यात्मनः प्रेत्यभावे विदुषां विफलं खलु सर्वमनुष्ठानम् ॥5॥

अन्वयार्थ :- (आत्मनः) आत्मा के (असति) नहीं होने पर (प्रेत्यभावे) परलोक में फलने वाले (विदुषाम्) विद्वानों के (सर्वम्) सम्पूर्ण (अनुष्ठानम्) क्रिया-कलाप-पुरुषार्थ, अनुष्ठानादि (खलु) निश्चय से (विफलम्) निष्फल (भविष्यति) हो जांयेंगे ।

यदि आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जायेगा तो आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सम्पूर्ण धर्मानुष्ठान व्यर्थहो जायेंगे ।

विशेषार्थ :- यदि आत्मा का पुनर्जन्म स्वीकार नहीं किया जायेगा तो कौन बुद्धिमान पारलौकिक धर्मानुष्ठान करेगा, तपश्चरण, उपसर्ग, परीषह सहन, विद्याध्ययन-ज्ञानार्जन, व्रतोपवासादि कौन करेगा ? क्यों किये जायेंगे ? प्राणिरक्षा, दान, जापादि सम्पूर्ण अनुष्ठान निष्फल सिद्ध होंगे । आत्मा का स्वर्गादिगमन, पुनराजन्म यदि नहीं स्वीकार किया जायेगा तो कष्ट सहिष्णुता नाम का कोई प्रयत्न ही न रहेगा । आत्मा का अस्तित्व ही नहीं रहेगा तो कौन सुख भोगेगा ? फिर सुख के उपाय और दुःख से बचने का प्रयत्न भी कोई क्यों करेंगे ? परलोक में धर्मानुष्ठानादि का विधान आगम विहित देखा जाता है ।

''प्रेक्षापूर्वकारिणां प्रवृत्तेः प्रयोजनेन व्याप्तत्वात् ।।''

अर्थात् पूर्वापर हिताहित विचारज्ञ-विद्वानों के सत्कार्य, पारलौकिक सिद्धि के उपाय रूप में अनुष्ठित किये जाते हैं । निष्प्रयोजन कोई मन्दबुद्धि भी प्रयत्न नहीं करता । अतः विद्वानों का उभयलोक सिद्धि के अनुष्ठान सफल ही होते हैं । नियमित सिद्धान्त के अनुसार दीक्षा, व्रतादिकों में प्रवृत्ति देखी जाती है । इस प्रकार श्रेष्ठ, शिष्ट पुरुषों की प्रवृत्तियाँ आत्मद्रव्य की सिद्धि को प्रमाणित करते हैं । ''निस्प्रयोजन मन्दोऽपि न प्रवर्तते'' बिना प्रयोजन के मन्द बुद्धि-दुर्बुद्धि भी कार्यों में प्रवृत्त नहीं होता । याज्ञवल्क्य ने भी कहा है :-

आत्मा सर्वस्य लोकस्य सर्वं भुक्ते शुभाशुभम् ।
मृतस्यान्यत्समासाद्य स्वकर्माहं कलेवरम् ।।1॥

अर्थ :- प्राणी मात्र की आत्मा मरणान्तर अपने-अपने कर्मानुसार नवीन शरीर को प्राप्त कर शुभाशुभ कर्मों के फल सुख दुःख को भोगता है । इस प्रकार युक्ति, प्रमाण और तर्कों द्वारा आत्मा का त्रैकालवच्छन्न अस्तित्व सिद्ध है । परलोक भी सिद्ध है । संसार-मुक्ति सिद्ध है ।

अब मन का स्वरूप बताते हैं :-

यतः स्मृतिः प्रत्यवमर्षणमूहापोहनं शिक्षालाप क्रियाग्रहणं च भवति तन्मनः ।।6॥

अन्वयार्थ :- (यतः) जिससे मनुष्य (स्मृतिः) भूतकालीन घटना की याद (प्रत्यवमर्षणम्) पूर्वापर सम्बन्ध विचार (ऊहापोहनम्) तर्क-वितर्क (शिक्षा) सीख (आलाप) वार्तालाप (क्रिया) कार्य (ग्रहणम्) प्राप्त करना है (च) और भी विवेचन (भवति) होता है (तत्) वह (मनः) मन है ।

जिसके निमित्त से मनुष्य या प्राणी, हिताहित प्राप्ति और परिहार का विचार करता है, भूत की स्मृति करता है, ऊहा-पोह आदि तर्कणा करता है उसे मन कहते हैं ।

विशेषार्थ :- मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है । चिन्ताओं का आधार मन है । जिसकी मानसिक शक्ति जितनी तीव्र-उत्कट होती है वह उतना ही विचारज्ञ, कार्यकुशल, दक्ष समझा जाता है । इसके कार्य हैं :-

स्मृति :- "स्मरणं स्मृतिः" पूर्व कृत, विचारित, संकल्पित कार्यों की याद करना स्मृति है ।

व्याप्ति :- साधन के होने पर साध्य का होना और साध्य की गैरमोजूदगी में साधन का नहीं होना व्याप्ति है । यथा धूम के होने पर अग्नि का होना और अग्नि रूप साध्य के अभाव में धूम रूप साधन का नहीं होना यह व्याप्ति ज्ञान है ।

ऊहा :- सन्देह युक्त पदार्थ का विचार करना ।

शिक्षा :- उपदेशादि गृहण करना ।

अपोहनम् :- अपाय कारक वस्तु से बचने का प्रयत्न करना ।

इस प्रकार उपर्युक्त कार्यों की क्षमता जिस शक्ति द्वारा मानव को प्राप्त हो वह मन कहलाता है । बोल चाल में मन को हृदय व चित्त भी कहते है । जहाँ चित्त स्थिर होता है, जब स्थिर होता है वहाँ, वह मन की एकाग्रता कही जाती है। मन ही बन्ध और मन ही मोक्ष है । क्योंकि बन्धन और मुक्ति का यही कारण है । कहा भी है "मनो रेव कारणं बन्ध मोक्षयोः" मन ही बन्ध का और मोक्ष का हेतू है । किसी के साथ की गई चर्चा-वार्ता को स्मरण रखना, समयोचित उसका उपयोग करना मन के आश्रित है ।

एक विद्वान "गुरु" ने भी मन का विश्लेषण करते हुए कहा है :-

ऊहापोहौ तथा चिन्ता परालापावधारणं ।
यतः संजायते पुंसां तन्मनः परिकीर्तितम् ॥1॥

अर्थ :- जिसके द्वारा मनुष्यों को ऊह-संदिग्ध पदार्थ का विचार, अपोह-निश्चय, चिन्ता-व्याप्ति का ज्ञान, और दूसरों के उपदेश को अवधारण करना, आदि उत्पन्न होते हैं वह मन कहलाता है ।

मन का कार्य कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, योग्य-अयोग्य, भक्ष्य-अभक्ष्य, हेय-उपादेय आदि का ज्ञान करना मन का काय है ।

इन्द्रियों का लक्षण निर्देश करते हैं :-

आत्मनो विषयानुभवनद्वाराणीन्द्रियाणि ॥7॥

अन्वयार्थ :- (आत्मनः) आत्मा के (विषयानुभवन) विषयभोगों का अनुभव करने का (द्वाराणि) दरवाजा (इन्द्रियाणि) इन्द्रियाँ होती हैं ।

इन्द्रियों के झरोखों से आत्मा, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द आदि को ग्रहण करता है ।

विशेषार्थ :- स्पर्शन इन्द्रिय आठ प्रकार के स्पर्श-शीत, ऊष्ण, मृदु-कठोर, चिकना-रुखडा और हलका-भारी आदि को ग्रहण करती है ।

खट्टा, मीठा, चरपरा, आम्ल और चरपरा आदि रसों का स्वाद 'जिह्वा' से होता है । सुगंध और दुर्गन्ध नासिका द्वारा होता है ।

काला, पीला, लाल, नीला और सफेद आदि रंगों का ग्रहण चक्षुरिन्द्रिय द्वारा होता है । और इसी प्रकार शुभाशुभ शब्दों, रागों का ज्ञान कर्णेन्द्रिय से किया जाता है । इस प्रकार आत्मा इन इन्द्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण करती है । रैभ्य विद्वान ने भी कहा है :-

इन्द्रियाणि निजान् ग्राह्यविषयान् स पृथक् पृथक् ।
आत्मनः संप्रयच्छन्ति सुभृत्याः सुप्रभोर्यथा ॥1॥

अर्थ :- जिस प्रकार स्वामी योग्य-आज्ञाकारी सेवकों की सहायता से कार्य सिद्ध करता है, उसी प्रकार आत्मा भी इन्द्रियों की सहायता से पृथक् पृथक् विषयों के सेवन में पृवृत्ति करता है । व्यावहारिक दृष्टि से इन्द्रिय विषय जन्म सुख-दुःखादि इन्द्रियों द्वारा आत्मा प्राप्त करता है ।

अब इन्द्रियों के विषयों का निरूपण करते हैं :-

शब्द स्पर्श रसरूपगन्धा हि विषयाः ॥8॥

अन्वयार्थ :- शब्द (सुनने योग्य वर्गणाएँ) (स्पर्शः) छूने योग्य पदार्थ (रसः) चखने के पदार्थ (रूपः) दृष्टव्य वस्तुएँ (गन्धाः) सूंघने योग्य वस्तु (हि) निश्चय से (विषयाः) विषय (भवन्ति) होते हैं ।

अब ज्ञान के स्वरूप को कहते हैं :-

समाधीन्द्रिय द्वारेण विप्रकृष्ट सन्निकृष्टावबोधो ज्ञानम् ॥9॥

अन्वयार्थ :- (समाधिः) ध्यान (इन्द्रियद्वारेण) पाँच इन्द्रिय रूप द्वारों से (विप्रकृष्टः) काल-क्षेत्र, द्रव्य से प्रच्छादित, सामने प्रत्यक्ष (सन्निकृष्टः) छूने योग्य पदार्थों का (अवबोधः) ज्ञान-जानकारी होना (ज्ञानम्) ज्ञान (मन्तव्यम्) जानना चाहिए ।

विशेषार्थ :- ध्यान ज्ञान का प्रकाशक है और ज्ञान ध्यान का साधक है । ध्यान और ज्ञान एक दूसरे के पूरक हैं । आत्मा ध्यान और इन्द्रियों के माध्यम से क्रमशः परोक्ष देश विप्रकृष्ट-यथा सुमेरु, विदेह आदि, काल विप्रकृष्ट (ढके) यथा-राम, खेचर, रावणादि, सूक्ष्म-परमाणु आदि ये इन्द्रिय ज्ञान के विषय नहीं बनते अर्थात् इन्द्रियों से ग्रहण नहीं हो सकते और प्रत्यक्ष समीपवर्ती पदार्थों के स्वरूप को जानने को "ज्ञान" कहते हैं । इससे स्पष्ट है इन्द्रिय जन्य और अतीन्द्रिय के भेद से ज्ञान दो प्रकार का होता है ।

अब सुख का लक्षण कहते हैं :-

सुखं प्रीतिः ॥10॥

अन्वयार्थ :- (प्रीतिः) आनन्द (सुखम्) सुख (अस्ति) है ।

जिसके द्वारा मन, इन्द्रियाँ और आत्मा प्रफुल्ल-आनन्दित हो उसे सुख कहते हैं । पूज्यपाद स्वामी ने कहा है :-

"ज्ञानफलम् सौख्यमच्यवनम् ।।" अर्थात् ज्ञान का अविनश्वर फल ही सुख है । गुणभद्र स्वामी कहते हैं "तत्सुखं यत्र नासुखम्" सुख वह है जहां असुख अर्थात् दुःख न हो । विद्वान हारीत कहता है :-

मनसश्चेन्द्रियाणां च यत्रानन्दः प्रजायते ।
दृष्टे वा भक्षिते वापि तत्सुखं सम्प्रकीर्तितम् ॥1॥

अथ :- जिस पदार्थ के देखने या भक्षण करने से मन और इन्द्रियों को आनन्द प्राप्त होता है उसे "सुख" कहते हैं । यह सब लौकिक सुखानुभव हैं । इन्द्रिय विषय जन्य सुख अस्थाई और अन्त में दुःखोत्पादक होता है । यथार्थ सुख तो अतीन्द्रिय आत्मोत्थ सुख आनन्द को सुख माना है ।।10॥

अब दुःख का लक्षण कहते हैं :

तत्सुखमप्यसुखं यत्र नास्ति मनोनिवृत्तिः ॥11॥

अन्वयार्थ :- (तत्) वह (सुखम्) सुख (अपि) भी (असुखम्) दुःख है (यत्र) जहाँ (मनोनिवृतिः) मन की सन्तुष्टि (नास्ति) नहीं है ।

जिन पत्र-कलत्र, आसन, शयन, भोजनादि में मन सन्तुष्ट न हो वे भी "दुःख" ही हैं । क्योंकि उनसे अन्त में असन्तुष्ट मन विरक्त होता है वैराग्य को प्राप्त होता है ।

विशेषार्थ :- सांसारिक सुख विषयोत्थ होता है और मन इन्द्रियों को हर्षोत्फुल्ल करता है । यदि मन, इन्द्रियाँ आह्लादित नहीं होती हैं तो वह दुःख समझा जाता है और वे विषय-साधन दुःख के हेतू माने जाते हैं । वर्ग विद्वान ने भी लिखा है :-

समृद्धस्यापि मर्त्यस्य मनो यदि विरागकृत् ।
दुःखी स परिज्ञेयो मनस्तुष्टया सुखं यतः ॥1॥

अर्थ :- मन के सन्तुष्ट रहने से सुख मिलता है । अतः जिस वैभवशाली का मन स्त्री, पुत्र, हार शृंगारादि में प्रीति प्राप्त नहीं करता, भोगों की रुचि नहीं होती, इसके विपरीति उसे विकर्षण होता हो । उन पदार्थों से वैराग्य हो रहा हो तो नीतिकार कहते हैं वही दुःख है । क्योंकि यह नीति विरुद्ध है ।

अब सुख प्राप्ति के उपाय कहते हैं :-

अभ्यासाभिमानसंप्रत्यय विषयाः सुखस्य कारणानि ॥12॥

अन्वयार्थ :- (अभ्यास) शास्त्राध्ययन (अभिमान) अहंकार-स्वाभिमान (सम्प्रत्ययाः) व्यावहारिक (विषयाः) विषयोपलब्धि (सुखस्य) सुख के (कारणानि) हेतु (सन्ति) हैं ।

विशेषार्थ :- आगमाभ्यास करना । आगम विहित विधि-विधान, क्रियाकाण्ड में नैपुण्य प्राप्त कर तदनुकूल कर्त्तव्य पालन करना । समाज में प्रतिष्ठा, ख्याति प्राप्त होना, प्रभुत्व जमना, राज्य-सम्मानादि मिलना । व्यवहार ज्ञान से वादित्रादि कला-विज्ञान में कौशल प्राप्त करना । इन्द्रियों में विविध गहन विषयों में प्रविष्ट होने की सामर्थ्य पैदा होना । तथा मन और इन्द्रियों को सन्तुष्ट करने वाले विषयों की उपलब्धि ये चार सुख के कारण बतलाये हैं ।

विद्वानों ने कहा है :-

1. पूजाः-

अभ्यासाच्च भवेद्विद्या तथा च निजकर्मणः ।
तया पूजामवाप्नोति तस्याः स्यात् सर्वदा सुखी ॥1॥

अर्थ :- मनुष्यों को शास्त्रभ्यास से सुविधा प्राप्त होती है । वह अपने सत्पुरुषार्थ से योग्य कार्यों का सम्पादन करने में समर्थ होता है । जिससे उसे लोक में यश, सम्मान, ख्याति, पूजादि प्राप्त होते हैं और उनसे सुखानुभव-आनन्द प्राप्त होता है ।

2. मान :-

सन्मान पूर्वको लाभो सुस्तोकोऽपि सुखावहः ।
मानहीनः प्रभूतोऽपि साधुभिर्नप्रशस्यते ॥2॥

आदर के साथ थोडा भी धनादि लाभ सुख का कारण होता है । मान भंग कर अधिक भी लाभ पग-पग पर दुःख दायक होता है । क्योंकि साधु जन सम्मान विहीन की प्रशंसा नहीं करते । इज्जत है तो अल्पविषय भी सुख निमित्तक हैं । मान मर्यादा विहीन का प्रभूत वैभव भी व्यर्थ है ।

3. सम्प्रत्यय :-

अविद्योऽपि गुणान्मर्त्यः स्वशक्त्या यः प्रतिष्ठयेत् ।
तत्सुखं जायते तस्य स्वप्रतिष्ठा समद्भवम् ॥1॥

"हारीत"

अर्थ :- विद्या विहीन मूर्ख पुरुष भी किसी चतुराई-गुण विशेष के कारण अपनी शक्ति विशेष से अपनी धाक जमा लेता है, लोक प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है । इस प्रकार लोक मर्यादा से उसे सुखानुभूति होती है ।

4. इन्द्रिय विषाल्पता :-

सेवनं विषयाणां यत्तन्मितं सुखकारणम् ।
अमितं च पुनस्तेषां दारिद्र्य कारणं परम् ॥4॥

अर्थ :- इन्द्रियों की अपनी-अपनी योग्यता और शक्ति होती है । यदि विषयों का सेवन सीमित मात्रा में होगा तो सुख मिलेगा और शक्ति से अधिक कर लिया तो दारिद्य का हेतू बन जायेगा जिससे दुःख होगा । आय-व्यय का हिसाब भी यथायोग्य सन्तुलित रहेगा तो मनुष्य सुखी रहेगा । अर्थात् आमदनी के अन्दर ही व्यय-खर्च रहने पर आदमी को क्लेश नहीं होता । सुखी रहता है । हमारे आचार्यों ने कहा है :-

धर्मः सुखस्य हेतुः हेतुर्न विराधकः स्व कार्यस्य ।
तस्मात्सुख भंगभिया मा भूस्त्वं धर्मस्य विमुखः ॥

आत्मानु शा.

अर्थ :- वास्तविक सुख का साधन धर्म है । जो जिसका साधक होता है वह अपने कार्य का कभी भी विघात नहीं करता । अतः हे भव्य जीवो ! आप यदि सदा-बहार सुख चाहते हैं तो धर्मानुष्ठान करो देव, शास्त्र, गुरु भक्ति में लगो । उभय लोक में सुख प्राप्त होगा ।

अब अभ्यास का लक्षण कहते हैं :-

"क्रियातिशयविपाक हेतुरभ्यासः" ॥13॥

अन्वयार्थ :- (क्रियायाम्) कर्त्तव्य में (अतिशय) विशेष (विपाक हेतू) फल का कारण (अभ्यासः) अभ्यास (कथ्यते) कहा जाता है ।

विद्या प्राप्ति आदि कार्यों में सहायता प्रदान करने वाले श्रम को अभ्यास कहते हैं ।

विशेषार्थ :- प्राप्त कला, विज्ञानादि का विस्मरण न हो इसके लिए जो श्रम किया जाता है उसे अभ्यास कहते हैं। ज्ञान-विज्ञान की परिपाटी बनाये रखना, विस्मृत नहीं होने देना इसके लिए जो कुछ प्रयत्न किया जाता है उसे अभ्यास कहते हैं । हारीत का कथन :-

अभ्यासाद्धार्यते विद्या विद्यया लभ्यते धनम् ।
धनलाभात्सुखी मर्त्यो जायते नात्र संशयः ॥1॥

अर्थ :- जी तोड़ पुरुषार्थ-अभ्यास से उत्तम विद्या की प्राप्ति होती है, विद्या लाभ से धन-सम्पत्ति उपार्जित होती है, धन प्राप्ति से मनुष्य सुखानुभव करता है । इसमें कोई सन्देह नहीं है । अभ्यास से प्राप्त विद्या चिरस्थायी हुई और कार्य काल में कार्य सम्पादन में समर्थ होती है । यथा राजकुमार की शस्त्र संचालन क्रिया सफल होती है ।

अब अभिमान का लक्षण निर्देश किया जाता है :-

प्रश्रय सत्कारादि लाभेनात्मनो यदुत्कृष्टत्व संभावनमभिमानः ॥14॥

अन्वयार्थ :- (प्रश्रयः) राजसन्मानादि से (सत्कारादि लाभेन) सम्मानादि प्राप्ति से (आत्मनः) आत्मा का (यत्) जो (उत्कृष्टत्व) उत्कर्षपना (संभावनम्) संभावना (अभिमानः) अभिमान (अस्ति) है ।

विशेषार्थ :- शिष्ट पुरुषों को राजाश्रय से अथवा समाज द्वारा जो विनय, सम्मान, आदर-सत्कारादि प्राप्त होता है। धन्यवाद मिलता है । शाल-दुशाला, माला-हार सम्मान में प्राप्त होते हैं । प्रसंशा मिलती है । इनसे वह अपने को सुखी मानता है । इसे ही अभिमान कहते हैं । नारद विद्वान ने भी कहा है :-

सत्कार पूर्वको यो लाभः स स्तोकोऽपि सुखावहः ।
अभिमानं ततो धत्ते, साधुलोकस्य मध्यतः ॥1॥

अर्थ :- आदरपूर्वक थोडा भी धनादिक लाभ सुख देने वाला होता है क्योंकि ऐसा करने से मनुष्य की सज्जनों के मध्य में प्रतिष्ठा होती है ।

अब सम्प्रत्यय का लक्षण कहते हैं :-

अतद्गुणे वस्तुनि तद्गुणत्वेनाभिनिवेशः सम्प्रत्ययः ॥15॥

अन्वयार्थ :- (अतद्गुणे) जो गुण नहीं हैं (वस्तुनि) वस्तु में उसमें (तद्गुणत्वेन) उस गुण का आरोप करने का (अभिनिवेशः) अभिप्राय (सम्प्रत्ययः) सम्प्रत्यय कहते हैं ।

अतद्गुण वस्तु में उस गुण का आरोप करना सम्प्रत्यय है ।

विशेषार्थ :- निर्गुण वस्तु में नैतिक चातुर्य से परीक्षा करके उसमें गुण की प्रतिष्ठा करना सम्प्रत्यय है।

वीणा आदि के मधुर शब्द सुनकर परीक्षा करके यह निर्णीत करना कि यह सुन्दर है या नहीं ? स्पर्शन इन्द्रिय से छूकर यह कठोर है या कोमल ? नेत्रों से देखकर यह मनोहर रूप है या नहीं ? इत्यादि ज्ञान शक्तियों से पदार्थ में गुण का निर्णय करना "सम्प्रत्यय" कहलाता है । नारद विद्वान ने इस विषय में लिखा है-

परोक्षे यो भवेदर्थः सज्ञेयोऽत्र समाधिना ।
प्रत्यक्षश्चेन्द्रियैः सर्वैं निजगोचरमागतः ॥1॥

अर्थ :- जो परोक्ष पदार्थ हैं जैसा राम, रावण, मेरु आदि जो इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं हो सकते । ये ध्यान द्वारा जाने जा सकते हैं । एवं जो समीपवर्ती प्रत्यक्ष पदार्थ हैं वे इन्द्रियों से अवगत हो जाते हैं ।

प्रत्यक्ष व परोक्ष पदार्थों में ज्ञानराशि शक्ति से निर्गुण और सगुण का निश्चय करना यह सम्प्रत्यय सुख का कारण है ।।15॥

अब विषय के स्वरूप का निर्णय करते हैं :-

इन्द्रियमनस्तर्पणो भावो विषयः ॥16॥

अन्वयार्थ :- (इन्द्रियमनस्तर्पणो) इन्द्रिय और मन सन्तुष्ट करने वाले (भावाः) पदार्थ (विषयाः) विषय (भवन्ति) होते हैं ।

जो पदार्थ जिस इन्द्रिय व मन को प्रसन्न करे वह उसका विषय है ।

विशेषार्थ :- इन्द्रियों और मन के विषयों का निर्णय करना दुर्लभ है । क्योंकि प्रत्येक प्राणी-मनुष्य की रुचि भिन्न-भिन्न होती हैं । उनकी इन्द्रियाँ भी उनके अभिप्रायानुसार उन-उन ही विषयों को श्रेष्ठ मानता है । अर्थात् प्रत्येक मानव की इन्द्रियाँ और मन अपनी-अपनी स्वेच्छानुसार ही भिन्न-भिन्न विषय को सुख रूप स्वीकार करते हैं और सन्तुष्ट होते हैं ।

शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

मनसश्चेन्द्रियाणां च सन्तोषो येन जायते ।
स भावो विषयः प्रोक्तः प्राणिनां सौख्यदायकः ॥1॥

अर्थ :- जिस पदार्थ से मन और इन्द्रियों को सन्तोष होता है वह पदार्थ विषय कहा जाता है । जो कि प्राणियों को सुख प्रदान करता है ।

भोक्ता की रुचि के अनुसार प्राप्त पदार्थ उसका विषय होता है । क्योंकि मन इन्द्रियाँ अपनी-अपनी इष्ट वस्तु को चाहती हैं उनमें ही प्रीति करती हैं । प्रीति ही सुख है ।

अब दुःख के लक्षण का निर्देश करते हैं :-

दुःखमप्रीतिः ॥17॥

अन्वयार्थ :- (अप्रीतिः) अरुचि (दुःखम्) दुःख है ।

विषयों में अरुचि ही दुःख है ।

विशेषार्थ :- जिस वस्तु को देखकर अरुचि हो-विरक्ति हो, प्रीति न हो उसे दुःख कहते हैं । शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

यत्र नो जायते प्रीतिर्दृष्टे वाञ्छादितेऽपि वा ।
तच्छ्रेष्ठमपि दुःखाय प्राणिनां सम्प्रजायते ॥1॥

अर्थ :- जिस वस्तु के देखने पर व धारण करने पर भी प्रीति न हो वह वस्तु अच्छी होने पर भी प्राणियों को दुःख देने वाली है ।।1॥ निष्कर्ष यह है कि वस्तु स्वयं में न अच्छी है न बुरी है । जिसे जो प्रिय है वही उसकी विषयभूत बनती है ।

अब सुख का लक्षण निर्देश करते हैं :-

तद् दुःखमपि न दुःखं यत्र न संक्लिश्यते मनः ॥18॥

अन्वयार्थ :- (यत्र) जहाँ (मनः) मन के (संक्लिश्यते) संक्लेशित (न) नहीं होता है (तद्) वह (दुःखम्) दुःख (अपि) भी (दुःखम्) कष्ट (न) नहीं है ।

जिस वस्तु के देखने पर मन पीड़ित नहीं होता वह पदार्थ दुःखद होकर भी सुखकर होता है । यथा-क्षुधा की पीड़ा सह्य नहीं होती परन्तु उपवास करने पर वही क्षुधा आनन्द दायक प्रतीत होती हैं क्योंकि मन की उसके प्रति रुचि है, चाह है । अतः उसे दुःख नहीं सुखानुभव होता है ।

अब चार प्रकार के दुःखों का निरुपण करते हैं :-

दुःखं चतुर्विधं सहजं दोषजमागन्तुकमन्तरंगं चेति ॥19॥
सहजं क्षुत्तृषामनोभूभवं चेति ॥20॥

दोषजं वातपित्तकफ वैषम्य सम्भूतम् ॥21॥
आगन्तुकं वर्षातापादि जनितम् ॥22॥

यच्चिन्त्यते दरिद्रैर्न्यक्कारजम् ॥23॥
न्यक्कारावज्ञेच्छाविघातादि समुत्थमन्तरङ्गजम् ॥24॥

अर्थ :- दुःख चार प्रकार के होते हैं - 1.सहज-स्वाभाविक 2. दोषजवात, पित्त, कफ के विकार से या मानसिक चिन्ता शोकादिजन्य । 3. आगन्तुक-आकस्मिक घटना विशेष से उत्पन्न । और 4. अन्तरङ्ग-मानसिक पीड़ा।

1. सहज दुःख :- क्षुधा तृषा से उत्पन्न पीड़ा या काम, क्रोध के उत्पन्न भाव से उत्पन्न, स्त्री सेवन की अभिलाषा और उसके चिन्तन से उत्पन्न दुःख सहज दुःख कहलाते हैं । क्योंकि बिना प्रयत्न के ही इनका प्रादुर्भाव हो जाना स्वाभाविक है ।।20॥

2. दोषज दुःख :- वात, पित्त और कफ शरीर में रहते हैं । इनका अनुपात यथायोग्य रहना स्वास्थ्य है। इनकी मात्रा में कमी-वेशी होना रोग है । जिस क्षण ये कुपित होते हैं-विकृत होते हैं उस समय शरीर इन्द्रियाँ सब अस्त-व्यस्त हो जाते हैं । मन भी विकारी हो जाता है। फलतः गलतगण्डादि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ये दुःख दोषज कहलाते है । ॥21॥

3. आगन्तुक दुःख :- वर्षा, शीत, उष्ण आदि ऋतुओं से उत्पन्न कष्ट होते हैं । अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि आकस्मिक घटनाओं से उत्पन्न पीड़ाएँ आगन्तुक कष्ट कहलाते हैं ॥22॥

4. न्यक्कारजम् दुःख :- दारिद्रादि से जन्य, अपराध-दण्ड जेलखाना आदि में बध, बन्धन होना, च्छेदन भेदन की सजा मिलने पर जो दुःख होता है वह सब न्यक्कारज या तिरस्कार जन्य-अपमान से उत्पन्न कष्ट या दुःख कहा जाता है। इसमें मानहानि से मानसिक पीड़ा विशेष होती है ॥23॥

5. अन्तरङ्गज दुःख :- अनादर, न्यक्कार, इच्छाविघात, अथवा अभिलषित वस्तु के नहीं मिलने से होने वाले दुःखों को अन्तरङ्गज दुःख कहते हैं । यह पांचवाँ दुःख मूल में नहीं है । संभव है संस्कृत टीकाकार ने लिखा होगा ।

अब दोनों लोकों में दुःखी रहने वाले व्यक्ति का स्वरूप कहते हैं :-

न तस्यैहिकमामुष्मिकं च फलमस्ति यः क्लेशायासाभ्यां भवति विप्लवप्रकृतिः ॥25॥

अन्वयार्थ :- (यः) जो (क्लेशः) संक्लेश (आयासाभ्याम्) आयास श्रम के द्वारा (विप्लवप्रकृतिः) किंकर्त्तव्य-विमूढ बुद्धि (भवति) होता है (तस्य) उसकी (ऐहिकम्) इस लोक (च) और (आमुष्मिकम्) परलोक (फलम्) फल सिद्धि (न) नहीं (भवति-अस्ति) होती है ।

जो व्यक्ति निरन्तर खेद और दुःखों के द्वारा नष्ट बुद्धि हो गया है उसको ऐहिक-इस लोक सम्बन्धी और पारलौकिक सुख प्राप्त नहीं हो सकता ।

विशेषार्थ :- "बुद्धेः फलं तत्त्व विचारणं च" यदि बुद्धि से तत्व का निर्णय नहीं होता तो उस बुद्धि का कोई प्रयोजन नहीं । वह व्यक्ति नष्ट बुद्धि होता है - सतत् दैन्य, ताप और पीड़ा से अभिभूत हुआ उभयलोक में कष्ट ही उठाता है । व्यास ने कहा है :-

जीयते क्लेशखेदाभ्यां सदा का. पुरषोऽत्र यः ।
न तस्य मर्त्ये यो लाभः कुतः स्वर्गसमुद्भवः ॥1॥

अर्थ :- जो तुच्छ बुद्धि पुरुष क्लेश और दुखों से अभिभूत हो विवेक शून्य हो जाता है उसे इस मर्त्यलोक में कोई सुख प्राप्त नहीं होता फिर परलोक में स्वर्गादि सुख कहाँ से प्राप्त हो सकते हैं । अर्थात् नहीं हो सकते। यातनाओं से मानव का मानसिक सन्तुलन नष्ट हो जाता है । उसकी विचार शक्ति नष्ट हो जाती है । फलतः शुभाशुभ कार्यों का ग्रहण व त्याग नहीं कर पाता और दोनों लोकों में दुःखी ही बना रहता है ॥25॥

अब कुलीन का माहात्म्य और कुत्सित पुरुष की निन्दा करते हैं :-

स किंपुरुषो यस्य महाभियोगे सुवंशधनुष इव नाधिकं जायते बलम् ॥26॥

अन्वयार्थ :- (यस्य) जिस पुरुष के (महाभियोगे) विपत्ति-संकटकाल में (सुवंशधनुष इव) उत्तम बांस के धनुष समान (अधिकम्) अधिक बल (न) नहीं (जायते) उत्पन्न होता है (सः) वह (किंम्) क्या (पुरुषः) पुरुष (अस्ति) है ?

जो पुरुष भीषण विपत्ति काल उपस्थित होने पर-युद्धादि काल में पुरुषार्थ नहीं दिखाता उत्तम बांस के धनुष समान सुभटता प्रदर्शन नहीं करता वह श्रेष्ठ पुरुष है क्या ? अर्थात् नहीं है ।

विशेषार्थ :- जो शत्रु का सामना करने में छाती तान कर अड़ जाता है वह वीर पुरुष होता है । उत्तम वंश-जिनकी जाति कुल शुद्धि होती है, पिता शुद्ध है वह शूर-वीर, सुभट मृत्यु वरण कर लेगा किन्तु शत्रु को पीठ दिखाकर नहीं भागेगा। परन्तु दुष्कुल या निंद्य कुलोत्पन्न विपद काल में कायर हो जाता है और भागने की चेष्टा करता है । प.पू. आचार्य श्री आदिसागर जी अंकलीकर एवं उनके पट्टाधीश आचार्य शिरोमणि महावीर कीर्ति जी सदैव अपने उपदेशों में कुल-वंश परम्परा की शुद्धि का विशेष रूप से आदेश दिया करते थे ।

'गुरु' नामक विद्वान ने भी लिखा है :-

युद्ध काले सुवंश्यानां वीर्योत्कर्षः प्रजायते ।
येषां च वीर्यहानिः स्यात्तेऽत्र ज्ञेया नपुंसकाः ॥1॥

अर्थ :- संग्रामभूमि में कुलीन पुरुषों की वीरता-शक्ति की वृद्धि होती है, और जो पुरुष उस काल में वीरता छोड़ देते हैं - युद्ध से मुख मोड़ लेते हैं, उन्हें नपुंसक समझना चाहिए । वे कायर शिरोमणि हैं ।

अभिलाषा-इच्छा का लक्षण निर्देश :-

आगामिक्रिया हेतुरभिलाषो वेच्छा ॥27॥

अन्वयार्थ :- (आगामिक्रिया) भविष्यकालीन कार्य का (हेतू) कारण (अभिलाषा) आकांक्षा (वा) अथवा (इच्छा) इच्छा (भवति) होती है ।

भविष्य में विषय-भोगों की प्राप्ति की आशा अभिलाषा या इच्छा कहलाती है ।

विशेषार्थ :- मनुष्य वर्तमान में प्राप्त भोगों को सेवन करता हुआ, भविष्य में भी उनके बने रहने की या प्राप्त होने की चिन्ता करता है । इसे ही इच्छा या अभिलाषा कह सकते हैं । विद्वान गुरु कहते हैं :-

भावि कृत्यस्य यो हेतुरभिलाषः स उच्यते ।
इच्छा वा तस्य सन्धा या भवेत् प्राणिनां सदा ॥1॥

अर्थ :- जो भावष्य में होने वाले कार्य में हेतू हैं उसे अभिलाषा, संधा या इच्छा कहते हैं । यह आकांक्षा संसारी प्राणियों के सतत् रहती है । अभिप्राय यह है कि साधारण मानवों में रहने वाला यह साधारण गुण है । इससे जो ऊपर उठते हैं वे महात्मा, योगीश्वर, व सन्त कहलाते हैं । परमात्म दशा पाते हैं । अत: इच्छा का निरोध करना चाहिए ।

अब दोषों की शुद्धि का उपाय बताये हैं :-

आत्मनः प्रत्यवायेभ्यः प्रत्यावर्तन हेतुर्द्वेषोऽनभिलाषो वा ॥28॥

अन्वयार्थ :- (आत्मनः) आत्मा का (प्रत्यवायेभ्यः) दोषों के द्वारा (प्रत्यावर्तन) रक्षण करने का (हेतुः) उपाय (द्वेषो) दोषों के प्रति द्वेष (वः) अथवा (अनभिलाषा) भविष्य में नहीं करने की आकांक्षा ।

आत्मा को निर्दोष दो उपायों से बनाया जा सकता है - उन दोषों से विरक्ति अर्थात् द्वेष करना और भविष्य में ये दोष नहीं हो इसके लिए सावधान-सतर्क रहे ।

विशेषार्थ :- जिसके प्रति ग्लानि हो जाती है प्राणी-मनुष्य उस कार्य से विरत हो जाता है । उससे वह दूर रहने का प्रयत्न करता है । आगामी काल में वे दोष न हों इसके लिए प्रयत्नशील रहता है । तभी आत्मा यथार्थ में शुद्ध-निर्दोष हो सकती है । ''गुरु'' का कथन है :-

आत्मनो यदि दोषाः स्युस्ते निन्द्या विबुधैर्जनैः ।
अथवा नैव कर्त्तव्या वाञ्छा तेषां कदाचन ॥1॥

अर्थ :- यदि आत्मा किन्हीं अपराधों का कर्ता हो जावे तो विद्वानों सुखाभिलाषियों का कर्त्तव्य है कि अतिशीघ्र उनका निवारण कर लें, प्रक्षालन कर डालें । निन्दा, गर्हा आदि द्वारा उनका निराकरण करें तथा भविष्य में ये अपराध बनें ऐसी इच्छा नहीं करते । इस प्रकार जो निस्प्रमाद हो अपराधों से बचने का प्रयास करते हैं वे ही महान हैं और निर्मल आत्मा के अधिकारी होते हैं ॥28॥

अब उत्साह का लक्षण करते हैं :-

हिताहित प्राप्ति परिहार हेतुरुत्साहः ॥29॥

अन्वयार्थ :- (हितस्य) कल्याण की (प्राप्तिः) उपलब्धि (अहितस्य) अकल्याण की (परिहारः) अप्राप्ति (हेतु) का कारण (उत्साहः) उत्साह (अस्ति) है ।

जिस कार्य के करने में अनिष्ट का त्याग और इष्ट की प्राप्ति होती है उसे उत्साह कहते हैं । वर्ग विद्वान ने भी लिखा है :-

शुभाप्तिर्यत्र कर्त्तव्यः जायते पाप वर्जनम् ।
हृदयस्य परा तुष्टिः स उत्साहः प्रकीर्तितः ॥1॥

अर्थ :- जिस कार्य के करने से शुभ-योग्य विषय की प्राप्ति और अशुभ पापों का त्याग हो, हृदय में आनन्द जाग्रत हो उसे उत्साह कहते हैं । जिस कार्य का सम्पादन कर सन्तोष मिलता है, हृदय प्रफुल्ल होता है वस्तुतः वही उत्साह है ।

प्रयत्न का स्वरूप कहते हैं :-

प्रयत्नः परनिमित्तको भावः ।।30।।

अन्वयार्थ :- (परनिमित्तकः) दूसरे के कार्य के करने का (भावः) परिणाम (प्रयत्नः) प्रयत्न (अस्ति) है ।।30।।

किसी के प्रति उपकार करने का निश्चय प्रयत्न कहलाता है ।

विशेषार्थ :- भलाई करने की बुद्धि का जाग्रत होना प्रयत्न है । मनुष्य प्रयत्नशील प्राणी है । कुछ न कुछ करना उसका स्वभाव है । परन्तु विवेकपूर्वक किसी का कोई विध अपकार न हो यह दृष्टि में रखकर कार्य करना सत्प्रयत्न कहलाता है । गर्ग विद्वान का कथन है :-

परस्य करणीये यश्चित्तं निश्चित्य धार्यते ।
प्रयत्नः स च विज्ञेयो गर्गस्य वचनं यथा ।।1।।

अर्थ :- किसी अर्थी की भलाई करने की दृढ चित्तवृत्ति होती है उसे प्रयत्न जानना चाहिए । गर्ग विद्वान का यह अभिप्राय है - कथन है । अर्थात् नीतिज्ञ जन-शिष्ट पुरुषों का दूसरों की भलाई-उपकार करने की प्रवृत्ति होती है उसे प्रयत्न कहना चाहिए । पर दूसरों को कष्ट देना प्रयत्न नहीं है वह तो कोरा दम्भ है । "परोपकाराय सतां विभूतयः" सत्पुरुषों की विभूति-कला, गुण, कर्म दूसरों के हित-कल्याण करने वाले होते हैं ।

संस्कार का लक्षण :-

सातिशयलाभः संस्कारः ।।31।।

अन्वयार्थ :- (सातिशयलाभः) विशेष प्रतिष्ठादि से प्राप्त सम्मानादि (संस्कारः) संस्कार है ।

श्रेष्ठ-सत्पुरुषों व नृपति आदि द्वारा सम्मानादि प्राप्त प्रतिष्ठा को संस्कार कहते हैं । अथवा सम्यक् पूर्वक किसी भी कार्य विशेष का अभ्यास करने से प्राप्त नियतवृत्ति संस्कार कही जाती है । संस्कार मानव के सम्यक् अभ्यासों का परिपक्व रूप है । जिस प्रकार मिट्टी के कलश का अग्नि संस्कार करने पर उसमें जल धारण की योग्यता प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार निरन्तर सत्प्रयत्नों द्वारा मानव को राजमान्यतादि गौरव प्राप्त होते हैं वे संस्कार कहे जाते हैं ।।31।। गर्ग विद्वान ने भी कहा है :-

सम्मानाद् भूमिपालस्य यो लाभः संप्रजायते ।
महाजनाच्च सद्भक्तेः प्रतिष्ठा तस्य सा भवेत् ।।1।।

अर्थ :- राजकीय आदर-सत्कार से प्रतिष्ठा की उपलब्धि अथवा सज्जनों द्वारा सामाजिक प्रभुत्व की प्राप्ति-या प्रगाढ़ भक्ति से प्राप्त गरिमादि को संस्कार कहते हैं । जाति, कुल परम्परा से जो मनुष्य की आदतें, अभ्यास चले आते हैं वे संस्कार कहलाते हैं ।

संस्कार-ज्ञानविशेष-का लक्षण निर्देश करते हैं :-

अनेक कर्माभ्यास वासनावशात् सद्योजातादीनां स्तन्यपिपासादिकं येन क्रियते इति संस्कारः ॥32॥

अन्वयार्थ :- (अनेक) पूर्व के अनेक भवों से कृत (कर्माभ्यास) कर्म आयुकर्म के निमित्त से किया अभ्यास (वासनावशात्) की वासना के निमित्त से (सद्योजातादीनाम्) तत्काल उत्पन्न हुए बालकादि के (स्तन्य पिपासादिकम्) स्तनपान करने की इच्छा (येन) जिसके द्वारा (क्रियते) की जाती है (इति) इस प्रकार की प्रवृत्ति (संस्कारः) संस्कार (भवति) होता है ।

वासना को संस्कार कहते हैं । संस्कारित जीवन परभव में भी फलता है ।

विशेषार्थ :- ज्ञान, ध्यानादि का जो व्यक्ति निरालस्य होकर सतर्कता से विनयपूर्वक अभ्यास करता है, वह संस्कार परभव में भी जाता है । आचार्य श्री कहते हैं :-

विणयेण सुदमधीदं जदि वि पमादेण होदि विस्सरिदं ।
तंमुवट्ठादि परभवे केवलणाणं च आवहदि ॥

मू. चा. कुन्दकुन्द

यदि विनयपूर्वक श्रुत का अभ्यास किया जाता है और प्रमाद कारण वश विस्मृत भी हो जावे तो भी अगले भव में वह जाग्रत होता है और क्रमशः केवलज्ञान को उत्पन्न करा देता है ।

गौतमनामक दार्शनिक विद्वान ने भी लिखा है :-

प्रेत्याहाराभ्या कृतात् स्तन्यभिलाषात् ॥1॥

गौतम सू. अ. 3 आ. 1 सूत्र

अर्थ :- यह प्राणी पूर्व शरीर का परित्याग कर जिस समय नवीन शरीर धारण करता है, उस समय उत्पत्तिकाल में ही शिशु का रोदन, हाथ-पैर संचालन दुग्धपानेच्छा-क्षुधा-तृषा की शान्ति के उपाय, दुग्धपान करना आदि क्रियाएँ स्वभाव से होती हैं । इनमें पूर्वाभ्यास ही कारण होता है । माता के स्तनपान, मुँह का स्फालनादि कौन सिखाया? स्वयं स्वभाव से करता है । क्यों ? क्योंकि पूर्व पर्यायों से वैसा करता आया है, उनका अभ्यस्त है । अभ्यासानुसार ही वह उन क्रियाओं को करता है यह सब संस्कार जन्य क्रियायें हैं ।

क्षुधा पीड़ित हो भोजन की अभिलाषा करता है, पिपासा लगने पर नीर-पान चाहता है । अन्य भी पाँचों इन्द्रियों के विषयों में सहज प्रीति होती है विकर्षण-अप्रीति होती है यह सब पूर्व संस्कारों के निमित्त से होती है।

कुलीन उत्तम कुलोत्पन्न बच्चों में तुच्छ भाव देखे जाते हैं और नीच कुलोत्पन्नों में सदाचार, शिष्टाचारादि उत्तम भाव पाये जाते हैं यह विपर्यास क्यों ? पूर्व संस्कारों के कारण ही कहे जाते हैं । संस्कारों का तारतम्य एक दो भवों में नहीं अनेकों भवों तक चलता रहता है । अतः प्रत्येक प्राणी को शुभ, उत्तम, श्रेष्ठ संस्कार डालना चाहिए।

शरीर का स्वरूप कहते हैं :-

भोगायतनं शरीरम् ॥33॥

अन्वयार्थ :- (भोगायतनम्) पञ्चेन्द्रिय विषयभोगों का घर (शरीरम्) शरीर (अस्ति) है ।

जीव प्राणी-संसारी प्राणी शरीर के आश्रय से पञ्चेन्द्रियों के भोग-उपभोगों का सेवन करता है । शुभाशुभ कर्मों से प्राप्त इष्टानिष्ट विषयों का भोग शरीर के माध्यम से संभव है ।

विशेषार्थ :- शरीर में इन्द्रियाँ होती हैं । इन्द्रियों से विषय ग्रहण किये जाते हैं । विद्वान हारीत ने भी कहा है :

सुख दुःखानि यान्यत्र कीर्त्यन्ते धरणीतले ।
तेषां गृहं शरीरं तु यतः कर्माणि सेवते ॥1॥

अर्थ :- संसार में शुभ व अशुभ कर्मों के फल सुख व दुःख कहे जाते हैं, उन सबका महल यह शरीर है । क्योंकि समस्त कर्मों का निर्माण इसी शरीर रूप प्रासाद में होता है ।

संसार में प्राणी को संसार और मुक्ति का साधन शरीर है । अतः शरीर रहित होने का प्रयत्न करना चाहिए।

नास्तिक दर्शन का स्वरूप :-

ऐहिक व्यवहार प्रसाधनपरं लोकायतिकम् ॥34॥

अन्वयार्थ :- (ऐहिक) इस लोक सम्बन्धी (व्यवहार) क्रियाओं का (प्रसाधनपरम्) संचय करने में संलग्न (लोकायतिकम्) चारवाक सिद्धान्त (अस्ति) है ।

जो दर्शन मद्यपान, मांसभक्षणादि का विधान करे उसे नास्तिक दर्शन कहा जाता है ।

विशेषार्थ :- चार्वाक सिद्धान्त मात्र वर्तमान जीवन का ही अस्तित्व स्वीकार करता है । उसके न परलोक है न शुभाशुभ कर्मों के फल भोगने की व्यवस्था है । अतः जब जीवन है भक्ष्याभक्ष्य का विचार न कर जो चाहो सेवन करो। जैसी चाहे क्रिया करो । सब यहीं रहना है ।

इस नास्तिक सिद्धान्त के अनुयायी वृहस्पति का कहना है कि :-

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥1॥

अग्निहोत्रं त्रयो वेदाः प्रवृज्या नग्नमुण्डता ।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीवितेऽदो मतं गुरुः ॥2॥

नीतिकार गुरु

अर्थकामावेव पुरुषार्थौ, देहएव आत्मा इत्यादि ॥

नास्तिक मत के अनुयायी वृहस्पति ने कहा है कि मनुष्य को जीवन पर्यन्त सुख से रहना चाहिए । मनमाने इच्छानुकूल भोग-विलासों में तल्लीन रहना चाहिए । मृत्यु के बाद कुछ नहीं है क्योंकि कुछ भी इन्द्रियगोचर नहीं होता । मृत्यु के बाद पुनर्जन्म है ही नहीं । फिर कहाँ सुख कहाँ दुःख ? न नरक है न स्वर्ग सब कल्पना व्यर्थ है।

अग्नि में होम करना, तीनों वेदों का अध्ययन करना, प्रवज्यादीक्षा धारण करना, केश मुडाना, नग्न रहना, भिक्षुक बनना ये सब मूर्ख, बुद्धिविहीन, पुरुषार्थहीन प्रमादियों के कार्य हैं । कुछ करना-धरना नहीं जीविका के साधन बनाना है। ये सब व्यर्थ हैं ।

धन कमाना और काम-स्त्रीसंभोग करना ये दो ही पुरुषार्थ उपयोगी हैं । बुद्धिमानों को इन दोनों को उपादेय समझना चाहिए । धर्म कर्म कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं । शरीर पोषण ही परम ध्येय है।

भावार्थ - नास्तिक दर्शन उक्त प्रकार केवल वर्तमान जीवन को ही सत्य स्वीकार करता है । इन्द्रिय प्रत्यक्ष जो कुछ है वही उपादेय है । दया, परोपकार, अहिंसा, सत्य आदि का निरुपण करना सत्य नहीं । इनके विषय में वह अनभिज्ञ है अतः निषेध करता है । अतः उसका कहना है पाप पुण्य कोई भेद भाव वाले नहीं हैं । भोगलिप्साओं का शमन येन केन प्रकारेण करना ही मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिए ।

नास्तिक दर्शन के ज्ञान से होने वाला राजा को लाभ :-

लोकायतज्ञो हि राजा राष्ट्रकण्टकानुच्छेदयति ॥35॥

अन्वयार्थ :- (लोकायतज्ञो) चार्वाक सिद्धान्त के ज्ञाता (राजा) भूपति (हि) निश्चय से (राष्ट्रकण्टकान्) राज्य के नाशक शत्रुओं को (उच्छेदयति) नष्ट करता है ।

जो राजा लोकायतिक सिद्धान्त को जानने वाला होता हैं वह अपने राज्य को सुरक्षित रखने के लिए ऐसे विचार वाले कुधर्मियों को ज्ञात कर राज्य से निकाल बाहर करता है ।

विशेषार्थ :- यद्यपि नास्तिक सिद्धान्त का अध्ययन करने से मनुष्य के अन्दर अविवेक, क्रूरता, अधर्मभावना, पापाचरण की प्रवृत्ति, दुष्टता, अनाचार, व्यभिचारादि दुर्गुणों में प्रवृत्ति होना संभव है परन्तु योग्य चतुर नृपति को इसका भी ज्ञान होना अनिवार्य है क्योंकि "बिन जाने तें दोषागुणन को कैसे तजिये गहिये" अर्थात् क्षीर-नीर वत् हंस न्याय करने के लिए, दुष्टों की चाल को परखने के लिए नृप को समस्त सिद्धान्तों का अभ्यास करना आवश्यक है । इससे वह अपने राज्य में धर्म और सुनीति का प्रचार कर राज्य को आदर्श रूप देने में समर्थ हो सकता है।

इससे वह अपने राज्य से चोर, म्लेच्छादि का अभाव करने में समर्थ होगा । राज्य व्यवस्था सुसंगठित होगी । शुक्र ने भी कहा है :-

दयां करोति यो राजा राष्ट्रसंतापकारिणां ।
स राज्यध्वंशमाप्नोति राष्ट्रोच्छेदाद्यसंशयम् ।।

अर्थ :- जो राजा देश का अहित व अनिष्ट करने वालों पर भी दया करता है वह अपने राज्य राष्ट्र का निःसन्देह उच्छेद कर देता है । अतः दुष्टों को दण्ड देना अनिवार्य है । अन्यथा वह राज्य को भी खो बैठेगा ।

मनुष्यों के कर्त्तव्य सर्वथा निर्दोष नहीं होते इसका निरुपण :-

न खल्वेकान्ततो यतीनामप्यनवद्यास्ति क्रिया ।।36।।

अन्वयार्थ :- (खलु) निश्चय से (यतीनाम्) साधुओं की (अपि) भी (क्रिया) कर्त्तव्य (एकान्ततः) एकान्त से-सर्वथा (अनवद्याः) निर्दोष (न) नहीं (अस्ति) होती है ।

तपस्वी साधुजनों के कर्त्तव्य-क्रियाकाण्ड भी सर्वथा निर्दोष नहीं पाये जाते । कहीं न कहीं अतीचारादि लग ही जाते हैं फिर सर्व साधारण जन की तो बात ही क्या है ? अर्थात् सदोष कर्त्तव्य हो ही सकते हैं ।

विशेषार्थ :- यति हों या श्रावक सबके निर्धारित कर्त्तव्य होते हैं । वे सावधान रहकर क्रिया करते हैं तो भी सूक्ष्म दोष कहीं न कहीं लगना संभव है । सामान्य जन असि, मसि, विद्यादि आरम्भादि करते हुए धर्मध्यानादि करते हैं फिर उनके कार्यों में तो दोष लगना स्वाभाविक ही है । आचार्य गुणभद्रस्वामी जी ने कहा है कि :-

शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न सम्पदः ।
न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः ।।45।।

आ.नु.शा.

अर्थ :- सत्पुरुषों की भी सम्पत्ति पूर्णतः निर्दोष उपायों से वृद्धिंगत नहीं होती है । जिस प्रकार सागर पूर्ण शुद्ध परिपूर्ण नदियों से प्रपूरित नहीं होता । कितनी ही वृहद्-प्रवाहित नदियाँ भी कुछ न कुछ कूड़ा-कचरा लेकर ही आती हैं। उसी प्रकार न्याय नीति से अर्जित भी धन सम्पदा कुछ न कुछ आरम्भजन्य पाप मिश्रित होती है । वर्ग विद्वान ने भी लिखा है :-

अनवद्या सदा तावन्न खल्वेकान्ततः क्रिया ।
यतीनामपि विद्येत तेषामपि यतश्च्युतिः ।।1।।

अर्थ :- साधु-सन्तों के व्रतानुष्ठानादि भी सर्वथा निर्दोष नहीं होते हैं क्योंकि वे भी अपने पदस्थ कार्यों से कदाचित्-क्वचित् च्युत हो जाते हैं । फिर भला साधारण जन की बात ही क्या है ?

भाव यह है कि व्रत, नियम, तप जपादि में कहीं दोष न लग जाय इस भय से नियम व्रत न लें ऐसा विचार

नहीं करना चाहिए । यथा शक्ति अवश्य धर्मानुष्ठानों में प्रवृत्ति करना चाहिए । आगमोक्त विधि से नियमादि कारण व पालन करना चाहिए ।

एकान्ततः दयापालन से हानि :-

एकान्तेन कारुण्यपरः करतलगतमप्यर्थं रक्षितुं न क्षमः ॥37॥

अन्वयार्थ :- (एकान्तेण) सर्वथा (कारुण्यपरः) करुणा में तत्पर व्यक्ति (करतलगतम्) हथेली पर स्थित (अर्थम्) धन को (अपि) भी (रक्षितुम्) रक्षित करने में (न क्षमः) समर्थ नहीं होता ।

जो व्यक्ति समयानुकूलता को दृष्टि में न रखकर निरन्तर दया का व्यवहार करता है वह अपने हाथ पर रक्खे धन की भी रक्षा करने में समर्थ नहीं होता है ।

विशेषार्थ :- समय-समय में गुण व दोष परिवर्तित होना संभव है । दया सर्वत्र हितकर होती है परन्तु कदाच यह भी अहितकर हो सकती है । सदन में तस्कर या दस्यु-डाकू आ धमके और गृहस्थ-घर मालिक यदि दयालु बना चुप बैठा रहे प्रतिकार न करे तो क्या धन-जन का रक्षण कर सकता है ? नहीं । 'शुक्र' विद्वान का कथन भी निम्न प्रकार है :-

दया साधुषु कर्त्तव्या सीदमानेषु जन्तुषु ।
असाधुषु दधा शुक्रः स्ववित्तादपि भ्रश्यति ॥1॥

अर्थ :- भूपाल को साधु पुरुषों पर दया करना चाहिए तथा दीन दुखियों की रक्षा में करुणा प्रदर्शित करना चाहिए परन्तु दुराचारी, पापिष्ठ दुष्टों पर करुणा-दया का प्रयोग शुक्र के मतानुसार अपने धन का नाश करना है। अर्थात् दुराचारी मद्य-मांसादि सेवी को दया कर रुपये-पैसे दान करे तो क्या होगा ? अधर्म की वृद्धि । क्या यह दया का फल है ? नहीं नहीं कदाऽपि नहीं ।

अभिप्राय यह है कि सर्वत्र विवेक की आवश्यकता है । अविवेक से गुण भी दोष रूप सिद्ध हो जाता है।

सदा शान्त रहने वाले की हानि :-

प्रशमैकचित्तं को नाम न परिभवति ? ॥38॥

अन्वयार्थ :- (प्रशमैकचित्तं) सतत् शान्तचित्त रहने वाले को (कोनाम) कौन पुरुष (न परिभवति) तिरस्कार नहीं करता ?

एकान्त सतत शान्ति से चुप-चाप रहने वाले पुरुष को संसार में सभी सताने वाले, तिरस्कार करने वाले हो जाते हैं ।

विशेषार्थ :- सदैव शान्त चित्त रहने वाले मनुष्य का लोक में कौन पराभव नहीं करता ? अर्थात् उसे कौन नहीं सताता ? कहावत है "अति सर्वत्र वर्जयेत्" अति सर्वत्र दुखदायी होती है । "अतका भला न बोलना अतिकी

भली न चुप" अधिक चबड़-चबड़ करना भी निंद्य कहा जाता है और अवसरानुकूल नहीं बोलना भी शोभनीय नहीं कहा जाता । मनुष्य को अवसर विचार कर वचन प्रयोग करना चाहिए । भृगु विद्वान ने भी इस विषय में निम्न प्रकार लिखा है :-

सदा तु शान्त चित्तो यः पुरुषः सम्प्रजायते ।
तस्य भार्याऽपि नो पादौ प्रक्षालयति कर्हिचित् ॥1॥

अर्थ :- जो व्यक्ति सतत् शान्तचित्त रहता है उसकी पत्नि भी उसके पादप्रक्षालन नहीं करती अन्य की तो बात ही क्या है ? अर्थात् सभी लोग उसका अनादर करते हैं । भृगु विद्वान ने भी कहा है :-

राजा का कर्त्तव्य निर्देश :-

अपराधकारिषु प्रशमो यतीनां भूषणं न महीपतीनाम् ॥39॥

अन्वयार्थ :- (यतीनाम्) साधुओं का (अपराधकारिषु) अपराधियों में (प्रशमः) प्रशमभाव-क्षमाभाव (भूषणम्) अलंकार है । (महीपतीनाम्) राजाओं का (न) नहीं ।

सकलसन्यास धारी साधुजन अपराधियों को क्षमा कर सन्मार्गारूढ़ करते हैं । वे दण्डविधान नहीं कर सकते। क्षमा या प्रशम भाव ही उनकी शोभा है । परन्तु नृपति यदि चाहे कि दुष्ट अपराधियों को बिना दण्ड दिये छोड़ दे, तो यह उसका न्याय नहीं होगा, अपितु दूषण होगा । क्योंकि अपराध बढ़ जायेंगे और अराजकता फैल जायेगी।

विशेषार्थ :- दुष्टों का निग्रह और शिष्टों का पालन करना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य है । अपराध के अनुकूल दण्ड नहीं दिया जायेगा तो अपराधों की वृद्धि होती जायेगी । कलिकाल में तो आचार्य कहते हैं दण्डनीति ही प्रधान है जिसका प्रयोग साधु नहीं कर सकते, नृपति ही करते हैं । कहा है :-

कलौ दण्डो नीतिः स च नृपतिभिस्ते नृपतयो ।
नयन्त्यर्थार्थं तं न च धनमदोऽस्त्याश्रमवताम् ॥
नतानामाचार्यां न हि नतिरताः साधुचरिताः
तपःस्थेषु श्री मन्मणय इव जाताः प्रविरलाः ॥149॥

आ.नु.

अर्थ :- इस कलिकाल में (पंचमकाल) एक दण्ड ही नीति है, वह दण्ड राजाओं के द्वारा दिया जाता है। वे राजा उस दण्ड को धन का कारण बनाते हैं । परन्तु वनवासी के पास तो धन होता ही नहीं । तो भी वन्दनादि में अनुराग रखने वाले आचार्यादि नम्रीभूत शिष्यों-साधुओं को सन्मार्ग पर चला नहीं सकते हैं । इसी स्थिति में तपस्वियों के मध्य में समुचित निर्मल साधु-मार्ग-धर्म का परिपालन करने वाले शोभायमान मणियों की भांति अतिशय विरल-कम हो गये हैं। बहुत ही कम रह गये हैं । अभिप्राय यह है कि साधु की क्षमा शोभा है दण्ड नहीं । परन्तु राजा

दण्ड नहीं देगा तो राज्य शासन व्यवस्था भंग होगी । अतः राजा को दण्ड न देना अशोभित्त है । नीतिकारों ने कहा है कि :-

यो राजा निग्रहं कुर्यात् दुष्टेषु स विराजते ।
प्रसादे च यतस्तेषां तस्य तद्दूषणं परम् ॥1॥

अर्थ :- जो राजा दुष्टों का निग्रह करता है, अपराध को अनुकूल दण्ड देता है वह नृप शोभायमान होता है । उसके राज्य की शोभा होती है । तथा जो भूपति दुष्टों-दुर्जनों के प्रति क्षमा का भाव रखता है वह राजा दूषित होता है। उसका राज्य नष्ट होता है ।

जिस प्रकार जो अलंकार जिस अंग का होता है वह वहीं शोभा पाता है उसी प्रकार जिसके योग्य जो कार्य होता है वह भी उसी के द्वारा सम्पादित किये जाने पर शोभित होता है । विवेकियों को यथा योग्य विचा कर योग्य कार्य करना चाहिए ।

मनुष्य निंद्य किससे समझा जाता है उसे कहते हैं :-

धिक् तं पुरुषं यस्यात्मशक्त्या न स्तः कोपप्रसादौ ।।40॥

अन्वयार्थ :- (यस्य) जिसके (आत्मशक्त्या) अपनी शक्ति के अनुसार (कोपप्रसादौ) क्रोध व क्षमा (न) नहीं (स्तः) करते हैं (तं) उस (पुरुषम्) पुरुष को (धिक्) धिक्कार है ।

अपनी शक्ति और योग्यतानुसार जो राजा अनुग्रह और विग्रह नहीं करता वह सतत् निंद्य समझा जाता है उसका राज्य वैभव निर्दोष नहीं रह सकता । वह धिक्कार का पात्र है । कहा भी है - व्यास का कहना है :-

प्रसादो निष्फलो यस्य कोपश्चाऽपि निरर्थकः ।
न तं भर्तारमिच्छन्ति प्रजा षण्ढमिव स्त्रियः ॥1॥

अर्थ :- जिस राजा की प्रसन्नता निष्फल है अर्थात् जो शिष्टों को प्रसन्न करके भी उनका अनुग्रह नहीं करता एवं जिसका क्रोध भी निष्फल है - जो दुर्जनों से क्रुध होकर भी उनका निग्रह नहीं करता उसे प्रजा अपना स्वामी राजा नहीं मानता । जिस प्रकार स्त्रियाँ नपुंसक को नहीं मानतीं ।

अभिप्राय यह है जिसके न्याय-नीति व्यवहार से दण्डित होकर भी प्रजा प्रसन्न रहे अथवा अनुग्रहीत होकर भी उसका गौरव मान्य करे वही श्रेष्ठ सफल राजा होता है ।

शत्रुओं का पराजय न करने वाले की आलोचना :-

सं जीवन्नपि मृत एव यो न विक्रामति प्रतिकूलेषु ।।41॥

अन्वयार्थ :- (यो) जो राजा (प्रतिकूलेषु) राज्य विरुद्ध चलने वालों को (विक्रामति) दण्ड (न) नहीं देता (सः) वह (जीवन्) जीता (अपि) भी (मृत) मरा (एव) ही [अस्ति] है ।

जो शासक पराक्रमी होकर भी दुष्टों के निग्रह में प्रवृत्त नहीं होता, वह जीवन्त भी मरे के समान है।

विशेषार्थ :- उत्साही व्यक्ति ही राज्य की बागडोर सम्हालने में समर्थ होता है । विद्वान शुक्र ने भी कहा ह कि :-

परिपन्थिषु यो राजा न करोति पराक्रमम् ।
स लोहकार भस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति ॥1॥

अर्थ :- जो भूपति विरोधियों का सामना करने में अपना पराक्रम नहीं प्रदर्शित करता वह लुहार की धौंकनी के समान सांस लेता हुआ भी मृत ही माना जाता है । उससे जीवन का प्रयोजन ही सिद्ध नहीं होता, फिर जीवित कैसे माना जाय ? नहीं माना जा सकता । माघ कवि ने कहा है :-

मा जीवन् यः परावज्ञा दुःख दग्धोऽपि जीवति ।
तस्या जननि रवास्तु जननी क्लेशकारिणी ॥1॥

अर्थ :- जो मानव मर्त्यलोक में शत्रुओं द्वारा की गई अवज्ञा-तिरस्कार को सहन करता है, उससे अन्तः करण में पीड़ित होकर भी प्रतिकार नहीं करता । उसका क्लेश पूर्ण जीवन-जीना अच्छा नहीं अपितु मर जाना ही उत्तम है । अपने जन्म से उसने व्यर्थ ही माता को जनन का दुःख दिया, उस कायर पुत्र की उत्पत्ति ही नहीं होती तो वही श्रेष्ठ होता । कहा भी है :-

या तो साधु पुरुष जन अथवा जने तो शूर ।
नहीं तो रहियो बांझड़ी मति गंवावे नूर ॥

या तो वह माता धन्य है जो यति पुरुषों को जन्म दे अथवा उसका पुत्रोत्पन्न करना सार्थक है वीर-सुभट पैदा करे। अन्यथा बन्ध्या-निःसन्तान रहना ही उत्तम है कम-से-कम सौन्दर्य तो बना रहेगा । अन्यथा व्यर्थ ही शरीर शक्ति का ह्रास होना है । कायरों का जीवन पशुवत् व्यर्थ ही जाता है । अतः मनुष्य का पराक्रमी होना अनिवार्य है :-

पुनः पराक्रम शून्य की हानि निर्देश करते हैं :-

भस्मनीव निस्तेजसि को नाम निः शङ्कः पदं न कुर्यात् ।42॥

अन्वयार्थ :- (भस्मः) राख (इव) समान (निस्तेजसि) तेज विहीन को (को नाम) कौन पुरुष (निः शङ्कः) निर्भय-निसन्देह (पदम्) पैर (न) नहीं (कुयात्) करेगा ?

अग्निविहीन भस्म के ढेर पर जिस प्रकार कोई भी निसंकोच लात मार कर निकल जाता है उसी प्रकार सत्त्व हीन-कान्ति विहीन पुरुष का भी कौन तिरस्कार नहीं करता ? अर्थात् सभी करते हैं ।

विशेषार्थ :- जो राजा पराक्रम शून्य है और राज कोष भी भरपूर नहीं है, उसका उसकी सेना ही तिरस्कार करने लगती है । प्रजा भी निर्भय होकर उसकी अवज्ञा करने से नहीं चूकती । विद्वान शुक्र ने भी कहा है :

शौर्येण रहितो राजा हीनैरप्यभिभूयते ।
भस्मराशि यथानग्निर्निशङ्कैः स्पृश्यतेऽरिभिः ॥1॥

अर्थ :- शौर्य-पराक्रम से विहीन नृपति हीन-साधारणजनों के द्वारा भी पराभूत किया जाता है, पराजित कर दिया जाता है । जिससे अग्नि निकल चुकी है उस भस्म पुञ्ज को निशंकित शत्रुओं द्वारा मर्दन कर दिया जाता है । इसी प्रकार सत्त्वविहीन राजा भी सहज ही परास्त कर दिया जाता है ।

अभिप्राय यह है कि राजा को पराक्रमी, वीर-सुभट होना अनिवार्य है । प्रभुता युक्त होने पर ही अपने उग्र पुरुषार्थ से राज्य को व्यवस्थित कर शत्रुओं का सामना करने में समर्थ हो सकता है ।

विजिगुषी राजा को अपने राज्य की समृद्धि और सुरक्षार्थ पराक्रमी के साथ समृद्ध राजकोष और विशाल सैन्य शक्ति युक्त होना अनिवार्य है ।142॥

धर्म-प्रतिष्ठा का निरूपण :-

तत् पापमपि न पापं यत्र महान् धर्मानुबन्धः ॥43॥

अन्वयार्थ :- (यत्र) जहाँ (महान्) विशालरूप में (धर्मानुबन्धः) धर्मानुष्ठान होते रहते हैं [तत्र] वहां (तत्) वह (पापम्) पाप (अपि) भी (पापम्) पाप (न) नहीं [भवति] होता है ।

यहाँ राजनीति का प्रकरण है । राजा राज्य की सुरक्षार्थ यदि दुष्टों का दमन करता है, कठोर दण्ड भी देता है-छेदन-बन्धन आदि तो भी वह पाप नहीं है क्योंकि उससे मर्यादा का रक्षण, शिष्टों का पालन और धर्म का रक्षण होता है ।

विशेषार्थ :- बाह्य में राजा का कठोर दण्ड पाप रूप दृष्टिगत होता है, परन्तु प्रजा का हित निहित होने से वह पाप नहीं धर्म ही सिद्ध होता है । माता बालक के हितार्थ बलात् उसे कटु औषधि पान कराती है, परन्तु वह अयोग्य नहीं माना जाता क्योंकि उसका अभिप्राय उसे स्वास्थ्य लाभ कराने का है न कि कष्ट पहुँचाने का । इसी प्रकार राजा द्वारा दुष्टों-अपराधियों को दण्ड विधान मर्यादा की रक्षार्थ होता है न कि उन्हें कष्ट देने का । वादरायण विद्वान ने भी कहा है :-

त्यजेद्देहं कुलस्यार्थे ग्रामस्यर्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥

पापानां निग्रहे राजा पर धर्ममवाप्नुयात् ।
न तेषां च बधंबंधाद्यैः तस्य पापं प्रजायते ॥2॥

अर्थ :- नीतिज्ञ पुरुष को अपने वंश की रक्षा को अपना शरीर का परित्याग करना उचित है । इसी प्रकार ग्राम की रक्षा को वंश, देश की परिवृद्धि के लिए ग्राम, और अपनी रक्षा के लिए पृथ्वी का त्याग करना योग्य है।

जो राजा पापियों का निग्रह करता है, उनकी मानहानि, अंगाङ्ग-छेदन-भेदन आदि का दण्ड देता है वह उत्कृष्ट धर्माधिकारी होता है । क्यों ? उन अपराधियों के अपराध का निर्मूलन करने में उसे पाप नहीं लगता, अपितु पुण्य होता है ॥2॥

राजा का कर्त्तव्य पालन करते हुए कदाच् पाप क्रियाएँ होती हैं । परन्तु उसके शुभ उद्देश्य और अभिप्रायानुसार वे पाप कोटि में न आकर पुण्य के ही कारण होते हैं । राजा भी प्रशंसनीय, यशस्वी, न्याय परायण माना जाता है ॥43॥

दुष्ट निग्रह न करने से हानि :-

अन्यथा पुनर्नरकाय राज्यम् ॥44॥

अन्वयार्थ :- (अन्यथा) न्याय न करे तो (पुनः) पुनः वह (राज्यम्) राज्य (नरकाय) नरक ले जाता है।

जो राजा दुष्टों का निग्रह न करे उन्हें पोषण का अवसर दे तो उसका राज्य नरक में ले जाने का प्रशस्त मार्ग है।

विशेषार्थ :- जो राजा सत्ताधिकारी होकर अपराधियों को दण्ड विधान न करे । शिष्टों-सदाचारियों का भरण-पोषण-रक्षण न करे तो वह नरकगामी होता है क्योंकि कर्त्तव्य च्युत है । कायर है । हारीत ने भी इस विषय में निम्न प्रकार कहा है :-

चौरादिभिर्जनो यस्य शैथिल्येन प्रपीड्यते ।
स्वयं तु नरकं याति स राजा नात्र संशयः ॥1॥

अर्थ :- जिस राजा के राज्य में सैनिक शक्ति शिथिल हो, चोरादि का आतंक प्रसरित हो, पीड़ा से प्रजा दुःखी हो, आततायियों के हमलों से जनता सताई जा रही हो वह राजा निःसन्देह नरक में प्रवेश करता है । अभिप्राय यह है कि राजा में निम्न गुण होने चाहिए :

शासक में ये जन्म से होते अतिशय तीन ।
छानबीन, विद्याविपुल, निर्णयशक्ति प्रवीन ॥3॥

कुरल.प.छे.39

अर्थ :- शासक को मुख्य तीन गुणों से युक्त होना चाहिए-1. प्रजा की सूक्ष्मता से गुण-दोषों, शिष्ट-दुष्टों की सम्यक् परख करना, 2. विद्या-विवेक चातुर्य, अर्थात् स्वयं शुभाशुभ का निर्णय करने की दक्षता और 3. नीति नैपुण्य । इन गुणों से युक्त राजा फलता-फूलता है । अन्यथा नरक की हवा खाता है । "जो सतावे और को वह सुख कभी पाता नहीं" प्रजा को सताने वाला नरक के सिवाय अन्यत्र कहाँ जावे ? कहीं नहीं ।

राज्यपद का परिणाम :-

बन्धनान्तो नियोगः ।।45।।

अन्वयार्थ :- (नियोगः) राज्याधिकार (अन्ते) अन्त में (बन्धनम्) बन्धन (ददाति) देता है ।

विशेषार्थ :- "राजेश्वरी सो नरकेश्वरी" कहावत प्रसिद्ध है । चक्रवर्ती भी षट्खण्ड का अधिपति होता है, यदि राज्य करता मरे तो नियम से नरक ही में पड़ता है । विद्वान गुरु ने भी लिखा है कि :-

न जन्म मृत्युना वाह्यं नोच्चैस्तु पतनं बिना ।
न नियोगच्युतो योगो, नाधिकारोऽस्त्यबन्धनः ॥1॥

अर्थ :- जन्म के साथ मृत्यु, उन्नति के साथ अवनति, उत्थान के साथ पतन, ध्यान के सह नियोग-विचलितता, और राज्याधिकार के साथ बन्धन का कष्ट अवश्यम्भावी होता है ।

दुष्टों से होने वाली हानि :-

विपदन्ता खल मैत्री ।।46।।

अन्वयार्थ :- (खलस्य) दुर्जन की (मैत्री) मित्रता (अन्ता) अन्ततः (विपदा) विपत्ति [भवति] होती है।

दुष्टों की संगति अन्त में दुःखदायक होती है ।

विशेषार्थ :- संगति-सहवास का मानव जीवन पर विशेष प्रभाव पड़ता है । सज्जन या दुर्जन की संगति वैसा ही अच्छा-बुरा फल देती है । कहा है :-

संगति कीजै साधु की हरै और की व्याधि ।
ओछो संगति नीच की आठों पहर उपाधि ॥

सत्पुरुषों की संगति करने से अपनी पीड़ा तो दूर होती ही है अन्य का भी दुःख निवारण होता है । खोटे-नीच व्यक्ति की संगति करने से स्व और पर को हर क्षण कष्ट दायक होता है । दुर्जनों के साथ मित्रता नहीं करनी चाहिए । श्री वल्लभदेव ने भी कहा है :-

असत्संगात् पराभूतिं याति पूज्योऽपि मानवः ।
लौहसंगाद्यतो वह्निस्ताड्यते सुघनैर्घनैः ॥1॥

अर्थ :- नीच पुरुषों के साथ सहवास करने से पूज्य पुरुष भी तिरस्कार के पात्र हो जाते हैं । लोहे की संगति करने से निर्दोष अग्नि को भयंकर घनों की मार सहनी पड़ती है । हथौड़े की मार से कुटती है ।

नीतिकार कहते हैं :-

अगुरु पर्वतमध्ये निम्बबीजं प्रतिष्ठितम् ।
सिक्तो घटसहस्त्रेण निम्बः किं मधुरायते ॥13॥

सं श्लो. सं. पृ. 406.

अर्थ :- अगुरु-चन्दन के शैल के मध्य में निम्बोरी को बोने पर और हजारो मधुर घटों से सिंचन करने पर भी क्या उसका फल मधुर होगा ? कभी नहीं । उसी प्रकार दुर्जन के सहवास से कभी भी सुख-शान्ति नहीं मिल सकती । और भी कहते हैं :-

दुर्जनः परिहर्त्तव्यो विद्यया भूषितोऽपि सन् ।
मणिनालंकृतः सर्पः किमसौ न भयङ्करः ॥14॥

अर्थ :- विद्या से अलंकृत भी दुर्जन को त्याग देना चाहिए क्या मणि से युक्त सर्प विषधर नहीं होता ? होता ही है । अतः सत्संगति ही करने योग्य है ।

स्त्रियों में विश्वास करने से हानि :-

मरणान्तः स्त्रीषु विश्वासः ।47॥

अन्वयार्थ :- (स्त्रीषु) स्त्रियों में (विश्वासः) विश्वास करना (मरणान्तः) मृत्यु के लिए अन्त में सिद्ध होता है।

विद्वान विष्णु शर्मा लिखता है कि :-

नीयमानः खगेन्द्रेण नागः पौण्डरीकोऽब्रवीत् ।
स्त्रीणां गुह्यमाख्याति तदन्तं तस्य जीवितम् ॥1॥

अर्थ :- गरुड़ के द्वारा लिए जाने वाले पुण्डरीक नाम के सर्प ने कहा कि जो स्त्रियों में विश्वास करता है-अपनी गुप्त बात कहता है, उसकी मृत्यु निश्चित है । अतएव सज्जनों को महिलाओं के प्रति विश्वास्त नहीं रहना चाहिए ।

॥ ० ॥

इति श्री प.पू. प्रातःस्मरणीय विश्ववंद्य चारित्र चक्रवर्ती मुनिकुञ्जर समाधि सम्राट् आचार्य श्री आदिसागर जी अंकलीकर के पट्टशिष्य श्री प. पू. महातपस्वी दिगम्बराचार्य, तीर्थभक्त शिरोमणि आ. श्री महावीर कीर्ति जी महाराज संघस्था, श्री प. पू. कालिकालसर्वज्ञ आचार्य श्री विमल सागर जी की शिष्या ज्ञानचिन्तामणि प्रथम गणिनी आर्यिका श्री विजयामती द्वारा विजयोदय टीका हिन्दी भाषा में प.पू. उग्रतपस्वी सम्राट् सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य श्री सन्मतिसागर जी महाराज के चरण सान्निध्य में "आन्वीक्षिकी सम्मुद्देश" छठवां समाप्त हुआ ॥ 23-8-94.

7

अथ त्रयी समुद्देश प्रारम्यते

त्रयी विद्या का स्वरूप :-

चत्वारो वेदाः, शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं छन्दो ज्योतिरिति षडङ्गा नीतिहास, पुराण-मीमांसा-न्याय-धर्म शास्त्रमिति चतुर्दश विद्या स्थानानि त्रयी ॥1॥

अन्वयार्थ :- (चत्वारः) चार (वेदाः) प्रथमानुयोग, करण, चरण और द्रव्य, (शिक्षा) अध्ययन (कल्पः) क्रिया-कलाप (व्याकरणम्) शब्दादि की व्युत्पति का साधन ग्रन्थ (निरुक्तम्) यौगिकादि (छन्दम्) शास्त्र (ज्योतिः) नक्षत्रादि के आधार से ज्ञान कराने वाला शास्त्र ।

चार वेदों के छ अंग हैं - 1. शिक्षा 2. कल्प, 3. व्याकरण 4. निरुक्ति 5. छन्द और 6. ज्योतिष ।

विशेषार्थ :- स्वर व्यञ्जनादि वर्णों का शुद्ध उच्चारण, शुद्धलिपिबद्धता करने वाली कला शिक्षा कहलाती है । आचार्य श्री जिनसेन स्वामी ने लिखा है :-

श्रुतं सुविहितं वेदो द्वादशाङ्गमकल्मषम् ।
हिंसोपदेशि यद्वाक्यं न वेदोऽसौ कृतान्तवाक् ॥1॥

पुराणं धर्मशास्त्रं च तत् स्याद्वधनिषेधि यत् ।
बधोपदेशि यत्तत्तु ज्ञेयं धूर्त प्रणेतृकम् ॥2॥

आदिपु.पर्व.39.श्लो.22,23.

अर्थ :- निर्दोष अहिंसा धर्म का निरूपक आचाराङ्ग-आदि द्वादशाङ्ग श्रुत-शास्त्र जो कि उक्त प्रथमानुयोग आदि चार अनुयोगों में विभाजित है उसे वेद कहते हैं । परन्तु प्राणी हिंसा का विधायक-समर्थक वाक्य वेद नहीं कहा जा सकता है । उसे तो कृतान्त वाणी समझना चाहिए ।

इसी प्रकार जो प्राणी हिंसा के निषेधक शास्त्र हैं वे ही पुराण और धर्म शास्त्र है । इससे विपरीत जीव हिंसा समर्थक शास्त्र-धूर्तों की रचनाएँ हैं ।

कल्प :- धार्मिक आचार-विचार, क्रिया-काण्डों-गर्भाधानादि संस्कारों के निरूपक शास्त्र को कल्प कहते हैं । गर्भादि-संस्कार निम्न प्रकार हैं :-

ताश्च क्रियास्त्रिधाम्नाता श्रावकाध्यायसंग्रहे ।
सद्दृष्टिभिरनुष्ठेया महोदर्का: शुभावहा: ॥1॥

गर्भान्वय क्रियाश्चैव तथा दीक्षान्वय क्रिया: ।
कर्त्रन्वय क्रियाश्चेति तास्त्रिधैवं बुधैर्मता: ॥2॥

आधानाद्यास्त्रिपञ्चाशत्ज्ञेया: गर्भान्वयक्रिया: ।
चत्वारिंशदथाष्टौ च स्मृता दीक्षान्वयक्रिया: ॥3॥

कर्त्रन्वयक्रियाश्चैव सप्त तज्ज्ञै: समुच्चिता: ।
तासां यथाक्रमं नामनिर्देशोऽयमनूद्यते ॥4॥

आदिपुराणे भगवज्जिनसेनाचार्य: पर्व 38 श्लोक 50 से 53 ।

अर्थ :- श्रावकाचार में क्रियाएँ तीन प्रकार की कहीं हैं - 1. गर्भान्वय क्रिया, 2. दीक्षान्वय और 3. कर्त्रन्वय क्रिया । उनमें गर्भाधानादि के भेद से 53 क्रियाएँ हैं । दीक्षान्वय क्रियाएँ 48 प्रकार की है । कर्त्रन्वय क्रियाएँ सात प्रकार की हैं । उनके नाम अनुक्रम से कहते हैं । नामादि आदि पुराण से ज्ञात करें ।

3. व्याकरण :- जिसके माध्यम से भाषा का शुद्ध लिखना, पढ़ना, बोलना ज्ञात हो उसे व्याकरण शास्त्र कहते हैं।

4. निरुक्ति :- यौगिक, रुढ़ि एवं योगरुढ़ि शब्दों के प्रत्यय, प्रकृति आदि का विश्लेषण करके प्राकरणिक द्रव्य पर्यायात्मक या अनेक धर्मात्मक पदार्थ के निरुपण करने वाले शास्त्र को निरुक्ति कहते हैं ।

5. छन्द :- पद्यों वर्णवृत्त और मात्रवृत्त छन्दों के लक्ष्य और लक्षण के निर्देश करने वाले शास्त्र को छन्द शास्त्र कहते हैं ।

6. ज्योतिष :- जिसमें ग्रहों की गति, और उससे होने वाले विश्व पर शुभ-अशुभ फलों का वर्णन हो और भी प्रत्येक कार्य के सम्पादन के योग्य शुभ समय को बताने वाली विद्या को ज्योतिर्विद्या कहते हैं । इस प्रकार ये 6 वेदाङ्ग हैं ।

इतिहास, पुराण, मीमांसा (विभिन्न और मौलिक, सिद्धान्त, बोधक, वाक्यों पर शास्त्र विरुद्ध युक्तियों द्वारा विचार करने पर समीकरण करने वाली विद्या) न्याय (प्रमाण और नयों का विवेचन करने वाला शास्त्र) और धर्म शास्त्र (अहिंसा धर्म के पोषक तथा व्यावहारिक रूप का विवेचन करने वाला उपासकाध्ययन शास्त्र) इन 14 विद्या स्थानों को त्रयी विद्या कहते हैं । राजाओं को इनका ज्ञान होना ही चाहिए ॥1॥

त्रयी विद्या से होने वाला लाभ :-

त्रयीतः खलु वर्णाश्रमाणां धर्माधर्म व्यवस्था ।।2।।

अन्वयार्थ :- (खलु) निश्चय से (त्रयीतः) त्रयी विद्या द्वारा (वर्णा-श्रमाणाम्) वर्णों और आश्रमों की (धर्माधर्मव्यवस्था) धर्म-अधर्म की व्यवस्था [भवति] होती है ।

त्रयी विद्या चारों वर्णों और चारों आश्रमों सम्बन्धी धर्म एवं अधर्म की व्यवस्था करती है ।

विशेषार्थ :- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं । ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति ये चार आश्रम हैं । इनके कर्त्तव्य धर्म, अकर्त्तव्य अधर्म का ज्ञान कराने वाली त्रयी विद्या है । यशस्तिलक चम्पू में आचार्य कहते हैं --

जातिर्जरा मृतिः पुंसांत्रयी संसृतिकारणम् ।
एषा त्रयी यतस्त्रय्या क्षीयते सा त्रयी मता ।।1।।

अर्थ :- जिस विद्या के द्वारा संसार के कारणभूत जन्म, जरा और मरण इन तीनों के नाश का वर्णन कर्त्तव्य, जिसके द्वारा ज्ञात हो वह त्रयी विद्या है । चूंकि जन्म, जरा और मरण इन तीनों का निरुपण होने से इसे "त्रयी" कहा जाता है।

निष्कर्ष यही है कि प्रत्येक वर्ण व प्रत्येक आश्रम में विभज्य मानव समाज अपने-अपने योग्य कर्त्तव्यों में संलग्न और अकर्त्तव्यों से विरत होगा तो धर्म से प्रवृत्त और अधर्म से विरक्त होकर जन्म, वृद्धत्व और मरण से मुक्त होगा। यही निर्विरोध है ।।2।।

त्रयी-विद्या से लाभ :- लौकिक लाभ :-

स्वपक्षानुराग प्रवृत्या सर्वे समवायिनो लोक व्यवहारेष्वधिक्रियन्ते ।।3।।

अन्वयार्थ :- (स्वपक्षानुराग) अपने पक्ष के अनुराग से (प्रवृत्या) प्रवृत्ति द्वारा (सर्वे) सम्पूर्ण (समवायिनो) वर्णाश्रम (लोक व्यवहारेषु) लोक व्यवहार में (अधिक्रियन्ते) अधिकार प्राप्त करते हैं ।

विशेषार्थ :- समस्त वर्ण और आश्रमों में विभक्त प्रजा के लोग इस त्रयी विद्या के द्वारा धर्म-अधर्म, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का भान-ज्ञान कर सत्कार्यों में प्रवृत्ति और असत्कार्यों से निवृत्ति करते हैं । तथा शुभ आचार-विचारों द्वारा आत्मसिद्धि में प्रवृत्त होते हैं ।

धर्मशास्त्र और स्मृत्ति ग्रन्थों की प्रामाणिकता-निर्देश :-

धर्म शास्त्राणि स्मृतयो वेदार्थ संग्रहाद्वेदा एव ।।4।।

अन्वयार्थ :- (धर्मशास्त्राणि) सिद्धान्त सार (स्मृतयः) आचार सारादि (वेदार्थ) वेद के अर्थ का (संग्रहात्) संग्रह करने से (वेदा) वेद (एव) ही [भवंति] होते हैं ।

सिद्धान्त ग्रन्थ-धर्मशास्त्र एवं स्मृत्ति-आचार ग्रन्थ वेदों का ही समर्थन करते हैं अतः उन्हीं के समान प्रमाण हैं ।

विशेषार्थ :- चारों अनुयोगों के समर्थक व अनुकूल विषय प्रतिपादक अन्य सिद्धान्त व आचार-विचार सम्बन्धी ग्रन्थ भी प्रमाणभूत हैं । क्योंकि वे भी उन्हीं (चारों अनुयोगों के) अंशभूत हैं । यथा सागर के जल को लोटे में भरने पर सागर नहीं है और असागर भी नहीं कहा जा सकता, फिर क्या है ? सागर का अंश मात्र है । इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए । आचार्य श्री सोमदेव स्वामी ने अपनी उदारचित्तवृत्ति का परिचय यशस्तिलक चम्पू में निम्न प्रकार चित्रित किया है :-

सर्व एव हि जैनानां प्रमाण लौकिकी विधिः ।
यत्र सम्यक्तत्व हानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ।।1।।

अर्थ :- आर्हद्दर्शन-जिनदर्शन के मानने वालों ने उन समस्त लौकिक आचार-विचारों को तथा वेद और स्मृति ग्रन्थों को उतने अंशों में प्रमाण स्वीकृत किया है, जितने अंश में उनके सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र में क्षति नहीं होती । अर्थात् उनमें दोष उत्पन्न नहीं होता है ।4॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के समान कर्त्तव्य का निर्देश :-

अध्ययनं यजनं दानं च विप्रक्षत्रियवैश्यानां समानो धर्मः ।।5॥

अन्वयार्थ :- (अध्ययन) शास्त्र पढ़ना (यजनम्) देवपूजा (च) और (दानम्) सत्पात्रदान ये (विप्रक्षत्रिय वैश्यानाम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के समान कर्त्तव्य हैं ।

विशेषार्थ :- ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन वर्ण उत्तम कहे हैं । इन्हें दीक्षा-जिनलिंग धारण करने का एवं गृहस्थावस्था में षट्कर्म पालन का समान अधिकार जिनागम में प्रदत्त है । नीतिकार कामन्दक ने भी कहा है कि :-

इज्याध्ययन दानानि यथाशास्त्रं सनातनः ।
ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यानां सामान्यो धर्म उच्यते ।।

कामन्दकीय नीति सार श्लो. 18 पृ. 18

अर्थ :- पूजा करना, शास्त्रों का अध्ययन करना और दान प्रदान करना ये ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों के समान धर्म हैं ।

हारीत विद्वान ने भी इसी का समर्थन किया है :-

वेदाभ्यासस्तथा यज्ञाः स्वशक्त्या दानमेव च ।
विप्र क्षत्रिय वैश्यानां धर्मः साधारणः स्मृतः ।।1॥

अर्थात् – वेदों का अभ्यास करना, यज्ञ ईश्वर भक्ति करना एवं अपनी शक्ति के अनुसार यथायोग्य दान देना ये ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के साधारण-समान धर्म कहे गये हैं ।

द्विजातियों का निर्देश :-

त्रयो वर्णाः द्विजातयः ।।6।।

अन्वयार्थ :- [एते] ये (त्रयः) तीनों (वर्णाः) वर्ण (द्विजातयः) द्वि जाति [कहलाते हैं] ।

विशेषार्थ :- ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों का जन्म से शरीर उत्पन्न है ही । इसके अतिरिक्त गर्भाद्यानादि संस्कारों से भी संस्कृत किया जाता है । अतः आगम में इन्हें द्विजाती कहा है । जाति का अर्थ जन्म है । एक बार स्वभाव से जन्म हुआ और पुनः संस्कारों द्वारा पुनर्जन्म हुआ । अतः 'द्विज' कहा जाता है ।

भगवज्जिन सेनाचार्य ने भी कहा है कि :

द्विर्जातो हि द्वि जन्मेष्टः क्रियातो गर्भतश्च यः ।
क्रियामन्त्रवहीनस्तु केवलं नाम धारकः ।।1।।

आ.पु.प.38श्लो.48

अर्थ :- एक बार गर्भ से और दूसरी बार गर्भाधानादि संस्कारों से और उनमें प्रयोग किये जाने वाले मन्त्रों से शून्य संस्कार हीन हैं वे केवल नाम से ब्राह्मण हैं - वास्तविक नहीं हैं ।।6।।

ब्राह्मणों के कर्त्तव्यों का विवरण :-

अध्यापनं याजनं प्रतिग्रहो ब्राह्मणानामेव ।।7।।

अन्वयार्थ :- (ब्राह्मणानाम्) ब्राह्मणों का (कर्त्तव्यम्) कार्य (अध्यापनम्) पढ़ाना (याजनम्) पूजा करवाना (प्रतिग्रहः) दान लेना (एव) ही [अस्ति] है ।

गृहस्थों को शास्त्राध्ययन कराना, पूजा विधानादि कराना एवं स्वयं दान लेना ये ब्राह्मणों के निजी कर्त्तव्य हैं । अर्थात् जीविकोपार्जन के साधन हैं ।

श्री भगवज्जिनसेनाचार्य जी ने कहा है :-

अधीत्यध्यापने दानं जिघृक्षेज्येति तत्क्रियाः 1/2आ.पु.श्लो.246प.16

अर्थ :- शास्त्रों का पढ़ना, पढ़ाना, दान देना-लेना और भगवद् पूजादि करना-कराना ये विप्रों के कर्त्तव्य हैं ।

नीतिकार कामन्दक ने भी लिखा है :-

याजनाध्यापने शुद्धे विशुद्धाश्च प्रतिग्रहः।
वृत्तित्रयमिदं प्राहुर्मुनियो ज्येष्ठवर्णिनः ।।

का.नीतिसार

अर्थ :- ईश्वर भक्ति-पूजा, शास्त्रों का पढ़ाना और विशुद्ध शिष्ट पुरुष से दान ग्रहण करना ये तीन प्रकार के कार्य विप्रों की जीविका के साधन मुनियों ने कहे हैं ।

भगवज्जिनसेनाचार्य ने भी लिखा है :-

इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः ।
श्रुतोपासक सूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ।।1।।

आ.पु.प.38श्लो.24

अर्थ :- विप्रों के धार्मिक एवं जीवन यापन के कर्त्तव्य व साधन महाराज भरत ने उपासकाध्ययन के आधार पर इस प्रकार कहे हैं :-

देव पूजा, वार्ता-विशुद्ध परिणामों से कृषि और व्यापार करना, पात्रों को दान देना, शास्त्र स्वाध्याय, संयम-सदाचार और तपश्चर्या करना इन 6 सत्कर्त्तव्यों का उपदेश दिया है ।।

हारीत विद्वान ने भी कहा है :-

यजनं याजनं चैव पठनं पाठनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहोपेतं षट्कर्माणि द्विजन्मनाम् ।।1।।

अर्थ :- ईश्वर भक्ति करना-कराना, शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन, दान देना-लेना ये 6 ब्राह्मणों के कर्त्तव्य हैं ।

क्षत्रियों के कर्त्तव्य वर्णन :-

भूत संरक्षणं शस्त्राजीवनं सत्पुरुषोपकारो दीनोद्धरणं रणेऽपलायनं चेति क्षत्रियाणाम् ।।8।।

अन्वयार्थ :- (भूत) प्राणी (संरक्षणं) रक्षा (शस्त्रेण) शस्त्रधारण से (आजीविनम्) जीविका चलाना (सत्पुरुषोपकारः) सज्जनों का उपकार करना (दीनानाम्) दीनों का (उद्धरणम्) भलाई करना (रणे) संग्राम में (अपलायनम्) पीठ नहीं दिखाना (च) और (अपलापनम्) पराजित हो नहीं भागना (इति) ये (क्षत्रियानाम्) क्षत्रियों के कर्त्तव्य हैं ।

जिसको जिस वस्तु की आवश्यकता है, जो अभावग्रस्त है उन्हें उसी प्रकार की सामग्री जुटा देना क्षत्रियों का कर्त्तव्य है ।

विशेषार्थ :- प्राणियों की रक्षा करना, शस्त्रविद्या से आजीविका चलाना, शिष्टपुरुषों का पालन करना, अन्धे, लूले-अपाहिजों-दीन दुखियों की सेवा करना, युद्ध में मर मिटना, हार कर नहीं भागना यह क्षत्रियों का कर्त्तव्य है।

पाराशर विद्वान ने भी कहा है :-

क्षत्रियेण मृगाः पाल्याः शस्त्रहस्तेन नित्यशः ।
अनाथोद्धरणं कार्यं साधूनां च प्रपूजनम् ।।1।।

अर्थ :- क्षत्रिय वीर सुभटों को शस्त्रधारण कर नित्य ही मूक प्राणियों-पशु-पक्षियों की रक्षा करनी चाहिए न कि शिकार दुर्व्यसन द्वारा उनके प्राणों का हनन करे । अनाथों का उद्धार करना और साधु-सत्पुरुषों-महात्माओं की पूजा भक्ति करना चाहिए । क्षत्रियों का यही कर्त्तव्य है धर्म है ।

श्री भगवज्जिन सेनाचार्य ने भी कहा है कि :-

क्षत्त्राणे नियुक्ता हि क्षत्रियाः शस्त्रपाणयः ।। 1/2आ.पु.

अर्थ :- इतिहास के आदिकाल में अर्थात् कर्मभूमि के प्रारम्भ में आदि ब्रह्मा श्री ऋषभदेव तीर्थङ्कर ने अपने हाथों शस्त्र धारण करने वाले वीर क्षत्रिय सुभट पुत्रों को अन्यायी (आततायी) दुष्ट पुरुषों से प्रजा की रक्षार्थ नियुक्त किया गया था । कहा है :-

क्षत्रियाः शस्त्र जीवित्वमनुभूयतदाऽभवन् ।। 1/2 आदि पु.पर्व16.

भगवान ऋषभदेव के राज्यशासनकाल में क्षत्रिय लोग शस्त्रों से जीविका करने वाले शस्त्र धारण कर सेना में प्रविष्ट होने वाले होते थे । क्षत्रिय का रक्षण करे यही कर्त्तव्य है ।

आचार्य श्री ने यशस्तिलक चम्पू में लिखा है :-

भूत संरक्षणं हि क्षत्रियाणां महान् धर्मः, स च निरपराध प्राणिबधे निराकृतः स्यात् ।। पद्य में :-

यः शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुः स्यात् ।
यः कण्टको वा निजमण्डलस्य ।।

अस्त्राणि तत्रैव नृपा क्षिपन्ति ।
न दीनकानीनशुभाशयेषु ।।1।।

अर्थ :- प्राणियों की रक्षा करना क्षत्रियों का महान् धर्म है, परन्तु निरपराध प्राणियों के वध करने से वह नष्ट हो जाता है ।

युद्ध क्षेत्र में जो शत्रुओं का दमन करने को कटिबद्ध होते हैं । वे क्षत्रिय वीर पुरुष कहलाते हैं । वे राज्य के कण्टकों-दुराचारी, पापी और अन्यायी पुरुषों का दमन करते हैं, क्षत्रियों का खड्ग उन्हीं आततायिओं पर उठता है । बेचारे दीन-अनाथों, दुखियों पर नहीं उठता ।

निरर्थक हिंसादि पापों का त्याग करने वाले क्षत्रिय वीर पुरुषों को जैनाचार्यों ने व्रती-धार्मिक स्वीकार किया

है । इन्हीं क्षत्रिय वीर पुरुषों के वंश में ही अहिंसा के अवतार-मूल-प्रवर्तक तीर्थङ्कर 24 आदि उत्पन्न हुए हैं। क्योंकि 24 तीर्थङ्कर, 12 चक्रवर्ती, 9 नारायण 9 प्रतिनारायण 9 बलभद्र, ये 63 शलाका पुरुष सभी क्षत्रिय थे। इन सभी ने न्यायानुसार धर्म का प्रचार और अधर्म का संहार किया । क्षत्रियों की तलवार मूक या दुर्बलों पर नहीं चलती ।

श्रीसेन राजा संसार विरक्त हो जिनदीक्षा धारण को प्रयाण किया उस समय उसने अपने वीर पुत्र श्रीवर्मा-जो चन्द्रप्रभु भगवान की पूर्व पर्याय को निम्न प्रकार से छात्र धर्म का उपदेश दिया था, जिसे श्री वीरनन्दि आचार्य श्री ने चन्द्रप्रभ चरित्र में बड़ी ही ललित, हृदयस्पर्शी भाषा में मनोहारिणी पद्यरचना में गुम्फित किया है । प्राकर्णिक उपयुक्त समझ कर हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं :-

भवानपास्त व्यसनो निजेन धाम्नाब्धि मर्यादाभिमामिदा नीम्
महीमशेषामपहस्तितारिवर्गोदयः पालयतु प्रशान्तः ।।1।।

यथा भवत्यभ्युदिते जनोऽयमानन्दमायाति निरस्तखेदः ।
सहस्त्ररश्माविव चक्रवाको वृत्तं तदेवाचर चारचक्षुः ।।2।।

वाञ्छन्विभूतीः परम प्रभाया मोद्वीविजस्त्वं जनमात्मनीनाम् ।
जननुरागं प्रथमं हि तासां निबन्धनं नीतिविदो वदन्ति ।।3।।

समागमो निर्व्यसनस्य राज्ञः स्यात् सम्पदा निर्व्यसनत्वमस्य ।
वश्ये स्वकीये परिवार एव तस्मिन्नवश्ये व्यसनं गरीयः ।।4।।

विधिस्सुरेनं तदिहात्मवश्यं कृतज्ञतायाः समुपैहि पारम् ।
गुणैरुपेतोऽप्यपरैः कृतघ्नः समस्तमु द्वेजयते हि लोकम् ।।5।।

धर्माविरोधेन नयस्व वृद्धिं त्वमर्थकामौ कलिदोषमुक्तः ।
युक्त्या त्रिवर्गं हि निषेवमाणो लोक द्वयं साधयति क्षितीशः ।।6।।

बृद्धानुमत्या सकलं स्वकार्यं सदा विधेहि प्रहतप्रमादः ।
विनीयमानो गुरुणा हि नित्यं सुरेन्द्र लीलां लभते नरेन्द्रः ।।7।।

निग्रहतो बाधक करान् प्रजानां भृत्यांस्ततोऽन्यान्नयतोऽभिवृद्धिम् ।
कीर्तिस्तथाशेष दिगन्तराणि व्याप्नोतु वन्दिस्तुत कीर्तनस्य ।।8।।

कुर्याः सदा संवृत्त चित्तवृत्तिः फलानुमेयानि निजे हितानि ।
गूढात्म मन्त्रः परमन्त्रभेदी भवत्यगम्यः पुरुषः परेषाम् ।।9।।

तेजस्विनः पूरयतोऽखिलाशा भूभृच्छिरः शेखरतां गतस्य ।
दिनाधिपस्येव तथाऽपि भूयात् कर प्रपातो भुवि निर्विबन्धः ।।10 ॥

इति क्षितीशः सह शिक्षयासौविश्राणयामास सुताय लक्ष्मीम् ।
कोऽपि प्रतीयेष गुरुपरोधात् पितुः सुपुत्रो ह्यनुकूलवृत्तिः ।।11 ॥

अर्थ :- हे वत्स ! यदि तुम महान् बनना चाहते हो तो, समस्त दुर्व्यसनों का त्याग कर, अपने तेज से, सत्त्वरूप सागर की मर्यादा की रक्षा करना, सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डल को शत्रुदल से रहित कर पालन करना । सागर पर्यन्त पृथ्वी के रक्षक बनो ।।1 ॥

जिस प्रकार चन्द्रवलोकन कर चक्रवाक् पक्षी प्रसन्न होता है, उसी प्रकार आपके अभ्युदय से प्रजा आनन्दानुभव करे। इस व्यवस्था के लिए अपने गुप्तचर नियुक्त करना । प्रजा को खेद न हो इस प्रकार का आचरण करना । अपने सेवकों को चक्षु बनाकर रखना ।।2 ॥

हे तात् ! यश वैभव की इच्छा से तुम प्रजा को कष्ट नहीं पहुँचाना । अपने हितैषियों को प्रसन्न रखना। क्योंकि नीति विशारदों का मन्तव्य है कि प्रजा को खुश रखना-अपने प्रति अनुरक्त बनाना, प्रेम का व्यवहार करना चाहिए यही वैभव का मुख्य हेतू है ।।3 ॥

जो भूपाल विपत्ति रहित होता है, उसे नित्य ही अनायास सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं । जिस राजा का अपना परिकर वशी है, उसे कभी भी विपत्तियाँ परास्त नहीं कर सकतीं । यदि स्वयं का परिवार अधिकार में न हो तो बहुत सी विपत्तियाँ आ घेरती हैं ।।4 ॥

अपने कुटुम्ब को वशीभूत करने का उपाय सद्व्यवहार है । सबके प्रति कृतज्ञ रहना, सद्गुणों को आश्रय बनाना। कृतघ्नता बहुत खतरनाक है, अनेकों गुण रहने पर भी कृतघ्न के अनेकों शत्रु बन जाते हैं ।।5 ॥

हे सौम्यपुत्र ! तुम कलिकाल के दोषों से अलिप्त रहना । धर्म की रक्षा व प्रतिपालना करते हुए 'अर्थ' और 'काम' की वृद्धि करना । युक्तिपूर्वक जो राजा त्रिवर्ग-धर्म, अर्थ और काम का सेवन करता है वह उभय लोक में सुखी रहता है। वर्तमान में यशस्वी होकर आनन्दानुभव करता है और परलोक में भी स्वर्गादि सुख पाता है । ।6 ॥

अपने से बड़े वृद्ध मन्त्री, पुरोहित आदि से सलाह-परामर्श कर बड़ी सावधानी से राज-काज व्यवस्था करना। गुरुजनों-उपाध्यायों की शिक्षा प्राप्त कर नरेश और वृहस्पति का शिक्षण प्राप्त सुरेश समान वैभव को प्राप्त करते हैं। अर्थात् नरेन्द्र भी सुरेन्द्र समान सम्पदा प्राप्त कर सुखी होता है ।।7 ॥

प्रजा को सताने वाले-कष्टदायी सेवकों को दण्ड देकर प्रजा के अनुकूलों को दान-सम्मान देकर पोषण करना। इस नीति से वन्दीजन तुम्हारा गुण कीर्तन करेंगे । इस प्रकार तुम्हारा धवलोज्वल यश दिग्दिगन्त व्यापी हो जायेगा ।।8 ॥

राजा को अपनी मनोवृत्ति प्रकाशित नहीं करना चाहिए । तुम सदैव मनोऽभिलाषा को छिपाये रखना । कार्य सम्पादन के पूर्व यह प्रकट नहीं हो कि तुम क्या करना चाहते हो । गुप्त नीति का आश्रय लेना । क्योंकि जो पुरुष अपने मन्तव्य को प्रच्छन्न रखते हैं और शत्रु के अभिप्राय को फोड-तोड कर पता लगाते हैं-मन्त्रभेद कर लेते हैं, वे शत्रुओं के लिए सदैव अगम्य बने रहते हैं ।।9॥

जिस प्रकार सूर्य समस्त आशाओं-दिशाओं अपने तेज-प्रताप से परिपूर्ण कर व्याप्त रहता है, तथा भूभृत-पर्वत में उनका अलंकार रूप रहता है, उसकी किरणें निर्बाध पृथ्वी पर क्रीडा करती हैं उसी प्रकार तुम भी तेजस्वी होकर समस्त प्रजा की आशाओं की पूर्ति करना, एवं भूभृत-राजाओं के शिरोमणि मुकुट बनना । तुम्हारा टैक्स कर बाधा रहित भू पर व्याप्त हो-अनिवार्य हो ।।10॥

इस प्रकार न्याय-राजनीति की शिक्षा के साथ राजा ने अपने सुयोग्य पुत्र श्रीवर्मा को राज्य प्रदान किया । उसने भी विनम्र हो पिता के अनुरोध से उसे स्वीकार किया । सुपुत्र वही है जो पिता की आज्ञानुसार कर्त्तव्य पालन करे ।।11॥

इस प्रकार सुनिश्चित होता है कि शास्त्रों का अध्ययन करना, भगवद्भक्ति करना, पात्रदान देना साथ ही प्राणिरक्षादि सत्कर्तव्य क्षत्रियों का धर्म है ।।8॥

वैश्यों का धर्म निर्देश करते हैं :-

वार्ता जीवन मावेशिकम्पूजनं सत्रप्रपा पुण्याराम दयादानादि निर्माणणं च विशाम् ।।9॥

अन्वयार्थ :- (वार्ता) व्यापार (जीवनम्) जीवन का साधन (आवेशिक पूजनम्) निष्कपट भगवद् पूजा (सत्र) सदावर्त (प्रपा) प्रयाऊ (पुण्याराम) शिक्षालयादि (च) और (दयादानादि) करुणादान आदि (विशाम्) वैश्यों को (कर्त्तव्य) करना चाहिए ।

वैश्यों का धर्म कृषि-खेती, पशुपालन, व्यापार द्वारा जीवन निर्वाह, निश्छल प्रभु भक्ति, अन्नदान, जल दान, प्याऊ लगाना अन्य भी कन्याविद्यालय, विधवाश्रम, बगीचा बनवाना, दानशालाएँ स्थापित कराना ये वैश्यों के कर्त्तव्य हैं ।

विशेषार्थ : श्री जिनसेनाचार्य जी ने इस सम्बन्ध में कहा है :-

इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः ।
श्रुतोपासक सूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ।।1॥
वैश्याश्च कृषि वाणिज्य पशुपाल्योपजीविनः । 1/2

आदि पुराणे ।।

अर्थ .- तीर्थङ्कर भगवान आदि पञ्चपरमेष्ठियों की विधिवत् पूजा करना, शुद्ध वृत्ति से कृषि करना, पशुपालन करना, न्यायोचित व्यापार करना, सत्पात्रदान देना, सर्वज्ञप्रणीत आगम का अध्ययन करना, इन्द्रिय व मन को संयत रखना, षट्काय जीवों का रक्षण करना, तप करना, श्रुत की उपासना करना, सूत्रानुसार प्रवृत्ति रखना ये वैश्यों के

कर्त्तव्य हैं । ये उपासकाध्ययन सूत्र के अनुसार कथित हैं ।।1।।

वैश्यों का कर्त्तव्य कृषि, व्यापार और पशुपालन द्वारा जीवन निर्वाह करना है । 1/2

शुक्र विद्वान ने भी इस विषय में कहा है :-

कृषिकर्म गवां रक्षा यज्ञाद्यं दम्भवर्जितम् ।
पुण्यानि सत्रपूर्वाणि वैश्यवृत्तिरुदाहृता ।।1।।

अर्थ :- खेती-कृषि, गौरक्षा, दम्भ-कपट त्याग कर ईश्वर भक्ति करना, अन्नदान-सदावर्त आदि पूर्व कार्यों को करना वैश्यों की वृत्ति कही जाती है ।

सारांश यह है कि वैश्यों को उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त अन्य भी कार्य धर्मार्थ करने योग्य हैं ।

शूद्रों के कर्त्तव्य कहते हैं :-

त्रिवर्णोपजीवनं, कारु कुशीलव कर्म पुण्यपुटवाहनं च शूद्राणाम् ।।10।।

अन्वयार्थ :- (शूद्राणाम्) शूद्रवर्ण के (त्रिवर्णोपजीविनम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्ण की सेवा करना (कारुकुशीलव कर्म) चित्र, गीत, नृत्य, भाट का कार्य (च) और (पुण्यपुटवाहनम्) भिक्षुकों की सेवादि।

शूद्रों का अपना कर्त्तव्य तीनों वर्णों की सेवा सुश्रुषा करना है । शिल्पकला-चित्र कलादि, गीत, नृत्य और वादित्र बजाना, भाट-चारण आदि का काम करना एवं भिक्षुकों की सेवा करना है ।।10।।

विशेष :- पाराशर विद्वान ने शूद्रों का कर्म निम्न प्रकार कहा है :-

वर्ण त्रयस्य शुश्रुषा नीच चारण कर्म च ।
भिक्षूणां सेवनं पुण्यं शूद्राणां न विरुद्धयते ।।1।।

अर्थ :- ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों की सेवा - शुश्रुषा करना, शिल्पकला, गान विद्या, नृत्यकला, वाद्य वादन आदि से अपना जीवन निर्वाह करना चाहिए । यथा योग्य अन्य दान-पूजा करना अयोग्य नहीं हैं । परन्तु मर्यादानुसार योग्य हैं ।

भगवज्जिनसेनाचार्य जी कहते हैं :-

वर्णोत्तमेषु शुश्रूषा तद्वृत्तिनैकधा स्मृता 1/2'' आ.पु.प.16.

अर्थात् विप्र, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन उत्तम वर्ण कहे जाते हैं, इनकी सेवा करना शूद्रों का कर्त्तव्य है और शिल्पकला एवं चित्रकला भी इनकी जीविका के साधन हैं ।

उत्तम शूद्रों-प्रशस्त या सच्छूद्रों का निरूपण :-

सकृत् परिणयन व्यवहाराः सच्छूद्राः ।।11।।

अन्वयार्थ :- (सकृत्) एक बार ही (परिणयन) कन्या विवाह (व्यवहाराः) व्यवहार करने वाले (सच्छूद्राः) सत्-प्रशस्त शूद्र [सन्ति] हैं ।

जिनके कन्याओं का एक ही बार विवाह करने की पद्धति है उन्हें सच्छूद्र-उत्तम शूद्र कहते हैं ।

श्री जिनसेनाचार्य ने शूद्रों के भेद करते हुए कहा है वह इसी ग्रन्थ के "विद्यावृद्ध समुद्देश" की 6वीं नीति में वर्णित हैं वहाँ देखें । कारु और अकारु ये दो भेद कहे हैं - धोबी, नाई और चमार आदि कारु और इनसे भिन्न अकारु कहलाते हैं । कारु के पुनः स्पृश्य और अस्पर्श ये दो भेद हैं । यहाँ सत् शूद्रों का नाम नहीं है परन्तु आचार्य श्री का अभिप्राय यह विदित होता है कि नाई आदिस्पृश्य शूद्रों में जिनके पुनर्विवाह (विधवा-विवाह) नहीं होता वे सत् शूद्र या उत्तम शूद्र कहे जाते हैं । क्योंकि पिण्ड शुद्धि के कारण उनमें योग्यतानुसार धर्म धारण करने की पात्रता है ।।11॥

प्रशस्त शूद्रों में धर्मधारण की योग्यता -

आचारानवद्यत्वं शुचिरुपस्करः शारीरी च विशुद्धिः ।
करोति शूद्रमपि देव द्विज तपस्वि परिकर्मसु योग्यम् ।। 12॥

अन्वयार्थ :- (अनवद्यत्वम्) निर्दोष (आचारः) आचरण (शुचिरुपस्करः) एक देशव्रत पालन (च) और (शारीरी) शरीर सम्बन्धी (विशुद्धिः) पवित्रता से (शूद्रम्) शूद्र (अपि) भी (देव, द्विज, तपस्वि) देव, ब्राह्मण और तपस्वियों की (परिकर्मसु) पूजा सेवादि (योग्यम्) योग्य (भवन्ति) हो जाते हैं ।

निर्दोष सदाचरण पालन करने से, - मद्य, मांस, मधु का त्याग करने पर, पाँच अणुव्रत धारण करने से, रजस्वलादि धर्मपालन करना, शरीर वस्त्रादि की शुद्धि रखने से पवित्र विचारादि रखने से सत् शूद्रों को भी यथायोग्य ईश्वर भक्ति, विप्र सेवा व तपस्वियों की सेवा का अधिकार प्राप्त होता है । सबसे प्रमुख पिण्ड शुद्धि है । आचार शुद्धि और गृह के उपकरणों की शुद्धि आदि होने से आचार्य श्री ने तपस्वियों को सेवा योग्य बताया है ।।

विशेषार्थ :- चारायण नाम के विद्वान ने कहा है :

गृह पात्राणि शुद्धानि व्यवहारः सुनिर्मलः ।
कायशुद्धिः करोत्येव योग्यं देवादिपूजने ।।1॥

अर्थ :- घर के पात्रों-बर्तनों की शुद्धि, आचार-विचार की पवित्रता और शारीरिक शुद्धि ये शुभ शूद्रों के गुण हैं। इन गुणों से वे देवादि की पूजा योग्य बन जाते हैं ।।1॥ योग्यतानुसार ही अधिकार दिये जाते हैं ।

चारों वर्णों के समान धर्मों का वर्णन :-

आनृशंस्यममृषाभाषित्वं परस्वनिवृत्तिरिच्छा नियमः प्रतिलोमाविवाहो निषिद्धासु च स्त्रीषु ब्रह्मचर्यमिति सर्वेषां समानो धर्मः ।।13॥

अन्वयार्थ :- (आनृशंस्यम्) अहिंसा (अमृषाभासित्वम्) सत्यभोषण (परस्वनिवृत्तिः) पर धन नहीं लेना,

(इच्छा नियमः) लोभ-परिग्रह सीमा (प्रतिलोमाविवाहः) स्वजाति में विवाह (च) और (निषिद्धासु) निषिद्ध (स्त्रीषु) पराई स्त्रियों में (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य व्रत (इति) ये (सर्वेषाम्) चारों वर्णों के (समानः) सामान्य (धर्मः) धर्म (सन्ति) हैं ।।

समस्त जीवों पर दया करना, सत्य बोलना, अचौर्य, इच्छाओं का दमन, स्वजाति में गोत्रज छोड़ कर विवाह करना, परस्त्री सेवन का त्याग करना ये चारों ही वर्णों का समान धर्म है ।।13॥

भागुरि विद्वान ने भी लिखा है :-

दयां सत्यंमचौर्यं च नियमः स्वविवाहकम् ।
असतीवर्जनं कार्यं धर्मः सार्वः प्रकीर्तितः ।।1॥

अर्थ :- समस्त प्राणियों में दया का भाव रखना, सत्यभाषण करना, चोरी नहीं करना-परधन नहीं लेना, नियम इच्छा निरोध करना, विवाह स्वजाति में ही करना, परस्त्री का त्याग करना यह समस्त वर्णों का कल्याण कारक धर्म है ।।1॥

साधारण धर्म व विशेष धर्म निर्देश :-

आदित्यावलोकन वत् धर्मः खलु सर्व साधारणो विशेषानुष्ठाने तु नियमः ।।14॥

अन्वयार्थ :- (आदित्य अवलोकन वत्) सूर्य के प्रकाश के समान (सर्व) सबके (साधारणः धर्मः) साधारण धर्म (खलु) निश्चय से कहे (विशेषानुष्ठाने) विशेष धर्मानुष्ठानों में (नियमः) अपने-अपने नियम [अस्ति] है ।

सामान्य से उपर्युक्त नियम चारों वर्णों के सदृश हैं, फिर भी विशेष धर्म अपने-अपने नियमानसुर होते हैं । प्रत्येक वर्ण व आश्रम अपने-अपने विशेषनियमानुष्ठान रखते हैं ।

विशेषार्थ :- नारद विद्वान ने लिखा है कि :-

यस्य वर्णस्य यत् प्रोक्तमनुष्ठानं महर्षिभिः ।
तत्कर्त्तव्यं विशेषोऽयं तुल्य धर्मो न केवलम् ।।1॥

अर्थ :- महर्षियों ने जिस वर्ण के जो जो धर्म वर्णित किये हैं उन-उन वर्णों को पालन करना चाहिए । केवल सर्व साधारण धर्मों का पालन कर ही सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए । अपितु विशेष धर्मों का विशेष रक्षण करना चाहिए । शास्त्रोंकारों ने विभिन्न वर्णों और आश्रमों के भिन्न-भिन्न विशेष धर्म-कर्त्तव्य बतलाये हैं उनका उन्हीं धर्म व आश्रम वालों को पालन करना चाहिए । एक-दूसरे के कर्त्तव्य व अधिकारों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। यह सनातन रीति है । इसका पालन करने से सभी को सुख-शान्ति रहती है ।

साधुओं का कर्त्तव्य :-

निजागमोक्तमनुष्ठानं यतीनां स्वो धर्म : ।।15॥

अन्वयार्थ :- (निजागमोक्तम्) अपने-अपने आगम में कहे अनुसार (अनुष्ठानम्) विधि-विधान (यतीनाम्) यतियों का (स्व) निज (धर्मः) धर्म है ।

जो जिसका आचार सार है, उसमें जिसका जो कर्त्तव्य वर्णित है, उसका तदनुसार पालन करना तपस्वियों का धर्म है ।

चारायण विद्वान ने इस विषय में लिखा है कि :-

स्वागमोक्तमनुष्ठानं यत् स धर्मो निजः स्मृतः ।
लिङ्गिनामेव सर्वेषां योऽन्यः सोऽधर्म लक्षणः ।।1।।

अर्थ :- अपने शास्त्र-आगम में कथित व्रत, नियम, अनुष्ठानादि का विधान जिस प्रकार वर्णित है, उसी प्रकार सम्पादन करना समस्त त्यागियों-तपस्वियों का कर्त्तव्य है ।

कर्त्तव्यच्युत होने पर साधु का कर्त्तव्य :-

स्व धर्म व्यतिक्रमेण यतीनां स्वागमोक्तं प्रायश्चित्तम् ।।16।।

अन्वयार्थ :- (स्व) अपने (धर्मात्) कर्त्तव्य से (व्यक्तिक्रमेण) च्युत होने पर (यतीनाम्) यतियों का (स्व आगमोक्तम्) अपने आगम के अनुसार (प्रायश्चितम्) दण्ड लेना ।

यदि साधुजन अपने व्रतों से कदाचित् विचलित हो जावें तो उन्हें आगमोक्त विधि से प्रायश्चित ले लेना चाहिए।।16।।

अभीष्ट-देव की प्रतिष्ठा का निर्देश :-

यो यस्य देवस्य भवेच्छ्रद्धावान् स तं देवं प्रतिष्ठापयेत् ।।17।।

अन्वयार्थ :- (यः) जो व्यक्ति (यस्य) जिस (देवस्य) देव की (श्रद्धावान्) श्रद्धावान (भवेत्) हो (सः) वह (तम्) उसी (देवम्) देव को (प्रतिष्ठापयेत्) प्रतिष्ठित करे ।

उदार चेता सर्वोपकारी आचार्य कहते हैं कि जिसकी जिस देव में श्रद्धा हो वह उसी देव की स्थापना करे।

विशेषार्थ :- यहाँ आर्हद् मतानुसार यह कहना "जिसकी श्रद्धा जिसमें हो वह उसे देव मान" विरुद्ध पड़ता है। क्यों जिनमत में सर्वज्ञ, वीतरागी, हितोपदेशी को ही देव कहा है । जिन देव की भक्ति सम्यग्दर्शन कारण बतायी है । शेष मान्यता मिथ्यात्व की द्योतक है । यह सत्य है परन्तु आचार्य देव ने यहाँ यह राजनैतिक उदार दृष्टिकोण से कही है । राजा समस्त प्रजा का पालक पिता होता है । सबको प्रसन्न रखना उसका कर्त्तव्य है । वस्तुतः देव होने योग्य कौन है यह वे स्वयं आगे दिवासानुष्ठान समुद्देश के 66वें सूत्र में प्रदर्शित करेंगे कि पुरुष श्रेष्ठ को ईश्वर कहते हैं- जो जन्म, मरण, बृद्धत्व, क्षुधा तृषादि दोषों से रहित और चार घातिया-ज्ञानावरणी, दर्शनावरण, मोहनीय एवं अन्तराय से रहित हो-रागद्वेषादि परिणतियों से रहित हो, वही देव यथार्थ देव है-संसार से तारने वाला है ।

यशस्तिलक चम्पू में लिखा है :-

सर्वज्ञं सर्व लोकेशं सर्वदोषविवर्जितम् ।
सर्व सत्वहितं प्राहुराप्तमात्मतोचितः ।।1 ॥

ज्ञानवन्मृग्यते कैश्चित्त दुक्तं प्रतिपद्यते ।
अज्ञोपदेशकरणे विप्रलम्भन शङ्किभिः ।।2 ॥

यस्तत्वदेशनाद् दुःख वार्धेरुद्धरते जगत् ।
कथं न सर्वलोकेशः प्रह्वीभूतजगत्त्रयः ।।3 ॥

क्षुत्पिपाशाभयं दोषश्चिन्तनं मूढतागमः ।
रागोजरा रुजा मृत्युः क्रोधः स्वेदो मदो रतिः ।।4 ॥

विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवाः ।
त्रिजगत्सर्वभूता नां दोषाः साधारण इमे ।।5 ॥

एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः ।
स एव हेतुः मूक्तीनां केवलज्ञान लोचनः ।।6 ॥

यश.ति.च.आ.6

अर्थ :- जो सर्वज्ञ, सर्वलोक का ईश्वर-संसार का दुःख सागर से उद्धार करने वाला, क्षुधा, तृषादि 18 दोषों से रहित (वीतराग) एवं समस्त प्राणियों को मोक्षमार्ग का प्रत्यक्ष उपदेश देने वाला है ऐसे तीर्थंकर प्रभु को 'ईश्वर' कहते हैं ।।1 ॥

जिसकी हम आराधना कर रहे हैं उसका सर्वज्ञ होना नितान्त आवश्यक है । क्योंकि यदि अज्ञ-मूर्ख या अल्पज्ञ मोक्षमार्ग का उपदेशक होता है तो उसके वचनों में अनेक प्रकार के विरोध आदि दोष आ सकते हैं । इसलिए सज्जन पुरुष सच्चे प्रामाणिक वक्ता का अन्वेषण करते हैं । उसी द्वारा उक्त वचनों को प्रमाण मानते हैं।।2 ॥

जिन तीर्थङ्कर प्रभु के मोक्षोपयोगी प्रवचन-उपदेश से संसार के पामर प्राणियों का उद्धार होता है । उनके चारणाम्बुजों में तीनों लोकों के प्राणी उनके चरणों में नम्र हो गये हैं । फिर वह तीनों लोकों का नाथ ईश्वर क्यों नहीं होगा ? अवश्य ही होगा, है ही ।।3 ॥

क्षुधा, पिपासा, भय, द्वेष, चिन्ता, अज्ञान, राग, द्वेष, रोग, जरा, मृत्यु, क्रोध, स्वेद (पसीना), मद, रति, आश्चर्य, जन्म, निद्रा, विषाद ये 18 दोष संसार के समस्त प्राणियों में नियम से समान रीति से पाये जाते हैं ।। अतः इन 18 दोषों से रहित, निरञ्जन-पाप कालिमा से रहित (विशुद्ध) और केवलज्ञान रूप नेत्र से युक्त (सर्वज्ञ) तीर्थङ्कर

ही सर्वज्ञ आप्त हो सकता है । एवं वही द्वादशाङ्ग वाणी का वक्ता होने योग्य हो सकता है । शास्त्रों का उपदेशक हो सकता है ।14 ।15 ।16 ॥

उपर्युक्त असाधारण गुण श्री ऋषभादि-महावीर पर्यन्त समस्त 24 तीर्थङ्करों में विद्यमान हैं । अतएव आचार्य श्री के उक्त प्रमाणों से हम इस तत्त्व पर पहुँचते हैं कि ये तीर्थकर्त्ता परमदेव अर्हन्त ही परम देवाधिदेव पूज्य, श्रद्धेय, उपासनीय हैं । यद्यपि सभी तीर्थंकर समान गुण, शक्ति युक्त हैं तो भी जिस मनुष्य की जिस तीर्थंकर के प्रति श्रद्धा-आस्था विशेष हो वह उसी के विम्ब-प्रतिमादि की स्थापना कर पूजा भक्ति कर सकता है । ऐसा आशय आचार्य श्री का समझना चाहिए।

बिना भक्ति के उपासना किये हुए देव से हानि :-

अभक्त्या पूजोपचारः सद्यः शापाय ।।18।।

"अभक्तैः कृतः पूजोपचारः सद्यः शापाय भवति" यह भी पाठान्तर है ।

अन्वयार्थ :- (अभक्तया) भक्ति बिना (पूजोपचारः) पूजादि (सद्यः) शीघ्र ही (शापाय) अनिष्टकारी [भवति] होती है ।

विशेषार्थ :- औषधि के प्रति श्रद्धा न हो तो अति उत्तम, बहुमूल्य, प्रसिद्ध औषधि भी रोगनाशक सिद्ध नहीं होती उसी प्रकार आराध्य के प्रति श्रद्धा नहीं है तो उसकी भक्ति, पूजा, उपासनादि अनुष्ठान कार्यकारी नहीं हो सकते । क्योंकि श्रद्धा के अभाव में पूजक की चित्त रूपी भूमि में भक्ति रूपी वीजारोपण नहीं हो सकता । वीजाभावे अंकुर, वृक्ष, पत्र, पुष्प व फल कहाँ ? नहीं हो सकते । अतः श्रद्धा मूल है । प्रथम उसका होना अत्यावश्यक है ।

वर्ण व आश्रम वालों के कर्त्तव्यच्युत होने पर उसकी शुद्धि का निर्देश

"वर्णाश्रमाणां स्वाचार प्रच्यवने त्रयीतो विशुद्धिः ।।19।।

अन्वयार्थ :- (वर्णाश्रमाणाम्) चारों वर्णों व आश्रमस्थों को (स्वाचार) अपने कर्त्तव्य से (प्रच्यवने) च्युति होने पर (त्रयीतः) त्रयी-आध्यात्म्य विद्या से (विशुद्धिः) शुद्धता [कर्त्तव्या] करना चाहिए ।

विशेषार्थ :- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार वर्ण हैं और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व सन्यास ये चार आश्रम हैं । इनके पृथक्-पृथक् कर्त्तव्य निर्धारित किये गये हैं जिनका वर्णन पूर्व में किया ही है । उनसे जो कोई भी किसी प्रकार स्खलित हो जाय, दोष लग जाय तो उसका कर्त्तव्य है कि तत्काल शास्त्रोक्त-आगमोक्त विधि से उसका परिहार कर शुद्धि कर लेना चाहिए । आध्यात्म-त्रयीवार्ता-आचार शास्त्र-धर्मशास्त्र सबकी शुद्धि में सक्षम हैं ।

राजा-प्रजा को त्रिवर्ग-धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति का उपाय :-

स्वधर्माऽसंकरः प्रजानां राजानं त्रिवर्गेणोपसन्धत्ते ।।20।।

अन्वयार्थ :- (स्वधर्माः) अपना-अपना कर्त्तव्य (असंकरः) स्वतंत्र, बिना मिलावट के (प्रजानाम्) प्रजा का (राजानम्) राजा का [भवति] होता है [तत्र] वहाँ (त्रिवर्गेण, उपसन्धत्ते) त्रिवर्ग से अलंकृत होते हैं ।

जिस राज्य में राजा-प्रजा अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं वहाँ धर्म, अर्थ और काम ये तीनों पुरुषार्थ समान रूप से वृद्धिंगत होते रहते हैं ।

विशेषार्थ :- कर्त्तव्य के साथ उन्नति व अवनति जुड़ी रहती है । कर्त्तव्यों का यथोचित पालन उन्नति का आधार है और इनका एक दूसरे में मिश्रण होना - अर्थात् ब्राह्मण का काम शूद्र और शूद्र का क्षत्रिय, वैश्य का विप्र करे तो सभी विफल होंगे । सभी के पुरुषार्थ भी अस्त व्यस्त हो जायेंगे । विद्वान नारद ने भी कहा है-

न भूयाद्यत्र देशे तु प्रजानां वर्णसंकरः ।
तत्र धर्मार्थकामं च भूपतेः सम्प्रजायते ।।1।।

अर्थ :- जिस देश में प्रजा के अन्दर वर्णसंकरता नहीं होती, वहाँ धर्म, अर्थ और काम ये तीनों पुरुषार्थ एक साथ राजा को सिद्ध होते हैं । अर्थात् जिसके राज्य में सभी वर्ण के लोग अपने-अपने धर्म का पालन करते हैं उसके राज्य में तीनों पुरुषार्थ फलते-फूलते हैं । वर्ण संकरता नहीं होना चाहिए ।

कर्त्तव्य च्युत राजा की कटु आलोचना :-

स किं राजा यो न रक्षति प्रजाः ।।21।।

अन्वयार्थ :- (सः) वह (किम्) क्या (राजा) नृपति है (यः) जो (प्रजाः) प्रजा को (न) नहीं (रक्षति) रक्षा करता है ।

वह राजा कहलाने का अधिकारी नहीं है जो प्रजा की रक्षा नहीं करता है ।

विशेषार्थ :- राजा का धर्म है प्रजा का रक्षण करना । यदि प्रजापालन में प्रमादी है तो वह राजा कहलाने का अधिकारी नहीं है । व्यास विद्वान का कथन है कि :-

यो न राजा प्रजाः सम्यभोगासक्तः प्ररक्षति ।
स राजा नैव राजा स्यात् स च का पुरुषः स्मृतः ।।1।।

अर्थ :- जो राजा विषय भोगों में लम्पटी बना रहता है वह प्रजा की यथोचित रक्षा नहीं करता । उसे राजा नहीं कायर पुरुष समझना चाहिए ।

राजा को प्रजा का पालन करना परम कर्त्तव्य है । कर्त्तव्यनिष्ठ राजा ही यथार्थ राजा कहलाने का अधिकारी है ।।21।।

अपने-अपने धर्म का उल्लंघन करने वालों के साथ राजा का कर्त्तव्य :-

स्वधर्ममतिक्रामतां सर्वेषां पार्थिवो गुरुः ।।22।।

अन्वयार्थ :- (स्वधर्मम्) अपने धर्म का (अतिक्रामताम्) उलंघन करने वालों (सर्वेषाम्) सर्वलोगों का (गुरुः) गुरु (पार्थिवः) राजा होता है ।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि कोई भी वर्ण वाला यदि अपने धर्म का उलंघन करे तो उस समय उन्हें दण्ड देकर राजा ही कर्त्तव्यनिष्ठ करने में समर्थ होता है । कर्त्तव्यहीनों को स्वधर्म में नियुक्त करने वाला राजा ही प्रमाण है।

विशेषार्थ :- भृगु विद्वान ने भी लिखा है कि :-

उन्मत्तं यथा नाम महामन्तो निवारयेत् ।
उन्मार्गेण प्रगच्छन्तं तद्वच्चैव जनं नृपः ।।1।।

अर्थ :- जिस प्रकार महावत् तीक्ष्ण अंकुश से उन्मत गज को वश में करता है उसी प्रकार राजा उन्मार्ग में गमन करने वाले को कठोर दण्ड देकर सन्मार्गारूढ़ करता है ।

अभिप्राय यह है कि "यथा राजा तथा प्रजा" राजा को स्वयं कर्त्तव्य निष्ठ-सदाचारी होना चाहिए और प्रजा को भी साम, दाम, भेद, दण्ड द्वारा सत्कर्मों में संलग्न रखना चाहिए ।122॥

प्रजापालक राजा को धर्म लाभ :-

परिपालको हि राजा सर्वेषां धर्मषष्ठांशमवाप्नोति ।।23॥

अन्वयार्थ :- (हि) निश्चय से (परिपालकः) प्रजापालक नृप (राजा) नृप (सर्वेषाम्) सबके-प्रजा के (धर्मस्य) धर्म के (षष्ठांशम्) छठवें भाग को (अवाप्नोति) प्राप्त करता है ।

प्रजा जो कुछ धर्मानुष्ठान करती है उसका छठवां भाग राजा को स्वभाव से ही प्राप्त होता है ।

विशेषार्थ :- जिस प्रकार प्रजा की आय का षष्ठांश ग्रहण करने का राजा को अधिकार होता है उसी प्रकार प्रजा के पुण्यार्जन के हेतू-भूत कार्यों-धमानुष्ठानों का भी षष्ठांश उसे प्राप्त होता ही है । मनु विद्वान ने लिखा है कि :-

वर्णाश्रमाणां यो धर्मं नश्यन्तं च प्ररक्षति ।
षष्ठांशं तस्य धर्मस्य स प्राप्नोति न संशयः ।।1।।

अर्थात् जो राजा वर्णों और आश्रमों के नष्ट होते हुए धर्म का रक्षण करता है अर्थात् धर्मात्माओं के धर्म भ्रष्ट होने पर पुनः उन्हें धर्म में संलग्न करता है वह उनके धर्मकार्यों के छठवें भाग को प्राप्त करता है । निःसन्देह इतना फल उसे उपलब्ध होता ही है ।

अन्य मती तपस्वियों द्वारा राजा का सम्मान :-

यदाह वैवस्वतो मनुः ।।

उच्छषड्भागप्रदानेन वनस्था अपि तपस्विनो राजानं सम्भावयन्ति ।।24॥

तस्यैव तद्भूयात् यस्तान् गोपायति इति ।।25।।

अन्वयार्थ :- (उच्छ) संचित धान्यकण (षड्भागप्रदानेन) छठवां भाग देने से (वनस्था) वन में निवास करने वाले तपस्वी (अपि) भी (तपस्विनः) तापसी (राजानं) नृप को (सम्भावयन्ति) सम्मानित करते हैं । (तस्यैव) उसी के द्वारा (तद्भूयात्) उससे हुए फल द्वारा (यः) जो (तान्) उनको (गोपायति) रक्षित करता है । (इति)

हिन्दू धर्म में 14 मनु कहे गये हैं । उनमें से 7वाँ "वैवस्वत" नाम का मनु है । "इसने लिखा है कि वनवासी तापसी लोग भी जो कि स्वामी विहीन एवं निर्जन वन, पर्वत, आदि प्रदेशों में वर्तमान धान्यादिकणों से जीवन चलाते हैं वे भी राजा को अपने संचित धान्य कणों का 6वां भाग देकर उसकी समुन्नति की कामना करते हैं । एवं अपनी क्रिया-अनुष्ठानादि के समय भी संकल्प करते हैं कि "हमारे रक्षक नृपति को हमारे आचरण का 6वां भाग रूप तप का फल प्राप्त होवे" ।

इष्ट व अनिष्ट वस्तु का निर्णय :-

तदमंगलमपि नामंगलं यत्रास्यात्मनो भक्तिः ।।26।।

अन्वयार्थ :- (यत्र) जहाँ (अस्य) इसे (आत्मनः) आत्मा की (भक्तिः) भक्ति हो (तद्) वह (अमंगलम्) अशुभ (अपि) भी (अमंगलम्) अनिष्ट (न) नहीं (भवति) होता है ।

जिस पदार्थ का सम्बन्ध आत्मीय प्रेम से होता है वह अमंगल-अनिष्टकारक भी उसके लिए इष्ट-मंगलकारी होती है । यथा काणा, लूला, दरिद्री, व्यक्ति कार्यारम्भ के समय अशुभ समझे जाते हैं परन्तु जिनका इनके प्रति प्रेम होता है उसे ये शुभ-इष्ट प्रतीत होते हैं ।

विशेषार्थ :- संसार के प्रत्येक पदार्थ में सद्गुण-दुर्गुण विद्यमान रहते हैं । जिसके अभिप्राय में जो प्रिय है वह उसे अमङ्गलीक होने पर भी अनुकूल प्रतीत होता है और जिसके प्रति प्रीति नहीं है वह योग्य भी अयोग्य-अहितकारी प्रतीत होती है । भागुरि ने भी कहा है :-

यद्यस्य वल्लभं वस्तु तच्चेदग्रे प्रयास्यति ।
कृत्यारम्भेषु तत्तस्य सुनिन्द्यमपि सिद्धिदम् ।।1।।

अर्थ :- जो पदार्थ जिसके लिए प्रिय है, वह अप्रिय होने पर भी उसे यदि कार्यारम्भ में पाता है तो मंगलरूप ही स्वीकार करता है । क्योंकि उससे उसके कार्य की सिद्धि हो जाती है । अभिप्राय यह है कि एक ही वस्तु किसी को प्रिय और अन्य को अप्रिय प्रतीत होती हैं । जिसे जो प्रिय होती है वही उसके लिए मंगलस्वरूप होती है । यथा-किसी व्यक्ति की एकाक्षी पत्नी है, सती साध्वी होने से उसे अतिप्रिय है । अन्य लोगों को विदेशादि प्रयाणकाल में अमंगलकारी होती है, परन्तु उस पति को प्रयाण समय मंगलारती और कंकणवन्धन कर विदा करती है तो वही उसे मंङ्गलकारिणी सिद्ध होती है ।

सारांश यह है जो पदार्थ जिसके हृदय को प्रफुल्ल, प्रसन्न व संतुष्ट करे वही उसे मंगलकारी है भले ही संसार को वह अमंगलकारी क्यों न हो ।

मनुष्यों के कर्त्तव्यों का वर्णन :-

सन्यस्ताग्नि परिग्रहानुपासीत् ।।27।।

अन्वयार्थ :- (सन्यस्ता:) साधुओं व (अग्निपरिग्रहान्) सद्गृहस्थों की (अनुपासीत्) उपासना करनी चाहिए।

मनुष्यों को साधु-सन्तों व सदाचारी उत्तम गृहस्थों की उपासना करनी चाहिए ।

विशेषार्थ :- साधु, महात्मा और विद्वान गृहस्थाचार्य सदाचारी, स्वावलम्बी, बहुश्रुत व उत्तम चारित्रधारी होते हैं। इनकी सेवा, भक्ति, उपासना से मनुष्य ज्ञानी, शिष्ट और कुशल बनता है । परलोक में भी कल्याणकारी पद प्राप्त करता है। वल्लभदेव विद्वान ने भी कहा है :-

यादृशानां शृणोत्यत्र यादृक्षांश्चावसेवते ।
तादृक्चेष्टो भवेन्मर्त्यस्तस्मात् साधून् समाश्रयेत् ।।1।।

अर्थ :- मानव जिस प्रकार के पुरुषों के वचनों का श्रवण करता है, जिस प्रकार के लोगों की सेवा व उपासना करता है, उसकी उसी प्रकार की चेष्टाएँ हो जाती हैं । अत: सत्पुरुषों का कर्त्तव्य है कि वह नित्यश: साधुओं की सेवा करे । आत्मकल्याणेच्छुओं को स्वात्मसाधक सन्तों की सङ्गति व सेवा करना चाहिए ।

स्नान किये मनुष्य का कर्त्तव्य :-

स्नात्वा प्राग्देवोपासनान्न कंचन स्पृशेत् ।।28।।

अन्वयार्थ :- (स्नात्वा) स्नान करके (देवोपासनात्) भगवद पूजा से (प्राक्) पहले (कंचन) किसी को (न स्पृशेत्) स्पर्श न करे ।

स्नान के बाद सर्वप्रथम भगवान की पूजा करे । उसके पूर्व किसी का भी स्पर्श न करे ।

विशेषार्थ :- वर्तमान युग पाश्चात्य संस्कारों से रंगा है । उसकी मान्यता है छुआ-छूत कुछ नहीं है । यह तो एक मात्र रूढ़ि है । मानव समाज में भेद-भाव की खाई है । परन्तु भारतीय संस्कृति को यह मान्य नहीं है । हमारी धार्मिक परम्परा में स्पर्शास्पर्श का विवेक रखना अत्यावश्यक है । इसी की पुष्टी आचार्य श्री ने इस सूत्र में स्पष्ट की है । शुद्धाशुद्धि का ध्यान रखना परमावश्यक है । देवपूजा पूर्ण शुद्धि पूर्वक ही करना चाहिए उसी प्रकार भोजन भी पवित्रतापूर्वक किया जाना चाहिए क्योंकि पूजा आत्मा की शोधक है और भोजन आत्मगृह शरीर व उसके निवासी भाव-विचारों की उज्जवलता के साधन हैं । वर्ग नामक विद्वान ने भी लिखा है :-

स्नात्वा स्वभ्यर्चयेत् देवान् वैश्वानरमत: परम् ।
ततो दानं यथाशक्तया दत्वा भोजनमाचरेत् ।।1।।

अर्थ :- मनुष्य को स्नान करने अनन्तर अपने इष्ट देव की पूजा करनी चाहिए । पुन: अग्नि होम करना

उचित है, पश्चात् दान देकर यथा शक्ति अतिथि संविभाग कर स्वयं भोजन करना चाहिए । यह मनुष्य का सनातन धर्म है ।

गृहस्थ को मन्दिर में क्या करना चाहिए :-

देवागारे गते सर्वान् यतीनात्मसम्बन्धिनीर्जरतीः पश्येत् ।।29।।

अन्वयार्थ :- (देवागारे) मन्दिर में (गते) जाकर (सर्वान्) समस्त (यतीन्) साधुओं को (आत्मसम्बन्धिनीः) अपने कुल की (जरतीः) वृद्ध स्त्रियों को (पश्येत्) देखे-विनय करे ।

मनुष्यों को देवस्थान में जाकर प्रथम भगवान की भक्ति पूजा करनी चाहिए । पश्चात् समस्त उपस्थित साधुओं की भक्ति करना चाहिए । तत्पश्चात् अपने गृहस्थाचार में वृद्धनारियों को नमस्कार करना उचित है ।।29।। हारीत विद्वान ने भी कहा है :-

देवायतने च गत्वा सर्वान् पश्येत् स्वभक्तितः ।
तत्राश्रितान् यतीन् पश्चात्ततो वृद्धा कुलस्त्रियः ।।1।।

अर्थ :- देवालय में जाकर प्रथम भगवद् भक्ति व पूजादि कर वहाँ स्थित मुनि-साधुओं को सम्मानादि प्रदान करे तत्पश्चात् कुल की वृद्ध-नारियों की श्रद्धा-भक्ति से नमस्कारादि कर प्रसन्न करे । लोकाचार पालन करना मानव का प्रमुख कर्त्तव्य है । गुरुभक्ति व माता-पिता का विनय आवश्यक है । सत्पुरुषों को अवश्य करना चाहिए ।

उपर्युक्त सिद्धान्त की समर्थक दृष्टान्तमालाः-

देवाकारोपेतः पाषाणेऽपि नावमन्येत तत्किं पुनर्मनुष्यः ? राजशासनस्य मृत्तिकायामिव लिंगिषु को नाम विचारों यतः स्वयं मलिनो खलः प्रवर्धयत्येव क्षीरं धेनूनां, न खलु परेषामाचारः स्वस्य पुण्यमारभते किन्तु मनो विशुद्धिः ।।30।।

अन्वयार्थ :- (देवस्य) भगवान के (आकारः) आकार को (उपेतः) प्राप्त (पाषाणे) उपल में (अपि) भी (न) नहीं (अवमन्येत्) अपमान किया जाता (पुनः) फिर (तत्) वह निरादर (किम्) क्या (मनुष्ये) मनुष्य में किया जाये ?

(राजशासनस्य) राजा की (मृत्तिकायाः) मिट्टी की मूर्ति (इव) समान (लिंगिषु) साधुओं के विषय में (को नाम विचारः) क्या विचार करना ? (यतः) क्योंकि (स्वयं) स्वतः (मलिनः) मलिन (खलः) खल्ली (धेनूनाम्) गायों के (क्षीरम्) दुग्ध को (प्रवर्धयति) (एव) निश्चय से बढ़ाती है (खलु) निश्चय से (परेषाम्) दूसरों का (आचारः) आचरण (स्वस्य) स्वयं के (पुण्यम्) पुण्य को (न) नहीं (आरभते) प्रारम्भ करता है (किन्तु) अपितु (मनः) मन की (विशुद्धिः) पवित्रता [प्रारभते] प्रारम्भ करती है ।

सामान्य पाषाण की प्रतिमा का भी तिरस्कार नहीं किया जाता तो फिर मनुष्य की क्या बात ?

विशेषार्थ :- संसार में पाषाण निर्मित प्रतिमा की प्रतिष्ठा होने पर भगवान रूप धारण करती है उसका अपमान

पाप का कारण होता है तो फिर मनुष्य का अपमान किस प्रकार मान्य हो सकता है ? कदाऽपि नहीं । अभिप्राय यह है कि जड़ पदार्थों का भी योग्यतानुसार आदर-सत्कार करना युक्ति संगत है, लोकमान्य कहा जाता है तो फिर जीवन्त मानवादि का आदर-सत्कार क्यों न करना चाहिए ? करना ही चाहिए ।

राज्य शासन में यदि राजा की मिट्टी की मूर्ति भी बना कर स्थापित की गई है तो उसका मृत्तिका व मलिनता की ओर ध्यान न देकर प्रजाजनों को उसकी आज्ञा पालन अनिवार्य और आवश्यक है, उसी प्रकार नैतिक और धार्मिक सत्पुरुषों को महापुरुषों के साधु-सन्तों के वाह्य मलिन वेष पर विचार न करके उनके त्याग, तपश्चरण, ज्ञानाराधन, ध्यान, संयम, आचार, विचार, शीलाचार, सदाचारादि सद्गुणों से लाभान्वित होना चाहिए । क्योंकि तिल्ली आदि का तैल निकालने पर भी बची खल्ली यद्यपि वाह्य में काली-मलिन दृष्टिगत होती है परन्तु गायों-भैंसों को खिलाये जाने पर वह उनके दुग्ध की वृद्धि करती है । उसी प्रकार राजा का शासन-आज्ञा, मलिन-कठोर होने के कारण राजसिक भावों से युक्त-होने पर भी वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा स्थापन रूप विशुद्ध कार्य को उत्पन्न करती है । ठीक उसी प्रकार साधु का मलिन वाह्य वेष भी मानसिक विशुद्धि का कारण होने से पुण्य कार्य को उत्पन्न करता है । इसी प्रकार प्रसन्न मन से पाषाण विम्ब की उपासना व साधु भगवन्तों की भक्ति पूजा भी हमारी विशुद्धि की कारण बनती है । पुण्य की वृद्धि में सहकारी होती है।

दूसरों का वाह्य आचार-विचार, सुन्दर वेष-भूषा, तड़क-भड़क सजावट, शृंगारादि हमारे पुण्य की वृद्धि नहीं कर सकते । हमारे पुण्य का वर्द्धन तो हमारी ही मानसिक शुद्धि व निर्मलता कर सकती है । अतः अपने योगों की शुद्धि बनाये रखने का उपाय है देव, गुरु की भक्ति करना उनके गुणों में अनुराग रखना ।

चारों वर्णों की पृथक् प्रकृति-स्वभाव का वर्णन :-

दानादि प्रकृतिः प्रायेण ब्राह्मणानाम् ।।31।।
वलात्कार स्वभावः क्षत्रियाणाम् ।।32।।

निसर्गतः शाठ्यं किरातानाम् ।।33।।
ऋजुवक्रशीलता सहजा कृषिवलानाम ।।34।।

अर्थ :- ब्राह्मणों का स्वभाव प्राय करके दानादि ग्रहण करना व देना है। दान देना-लेना, ईश्वर भक्ति करना, पूजा-पाठ करना-कराना, विद्याध्यन करना-कराना आदि का स्वभाव विप्रों में स्वभावतः पाया जाता है। अथवा-दया, दाक्षिण्यादि विप्रों का धर्म व स्वभाव है ।।31।। दान शब्द "दैप्" धातु शोधने अर्थ से बना है। इसका अर्थ शुद्धि होता है तथा दानार्थक 'दा' धातु से निष्पन्न होने से दान अर्थ भी निकलता है। अतः दोनों अर्थ होते हैं।

क्षत्रियों का स्वभाव दूसरों पर वलात्कार करने का होता है क्षत्रिय न्यायपूर्वक राज्यादि अधिकारों को बलात् सञ्चय करना और वृद्धि करना क्षत्रियों का धर्म है।।32।।

किरातों - वणिकों की प्रकृति स्वभावतः शठता-मूर्खता, छल-कपट करने की होती है । व्यापार में वस्तुओं के आदान-प्रदान में मिलावट आदि करना इनका प्रकृतिदत्त स्वभाव होता है ।।33।।

किसानों तथा शूद्रों का स्वभाव प्रकृति से सरल और कुटिल होता है । कृषक स्वभाव से सरल होते हैं, शूद्रों का कुटिल स्वभाव होता है ।।34।।

विप्रों के क्रोध उपशान्ति का उपाय :-

दानावसानः कोपो ब्राह्मणानाम् ।।35।।

अन्वयार्थ :- (ब्राह्मणानाम्) विप्रों का (कोपः) क्रोध (दानावसानः) दान लेने पर्यन्य [भवति] होता है।

ब्राह्मण यदि कुपित हो जाय तो उन्हें दान-सम्मान देना चाहिए । इससे उनकी कोपाग्नि शान्त हो जाती है।

इष्ट-इच्छित वस्तु मिल जाने पर ब्राह्मणों का कोप नष्ट हो जाता है । दान लेना उनका मुख्य उद्देश्य है ।।35।। गर्ग विद्वान ने इस विषय में लिखा है "जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर रात्रि का समस्त अधंकार तत्काल नष्ट हो जाता है । उसी प्रकार लोभी विप्र का क्रोध दान देने पर सर्वथा तत्काल विलीन हो जाता है । शान्त हो जाता है ।।35।।

गुरुजनों के क्रोधोपशान्ति का उपाय :-

प्रणामावसानः कोपो गुरुणाम् ।।36।।

अन्वयार्थ :- (गुरुणाम्) गुरुजनों का क्रोध (प्रणामावसानः) अपराधी के प्रणाम करने पर्यन्त (कोपः) क्रोध (तिष्ठति) रहता है ।

विशेषार्थ :- विद्यार्थियों या शिष्यों द्वारा कुपित किया गया गुरु तब तक ही क्रोधित रहता है जब तक कि अपराधी शिष्यादि नमस्कार नहीं करता । नमन करने पर तुरन्त कोप शान्त हो जाता है । गर्ग विद्वान ने इस विषय में लिखा है -

दुर्जने सुकृतं यद्वत् कृतं याति च संक्षयम् ।
तद्वत् कोपो गुरुणां स प्रणामेन प्रणश्यति ।।1।।

अर्थ :- जिस प्रकार दुष्ट के साथ किया गया उपकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार शिष्यादि के प्रणाम करने से ही गुरुओं का कोपानल शान्त हो जाता है ।।36।।

क्षत्रियों के कोप शान्ति का उपाय :-

प्राणावसानः कोपः क्षत्रियाणाम् ।।37।।

अन्वयार्थ :- (क्षत्रियाणाम्) क्षत्रियों का (कोपः) क्रोध (प्राणावसानः) प्राणान्त करने पर्यन्त [भवति] होता है ।

क्षत्रियों का क्रोध प्राणान्त करने पर्यन्त रहता है अर्थात् चिरकाल तक रहता है ।

विशेषार्थ :- क्षत्रिय विशेष स्वाभिमानी होते हैं । जिस पर उनका क्रोध उमड़ा कि प्राण लेकर ही शान्त होता है।

सारांश यही है कि क्षत्रियों का रक्त उदधि के ज्वार-भाटों समान उछलता है । अपराधी के प्रति क्रोध जाग्रत हो गया तो उसका प्राणान्त किये बिना नहीं रहता ।।37॥

वणिक् जनों के क्रोधोपशमन का उपाय :-

प्रिय वचनावसानः कोपो वणिग्जनानाम् ।।38॥

अन्वयार्थ :- (वाणिग्जनानाम) वणिकों का (कोपः) क्रोध (प्रियवचनावसानः) मधुर वचन वादन पर्यन्त [भवति] होता है ।

व्यापारीजनों का क्रोध तब तक रहता है जब तक कि मधुर वाणी का प्रयोग नहीं करे ।

विशेषार्थ :- वणिक् जनों का कोप प्रिय वचन बोलने पर्यन्त ही रहता है । गर्ग विद्वान ने भी निम्न प्रकार से कहा है :-

यथा प्रियेण दृष्टेन नश्यति व्याधिर्वियोगजः ।
प्रियालापेण तद्वद्वणिजां नश्यति ध्रुवम् ।।1॥

अर्थ :- जिस प्रकार इष्ट-प्रिय वस्तु के वियोग होने पर दुःख होता है, उस वस्तु की प्राप्ति होने पर वह वियोग जन्य पीड़ा नष्ट हो जाती है उसी प्रकार वणिकों का क्रोध भी मधुरवाणी बोलने से प्रशमित हो जाता है।

वैश्यों की क्रोध शान्ति का उपाय :-

वैश्यानां समुद्धारक प्रदानेन कोपोपशमः ।।39॥

अन्वयार्थ :- (वैश्यानाम्) वणिकजनों का (समुद्धारक) कर्ज (प्रदानेन) चुका देने से (कोपः) क्रोध (उपशमः) शान्त [भवति] होता है ।

जमींदार वणिकों का क्रोध उनका कर्ज चुकाने से शान्त हो जाता है ।

विशेषार्थ :- लोक में देखा जाता है कि सगा भाई, पिता भी यदि कर्ज लेकर न चुकाये तो परम शत्रु हो जाता है और समय पर या मांगने पर चुका दे तो उसी समय उसकी कोपाग्नि शान्त हो जाती है । भृगु विद्वान ने भी कहा है-

अपि चेत् पैत्रिको वैरी विशां कोपं प्रजायते ।
उद्धारक प्रलाभेन निःशेषो विलयं व्रजेत् ।।1॥

अर्थ :- यदि जमींदार के पिता का भी वैरी हो, जो कि उसे कुपित कर रहा हो परन्तु यदि उसके ऋण को चुका देता है तो वह शांत हो जाता है ।

वणिकों की श्री वृद्धि का उपाय :-

निश्चलैः परिचितैश्च सह व्यवहारो वणिजां निधिः ।।40।।

अन्वयार्थ :- (वणिजाम्) वणिकों का (व्यवहारः) व्यवहार (निश्चलैः) स्थायी रहने वालों (परिचितैः) परिचितों (च) और (निधिः) धनवानों के (सह) साथ ही [भवति] होता है ।

वणिक उन्हीं के साथ लैन-देन व्यवहार करते हैं जो स्थायी रहने वाले—एक ही स्थान में रहते हैं, जिनके मकान-दुकानादि सम्पत्ति होती है और परिचित हैं । जिनकी आय-व्यय से जानकारी रहती है । विश्वस्तों को ऋण देने से भविष्य में किसी प्रकार का खतरा नहीं रहता । रकम डूब जाने का अंदेशा-सन्देह नहीं रहता है । अपितु प्रचुर धन प्राप्त होता है।

जमींदारों को ऋण देते समय पूर्वापर विचार कर ही देना चाहिए ।।

नीच जाति के मनुष्यों को वशकरने का उपाय :-

दण्डभयोपधिभिर्वशीकरणं नीचजात्यानाम् ।।41।।

अन्वयार्थ :- (नीचजात्यानाम्) नीच जाति का (वशीकरणम्) वश करने का उपाय (दण्डभयोपधिभिः) दण्ड का भय प्रदर्शित है ।

विशेषार्थ :- नीच पुरुषों का वशीकरण मन्त्र ''दण्ड का भय'' है ।।41।। गर्ग विद्वान ने भी कहा है-

दण्डभयोपधि वशीकरणं वणिजां निधिः ।।

अथवा -

विश्वस्तैः सह व्यवहारो वणिजां निधिः ।।

अर्थ :- दण्डभय प्रदर्शित करना वणिजों की निधि है । नीच जाति बिना भय दिखाये वश में नहीं आती। दण्ड प्रयोग करना ही होता है । अतः नीचों को दण्डभय दिखाना ही चाहिए ।।

विश्वस्त पुरुषों के साथ वणिकों का व्यवहार करना सम्पत्ति वृद्धि का उपाय है ।।41।।

इति श्री त्रयी समुद्देशः ।।7।।

इति श्री प.पू.प्रातः स्मरणीय, विश्ववंद्य, चारित्र-चक्रवर्ती मुनिकुञ्जर समाधि सम्राट् महातपस्वी, वीतरागी, दिगम्बर जैनाचार्य श्री आदिसागर जी महाराज (अंकलीकर) की परम्परा के पट्टाधीश प. पू. तीर्थ भक्त शिरोमणि समाधि सम्राट् एवं मेरे शिक्षागुरु आचार्य परमेष्ठी श्री महावीर कीर्ति जी महाराज की संघस्था एवं कलिकाल सर्वज्ञ वात्सल्यरत्नाकर श्री आचार्य विमल सागर जी की शिष्या 105 प्र. गणिनी आर्यिका ज्ञान-चिन्तामणि सिद्धान्त विशारदा विजयामती द्वारा विजयोदय हिन्दी टीका में त्रयी समुद्देश प. पू. तपस्वी सम्राट् सिद्धान्त चक्रवर्ती अंकलीकराचार्य के तृतीय पट्टाधीश श्री 108 आचार्य परमेष्ठी सन्मति सागर जी महाराज के चरण सान्निध्य में समाप्त हुआ ।।

अंक :- 8

वार्ता - समुद्देशः

वार्ता विद्या का स्वरूप व वैश्यों की जीविका :-

कृषिः पशुपालनं वाणिज्या च वार्ता वैश्यानाम् ।।1।।

अन्वयार्थ : (कृषिः) खेती (पशुपालनम्) पशुओं का संरक्षण (च) और (वाणिज्या) व्यापार (वैश्यानाम्) वैश्यों का धन्धा [अस्ति] है ।

वैश्यों की आजीविका के साधन खेती करना, पशु पालना और व्यापार करना है ।

विशेषार्थ :- वैश्य उत्तम कुल है । यह पिण्ड शुद्धि रखता है । आचार्य जिनसेनस्वामी ने इनके जीवन निर्वाह के विषय में कहा है :-

असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव वा ।
कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजा जीवन हेतवे ।।1।।

आ.पु.

अर्थ :- इतिहास के आदिकाल में भगवान ऋषभदेव ने प्रजा की जीवन रक्षा के लिए 1. असि 2. मषि, 3. कृषि, 4. विद्या, 5. वाणिज्य और 6. शिल्प ये छः कर्म निर्धारित किये थे ।

असि - युद्धकला - अस्त्र-शस्त्र प्रयोग कला । मषि - लेखन क्रिया ।

कृषि - खेती-अनाज उपजाने की कला । विद्या - वचन प्रयोग - व्याकरण, गणित, साहित्यादि का अभ्यास करना।

वाणिज्य - व्यापार - हीरा, मोती, जवाहिरात, किराना आदि का व्यापार ।

शिल्पकला - चित्रकला, नक्काशी आदि की कलाओं द्वारा जीविका चलाना ।

जीविकोपार्जन के साधनों से राजा का लाभ क्या :-

वार्ता समृद्धौ सर्वाः समृद्धयो राज्ञः ।।2।।

अन्वयार्थ :- (वार्ता) आजीविका के साधन (समृद्धौ) वृद्धिंगत होने पर (सर्वाः) समस्त प्रजा व (राज्ञः) राजा की समृद्धि [भवति] होती है ।

आजीविका के साधन उपयुक्त और पर्याप्त रहते हैं तो राजा-प्रजा दोनों ही खुशहाल, बलवान, स्व स्व कार्य निष्ठ होते हैं ।

विशेषार्थ :- राजा का सुख-दुःख प्रजा के दुःख-सुख के अनुसार होता है । शुक्र नामक विद्वान का कथन विचारणीय है :-

कृषि द्वयं वणिज्याश्च यस्य राष्ट्रे भवन्त्यमी ।
धर्मार्थकामा भूपस्य तस्य स्युः संख्यया बिना ।।1।।

अर्थ :- जिस राजा के राज्य में शरत् और ग्रीष्म ऋतु में खेती की फसल अच्छी होती है और व्यापार की उन्नति होती रहती है उसे असंख्यात धर्म, अर्थ और भोगोपभोगों की उपलब्धि होती है । अभिप्राय यह है कि राज्य और राजा का उत्थान-पतन प्रजा के उत्थान-पतन के अनुसार होता है ।

गृहस्थ के सांसारिक सुखों के निरूपण :-

तस्य खलु संसार सुखं यस्य कृषिर्धेनवः शाकवाटः सद्मन्युदपानं च ।।3।।

अन्वयार्थ :- (यस्य) जिस गृहस्थ घर (कृषिः) खेती (धेनवः) गायें (शाकवाटः) शाक-तरकारी की वाटिका (च) और (सद्मनि) घरांगन में (उदपानम्) कूप [अस्ति] है (तस्य) उसके (खलु) निश्चय से (संसार सुखम्) सांसारिक सुख [भवति] होता है ।।3।।

जिस घर में गृहस्थ के खेती पर्याप्त होती हो, शाक-भाजी तरकारी के लिए सुन्दर वाटिका हो और घर में कूप हो उसे सांसारिक सुख यथार्थ प्राप्त है ऐसा समझना चाहिए ।

विशेषार्थ :- भोजन, आवास और वस्त्र मानव की मुख्य आवश्यकताएँ हैं । संसार में इनकी जिसे उपलब्धि होती है उसे सुखी माना जाता है । शुक्र विद्वान ने भी इस विषय में लिखा है :-

कृषि गोशाक वाटिकाश्च जलाश्रयसमन्विताः ।
गृहे यस्य भवन्त्येते स्वर्गलोकेन तस्य किम् ।।1।।

अर्थ :- जिस गृहस्थ के यहाँ खेती, गाय-भैंस धन पालन-पोषण, एवं फल-तरकारी की वाटिका-उद्यान हो और स्वयं का कूप भी रहे तो वह घर व परिवार सुखी होता है उसे स्वर्ग से क्या प्रयोजन ? अर्थात् भूमि पर ही स्वर्ग समान सुख-शान्ति प्राप्त होती है । फिर स्वर्ग सुखों से क्या लाभ ? कुछ भी नहीं ।।2।।

फसल काल में धान्य संग्रह न करे तो नृप की हानि :-

विसाध्यराज्ञस्तंत्र पोषणे नियोगिना मुत्सवो महान् कोशक्षयः ।।4।।

अन्वयार्थ :- (विसाध्यराज्ञः) धान्य संग्रह विहीन राजा को (तंत्रपोषणे) सेना का पोषण में कष्ट (नियोगिनाम्)

मंत्री आदि को (उत्सवः) आनन्द [एवं] (कोशक्षयः) खजाने का नाश (महान्) अधिक [भवति] होता है ।

जो राजा फसल काल में धान्यादि का पर्याप्त संग्रह नहीं करता उसे सैनिक रसद को कष्ट उठाना पड़ता है, खजाना-कोष रिक्त हो जाता है और मंत्री आदि कार्य कर्त्ता अन्यायी हो जाते हैं ।

विशेषार्थ :- समयानुसार धान्योत्पादन होने पर यदि नृपति अपनी खत्ति-कोठारों को परिपूर्ण नहीं करता है तो सेना को पर्याप्त भोजन रसद नहीं दे सकता । अतः सैन्यबल क्षीण हो जाता है । मन्त्री व व्यवस्था देखने वाले आनन्दित होते हैं क्योंकि अनाज आदि मनमानी मंहगाई से बिक्री करते हैं । न्याय-अन्याय की चिन्ता नहीं करते । इससे राज-कोष भी क्षीण हो जाता है । क्योंकि मन्त्री आदि गोल माल कर आवश्यकता से अधिक लूट-पाट कर लेते हैं । विद्वान नारद ने लिखा है :-

ग्रीष्मे शरदि यो नान्नं संगृह्णाति महीपतिः ।
नित्यं मूल्येन गृह्णाति तस्य कोषक्षयो भवेत् ॥1॥

अर्थ :- जो नृपति ग्रीष्म ऋतु व शरद ऋतु में फसल आने पर पर्याप्त अन्न का संग्रह नहीं करता है, उसे नित्य मूल्य देकर अन्न-धान्य क्रय करना पड़ता है । फलतः उसका कोष-खजाना नष्ट हो जाता है । राजा की शक्तियों में कोष शक्ति अनिवार्य और प्रमुख है ।

नीतिज्ञ भूपति का कर्त्तव्य है कि अपनी विशाल सेना को पुष्ट और आज्ञाकारी बनाये रखने के लिए उसके भरण-पोषण-रसद का साधन बनाये रखे । सैन्य बल से राज्य बल रक्षित रहता है ।4॥

आय के बिना व्यय करने वाले मनुष्य की हानि :-

नित्यं हिरण्यव्ययेन मेरुरपि क्षीयते ।।5॥

अन्वयार्थ :- (नित्यम्) प्रतिदिन (हिरण्य) सुवर्ण (व्ययेन) खर्च करने से (मेरुः) सुमेरु (अपि) भी (क्षीयते) नष्ट हो जाता है ।

आय के अभाव में खर्च करने से संचित पूंजी समाप्त हो जाती है ।

विशेषार्थ :- जो व्यक्ति व राजा सतत् संचित धन राशि का व्यय करता रहता है और नवीन धन सञ्चय का लक्ष्य ही नहीं रखता उसका विशाल-अटूट खजाना भी एक दिन रिक्त हो जाता है । और तो क्या सुमेरु पर्वत के बराबर भी धन का ढेर हो वह भी समाप्त हो जाय तो सामान्य कोष की क्या बात ? वह तो अल्प काल में रिक्त होगा ही । शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

आगमे यस्य चत्वारि निर्गमे सार्धपञ्चमः ।
स दरिद्रोत्वमाप्नोति वित्तेशोऽपि स्वयं यदि ।।1॥

अर्थ :- जिस मानव की आय-कमाई चार रुपये-मुद्राएँ हों और व्यय-खर्च साढे पाँच मुद्राएँ-सिक्के-रुपये हों तो वह कुबेर समान वैभवशाली ही क्यों न हो शीघ्र ही दारिद्रय को प्राप्त हो जाता है । प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य

है अपनी आय के अन्दर ही खर्च करे । कहावत है, "तेते पाँव पसारिये जेती लम्बी सौर" अपने ओढ़ने के वस्त्र की लम्बाई देखकर पाँव-पैर फैलाने से वे ढके रहेंगे अन्यथा खुले हो जांयेगे ।

बुद्धिमत्ता इसी में है "Cut your coat acording your cloth." आय के अनुसार व्यय करे ।

धान्य संग्रह न कर अधिक व्यय करने वाले राजा की हानि :-

तत्र सदैव दुर्भिक्ष यत्र राजा विसाधयति ।।6।।

अन्वयार्थ :- (यत्र) जहाँ (राजा) भूपति (विसाधयति) धान्य सञ्चय नहीं करता (तत्र) वहाँ (सदैव) हमेशा (दुर्भिक्षम्) अकाल [स्यात्] होगा ।

फसल की ऋतु में यदि राजा अनाज सञ्चय नहीं करे तो उस राजा के राज्य में सदा ही दुर्भिक्ष बना रहता है ।

विशेषार्थ :- जो राजा अपने राज्य में धान्य संग्रह नहीं करता और व्यय अधिक करता है, उसके राज्य में सदा काल अकाल-दुर्भिक्ष ही बना रहता है । क्योंकि उसे अपनी विशाल सेना के भरण पोषण करने के लिए अधिक रसद-अन्न की आवश्यकता होती है । इसलिए जब वह राज्य में से धान्य खरीद लेता है तो प्रजा को कमी हो जाती है । इस कारण दुर्भिक्ष हो जाता है । विद्वान नारद ने लिखा है :-

दुर्भिक्षेऽपि समुत्पन्ने यत्र राजा प्रयच्छति ।
निजार्घ्येन निजं शस्यं सदा लोको न पीड्यते ।।1।।

अर्थ :- दुर्भिक्ष-फसल नष्ट हो जाने पर भी जहाँ भूपाल स्वयं अपनी धन राशि से धान्य-अनाज खरीद कर अपनी प्रजा में वितरण करता है, उसकी प्रजा पीड़ित नहीं होती । अपितु विशेष उत्साहित होती है ।

अतएव सुयोग्य-विचारज्ञ नृपति का कर्त्तव्य है सर्व प्रथम पर्याप्त मात्रा में अनाज संग्रह करके रखे ।

धन लोलुपी राजा की हानि :-

समुद्रस्य पिपासायां कुतो जगति जलानि ? ।।7।।

अन्वयार्थ :- (समुद्रस्य) सागर की (पिपासायाम्) प्यास में (जगति) संसार में (कुतो) कहाँ से (जलानि) जल हो ?

यदि सागर स्वयं प्यास से पीड़ित हो तो भला संसार को जल कहाँ से प्राप्त होगा ? कहीं से भी नहीं।

विशेषार्थ :- आगम में उल्लेख है कि लवण समुद्र में गंगा, सिन्धु आदि 14 नदियाँ चौदह-चौदह हजार नदियों के साथ गिरती हैं । आगे वाली तो और दूनी-दूनी नदियों को सहायक बनाकर ले जाती हैं और रत्नाकर की पिपासा शान्त करने का उद्यम करती हैं फिर भी यदि वह सन्तुष्ट नहीं हो तो फिर संसार में प्राणियों की पिपासा कैसे शान्त हो ? अर्थात् नहीं हो सकती ।

समुद्र की प्यास बुझाने को इससे अधिक जल उपलब्ध नहीं हो सकता । इसी प्रकार राजा भी यदि प्रचुर धन राशि की लोलुपता वश प्रजा को छठवें भाग से अधिक कर-टैक्स लेगा तो फिर जनता के पास धन कहाँ से रहेगा ? राष्ट्र की सम्पत्ति किस प्रकार वृद्धिंगत होगी ? ऐसी दशा में राष्ट्र राज्य में अमन-चैन भी किस प्रकार रह सकता है ?

टैक्स की अधिकता से सम्पूर्ण राज्य व राष्ट्र दारिद्र पीडित होकर नष्ट हो जायेगा । अतएव राजा को न्याय-नीति पूर्वक राज्योचित नियमानुसार ही कर (टैक्स) लेना चाहिए । इस प्रकार न्यायोचित कर देकर प्रजा सन्तुष्ट रहती है, राज्य-राष्ट्र भी सम्पन्न होता है । सतत् वृद्धि को प्राप्त होता रहता है । शुक्र विद्वान ने भी लिखा है -

षडभागाभ्यधिको दण्डो यस्य राज्ञः प्रतुष्टये ।
तस्य राष्ट्रं क्षयं याति राज्यं च तदनन्तरम् ॥1॥

अर्थ :- जो नृप प्रजा की आय के छठवं भाग से अधिक धन राशि कर-टैक्स में लेता है या लेने की लालसा करता है उसका देश नष्ट हो जाता है और क्रमशः पुनः राज्य भी नाश को प्राप्त हो जाता है । निःसन्देह देश व राज्य का उत्थान-पतन राजा की सन्तुष्टि व लोलुपता के आश्रय रहता है।

सारांश यह है कि राजा को राजनीति का पूर्ण ज्ञाता होना चाहिए । भोग-विलास और व्यसनों से अच्छूता रहना चाहिए । जो यथोचित्त कर-टैक्स वसूल कर सन्तुष्ट रहता है वह महीपाल अपने राज्य, राष्ट्र के साथ सुखी रहता है ।

गाय-भैंस की रक्षा न करने से हानि :-

स्वयं जीवधनमपश्यतो महती हानिर्मनस्तापश्च क्षुत्पिपासाऽप्रतिकारात् पापं च ।।8॥

अन्वयार्थ :- (स्वयम्) अपने आप (जीवधनम्) जीविकोपार्जित धन-गाय-भैंस (अपश्यतः) नहीं देखने पर (मनस्तापः) मन में पश्चाताप (क्षुत्पिपासा) क्षुधा तृषा, (च) और (अप्रतिकारात्) प्रतिकार न करने से (पापं) पाप (इति) ये (महती) बहुत बड़ी (हानिः) क्षति [भवति] होती है ।

अर्थ :- जीवनोपयोगी साधनों की उपेक्षा करने वाले व्यक्ति को मानसिक, आर्थिक आदि अनेक प्रकार के संक्लेश उत्पन्न होते हैं ।

विशेषार्थ :- भैंस, गाय, खेत आदि जीवन के साधन हैं । उनकी देख-रेख करना आवश्यक है । जो व्यक्ति स्वार्थ व अज्ञान वश इनकी देख-भाल नहीं करता उसे महान क्षति का शिकार होना पडता है । आर्थिक हानि प्रमुख है । इसकी क्षति से अन्य हानियाँ भी उठानी स्वाभाविक है । यदि वे मृत्यु को प्राप्त हुए तो संक्लेश-मानसिक पीडा होती है । उन्हें भूखे-प्यासे रखने से महान् पाप बन्ध होता है ।

राजनैतिक क्षेत्र में गाय-भैंस आदि जीवन निर्वाह में उपयोगी सम्पत्ति की रक्षा न करने वाले नृप को बहुत आर्थिक क्षति होती है । क्योंकि गो धन राष्ट्र व देश महती सम्पत्ति है । जिस देश व राष्ट्र में गो-धन रक्षित नहीं होता तो उसकी राज्य समुन्नति हो ही नहीं सकती क्योंकि घृत, दुग्ध आदि पौष्टिक पदार्थ गोधन से ही उपलब्ध

होते हैं । कृषि-व्यापार भी गोधन से ही होना संभव हैं । अतः इस प्रकार की उन्नति के लिए गोधन रक्षा परमावश्यक है । सांसारिक कार्य-कलाप गोधन पर ही आश्रित रहते हैं ।। शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

चतुष्यदादिकं सर्वं स स्वयं यो न पश्यति ।
तस्य तन्नाशमभ्येति ततः पापमवाप्नुयात् ।।1।।

अर्थ :- जो मनुष्य गाय-भैंस आदि पशुओं की संभाल-देख-रेख नहीं कर सकता उसका वह गोधन नष्ट हो जाता है। अकाल में मृत्यु के मुख में प्रविष्ट हो जाता है । जिससे उसे महान पाप बंध होता है।

निष्कर्ष यह है कि महीपाल को राज्य राष्ट्र की समुन्नति के साधन व व्यापार के हेतू गोधन की रक्षा करना चाहिए। इसी का स्पष्टीकरण :-

वृद्ध-बाल-व्याधित-क्षीणान् पशून् बान्धवानिव पोषयेत् ।।9।।

अन्वयार्थ :- (वृद्ध) जरापीडित (बाल) बैछछे, बच्छी (व्याधित) रोगी (क्षीणान्) दुर्बल (पशून्) पशुओं की (बान्धवान्) बन्धुवर्ग सदृश-(इव) समान (पोषयेत्) पोषण करना चाहिए ।

जिस प्रकार अपनी सन्तान का लालन-पालन पोषण करते हैं उसी प्रकार पशुओं का भी भरण-पोषण करना चाहिए क्योंकि वे भी बाल-बच्चों समान हमारे आश्रित हैं ।।

विशेषार्थ :- जिस प्रकार मनुष्य का कर्त्तव्य अपनी सन्तान के प्रति होता है उसी प्रकार अपने आश्रित पशुओं के प्रति भी समझना चाहिए । अपनी सन्तान व परिवार का पोषण हम हर पर्याय अवस्था में करते हैं उसी प्रकार पशुओं की भी बाल, वृद्ध, रुग्न, क्षीणादि समस्त अवस्थाओं में यथायोग्य व्यवस्था, देख-भाल करना चाहिए । रुग्न व वृद्धावस्था में उनकी उपेक्षा नहीं करना चाहिए । विद्वान व्यास जी ने भी कहा है :-

अनाथान् विकलान् दीनान् क्षुत्परीतान् पशूनपि ।
दयावान् पोषयेद्यस्तु स स्वर्गे मोदते चिरम् ।।1।।

अर्थ :- जो कृपालु-दयाद्र हृदय मनुष्य अनाथ-माता-पिता विहीन लूले-लंगडे, अन्धे आदि अङ्गविहीन, भूखे-प्यासे दरिद्री, एवं पीड़ित पशुओं की रक्षा करते हैं-भरण-पोषण करते हैं, वे स्वर्ग में चिरकाल तक दिव्य भोगों को भोगते हैं। अर्थात् उन सेवकों को देवगति प्राप्त होती है ।

पशुओं के अकाल मरण का कारण :-

अतिभारो महान् मार्गश्च पशूनामकाले मरणकारणम् ।।10।।

अन्वयार्थ :- (अतिभारः) शक्ति से अधिक भार लादना (च) और (महान्) कठिन-लम्बा (मार्गः) रास्ता पार कराने से (पशूनाम्) पशुओं का (अकाले) आयु पूर्ण होने से पहले ही (मरण) मृत्यु का (कारणम्) कारण है ।।

शक्ति से अधिक बोझा लादने से, कठिन-पथरीले, पहाड़ी आदि कठोर लम्बे मार्ग की दूरी तय कराने से पशुओं का अकाल मरण होता है ।

विशेषार्थ :- मूक पशु वचन शक्ति का अभाव होने से आन्तरिक सुख-दुःख की अभिव्यक्ति करने में समर्थ नहीं होते । क्षुधा तृषा की बाधा को भी व्यक्त नहीं कर सकते । थक गये तो क्या श्रमित होकर-चुप बैठ सकते हैं ? नहीं । ये सभी कष्ट उन्हें विवश होकर भोगने होते हैं, फिर मरण हो जाय तो क्या आश्चर्य है ? बेचारों को असमय में ही मरण को वरण करना पड़ता है । हारीत विद्वान कहता है :-

अतिभारो महान् मार्गः पशूनां मृत्युकारणम् ।
तस्मादर्हभावेन मार्गेणापि प्रयोजयेत् ।।१ ॥

अर्थ :- पशुओं पर शक्ति से बाहर बोझा लादने और दीर्घ कठिन मार्ग पार कराने से उनका अकाल में मरण होने की संभावना है । मर जाते हैं । इसलिए उनके ऊपर उनकी योग्यता के अनुसार अल्प बोझा लादना चाहिए । तथा उन्हें अल्प समय तक ही कम दूरी तक ही चलाना चाहिए । जैनाचार्यों ने अहिंसाव्रत के अतिचारों में अतिभारारोपण अतिचार बताया है । अतः दयालु व्यक्ति को शक्ति के बाहर बोझा भार नहीं लादना चाहिए । अधिक तेज चाल में भी नहीं चलाना चाहिए ।

दूसरे देशों से माल आना क्यों बन्द होता है ? :-

शुल्क वृद्धि र्बलात् पण्यग्रहणं च देशान्तर भाण्डानामप्रवेशे हेतुः ।।1 ॥

अन्वयार्थ :- (शुल्कवृद्धि) अधिक कर लगाना (बलात्) बलात् (च) और (पण्यग्रहणम्) द्रव्य ग्रहण करना ये (देशान्तरभाण्डानाम्) विदेश से माल आने में (अप्रवेशे) रुकावट का (हेतुः) कारण है ।

आवश्यकता से अधिक टैक्स-कर लगाना और बलात् द्रव्य ग्रहण करने से उस राजा के राज्य में विदेश से माल आना बन्द हो जाता हैं ।

विशेषार्थ :- जिस देश में दूसरे देश की चीजों पर अधिक टैक्स लगाया जाता हो, तथा जहाँ से राजकर्मचारीगण बलात् कम मूल्य देकर वस्तुएँ छीन लें उस देश में अन्य देश से माल-असबाब आना बन्द हो जाता है ।।1॥ शुक्र विद्वान ने भी लिखा है :-

यत्र गृहणन्ति शुल्कानि पुरुषा भूपयोजिता ।
अर्थहानिं च कुर्वन्ति तत्र नायाति विक्रयाम् ।।1 ॥

अर्थ :- जहाँ पर राजकर्मचारी वस्तुओं पर अधिक टैक्स-चुंगी बढ़ाते हों, और व्यापारियों का जबरन धन का नाश करते हों उस देश में व्यापारी लोग अपना माल बेचना बन्द कर देते हैं ।।1 ॥

उक्त बात का दृष्टान्त द्वारा समर्थन :-

काष्ठपात्र्यामेकदैव पदार्थो रध्यते ।।12।।

अन्वयार्थ :- (काष्ठपात्र्याम्) लकड़ी के पात्र में (एकदा) एक बार (एव) ही (पदार्थाः) भोजन-पदार्थ (रध्यते) पकता है ।

काठ की हाँडी एक बार ही चूल्हे पर चढ़ सकती है । इसी प्रकार अन्यायी राजा का दाब एक बार ही लग सकता है ।

विशेषार्थ :- जिस प्रकार काष्ठ के पात्र में भोजन बनाया जाय तो वह एक बार ही काम करता है पुनः जलकर नष्ट हो जाता है । इसी प्रकार जो राजा अपने कर्मचारियों पर कण्ट्रोल नहीं रखता, कर्मचारी लोग कम कीमत देकर उनका वलात् वस्तुओं को छीन लेते हों और टैक्स अधिक लें तो उसके यहां विदेशी वस्तुएँ आना ही बन्द हो जाती हैं । इस प्रकार आयात-निर्यात व्यवस्था ही समाप्त हो जाती है । शुक्र विद्वान ने लिखा है :-

शुक्ल वृद्धिर्भवेद्यत्र वलान्मूल्यं निपात्यते ।
स्वप्नेऽपि तत्र न स्थानेप्रविशेद् भाण्डविक्रयी ।।

अर्थ :- जिस राज्य में टैक्स बढ़ाया जाता है और मूल्य घटा दिया जाता है, वहाँ पर वस्तु बेचने वाले वणिक् जन स्वप्न में भी प्रवेश करना नहीं चाहते हैं ।

अभिप्राय यह है कि आयात-निर्यात् व्यवस्था को ठोस बनाने के लिए राजा को उचित टैक्स लगाना चाहिए और बहुमूल्य वस्तु को अल्पमूल्य में लेने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए ।

व्यापार कहाँ नष्ट हो जाता है ?

तुलामानयोरव्यवस्था व्यवहारं दूषयति ।।13।।

अन्वयार्थ :- (तुलामानयोः) तराजू व माप (अव्यवस्था) अव्यवस्थिति (व्यवहारम्) व्यवहार को (दूषयति) दूषित करता है ।

व्यवहार को दूषित करने वाली मायाचारी है । वस्तुएँ लैन-दैन करते समय तौलने के बटखडे कम-वेशी रखना और मापने के द्रोणी वगैरह पात्र भी छोटे बडे रखना यह व्यवहार को विकृत कर देता है ।

विशेषार्थ :- लोक में प्रायः देखा जाता है धनलोलुपी व्यापारी माल लेने के बाट अधिक भारी व तराजू के पलड़ो में पासंग रखते हैं और देने के बाट कमती रखते हैं । मापने के द्रोण आदि बडे-छोटे रखते हैं । इस प्रक्रिया से विश्वास नष्ट हो जाता है । लोक व्यवहार विकारी हो जाता है । शिष्ट पुरुषों का व्यापार लैन-दैन नष्ट हो जाता है । इस अव्यवस्था व दुरव्यवस्था से प्रजा को कष्ट होता है । अन्याय, असत्यादि की प्रवृत्ति प्रचलित होती है ।

वर्ग विद्वान ने भी इस विषय में लिखा है :-

गुरुत्वं च लघुत्वं च तुलामान समुद्भवम् ।
द्वि प्रकारं भवेद्यत्र वाणिज्यं तत्र नो भवेत् ।।1।।

अर्थ :- जिस राज्य में तराजू और तोलने-नापने के बाँट छोटे-बडे रखे जाते हैं, वहाँ पर व्यापार नहीं चलता ।।1।।

व्यापारियों द्वारा मूल्य बढाकर संचित धन से प्रजा की हानि :-

वणिग्जनकृतोऽर्थः स्थितानागन्तुकांश्च पीड्यति ।।14।।

अन्वयार्थ :- (वणिक् जन) व्यापारी (कृतः) किया हुआ (अर्थः) संचित धन (स्थितान्) वहीं स्थित (च) और (आगन्तुकान्) आगत जनों को (पीडयति) पीड़ा देता है ।।14।।

व्यापारीजन स्वेच्छापूर्वक क्रय-विक्रय की वस्तुओं में मनमाना मूल्य बढ़ाकर विक्रय करना, एवं धन सञ्चय, करते हैं । इससे तत्रस्थ प्रजा को तथा बाहर से आये हुए व्यक्तियों को महान कष्ट होता है । दारिद्रजन्य पीड़ा होती है ।

महीपती का कर्तव्य है कि वह व्यापारियों की व्यवस्था सम्यक् प्रकार करे । जो व्यापारी मनमाना मूल्य लेकर वस्तु विक्रय करते हैं और अल्पतम मूल्य देकर खरीदते हैं । वहाँ प्रजा में दरिद्रता पांव तोड़ कर बैठ जाती है । दरिद्रता संसार में सबसे बड़ा संकट है । देश, राष्ट्र, प्रजा, राजा सब ही सम्पत्ति के अभाव से शक्तिहीन हो सकते हैं । हारीत विद्वान लिखता है :-

वणिग्जनकृतो योऽर्थोऽनुज्ञानश्च नियोगिभिः ।
भूपस्य पीड्येत् सोऽत्र तत्स्थानागन्तुकानपि ।।1।।

अर्थ :- व्यापारियों द्वारा मूल्य बढ़ाकर संचित किया हुआ और राजकर्मचारियों द्वारा घूंस-रिश्वत में संचित धन, वहाँ की जनता और बाहर से आये आगन्तुक जनों एवं राजा को भी निर्धन-दरिद्री बना देता है ।।14।।

वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करने के विषय में :-

देश-काल-भाण्डापेक्षया वा सर्वार्घो भवेत् ।।15।।

अन्वयार्थ :- (देश) क्षेत्र (काल) समय (भाण्डापेक्षया वा) अथवा पदार्थों के ज्ञान की अपेक्षा (सर्व) सम्पूर्ण वस्तुओं का (अर्घः) मूल्य (भवेत्) होना चाहिए ।

अन्न, वस्त्र, सुवर्णादि का मूल्य निर्धारण, देश, काल व पदार्थों के उत्पादनादि की अपेक्षा निर्धारित करना चाहिए।

विशेषार्थ :- राजा ज्ञात करे कि मेरे राज्य में व अन्य देश में अमुक वस्तु उत्पन्न हुई या नहीं ? कितनी हुई है?

किस समय किस देश में कौन वस्तु भेजना व किसको मांगना चाहिए "यह कालापेक्षा" समझना चाहिए।

कहाँ किस किस वस्तु का उत्पादन कितनी मात्रा में हुआ है इसका विचार करना राजा का कर्त्तव्य है । इस प्रकार जानकारी होने से वस्तुओं का भाव-मूल्य निर्धारण करने में सुविधा होती है । परिणामतः व्यापारी भी मनमानी नहीं कर सकेंगे । घूंस-खोरी का उद्भव ही नहीं होगा । प्रजा में धन का प्राचूर्य बना रहेगा । कोई भी दारिद्रय पिशाच से ग्रस्त नहीं होगा । सभी अमन-चैन की वंशी बजायेंगे-सुखी होंगे ।।15।।

व्यापारियों के छल-कपट में राजा का कर्त्तव्य :-

पण्यतुलामान वृद्धौ राजा स्वयं जागृयात् ।।16।।

अन्वयार्थ :- (पण्यतुलामानवृद्धौ) व्यापारियों की तुला व मान के विषय में (स्वयम्) अपने आप (राजा) नृप (जागृयात्) जाग्रत रहें ।।16।।

राजा को प्रजा की सुरक्षा व अमन-चैन, सुख-सुविधा को दृष्टि में रखना चाहिए । इसके लिए वह स्वयं जाग्रत रहे । वह स्वयं इनक्वारी करे कि व्यापारी वर्ग बाट-तराजू एवं मान-प्रस्थादि बराबर रखते हैं या नहीं । सेर-पसेरी, गुञ्जादि तुला के साधन और प्रस्थादि मान के साधन यथायोग्य हैं या नहीं ।

विशेषार्थ :- बहुमूल्य वस्तुओं में अल्पमूल्य की वस्तुओं का मिश्रण करना, नवीन पदार्थों में पुराने मिलाना, तुला-मान में कमीवेशी रखना या व्यापारियों की चाल-बाजी चलती है । शोषण और पोषण में रात्रि-दिवस, अन्धकार-प्रकाश समान अन्तर है । राजा का उद्देश्य प्रजा का पोषण करना होता है । शुक्र विद्वान ने लिखा है :-

भाण्डसंगात्तुलामानाद्धीनाधिक्याद्वणिक जनाः ।
वंचयन्ति जनं मुग्धं तद्विशेषं महीभुजः ।।1।।

अर्थ :- वणिक् जन बहुमूल्य वाली वस्तुओं में अल्पमूल्य वस्तु का मिश्रण करना, दो प्रकार की तुला, दो प्रकार का मान रखकर बेचारे मुग्ध-भोले भाले लोगों को ठगते हैं । इन विषयों में राजा को हस्तक्षेप करना चाहिए अर्थात् छल, कपट, लूट-पाट एवं बलात् परधनहरण आदि कुकृत्यों पर रोक लगाना और न्याय नीति का प्रचार प्रसार रखना नृपति का कर्त्तव्य है ।।16।।

राजा को वणिक् लोगों से असावधान रहने से हानि :-

न वणिग्भ्यः सन्ति परे पश्यतोहरः ।।17।।

अन्वयार्थ :- (वाणिग्भ्यः) व्यापारियों से (परे) बढ़कर (पश्यतोहरः) चोर (न) नहीं (सन्ति) हैं।

वणिक् लोगों को छोड़कर अन्य कोई प्रत्यक्ष चोर नहीं है ।

विशेषार्थ :- तस्कर तो रात्रि में प्रच्छन्न रूप से माल-असबाब लेकर जाते हैं । अर्थात् परोक्ष में चोरी करते हैं। परन्तु वणिक् जन दिन में प्रत्यक्ष देखते हुए कम तौल कर, कमती कपड़ा आदि माप कर, गज छोटा रखकर तराजू के पलड़े आदि ऊपर-नीचे कर चोरी करते हैं । अतः आचार्य श्री ने इन्हें "प्रत्यक्षचोर" कहा है । सामने

ही अल्प मूल्य की वस्तु बहुमूल्य की वस्तु में मिलाकर दे देते हैं । दूध में आराम से पानी झोक देते हैं । बासी मिठाईयों को ताजा के साथ पार कर देते हैं । अत: प्रत्यक्ष चोरी सिद्ध ही है ।

श्री वल्लभदेव विद्वान ने भी लिखा है :-

मानेन किंचिन्मूल्येन किंचित्तुलयाऽपि किंचित् कलयाऽपि किंचित् ।

किंचिच्च किंचिच्च गृहीतुकामाः प्रत्यक्ष चौरा वणिजो नराणाम् ।।17।।

अर्थ :- वणिक् लोग नापने-तोलने के बाटों में गोलमाल करके, वस्तुओं का मूल्य बढ़ाकर और चतुराई से विश्वास दिलाकर लोगों के धन का अपहरण करते रहते हैं । अतएव ये मनुष्यों के मध्य में प्रत्यक्ष चोर कहे जाते हैं ।।17।।

ईर्ष्या से वस्तुओं का मूल्य बढ़ा देने पर राजा का कर्त्तव्य :-

स्पर्द्धयामूलवृद्धिर्भाण्डेषु राज्ञो यथोचितं मूल्यं विक्रेतुः ।।18।।

अन्वयार्थ :- (स्पर्द्धया) ईर्ष्या से (मूलवृद्धिः) मूल्य में वृद्धि (भाण्डेषु) विक्रय की वस्तुओं में करें तो (राज्ञः) राजा का कर्त्तव्य है (विक्रेतुः) बेचने की वस्तु का (मूल्यम्) मूल्य (यथोचितम्) यथार्थ (कुर्यात्) करे।

पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष से यदि बेचने की वस्तुओं में व्यापारी जन-मन-माना मूल्य बढ़ा दें तो राजा का कर्त्तव्य है उसे यथोचित कीमत में बिकवाये ।

विशेषार्थ :- व्यापारी वर्ग में परस्पर होड़ लग जाती है, ईर्ष्या हो जाती है । अपना व्यापार वृद्धि के उद्देश्य से वस्तुओं की कीमत में कमी वेशी कर देते हैं । शॉर्टेज होने पर मनमाना मूल्य बढ़ा देते हैं इस परिस्थिति में साधारण जनता को कष्ट होने लगता है । साधारण स्थितिवाले पीडानुभव करते हैं । दारिद्रय छा जाता है । अत: राज्य और प्रजा की स्थिति का सन्तुलन बनाये रखने के लिए राजा को व्यापारियों की नीति पर अंकुश लगाना चाहिए।

हारीत विद्वान ने लिखा है :-

स्पर्द्धया विहितं मूल्यं भाण्डस्याप्यधिकं च यत् ।

मूल्यं भवति तद्राज्ञो विक्रेतुर्वर्धमानकम् ।।1।।

अर्थ :- व्यापारी वर्ग द्वारा स्पर्द्धा से वस्तुओं का मूल्य बढाये जाने पर वह वृद्धिंगत मूल्य राजा का ही होता है और व्यापारी को उचित मूल्य ही प्राप्त होना चाहिए ।।18।।

सुवर्णादि बहुमूल्य वस्तु के साथ अल्पमूल्य की वस्तु मिलाकर विक्रय करने पर बेचने वाले के प्रति राजा का कर्त्तव्य:-

अल्प द्रव्येण महाभाण्डं गृह्णतो मूल्याविनाशेन तद्भाण्डं राज्ञः ।।19।।

अन्वयार्थ :- (अल्पद्रव्येण) कम मूल्य द्वारा (महाभाण्डम्) वस्तुएँ (गृह्णतः) ग्रहण करने वाले

(मूल्याविनाशेन) जितना मूल्य हो उतना देकर (राज्ञः) राजा का कर्त्तव्य है (तद्) उसके शेष को (भाण्डम्) वस्तु को [गृह्णीयात्] स्वयं ग्रहण करे ।।

विशेषार्थ :- यदि कोई व्यापारी किसी बहुमूल्य सुवर्ण व हीरादि वस्तु को वंचना कर-धोखा दे अल्प मूल्य में खरीद ले, तो राजा का कर्त्तव्य है कि उसका यथोचित्त मूल्य से अधिक मूल्यवाली वस्तु को 'जब्त' कर ले । परन्तु विक्रय करने वाले को जितना उसे खरीददार ने दिया था, उतना उसे दे देना चाहिए । नारद विद्वान ने भी लिखा है :-

"जब चोर या मूर्ख मनुष्यों ने किसी व्यापारी को बहुमूल्य सुवर्णादि वस्तु अल्पमूल्य में बेच दी हो तो राजा को उसका पता लगाकर खरीदने वाले की वह बहुमूल्य वस्तु जब्त कर लेनी चाहिए और बेचने वाले को अल्पमूल्य दे देना चाहिए ।।1।। देखिये नीति सं.टी.पृ.99. ।।19।।

अन्याय की उपेक्षा करने से हानि :-

अन्यायोपेक्षा सर्वं विनाशयति ।।20।।

अन्वयार्थ :- (अन्यायस्य) अनीति की (उपेक्षा) टालमटोल (सर्वम्) सर्व का (विनाशयति) नाश करती है ।।

यदि अन्याय को उत्पन्न होते ही नहीं रोका तो वह देश, राष्ट्र, राजा प्रजा सब ही का सफाया कर देगा। अतः अन्यायी चोरादि को तत्क्षण दण्डादि की व्यवस्था करना राजा का कर्त्तव्य है ।

विशेषार्थ :- जिसके राज्य में चोरी, अन्यायी, व्यभिचार, अनाचारादि प्रचलित हों और राजा उधर ध्यान न दे । अर्थात् अत्याचार अनाचार करने वालों को उचित दण्ड-विधान कर रोक न लगाये तो वह राजा राज्य राष्ट्र सहित विनाश को प्राप्त होता है । शुक्र ने लिखा है :-

अन्यायान् भूमिपो यत्र न निषेधयति क्षमी ।
तस्यराज्यं क्षयं याति यद्यपि स्यात् क्रमागतम् ।।1।।

अर्थ :- जहाँ भूपति क्षमा धारण कर अन्यायी जनों को उचित दण्ड निग्रह-विधान नहीं करता उसका वंश परम्परा-कुलक्रम से चला आया सुदृढ़ राज्य भी नष्ट हो जाता है । सर्वत्र यथायोग्य व्यवस्था ही सुयोग्य कार्य सिद्धि की नियामक होती है ।।20।।

राष्ट्र के शत्रुओं का निर्देश करते हैं :-

चौर-चरट-मन्नप-धमन-राजवल्लभाटविकतलाराक्षशालिकनियोगिग्रामकूटवार्द्धुषिकाहि
राष्ट्रस्य कण्टकाः ।।21।।

अन्वयार्थ :- (चौरः) तस्कर (चरटः) देश निष्काशित (मन्नपः) क्षेत्रादि का माप करने वाले (धमनः) चारणादि (राजवल्लभः) राजा के प्रेम पात्र (आटविकः) जंगल के रक्षक (तलारः) कोटपाल (अक्षशालिकः) जुआरी

(नियोगि) सेनापति आदि (ग्रामकूटः) पटवारी (वार्द्धुषिकाः) बलावानपुरुष (हि) निश्चय से (राष्ट्रस्य) राष्ट्र के (कण्टकाः) कांटे हैं ।। शत्रु हैं ।

विशेषार्थ :- प्रजा का धन-माल लूटने वाले चोर होते हैं । अपराध करने पर राजा द्वारा जिन्हें देश से निकाल दिया जाता है वे 'चरट' कहलाते हैं । राजा के वे अधिकारी वर्ग जो जमीन-खेतादि की माप-तौल करने वाले "मन्नप" कहलाते हैं । वंश की कीर्ति गान करने वालों को "धमन" कहते हैं । राजा के अतिनिकट रहने वाले चापलूस प्रियपात्र "राजवल्लभ" कहे जाते हैं । जंगलों की रक्षा करने के लिए नियुक्त किये गये राज्याधिकारी "आटविक" कहे जाते हैं। छोटे-छोटे ग्रामादि की रक्षार्थ नियुक्त अधिकार "तलार" कहलाते हैं । जुआरी लोक "अक्षशालिक" कहे जाते हैं । मन्त्रि, पुरोहित-आमात्यादि "नियोगी" कहलाते हैं । पटवारी को "ग्राम कूट" कहते हैं । "वार्द्धुषिका" वे कहलाते हैं जो अन्नादि के संग्रह की व्यवस्था करते हैं । ये 11 व्यक्ति राष्ट्र के कण्टक-कांटे-शत्रु हैं । कंटकों के सदृश उपद्रव करने वाले होते हैं । क्योंकि ये साम, दाम, दण्ड और भेद का प्रयोग कराकर राष्ट्र में उपद्रव फैला सकते हैं । अतः राजा का कर्त्तव्य है कि इन पर कड़ी दृष्टि बनाये रखना चाहिए । प्रत्येक अपराधी को यथोचित तत्काल दण्डित करना चाहिए । राजा को इनकी-अपराधियों की उपेक्षा नहीं करना चाहिए ।। गुरु विद्वान ने भी कहा है :-

चौरादिकेभ्यो दुष्टेभ्यो यो न राष्ट्रं प्ररक्षति ।
तस्य तन्नाशमायाति यदि स्यात्पितृपैतृकम् ।।

अर्थ :- जो राजा चोरादि अपराधियों को प्रत्यक्ष देखकर भी उपेक्षा करता है उन्हें दण्डादि नहीं देता है, उनका निग्रह कर प्रजा की रक्षा की रक्षा नहीं कर सकते वे राजा स्व और पर-राजा और राज्य का नाश हो जाता है ।।21।।

किस राजा के राज्य में राष्ट्र-कण्टक नहीं होते हैं :-

प्रतापवति राज्ञि निष्ठुरे सति न भवन्ति राष्ट्रकण्टकाः ।।22।।

अन्वयार्थ :- (राज्ञि) राज के (प्रतापवति) प्रतापवान एवं (निष्ठुरे) न्याय करने में कठोर (सति) होने पर (राष्ट्रकण्टकाः) राजशत्रु (न) नहीं (भवन्ति) होते हैं ।।

जिस देश में राजा प्रतापी, न्यायनिष्ठ, राजविद्या में निपुण होता है, अपराधियों को यथोचित्त कठोर दण्ड देता है उसके राज्य में शत्रुओं की उत्पत्ति नहीं होती ।

विशेषार्थ :- राजा की दृष्टि प्रजा की सुख समृद्धि के विषय में रहती है तो वह न्याय अन्याय का ध्यान रखता है । शिष्टों का पालन और दुष्टों का निग्रह अपने विद्या-कौशल से करता है । शासन काल में नैपुण्य प्राप्त उस राजा के राज्य में प्रजा को किसी भी वस्तु का अभाव नहीं होता, चोर तस्करादि नहीं होते । अतएव राज शत्रुओं के अभाव से राज्य में सर्वत्र सुख-शान्ति का साम्राज्य स्थापित रहता है । व्यास विद्वान ने कहा है :-

यथोक्त नीति निपुणो यत्र देशे भवेन्नृपः ।
स प्रतापो विशेषेण चौराद्यैर्न स पीड्यते ।।1।।

अर्थ :- जिस राज्य में राजा राज विद्या-नीति कला में निपुण और विशेष प्रतापी होता है उसका वह देश चोर आदि अन्यायिओं द्वारा पीड़ित नहीं किया जाता ।।1॥ अभिप्राय यह है नृपति का योग्य होना अनिवार्य है ।

अन्न संग्रह कर देश में अकाल फैलाने वालों से हानि :-

अन्याय वृद्धितो वार्द्धुषिकास्तत्र देशं च नाशयन्ति ।।23॥

अन्वयार्थ :- [यत्र] जिस राज्य में (वार्द्धुषिका:) अन्याय से अधिक अन्न संचित कर रखते हैं (तत्र) वहाँ (अन्यायवृद्धित:) अन्याय की वृद्धि (च) और (देशम्) देश का (नाशयन्ति) नाश करते हैं ।

जिस देश में व्यापारी अन्याय से अनावश्यक अन्न का अधिक संचय करके रखते हैं, प्रजा को नहीं देते वहां अन्य तंत्र-कार्य भी स्थगित हो जाते हैं - चतुष्पदों, पशुओं आदि की व्यवस्था नहीं हो पाती । फलत: देश नष्ट हो जाता है।

विशेष :- फसल आने पर अन्यायी लोग अपनी-अपनी खत्ती को भर लेते हैं । व्यापारी अधिक सञ्चय कर मंहगाई पैदा करते हैं अथवा माल-अन्न भर कर अकाल-दुर्भिक्ष पैदा कर देते हैं । परिणामत: वह राज्य ही नष्ट हो जाता है । भृगु विद्वान ने कहा है :-

यत्र वार्द्धुषिका देशं अनीत्या वृद्धिमाययु:
सर्वलोकक्षयस्तत्र तिरश्चां च विशेषत: ।।1॥

अर्थ :- जिस देश में वार्द्धुषिका-अन्न संग्रह द्वारा देश में दुर्भिक्ष पैदा करने वाले व्यापारीजन-अनीति से अधिक संख्या में बढ़ जाते हैं । वह देश नष्ट हो जाता है एवं वहाँ के गाय-भैंस आदि पशुओं की भी विशेष क्षति-हानि होती है ।

अभिप्राय यह है कि राजा को ऐसे लोगों की उपेक्षा नहीं चाहिए, जिससे कि उनकी संख्या बढ़े और राष्ट्र को या देश को दुर्भिक्ष का शिकार होकर अपना अस्तित्व ही खो देना पड़े ।।23॥

व्यापारियों की कड़ी आलोचना :-

कार्याकार्ययोर्नास्ति दाक्षिण्यं वार्द्धुषिकानाम् ।।24॥

अन्वयार्थ :- (वार्द्धुषिकानाम्) अन्याय से अन्न संग्रह करने वालों के (कार्याकार्ययो:) कर्त्तव्य व अकर्त्तव्य में (दाक्षिण्यम्) चातुर्य (नास्ति) नहीं होता है ।

जो लोभवश राष्ट्र का अन्न संग्रह करके दुर्भिक्ष उत्पन्न करते हैं उन व्यापारियों को करणीय-अकरणीय विषय में लज्जा नहीं होती । उनमें सरलता नहीं रहती । वे कुटिल परिणामी होते हैं ।

विशेषार्थ :- अन्न राष्ट्र की सम्पत्ति होती है उसका उपभोग करने का सबको अधिकार होता है । परन्तु जहाँ लुब्धक-धन संग्रह के इच्छुक व्यापारी स्वयं अन्न अधिक संग्रह कर लेते हैं । उन्हें राजा दण्ड नहीं दे तो वे कृतघ्न लोभवश इस प्रकृति को नहीं छोड़ते । राजा की सरलता-उपकार का वे कृतघ्न उपयोग कर राज्य को

ही नष्ट करने पर तुल जाते हैं। यहाँ तक कि दण्डित किये जाने पर भी निर्लज्ज हो अपनी संग्रह की भावना को नहीं छोड़ते । कहने का तात्पर्य यह है कि "काटे चाटे खान के दोऊ भांति विपरीत" समान इनकी दशा होती है। श्वान-कुत्ता काटे तो जहर चढ़ता है और चाटे तो भी खुजली रोग हो जाता है । अतः ऐसे लोगों को कठोर दण्ड देना ही चाहिए । इनकी उपेक्षा कदाऽपि नहीं करनी चाहिए । ताकि भविष्य में कभी भी नीति विरुद्ध कार्य करने का साहस न करें । हारीत कहते हैं :-

वार्द्धुषिकस्य दाक्षिण्यं विद्यते न कथंचन ।
कृत्याकृत्यं तदर्थं च कृतैः संख्यविवर्जितैः ।।1।।

अर्थ :- अन्न संग्रहकर दुर्भिक्ष पैदा करने वाले या अधिक ब्याज लेने वाले व्यापारियों के साथ असंख्यातवार भी उपकार किया जाय अथवा अनुपकार किया जाय अर्थात् दण्ड दिया जाय तो भी वे निर्लज्ज सरल नहीं होते अर्थात् दण्डित नहीं किये जाने पर कृतघ्न और दण्ड दिये जाने पर निर्लज्ज हो जाते हैं । निष्कर्ष यह है कि वे स्वार्थान्ध होकर राज्य-राष्ट्र और राजा की चिन्ता नहीं करते । ऐसे मक्कार वणिकों पर कड़ी दृष्टि रखना राजा का कर्त्तव्य है ।124।।

शरीर रक्षार्थ मानव का कर्त्तव्य :-

अप्रियमप्यौषधं पीयते ।।25।।

अन्वयार्थ :- (औषधम्) दवाई (अप्रियम्) प्रिय नहीं होने पर (अपि) भी (पीयते) पी जाती है ।

शारीरिक स्वास्थ्य के लिए मनुष्य कटु औषधि भी प्रेम से पान करता है । फिर यदि मधुर औषधि हो तो कहना ही क्या है ? अर्थात् वह तो अवश्य ही सेवन की जाती है ।

विशेषार्थ :- जिस प्रकार शरीर को स्वस्थ, सुगठित व नीरोग बनाने के लिए मनुष्य कड़वी दवाई को भी सेवन करता है मधुर की तो बात ही क्या है उसी प्रकार उन्हें शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए एवं ऐहिक तथा पारलौकिक सुख प्राप्ति के लिए धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों का अनुष्ठान परस्पर की बाधा-रहित करना चाहिए ।।25।। नीतिकार वादीभसिंह सूरि कहते हैं :-

परस्पराविरोधेन त्रिवर्गो यदि सेव्यते ।
अनर्गलमतः सौख्यमपवर्गोऽप्य नुक्रमात् ।।1।।

अर्थ :- यदि धर्म, अर्थ, काम इन तीनों वर्गों को अविरोध-समान रूप से सेवन किया जाय तो उससे मनुष्यों को बाधा रहित सुख की प्राप्ति होती है और क्रमशः मोक्ष सुख भी प्राप्त होता है । वर्ग विद्वान का कथन है :-

धर्मार्थकामपूर्वैश्च भेषजैर्विविधैरपि ।
यथा सौख्यर्द्धिकं पश्येत्तथा कार्यं विपश्चिता ।।1।।

अर्थ :- उक्त कथन के समर्थन में यहां कहा है कि "विद्वान मानव को सुख सम्पदा की प्राप्ति के लिए विविध औषधियों की भाँति धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ का अनुष्ठान करना चाहिए ।125॥

पूर्वोक्त कथन का समर्थन :-

अहिदष्टा स्वाङ्गुलिरपि च्छिद्यते ।।26॥

अन्वयार्थ :- (अहिः) सर्प (दष्टा) डसी (स्वाङ्गुलिः) अपनी अंगुली (अपि) भी (च्छिद्यते) काट दी जाती है ।

यदि किसी की उंगली को सर्प डस ले तो उसके जहर से शेष शरीर की रक्षार्थ उस अंगुली को काट कर स्वयं मनुष्य फेंक देता है ।

विशेषार्थ :- जिस प्रकार विषैले अहि से डसी उंगली को विवेकी शेष शरीर को निर्विष रखने के उद्देश्य से उसे निर्दयता से काट कर फेंक देता है क्या बहुत बड़े लाभ को क्षणिक-अल्प क्षति सहना उत्तम है? जिस प्रकार वह स्वास्थ्य लाभ लेता है । इसी प्रकार सुयोग्य नीतिज्ञ राजा भी यदि स्वार्थ त्याग अपराधी को दण्ड देता है तो राज्य, राष्ट्र की रक्षा करता है वहां यथार्थ न्यायी भूपाल राज्य को सुरक्षित और प्रजा को प्रसन्न रख सकता है ।

किसी नीतिकार विद्वान ने भी लिखा है :-

शरीरार्थे न तृष्णा च प्रकर्त्तव्या विचक्षणैः ।
शरीरेण सत्ता वित्तं लभ्यते न तु तद्धनैः ।।1॥

अर्थ :- बुद्धिमान पुरुषों को शरीर के संरक्षणार्थ तृष्णा-लालच-लोभ नहीं करना चाहिए । क्योंकि शरीर के विद्यमान रहने पर धन प्राप्त होता है, परन्तु अन्याय का धन कमाने से शरीर स्थिर नहीं रहता । राज-दण्ड आदि के कारण रुग्न होकर नष्ट हो जाता है । अधिक लाभार्थ क्षणिक अल्प हानि उठाना श्रेयस्कर है ।

इति वार्ता - समुद्देशः ।।8॥

इति श्री परम पूज्य प्रातः स्मरणीय विश्ववंद्य, चारित्र चक्रवर्ती मुनि कुञ्जर समाधि सम्राट् महानतपस्वी, वीतरागी दिगम्बर जैनाचार्य श्री आदिसागर जी अंकलीकर महाराज के पट्टाधीश तीर्थ भक्त शिरोमणि समाधि सम्राट् आचार्य रत्न प.पू. विश्व वंद्य आचार्य श्री 108 महावीर कीर्ति जी महाराज की संघस्था, प.पू. जगद्वंद्य कलिकाल सर्वज्ञ श्री108 आचार्य विमल सागर जी की शिष्या, ज्ञानचिन्तामणि प्रथम गणिनी 105 आर्यिका विजयामती जी द्वारा विजयोदय हिन्दी टीका में यह 8वां समुद्देश परम पू. भारत गौरव, तपस्वी सम्राट, सिद्धान्त चक्रवर्ती अंकलीकर आचार्य के तृतीय पट्टाधीश श्री 108 आचार्य सन्मति सागरजी महाराज के चरण सान्निध्य में समाप्त हुआ ।।

।।0॥

9

दण्डनीति - समुद्देशः

दण्डनीति का महात्म्य :-

चिकित्सागम इव दोषविशुद्धिर्हेतुर्दण्डः ।।1 ॥

अन्वयार्थ :- (चिकित्सा) औषध (आगम) शास्त्र (इव) समान (दोष विशुद्धि हेतुः) दोषों की निर्वृत्ति का कारण (दण्डः) दण्ड है ।

जिस प्रकार रोग निवारणार्थ औषधि विज्ञान आवश्यक है, उसी प्रकार दोष रूपी रोग के निवारणार्थ दण्ड व्यवस्था अनिवार्य है ।

विशेषार्थ :- जिस प्रकार आयुर्वेद विज्ञान शास्त्र के आधार पर दी गई औषधि समस्त वातज, पित्तज, कफज रोगों-विकारों को दूर कर देती है उसी प्रकार अपराधियों को दण्ड देकर राजा अन्यायियों के अन्याय रूप दोषों को निकाल देता है । योग्य काल और रोग के अनुकूल औषधि देने से कास, स्वास, गलगण्ड, कंठ माला, टी.बी., पीलिया, अलसर, कैंसरादि अनेक रोगों से रोगी मुक्त होता है । स्वस्थ हो जाता है । उसी प्रकार देश में उपद्रव करने वाला "मात्स्य न्याय" "बड़ी मछली छोटी मछलियोंको नीगल जायें" को अर्थात् बलवानों द्वारा छोटों-कमजोरों को सताया जाना अन्याय को ब्रेक-रोकथाम करने का साधन नृपतियों द्वारा दिया गया दण्ड ही कार्यकारी होता है।

समस्त राजतन्त्र की आधार शिला राजदण्ड ही है । इसके अभाव में राजकण्टकों (शत्रुओं) प्रजा घातकों, निर्बलों के अन्याय करने कभी शान्त नहीं होंगे, अन्याय, अनीति नहीं त्यागेंगे । प्रजा को सताते रहेंगे, पीड़ित करेंगे जिससे असंतोष, अराजकता फैल कर राज्य में अशान्ति होगी । अकर्त्तव्य में प्रवृत्ति और कर्त्तव्य से च्युति होगी । फिर अप्राप्त राज्य की प्राप्ति, प्राप्त की रक्षा, विशाल साम्राज्य स्थापन, प्रजा रक्षण, राज्य में अमनचैन किस प्रकार रह सकता है ? नहीं टिकेगा । अस्तु न्यायपूर्वक यथोचित दण्ड व्यवस्था अति अनिवार्य है । चाणक्य ने भी उक्त नीति स्वीकारी है । देखिये कौटिल्य शास्त्र दण्डनीति प्रकरण पृ.12-13 अ.4 सूत्र 6 से 14.

गर्ग विद्वान ने भी लिखा है :-

अपराधिषु यो दण्डः स राष्ट्रस्य विशुद्धये ।
विना येन न सन्देहो मात्स्यो न्यायः प्रवर्तते ।।1 ॥

अर्थ :- अपराधियों को दण्ड देने से राष्ट्र विरुद्ध-अन्याय के प्रचार से रहित हो जाता है । परन्तु दण्ड

विधान नहीं होने से देश में मात्स्य न्याय-प्रचलित हो जाता है । अतः दण्डनीति का प्रयोग अवश्यम्भावी है ।

राज्य, राष्ट्र व प्रजा को समृद्ध बनाने हेतू दण्डनीति अनिवार्य है ।।1॥

दण्ड नीति का स्वरूप निर्देश :-

यथा दोषं दण्डप्रणयनं दण्डनीतिः ।।2॥

अन्वयार्थ :- (यथा) जैसा (दोषम्) दोष तथा (दण्डप्रणयनम्) दण्डविधान करना (दण्डनीतिः) दण्डनीति [अस्ति] है ।

जिसका जिस प्रकार का, जिस मात्रा का अपराध हो उसे उसी प्रकार का दण्ड देना चाहिए । साथ ही अपराधी के स्वभाव व अपराध के कारण को समझ कर दण्ड देना आवश्यक है ।।

विशेषार्थ :- दण्डनीति राजकण्टकों शमन की औषधि है । गुरु विद्वान ने इस विषय में लिखा है :-

स्मृत्युक्तवचनैर्दण्डं हीनाधिक्यं प्रपातयन् ।
अपराधकपापेन लिप्यते न विशुद्धयति ।।1॥

अर्थ :- राजा का कर्त्तव्य है कि स्मृति शास्त्र विहित युक्तियों द्वारा अपराधियों को अपराधानुकूल दण्ड देना चाहिए। जैसा जितना हीनाधिक अपराध हो उसी प्रकार कम अधिक दण्ड व्यवस्था भी होनी चाहिए । जो नृप इसके विपरीत अपराध की ओर दृष्टि न देकर न्यूनाधिक दण्ड देता है तो पापलिप्त होता है, अर्थात् अपराधियों का पाप भार राजा को ढोना पड़ता है वह शुद्ध नहीं होता और अपराधों का अभाव भी नहीं होगा ।।1॥

चाणक्य ने इसका विशद वर्णन किया है :-

दण्डो हि केवलो लोके परं चेमं च रक्षति ।
राज्ञापुत्रे च शत्रौ च यथादोषं समं धृतः ।।1॥

अनुशासद्धि धर्मेण व्यवहारेण संस्थया ।
न्यायेन च चतुर्थेन चतुरन्तां महीं जयेत् ।।2॥

दृष्टदोषः स्वयंवादः स्वपक्षपरपक्षयोः ।
अनुयोगार्जवं हेतुः शपथश्चार्थ साधकः ।।3॥

पूर्वोत्तरार्थव्याघाते साक्षिवक्तव्य कारणे ।
चारहस्ताच्चनिष्पाते प्रदेष्टव्यः पराजयः ।।4॥

कौ. अ. शा. धर्म
स्थानीयतृ अ.अ.1

विशदविचार :- भूपति का कर्त्तव्य है कि वह पुत्र व शत्रु के अपराध में पक्षपात नहीं कर समान रूप से दण्ड प्रदान करे । क्योंकि अपराधानुसार न्यायोचित दण्ड ही इस लोक और परलोक का रक्षण करता है । स्व पुत्र के अपराध में न्यून और शत्रु के उसी प्रकार के गलत कार्य पर अधिक दण्ड राजा द्वारा दिया जायेगा तो इस

लोक में निन्दा व अविश्वास का पात्र होगा, तथा परलोक में दुर्गति का पात्र होगा । दण्डनीति के सहारे से उसे प्रजा के धर्म, व्यवहार व चारित्र की रक्षा करना चाहिए । कोरे आतंक से रक्षा नहीं हो सकती । यद्यपि न्यायालय (कोर्ट) में न्यायाधीश (जज) समक्ष केश में वादी और प्रतिवादी दोनों ही अपने-अपने पक्ष को सत्य घोषित करते हैं । तथा वकीलों (एडवोकेटों) द्वारा अपने-अपने पक्ष का समर्थन कराकर सत्य सिद्ध कराते हैं । परन्तु उन दोनों में सत्य तो एक ही होता है । इस स्थिति में सत्य के निर्णायक हेतु निम्न प्रकार हो सकते हैं :-

1. दृष्टदोष :- जिसके अपराध देखने में आये हों ।
2. स्वयंबाद :- जो स्वयं अपनी गलती-दोष को स्वीकार कर ले ।
3. सरलतापूर्वक न्यायोचित जिरह-वाद-विवाद ।
4. कारणों को समक्ष उपस्थित कर देना ।
5. शपथ-कसम दिलाना ।

ये पाँचों हेतू यथावश्यक अर्थ-कार्य के साधक होते हैं । इनके द्वारा अपराधी के अपराध का समर्थन हल होना संभव है । यदि इन हेतुओं से निर्णय न हो सके तो यथार्थ सत्य का निर्णय करने के लिए साक्षियों और गुप्तचरों-खुफिया-पुलिस द्वारा वादी प्रतिवादी की यथार्थ गलतियों का निर्णय करना चाहिए । निश्चय किये बिना फैसला करना उचित नहीं ।

प्रबल युक्तियों द्वारा अपराधियों का अपराध का पूर्ण निर्णय करके यथादोष-यथापराध दण्डविधान करने से राष्ट्र की सुरक्षा होती है । अतः अपराधानुकूल दण्डविधान करना "दण्डनीति" कहलाती है ।।2॥

दण्ड विधान का उद्देश्य :-

प्रजापालनाय राज्ञा दण्डः प्रणीयते न धनार्थम् ।।3॥

अन्वयार्थ :- (राज्ञा) राजा का (दण्डः) दण्ड (प्रजापालनाय) प्रजापालन के लिए (प्रणीयते) प्रयुक्त होता है (न) न कि (धनार्थम्) धन के लिए ।

राजा का उद्देश्य प्रजापालन है न कि उनसे धन लेकर सञ्चय करना ।

विशेषार्थ :- राजा दण्डनीति का प्रयोग प्रत्येक मनुष्यों को कर्त्तव्य निष्ठ और न्याय-नीतिज्ञ बनाने के लिए करता है । गुरु विद्वान ने इस विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं :-

यो राजा धनलोभेन हीनाधिककरप्रियः ।
तस्य राष्ट्रं व्रजेन्नाशं न स्यात् परमवृद्धिमत् ।।1॥

अर्थ :- जो राजा धनलोलुपी होकर हीनाधिक जुर्माना-दण्ड देता है उसके राज्य की वृद्धि नहीं होती । परिणामतः उसका राज्य नष्ट हो जाता है ।।1॥

सारांश यह है कि प्रजाकण्टकों का राज कंटकों का अभाव करने के लिए राजा को यथार्थ अपराध के अनुसार यथोचित दण्ड देना चाहिए । धन की लोलुपता वश दण्ड विधान नहीं करना चाहिए । राज्य भी एक कला है । इस कला रक्षण को कलाधर ही कर सकता है । इसलिए राजा को दण्डनीति का यथार्थ ज्ञाता होना चाहिए ।3॥

लोभ के वशी छिद्रान्वेषी वैद्य और राजा की कड़ी आलोचना :-

स किं राजा वैद्यो वा यः स्वजीवनाय प्रजासु दोषमन्वेषयति ।।4।।

अन्वयार्थ :- (यः) जो (स्व) निज (जीवनाय) जीवन यापन के लिए (प्रजासु) प्रजा में (दोषम्) अपराधों को (अन्वेषयति) खोजता है (सः) वह (किम्) क्या (राजा) नृपति (वा) अथवा (वैद्यः) वैद्य [अस्ति] है ? अर्थात् नहीं ।

जो वैद्य एवं भूप अपने ऐशो आराम के लिए जनता के दोष देखते हैं और धन लूटते हैं क्या वह राजा है ? वैद्य है ? नहीं ।

विशेषार्थ :- अपने निर्वाह के लिए जो प्रजा के दोषों को देखता, अल्प अपराध होने पर भी अधिक दण्ड देता है - भारी जुर्माना लगाता है वह राजा नहीं अपितु शत्रु है । इसी प्रकार जो वैद्य प्रजा में रोगों को ही खोजता है रोगियों की संख्या बढ़ाने का काम करता है, रोग की वृद्धि करने वाली औषधि देता है मात्र फीस लेने का ही अभिप्राय रखता है वह वैद्य नहीं अपितु कसाई है - शत्रु है ।।4।। शुक्र ने भी कहा है :-

यो राजा परवाक्येन प्रजा दण्डं प्रयच्छति ।
तस्य राज्यं क्षयं याति तस्माज्ज्ञात्वा प्रदण्डयेत् ।।1।।

अर्थ :- जो महीपाल दूसरों के कथन से प्रजा को दण्डित करता है उसका राज्य नष्ट हो जाता है । इसलिए स्वयं अपराध-दोष ज्ञात कर, सोच-विचार कर दण्ड देना चाहिए ।।1।। और भी :-

छिद्रान्वेषण चित्तेन नृपस्तंत्रं न पोषयेत् ।
तस्य तन्नाशमभ्येति तस्मात्त्वङ्गजनारिता ।।2।।

अर्थ :- राजा सैनिक संगठन इस उद्देश्य से न करे कि प्रजा के दोषों का अन्वेषण करना है, कारण कि इस अभिप्राय प्रजा उससे असतुष्ट हो जायेगी । शत्रुता करेगी । फलस्वरूप समस्त राज्य ही नष्ट भ्रष्ट हो जायेगा।

सारांश यह है कि राजा को दण्डनीति का प्रयोग अत्यन्त सावधानी से करना चाहिए ।।4।।

राजा द्वारा अग्राह्य धन :-

दण्ड-द्यूत्-मृत्-विस्मृत-चौर-पारदारिक-प्रजाविप्लवजानि द्रव्याणि न राजा स्वयमुपयुञ्जीत ।।5।।

अन्वयार्थ :- (दण्ड) जुर्माने से (द्यूत) जुआ (मृत्) युद्ध में मरे लोग (विस्मृत) मनुष्यों द्वारा भूला (चौर) चोरी से लाया गया (पारदारिक) परस्त्री सेवन से प्राप्त (प्रजाविप्लवजानि) गदरादि से उपलब्ध (द्रव्याणि) धन द्रव्य, आभूषणादि को (राजा) नृपति (स्वयम्) स्वयम् (न उपयुञ्जीत) भोग न करे-उपयोग में न लावे ।।

विशेषार्थ :- अपराधियों के जुर्माने से आये हुए, जुआ में जीते हुए, युद्ध में मारे गये, नदी, सरोवर-कूपादि व मार्ग में मनुष्यों द्वारा विस्मृत हुए धन का और चोरी के धन का तथा पति पुत्रादि परिवार विहीन अनाथ स्त्री

का, नाबालिक-असहाय कन्यादि का, एवं गदर-भगदडादि कारण से जनता से छूटे धनों का राजा स्वयं उपभोग नहीं करे ।

उपर्युक्त प्रकार से प्राप्त धन-वैभव का राजा स्वयं उपभोग न कर उसे प्रजा के हितार्थ, संरक्षणार्थ, समाज और राष्ट्र के हितार्थ व्यय करना चाहिए । शुक्र विद्वान ने लिखा है :-

दुष्प्रणीतानि द्रव्याणि कोशे क्षिपति यो नृपः ।
स याति धनं गृह्य गृहार्थं स्वनिधिर्यथा ।।

अर्थ :- जो राजा चोर प्रभृति के खोटे धन को अपने खजाने में जमा करता है उसका तमाम समस्त धन नष्ट हो जाता है ।।1।।

समस्त कथन का सार यह है कि राजा को निस्पृही होना चाहिए । प्रजा से प्राप्त धन को उसी के हितार्थ व्यय करना चाहिए । जिससे प्रजा सन्तुष्ट रहे, राज्यप्रिय बने और राष्ट्र की समुन्नति में प्रयत्नशील हो ।15।।

अन्यायपूर्ण दण्ड से हानि :-

दुष्प्रणीतो हि दण्ड : काम क्रोधाभ्यामज्ञानाद्वा सर्वं विद्वेषं करोति ।।6।।

अन्वयार्थ :- (दुष्प्रणीतः) बिना विचारे दिया (दण्डः) दण्ड (हि) निश्चय से (काम क्रोधाभ्याम्) काम, क्रोध द्वारा (वा) अथवा (अज्ञानात्) अज्ञानता से दिया होता है वह (सर्वम्) सब के साथ (विद्वेषम्) द्वेष भाव (करोति) करता है ।

जो राजा अज्ञानपूर्वक काम और क्रोध के वशीभूत होकर दण्ड नीति-शास्त्र की मर्यादा-अपराध के अनुसार पात्रादि का विचार न कर अनुचित विधि से दण्ड देता है तो समस्त लोग उसके शत्रु बन जाते हैं । सारी प्रजा द्वेष करने लगती है ।।6।।

विशेषार्थ :- अन्यायी राजा का साथ उसकी प्रजा कभी नहीं देती अपितु उससे द्वेष करने लगती है । शुक्र विद्वान ने लिखा है :-

यथा कुमित्रसंगेन सर्वं शीलं विनश्यति ।
तथा पापोत्थदण्डेन मिश्रं नश्यति तद्धनम् ।।1।।

किंचित् कामेन कोपेन किंचित्किंचिच्च जाड्यतः ।
तस्माद् दूरेण संत्याज्यं पापवित्तं कुमित्रवत् ।।2।।

अर्थ :- जिस प्रकार कुमार्गी खोटे मित्र की संगति से सदाचार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार अन्याय युक्त दण्डनीति से - अनुचित जुर्मानादि करने से -प्राप्त हुआ राजा का धन समूल नष्ट हो जाता है ।

इसलिए विवेकी नृप को काम-कोपादि व अज्ञान से दिये गये दण्ड द्वारा संचित पाप पूर्ण धन का खोटे मित्र समान दूर से ही त्याग देना चाहिए ।12।।

अन्याय अत्याचारादि प्रवृत्तियाँ राजा की शत्रु हैं उनसे दूर रहना उसका कर्त्तव्य है ।

अपराधियों को दण्ड विधान न करने से हानि :-

अप्रणीतो हि दण्डो मात्स्य न्यायमुत्पादयति, बलीवानाऽबलं ग्रसति इति मात्स्य न्यायः ।।7 ॥

अन्वयार्थ :- (हि) निश्चय से (अप्रणीतो) अनावश्यक अप्रिय (दण्ड) दण्ड (मात्स्यन्यायम्) मात्स्य न्याय को (उत्पादयति) उत्पन्न करता है । (बलीवान) बलवान (अबलम्) निर्बल को (ग्रसति) खाता है (इति) इसे (मात्स्य न्याय) मत्स्य न्याय [कथ्यते] कहा जाता है ।

यदि अपराधियों को सर्वथा दण्ड नहीं दिया जाय तो राज्य में "मात्स्यन्याय" फैल जायेगा । जिस प्रकार जल में एक साथ रहने वाली भी मछलियाँ - बड़े मत्स्य छोटी-छोटी मछलियों को खा जाती हैं । इसी प्रकार निरंकुश राज्य व्यवस्था में राजा का भय नहीं रहेगा तो प्रजा जन परस्पर सबल निर्बल को सतायेंगे, और धीरे-धीरे लोगों की आस्था राजा और राज्य के प्रति नष्ट होने से राज्य ही समाप्त हो जायेगा ।

विशेषार्थ :- न्यायवन्त राजा को अपराध के अनुसार न्याय युक्त दण्ड व्यवस्था करनी चाहिए । प्रजा की श्रीवृद्धि, सुख-शान्ति जिस रीति से हो वही कार्य राजा को करना उचित है । गुरु विद्वान ने भी लिखा है-

दण्ड्यं दण्डयति नो यः पाप दण्डसमन्वितः ।
तस्य राष्ट्रे न सन्देहो मात्स्यो न्यायः प्रकीर्तितः ।।1 ॥

अर्थ :- जो राजा पापयुक्त दण्ड देता है अर्थात् पक्षपात करता है, दण्डयुक्त या दण्ड देने योग्य अपराधियों को दण्ड नहीं देता और निरपराधों को सताता है उसके राज्य में मत्स्यन्याय प्रवर्तित हो जाता है । सबल निर्बलों को सताते हैं। फलतः सर्वत्र अराजकता छा जाती है । राज्य में घोर अशान्त वातावरण हो जाता है । शिष्टाचार व सदाचार नहीं रह पाता। सब ओर बर्बरता नजर आने लगती है फिर भला सुख शान्ति कहाँ ? अतः प्रजासुखी रहे, सर्वत्र शान्ति छाये । सब अमन-चैन की वंशी बजायें इसके लिए राजा को न्यायपूर्वक उचित 'दण्डनीति' का प्रयोग करना चाहिए ।

" ॥ इति दण्डनीति समुद्देशः ॥"

इति श्री प.पू. प्रातः स्मरणीय विश्व वंद्य चारित्र चक्रवर्ती मुनिकुञ्जर समाधि सम्राट् आचार्य श्री महान्तपस्वी, वीतरागी दिगम्बराचार्य श्री आदिसागर जी अंकलीकर महाराज की परम्परा के पट्टशिष्य तीर्थभक्त शिरोमणि, समाधि सम्राट् आचार्य परम देव श्री 108 महावीर कीर्ति जी महाराज की संघस्था, प.पू. कलिकाल सर्वज्ञ श्री 108 आचार्य विमलसागर जी की शिष्या, सिद्धान्त विशारदा, ज्ञानाचिन्तामणि प्रथम गणिनी 105 आर्यिका विजयामती द्वारा हिन्दी भाषा विजयोदय टीका का 9वां समुद्देश श्री प.पू. श्री आचार्य अंकलीकर के तृतीय पट्टाधीश 108 सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य श्री सन्मतिसागर जी महाराज के चरण सान्निध्य में समाप्त हुआ ।

॥0 ॥

11

मन्त्रि-समुद्देशः

श्रेष्ठ बुद्धियुक्त मन्त्री की सलाह मानने वाला राजा :-

मंत्रि-पुरोहित-सेनापतीनां यो युक्तमुक्तं करोति स आहार्य बुद्धिः ।। 1 ।।

अन्वयार्थ :- (यः) जो नृप (मंत्रिः) आमात्य (पुरोहितः) पण्डित (सेनापतिः) सेनानायक से (युक्तम्) युक्तियुक्त (उक्तम्) कथित (करोति) करता है (सः) वह (आहार्य) प्रशंसनीय (बुद्धिः) बुद्धिवाला [अस्ति] है ।

जो राजा अपने सुयोग्य बुद्धिमान आमात्य, पुरोहित व सेनापति के युक्तमद परामर्श सलाह को मान्य करता है वह राजा कुशल-विवेक बुद्धि सर्वमान्य पूज्य हो जाता है ।

विशेषार्थ :- कुशल राजा को अपने राज्य की वृद्धि के लिए उपर्युक्त तीनों कर्मचारियों के युक्तियुक्त वचनों को सुनकर तदनुसार कार्य करना चाहिए । गुरु विद्वान ने भी कहा है :-

यो राजा मंत्रिपूर्वाणां न करोति हितं वचः ।
स शीघ्रं नाशमायाति यथा दुर्योधनो नृपः ।।1।।

अर्थ :- जो महीपति मन्त्रि, पुरोहित और सेनापति की उचित हितकारी परामर्श को नहीं सुनता या उसकी उपेक्षा करता है वह अति शीघ्र दुर्योधन राजा की भाँति नाश को प्राप्त हो जाता है । प्रत्येक कार्य की सिद्धि के सहकारी कारण होना आवश्यक है । मन्त्रि, पुरोहितादि राज्य शासन पद्धति के नीति पूर्वक संचालन के हेतू हैं अतः राजा को परिकर के अनुसार चलने से शासन व्यवस्था यथोचित-व्यवस्थित रहती है ।

उपर्युक्त आहार्य राजा का दृष्टान्त :-

असुगन्धमपि सूत्रं कुसुमसंयोगात् किन्नारोहति देवशिरसि ? ।।2।।

अन्वयार्थ :- (असुगन्धम्) सुरभिरहित (अपि) भी (सूत्रम्) धागा (किं) क्या (कुसुम संयोगात्) पुष्प की संगति से (देवशिरसि) देव के शिर पर (न) नहीं (आरोहति) चढ़ता है ? चढ़ता है ।

यद्यपि धागे में सुरभि नहीं होती, तो भी कुसुमों के साथ गूंथने पर माला बनाने पर माला के साथ वह भी देवी देवता के शिर पर आसीन हो जाता है । उसी प्रकार मूर्ख व असहाय राजा भी योग्य आमात्य राजनीति विज्ञ,

पिरोहितादि के आश्रय से श्रेष्ठ राज संचालक हो जाता है । ख्याति प्राप्त होकर प्रजावत्सल व शत्रुओं को भयोत्पादक होकर यशस्वी बन जाता है ।

प्राय: राजाओं की बुद्धि भोग-विलासों से कुण्ठित हो जाती है । नष्ट प्राय व विभ्रमचित्त हो जाते हैं । अतएव संधि, विग्रह, यान आसन और द्वैधीभाव आदि षाडगुण्य-नीति के प्रयोग में गलती करने लगता है । जब वह मन्त्री, पुरोहित व सेनापति के परामर्श से वह यथार्थ मार्ग पर आ जाता है मूर्खता और अयोग्यता सुयोग्यता में परिणत हो जाती है ।

यदि राजा अपने सलाहकारों से मिलकर कार्य करता है तो मूर्ख होने पर भी शासन बराबर चलता रहता हैं । वल्लभदेव विद्वान ने भी लिखा है :-

उत्तमानां प्रसङ्गेन लघवो यान्ति गौरवम् ।
पुष्पमाला प्रसङ्गेन सूत्रं शिरसि धार्यते ।।1।।

अर्थ :- सामान्य, निर्गुण व्यक्ति भी यदि सत्संगति करता है, उत्तम पुरुषों को सङ्गति करने से तुच्छता त्याग देता है, उत्तम-सदाचारी बन जाता है । जिस प्रकार पुष्पमाला में गूंथ कर सूत्र भी सिर पर धारण कर लिया जाता है । सूत्र-धागा कोई शिर में नहीं लगाता परन्तु पुष्पों को गूंथ कर माला रूप धारण हो जाने पर प्रसन्नता और सरलता से शिर पर धारण कर लिया जाता है ।।2।।

उपर्युक्त कथन का दृष्टान्त :-

महद्भि पुरुषैः प्रतिष्ठितोऽश्मापि भवति देवः किं पुनर्मनुष्यः ।।3।।

अन्वयार्थ :- (महद्भि) महान (पुरुषैः) पुरुषों द्वारा (प्रतिष्ठितः) मन्त्रसंस्कारित होने पर (अश्मः) पाषाण (अपि) भी (देवः) देव (भवति) हो जाता है (पुनः) फिर (किं मनुष्यः) मनुष्य की क्या बात ?

महात्माओं द्वारा प्रतिष्ठित अचेतन पाषाणादि की प्रतिमा भी पूज्य देव हो जाती है तो फिर चेतन मनुष्य की क्या बात ? वह तो प्रभावित होगा ही ।

विशेषार्थ :- सत्पुरुषों की मित्रता दिव्यग्रन्थों के (समान) स्वाध्याय सदृश है । जितनी ही गहरी उनके साथ मित्रता या घनिष्टता होती जायेगी उतने ही अधिक रहस्य उनके अन्दर दृष्टिगोचर होने लगेंगे और वे अपने में प्राप्त होंगे । हारीत विद्वान ने लिखा है :-

पाषाणोऽपि च विबुधः स्थापितो यैः प्रजायते ।
उत्तमैः पुरुषस्तैस्तु किं न स्यान्मानुषोऽपरः ।।

अर्थ :- उत्तम पुरुषों से प्रतिष्ठित कर स्थापित पाषाण भी भगवान हो जाता है । पूजा जाता है । फिर उत्तम पुरुषों द्वारा संस्कारित मनुष्य की बात ही क्या है ? वह मूर्ख भी चतुर, योग्य महापुरुष हो ही सकता है ।।1।।

सारांश यह है कि राजा को चाहिए अपने राज्य की सुव्यवस्था के लिए योग्य राज्यविद्याज्ञाता मन्त्री, पुरोहित, सेनापति आदि के साथ सलाह कर कार्य करना चाहिए ।।3।।

ऐतिहासिक प्रमाण :-

तथा चानुश्रूयते विष्णुगुप्तानुग्रहादनधिकृतोऽपि किल चन्द्रगुप्तः साम्राज्यपदमवापेति ।।4।।

अन्वयार्थ :- (तथा) वैसा (अनुश्रूयते) सुना जाता है (च) और इतिहास कहता है (विष्णुगुप्तस्य) विष्णुगुप्त के (अनुग्रहात्) कृपा से (अनधिकृतः) अधिकारी नहीं होने पर (अपि) भी (किल) निश्चय से (चन्द्रगुप्तः) चन्द्रगुप्त (साम्राज्यपदम्) राज्यपद (अवाप्नोति) प्राप्त किया ।

इतिहास में उल्लेख आया है कि चन्द्रगुप्त मौर्य (सम्राट नन्द का पुत्र) ने स्वयं राज्य का अधिकारी न होने पर भी विष्णुगुप्त - चाणक्य नामक विद्वान ने अनुग्रह से साम्राज्य पद प्राप्त कर लिया ।।

322 ई. पू. में नन्दवंश का राजा महापद्मनन्द मगध का सम्राट् था । नन्दवंश के राजा अत्याचारी शासक थे, इसलिए उनकी प्रजा उनसे अप्रसन्न हो गई और अन्त में विष्णुगुप्त-चाणक्य ब्राह्मण विद्वान की सहायता से इस वंश के अन्तिम राजा को उसके सेनापति चन्द्रगुप्त मौर्य ने 322 ई. पू. में गद्दी से उतार दिया और स्वयं राजा बन बैठा । मैगास्थनीज यूनानी राजदूत ने जो कि चन्द्रगुप्त के दरबार में रहता था, चन्द्रगुप्त के शासन प्रबन्ध की बड़ी प्रशंसा की है । इसने 24 वर्ष पर्यन्त नीति न्यायपूर्वक राज्यशासन किया । कथासरित सागर में भी लिखा है कि नन्द राजा के पास 99 करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ थीं । अतएव इसका नाम नवनन्द था । इसी नन्द को मरवाकर चाणक्य ने चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध के शासन-राजगद्दी पर बैठाया था किन्तु इतने विशाल साम्राज्य के अधिपति की मृत्यु के बाद सरलता से उक्त साम्राज्य को हस्तगत करना सामान्य बात न थी टेढ़ी खीर थी । नन्द के मन्त्री राक्षस आदि नन्द की मृत्यु के बाद उसी के वंशजों में से किसी को राजा बनाकर मगध राज्य को कायम रखने का प्रयत्न कर रहे थे । इन्होंने चाणक्य और चन्द्रगुप्त की सम्मिलित शक्तियों का बड़ी कठोरता से विरोध किया । दृढ़ता से परास्त करने की चेष्टा की । कवि विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस नाटक में लिखा है कि "शक, यवन, कम्बोज व पारसी आदि जाति के राजा चन्द्रगुप्त और पर्वतेश्वर की सहायता कर रहे थे । करीब 5-6 वर्षों तक चन्द्रगुप्त को नन्दवंश के मन्त्रियों ने पाटलिपुत्र में प्रवेश नहीं करने दिया, किन्तु विष्णुगुप्त - चाणक्य (कौटिल्य) की कुटिल नीति के समक्ष उन्हें झुकना पड़ा । चन्द्रगुप्त विजयी हुआ । चाणक्य के सहाय्य से नन्दवंश का मूलोच्छेद कर सुगांगप्रासाद में ससमारोह प्रवेश किया ।

शुक्र नामक विद्वान ने भी लिखा है :-

महामात्यं वरो राजा निर्विकल्पं करोति यः ।
एकशोऽपि महीं लेभे हीनोऽपि वृहलो यथा ।।1।।

अर्थ :- जो राजा राजनीति में निपुण महामात्य-प्रधानमन्त्री की नियुक्ति करने में किसी प्रकार का विकल्प नहीं करता, वह अकेला होने पर भी राज्य लक्ष्मी को प्राप्त कर लेता है । जिस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य ने अकेले भी चाणक्य मंत्री की सहायता से नन्दवंश का नाश कर विशाल साम्राज्य को हस्तगत कर लिया । यद्यपि राजनीति में कूटनीति भी अपना अधिकार रखती है तो भी न्यायपूर्वक ही राज्यशासन विशेष स्थायी व प्रशंसनीय होता है ।।4।।

प्रधानमन्त्री के सद्गुण वर्णन :-

ब्राह्मण क्षत्रियविशामेकतमं स्वदेशजमाचाराभिजन विशुद्धमव्यसनिनमव्यभिचारिणमधीताखिल व्यवहार तन्त्र मस्त्रज्ञमशेषोपाधि विशुद्धंच मन्त्रिणं कुर्वीत ।।5।।

अन्वयार्थ :- (ब्राह्मण क्षत्रियविशाम्) विप्र, क्षत्रिय व वैश्यों में (एकतमम्) कोई एक (स्वदेशजम्) अपने देश में जन्मा (आचाराभिजनविशुद्धम्) कुलाचार विशुद्ध (अव्यसनिनम्) जुआदि सप्त व्यसन रहित, (अव्यभिचारिणम्) व्यभिचार-कुशील रहित (अखिलं) सम्पूर्ण (व्यवहारतन्त्रम्) व्यवहार पद्धति (अधीतम्) ज्ञाता (अस्त्रज्ञम्) शस्त्रविद्यानिपुण (च) और (अशेष) सम्पूर्ण (उपाधि विशुद्धम्) सम्पूर्ण शत्रु विद्याओं का पारंगत-स्वयं कपट विहीन (मन्त्रिणम्) मन्त्रि को (कुर्वीत) नियुक्त करे ।

राजा को तीनों उत्तम वर्णों से किसी एक वर्ण वाले राजनीति विद्या में निपुण, शुद्ध कुलीन, सदाचारी, व्यसनहीन, कर्मठ, राजभक्त पुरुष को अपना महाआमात्य-प्रधानमन्त्री नियुक्त करना चाहि' ।।5।।

विशेषार्थ :- राजा का कर्त्तव्य है ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्णों में से किसी एक वर्ण का मंत्री हो, शूद्र नहीं हो बनाना चाहिए, तथा अपने ही देश का निवासी हो, विदेशी न हो, सदाचारी हो-दुष्कर्मों से विहीन हो, पवित्राचरणी हो । जो कुलीन हो - जिसके माता और पिता का पक्षवंश विशुद्ध हो (जो कि विवाहित समान वर्ण वाले माता-पिता से उत्पन्न हो), जुआ खेलना, शिकार करना-मद्यपान करना आदि सप्त व्यसनों का त्यागी हो, अपने स्वामी में श्रद्धायुक्त हो, व्यवहार विद्या में निपुण हो, शत्रु चेष्टा की परीक्षा में निपुण हो, जिसमें सम्पूर्ण व्यवहार शास्त्रों का अध्ययन किया हो-नीतीशास्त्रों का ज्ञाता हो, युद्ध विद्या के रहस्य का अध्येता हो, जो अन्य के छल-कपटों की पहिचान में तीक्ष्ण दृष्टि वाला हो, पर स्वयं निष्कपट व सरल हो इस प्रकार के सुयोग्य व्यक्ति को आमात्य-प्रधान मन्त्री के पद पर नियुक्त करना चाहिए ।।5।।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने मंत्री के 5 गुण बतलाये हैं :-

कौलीन्य पौरूषं श्रेष्ठं स्वाध्यायो दृढ़निश्चयः ।
प्रजोत्कर्षाय सस्नेहचेष्टा मन्त्रिगुणा इमे ।।2।।

कुरल काव्य

मन्त्रि में पाँच गुणों का होना अनिवार्य है - 1 कुलीन, 2. पौरुष, 3. उत्तमगहरी स्वाध्याय-तत्त्वज्ञता, 4. दृढ़ निश्चय और 5. प्रजा की भलाई के लिए सतत् सप्रेम चेष्टा । इन गुणों से सम्पन्न व्यक्ति सफल मन्त्री हो सकता है ।

अर्थात् राजा का प्रधानमन्त्री द्विज, स्वदेश निवासी, शिष्टाचारी, उत्तमकुलोत्पन्न, शुद्धवंशज, दुर्व्यसन विहीन, स्वामीभक्त, प्रजावत्सल, अस्त्र-शस्त्र विद्या निपुण, नीतिज्ञ, युद्ध विद्या विशारद, एवं निष्पकट होना चाहिए । इन नौ प्रकार के गुणों से विभूषित होना चाहिए । इस प्रकार के गुणाज्ञ मन्त्री के रहने से ही राज्य की चन्द्रवृद्धि वत् उत्तरोत्तर वृद्धि होती है ।।5।।

नव गुणों में "स्वदेशवासी" गुण का समर्थन :-

समस्त पक्षपातेषु स्वदेशपक्षपातो महान् ।।6।।

कुरल प.छे.64.

अन्वयार्थ :- (समस्त पक्षपातेषु) सभी पक्षपातों में (स्वदेशपक्षपातो) अपने देश का पक्ष (महान्) विशेष अधिक [पवति] होता है ।

स्वाभिमानी मनुष्य के अपने देश के प्रति विशेष गाढ अनुराग होता है ।

विशेषार्थ :- स्वदेश व स्वराज्य प्रायः अति निकट सम्बन्धी हैं । जो व्यक्ति अपने देश व राज्य के गौरव की रक्षा और शत्रु दल का नाश करना जानता है वही अपने राजा को उचित मन्त्रणा देने में समर्थ होता है । कहा है :-

भेदकरे रिपुवर्ग में मित्रों में अतिसख्य ।
सन्धिकला में दक्ष जो वही सचिव है भव्य ।।3।।

कुरल. प. छे. 64.

अर्थ :- जिसमें शत्रुओं के मध्य भेद डालने की क्षमता है, जो वर्तमान मैत्री भावों को बनाने में समर्थ है-मित्रमण्डल की वृद्धि कर सकता है, बैरियों के साथ उचित सन्धि करने की कला में निपुण है, वही प्रधान सचिव बनने योग्य होता है । अपने देश में उत्पन्न व्यक्ति इन गुणों में निपुण होकर राज्य-राष्ट्र की रक्षा योग्य राजा को सलाह, राय या परामर्श देने में समर्थ होता है । अन्य देश के व्यक्ति को यदि प्रधान सचिव्य प्रदान किया जायेगा तो वह राज्य वृद्धि में सफल नहीं हो सकेगा । कारण उसे वहाँ की प्रजा के आचार-विचार, क्रिया-कलापों का ज्ञान नहीं होता । प्रजा की इच्छा को वह कैसे समझ सकता है ? फिर जन्म भूमि की ममता भी स्वाभाविक होती ही है । वह अपने देश का पक्षपात करेगा । पक्षपाती पिशाच ग्रसित व्यक्ति भला प्रजा की क्या रक्षा करेगा ? अर्थात् नहीं कर सकता । राजनीतिज्ञ स्वयं सोच सकता है ?

दुराचार से होने वाली हानि :-

विषनिषेक इव दुराचारः सर्वान् गुणान् दूषयति ।।7।।

अन्वयार्थ :- (विषनिषेक) विषभक्षण (इव) समान (दुराचारः) दुराचार (गुणान्) गुणों को (दूषयति) दूषित कर देता है ।।

विष भक्षण से जिस प्रकार प्राण नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार दुराचरण मनुष्य के समस्त गुणों को नष्ट कर देता है ।

विशेषार्थ :- कुत्सित और निंद्य प्रवृत्ति गुणों की संहारक होती है । विद्या, कला, नीतिमत्ता आदि मानवोचित गुणों को अथवा राज्य की वृद्धि और रक्षा करने वाले सन्धि और विग्रह आदि षाड्गुण्य को विष समान नष्ट कर देती है । ऋषि विद्वान ने लिखा है :-

दुराचारममात्यं यः कुरुते पृथिवीपतिः
भूपार्हास्तस्य मंत्रेण गुणान् प्रणाशयेत् ।।1।।

अर्थ :- जो राजा दुराचारी मंत्री को नियुक्त करता है, वह उसकी खोटी सलाह से अपने राजोचित सद्गुणों-

सन्धि-विग्रह-आदि षाड्गुण्य को खो बैठता है - नष्ट कर डालता है ।।1।।

निष्कर्ष :- राजा का मन्त्री सदाचारी होना चाहिए । अन्यथा उसके दुराचरण होने से राज्यवृक्ष का मूल (राजनैतिकज्ञान) और सैनिक संगठन आदि सद्गुणों के अभाव से राज्य की क्षति सुनिश्चित ही है ।।7।।

प्रधानमंत्री के कुलीन न होने से हानि :-

दुष्परिजनो मोहेन कुतोऽप्यपकृत्य न जुगुप्सते ।।8।।

अन्वयार्थ :- (दुष्परिजनो) खोटे कुल का मंत्री (मोहेन) मोहवश (कुतो) कहाँ (अपि) भी (अपकृत्यम्) खोटे आचरण को (न) नहीं (जुगुप्सते) ग्लानि करता है ।

नीच कुलोत्पन्न व्यक्ति यदि प्रधानमन्त्री बनेगा तो वह राजा से क्या प्रजा से भी भीत न होगा । सर्वत्र ग्लानि से भरा रहेगा अर्थात् अपने दुराचार से बाज नहीं आयेगा । लज्जा नहीं रहेगी । मनमाना व्यवहार करेगा । अतः उच्चकुलीन मंत्री होना चाहिए ।

व्यसनी मन्त्री से हानि :-

सव्यसनसचिवो राजारूढ़ व्यालगज इव नासुलभोऽपायः ।।9।।

अन्वयार्थ :- (सव्यसन) व्यसनी (सचिवः) प्रधानमन्त्री वाला (राजा) नृपति (आरुढ़ व्यालगज) पागल गज पर आरूढ़ (इव) के समान (असुलभः) कठिन (अपायः) आहत (न) नहीं है ।

जिस राजा का स्वभाव से व्यसनासक्त मन्त्री उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे उन्मत्त हाथी पर सवार होकर जाने वाला व्यक्ति अतिशीघ्र नष्ट हो जाता है ।

विशेषार्थ :- जिस भूपाल का प्रधानमंत्री द्यूत, मद्यपान, परस्त्री सेवन, मांसभक्षणादि व्यसनों का सेवन करने वाला हो तो उस राजा का शीघ्रता से नाश हो जाता है । क्योंकि वह राजा पागल हस्ती पर चढ़े हुए मनुष्य को सदृश है । मंत्री का लक्षण बताते हुए आचार्य कहते हैं :-

विद्या पढ़कर भी बनो, अनुभव से भरपूर ।
और करो व्यवहार वह, अनुभव जहाँ न दूर ।।7।।

कुरल.प.छे.64

अर्थ :- पुस्तकीय ज्ञान में सुदक्ष होने पर भी मंत्री को कहते हैं व्यावहारिक ज्ञान, अनुभव जन्य ज्ञान प्राप्त करो। अनुभूति जन्य ज्ञान का व्यवहार करने वाला राज्य को सुदृढ़ बना सकता है ।

राजद्रोही मन्त्री भयंकर शत्रु है :-

मन्त्र भवन में मंत्रणा, जो दे नाश स्वरूप ।
सप्तकोटि रिपु से अधिक, वह अरि मंत्री रूप ।।

अर्थ :- जो मंत्री, मन्त्रणा-गृह में विराजकर अपने राजा का सर्वनाश करने की युक्ति सोचता है वह सप्तकोटि बैरियों से भी अधिक भयंकर है ।। अतः मन्त्री को व्यसन त्यागी ही होना चाहिए ।

राजा से द्रोह करने वाले मंत्री का स्वरूप :-

किं तेन केनापि यो विपदि नोपतिष्ठते ।।10।।

अन्वयार्थ :- (तेन) उस मंत्री से (किं) क्या प्रयोजन (यः) जो (विपदि) आपत्ति काल में (न) नहीं (उपतिष्ठते) साथ में रहता ।

आपत्ति काल में राजा का साथ नहीं देने वाली सचिव से क्या प्रयोजन है ? कुछ भी नहीं ।

विशेषार्थ :- उस सचिव व सेवक से क्या लाभ है ? जो संकट काल आने पर स्वामी-राजा की सहायता नहीं करता अपितु शत्रु के साथ मिलकर राजद्रोह पैदा करा दे । चाहे वह विद्वान भी हो, व्यवकुशल भी क्यों न हो । उसका मंत्रित्व व सेवकत्वपना व्यर्थ ही है । उनका रखना व्यर्थ है । विद्वान शुक्र ने लिखा है-

किं तेन मंत्रिणा योऽत्रव्यसने समुपस्थिते ।
व्यभिचारं करोत्येव गुणैः सर्वैर्युतोऽपि वा ।।1।।

अर्थ :- जो विपद्काल आने पर द्रोह करता है उस मन्त्री से राजा को क्या लाभ है ? चाहे वह सर्वगुणों से विभूषित ही क्यों न हो ?

अभिप्राय यह है कि मन्त्रि के सर्वगुणों में राजभक्ति व राजा के प्रति समर्पण भाव प्रमुख है । इसके अभाव में अन्य समस्त गुण व्यर्थ हैं । मंत्री को राजभक्त होना चाहिए ।

उक्त कथन का समर्थन :-

भोज्येऽसम्मतोऽपि हि सुलभो लोकः ।।11।।

अन्वयार्थ :- (भोज्ये) भोजनकाल में (असम्मतः) विना निमंत्रण के (अपि) भी आने वाले (हि) निश्चय से (लोकः) लोग (सुलभाः) सुलभ (सन्ति) हैं ।।

खाना-पीना-भोजन बेला में बिना निमंत्रण के ही आने वाले बहुसंख्य एकत्रित हो जाते हैं । अभिप्राय यह है कि सुख के समय सहायकों की कमी नहीं रहती है । परन्तु विपत्ति काल में सहायक खोजने पर भी प्राप्त नहीं होते ।

विशेषार्थ :- संसार स्वार्थी है, । कहा है :-

"सुख के सब लोग संगाती हैं दुःख में कोई काम न आता है ।" अर्थात् सुख के समय अनेकों मित्र मजा मौज उड़ाने को बिना बुलाये ही समन्वित हो जाते हैं । प्रीति दर्शाते हैं । परन्तु संकट काल आता है तो वे ही आँखें दिखाते हैं । वल्लभ देव ने भी इस विषय में लिखा है :-

"पात्रसमितौ हि सुलभौ लोकः" पाठान्तर है मू.सू.

समृद्धिकाले सम्प्राप्ते परोऽपि स्वजनायते ।
अकुलीनोऽपि चामात्यो दुर्लभः स महीभृताम् ।।11।।

वल्लभ देव.

अर्थ :- धनादि वैभव के प्राप्त होने पर दूसरे-पराये भी पारिवारिक जनों के समान व्यवहार करते हैं । अतः राजाओं को विपत्ति में सहाय करने वाले सचिव का मिलना अति दुर्लभ है । चाहे वह नीच कुल का भी क्यों न हो ।। आचार्य कहते हैं कि मन्त्री को दृढ़चित्त होना चाहिए -

बिना विचारे बुद्धि से, मनसूबे निस्सार
डग-मग चञ्चल चित्त का, कर न सके व्यवहार ।।10।।

कुरल.पृ.236

अर्थ :- चञ्चलचित्त का पुरुष सोचकर ठीकरीति निकाल भी ले परन्तु उसे व्यावहारिक रूप देते हुए वह डग-मगा जायेगा और अपने अभिप्राय को कभी पूर्ण न कर सकेगा ।

व्यवहार अज्ञ मन्त्री का दोष :-

किं तस्य भक्तया यो न वेत्ति स्वामिनो हितोपायमहितप्रतीकारं वा ।।12।।

अन्वयार्थ :- (योन्यः) जो मन्त्री (स्वामिनो-स्वामिनः) स्वामी का (हितोपायम्) हित का उपाय (वा) अथवा (अहित प्रतीकारम्) अहित का प्रतीकार (न) नहीं (वेत्ति) जानता है (तस्य) उसकी (भक्तया) भक्ति से (किं) क्या प्रयोजन ? कुछ भी नहीं ।

जो सचिव अपनी स्वामी-राजा की-कोषवृद्धि आदि उन्नति, और शत्रु आदि जन्य दुःखों की निवृत्ति करना नहीं जानता उसकी कोरी भक्ति से क्या लाभ ? कोई लाभ नहीं ।

विशेषार्थ :- जो व्यक्ति सन्धि-विग्रहादि द्वारा राजा का हित साधन के विषय में अनभिज्ञ हो, अहित के परिहार करने में असमर्थ हो, परन्तु भक्ति विशेष करता हो, उसे राजमन्त्री बनाने से क्या लाभ ? अतएव राजा को राजनीति विद्या में निपुण, एवं कर्त्तव्यनिष्ठ पुरुष को मन्त्री पद पर नियुक्त करना चाहिए । गुरु विद्वान ने भी लिखा है :-

किं तस्य व्यवहारार्थैर्विज्ञातैः शुभकैरपि ।
यो न चिन्तयते राज्ञो धनोपायं रिपुक्षयम् ।।1।।

अर्थ :- जो व्यक्ति राजा की धनसम्पत्ति प्राप्ति के उपाय और उसके शत्रुनाश पर ध्यान नहीं देता, उसके कोरे शिष्टाचार और भक्ति प्रदर्शन से क्या लाभ है ? अर्थात् कोई लाभ नहीं है ।

शस्त्रविद्यानिपुण होकर भी भीरुमन्त्री का दोष :-

किं तेन सहायेनास्त्रज्ञेन मंत्रिणा यस्यात्मरक्षणेऽप्यस्त्रं न प्रभवति ।।13।।

अन्वयार्थ :- (तेन) उस (अस्त्रज्ञेन) शस्त्र विद्या ज्ञाता (मंत्रिणा) मन्त्री द्वारा (सहायेन) सहायता से (किम्) क्या प्रयोजन (यस्य) जिसका (आत्मरक्षणे) स्वात्मरक्षा को (अपि) भी (अस्त्रम्) शस्त्र (न प्रभवति) प्रभावित नहीं होता-प्रकट नहीं होता ।

शस्त्रविद्या में निपुण होकर भी युद्ध क्षेत्र में पराक्रम नहीं दिखाता उस व्यक्ति को सहायतार्थ मन्त्री पदासीन करने से क्या लाभ है ? कुछ नहीं ।

विशेषार्थ :- जो व्यक्ति युद्ध कला में प्रवीण-वीर रस पारंगत है, बहादुर है वही राजमन्त्री बनने योग्य है। परन्तु जो केवल शस्त्र विद्या पारंगत तो हो, और रणभूमि में कायरता दिखाये, स्वयं अपनी भी रक्षा नहीं कर सकता वह डरपोक राजमन्त्री होने का अधिकारी नहीं है ।।13॥

उपधा-शत्रु चेष्टा की परीक्षा निर्देश :-

धर्मार्थकामभयेषु व्याजेन परचित्तपरीक्षणमुपधा ।।14॥

अन्वयार्थ :- (धर्म-अर्थ-काम-भयेषु) किसी के धर्म, अर्थ, काम-भय के विषय में (व्याजेन) गुप्त रूप से (परचित्त) दूसरे के चित्त की (परीक्षम्) परीक्षा जांच करना (उपधा) उपधा (अस्ति) है ।

विशेषार्थ :- शत्रु के धर्मादि के विषय में कि अमुक शत्रुभूत राजा धार्मिक है या अधर्मी है ? उसका कोष प्रचुर पूरित है या नहीं ? वह कामान्ध है या जितेन्द्रिय ? कायर है या बहादुर ? डरपोक है या वीर ? प्रजावत्सल है या भोगी? इत्यादि ज्ञान प्राप्त करने के लिए गुप्तचरों द्वारा छल से शत्रुचेष्टाओं को अवगत करना ''उपधा'' कहलाती है । यह 'उपधा'' या 'उपाधि' राजमन्त्री का प्रधानगुण है । उपधा के भेद :- 1. धर्मोपधा 2. अर्थोपधा 3. कामोपधा, 4. भयोपधा ।

1. धर्मोपधा :- राजनीतिनिपुण मंत्रि का कर्त्तव्य है कि धर्म विद्या में निपुण गुप्तचर को नियुक्त कर शत्रु राजा के विषय में जानकारी करे कि वह धर्मात्मा है या व्यभिचारी । इसके लिए उसके राजपुरोहित से गुप्तचर मित्रता करे । उससे ज्ञात करे कि वह पापाचारी है या सदाचारी । यदि शिष्टाचारी-धर्मात्मा सिद्ध हो तो शीघ्र उससे सन्धि कर लेनी चाहिये अर्थात् अपने राजा के साथ सन्धि करा दे । यदि वह अत्याचारी या पापाचारी है तो विग्रह-युद्ध करके अपने राज्य की श्री-वृद्धि कर लेनी चाहिए । यह मन्त्री की ''धर्मोपधा'' है।

2. अर्थोपधा: :- अर्थ शास्त्र में निपुण गुप्तचर को विक्रय की वस्तुएँ लेकर शत्रु के राज्य में भेजे। वह वहां जाकर उसके कोषाध्यक्ष से मैत्री करे । कोष की स्थिति का ज्ञान करे । वापिस आकर मंत्री को विदित करावे । यदि उसका खजाना सम्पन्न-भरपूर है तो अपने राजा के साथ सन्धि करा दे और खाली खजाना है तो विग्रह-युद्ध कर राज्य की श्री वृद्धि करे ।

3. कामोपधा: :- कामशास्त्र में निपुण गुप्तचर को भेजकर शत्रु राजा की कंचुकी के साथ मेल करावे और राजा के काम भाव का पता लगावे । यदि वह कामासक्त है, पर स्त्री लम्पटी है, द्यूतादि व्यसनी है तो उससे युद्ध करा परास्त करावे और यदि जितेन्द्रिय है तो सन्धि करना उचित है ।

4. भयोपधा: :- मन्त्री का कर्त्तव्य है कि शूरवीर और युद्धकला में प्रवीण गुप्तचर भेजकर उसकी सेनापति

(शत्रुराजा) के साथ मित्रता करादे, जिससे वह शत्रुराजा की सुभटता या कायरता का यथार्थ ज्ञान कर अपने राजा को विदित कर देगा। यदि वह बलवान वीर योद्धा है तो मन्त्री अपने राजा के साथ सन्धि करा दे और यदि कायर डरपोक निकले तो युद्धकर पराजित कर अपने राज्य को समृद्ध बनावे ।

सारांश यह है कि मन्त्री को चतुर गुप्तचरों द्वारा शत्रुभूत राजाओं के विषय में यथायोग्य जानकारी कर अपने स्वामी के राज्य शासन की हर प्रकार से श्रीवृद्धि करना चाहिए । इस प्रकार का चतुर योग्य, गुणज्ञ मन्त्री अप्राप्त राज्य की प्राप्ति, प्राप्त राज्य की वृद्धि और अयोग्य आचरणों का परिहार एवं सदाचार का प्रचार कर राज्य में धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थों का सामंजस्य स्थापित करा सकता है । शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

ज्ञात्वाचरैर्यः कथितोऽरिगम्यः धर्मार्थहीनो विषयी सुभीरुः ।
पुरोहितार्थाधिपतेः सकाशात् स्त्रीरक्षकात् सैन्यपतेः स कार्यः ।।1।।

अर्थ :- राजमन्त्री को अपने-अपने विषयों में प्रवीण 'खुफिया-गुप्तचरों को नियुक्त कर शत्रु राजाओं की स्थिति का पता लगाना चाहिए । अर्थात् पुरोहित से मित्रता कर उसके धर्माचरण का, कोषाध्यक्ष से मिलकर उसकी अमीरी-गरीबी का, कञ्चुकी के साथ मिलकर लम्पटपने का एवं सेनापति से वीरता या कायरता का ज्ञानकर अपने स्वामी राजा के साथ परामर्श करके उनके साथ सन्धि-विग्रह की यथायोग्य व्यवस्था करवाना चाहिए॥1॥-14॥ और भी कहा है:-

साधूद्योगेषु सुप्रीतिः साधनानां विनिश्चयः ।
सम्मतिः स्पष्टरूपा च मन्त्रदातुरिमे गुणाः ।।4।।

कु. का. पृ. 64 प. श्लो.64

साधन चुनने में कुशल, उद्यम अपार ।
सम्मति दे सुस्पष्ट जो मन्त्रि गुणमणि सार ।।4।।

अर्थ :- श्रेष्ठतम उद्यम और उनके साधनों के चुनने की कुशलता वाला, सम्मति देने के समय निश्चयदृढ़ स्पष्ट परामर्श-विचार प्रकट करने वाला योग्य मन्त्री समझा जाता है ।

नीच कुल वाले मन्त्रियों के दोष :-

अकुलीनेषु नास्त्यपवादाद्भयम् ।।15।।

अन्वयार्थ :- (अकुलीनेषु) नीच कुल वाले होने पर उसे (अपवादात्) लोकापवाद से (भयम्) भीति (नास्ति) नहीं होती है ।

नीच कुल का व्यक्ति मन्त्री पदारोही होगा तो उसे लोकनिन्दा का भय नहीं होगा ।

विशेषार्थ :- तुच्छकुल का पुरुष मन्त्री पदासीन होगा तो वह प्रजा के साथ दुराचारादि का व्यवहार कर सकता है क्योंकि उसे लोकापवाद का भय नहीं होता । लज्जादि गुण उसमें टिकते नहीं । अतः राजमंत्री को उच्चकुलीन ही होना चाहिए ।।

वल्लभ देव ने भी कहा है :

कथन्चिदपवादं स न वेत्ति कुलवर्जितः ।
तस्मात्तु भू भुजा कार्यो मंत्री न कुलवर्जितः ।।1।।

अर्थ :- नीच कुल का व्यक्ति अपनी अपकीर्ति से नहीं डरता । अतः राजा को उसे अपना सचिव नहीं बनना चाहिए ।।

उपर्येक्त कथन का विशेष समर्थन :-

अलर्कविषवत् कालं प्राप्य विकुर्वते विजातयः ।।1।।

अन्वयार्थ :- (विजातयः) नीच जाति का मन्त्री (कालम्) समय (प्राप्य) पाकर (अलर्कः) पागल कुत्ते के (विषवत्) विष के समान (विकुर्वते) विरुद्ध हो जाता है ।

समय पाकर कुत्ते-पागलकुत्ते के काटने का विष मनुष्य को विषाक्त कर देता है उसी प्रकार नीच जातीय मन्त्री भी अवसर पाकर प्रजा को कष्ट पहुँचायेगा-विरुद्ध हो जायेगा ।

विशेषार्थ :- पागल कुत्ते के काटने पर उसकी दाढ़ का विष तत्क्षण विषाक्त नहीं करता, अपितु वर्षाकाल आने पर विष चढ़ता है । और कष्ट पहुँचाता है । इसी प्रकार नीच कुलीन मन्त्री आपत्ति पड़ने पर पूर्वकृत दोष का स्मरण कर विरुद्ध होकर कष्ट पहुँचाता है । अतः नीच कुलीन को मन्त्रि बनाना अनुचित है । बादरायण ने भी लिखा है :-

अमात्या कुलहीना ये पार्थिवस्य भवन्ति ते ।
आपत्काले विरुध्यन्ते स्मरन्तः पूर्वदुष्कृतम् ।।1।।

अर्थ :- जिस राजा का मन्त्रि नीचकुलोत्पन्न होता है वह राजा के ऊपर विपत्ति आने पर उसके विरुद्ध हो जाता है । वह उसके द्वारा किये पूर्व दुष्कृत्य का स्मरण कर बदले की भावना कर बैठता है । कभी-कभी प्राणघातक भी हो जाता है । अतः सचिव को उच्चकुलीन, शुद्धवंश का ही होना चाहिए । राजभक्त होने से ही वह राजा को राज्यवर्द्धक, प्रजा रक्षक सलाह-परामर्श दे सकेगा ।।16।।

कुलीन मन्त्री का स्वरूप :-

तदमृतस्य विषत्वं यः कुलीनेषु दोषसम्भवः ।।17।।

अन्वयार्थ :- (तद्) वह (अमृतस्य) अमृत का (विषत्वम्) विषपना है (यः) जो (कुलीनेषु) कुलीन-उच्चपुरुषों में (दोषसम्भवः) दोष उत्पन्न करता है ।।17।।

कुलीन पुरुषों में जो विश्वासघात करे वह अमृततुल्य भी विष के सदृश ही समझना चाहिए । अर्थात् जिस प्रकार अमृत विष नहीं हो सकता उसी प्रकार उच्च-निर्दोष कुलोत्पन्न व्यक्ति राजद्रोही विश्वास-घाती भी नहीं हो सकता ।

विशेषार्थ :- कुल एवं वंशपरम्परा का सम्बन्ध रक्त से होता है - रक्त का स्वभाव से सम्बन्ध होता है । शुद्ध स्वभाव कुल-वंश के अनुसार होता है । वैश्यविद्वान ने भी अपने विचार व्यक्त किये हैं :-

यदि स्याच्छीतलो वन्हिः सोष्णस्तु रजनीपतिः ।
अमृतं च विषं भावि तत्कुलीनेषु विक्रिया ।।1।।

अर्थ :- यदि अग्नि शीतल हो जाये, चन्द्रमा शीतलता को छोड़कर उष्ण हो जाये, अमृत विष रूप परिणत हो जाये तो भी कुलीन पुरुष अपना स्वभाव नहीं छोड़ता है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार अग्नि शीतल नहीं हो सकती, चन्द्रमा उष्ण नहीं हो सकता, अमृत विष नहीं हो सकता उसी प्रकार उच्चवंशज व्यक्ति भी धोखेबाज नहीं हो सकता । स्वामीद्रोह नहीं कर सकता । हमारे जैनाचार्य भी मन्त्री का लक्षण करते हुए कहते हैं :-

निर्विरोऽस्तु भूपालो यदि वा कार्य बाधकः
तथाऽपि मंत्रिणा वाच्यं हितमेव नरेश्वरे ।।8।।

अर्थ :-

बाधक अथवा अज्ञ भी, नृप हो यदि साक्षात् ।
तो भी मंत्री भूप को, बोले हित की बात ।।8।।

अर्थात् - संभव है राजा अज्ञ-मूर्ख हो और हर कदम बाधाओं से घिरा हो, स्वयं ही काम में आड़ा आता हो, फिर भी मन्त्री का कर्त्तव्य है कि वह सदा वही राह उसे दिखावे कि जो नियम संगत और राज्य शासन योग्य हो ।।

ज्ञानी मंत्री का ज्ञान भी नष्ट हो जाता है :-

घटप्रदीपवत्तज्ज्ञानं मन्त्रिणो यत्र न परप्रतिबोधः ।।18।।

अन्वयार्थ :- (यत्र) जहाँ-जिस ज्ञान से (पर प्रति बोधः) राजादि को प्रतिबोध ज्ञान न कराया जाय (तत्) वह (मन्त्रिणः) मन्त्री का ज्ञान (घटप्रदीपवत्र) घड़े में स्थापित दीपक के समान [अस्ति] है ।।18।।

यदि विद्वान होकर भी मन्त्री अपने स्वामी को सन्मार्गारूढ़ न करे तो उसका ज्ञान घड़े में बन्द दीपक के समान है क्योंकि उससे परोपकार कुछ भी संभव नहीं है ।

विशेषार्थ :- प्रदीप जलाया और उसे घट में स्थापित कर रख दिया, बाहर चारों ओर तम-तोम छाया रहा तो उस दीपक का प्रयोजन ही क्या है ? कुछ भी नहीं । उसी प्रकार मन्त्री राजनीति विद्या का पारंगत हो और अपने राजा को उचित योग्य परामर्श न दे तो उस सचिव का क्या लाभ ? कुछ भी नहीं । अतः वस्तु वही उपयोगी होती है जो समय पर कार्यकारी हो । इसी प्रकार अन्य भी विद्वान पुरुष का महत्व या गौरव उसी में है जो अपनी विद्वत्ता या ज्ञानगरिमा से अन्य को सन्मार्ग दर्शित करे । दूसरों को समझाने की कला में दक्ष हो । यदि वाह्य में-अन्य पदार्थों को प्रकाशित न करे तो दीपक जलना व्यर्थ है उसी प्रकार ज्ञानी से अन्यजन प्रभावित होकर सदाचारी, शिष्टचारी, नीतिनिपुण न बनें तो उस मन्त्री व विद्वान का होना भी व्यर्थ है । वर्ग विद्वान ने कहा है :-

सुगुणाद्योऽपि यो मन्त्री नृपं शक्तो न बोधितुम् ।
निरर्थका भवन्त्यन्ते गुणा घट प्रदीपवत् ।।1।।

अर्थ :- जो मन्त्री अनेक सद्गुणों से विभूषित होने पर भी यदि राजा को समझाने की कला में चतुर-निपुण न हो तो उसके समस्तगुण घड़े में धरे प्रदीप के समान निष्फल हैं-कार्यकारी नहीं हैं । अतएव मन्त्रि को अपने अभिप्राय को समझाने में चतुर-कुशल होना चाहिए ।।18।।

शास्त्रज्ञान की निष्फलता :-

तेषां शस्त्रमिव शास्त्रमपि निष्फलं येषां प्रतिपक्ष दर्शनाद्भयमन्वयन्ति चेतांसि ।।19।।

अन्वयार्थ :- (येषाम्) जिन पुरुषों के (चेतांसि) चित्त में (प्रति पक्षदर्शनात्) शत्रु के देखने से (भयम्) भीति (अन्वयन्ति) उत्पन्न होती है (तेषाम्) उनका (शस्त्रम्) हथियार के (इव) समान (शास्त्रम्) शास्त्रज्ञान (अपि) भी (निष्फलम्) व्यर्थ [भवति] होता है ।।

जिन पुरुषों के चित्तों में शत्रु को देखते ही भय संचरित होता है उनका शस्त्र और शास्त्र दोनों ही व्यर्थ हैं ।

विशेषार्थ :- शस्त्राभ्यास उनका ही सफल है जो निर्भय युद्ध कर सके उसी भांति शास्त्र ज्ञान उसका ही सफल है जो दूसरों का सन्मार्ग दर्शन कर सकें । अर्थात् जिन वीर पुरुषों के चित्त शत्रुदल देखते ही कम्पित हो जाते हैं उनका शस्त्र धारण करना व्यर्थ है । उसी प्रकार जिन विद्वानों का वादियों को अवलोकन करते ही प्रतिवाद करने को समक्ष न रह सकें - भय से भागें तो उनका शास्त्रज्ञान भी व्यर्थ है । वादरायण विद्वान ने भी इस सम्बन्ध में लिखा है :-

यथा शस्त्रज्ञस्य शस्त्रं व्यर्थं रिपुकृताद् भयात् ।
शास्त्रज्ञस्य तथा शास्त्रं, प्रतिवादि भयाद् भवेत् ।।1।।

अर्थ :- जिस प्रकार कोई योद्धा शस्त्र विद्यानिपुण होकर भी समर से भयभीत हो जावे तो उसकी शस्त्र-सञ्चालन विद्या व्यर्थ है उसी प्रकार जो अनेक शास्त्रों का अध्येता होता हुआ भी शास्त्रार्थ करने में भीत हो तो उसका विद्यार्जन करना भी निरर्थक है व्यर्थ है ।।1।।

और भी इसी विषय में स्पष्टीकरण:-

तच्छस्त्रं शास्त्रं च वात्मपरिभवाय यन्न हन्तिपरेषां प्रसरम् ।।20।।

अन्वयार्थ :- (तत्) वह (शस्त्रम्) आयुध (वा) अथवा (तत्) वह (शास्त्रम्) शास्त्र ज्ञान (यत्) जो (परेषाम्) शत्रुओं को (न-हन्ति) नहीं नष्ट करते हैं (च) और (न परेषाम्) परवादियों के (प्रसरम्) प्रसार को [न] नहीं [हन्ति] नष्ट करते हैं [तौ] वे दोनों (आत्मपरिभवाय) आत्मा का तिरस्कार अर्थात् पराजय करने वाले [स्तः] होते हैं ।

जिस सुभट का शस्त्र बढ़ती हुई शत्रु सेना का विनाश नहीं कर सकता वह शस्त्र संचालन विद्या उसकी

पराजय कराने वाली होती है । उसी प्रकार जो विद्वान परवादियों के समक्ष ताल ठोक कर उत्तर-प्रयुत्तर नहीं कर सकता - परवादियों को रोक नहीं सकता उसका शास्त्रज्ञान उसकी हार पराजय के लिए ही होता है ।।

विशेषार्थ :- वीर पुरुष को अपने शस्त्र ज्ञान का उपयोग शत्रुसेना के निग्रह करने में और शास्त्रज्ञ विद्वान को अपने ज्ञान का प्रयोग पर वादियों को परास्त करने में करना चाहिए । वही शास्त्रज्ञान है जिसके आधार पर स्वसिद्धान्त स्वपक्ष का समर्थन और पर पक्ष का खण्डन में सामर्थ्य प्रदर्शित कर सके । अन्यथा दोनों ही पराजय अवश्यम्भावी है ।।

नारद विद्वान ने भी लिखा है :-

शत्रोर्वा वादिनो वाऽपि शास्त्रेणैवायुधेन वा ।
विद्यमानं न हन्याद्यो वेगं स लघुतां व्रजेत् ।।1।।

अर्थ :- जो योद्धा शत्रु के बढ़ते हुए आक्रमण को अपनी शस्त्रकला की शक्ति से नष्ट नहीं करता, वह लघुता को प्राप्त होता है । इसी प्रकार जो विद्वान वादियों के वेग को अपनी विद्वत्ता की शक्ति से नहीं रोकता, वह भी लघुता को प्राप्त होता है ।

पाठान्तर :-

''न तद्धतं शास्त्रं वा, आत्मपरिभवाभावाय यन्न हन्ति परेषां प्रसरं''

जिसकी शस्त्र और शास्त्रकला क्रमशः शत्रुओं व वादियों के प्रसार (हमला और खण्डन) को नष्ट नहीं कर सकती, उसकी वह शस्त्र-शास्त्र कला अनुपयोगी होने से उसके पराजय को नहीं रोक सकती - उससे उसे विजय लक्ष्मी प्राप्त नहीं हो सकती ।।20।।

कायर व मूर्ख पुरुष मन्त्रीपद के अयोग्य है :-

न हि गली वलीवर्दो भारकर्मणि केनाऽपि युज्यते ।।21।।

अन्वयार्थ :- (गलीवलीवर्दः) बछड़े (भारकर्माणि) बोझा ढोने के कार्य में (केनाऽपि) किसी भी द्वारा (हि) निश्चय से (न युज्यते) लगाया जाता है ।

कोई भी विद्वान गाय के बछड़े को भारवाही नहीं बनाता । अर्थात् बोझा ढोने में नहीं लगाता है ।

विशेषार्थ :- जिस प्रकार अनुपयुक्त गाय के बछड़े को भार ढोने में लगाना व्यर्थ होता है, उसी प्रकार कायर पुरुष को संग्राम करने से, मूर्ख को शास्त्रार्थ करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है । इसलिए प्रकरण में सचिव को बुद्धि विद्याप्रवीण होने के साथ-साथ शूर-वीर भी होना चाहिए । कायर व मूर्ख व्यक्ति मन्त्रीपद के योग्य नहीं हो सकता है ।

अपरिपक्व अवयवी होने से बछड़ा भार ढोने में सफल नहीं होता, उसी प्रकार अकुशल व्यक्ति राज-काज का भार वहन करने में समर्थ नहीं हो सकता ।।21।।

राजा को षड्गुण प्रयोग किस प्रकार करना चाहिए :-

मंत्रपूर्वः सर्वोऽप्यारंभः क्षितिपतीनाम् ।।22।।

अन्वयार्थ :- (क्षितिपतीनाम्) राजाओं को (सर्वे) सभी (अपि) भी (आरम्भः) कार्य (मंत्रपूर्वः) मन्त्र-सचिवसलाहपूर्वक [कर्त्तव्याः] करने चाहिए ।

राजाओं का कर्त्तव्य है कि वे अपने सम्पूर्ण कार्यों-सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव को सुयोग्य मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा करके ही करें ।।22।।

विशेषार्थ :- मन्त्री राजाओं के नेत्र होते हैं । प्रजा में क्या हो रहा है, उसकी क्या-क्या आवश्यकताएं हैं, उनकी पूर्ति किस प्रकार हो, कौन राज्य राजा अनुकूल हैं, कौन प्रतिकूल हैं इत्यादि का पता मंत्री लगाकर राजा को सूचना देता है । अतः मन्त्री का राजनीतिज्ञ विद्या प्रवीण होना आवश्यक है । विद्वान शुक्र ने भी लिखा है -

अमंत्र सचिवैः सार्द्धं यः कार्यं कुरुते नृपः ।
तस्यतन्निष्फलं भावि षण्ढस्य सुरतं यथा ।।1।।

अर्थ :- जो नृप मन्त्रि से विचार विमर्श किये बिना ही कार्य करता है उसका कार्य नपुसंक स्त्री के संभोग की भाँति निष्फल हो जाता है । अतः राजा को प्रत्येक कार्य में सचिव सहाय लेना चाहिए ।।22।।

मंत्र-मन्त्री आदि की सलाह से लाभ :-

अनुपलब्धस्यज्ञानं, उपलब्धस्य निश्चयः, निश्चितस्य बलाधानं, अर्थस्य द्वैधस्य संशयच्छेदनं, एकदेश लब्धस्या शेषोपलब्धिरिति मंत्रसाध्यमेतत् ।।23।।

अन्वयार्थ :-(अनुपलब्धस्य) जो अप्राप्त है उसकी (ज्ञानम्) जानकारी (उपलब्धस्य) प्राप्त वस्तु का (निश्चयः) निश्चिति (निश्चितस्य) निश्चित का (बलाधानम्) सुदृढ करना (अर्थस्य) किसी अर्थ के (द्वैधस्य) संशय होने की (संशयच्छेदनम्) शंका दूर करना (एकदेशलब्धस्य) देश रूप - अंशरूप प्राप्ति का (अशेषोपलब्धिः) पूर्ण प्राप्ति (इति) इस प्रकार (एतत्) यह सब कार्य (मन्त्रसाध्यम्) मन्त्रणा से साध्य [भवन्ति] होते हैं ।।23।।

विशेष कार्यों की सिद्धि विशेष मंत्रणादि से ही संभव होती है ।

विशेषार्थ :- सन्धि विग्रह आदि में जो प्राप्त-या ज्ञात विषय नहीं है वह शत्रु सैन्य वगैरह के विषय में जानकारी करना । ज्ञात कार्य के विषय में निश्चय करना, ज्ञात होने पर भी वह यथार्थ है या नहीं इस प्रकार निश्चय करना अथवा प्राप्त विषय को स्थिर करना । निश्चित कार्य को दृढ करना या सन्देहास्पद कार्य को निःस्सन्देह करना निदर्शनार्थं शत्रु राजा के राज्य से आया हुआ गुप्तचर, शत्रु सेना, खजाना आदि के विषय में जानकारी लाया, उसके कुछ समय बाद दूसरा गुप्तचर आया और उसने राजा को उलटा-सीधा समझा दिया उसने भी स्वीकारता दे दी । इस परिस्थिति में मंत्रि का कर्त्तव्य होता है कि वह एक सुयोग्य कर्मठ गुप्तचर चुनकर भेजे और यथार्थ स्वरूप का पता लगाये । इस प्रकार सम्यक् प्रकार से विश्वासपात्र गुप्तचर से निर्णीत कर लिया जाय कि वस्तु स्थिति क्या है

तब ही तदनुसार निर्णय लेना चाहिए कि अमुक राजा के साथ सन्धि करना है ? या विग्रह करना है ? इत्यादि । इसी प्रकार अर्द्ध देश पर विजय पताका फहराने लगी तो अब अशेष राज्य पर शासन किस प्रकार या उपाय से करना चाहिए । भूमि आदि के विषय में भी यदि कुछ जानकारी हुयी तो उसे पूर्ण रूप से जानना या नहीं जानना इत्यादि समस्त विषयों का हल एक ही सिद्ध होगा कि प्रत्येक कार्य सिद्ध हो सकता है आदि । इन समस्त कार्यों की सिद्धि में मुख्य मन्त्री का परामर्श अनिवार्य है । सचिव की राह से समस्त कार्य चलते हैं । अन्यथा सर्व गट-पट होकर 'विजय' होने के स्थान पर पराजय ही हाथ लगेगी । निसन्देह मन्त्रणा द्वारा ही कार्यों की सिद्धि होती है ।। विद्वान गुरु ने भी कहा है :-

अज्ञातं शत्रुसैन्यं च चरैर्ज्ञेयं विपश्चिता ।
तस्य विज्ञात मध्यस्य कार्यं सिद्धं नवेति च ।।1।।

अर्थ :- शत्रु सेना यदि अज्ञात है तो प्रथम अपने योग्य गुप्तचरों द्वारा राजा को उसकी सेना की संख्या, योग्यता, व्यवस्थादि के बारे में सम्यक्-भलीप्रकार ज्ञात कर लेना चाहिए। अवगत होने पर निर्णय-विचार करे कि हमें उसके साथ सन्धि, विग्रहादि में से क्या करना उचित है । कौन कार्य सिद्ध होगा ? कौनसा नहीं होगा इत्यादि ।

निष्कर्ष में हम कह सकते हैं कि विजिगीषु राजा को अप्राप्त राज्य की प्राप्ति और प्राप्त की सुरक्षार्थ श्रेष्ठ योग्य अनुभवी, बुद्धिमान, राजनीति के धुरन्धर विद्वानों, अनुभवी मन्त्रिमण्डल के साथ बैठकर मन्त्र का विचार करना आवश्यक है ।।23।।

मन्त्रियों का लक्षण व कर्त्तव्य :-

अकृतारम्भमारब्धस्याप्यनुष्ठानमनुष्ठित विशेषं विनियोग सम्पदं च ये कुर्युस्ते मांत्रणः ।।24।।

अन्वयार्थ :- (ये) जो (अकृतम्) किये नहीं उनको (आरम्भम्) प्रारम्भ (आरब्धम्) प्रारंभ हुओं को (अपि) भी (अनुष्ठानम्) पूर्ण, (अनुष्ठितम्) पूर्ण हो चुके उनको (विशेषम्) विशेष वृद्धिंगत (विनियोग सम्पदम्) अधिकार सम्पदा का विशेष प्रभाव (कुर्युः) करते हैं (ते) वे (मान्त्रणः) साचिव्य करने वाले [सन्ति] होते हैं ।।24।।

जिन कार्यों का श्री गणेश नहीं हुआ उन्हें प्रारम्भ करे, प्रारम्भ किये हुए कार्यों का संर्वांगीण विकास करे। तथा अपने अधिकारों का यथोचित सम्मान व मर्यादा रखकर प्रभुत्व प्रदर्शित करे । इस अपने गुणों में निष्णात होना अत्यावश्यक है ।

विद्वान शुक्र के इस विषय में विचार :-

दर्शयन्ति विशेषं ये सर्वकर्मसु भूपतेः ।
स्वाधिकार प्रभावं च मंत्रिणस्तेऽन्यथा परे ।।1।।

अर्थ :- जो तीक्ष्ण बुद्धि कुशल व्यक्ति राजा के सम्पूर्ण कार्यों में विशेषता अपनी सलाह दिखाते हैं-दर्शाते हैं और अपने अधिकारों एवं प्रभाव की भी सुरक्षा रखते हैं वे ही मन्त्री कहलाते हैं अन्य इससे विपरीत मन्त्रि होने के योग्य नहीं हैं ।।1।।

मन्त्रियों के साथ किये हुए विचार - के अङ्ग: ।।

कर्मणामारम्भोपाय: पुरुषद्रव्यसम्पद् देशकालविभागो विनिपातप्रतीकार: कार्य सिद्धिश्चेति पंचांऽगो मन्त्र: ।।25 ।।

अन्वयार्थ :- (कर्मणाम्) कार्यों के (आरम्भस्य) प्रारम्भ करने का (उपाय:) चेष्टा (पुरुषद्रव्य सम्पद्) पुरुष और द्रव्यसम्पदा (देशकालविभाग:) देश व काल विभाग (विनिपात:) आपत्ति (प्रतिकार:) दूर करना (च) और (कार्यसिद्धि:) कार्य सिद्धि (इति) ये (पञ्च) पाँच (मन्त्र:) मंत्र के (अङ्गा:) अंग [सन्ति] हैं ।।

1. कार्यारम्भ करने का उपाय 2. पुरुष और द्रव्य सम्पत्ति 3. देश और काल का विभाग 4. विनिपात प्रतीकार और 5. कार्यसिद्धि ।

विशेषार्थ :- 1. कार्य प्रारम्भ करने का उपाय :- अपने राष्ट्र को शत्रुओं से सुरक्षित रखने के लिए उसमें खाई, परकोटा, किला-दुर्गादि का निर्माण कराने का प्रयत्न करना, उसके साधनों का विचार करना, दूसरे शत्रु राजाओं का भेद पाने को गुप्तचर नियुक्त करना, खुफियों को भेजना, आदि मन्त्र का प्रथम अङ्ग है ।। किसी नीतिकार ने कहा है :-

कार्यारम्भेषु नोपायं तत्सिद्धयर्थं च चिन्तयेत् ।
य: पूर्वं तस्य नो सिद्धि तत्कार्यं याति कर्हिचित् ।।1 ।।

अर्थ :- जो पुरुष कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व ही उसकी पूर्णता का उपाय साम व दान आदि नहीं सोचता, उसका वह कार्य कभी भी पूर्ण नहीं होता । 2. पुरुष व द्रव्य सम्पत्ति :- अर्थात् यह पुरुष अमुक कार्य करने की क्षमता रखता है यह निर्धारित कर उसे उसी कार्य में नियुक्त करना, अमुक द्रव्य से अमुक कार्य संभव है, उसमें उतना द्रव्य लगाना अथवा किस ˙ क्ति के पास कितनी सम्पत्ति है आदि का ज्ञान करना "द्रव्यसम्पत्" नामक दूसरा मत्राङ्ग है । उदाहरणार्थ - अपने देश में दुर्ग निर्माता, बढ़ई, लुहार, सुनार कौन चतुर है, परदेश में पुरुष सन्धि आदि करने में कुशल दूत, सेना पति, द्रव्य -रत्न सुवर्णादि क्या योग्य है इत्यादि का ज्ञान करना । किसी नीतिकार ने कहा है :-

समर्थं पुरुषं कृत्ये तदर्हं च तथा धनम् ।
योजयेत् यो न कृत्येषु तत्सिद्धिं तस्यनो व्रजेत् ।।1 ।।

अर्थ :- यदि किसी कार्य के लिए उस कार्य में कुशल व योग्य पुरुष को नियुक्त नहीं किया जायेगा और उसके अनुकूल द्रव्य नहीं लगाया जायेगा तो उस कार्य की सिद्धि नहीं हो सकेगी । अत: योग्य पुरुष और द्रव्य का परिज्ञान करना "पुरुष-द्रव्यसम्पत्" है ।।

3. देश और काल विभाग :- अमुक कार्य के लिए अमुक देश, व अमुक समय योग्य होगा, अमुक प्रतिकूल देश-काल है । इस प्रकार विचार करना तीसरा मंत्र का अङ्ग है । दुर्ग, खाई, उद्यानादि कब कहाँ बनाना, सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, वर्षा आदि काल आने पर किस प्रकार व्यवहार करना, किस काल में किस देश के साथ संधि करना, किससे

किस समय विग्रह करना आदि का ज्ञान करना । कहाँ की भूमि उर्वरा है कहाँ की बंजर, कहाँ कौन वस्तु उत्पन्न होगी आदि का विवेक करना तीसरा मन्त्र का देशकाल अङ्ग है ।

किसी विद्वान ने कहा है :-

यथात्र सैंधवस्तोये स्थले मत्स्यो विनश्यति ।
शीघ्रं तथा महीपालः कुदेशं प्राप्य सीदति ।।1।।

यथा काको निशाकाले कौशिकश्च दिवा चरन् ।
स विनश्यति कालेन तथा भूपो न संशयः ।।2।।

अर्थ :- जिस प्रकार पानी में नमक और भूस्थल पर आई मछली नष्ट हो जाती है उसी प्रकार कुदेश-खोटे देश को प्राप्त कर नृपति भी शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाता है ।।1।।

जिस प्रकार काक निशाकाल में और उल्लू-दिन में घूमता हुआ नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार राजा भी वर्षाकाल आदि खोटे समय पाकर नष्ट हो जाता है । अर्थात् वर्षा ऋतु में युद्ध करने वाला राजा भी निःसन्देह अपनी सेना को कष्ट में डाल देता है ।।2।।

4. विनिपात प्रतिकार :- आई हुयी विपत्तियों के विषय में विचार करना कि ये क्यों आईं अब इनके निवारण का उपाय क्या है ? आये हुए इन विघ्नों का निवारण किस प्रकार किया जाय यह मंत्र का "विनिपात प्रतिकार" नाम का मंत्र है ! किसी विद्वान ने कहा है :-

आपत्काले तु सम्प्राप्ते यो न मोहं प्रगच्छति
उद्यमं कुरुते शक्त्या स तं नाशयति ध्रुवम् ।।1।।

अर्थ :- जो मनुष्य आपत्ति पड़ने पर मोह (अज्ञान) को प्राप्त नहीं होता और यथाशक्ति उद्योग-प्रयत्न करता है वह उस संकट को नष्ट कर देता है । अतः मंत्र का "विनिपात प्रतिकार" नामक मन्त्र अङ्ग है ।।

5. कार्यसिद्धि :- उन्नति, अवनति और सम-अवस्था यह तीन प्रकार की कार्य सिद्धि है । जिन सामादि उपायों से विजिगीषु राजा अपनी उन्नति, शत्रु की अवनति या दोनों की सम-अवस्था को प्राप्त हो, यह कार्य "सिद्धि नामक" पांचवां अङ्ग है । किसी विद्वान ने कहा है :-

सामादिभिरुपायैर्यो कार्यसिद्धि प्रचिन्तयेत् ।
न निर्वेगं क्वचिद्याति तस्य तत् सिद्धयति ध्रुवम् ।।1।।

अर्थ :- जो मनुष्य, साम, दाम, दण्ड व भेद उपायों से कार्य सिद्धि चिन्तवन करता है और कहीं पर उससे विरक्त नहीं होता, उसका कार्य निःसन्देह निश्चय से अवश्य सिद्ध होता है ।।1।। अतएव मन्त्री का "कार्य सिद्धि" नामा पाँचवां मन्त्राङ्ग अवश्य होना चाहिए ।। राज्यवृद्धि व सुरक्षा की अभिलाषा वाले राजा को पञ्चाङ्ग युक्त मन्त्रियों से एकाद से या मन्त्रिमण्डल से मन्त्रणा कर कार्य करना चाहिए ।।25।।

मन्त्र-सलाह के अयोग्य स्थान :-

आकाशे प्रतिशब्दवति चाश्रये मंत्रं न कुर्यात् ।।26।।

अन्वयार्थ :- (आकाशे) खुले मैदान में (प्रतिशब्दवति) गुफा आदि प्रतिध्वनि होने वाले स्थानों में (च) और ऐसे स्थानों के (आश्रये) आश्रय में (मन्त्रम्) मन्त्रणा (न कुर्यात्) नहीं करे ।

राजा को चारों ओर से खुले मैदान में, गुफा कन्दराओं-जहाँ आवाज प्रतिध्वनित हो ऐसे स्थानों में मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा नहीं करना चाहिए ।

विशेषार्थ :- गुप्त कार्यों की मन्त्रणा भी गुप्त स्थान में ही होना चाहिए । यह स्थान चारों ओर से ढका रहना चाहिए। प्रतिध्वनि से रहित होना चाहिए । क्योंकि मन्त्रणा के शब्दों की ध्वनि बाहर नहीं आना चाहिए । इससे भेद खुलने की संभावना है । किसी नीतिकार ने कहा है :-

निराश्रयप्रदेशे तु मन्त्रः कार्यो न भू भुजा ।
प्रतिशब्दो न यत्र स्यान्मत्रसिद्धिं प्रवाञ्छता ।।1।।

अर्थ :- मन्त्रसिद्धि चाहने वाले राजा को खुले हुए स्थान में मंत्रणा नहीं करना चाहिए । तथा जिस स्थान पर शब्द टकराकर प्रतिध्वनित नहीं हो उस स्थान पर मन्त्रणा करना चाहिए । भेद खुलने पर मंत्रणा का कोई फल नहीं है ।।26।।

मन्त्र जानने के साधन :-

मुखविकारकराभिनयाभ्यां प्रतिध्वानेन वा मनः स्थमप्यर्थमभ्यूह्यन्ति विचक्षणाः ।।27।।

अन्वयार्थ :- (हि) निश्चय से (विचक्षणाः) चतुर पुरुष (मुख विकारेण) मुखाकृति (कराभिनयाभ्यां) हाथों के इशारों से (वा) अथवा (प्रतिध्वानेन) शब्दसंकेत से (अनस्थम्) मन में स्थित (अर्थम्) भाव को (अपि) भी (अभ्यूह्यन्ति) समझ जाते हैं ।

रहस्य विद्या में निपुण व्यक्ति वदन, हस्त, नयन, शब्दादि ध्वनि के माध्यम से मन के अभिप्राय को ज्ञात कर लेते हैं ।

विशेषार्थ :- चतुर दूतादि लोग स्वामी-राजा के हृदयगत भावों को मुख की आकृति, और हस्तादि अंगों के सञ्चालनादि द्वारा अवगत कर लेते हैं । अतएव राजा को गुप्त मन्त्रणा इन लोगों के सामने नहीं करना चाहिए । अन्यथा मन्त्र प्रकाशित हो जाता है ।।27।। क्यों कि चर के बारे में आचार्य कुन्द-कुन्द लिखते हैं कि-

वर्णितापस वेशेषु स्वान्तर्भावं निगूहयन् ।
येन केनाऽपि यत्नेन स्वकार्यं साधयेच्चरः ।।6।।

कुरल का. प. छे. 59

अर्थ :- गुप्तचरों को चाहिए कि वे साधु, तापसी, सन्तों का वेष धारण करें और खोजकर सच्चा भेद निकाल

लें, और चाहे कुछ भी हो भेद को खोले नहीं गुप्त रखे । परन्तु दुर्जन के प्रति विश्वस्त भी नहीं रहना चाहिए ।

वल्लभदेव विद्वान का अभिमत है कि :-

आकारैरिंगितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च ।
नेत्र वक्त्र विकारेण गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ।।2 ॥

अर्थ :- मुखाकृति, अभिप्राय, गमन, चेष्टा, भाषण और नेत्र, मुख के विकारों-संचालनों द्वारा मानसिक भावों को ग्रहण कर लिया जाता है ।।1॥ अतएव गुप्त मन्त्रणा गुप्त स्थानों में, एकान्त में ही करना चाहिए ।।27॥

गुप्त विचार को सुरक्षित रखने की अवधि :-

आकार्यसिद्धे रक्षितव्यो मंत्रः ।।28 ॥

अन्वयार्थ :- (आकार्यसिद्धे) कार्य की सिद्धि होने पर्यन्त (मंत्रः) मन्त्र (रक्षितव्यः) सुरक्षित-गोपनीय रखना चाहिए।

विशेषार्थ :- जब तक संकल्पित या प्रारम्भिक कार्य की पूर्णता न हो जाये, तब उसके कार्य-कलापों की योजना गुप्त रखनी चाहिए । विवेकी जन को अपना मन्त्र गोप्य रखना चाहिए । प्रकट होने पर कार्य नहीं होगी । विदुर विद्वान ने कहा है :-

एकं विषरसो हन्ति शस्त्रेणैकश्च वध्यते ।
स राष्ट्रं सप्रजं हन्ति राजानं धर्मविप्लवः ।।1 ॥

अर्थ :- विषभक्षण केवल खाने वाले व्यक्ति को और खड्गादि भी मात्र एक ही आदमी को मारते हैं, परन्तु धर्म का नाश या मन्त्र का भेद समस्त देश और सारी प्रजा को विध्वंश कर देता है । राजा-राज्य सबका संहार कर देता है मंत्रभेद। इसलिए मन्त्र को गोप्य ही रखना चाहिए ।।28॥

अपरिक्षित स्थान में मंत्रणा करने का फल :-

दिवानक्तं वाऽपरीक्ष्य मंत्रयमाणस्याभिमतः प्रच्छन्नो वा भिनत्ति मन्त्रम् ।।29 ॥

अन्वयार्थ :- (दिवा) दिन में (वा) अथवा (नक्तं) रात्रि में (अपरीक्ष्य) बिना परीक्षा किये स्थान में (मंत्रयमाणस्य) मन्त्रणा करने वाले का (अभिमतः) अभिप्राय (वा) अथवा (प्रच्छन्नः) गुप्त कार्य रूप (मन्त्रम्) मन्त्रणा (भिनत्ति) नष्ट हो जाता है ।

बिना परीक्षा किये स्थान में मन्त्रणा करने वाले राजा का मंत्र गोपनीय नहीं रह सकेगा, वह प्रकाशित हो जायेगा। क्योंकि छिपा हुआ आत्मीय पुरुष उसे प्रकट कर देता है ।।29॥

उक्त कथन को ऐतिहासिक दृष्टान्त :-

श्रूयते किल रजन्यां वटवृक्षे प्रच्छन्नो वर रुचिर-प्र-शि-खेति पिशाचेभ्यो वृत्तान्तमुपश्रुत्य चतुरक्षराद्यैः पादैः श्लोकमेकं चकारेति ।।30 ॥

अन्वयार्थ :- (श्रूयते) पुरातनपुरुषों से सुना गया कि (किल) निश्चय से (रजन्याम्) रात्रि में (वटवृक्षे) वटवृक्ष तले (प्रच्छन्नः) छुपे (वररुचिर) वर रुचि ने (प्र-शि-खे-ति) चार चरण के इन एक एक अक्षर को (पिशाचेभ्यो) पिशाचों द्वारा (वृत्तान्तम्) समाचार (उपश्रुत्य) सुनकर (चतुरक्षराद्यैः) चार अक्षरों द्वारा (पादैः) पादों से (एकम्) एक (श्लोकम्) श्लोक (चकारेति) रचलिया ।

वृक्ष पर बैठे पिशाच मंत्रणा कर रहे थे उनके प्रत्येक श्लोक पंक्ति के एक-एक अक्षर र-प्र-शि-खे-ति से श्लोक पूर्ण कर उनके अभिप्राय को ज्ञात कर लिया ।

विशेषार्थ :- वररुचि नामक एक राज्यमन्त्री ने वटवृक्ष पर बैठे पिशाचों का गुप्त कथन सुन लिया । हिरण्यगुप्त के द्वारा कहे श्लोक के प्रत्येक पाद के एक-एक अक्षर से पूर्ण श्लोक बना लिया और गुप्त रहस्य खोलकर मरवा डाला। पूर्ण वृत्तान्त निम्न प्रकार है :-

वररुचि नंद राजा जो कि 322 ई. पू. में भारत का सम्राट् हुआ था मन्त्री है ।।

एक समय नन्द राजा का पुत्र राजकुमार हिरण्यगुप्त वन में क्रीडार्थ गया । उसने अपने मित्र को निद्रा में मार डाला। उस पुरुष ने मरते समय "अ-प्र-शि-ख" ये अक्षर उच्चरित किये थे । उसे सुनकर अपने प्रिय मित्र को धोखे से मारा गया समझ कर हिरण्यगुप्त मित्र के साथ द्रोह करने के पाप से ज्ञान शून्य, किंकर्त्तव्य विमूढ और अधिक शोक के कारण पागल की तरह व्याकुल होकर कुछ काल तक स्वयं भी उसी अटवी में भटकता रहा । पश्चात् राजकर्मचारियों ने अन्वेषणा कर उसे नन्द राजा के पास लाये । यह राजा सभा में लाया गया तो शोक से पीडित हो अ-प्र-शि-ख, अप्रशिख, वर्णों का बार-बार उच्चारण कर व्याकुल होने लगा । नन्द राजा इन अक्षरों का अर्थ नहीं समझा और उसने अपनी मन्त्री-पुरोहितों को अर्थ लगाने की आज्ञा दी, परन्तु वे भी मौन साध कर रह गये । उनमें से वररुचि नामक मन्त्री बोला, राजन् ! मैं एक दो दिन बाद इनका अर्थ समझाऊँगा । इस प्रकार प्रतिज्ञाबद्ध होकर वह उसी वन में वटवृक्ष के नीचे जाकर छुप गया । वहाँ उसने रात्रि में पिशाचों के द्वारा उक्त वृत्तान्त (हिरण्यगुप्त-राजकुमार के द्वारा सोते हुए पुरुष को खड्ग से शिर काट कर मारा) को सुना । पश्चात् प्रकरण का ज्ञान हो जाने से उसने प्रत्येक चरण के एक-एक अक्षर से श्लोक बनाकर राजा को सुनाया । वह श्लोक निम्न प्रकार है :

अनेन तव पुत्रेण प्रसुप्तस्य वनान्तरे ।
शिखामाकृष्य पादेन खड्गेनोपहतं शिरः ।।1 ॥

अर्थ :- इसी आपके पुत्र ने अर्थात् नन्द राजा के पुत्र हिरण्यगुप्त ने वन में सोते हुए मनुष्य की चोटी खींचकर खड्ग से उसका शिर काट डाला ।।1 ॥ अभिप्राय इतना ही है कि स्थान की परीक्षा करके ही वहाँ गुप्त मन्त्रणा करना चाहिए ।।30 ॥

अब गुप्त सलाह के अयोग्य व्यक्ति :-

न तैः सह मन्त्रं कुर्यात् येषां पक्षीयेष्वपकुर्यात् ।।31 ।।

अन्वयार्थ :- (येषाम्) जिनके (पक्षीयेषु) परिवारदि के व्यक्तियों का (अपकुर्यात्) अपकार किया हो (तैः) उन लोगों के (सह) साथ में (मन्त्रम्) गुप्त मन्त्रणा (न कुर्यात्) नहीं करे ।

जिनके बधु-बांधवों को वध-बन्धनादि द्वारा अपकार किया है उनके पारवारिक-विरोधियों के साथ भी गुप्त मन्त्रणा-सलाह नहीं करनी चाहिए । क्योंकि उनके द्वारा भेद प्रकाशन का भय रहता है ।।

विशेषार्थ :- मनुष्य के अन्दर प्रतिशोध की प्रबल भावना होती है । उसके उभड़ने का समय निश्चित नहीं होता। अतः कभी भी विरोध कर गुप्त मन्त्र को प्रकाशित कर सकते हैं । शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

येषां वधादिकं कुर्यात् पार्थिवश्च विरोधिनाम् ।
तेषां सम्बन्धिभिः सार्द्धं मंत्रः कार्यो न कर्हिचित् ।।1।।

अर्थ :- राजा को अपने विरोधी, जिनको वध बन्धनादि दण्ड दे चुका है, उनके साथ कभी भी गुप्त मन्त्रणा-सलाह परामर्श नहीं करना चाहिए । क्योंकि कहावत् है - "जल को और कुल को मिलने में देर नहीं लगती" दूसरी बात है "घोटूं पेट को ही नमते हैं ।।" अपने कुटुम्ब परिवार का ही पक्ष मानव स्वीकार करता है ।। अतः मनुष्य की सम्यक् परीक्षा कर अपने अनुकूल रहने वालों के साथ ही गुप्त सलाह करना श्रेष्ठ है ।।31।।

मन्त्र के समय न आने वाले व्यक्ति का स्वरूप :-

अनायुक्तो मन्त्रकाले न तिष्ठेत् ।।32।।

अन्वयार्थ :- (अनायुक्तो) बिना बुलाया व्यक्ति (मन्त्रकाले) गुप्त मंत्रणा के समय (मन्त्रकाले) मंत्रणा के समय में (न तिष्ठेत्) नहीं रहे ।

नृपति की आज्ञा बिना कोई भी व्यक्ति मन्त्रणा के समय उस स्थान के आस-पास व वहाँ पर नहीं रहे ।

विशेषार्थ :- पृथ्वी पति ने जिन-जिन सत्पुरुषों को आह्वान किया हो (बुलाया हो) वही-वही व्यक्ति राजा के पास मन्त्रणा करते समय रहें अन्य नहीं । राजा का अत्यन्त निकटवर्ती प्रिय मित्र भी वहाँ (गुप्त मंत्रणा काल में) पहुँच जाता है तो राजा उससे रुष्ट हो जाता है । शुक्र विद्वान ने इस विषय में कहा हैं :-

यो राजा मन्त्र बेलायामनाहूतः प्रगच्छति ।
अति प्रसाद युक्तोऽपि विप्रियत्वं व्रानेद्धि सः ।।1।।

अर्थ :- जो नृप की मन्त्र बेला में बिना बुलाये ही चला आता है जैसी कहावत् है "मान न मान मैं तेरा मेहमान" बन बैठता है वह अपनी मर्यादा को घटाता है । अर्थात् प्रिय होने पर भी राज्यादि का कोप भाजन होता है ।

मन्त्रणा को प्रकाशित करने वाले दृष्टान्तः-

तथा च श्रूयते शुकसारिकाभ्यामन्यैश्च तिर्यग्भिर्मन्त्रभेदः कृतः ।।33।।

अन्वयार्थ :- (तथा) उसी प्रकार (श्रूयते) सुना जाता है कि (शुक सारिकाभ्याम्) तोता, मैनादि द्वारा (च) और (अन्यैश्च) दूसरे भी (तिर्यग्भिः) पशु आदि द्वारा (मन्त्रभेदः) गुप्त मन्त्र प्रकाशित (कृतः) किया गया।

मनुष्य की क्या बात पशु-पक्षी भी गुप्त मन्त्र को प्रकाशित करने वाले देखे जाते हैं ।।33।।

अभिप्राय यह है कि मन्त्रणा करने के स्थान में पशु पक्षियों का संचार भी नहीं रहना चाहिए । नीरव, एकान्त, शान्त स्थान में ही विवेकी पृथ्वीपतियों को गुप्त मन्त्रणा करना योग्य है ।।33।।

मन्त्र प्रकाशित होने से कष्ट होता है :-

मन्त्रभेदादुत्पन्नं व्यसनं दुष्प्रतिविधेयं स्थात् ।।34।।

अन्वयार्थ :- (मन्त्र) गुप्त सलाह (भेदात्) प्रकट होने से (उत्पन्नम्) उत्पन्न हुआ (व्यसनम्) कष्ट (दुष्प्रतिविधेयम्) कठिन प्रतिकारी (स्यात्) होगा ।

रहस्य खुल जाने पर होने वाला कष्ट दुष्परिहार्य एवं तीव्र कष्ट दायक होता है ।

विशेषार्थ :- पृथ्वीपति को अपने मन्त्र कार्य में विशेष सावधान् रहने की आवश्यकता है । क्योंकि मन्त्र भेद का क्लेश दुर्निवार होता है । गर्ग विद्वान ने भी कहा है :-

मंत्र भेदाच्च भूपस्य व्यसनं सम्प्रजायते ।
तत्कृच्छान्नाशमभ्येति कृच्छ्रेणाप्यथवा न वा ? ।।1।।

अर्थ :- मंत्र के खुल जाने पर राजा का कष्ट इतना कठिन होता है कि उसका निवारण कष्ट साध्य होता है अथवा अनेकों दुसाध्य उपायों से भी नष्ट नहीं होता ।

निष्कर्ष यह है कि विपत्ति आने के पूर्व ही उसको बांध देना चाहिए । "पानी पहले पार बांधना" कहावत के अनुसार सम्यक् विवेक पूर्वक मन्त्रणा का स्थानादि परिशोधन कर लेना अनिवार्य है ।।34।।

जिन कारणों से गुप्त मन्त्रणा प्रकट होती है :-

इङ्गितमाकारो मदः प्रमादो निद्रा च मंत्रभेदकारणानि ।।35।।

अन्वयार्थ :- (मंत्रभेदस्य) गुप्त मंत्र भेद के (कारणानि) कारण हैं - (इङ्गितम्) इशारा (आकारो) मुखादि की चेष्टा, (मदः) अहंकार (प्रमादः) आलस्य (च) और (निन्द्रा) नींद ।

गुप्त मन्त्र भेद के पाँच कारण हैं - 1. इङ्गित - मुखादि की चेष्टा 2. शरीर की रौद्र या सौम्य आकृति 3. शराब आदि पीना 4. प्रमाद असावधानी करना और 5. निद्रा बाहुल्य ।।35।।

1. इङ्गित का लक्षण :-

इङ्गितमन्यथावृत्तिः ।।36।।

अन्वयार्थ :- (अन्यथावृत्ति) नेत्रादि अंगों की स्वभाव से विपरीत चेष्टा (इङ्गितम्) इशारा [अस्ति] ।

गुप्त अभिप्राय को प्रकट करने वाली शरीर की चेष्टा विशेष को इङ्गित कहते हैं । अथवा स्वाभाविक क्रियाओं से भिन्न क्रियाओं के सम्पादन का इङ्गित कहा जाता है ।।36।।

2. आकार का लक्षण :-

कोप प्रसाद जनिताशरीरी विकृतिराकाराः ।।37।।

अन्वयार्थ :- (कोपात्) क्रोध से (प्रसादात्) प्रसन्नता से (जनिता) उत्पन्न (शरीरी) शरीर की (विकृतिः

) रौद्र व सौम्य आकृति को (आकार:) आकार [कथ्यते] कहा जाता है ।।

रूष्ट होने से चेहरे आदि पर भयंकर, और किसी के प्रति अनुग्रह करने या हर्ष से जो आनन्द रूप प्रसन्नता दृष्टिगत होती है उसे "आकार" कहते हैं ।।37।।

3. मद :-

पानस्त्री संगादि जनितो हर्षो मद : ।।38।।

अन्वयार्थ :- (पान) मद्यपान (स्त्री संगादि) स्त्री संभोग आदि से (जनित:) उत्पन्न (हर्ष:) प्रसन्नता को (मद:) मद कहते हैं ।

विषय भोगों से इन्द्रिय जन्य सुख मिलता है । इससे उत्पन्न प्रसाद-प्रसन्नता को आगम में 'मद' कहा जाता है।

विशेषार्थ :- भोगी-संसारी प्राणी मानव मद्यादि कुव्यसनों में लम्पटी उनके सेवन हानि देखते हुए भी उन्हीं में रच-पच आनन्दानुभव करता है । इसी को यहाँ 'मद' संज्ञा नाम प्रदान किया है ।।38।।

4. प्रमाद का स्वरूप :-

प्रमादो गोत्रस्खलनादि हेतु: ।।39।।

अन्वयार्थ :- (गोत्रस्खलनादि) गोत्रगत नामादि को भूल जाने का (हेतु:) कारण (प्रमाद:) प्रमाद कहलाता है ।

विशेषार्थ :- किसी का नाम भूल जाना । अन्यथा - अन्य का अन्य नामोच्चारण करना, असावधानी बर्तना प्रमाद कहा जाता है । अपने अथवा पर के नाम को भूल जाना अथवा अन्यथा प्रलाप करना इच्छित कार्य को त्याग अन्य काम करने लगना, जाप, पूजा भूल जाना - अर्थात् कार्यों में असावधानी वर्तन करना "प्रमाद" कहलाता है ।।39।।

अन्यथा चिकिर्षतोऽन्यथा वृत्ति र्वा प्रमाद: ।।40।।

अन्वयार्थ :- (चिकिर्षत:) विचार किया (अन्यथा) अन्य प्रकार (वा) तथा (वृत्ति:) कार्य (अन्यथा) दूसरे प्रकार से करना (प्रमाद:) प्रमाद है ।

किसी कार्य की योजना एक प्रकार से बनाई और उसका कार्य दूसरे प्रकार से करना यह भी प्रमाद है । यथा योजना बनाई श्री सम्मेद शिखर में विधान-पूजा करना है और सोनागिर में ही करने लगे । यह असावधानी या प्रमाद हुआ।।40।।

5. निद्रा का लक्षण :-

निद्रान्तरितो [निद्रित:] ।।41।।

अन्वयार्थ :- [निद्रित:] नींद लेने पर (निद्रान्तरित:) पुन: निद्रा लेकर सोने वाला ।

श्रमग्लानि को दूर करने के लिए नींद लेना निद्रा है । परन्तु प्रगाढ़ नींद लेना या नींद पर नींद लेना यह घातक है ।।41।।

उपर्युक्त ये पाँच बातें गुप्त मन्त्र का भेदन करती हैं ।।

सारांश यह है कि गुप्त मन्त्रणा करते समय राजा या मंत्री आदि आङ्गोपाङ्ग से इशारा करेंगे तो हाव-भाव से उसका अभिप्राय अवगत हो जाता है, इसी प्रकार क्रोध से रौद्र परिणाम, हर्ष से सौम्याकृति देखकर गुप्तचर विग्रह व सन्धि को ज्ञात कर सकते हैं । इसी प्रकार शराब आदि पीना, प्रमाद करना, निद्रा लेना ये भी गुप्त भेद प्रकाशन के हेतू हैं । अर्थात् प्रगाढ़ नशे में, असावधानी व गहरी निद्रा में रहस्योद्घाटक शब्दोच्चारण कर सकता है ।। अतः उपर्युक्त पाँचों बातों का परिहार करना चाहिए ।।41।।

वशिष्ट विद्वान ने भी कहा है कि :-

मंत्रयित्वा महीपेन कर्त्तव्यं शुभचेष्टितम् ।
आकारश्च शुभः कार्यत्याज्या निद्रामदालसः ।।1।।

अर्थ :- नृप को गुप्त मन्त्रणा करने के समय अपने मुख की आकृति सौम्य और शरीर आकृति को सरल-स्वाभाविक रखनी चाहिए । तथा निद्रा, मद और आलस्य का परित्याग कर देना चाहिए । अन्यथा भेद-रहस्य छिपा नहीं रह सकेगा ।।41।।

निश्चित विचार को शीघ्र कार्यान्वित करना चाहिए :-

उद्धृत मन्त्रो न दीर्घसूत्रः स्यात् ।।42।।

अन्वयार्थ :- (उद्धृत) निश्चित किया (मन्त्रः) गुप्त मंत्रणा (दीर्घ सूत्रः न स्यात्) अधिक समय तक नहीं रोकना चाहिए ।

जो मन्त्रणा निर्धारित हो उसे अतिशीघ्र कार्यरूप में परिणत कर डालना चाहिए । क्योंकि विलम्ब करने से मंत्रभेद खुलने का भय रहना है । विशेषार्थ :- कौटिल्य ने भी कहा है :-

"**अवाप्तार्थः कालं नातिक्रमेत्**" कौ. अ. शास्त्र सूत्र 50, मंत्राधिकार अर्थात् - प्रयोजन को निश्चित कर उसे शीघ्रतिशीघ्र ही कार्य रूप परिणत कर देना चाहिए । समय को व्यर्थ गंवाना उचित नहीं है ।। शुक्र कहते हैं :-

यो मन्त्रं मन्त्रयित्वा तु नानुष्ठानं करोति च ।
तत्क्षणात्तस्य मंत्रस्य, जायते नात्र संशयः ।।1।।

अर्थ :- जो पुरुष, नृपति या अन्य कोई विचार निश्चित कर उसे उसी समय कार्यान्वित नहीं करता - आचरण में नहीं लाता, उसे मंत्र का फल - (कार्यसिद्धि) प्राप्त नहीं होता ।।42।।

निश्चित विचार के अनुसार कार्य न करने से हानि :-

अननुष्ठाने छात्रवत् किं मन्त्रेण ।।43।।

अन्वयार्थ :- (छात्रः) विद्यार्थी (वत्) के समान (अननुष्ठाने) कार्य रूप आचरण में नहीं लाने पर (मन्त्रेण) मन्त्र से (किम्) क्या [प्रयोजम् अस्ति] क्या अर्थ सिद्ध होता है ? कुछ नहीं ।

किसी भी निर्णीत कार्य को शीघ्रातिशीघ्र कार्यान्वित करना चाहिए ।

विशेषार्थ :- किसी भी कार्य की योजना निश्चित होते ही उस धारणा को कार्यान्वित कर लेना चाहिए । अन्यथा प्रमादी विद्यार्थी के समान समस्त श्रम व्यर्थ हो जायेगा । जिस प्रकार प्रमादी शिष्य गुरु के पास मन्त्र तो सीख ले, परन्तु तदनकूल उसका प्रयोग न करे । जापादि अनुष्ठान नहीं करे तो वह मन्त्र सीखना व्यर्थ ।। शुक्र विद्वान ने इस विषय में निम्न विचार व्यक्त किये हैं :-

यो मन्त्रं मन्त्रयित्वा तु नानुष्ठानं करोति च ।।
स तस्य व्यर्थतां याति छात्रस्येव प्रमादिनः ।।1।।

अर्थ :- जो विजीगुषु मन्त्र का निश्चय करके तदनुसार यदि कार्य नहीं करता है, उसका यह मन्त्र प्रमादी-आलसी विद्यार्थी की भाँति व्यर्थ ही हो जाता है ।। सर्वत्र पुरुषार्थ की महिमा है । प्रत्येक कार्य की सिद्धि सत्पुरुषार्थ से होती है ।143॥

इसी का दृष्टान्त से समर्थन :-

न ह्यौषधि परिज्ञानादेव व्याधिप्रशमः ।144॥

अन्वयार्थ :- (हि) निश्चय से (औषधिपरिज्ञानात्) औषधि की जानकारी मात्र से (एव) ही (व्याधिः) रोग (प्रशमः) उपशम (न) नहीं (भवति) होता है ।144॥

दवाई के गुणमात्र ज्ञात करने से रोगोपशम नहीं होता, अपितु उसका यथाविधि यथोचित सेवन करने से व्याधि का नाश होता है । उसी प्रकार केवल गुप्तमन्त्रणा कर किसी कार्य की योजना मात्र बनाने से इष्ट कार्य की सिद्धि नहीं होती, अपितु उसे कार्यान्वित करने से होती है ।

विशेषार्थ :- जिस प्रकार औषधि का ज्ञान मात्र रोग नाश का कारण नहीं, अपितु उसका यथाकाल, यथाविधि प्रयोग करने से इष्ट कार्य स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है । इसी प्रकार मन्त्रणा का प्रयोग करने से सन्धि-विग्रहादि उद्देश्य की सिद्धि होती है ।

विद्वान नारद ने भी कहा है :-

विज्ञाते भेषजे यद्वत् बिना भक्षं न नश्यति ।
व्याधिस्तथा च मन्त्रेऽपि न सिद्धिः कृत्यवर्जिते ।।1।।

अर्थ :- औषधि ज्ञात होने पर भी, जिस प्रकार उसके भक्षण किये बिना रोग शान्त नहीं होता उसी प्रकार मन्त्रणा सिद्धि भी उसके प्रयोग के बिना नहीं हो सकती । अभिप्राय यह है कि योजना को यथाशक्ति शीघ्रतिशीघ्र कार्यान्वित करना चाहिए ।

संसार में प्राणियों का शत्रु :-

नास्त्यविवेकात् परः प्राणिनां शत्रुः ।145॥

अन्वयार्थ :- (अविवेकात्) अविचार से (परः) अधिक (प्राणिनाम्) प्राणियों का (शत्रुः) रिपु (न) नहीं [अस्ति] है ।

बिना विचारे कार्य सम्पादन करने से अधिक बलवान अन्य कोई शत्रु नहीं है ।

विशेषार्थ :- मनुष्य बुद्धि जीवी प्राणी है । बुद्धि का फल विवेक है । नीतिशास्त्र का विज्ञान प्रत्येक मानव को होना चाहिए । विज्ञान या विवेक ही मानव को बध, बन्धनादि कष्टों से रक्षा कर सकता है । गुरु विद्वान ने भी लिखा है :-

अविवेकः शरीरस्थो मनुष्याणां महारिपुः ।
यश्चानुष्ठान मात्रोऽपिकरोति बधबन्धनम् ।।1॥

अर्थ :- अज्ञान-मूर्खता प्राणियों का महान शत्रु है । जिसके कारण से मनुष्यों को नाना प्रकार के बध बन्धन सहन करने पड़ते हैं । अभिप्राय इतना ही है कि मनुष्य अविवेक वश लक्ष्य से चूक जाता है और अनेक विपत्तियों का शिकार बन जाता है ।145॥

स्वयं करने योग्य कार्य को दूसरे से कराने से हानि :-

आत्मसाध्यमन्येन कारयन्नौषध मूल्यादिव व्याधिं चिकित्सति ।146॥

अन्वयार्थ :- (आत्मासाध्यम्) स्वतः करने योग्य कार्य (अन्येन) दूसरे के द्वारा (कारयन्) कराने वाला (औषधमूल्यात्) औषधि के मूल्य के ज्ञान (इव) समान (व्याधिं) रोग (चिकित्सति) निवृत्ति करता है।

जो व्यक्ति स्वयं के करने योग्य कार्य को अन्य व्यक्ति द्वारा कराता है, वह औषधि के मूल्य ज्ञान से रोग की चिकित्सा कराने के समान है।

विशेषार्थ :- जिस प्रकार मात्र दवाई की कीमत समझ लेने मात्र से रोग की निर्वृति नहीं होती, उसी प्रकार स्वयं करने योग्य कार्य को दूसरे से कराने से सिद्ध नहीं हो सकता । कहावत है "अपने मरे बिना स्वर्ग नहीं मिलता" अर्थात् अपना कार्य स्वयं अपने ही करना चाहिए । तभी कार्य सिद्धि होती है ।। भृगु विद्वान ने भी कहा है :-

आत्मसाध्यं तु यत्कार्यं योऽन्यपार्श्वात् सुमन्दधीः ।
कारापयति स व्याधिं नयेद् भेषजमूल्यतः ।।1॥

अर्थ :- जो अज्ञानी, मूर्ख मनुष्य स्वयं करने योग्य कार्य को दूसरों से कराता है, वह औषधि का केवल मूल्य समझने से रोग का नाश करना चाहता है ।।1॥

स्वयं के करने योग्य कार्य को अपने आप ही करना चाहिए ।146॥

स्वामी की उन्नति-अवनति का सेवक पर प्रभाव :-

यो यत्प्रतिबद्धः स तेन सहोदयव्ययी ।।47।।

अन्वयार्थ :- (यो) जो व्यक्ति (यत्) जिससे (प्रतिबद्धः) आश्रय प्राप्त है (सः) वह (तेन) उसके साथ (सह) साथ (उदयः) उन्नति और (व्ययः) अवनति [भवति] होती है ।।

जो सेवक अपने स्वामी की भक्ति करता है उसकी उन्नति व अवनति उसके साथ-साथ ही होती है।

विशेषार्थ :- मालिक का उत्थान होता है तो सेवक का भी महत्व बढ़ता है और यदि स्वामी अवनति पथ पर चलेगा तो सेवक का भी उसी प्रकार का प्रभुत्व क्षीण होता है । अर्थात् स्वामी की आर्थिक हानिवृद्धि होने पर सेवक भी हानि-वृद्धि अवस्था को प्राप्त करता है । भागुरी विद्वान् ने भी इस विषय में कहा है :-

सरस्तोय समो राजा भृत्यः पद्माकरोपमः ।
तद्वृद्धया वृद्धिमभ्येति तद्विनाशे विनश्यति ।।1।।

अर्थ :- राजा सरोवर के नीर सदृश है, उसका सेवक कमल समूह के समान है । इसलिए राजा की वृद्धि से उसकी वृद्धि और हानि से हानि होना स्वाभाविक है । सरोवर में जल वृद्धिगंत होता तो कमल भी ऊपर ऊपर होता जाता है । जल सूखा तो कमल भी । अतः राजा की उन्नति और अवनति सेवक को प्रभावित करती ही है ।।47।।

स्वामी के आश्रय से सेवक को लाभ :-

स्वामिनाधिष्ठितो मेषोऽपि सिंहायते ।।48।।

अन्वयार्थ :- (मेषः) मेढा (अपि) भी (स्वामिना) मालिक से (अधिष्ठितः) आश्रय से (सिंहायते) शेर के समान बलवान हो जाता है ।

कहावत है "अपनी गली में कुत्ता भी शेर होता है ।" साधारण मेढ़ा भी सहाय पाकर सिंह समान हो जाता है। उसी प्रकार राजा के समुन्नत होने पर सेवक भी बलवान होता है और राजा की हानि सेवक को भी बलहीन बना देती है॥ रैभ्य विद्वान ने इस विषय में लिखा है :-

स्वामिनाधिष्ठितो भृत्यः परस्मादपि कातरः ।
श्वापि सिंहायते यद्वन्निजं स्वामिनमाश्रितः ।।1।।

अर्थ :- जिस प्रकार अपने स्वामी का आश्रय प्राप्त कर श्वान-कुत्ता भी शेर बन जाता है उसी प्रकार सेवक (नौकर) भी अपने मालिक का आश्रय-सहयोग प्राप्त कर कायर भी वीर पुरुष बन जाता है ।।

गुप्त सलाह के समय मंत्रियों का कर्त्तव्य :-

मन्त्रकाले विगृह्य विवादः स्वैरालापश्च न कर्त्तव्यः ।।49।।

अन्वयार्थ :- (मन्त्रकाले) गुप्त मन्त्रणा के समय (विगृह्य) कलह करके (विवादः) वाद-विवाद (च) और (स्वैरालापः) स्वच्छन्द हंसी-मजाकादि (न कर्त्तव्यः) नहीं करना चाहिए ।

एकान्त में किसी रहस्यपूर्ण विषय का निर्णय लेते समय मंत्रियों को व्यर्थ विसम्बाद करके वितण्डा उत्पन्न नहीं करना चाहिए और हंसी मजाक भी नहीं करना चाहिए ।

विशेषार्थ :- कलह करने से वैर-विरोध और स्वच्छन्द हंसी-मजाकादि-अनुभव शून्य वार्तालाप करने से अनादर होता है । अतः मन्त्रियों को मन्त्रवेला में असंगत प्रसंग छेड़ कर व्यर्थ की चर्चा नहीं करनी चाहिए । इस विषय में गुरु विद्वान ने भी लिखा है :-

विरोधवाक्य हास्यानि मंत्रकाल उपस्थिते ।
ये कुर्यु र्मन्त्रिणस्तेषां मंत्रकार्यं न सिद्धियति ।।1।।

अर्थ :- जो मन्त्री मन्त्रणा करते समय वैर-विरोधोत्पादक वाद-विवाद या हंसी मजाक करने लगते हैं उनके कार्य की सिद्धि नहीं होती । अतः कार्यानुसार काल का परिज्ञान दृष्टि में रखकर वार्तालाप करना चाहिए । असंगत चर्चा नहीं करें ।

मन्त्र का प्रधान प्रयोजन-फल :-

अविरुद्धैरस्वैरैर्विहितो मन्त्रो लघुनोपायेन महतः कार्यस्य सिद्धिर्मंत्रफलम् ।।50।। पाठान्तर-लघुनोपायेन महतः कार्यस्य सिद्धि र्मन्त्रफलम् ।। परन्तु अर्थ भेद विशेष नहीं है ।।50।।

अन्वयार्थ :- (अविरुद्धैः) वैर-विरोध रहित (अस्वैरैः) स्वच्छन्दता रहित (विहितः) मन्त्रणा की गई (लघुना) अल्प (उपायेन) प्रयत्न से (महतः) महान (कार्यस्य) कार्य की (सिद्धिः) सफल [भवति] होती है । [इदमेव] यही (मन्त्रफलम्) मन्त्रणा का फल है ।

शान्ति और गम्भीरता से गुप्त विषय की एकान्त विवेचना अल्प प्रयास से सिद्धि प्रदान करती है ।

विशेषार्थ :- लघु उपाय से लघु कार्य और महत् उपाय से महान् कार्य की सिद्धि होना यह मन्त्रशक्ति का फल नहीं है । कारण कि इस प्रकार के कार्य तो बिना मन्त्रणा के भी हो सकते हैं । परन्तु अल्प समय और लघु उपायों से महान् कार्य की सिद्धि होना मन्त्रणा का यथार्थ कार्य है । माहात्म्य है । नारद विद्वान ने भी कहा है -

सावधानाश्च ये मंत्रं चक्रु रेकान्तमाश्रिताः ।
साधयन्ति नरेन्द्रस्य कृत्यं क्लेशविवर्जितम् ।।1।।

अर्थ :- सतर्क-बुद्धिमन्त मन्त्री एकान्त में बैठकर षाड्गुण्य-संधि, विग्रह आदि सम्बन्धी मन्त्रणा करे । इस प्रकार मन्त्रणा करने वाला मन्त्री राजा के महान कार्य को भी सरलता से बिना कष्ट के ही सिद्ध कर देता है ।।50।।

उक्त वाक्य का दृष्टान्त द्वारा समर्थन :-

न खलु तथा हस्तेनोत्थाप्यते ग्रावा यथा दारुणा ।।51।।

अन्वयार्थ :- (यथा) जिस प्रकार (ग्रावा) विशाल चट्टान (दारुणा) टेड़ी नुकीली लकड़ी के द्वारा (उत्थाप्यते) उठायी जाती है (खलु) निश्चय से (तथा) उस प्रकार (हस्तेन) हाथ से (न) नहीं ।

विशालगढ़ी हुयी चट्टान महान् परिश्रम करने पर भी हाथों से नहीं उखाड़ी जा सकती । वही टेड़ी लकड़ी (कुदाली) द्वारा आसानी से उखाड़ कर निकाली जा सकती । उसी प्रकार कठिन कार्य भी सही मन्त्रणा द्वारा साध्य कर लिया जाता है ।

विशेषार्थ :- युक्ति से कठिन कार्य भी सरल हो जाता है । विशाल शिला जमीन में गढ़ी रहने पर भी तिरछी लकड़ी के सहारे सरलता से निकाली जा सकती है । उस प्रकार हाथों के द्वारा कठिन परिश्रम करने पर भी नहीं उठायी जा सकती। इसी प्रकार मन्त्र शक्ति से दुरुह कार्य भी स्वल्प परिश्रम से ही आसानी से सिद्ध किया जा सकता है । हारीत विद्वान ने भी कहा है :-

यत् कार्यं साधयेद् राजा क्लेशैः संग्रामपूर्वकैः ।
मंत्रेण सुखसाध्यं तत्तस्मान्मंत्रं प्रकारयेत् ।।1॥

अर्थ :- भूपाल जिस काम को (अप्राप्त राज्यादि को) युद्ध करके अनेक कष्ट उठाकर भी सिद्ध करता है उस कार्य को मन्त्र की सहायता के बिना श्रम से अनायास ही साध लेता है । इसलिए विवेकियों को सतत् मन्त्रणापूर्वक कार्य सम्पादन करना चाहिए । मन्त्रणा करना अत्यावश्यक है ।51॥

राजा का शत्रु कैसा मन्त्री होता है :-

स मंत्री शत्रुर्यो नृपेच्छयाऽकार्यमपि कार्यरूपतयाऽनुशास्ति ।।52॥

अन्वयार्थ :- (सः) वह (मन्त्री) सचिव (शत्रुः) रिपु है (यः) जो (नृपस्य) राजा की (इच्छया) इच्छानुसार चलता हुआ (अकार्यम्) नहीं करने योग्य (अपि) भी (कार्यरुपतया) करणीय के समान दर्शा (अनुशास्ति) कार्य सम्पादन का प्रयत्न कराता है ।

जो मन्त्री अपने स्वामी को विपरीत सलाह देकर अनुशासित करता है, वह मंत्री राजा का शत्रु है ।

विशेषार्थ :- यदि राजा अनुचित कार्य करना चाहता है और मन्त्री से उस विषय में परामर्श करता है । मन्त्री यह सोचकर कि राजा विपरीत कार्य का समर्थन करता है और राजा को प्रसन्न रखने की चेष्टा में रहता है वह मंत्री राजा का परम शत्रु है । भागुरि ने कहा है :-

अकृत्यं कृत्यरूपं च सत्यं चाकृत्य संज्ञितां ।
निवेदयति भूपस्य स वैरी मंत्रिरुप धृक् ।।1॥

अर्थ :- जो मंत्री राजा को अकर्त्तव्य का कर्त्तव्य और कर्त्तव्य का अकर्त्तव्य बतलाता है वह मंत्री रुप में शत्रु है ।।1॥

जो निस्वार्थ वृत्ति से स्वामी की सेवा करता है वही मित्र होता है और अपने स्वार्थ के लालच से जो कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को विपरीत कर मात्र खुशामद करता है वह मित्र नहीं शत्रु है ।।

मन्त्री का कर्त्तव्य :-

वरं स्वामिनो दुःखं न पुनरकार्योपदेशेन तद्विनाशः ।।53।।

अन्वयार्थ :- (स्वामिनः) राजा को (दुःखं) कष्ट देना (वरम्) उत्तम है (पुनः) किन्तु (अकार्योपदेशेन) अकृत्य का उपदेश से (तत्) उसका (विनाशः) नाश करना [न] योग्य नहीं ।

पाठान्तर :- (वरं स्वामिनो मरणाद् दुःख न पुनर कार्योपदेशेन तद्विनाशः) अर्थात् सच्चे मंत्री का कर्त्तव्य है कि वह अपने स्वामी भूपति को सदा तात्कालिक कठोर परन्तु भविष्य में मृदु व मधुर हितकारक उपदेश देवें । इस प्रकार के अवसर पर यदि राजा क्रुद्ध हो मृत्यु दण्ड भी दे तो उसे स्वीकारना श्रेष्ठ है परन्तु राजा की इच्छानुसार अहितकारी उपदेश देकर उसे क्षति पहुँचाना उत्तम नहीं है ।

विशेषार्थ :- मन्त्री द्वारा कठोर किन्तु विपाक में मधुर वाणी बोलकर राजा को उपदेश करना श्रेष्ठ है । परन्तु वर्तमान में प्रिय और भविष्य में घातक फल देने वाला उपदेश कदाऽपि नहीं करना चाहिए । राजा रुष्ट होकर कठोर दण्ड देगा या राज्य शासन से बहिष्कृत कर देगा, अपमानित करेगा, इससे भीत होकर अहितकारी-अकर्त्तव्य का उपदेश उसे कदाऽपि नहीं देना चाहिए ।। नारद ने भी लिखा है :-

वरं पीडाकरं वाक्यं परिणामसुखावहम् ।
मंत्रिणा भूमिपालस्य न मृष्टं यद्भयानकम् ।।1।।

अर्थ :- मन्त्री को भविष्य में सुखकारक, वर्तमान में पीडाकारक वचन बोलना चाहिए । किन्तु तत्काल में मधुर और भविष्य में कठोर उपदेश कभी भी नहीं करना चाहिए ।।53।।

मन्त्री को आग्रह करके भी कौन सा कर्त्तव्य कराना चाहिए :-

पीयूषमपिवतो बालस्य किं न क्रियते कपोलहननम् ।।54।।

अन्वयार्थ :- (पीयूषम्) दुग्ध (अपिवतः) नहीं पीने वाले (बालस्य) बच्चे के (किम्) क्या [माता] माँ (कपोल हननम्) गाल पर चांटा (न) नहीं लगाती ?

जिस समय बच्चा माता का स्तनपान नहीं करता है तो क्या माता उसके गाल पर थप्पड नहीं लगाती ? लगाती है और दूग्ध पान भी कराती है । इसी प्रकार मन्त्री का कर्त्तव्य है वह राजा को कठोर वाणी द्वारा कटुक उपदेश देकर उसे सन्मार्गारुढ करना ही चाहिए । मन्त्री को हर प्रकार से राजा की उन्नति, यशरक्षण और श्री वृद्धि का उपाय करना चाहिए॥ पाठान्तर भी है :-

''पियूषमपि पिवतः बालस्य किं न क्रियते कपालहननम् ।।'' गर्ग विद्वान ने भी इस विषय में कहा है -

जननी बालकं यद्वद्धत्वा स्तन्यं प्रपाययेत् ।।
एवमुन्मार्गगो राजा धार्यते मंत्रिणा पथि ।।1।।

अर्थ :- जिस प्रकार माता बालक को ताडना देकर भी स्तन पान कराती है उसी प्रकार मन्त्रिमण्डल द्वारा

उन्मार्ग पर आरुढ राजा को कठोर उक्तियाँ द्वारा सन्मार्ग पर लगाना चाहिए । मन्त्री वही सच्चा और हितैषी होता है जो राजा को अकर्त्तव्य से हटा कर सन्मार्ग पर लगाकर उसका कल्याण करे ।।53॥

मंत्रियों का कर्त्तव्य :-

मंत्रिणो राजद्वितीय हृदयत्वान्न केनचित् सह संसर्गं कुर्युः ।।55॥

अन्वयार्थ :- (मन्त्रिणः) मन्त्री (राज्ञः) राजा के (द्वितीय) दूसरे (हृदयत्वात्) हृदय होने से (केनचित्) किसी के (सह) साथ (संसर्गम्) सम्बन्ध (न) नहीं (कुर्युः) करना चाहिए ।

मन्त्री राजा के हृदयद्वितीय हृदय समान होते हैं अर्थात् राजा ही समझना चाहिए । उसे अन्य के साथ सम्बन्ध-स्नेहादि नहीं करना चाहिए । इस विषय में शुक्र ने कहा है :-

मंत्रिणः पार्थिवेन्द्राणां द्वितीयहृदयं ततः ।
ततोऽन्येन न संसर्गस्तैः कार्यो नृपवृद्धये ।।1॥

अर्थ :- मंत्री लोग राजाओं के हृदय स्वरूप होते हैं । इसलिए उन्हें स्वामी राजा के अतिरिक्त अन्य किसी के भी साथ विशेष सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए । अभिप्राय यह है कि मंत्री को पूर्ण विश्वास पात्र होना चाहिए और राजा का हर प्रकार से हित करने में उद्यमशील होना चाहिए ।।55॥

राजा के सुख-दुःख का मंत्रियों पर प्रभाव :-

राज्ञोऽनुग्रहविग्रहावेव मंत्रिणामनुग्रहविग्रहौ ।।56॥

अन्वयार्थ :- (राज्ञः) राजा का (अनुग्रह) सुख सम्पदा (विग्रहौ) दुख में (एव) ही (मन्त्रिगणाम्) मन्त्रियों का (अनुग्रह विग्रहौ) सुख व दुख (संभवति) संभव होता है ।

मन्त्रियों का कर्त्तव्य है कि वे राजा के हित की अपेक्षा रखकर ही कार्य करें । क्योंकि राजा का सुख व दुःख ही मंत्री का सुख व दुःख है ।

विशेषार्थ :- यदि भूपाल कर्त्तव्य-अनाचार की ओर कदम उठाता है तो मन्त्री कदाऽपि सहयोग न दें । क्योंकि नृपति का हित किस में है वही राय देनी चाहिए । कुन्द कुन्द स्वामी कहते हैं :-

साधूद्योगेषु सुप्रीतिः साधनानां विनिश्चयः ।
सम्मतिः स्पष्टरूपा च मंत्रदातुरिमे गुणाः ।।4॥

अर्थ :- परामर्शदाता सचिव का प्रधान गुण है कि उचित, अनुकूल उद्योगों का चुनाव करे और प्रीति-पूर्वक उन्हें कार्यरूप में परिणत भी करे । अर्थात् उसके सम्पादन के कारणों का यतन करे । तथा सम्मति प्रदान करते समय निश्चयात्मक और स्पष्ट, निर्णय दे । इस रीति से वर्तन करने वाला सफल मंत्री होता है । कुरल का.अ.64पृ.64. हारीत विद्वान ने भी लिखा है :-

राज्ञः पुष्ट्या भवेत् पुष्टिः सचिवानां महत्तरा ।।
व्यसनं व्यसनेनापि तेनतस्य हिताश्च ये ।।1।।

अर्थ :- मंत्रीगण सदा राजा के हितैषी होते हैं । अतएव राजा की उन्नति से मंत्रियों की उन्नति होती है। इसी प्रकार राजा के ऊपर कष्ट होने पर मन्त्री पर भी आपत्ति आती है ।।

मन्त्रियों को सतत अपने स्वामी के हितानुकूल क्रिया करनी चाहिए ।।56॥

कर्त्तव्यपरायण मंत्रियों के कार्यों में असफलता क्यों ?

स दैवस्यापराधो न मंत्रिणां यत् सुधटितमपि कार्यं न घटते ।।56॥

अन्वयार्थ :- (यत्) जो (मन्त्रिणाम्) मंत्रियों का (सुघटितम्) सम्यक् प्रकार किये जाने पर (अपि) भी (कार्यम्) कार्य (न) नहीं (घटते) होता है तो [अयम्] यह (दैवस्य) भाग्य का (अपराधः) दोष है (सः) वह (मंत्रिणाम्) मन्त्रियों का (न) नहीं ।

यदि मन्त्री सावधान होकर कार्य संलग्न हो और तो भी कार्य विफल हो जाता है तो उसमें राजा के पूर्वजन्म कृत पापोदय समझना चाहिए न कि मन्त्री का अपराध है ।

विशेषार्थ :- किसी भी कार्य की सिद्धि में दैव और पुरुषार्थ दोनों के निमित्त का होना अनिवार्य है । कभी दैव की प्रबलता होती है तो पुरुषार्थ विफल हो जाता है और पुरुषार्थ प्रबल होने पर दैव असफल हो जाता है । यदि पुरुषार्थ यथायोग्य होने पर भी कार्य सिद्ध न हो तो वहाँ राजा का दुर्भाग्य ही समझना चाहिए ।। भार्गव विद्वान ने भी इस प्रकार कहा है :-

मंत्रिणां सावधानानां यत्कार्यं न प्रसिद्धयति ।
तत् स दैवस्य दोषः स्यान्न तेषां सुहितैषिणाम् ।।1॥

अर्थ :- राजा के कार्य में सावधान और हितैषी मंत्रियों का जो कार्य सिद्ध नहीं होता, उसमें उनका कोई दोष नहीं, किन्तु दुर्भाग्य का ही दोष समझना चाहिए ।। कहा भी है "यत्ने कृति यदि न सिद्धयति कोऽत्र दोषः " प्रयत्न करने पर भी कार्य सिद्ध न हो तो इसमें कर्त्ता का क्या अपराध ? कुछ भी नहीं ।।57॥

राजा के कर्त्तव्य का निर्देश :-

स खलु नो राजा यों मंत्रिणोऽतिक्रम्य वर्तेत ।।58॥

अन्वयार्थ :- (यः) जो (राजा) नृप (मंत्रिणः) मंत्री की राय को (अतिक्रम्य) उलंघन करके (वर्तेत) वर्तन करता है (खलु) निश्चय से (सः) वह (राजा) भूप (न) नहीं है ।।

जो राजा मंत्री की मन्त्रणा न सुनता है, न तदनुसार आचरण करता है वह पृथ्वी पति कहलाने का अधिकारी नहीं होता । उसका राज्य नष्ट हो जाता है ।।

विशेषार्थ :- राज्य की स्थिति मन्त्रियों के आश्रित रहती है । यदि मंत्री राय दे और राजा उसे न सुने तथा

न ही उसका प्रयोग करे तो राजा राज्य दोनों ही संकटापन्न होंगे । भारद्वाज ने कहा है :-

यों राजा मंत्रिणां वाक्यं न करोति हितैषिणाम् ।
न स तिष्ठेच्चिरं राज्ये पितृ पैतामहेऽपि च ।।1॥

अर्थ :- जो राजा अपने हितैषी मंत्री की हितकारी राय को यदि नहीं सुने तो वह राजा अधिक काल तक सुरक्षित नहीं रह सकता । वह निश्चित ही अपने पिता, दादा से चला आया राज्य चिराकाल नहीं रह सकता । शीघ्र ही राजा सहित राज्य नष्ट हो जायेगा । अतः राजा का कर्त्तव्य है मन्त्रणा से बद्ध होकर ही राज्य संचालित करें इसे ध्यान में रखना चाहिए । यह राजनीति का नियम है "अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ता" इसी प्रकार मंत्री की उपेक्षा कर राजा राज्य नहीं चला सकता ।158॥

पुनः मंत्रणा का माहात्म्य :-

सुविवेचितान्मंत्रात्स्वामिनो कार्यसिद्धिर्भवति एवाप्यिनो न दुराग्रहः स्यात् ।।59॥

अन्वयार्थ :- (यदि) अगर (स्वामिनः) राजा का (दुराग्रहः) हठाग्रह (न) नहीं (स्यात्) होगा तो (सुविवेचिततात्) सम्यक् विवेचना किया गया (मन्त्रात्) मन्त्र से (कार्यसिद्धिः) कार्य की पूर्णता (भवति एव) होती ही है ।

यदि राजा दुराग्रही न हो तो पूर्वापर सम्यक् विवेचना कर, की गई मन्त्रणा अवश्य ही सफल होती है।

विशेषार्थ :- मंत्रिमण्डल अपनी सैनिक शक्ति को सुदृढ बनायेगा और शत्रु की सैनिक शक्ति को क्षीण देखता है, एवं देश काल का विचार करके सन्धि-विग्रहादि कार्य प्रारम्भ करता है तो उसकी विजय नियम से अवश्यंभावी है । परन्तु इस अवसर राजा की अनुमति भी परमावश्यक है, उसे दुराग्रही नहीं होना चाहिए ।159॥ ऋषिपुत्रक ने भी लिखा है :-

सुमंत्रितस्य मंत्रस्य सिद्धिर्भवति शाश्वती ।
यदि स्यान्नान्यथा भावो मंत्रिणा सह पार्थिवः ।।

अर्थ :- यदि पार्थिव-राजा विरोध न करे, दुराग्रही न हो तो अच्छी तरह से प्रकाशित-विचारित मंत्रणा की सिद्धि निः सन्देह नियम से होती ही है ।

अभिप्राय यह है कि राजा को मंत्री-सचिव समूह की अपेक्षा रखनी चाहिए । दुराग्रह या हठाग्रह में नहीं पड़ना चाहिए ।159॥

पराक्रम शून्य राजा की हानि :-

अविक्रमतो राज्यं वणिक् खड्ग यष्टिरिव ।160॥

अन्वयार्थ :- (अविक्रमतः) पराक्रमरहित (राज्यं) राज्य (वणिक् खड्गयष्टिः) बनिया-व्यापारी सेठ की तलवार (इव) समान [अस्ति] है ।

वणिक् व्यापार कर सकता है । हथियार चलाना क्या जाने ? जो जिस विषय का ज्ञाता नहीं वह उसमें सफल कैसे होगा ? नहीं हो सकता । इस प्रकार पराक्रम रहित राजा भी राज्य संचालन में सफल नहीं हो सकता ।।

विशेषार्थ :- शस्त्रास्त्र चलाने में दक्षता प्राप्त नहीं करने वाला राजा का संग्राम करना, व्यापारी के शस्त्र संचालन के समान है । प्रहार क्रिया में अकुशल-ज्ञान शून्य श्रेष्ठी का खड्ग रखना व्यर्थ है उसी प्रकार पराक्रम शून्य राजा का राज्य भी व्यर्थ है क्योंकि पराक्रमियों के द्वारा नियम से परास्त कर दिया जायेगा ।

भारद्वाज विद्वान ने इस विषय में कहा है :-

परेषां जायते साध्यो यो राजा विक्रमच्युतः ।
न तेन सिद्धयते किंचिदसिना श्रेष्ठिनो यथा ।।1।।

अर्थ :- पराक्रम विहीन राजा को कोई भी सन्धि-विग्रह सम्बन्धी कार्य सेठ के खड्ग-तलवार आदि के समान व्यर्थ है । क्योंकि वह शत्रुओं द्वारा परास्त कर दिया जाता है ।

सारांश यह है कि राजा को पराक्रमी होना चाहिए ।।60।।

नीति या सदाचार प्रवृत्ति से लाभ :-

नीतिर्यथावस्थितमर्थमुपलम्भयति ।।61।।

अन्वयार्थ :- (नीतिः) सदाचार (यथावस्थितम्) यथार्थ अर्थ तत्व की (उपलम्भयति) उपलब्धि कराती है। नीति वह है जो पदार्थ का यथार्थ ज्ञान करावे ।।

विशेषार्थ :- नीति शास्त्र का ज्ञान मनुष्यों को वस्तु तत्व का परिज्ञान कराने में पूर्ण सक्षम होता है । गर्ग विद्वान ने भी कहा है :-

मातापि विकृतिं याति नैव नीतिः स्वनुष्ठिता ।
अनीतिर्भक्षयेन्मर्त्यं किंपाकमिव भक्षितम् ।।1।।

अर्थ :- माता भी मनुष्य का अहित-दुःख देने वाली वस्तुओं को उपस्थित कर सकती है परन्तु सुयोग्य नीति मानव का अहित कदापि नहीं कर सकती । अनीति-दुराचार किंपाकफल-विषफल के समान मनुष्यों को भयंकर कष्ट देती है ।

भावार्थ यह है कि सद्नीति सतत् कल्याण करने वाली होती है । दुर्नीति निरन्तर कष्ट देती है । अतः सदैव सदाचार पालन करना चाहिए ।।61।।

हित प्राप्ति और अहित त्याग का उपाय :-

हिताहितप्राप्तिपरिहारौ पुरुषकारायत्तौ ।।62।।

अन्वयार्थ :- (हितम्) कल्याण (अहितम्) अकल्याण (प्राप्तिः) प्राप्त करना (परिहारः) त्याग करना (पुरुषाकारः) पुरुषार्थ से (आयत्तौ) सिद्ध होती हैं ।।62।।

कल्याण की प्राप्ति और अकल्याण का परिहार पुरुष के पुरुषार्थ से ही प्राप्त होती है ।

विशेषार्थ :- सुख शान्ति प्रदाता एवं दुःख और अशान्ति देने वाली वस्तुओं की प्राप्ति व अप्राप्ति दोनों ही पुरुषार्थ के आश्रित हैं ।

सारांश यह है कि जीवनोत्थान एवं सुखोत्पादक वस्तुओं का पाना कठिन होने पर भी नीतिवान सत्पुरुष अपने पुरुषार्थ से उन्हें आसानी से पा लेता है । इसी प्रकार अवनति कारक कारणों का परिहार भी वह सरलता से करने में समर्थ हो जाता है । दुःखों के नाश करने की शक्ति जितेन्द्रियता है । नीतिज्ञ पुरुष जितेन्द्रिय होता है । अतः उसे स्वयं सामर्थ्य उपलब्ध हो जाती है ।

वादरायण ने भी लिखा है :-

हितं वाप्यथवानिष्टं दुर्लभं सुलभं च वा ।
आत्मशक्त्याप्नयान्मर्त्यो हितं चैव सुलाभदम् ।।

अर्थ :- उद्योगी पुरुष दुर्लभ होने पर भी लाभदायक वस्तु को युक्तिपूर्वक प्राप्त कर लेता है । एवं अहितकारक सुलभ होने पर भी त्याग देता है । तथा लाभदायक, हितकारक कार्य में ही प्रवृत्ति करता है । अतः सम्यक् पुरुषार्थ करना चाहिए ।।62।।

मनुष्य का कर्त्तव्य :-

अकालसहं कार्यमद्यस्वीनं न कुर्यात् ।।63।।

अन्वयार्थ :- (अद्यस्वीनम्) आज ही करने योग्य (कार्यम्) कार्य को (अकालसहम्) विलम्ब (न) नहीं (कुर्यात्) करे ।।63।। पाठान्तर - "अकालसहं कार्यं यशस्वी विलम्बेन न कुर्यात्" यह पाठ विशेष अच्छा है, इसका अर्थ है "कीर्ति की कामना रखने वाले मनुष्य को शीघ्र करने योग्य कार्य विलम्ब से नहीं करना चाहिए ।।

चारायण विद्वान ने भी लिखा है: :-

यस्य तस्य हि कार्यस्य सफलस्य विशेषतः ।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तत्फलम् ।।1।।

अर्थ :- विशेष सफलता करने वाले कार्य को यदि शीघ्र न किया जावे तो समय-काल उसके फल को पी जाता है । अर्थात् विलम्ब करने से कार्य सिद्ध नहीं होता ।

समय चूकने पर कार्य का दोष :-

कालातिक्रमान्नखच्छेद्यमपि कार्यं भवति कुठारच्छेद्यम् ।।64।।

अन्वयार्थ :- (काल) समय (अतिक्रमात्) उल्लंघन होने से (नखच्छेद्यम्) नाखून से काटने वाला (अपि) भी (कार्यम्) कार्य (कुठारच्छेद्यम्) कुल्हाडी से काटने योग्य (भवति) हो जाता है ।

प्रत्येक कार्य समयानुसार करना चाहिए । समय चूकने पर लघु कार्य भी अति भारी हो जाता है ।

विशेषार्थ :- समय बीतने पर नख से काटने योग्य-सरलता से होने योग्य अति दुःसाध्य हो जाता है । सारांश यह है कि जो कार्य समय पर किया जाता है वह अल्प परिश्रम से ही बहु फल दायक होता है । समय चूकाने पर वही कार्य कठिन परिश्रम से भी साध्य नहीं होता है । शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

तत्क्षणान्नात्र यत् कुर्यात् किंचित् कार्यमुपस्थितम् ।
स्वल्पायासेन साध्यं चेत्तत् कृच्छ्रेण प्रसिद्धयति ।।1।।

अर्थ :- समक्ष उपस्थित हुए किसी कार्य को यदि उसी समय न किया जाय तो वह लघु काल में सिद्ध होने वाला भी दीर्घ काल में सिद्ध होता है । अर्थात् अल्प परिश्रम से होने वाला कार्य कठिनश्रम साध्य हो जाता है ।64॥

नीतिज्ञ मनुष्य का कर्त्तव्य :-

को नाम सचेतनः सुखसाध्यंकार्यं कृच्छ्रसाध्यमसाध्यं वा कुर्यात् ।65॥

अन्वयार्थ :- (को नाम सचेतनः) कौन सचेतन प्राणी है जो (सुखसाध्यम् कार्यम्) सरलता से होने वाले कार्य को (कृच्छ्र) कष्ट (साध्यम्) से करने योग्य (वा) अथवा (असाध्यम्) असाध्य (कुर्यात्) करे ।

संसार में कौन बुद्धिमान होगा जो सरल काम को कठिन या असाध्य बना डालेगा ? कोई भी नहीं ।

विशेषार्थ :- विवेक मनुष्य को दैवी शक्ति के रूप में वरदान है । उसका सदुपयोग करे तो अवश्य ही दुसाध्य को साध्य बना सकता है । विद्वान गुरु ने भी कहा है कि :-

सुखसाध्यं च यत्कार्यं कृच्छ्रसाध्यं न कारयेत्
असाध्यं वा मतिर्यस्य भवेच्चिते निरर्गला ।।1।।

अर्थ :- विद्वान विवेकीजनों को सुलभ कार्य को कठिन नहीं बनाना चाहिए ।65॥

मंत्रियों के विषय में विचार और एक मंत्री से हानि :-

एको मंत्री न कर्त्तव्यः ।66॥

एको हि मंत्री निखग्रहश्चरति मुह्यति च कार्येषु कृच्छ्रेषु ।67॥

अन्वयार्थ :- राजा को (एकः) एक (मंत्री) सचिव (न) नहीं (कर्त्तव्यः) करना चाहिए ।65॥ क्योंकि (एकाः) अकेला (मंत्री) सचिव (हि) निश्चय से (निखग्रहः) निरंकुश (चरति) भ्रमण करता है (च) और (कृच्छ्रेषु) कठिन (कार्येषु) कार्यों में (मुह्यति) मुग्ध हो जाता है ।।

अकेला मंत्री निरंकुश हो स्वच्छन्द प्रवर्तन करता है । जिससे राजा का विरोध भी कब कर बैठेगा कोई जान भी नहीं सकता । एवं कठिन कार्यों के उपस्थित होने पर तो किं कर्त्तव्य विमूढ हो जाता है । कहा भी है "ज्ञातसारोऽपि खल्वेकः संदिग्धेः कार्यवस्तुनि ।।"

विद्वान व्यक्ति भी अकेला रहने पर कठिन उपस्थित कार्य में किं कर्त्तव्य विमूढ हो जाता है । अतः राजा

को एक ही मन्त्री नहीं रखना चाहिए ।166,67॥ विद्वान नारद ने भी कहा है :-

एको मंत्री कृतो राज्ञा स्वेच्छया प्रवर्तते ।
न करोति भयं राज्ञः कृत्येषु परिमुह्यते ।।1॥

अर्थ :- पृथिवीनाथ द्वारा नियुक्त किया गया एक ही मंत्री-एकाकी स्वेच्छानुसार कार्यों में प्रवृत्ति करेगा । उसे राजा से भय नहीं रहता । तथा कठिन कार्य करने का निश्चय भी नहीं कर सकता ।।1॥

दो मन्त्रियों से हानि :-

द्वावपि मंत्रिणौ न कार्यौ ।168॥

द्वौ मंत्रिणौ संहतौ राज्यं विनाशयतः ।169॥

अन्वयार्थ :- (द्वौ) दो (अपि) भी (मंत्रिणौ) मंत्रियों को (न) नहीं (कार्यौ) बनाना चाहिए । क्योंकि (द्वौ) दोनों (मंत्रिणौ) मन्त्री (संहतौ) मिलकर (राज्यम्) राज्य को (विनाशयतः) नष्ट कर देते हैं ।

दो ही मंत्री रहने पर एक दूसरे से मिलकर राज्य को नष्ट कर देते हैं । क्योंकि दोनों गुटबन्दी कर लेते हैं ।

विशेषार्थ :- केवल दो ही मंत्री रहेंगे तो दोनों मिलकर सदाचार करके राज्य-राष्ट्र की हित चिन्तना नहीं कर सकते। अपना स्वार्थ सिद्ध करने में लगे रहेंगे ।168,69॥ नारद विद्वान ने लिखा है :-

मंत्रिणां द्वितयं चेत् स्यात् कथंचित् पृथिवीपतेः ।
अन्योन्यं मंत्रयित्वा तु कुरुते विभवक्षयम् ।।1॥

अर्थ :- राजा अपने सलाहकार यदि दो ही मंत्रियों को रखता है तो वे परस्पर में मिलकर सलाह करके उसके कोष को खोखला कर देंगे । सेनादि वैभव को भी विनष्ट कर देंगे । अतएव राजा को दो ही मन्त्री नहीं बनाना चाहिए ।

दो मन्त्रियों से होने वाली क्षति :-

निगृहीतौ तौ तं विनाशयतः ।170॥

अन्वयार्थ :- (निगृहीतौ) दोनों मंत्रियों का निग्रह करने पर वे (तौ) दोनों मिलकर (तम्) उस राजा को (विनाशयतः) नष्ट कर देते हैं - मार देते हैं ।

"अर्थो मूलमनर्थानाम्" लोकोक्ति है । धन समस्त अनर्थों की जड है । दो मंत्री परस्पर एका कर राजा को ही समाप्त कर देते हैं । गुरु विद्वान ने भी लिखा है :-

भूपतेः सेवका ये स्युस्तेस्युः सचिवसम्मताः ।
तैस्तैः सहायतां नीतैर्हन्युस्तं प्राणयोद्भयात् ।।1॥

अर्थ :- राजा के समस्त सेवक-कर्मचारी समूह मन्त्रियों के आधीन रहते हैं, उनकी सम्मति से प्रवर्तन करते हैं । अत: राजा के विरोधी मंत्री उनकी सहायता लेकर राजा को समाप्त कर देते हैं मार डालते हैं ।।70।।

राजा को कितने मंत्री रखना चाहिए ? :-

त्रयः पञ्च सप्त वा मन्त्रिणस्तैः कार्याः ।।71।।

अन्वयार्थ :- (तैः) राजाओं द्वारा (त्रयः) तीन (पञ्च) पाँच (वा) अथवा (सप्त) सात (मन्त्रिणः) सचिव (कार्याः) नियुक्त करना चाहिए ।

भूपाल को तीन, पाँच या सात व्यक्तियों का मन्त्रिमण्डल बनाना चाहिए ।।

विशेषार्थ :- विषम संख्या वाले मन्त्रियों का मण्डल बनाना चाहिए । अर्थात् पाँच, तीन, सात, नव आदि। इससे मन्त्रियों का एक मत होना कठिन है । विषम संख्या वाले परस्पर एक मत नहीं हो सकते हैं । अत: वे राज्य के विरुद्ध षडयन्त्र भी उत्पन्न नहीं कर सकते ।।71।।

परस्पर ईर्ष्या करने वाले मन्त्रियों से हानि :-

विषमपुरुषसमूहे दुर्लभमैकमत्यम् ।।72।।

अन्वयार्थ :- (विषम) विषम संख्या वाले (पुरुष) मानव (समूहे) समुदाय में (ऐक्य) एक समान (मत्यम्) मत होना (दुर्लभम्) कठिन है ।।72।। दूसरा अर्थ :- (विषम) तीन, पांच आदि संख्या वाले (पुरुषाः) सचिव (समूहे) समुदाय में (ऐक्यम्) एकता (मत्यम्) मतैक्य (दुर्लभम्) दुर्लभ है ।

विषय संख्या वाले पुरुषों में मतैक्य एक प्रकार की विचारधारा नहीं हो सकती । परन्तु यहाँ यह अर्थ उचित नहीं अपितु प्रथम अर्थ कि विषम संख्या में सचिव नियुक्त होने पर वे षडयन्त्र रचने को एक मत नहीं हो सकते। यही सुटेबुल प्रतीत होता है प्राकर्णिक 71 सूत्र के अनुसार यही फलित होता है । राजपुत्र विद्वान ने भी लिखा है :

मिथः संस्पर्धमानानां नैकं संजायते मतम् ।
स्पर्धा हीना ततः कार्या मंत्रिणः पृथिवी भुजा ।।1।।

अर्थ :- परस्पर ईर्ष्या करने वालों की किसी भी कार्य में एक सम्मति नहीं होती । अत: राजा को परस्पर स्पर्द्धा-ईर्ष्या नहीं करने वाले, पारस्परिक प्रेम सूत्र में बंधन में बंधकर रहने वाले, व एक दूसरे को सहानुभूति प्रदान करने वालों को ही मन्त्रिपद पर नियुक्त करना चाहिए ।।72।।

बहुत मंत्रियों से होने वाली हानि :-

बहवो मंत्रिणः परस्परं स्वमतीरुत्कर्षयन्ति ।।73।।

पाठान्तर :

बहवो मंत्रिणः परस्परमतिभिरुत्कर्षयन्ति ।।73।।

अन्वयार्थ :- (बहवः) बहुत सचिव (मंत्रिणः) सचिव (परस्परम्) आपस में (स्वमतीः) अपनी बुद्धि को (उत्कर्षयन्ति) प्रभुत्व दर्शाते हैं ।

अनेक मन्त्री रहेंगे तो राजा के समक्ष अपनी-अपनी प्रभता प्रदर्शित करते हैं, अपने-अपने मत की पुष्टि करते हैं।

विशेषार्थ :- ईर्ष्यालु बहुत से मंत्री परस्पर विसम्बाद उत्पन्न कर राजा को मतिभ्रम कर देते हैं । इससे राजकार्य की हानि होती है । विद्वान रैभ्य ने भी लिखा है :-

बहूंश्च मंत्रिणो राजा सस्पर्द्धनि करोति यः
घ्नन्ति ने नृपकार्यं यत् स्वमंत्रस्य कृता वराः ।।1।।

अर्थ :- जो नृप बहुत से ईर्ष्यालु मंत्रियों को नियुक्त करता है वह उनके अपने अपने उत्कृष्टपने के प्रदर्शन में फंस कर अपने राज कार्य का विनाश करता है ।

भावार्थ ईर्ष्यालु बहुत से मंत्री परस्पर लड़ते-झगड़ते अपने अपने गुणों का प्रदर्शन करने में ही रहते हैं । राज्य कार्य सम्पादन की ओर उनका लक्ष्य नहीं जाता । फलतः राज्य नष्ट हो जाता है ।।73।।

स्वेच्छाचारी मंत्रियों से हानि :-

स्वच्छन्दाश्च न विजृम्भन्ते ।।74।।

अन्वयार्थ :- (च) और (स्वच्छन्दाचारी) मनमानी करने वाले (न) नहीं (विजृम्भन्ते) विस्तार करते हैं ।

स्वेच्छाचारी मन्त्री आपस की उचित सलाह को विस्तार नहीं देते अर्थात् स्वीकृत कर कार्य सिद्धि नहीं करते।।74।। अत्रि ने कहा है :-

स्वच्छन्दा मंत्रिणो नूनं न कुर्वन्ति यथोचितम् ।
मंत्रं मंत्रयमाणाश्च भूपस्याहिताः स्मृताः ।।1।।

अर्थ :- स्वेच्छाचारी सचिव राजा के हितैषी नहीं होते और मंत्रणा करते समय उचित यथायोग्य परामर्श भी नहीं देते । स्वयं उचित बात को भी नहीं मानते ।।1।।

उच्छृंखलवृत्ति वाले सचिव सतत् "अपनी ढपली अपना राग" कहावत को चरितार्थ करने की चेष्टा में रहते हैं। राजा व राज्य की ओर उनका लक्ष्य सही नहीं रहता है ।

राजा व मनुष्य-कर्त्तव्य :-

यद् बहुगुणमनपाय बहुलं भवति तत्कार्यमनुष्ठेयम् ।।75।।

अन्वयार्थ :- राजा व मनुष्य को (यत्) जो (बहुगुणम्) अत्यन्त गुणकारी (अनपाय बहुलम्) अपायादि से रहित कल्याण बहुल (भवति) होता है (तत्) वही (कार्यम्) कार्य (अनुष्ठेयम्) करना चाहिए।

जिस कार्य से सम्पत्ति, यश लाभ हो और अनेक गुणों की वृद्धि हो तथा विघ्नों का नाश हो, नित्य कल्याण उपलब्ध हो, उन्हीं कार्यों को करना चाहिए ।

विशेषार्थ :- विद्वान मनुष्य व उत्तम राजनीति वेत्ता राजा को चाहिए कि वह विघ्ननाशक, सम्पत्ति दायक, यशविकासक कार्यों का ही सम्पादन करें । विघ्नोत्पादक क्रियाएँ न करें । जैमिनि विद्वान भी कहते हैं कि :-

यद्यच्छ्रेष्ठतरं कृत्यं तत्तत्कार्यं महीभुजा ।
नोपघातो भवेद्यत्र राज्यं विपुलमिच्छता ।।1।।

अर्थ :- महान् राज्य के इच्छुक भूपति को जो-जो कार्य अधिकतर श्रेष्ठ और विनाशरहित, कल्याणवर्द्धक हों उन्हें ही करना चाहिए ।। भावार्थ यह है कि राजा को राज्य, कोष, सेना की वृद्धि के साथ यश का विस्तार करने वाले कार्य करना चाहिए ।।75।।

मनुष्य का कर्त्तव्य :-

तदेव भुज्यते यदेव परिणमति ।।76।।

अन्वयार्थ :- (तद्) वह (एव) ही (भुज्यते) भोजन करना (यत्) जो (ही) (एव) ही (परिणमति) पचन रूप परिणमता है ।

अपनी पाचन शक्ति के अनुसार ही भोजन करना चाहिए ।।

विशेषार्थ :- नैतिकाचार विशिष्ट मनुष्य को पचने वाले-निरंतर विशुद्ध, पुण्य, यशस्य और न्याय युक्त एवं कल्याणकारी कार्यों को करना चाहिए । सत् कार्य करने वाला निर्भय व स्वतन्त्र रहता है । उसे नहीं पचने वाले अर्थात् समाज दण्ड, राजदण्ड द्वारा अपकीर्ति विस्तीर्ण करने वाले असत्कार्य-अन्यायकारी, कार्यों से निरन्तर दूर रहना चाहिए ।

इसी प्रकार राजा को भी अपने राज्य की सम्पदा व वृद्धि के उपाय भूत कार्य करना चाहिए । अपने राज्य की श्रीवृद्धि में सन्धि विग्रह आदि उपयोगी कारणों में संलग्न रहना चाहिए ।। भविष्य में राज्य, राजा क्षति के कारणों से सतत् दूर रहना चाहिए ।।76।।

कैसे मंत्रियों से हानि नहीं :-

यथोक्तगुण समवायिन्येकस्मिन् युगले वा मंत्रिणि न कोऽपि दोषः ।।77।।

अन्वयार्थ :- (यथोक्तगुण) उपर्युक्तगुण (समवायिनि) समन्वित हों तो (एकस्मिन्) एक (युगले) युगल में-दो मंत्रियों (वा) अथवा (मंत्रिणि) मन्त्रियों में मंत्रणा करे तो (कोऽपि) कोई भी (दोषः) अपराध (न) नहीं [अस्ति] है ।।77।।

अपने सचिवत्व के सम्पूर्ण गुणों से समन्वित हों तो एक या दो मंत्रियों की नियुक्ति भी उत्तम कार्य कारी होती है ।

विशेषार्थ :- पाँचवें सूत्र में मन्त्रि के जिन द्विज, स्वदेशी, सदाचारी कुलीन और व्यसनविरक्त आदि दोष न हों तो एक या दो मंत्रियों की नियुक्ति भी दूषित नहीं है । यहाँ आचार्य क्वालिटी पर जोर दे रहे हैं । क्वाण्टिटी पर नहीं । सॉलिड, ठोस वस्तुएँ ही निःसन्देह कार्य साधक हुआ करती हैं ।।

बहुत से मूर्ख मन्त्रियों का निषेध :-

न हि महानप्यंध समुदायो रुपमुपलभेत् ।।78।।

अन्वयार्थ :- (हि) निश्चय से (महान्) बहुत से (अपि) भी (अंधसमुदायः) अन्धों का समुदाय (रुपम्) रंग को (न) नहीं (लभेत्) प्राप्त कर सकता है ।

कितनी ही नेत्रविहीन लोगों की संख्या क्यों न हो वह रुप का परिज्ञान नहीं कर सकती । सारांश यह है कि जिस प्रकार अनेकों अन्धे नेत्रविहीनों का समुदाय हरित, पीतादि रूपों का ज्ञान नहीं कर सकता है उसी प्रकार अनेकों मूर्ख, राजनीतिज्ञान शून्य सचिव भी राज्यशासन व्यवस्था को व्यवस्थित नहीं रख सकते । राज्य वृद्धि, अप्राप्य राज्य की प्राप्ति आदि गुणों को वे प्रसारित नहीं कर सकते । अतः मन्त्रिमण्डल में अधिक संख्या अपेक्षित नहीं है अपितु उनका गुणज्ञ होना अनिवार्य है।

दो मन्त्रियों से लाभ का दृष्टान्त :

अवार्यवीर्यौ धुर्यौ किन्न महति भारे नियुज्यते ।।79।।

पाठान्तर :-

"अवार्यवीर्यौ द्वौ धुर्यौ किं महति भारे न नियुज्यते" यह व्याकरणानुसार है ।

अन्वयार्थ :- (अवार्यवीर्यौ) वलिष्ठ शक्तिवान् (धुर्यौ) बैल (किम्) क्या (महति) अधिक बोझ-भार (भारे) वजन में (न) नहीं (नियुज्येते) नियुक्त नहीं होते ? होते ही हैं ।

यदि बलवान दो वृषभ हैं तो क्या वे अधिक भार भरी गाडी में नहीं जोते जाते ? जोते ही जाते हैं । वे भार वहन भी करते हैं ।

विशेषार्थ :- जिस प्रकार उत्तम वलिष्ठ बैल दो ही मिलकर बहुत बड़ी भारी गाड़ी को सरलता से वहन कर लेते हैं उसी प्रकार राजनीति शास्त्र के वेत्ता दो ही योग्य, विवेकी मन्त्री राजसत्ता को सुदृढ़ बना कर सुचारु रूप में संचालन, संवर्द्धन करा सकते हैं । अतः पूर्वोक्त गुण युक्त दो ही मंत्रियों के रखने में कोई क्षति नहीं है ।।79।।

बहुत से सहायकों से लाभ :-

बहु सहाय्ये राज्ञि प्रसीदन्ति सर्व एव मनोरथाः ।।80।।

अन्वयार्थ :- (राज्ञि) राजा के (बहु) बहुत से (सहाये) सहकारी होने पर (सर्व) समस्त (एव) ही (मनोरथाः) मनोकामनाएँ (प्रसीदन्ति) फलित होती हैं ।।

जिस राजा के सुयोग्य अनेक सचिव होते हैं, उनकी सहायता से उसके सभी यथेप्सित कार्यों की निर्विघ्न सिद्धि होती है ।

विशेषार्थ :- राज्य शासन संचालन के विभिन्न विभाग होते हैं । उनके संचालन को पृथक्-पृथक् कर्मचारियों की नियुक्ति आवश्यक है । इस प्रकार अनेकों की नियुक्ति से प्रत्येक विभाग अपने-अपने कार्यों को अधिकारपूर्वक संचालन करेंगे और यशस्वी बनने की चेष्टा रखने से सफल होने के लिए प्रयत्नशील रहेंगे । वर्ग विद्वान ने भी कहा है :

मद हीनो यथा नागो दंष्ट्राहीनो यथोरगाः ।
असहायास्तथा राजा तत् कार्या वहवश्च ते ।।1॥

अर्थ :- जिस प्रकार मद हीन गज, दन्त विहीन नाग (सर्प) सुशोभित नहीं होता अर्थात् अपना कार्य करने में समर्थ नहीं होतें, उसी प्रकार सहायकों के अभाव में राजा भी शोभित नहीं होता । अपने कार्य में समर्थ नहीं होगा । अतः नृपति को योग्य-समर्थ विवेकी अनेक सहायकों की नियुक्ति करनी चाहिए । इससे राज्य-काज संचालन सुचारु रूप से चलेगा ।80॥

केवल मंत्री के रखने से हानि :-

एको हि पुरुषः केषु नाम कार्येष्वात्मानं विभजये ।।81॥

अन्वयार्थ :- (हि) निश्चय से (एकः) अकेला (पुरुषः) पुरुष (नाम) कौन (कार्येषु) अनेक कार्यों में (आत्मानम्) अपने को (विभजते) बांट सकता है ।।81॥ नहीं विभागित कर सकता है ।।

एक व्यक्ति अनेक विभागों के भिन्न-भिन्न विषय सम्बन्धी कार्यों को निष्पन्न नहीं कर सकता है ।

विशेषार्थ :- राजकीय अनेक कार्य होते हैं उन्हें अकेला मंत्री किस प्रकार कर सकता है ? कितना चतुर हो तो भी नहीं कर सकता । अतएव अलग-अलग कार्यों के सिद्ध करने को पृथक्-पृथक् व्यक्ति होना अनिवार्य है । जैमिनि ने भी लिखा है :-

एकं यः कुरुते राजा मन्त्रिणं मन्दबुद्धितः ।
तस्य भूरीणि कार्याणि सीदन्ति च तदाश्रयात् ।।1॥

अर्थ :- जो मन्द बुद्धि भूपति सर्व राज कार्यों के सम्पादनार्थ एक ही मन्त्री को नियुक्त करता है उसके अनेकों कार्य व्यर्थ ही नष्ट हो जाते हैं । अर्थात् बिना देख-भाल के कारण व्यर्थ ही विफल हो जाते हैं । अतः राजा का कर्तव्य है हर एक विभाग के निरीक्षणार्थ अलग-अलग योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति करे ।81॥

उक्त बात के समर्थन में दृष्टान्त :-

किमेक शाखास्य शाखिनो महती भवतिच्छाया ।।82॥

अन्वयार्थ :- (किम्) क्या (एक) एक (शाखास्य) शाखा वाले वृक्ष (शाखिनो) वृक्ष की (महती) सघन (च्छाया) छाया (भवति) होती है ? नहीं ।

जिस वृक्ष में मात्र एक ही शाखा-डाली है क्या उसकी सघन विस्तृतच्छाया हो सकती है ? कदाऽपि नहीं हो सकती। ऋषि विद्वान ने भी लिखा है :-

यथैक शाखावृक्षस्य नैवच्छाया प्रजायते ।
तथैक मंत्रिणा राज्ञः सिद्धिः कृत्येषु नो भवेत् ।।1।।

अर्थ : जिस प्रकार एक ही शाखा वाले वृक्ष की विस्तृत व सघनच्छाया नहीं होती उसी प्रकार एक मंत्री के रहने पर राजा के विस्तृत राज्य कार्यों की सुरक्षा नहीं हो सकती । अतः अपने राज्य के कार्यों का सुचारु रूप से संचालन व रक्षण करने के लिए राजा को हर एक क्षेत्र में उस उस विषय के ज्ञाता सांचवादि बहाल करना योग्य है तभी कार्य सुचारु संचालित होंगे ।।82।।

आपत्ति काल में सहायकों की दुर्लभता :-

कार्य काले दुर्लभः पुरुषसमुदायः ।।83।।

अन्वयार्थ :- (कार्यकाले) काम करने के समय पर (पुरुषसमुदायः) अनेक पुरुषों का प्राप्त होना (दुर्लभः) कठिन है ।

एकाएक कार्य उपस्थित होने पर उसे करने वालों का अन्वेषण करना व्यर्थ है क्योंकि समय पर योग्य व्यक्तियों का मिलना दुर्लभ होता है ।

राजनीति प्रतिष्ठ नीतिकारों ने धन-वैभव की अपेक्षा योग जनसंग्रह को विशेष महत्व दिया है । इसी कारण विजीगीषु राजा लोग भावी शत्रुओं से सुरक्षार्थ, राष्ट्र, राज्य, रक्षार्थ विशाल सेना संगठन करने में प्रचुर धनराशि व्यय की ओर दृष्टि नहीं देते । किसी विद्वान नीतिकार ने कहा है :-

विवेकी पुरुषों को अपत्ति से रक्षा पाने के लिए :-

अग्रे अग्रेप्रकर्त्तव्याः सहायाः सुविवेकिभिः ।
आपन्नाशाय ते यस्माद् दुर्लभाव्यसने स्थिते ।।1।।

अर्थ :- आपत्ति आने के पूर्व ही विवेकी पुरुषों को अपने सहायकों को व्यवस्थित कर लेना चाहिए । क्योंकि पूर्व सन्नद्ध सैनिक सचिवादि ही आगत विपत्तियों को निवारण करने में समर्थ होते हैं । संकट आने पर उनके निवारकों का मिलना दुर्लभ है ।

सहायकों का संग्रह न करने से हानि :-

दीप्ते गृहे कीदृशं कूपखननम् ।।84।।

अन्वयार्थ :- (गृहे) घर के (दीप्ते) जलने पर (कूपखननम्) कुआ खोदना (कीदृशम्) कैसा ? क्यों?

घर में अग्नि लगने पर कोई उसे बुझाने को कूप खोदे तो क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? कुछ भी नहीं।

विशेषार्थ :- जिस प्रकार आग लगने पर कूप खोदकर पानी निकालने का प्रयत्न व्यर्थ है, उसी प्रकार शत्रु आक्रमण करे उस समय सेना संगठित करने बैठे तो क्या प्रयोजन ? व्यर्थ ही होगा । नीतिकार चाणक्य ने भी कहा है :-

विपदानां प्रतीकारं पूर्वमेव प्रचिन्तयेत् ।
न कूपखननं युक्तं प्रदीप्ते सहसा गृहे ।।1 ॥

अर्थ :- नैतिक पुरुष को विपत्ति आने के पहले से ही उसका सामना करने की शक्ति संचित करके रखनी चाहिए। आपत्ति आने के पूर्व ही प्रतीकार का उपाय सोच लेना बुद्धिमता है । सहसा घर में अग्नि जलने पर कूप खोदना व्यर्थ है ।। अतः आपद्काल का सामना करने को पूर्व से ही सन्नद्ध रहना चाहिए ।।84 ॥

धन व्यय की अपेक्षा जनसंग्रह उपयोगी है :-

न धनं पुरुष संग्रहाद् बहु मन्तव्यम् ।।85 ॥

अन्वयार्थ :- (पुरुष संग्रहात्) मनुष्यों के संग्रह से (धनम्) धन को (बहू) अधिक (न) नहीं (मन्तव्यम्) मानना चाहिए ।

सहायक पुरुषों के संग्रह की अपेक्षा धन को महत्वपूर्ण नहीं समझना चाहिए । धनाभिलाषी और विजीगीषुओं को सहायक मंडल अवश्य तैयार करना चाहिए । शुक्र विद्वान भी लिखते हैं :-

न वाह्यं पुरुषेन्द्राणां धनं भूपस्य जायते ।
तस्माद्धनार्थिना कार्यः सर्वदा वीरसंग्रहः ।।1 ॥

अर्थ :- राजा को सहायक श्रेष्ठों के बिना धन की उपलब्धि नहीं होती । इसलिए धनार्थियों को सदैव वीर पुरुषों का संग्रह करना ही चाहिए ।

सहायकों को धन देने से लाभ :-

सत्क्षेत्रे बीजमिव पुरुषेषूप्तं कार्यं शतशः फलति ।।86 ॥

पाठान्तर-सुक्षेत्रेषु बीजमिव कार्य पुरुषेषूप्तं धनं शतशः फलति ।।

अन्वयार्थ :- (सत्) उत्तम (क्षेत्रे) खेत में (बीजम्) बीज (इव) के समान (पुरुषेषु) सत्पुरुषों में (उप्तम्) वपित (कार्यम्) कार्य रूपी बीज (शतशः) सौगुना (फलति) फलित होता है ।

जिस प्रकार उपजाऊ भूमि गत बीज सैकड़ों गुणा फलता है उसी प्रकार योग्य सहायकों द्वारा किया गया कार्य भी सैकड़ों गुणा फल प्रदान करता है ।

विशेष :- जिस प्रकार फरटाइल भूमि में बोया गया धान्य प्रचुर धान्यराशि में फलित होता है, उसी प्रकार मत्री, अमात्य, पुरोहित और सेनापति आदि सहायक पुरुषों को दिया गया धन भी प्रचुर धन राशि को उत्पन्न करता है । अतएव विजीगीषु राजाओं को चाहिए कि सत्कार्यकर्त्ताओं की अपेक्षा धन संग्रह को महत्व नहीं दें ।86॥

कार्य पुरुषों का स्वरूप :-

बुद्धावर्थे युद्धे च ये सहायास्ते कार्यपुरुषाः ।।87॥

अन्वयार्थ :- (बुद्धौ) विवेक में (अर्थे) धन में (च) और (युद्धे) संग्राम में (ये) जो (सहायाः) सहायक होते हैं (ते) वे (कार्यपुरुषाः) कार्य पुरुष हैं ।

जो बुद्धि, धन और युद्ध में सहयोग देते हैं वे कार्यपुरुष हैं ।

विशेषार्थ :- राजनैतिक कार्यों में बुद्धिप्रदान करने वाले, सलाह देने वाले प्रधानमंत्री और पुरोहित आदि, सम्पत्ति में सहायक अर्थसचिव प्रभृति, और युद्ध में सहाय दाता सैनिक वीर योद्धा आदि इनको ''कार्य पुरुष'' कहते हैं । अन्यों को नहीं । शौनक विद्वान ने कहा है :-

मोहे यच्छन्ति ये बुद्धिमर्थे कृच्छ्रं तथा धनम् ।।
वैरिसंधे सहायत्वं ते कार्य पुरुषा मताः ।।1॥

सन्नरे योजितं कार्यं धनं च शतध भवेत् ।
सुक्षेत्रे वापितं यद्वत् सस्यं तद्वदसंशयम् ॥

अर्थ :- जो राजा को संधि, विग्रहादि में सहाय देते हैं अर्थात् सलाह परामर्श देकर सन्मार्ग दर्शाते हैं, विपद् आने पर धन एवं शत्रुओं का सामना करने में सैनिक शक्ति प्रदान करते हैं उन मन्त्री, अर्थसचिव, सैनिकादि वीर सुभटों को ''कार्यपुरुष'' कहते हैं ।।87॥

किस समय कौन सहायक होता है ? :

खादनवारायां को नाम न सहायाः ॥88॥

अन्वयार्थ :- (खादनवारायाम्) भोजन समय में (को नाम) कौन पुरुष (सहायाः) सहायक (न) नहीं होता?

भोजन करने के अवसर पर कौन सहायक नहीं होता ? सभी सहायक होते हैं ।

विशेषार्थ :- सम्पत्ति के समय सभी सहायक हो जाते हैं । विपत्ति आने पर सब दूर भाग जाते हैं । इसलिए विपत्ति आने के पूर्व ही श्रेष्ठ, श्रद्धावान सहायकों का संचय कर लेना चाहिए । वर्ग विद्वान ने कहा है-

यदा स्यान्मन्दिरे लक्ष्मीस्तदान्योऽपि सुहृद्वत् ।
वित्तक्षये तथा बन्धुस्तत्क्षणाद् दुर्जनायते ॥1॥

अर्थ :- जब गृह में श्री देवी-लक्ष्मी का निवास होता है तो साधारणजन भी प्रिय मित्र बन जाते हैं, धन क्षय होने पर वे ही मित्र क्षणमात्र में पक्के दुर्जन-शत्रुसम हो जाते हैं । कहा भी है —

सुख के सब लोग संगाती हैं दुःख में कोई काम न आता है ।
जो सम्पत्ति में आ प्यार करें वे विपत्ति में आंख दिखाते हैं ॥

मंत्रणा करने का अधिकार किसे है ? :-

श्राद्ध इवाश्रोत्रियस्य न मन्त्रे मूर्खस्याधिकारोऽस्ति ॥89॥

अर्थ :- (आश्रोत्रियस्य) मूर्ख, अज्ञानी का (श्राद्धः) श्राद्ध कराने का (इव) समान, (सूर्खस्य) मूर्ख का (मन्त्रे) मंत्रणा करने में (अधिकारः) अधिकार (न) नहीं (अस्ति) है ।

धार्मिक क्रियाकाण्ड में अनभिज्ञ व्यक्ति को श्राद्ध-पिण्डदानादि कराने का जिस प्रकार अधिकार नहीं है । उसी प्रकार अविवेकी, मूर्ख पुरुष को साचिव्य-मन्त्रणा करने का अधिकार नहीं है । क्योंकि राजनीति में अनभिज्ञ क्या सलाह देगा ? कुछ नहीं ।

मूर्खमंत्री का दोष :-

किं नामान्धः पश्येत् ॥90॥

अन्वयार्थ :- (किं नाम) कोई (अन्धः) नेत्रहीन (पश्येत्) देखता है ? नहीं ।

क्या अन्धा मनुष्य कुछ देख सकता है ? नहीं देख सकता । इसी प्रकार मूर्ख-अज्ञानी मन्त्री भी मन्त्र का निश्चय नहीं कर सकता । शौनिक विद्वान ने कहा है :-

यद्यन्धो वीक्ष्यते किंचिद् घटं वा पटमेव च ।
तदा मूर्खोऽपि यो मंत्री मंत्रं पश्येत् सभूभृताम् ॥1॥

अर्थ :- यदि नेत्रविहीन पुरुष घट-पटादि वस्तुओं को देख सकता है तो मूर्ख मंत्री राजाओं को मन्त्रणा देना जान सकता है ।।

मूर्ख राजा और मूर्ख मंत्री से हानि :-

किमन्धेनाकृष्यमाणोऽन्धः समं पन्थानं प्रतिपद्यते ॥91॥

अन्वयार्थ :- (किम्) क्या (अन्धेन) नेत्रहीन द्वारा (आकृष्यमाणः) खींच कर लाने पर (अन्धः) आँख रहित पुरुष (समं) समतलभूमि के (पन्थानम्) मार्ग को (प्रतिपद्यते) समझ सकता है ? नहीं ।

एक अन्धा पुरुष किसी अन्धे को लेकर मार्ग तय करना चाहे तो क्या वह ऊँचे-नीचे मार्ग से बचकर समतल भूमि का निरीक्षण कर सकता है ? नहीं देख सकता । इसी प्रकार मूर्ख मंत्री की सहायता से राजा सन्धि विग्रहादि विषयों में क्या मन्त्रणा कर सफलता पाने में सफल हो सकता है ? अर्थलाभ कर सकता है ? नहीं कर सकता । शुक्र विद्वान ने कहा है :-

अन्धेनाकृष्यमाणोऽत्र चेदन्धो मार्गवीक्षकः ।
भवेत्तन्मूर्खभूपोऽपि मंत्रं चेत्यज्ञ मंत्रिणः ॥1॥

अर्थ :- यदि एक अन्धा पुरुष अन्य अन्धे के द्वारा खींचा जाकर मार्ग में ले जावे, तथाऽपि वह अन्धा यदि सही रास्ते को देख सके, तब तो मूर्ख मंत्री भी मूर्ख राजा को राजकार्यों में परामर्श कर-सलाह देकर सन्मार्ग पर ला सफलता दिला सकता है ।

सारांश यह है कि उक्त दोनों ही कार्य असंभव हैं ।

इसी का दृष्टान्त देते हैं :-

तदन्धवर्तकीयंकाकतालीयं वा यन्मूर्ख मंत्रात् कार्य सिद्धिः ॥92॥

अन्वयार्थ :- (यत्) जो कभी (मूर्ख) अज्ञानी (मन्त्रात्) मंत्रणा से (कार्य) काम (सिद्धिः) सिद्ध हो जाय तो (तत्) वह (अन्धवर्तकीयम्) अन्धे के हाथ में बटेर के समान (वा) अथवा (काकतालीयम्) काकतालीय न्याय के समान है ।

यदा-कदा प्रसंगवश मूर्ख मंत्री की सलाह भी सफल हो जाती है, परन्तु यह नियामक नहीं है ।

विशेषार्थ :- बटेर एक प्रकार का पक्षी है । कोई नेत्र हीन व्यक्ति हाथ पसारता है और यह चिड़िया उसके हाथ में आगई यह "अन्धे के हाथ बटेर" न्याय के नाम से प्रसिद्ध है । इसी प्रकार कोई "काक आकाश में उड़ता जा रहा था, मध्य में ताल वृक्ष के नीचे से ऊपर की ओर मुंह करके निकल रहा था कि उसी क्षण तालफल गिरा और उसके मुख में गिर गया" इसे काकतालीय न्याय कहा जाता है । ये दोनों ही सिद्धान्त महान कठिन हैं, कदाच् ही संभव हो सकते हैं, उसी प्रकार राजा का तीव्र पुण्योदय हुआ तो मूर्ख मन्त्री का साचिव्य-सलाह फलित होना संभवित हो सकता है ।

एक विद्वान गुरु ने भी लिखा है :-

अंधवर्तकमेवैतत् काकतालीयमेव च ।
यन्मूर्खमंत्रतः सिद्धिः कथंचिदपि जायते ॥1॥

अर्थ :- अज्ञानी, राजनीति शास्त्र का अनभिज्ञ मूर्ख मंत्री की मंत्रणा किसी प्रकार जो कार्य सिद्धि करा देती है, उसे अन्धे के हाथ में "आई बटेर के न्याय" के एवं "काकतालीय न्याय" वत् समझना चाहिए । यह राजमार्ग नहीं ।

सारंश यह है कि मूर्ख मन्त्री त्याज्य है । राजा को विवेकपूर्वक सुयोग्य पुरुषों को ही अपने सचिव मण्डल में भर्ती करना चाहिए ।192॥

मूर्खमंत्रियों का मन्त्र ज्ञान :-

स घुणाक्षर न्यायो यन्मूर्खेषु मन्त्रपरिज्ञानम् ॥93॥

अन्वयार्थ :- (यत्) जो (मुर्खेषु) मूर्ख-राजनीति से अनभिज्ञ में (मंत्रपरिज्ञानम्) मन्त्रणा करने का ज्ञान हो तो (सः) वह (घुणाक्षरन्यायः) उसे घुणाक्षर न्याय समझना चाहिए ।193॥

मूर्ख मनुष्य को मंत्रणा का ज्ञान घुणाक्षर न्याय सदृश कदाचित् हो जाता है, परन्तु निश्चित नहीं है ।।

विशेषार्थ :- काष्ठ में एक प्रकार का कीट लगता है जिसे दीमक या उदई कहते हैं । यह लकड़ी को धीरे-धीरे खाता हुआ पोला कर देता है । ऊपर से भक्षण करते समय लाइनें पड़ जाती हैं उन रेखाओं में कदाच कोई अक्षरात्मक- 'क, ग, प, अं आदि का आकार रूप रेखा खिंच जाय इसे ही "घुणाक्षरन्याय" कहा जाता है। उक्त प्रकरण में जिस प्रकार घुण से लकड़ी में अक्षर का बनना कदाचित् ही होता है, परन्तु निश्चित नहीं होता, उसी प्रकार मूर्ख पुरुष से मंत्रणा का ज्ञान भी कदाचित् भाग्योदय से हो सकता है । परन्तु वह निश्चित व सदा नहीं हो सकता ।93॥ गुरु विद्वान ने लिखा भी है :-

यन्मूर्खेषु परिज्ञानं जायते मंत्र संभवत् ।
सहि घुणाक्षर न्यायो न तज्ज्ञानं प्रकीर्तितम् ॥1॥

अर्थ :- मुर्ख मनुष्यों को कार्याकार्य की विवेचना मंत्र सलाह का ज्ञान घुणाक्षर न्याय के समान कदाचित् होता है, परन्तु निश्चित व नियत न होने से उसे ज्ञान नहीं कह सकते । पागल के ज्ञानवत् शराब आदि के नशे के सदृश है।

शास्त्रज्ञान शून्य मन की कर्त्तव्य विमुखता :-

अनालोकं लोचनमिवाशास्त्रं मनः कियत् पश्येत् ॥94॥

अन्वयार्थ :- (अनालोकम्) ज्योति विहीन (लोचनम्) नेत्रों (इव) समान (अशास्त्रम्) अज्ञानी जड़ रूप (मनः) मन (कियत्) कितना (पश्येत्) देख सकता है ? कर्त्तव्य बोध कर सकता है ? नहीं कर पाता ।

विशेषार्थ :- जिस प्रकार नेत्रविहीन पुरुष पट-घटादि पदार्थों को सम्यक् प्रकार नहीं देख सकता, उसी प्रकार शास्त्रज्ञान शून्य मन यथार्थ योग्यायोग्य, कर्त्तव्याकर्त्तव्य, हेयोपादेय का ज्ञान नहीं कर सकता । गर्ग विद्वान ने भी लिखा है :-

आलोक रहितं नेत्रं यथा किंचिन्न पश्यति ।
तथा शास्त्रविहीनं यन्मनो मंत्रं न पश्यति ॥1॥

अर्थ :- ज्योति विहीन नेत्र जिस प्रकार कुछ भी अवलोकन नहीं कर पाते उसी प्रकार शास्त्रज्ञान विरहित मन भी कुछ विचार नहीं कर पाता है । न्याय शास्त्रशून्य मन भी मन्त्रणा का निश्चय नहीं कर सकता । मन शास्त्रज्ञान के अवलम्बन से विचारणा शक्ति प्राप्त करता है । अतः मनोव्यापार के साथ शास्त्र ज्ञान होना अनिवार्य है ।94॥

सम्पत्ति प्राप्ति का उपाय :-

स्वामिप्रसादः सम्पदं जनयति न पुनराभिजात्यं पांडित्यं वा ॥95॥

अन्वयार्थ :- (स्वामिप्रसादः) पृथ्वीपति की प्रसन्नता (सम्पदम्) सम्पत्ति (जनयति) उत्पन्न करती है (पुनः) तथा (अभिजात्यम्) कुल (वा) अथवा (पाण्डित्यम्) विद्वत्ता (न) नहीं ।

स्वामी की प्रसन्नता सम्पत्ति प्राप्ति का उपाय है, कुलीनता व विद्वता नहीं । अर्थात् आश्रित मनुष्य कितना

ही विद्वान और उच्चकुलीन क्यों न हो, परन्तु यदि उससे उसका स्वामी सन्तुष्ट नहीं तो उसे सम्पदा-धन कदाऽपि प्राप्त नहीं हो सकता।

विशेषार्थ :- जो जिसके आश्रित होता है उसे अपने स्वामी को प्रसन्न रखना अनिवार्य है । मालिक के अनुकूल प्रवृत्ति रखने से वह प्रसन्न हो जाता है और सेवक को वरदान स्वरूप बन जाता है । स्वामी की प्रसन्नता धन प्रदात्री होती है ।। शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

कुलीना पण्डिता दुःस्था दृश्यन्ते बहवो जनाः ॥
मूर्खाः कुलविहीनाश्च धनाढ्या राजवल्लभाः ॥1॥

अर्थ :- संसार में बहुत से कुलीन और विद्वान लोग दरिद्री दिखाई पड़ते हैं । परन्तु जिन पर राजा की कृपा होती है वे मूर्ख व कुलहीन होने पर भी धनपति देखे जाते हैं ।।

वज्रमूर्ख के स्वभाव का दृष्टान्त :-

हरकण्ठ लग्नोऽपि कालकूटः काल एव ।।96॥

अन्वयार्थ :- (हरकण्ठलग्नः) शिवजी के कण्ठ में लगा (अपि) भी (कालकूटः) विष (काल) विष (एव) ही [अस्ति] है ।

महादेव जी के श्वेत कण्ठ में लगा विष तो विष ही है ।

विशेषार्थ :- महादेव जी का कण्ठ श्वेत है तो क्या उसमें लगा हुआ विष तो विष ही है । वह अपने स्वभाव कृष्णपने को त्याग नहीं सकता । सारांश यह है कि जिस प्रकार अत्यन्त शुभ्र महादेव जी के कण्ठ को प्राप्त कर भी हालाहल विष अपने कृष्ण स्वभाव प्राणघातक स्वभाव को नहीं छोड़ता उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य भी राजाश्रय पाकर अर्थात् राजमंत्री, राज पुरोहित आदि उच्च अधिकारों को प्राप्त कर भी अपने मूर्खतापूर्ण स्वभाव को नहीं छोड़ सकता । श्री सुन्दरसेन भी कहते हैं :-

स्वभावो नोपदेशेन शक्यते कर्तुमन्यथा ।
सुतप्तान्यपि तोयानि पुनर्गच्छन्ति शीतताम् ॥1॥

अर्थ :- वस्तु स्वभाव उपदेश द्वारा परिवर्तित नहीं किया जा सकता है । क्योंकि कितना ही गरम किया हुआ जल क्यों न हो अपने शीतल स्वभाव को प्राप्त हो जाता है । कहा भी है :-

"स्वभावो नान्यथा कर्तुं पार्यते" स्वभाव को अन्य रूप परिणमाया नहीं जा सकता ।।96॥

मूर्ख मंत्रियों को राजभार देने से हानि :-

स्व वधाय कृत्योत्थापनमिव मूर्खेषु राज्यभारारोपणम् ॥97॥

अन्वयार्थ :- (मूर्खेषु) मूर्खों (में) पर (राज्य) राज्य का (भारारोपणम्) भार डालना (स्ववधाय) अपने नाश के लिए (इव) समान कृत्योत्थापनम् मन्त्र सिद्ध करना (इव) समान है । (कृत्योत्थापम्) अपने कार्य को सिद्धि के लिए मंत्र साधना की और वह स्वयं का ही घात करने वाली हो गई ।

विशेषार्थ :- किसी व्यक्ति ने अपने कार्य विशेष के सम्पादन के लिए मंत्रसाधना की और हो भी गई । उसका अधिष्ठाता देव समक्ष प्रकट हुआ - पिशाच, उस पिशाच ने उसी मंत्रवादी की जीवनलीला समाप्त कर दी । उसी प्रकार राजा भी पूर्वापर विचार न करने वाले पुरुषों से केबीनेट मण्डल का कार्य नहीं हो सकता । अर्थात् वे राजा की सामर्थ्य को ही समाप्त कर देते हैं । अतः मूर्ख मंत्री नियुक्त करना उचित नहीं । शुक्र विद्वान भी कहता है :-

मूर्खमंत्रिषु यो भारं राजोत्थं संप्रयच्छति ।
आत्मनाशाय कृत्यां स उत्थापयति भूमिपः ॥1॥

अर्थ :- जो नृपति अपना राज्यभार मूर्ख-अनपढ़ मंत्रियों पर छोड़ देता है, वह अपने ही नाश के लिए मंत्र विशेष सिद्ध करता है यह समझना चाहिए ।97॥

कर्त्तव्य विमुख का शास्त्रज्ञान व्यर्थ है :-

अकार्य वेदिनः किं बहुना शास्त्रेण ॥98॥

अन्वयार्थ :- (अकार्यवेदिनः) अकर्त्तव्य को ही कर्त्तव्य जानने वाले को (बहुना) प्रभूत (शास्त्रेण) शास्त्र ज्ञान से (किम्) क्या प्रयोजन ?

बहुत से शास्त्रों का अध्ययन करने पर भी कर्त्तव्यनिष्ठता नहीं आयी तो उस पुस्तकीय ज्ञान से क्या प्रयोजन? कुछ भी कार्य सिद्धि नहीं होती ।

विशेषार्थ :- जिससे हित की प्राप्ति और अहित का परिहार हो वह ज्ञान है । यदि शास्त्र विशेष पढ़कर, सुनकर, अध्ययन कर अयोग्य कार्यों से अपना रक्षण न करे और योग्य-करणीय कार्यों में अपने को न लगाये तो उस कोरे शाब्दिक ज्ञान से क्या प्रयोजन ? शास्त्रज्ञान के साथ चारित्र भी होना चाहिए । विद्वान रैभ्य ने भी लिखा है :-

न कार्यं जो निजं वेत्ति शास्त्राभ्यासेन तस्य किम् ।
बहुनाऽपि वृद्धार्थेन यथा भस्महुतेन च ॥1॥

अर्थ :- जो व्यक्ति अपने कर्त्तव्य को नहीं जानता उसके शास्त्राभ्यास का क्या प्रयोजन ? कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । उसका प्रभूत बढ़ा हुआ ज्ञान भस्म (राख) में होम करने के समान व्यर्थ श्रम है ।।1॥

गुणहीन मनुष्य की कटु आलोचना :-

गुणहीनं धनुः पिंजनादपि कष्टम् ॥99॥

अन्वयार्थ :- (गुण) डोरी (हीनम्) रहित (धनुः) धनुष, (पिंजनात्) पींजने से (अपि) भी (कष्टम्) कष्टकर है ।

डोरी रहित धनुष पर प्रत्यञ्चा लगाकर प्रहार करना व्यर्थ ही कष्टप्रद होता है । इसी प्रकार जो पुरुष नैतिक

ज्ञान, सदाचार, वीरता, शूरता आदि गुणों से विहीन है, उसको केवल श्वांस लेने मात्र से क्या लाभ ? कोई लाभ नहीं । उसका जीवन व्यर्थ ही है । जैमिनि विद्वान ने कहा है :-

गुणहीनश्च यो राजा स व्यर्थश्चापयष्टिवत् ॥

गुण शून्य राजा विगत जोरी वाले धनुष की भाँति निरर्थक है ।

विशेषार्थ :- गुण का अर्थ डोरी भी है और पुरुषोत्तम योग्य गुण भी । धनुष में डोरी न रहे तो उससे क्या प्रयोजन? उसी प्रकार नीति आचार सदाचार, शिष्टाचारादि गुण विहीन राजा से भी राज और प्रजा को क्या लाभ? कुछ भी नहीं ।

राजमंत्री के महत्व का कारण :-

चक्षुष इव मंत्रिणोऽपि यथार्थ दर्शनमेवात्मगौरव हेतु: ॥100॥

अन्वयार्थ :- (चक्षुष) नेत्र के (इव) समान (मंत्रिण:) मंत्री की (अपि) भी (यथार्थ) यथोचित (दर्शनम्) दृष्टि (एव) ही (आत्मगौरव हेतु) आत्म महत्व की कारण है ।।

जिस प्रकार नेत्रों की सूक्ष्म दृष्टि उसके महत्व गौरव की कारण है उसी प्रकार राजाओं की यथार्थ दृष्टि सन्धि, विग्रह, युद्धादि कार्य साधक मंत्र का यथार्थ ज्ञान, उसको राजा द्वारा महत्वपाने में कारण होता है । गुरु विद्वान ने भी कहा है :-

सूक्ष्मावलोकस्य नेत्रस्य यथा शंसा प्रजायते ।
मंत्रिणोऽपि सुमंत्रस्य तथा सा नृपसंभवा ॥1॥

अर्थ :- जिस प्रकार सूक्ष्मदृष्टि-युक्त नेत्रों की लोक में प्रशंसा होती है उसी प्रकार यथार्थ-सूक्ष्म बुद्धिमता चतुर मंत्री की भी राजा द्वारा प्रशंसा होती है । मन्त्री को मन्त्रशास्त्र का ज्ञाता होना चाहिए ॥100॥

मंत्र सलाह के आयोग्य कौन ?

शस्त्राधिकारिणो न मन्त्राधिकारिण: स्यु: ॥101॥

अन्वयार्थ :- (शस्त्राधिकारिण:) शस्त्र संचालन चतुर वीर (मन्त्राधिकारिण:) साचिव्य करने योग्य (न) नहीं (स्यु:) होते हैं ।।

जो सुभट क्षत्रिय वीर पुरुष शस्त्र संचालन कला में निपुण हैं वे राजा को मंत्रणा देना सलाह-विमर्श आदि करने के पात्र नहीं होते ।

विशेषार्थ :- जो व्यक्ति जिस क्षेत्र का अधिकार ज्ञाता है वह उसी सम्बन्धी कार्य में सफल होता है । अत: क्षत्रिय पुत्र रणभूमि का अधिकारी है उसे राजा का मंत्री बनना योग्य नहीं । जैमिनि विद्वान ने भी लिखा है :-

मन्त्रस्थाने न कर्त्तव्या: क्षत्रिया: पृथिवी भुजा
यतस्ते केवलं मन्त्रं प्रपश्यन्ति रणोद्भवम् ॥

अर्थ :- राजा को मन्त्रणा करने के विषय में क्षत्रियों को नियुक्त नहीं करना चाहिए । क्योंकि वे केवल संग्राम सम्बन्धी विषय में सलाह दे सकते हैं अन्य विषयों में नहीं । इसी विषय में कहते हैं :-

क्षत्रियस्य परिहरतोऽप्यायात्युपरि भण्डनम् ॥102॥

अन्वयार्थ :- (क्षत्रियस्य) क्षत्रिय के (परिहततो:) रोकने पर (अपि) भी (भण्डनम्) झगड़ा (उपरि) करने को ही (आयाति) आता है ।

क्षत्रियों को रोका भी जाय तो वे कलह करे बिना नहीं रह सकते । अतएव उनको मन्त्री पद पर नियुक्त नहीं करना चाहिए ।

विशेषार्थ :- स्वाभाविक प्रवृत्ति का परिवर्तन करना सहज नहीं होता । सर्प को शक्कर-दूध पिलाने से विष वमन करना नहीं छोड़ता । इसी प्रकार क्षत्रियपुत्र मंत्रीपदासीन होने पर भी वीरत्वभाव का त्याग नहीं कर सकता। वर्ग विद्वान कहते हैं :-

क्षितमाघातमपि प्रायः क्षात्रं तेजो विवर्धते ।
युद्धार्थं तेन संत्याज्यः क्षत्रियो मंत्र कर्मणि ॥1॥

अर्थ :- क्षत्रिय का क्षात्रतेज ब्रेक लगाने पर भी प्रायः अधिक बढ़ता है । इसलिए वह संग्राम कार्य के योग्य ही है । मंत्रणा के क्षेत्र में उसका प्रवेश युक्त नहीं । अतएव राजाओं को क्षत्रियों को मंत्रणा कार्य के लिए नहीं रखना ही श्रेयस्कर है । क्योंकि उनका विषय संग्राम करना है न कि मंत्रणा ।।102॥

छत्रियों की प्रकृत्ति :-

शस्त्रोपजीविनां कलहमन्तरेण भक्तमपि भुक्तं न जीर्यति ॥103॥

अन्वयार्थ :- (शस्त्रोपजीविनाम्) शस्त्र संचालन जीविका वालों का (भुक्तम्) खाया हुआ (भक्तम्) भोजन (अपि) भी (कलहम्) झगड़े (मन्तरेण) बिन (न) नहीं (जीर्यति) पचता है ।

जिनका शस्त्र संचालन ही जीविका का साधन है, उन (क्षत्रियों) का उदरस्थ भोजन भी बिना लड़ाई-झगड़ा किये पचता नहीं है ।

विशेषार्थ :- जो व्यक्ति भोजन को भी बिना पहलवानी किये नहीं पचा सकता वह राजकीय सलाह परामर्श सन्धि विग्रहादि की गुप्त बातों को किस प्रकार पचा सकता है ? गोपनीय रख सकता है ? नहीं रख सकता । भागुरि कहते हैं :-

शस्त्रोपजीविनामन्नमुदरस्थं न जीर्यति ।
यावत् केनापि नो युद्धं साधुनापि समंभवेत् ॥1॥

अर्थ :- शस्त्र संचालन से जीविका चलाने वाले क्षत्रियों को किसी के साथ युद्ध किये बिना पेट का अन्न भी सम्यक् प्रकार नहीं पचता है ।।1॥ ।।103॥

अभिमान करने वाले पदार्थ :-

मंत्राधिकारः स्वामिप्रसादः शस्त्रोपजीवनं चेत्येकैकमपि
पुरुषमुत्सेकयति किं पुनर्न समुदायः ॥104॥

अन्वयार्थ :- (मन्त्राधिकारः) मन्त्रित्व का अधिकार (स्वामिप्रसादः) (च) और राजा का अनुग्रह (शस्त्रोपजीवनम्) क्षत्रित्व (इति) ये (एक एकम्) एक-एक (अपि) भी (पुरुषम्) पुरुष को (उत्सेकयति) उन्मत्त करता है (पुनः) फिर (समुदायः) तीनों मिलकर (किम्) क्या (न) करेंगे नहीं ?

विशेषार्थ :- अहंकार उत्पत्ति के कारण तीन हैं-1. मन्त्रीपद का स्वामित्य प्राप्त होना 2. राजा की प्रसन्नता और 3. क्षत्रित्व । ये एक-एक भी अहंकार को उत्पन्न करने में समर्थ हैं तो फिर तीनों एक साथ एकत्रित हो जायँ तो कहना ही क्या ? वह तो उन्मत्त बनायेगा ही ।।104॥ शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

नृप प्रसादो मंत्रित्वं शस्त्रजीव्यं स्मयं कियात् ।
एकैकोऽपि नरस्यात्र किं पुनर्यत्र ते त्रयः ॥1॥

अर्थ :- नृपति की प्रसन्नता, मन्त्रीपद का पाना, और क्षत्रियपन इनमें से एक भी प्राप्त हो जाय तो मनुष्य अहंकार के नशे में डूब जाता है । यदि ये तीनों बातें उसे एक साथ उपलब्ध हो जावें तो फिर कहना ही क्या है ? अर्थात् अवश्य ही मद चढ़ता है । इस नीति में राजा को सावधान रहकर कार्य करना चाहिए ॥104॥

अधिकारी का स्वरूप :-

नालम्पटोऽधिकारी ।।105 पाठान्तर ''न लम्पटो अधिकारी भवति ॥

अन्वयार्थ :- (अलम्पटः) इच्छा रहित (अधिकारी) मंत्री आदि पदाधारी (न) नहीं पाठान्तर - (लम्पटो) धन, स्त्री आदि का लोभी (अधिकारी) मंत्रपदाधिकारी (न) नहीं (भवति) होता है ।

विशेषार्थ :- जो पुरुष धनादि का लोलुपी होता है वह मन्त्री आदि पद पर नियुक्त करने योग्य नहीं होता। द्वितीय पक्ष-धनादि की इच्छा बिना कोई भी मंत्री आदि पद का अधिकारी नहीं होता है । वल्लभ देव विद्वान ने भी कहा है -

निःस्पृहो नाधिकारी स्यान्नाकामी मण्डनप्रियः ।
नाविदग्धः प्रियं ब्रूयात् स्फुटवक्ता न वञ्चकः ॥1॥

अर्थ :- जिस व्यक्ति को धनादि की चाह नहीं है वह मंत्री आदि पद का अधिकारी नहीं होता । प्रेम से वेष-भूषादि शृंगार करने वाला, काम वासना से रहित नहीं होता । अज्ञानी-मूर्ख पुरुष प्रियवादी नहीं होता । एवं स्पष्ट वक्ता धोखेबाज नहीं होता ।। इस प्रकार विचार कर पदाधिकार देना चाहिए ।।105॥

धन लम्पटी-राजमन्त्री से हानि :-

मंत्रिणोऽर्थग्रहणलालसायां मतौ न राज्ञः कार्यमर्थो वा ॥106॥

अन्वयार्थ :-(मंत्रिणः) मंत्री (अर्थग्रहणलालसायाम्) धन पाने के लोभ में पड़ा है तो (राज्ञः) राजा के (कार्ये) काम में (वा) अथवा (अर्थे) धन में (मतौ) बुद्धि में (न) नहीं आने [स्यात्] देगा ।।

अपने ही धन संचन में बुद्धि लगाने वाले मन्त्री राजकार्य या कोष संचय में बुद्धि का प्रयोग नहीं कर सकते हैं।

विशेषार्थ :- मनुष्य की बुद्धि एक समय में एक ओर ही लगती है स्वार्थ या परार्थ में । जो अपनी ही स्वार्थ सिद्धि में लगा है वह राजकार्य व राजकोष का क्या ध्यान देगा ? नहीं । गुरु विद्वान ने भी लिखा है-

यत्र संजायते मंत्री वित्तग्रहण लालसाः ।
तस्य कार्यं न सिद्धयेत् भूमिपस्य कुतो धनम् ॥1॥

अर्थ :- जिस भूमिपति का मंत्री स्वयं धन सञ्चय की लालसा में लगा है उस राजा का न तो कोई युद्धादि कार्य सिद्ध होता है और न कोष वृद्धि ही संभव हो सकती है । इसी को दृष्टान्त द्वारा पुष्ट करते हैं :-

वरणार्थं प्रेषित इव यदि कन्यां परिणयति तदा वरयितुस्तप एव शरणम् ॥107॥

अन्वयार्थ :- (यदि) अगर (वरणार्थम्) विवाह करने को (कन्याम्) कन्या को देखने के लिए (प्रेषितः) भेजा व्यक्ति (परिणयति) स्वयं उसका वरण करले (तदा) तब (वरयितु) वरण करने वाले का (तपः) तपश्चरण (एव) ही (शरणम्) शरण है (इव) इसी प्रकार लोभी मंत्री वाले राजा की दशा होती है ।।

विशेषार्थ :- कोई मनुष्य अपने विवाह की इच्छा से किसी अन्य पुरुष को कन्या देखने को अपने सम्बन्धी (मामा, चाचा) को भेजता है और वह वहाँ पहुँच कर स्वयं ही उस कन्या के साथ विवाह कर ले तो अब उस विवाह की इच्छा रखने वाले को क्या करना ? उसे तप की शरण लेना ही उचित है । क्योंकि पत्नी के अभाव में तप करना ही श्रेष्ठ है। उसी प्रकार प्रकरण में जिस राजा का मंत्री धन लम्पट है, उसे भी अपना राज्य त्याग कर तपस्वी बन जाना ही उत्तम है । क्योंकि धन के अभाव में न राज्य संचालन हो सकता है और न जीवन ही। धनादि की प्राप्ति मंत्री की सहायता से प्राप्त होती है, वह स्वयं का उल्लू सीधा करने में लगा है फिर राज्य कैसे स्थिर हो ? शुक्र विद्वान ने लिखा है :-

निरुणद्धिसतांमार्गं स्वयमाश्रित्य शंकितः ।
श्वाकारः सचिवो यस्य तस्य राज्यस्थितिः कुतः ॥1॥

अर्थ :- जिस राजा का मंत्री श्वान-कुत्ते के समान शङ्कित व सज्जनों का मार्ग (टेक्स आदि द्वारा अप्राप्त धन की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा आदि) रोक देता है उसकी राज्य स्थिति किस प्रकार रह सकती है ? नहीं रह सकती ।

उक्त बात को अन्य दृष्टान्त द्वारा समर्थित करते हैं :-

स्थाल्येवभक्तं चेत् स्वयमश्नाति कुतो भोक्तुर्भुक्तिः ॥108॥

अन्वयार्थ :- (स्थाली) थाल (एव) ही (भक्तम्) भोजन को (स्वयम्) स्वयम् (एव) ही (अश्नाति) खा

लेती है (चेत्) तो (भोक्तुः) भोजन करने वालो की (कुतो) कहाँ से (भुक्तिः) भोजन सिद्धि हो ?

विशेषार्थ :- जिस पात्र में भोजन पकाया जा रहा है वह पात्र ही उसे भक्षण कर ले तो पकाने वाले को भोजन कहाँ मिल सकता है ? नहीं मिल सकता । इसी प्रकार मंत्री राजद्रव्य को स्वयं हड़प जाय तो फिर राज्य किस प्रकार चल सकता है ? नहीं चल सकता है । विदुर विद्वान ने भी कहा है :-

दुग्धमाक्रम्य चान्येन पीतं वत्सेन गां यदा ।
तदा तक्रं कुतस्तस्याः स्वामिनस्तृप्तये भवेत् ॥1॥

अर्थ :- जिस गाय कासमस्त दुग्ध का उसके बछड़े ने पी लिया, अब उसके स्वामी की तृप्ति को दुग्ध, छाछ, घी आदि कहाँ से कैसे प्राप्त होगा ? नहीं हो सकता । इसी प्रकार जब राजमन्त्री राजकीय समस्त धन को हड़प करले तब राज्य व्यवस्था (शिष्टपालन, दुर्जननिग्रह) आदि कार्य कैसे सिद्ध हो सकते हैं । नहीं हो सकते। इसलिए धनलम्पटी को मन्त्रीपद पर नियुक्त नहीं करना चाहिए ।

पुरुषों की प्रकृति :-

तावत् सर्वोऽपि शुचिनिः स्पृहो यावन्न परं वरस्त्री दर्शनमर्थागमो वा ॥109॥

अन्वयार्थ :- (सर्वाः) समस्त पुरुष (अपि) भी (तावत्) तब तक ही (शुचिः) पवित्र (निःस्पृहः) निर्लोभी हैं (यावत्) जब तक कि (पर) दूसरे की (वरस्त्री) श्रेष्ठ कान्ता को (दर्शनम्) देखा (न) नहीं (वा) अथवा (अर्थागमः) धन प्राप्ति को [न] नहीं [दर्शनम्] देखा हो ।।

तब तक समस्त मनुष्य पवित्र और निलोभी बने रहते हैं जबतक कि उन्हें श्रेष्ठतम सुन्दर नारी रत्न व घर धन प्राप्ति दृष्टिगत नहीं होती । विद्वान वर्ग का इस विषय में निम्न कथन है :-

तावच्छुचिरलोभः स्यात् यावन्नेक्षेत् परस्त्रियम् ।
वित्तं च दर्शनात्ताभ्यां द्वितीयं तत् प्रणश्यति ॥1॥

अर्थ :- जब तक मानव पर स्त्री व परधन को कुदृष्टि से नहीं देखता है तब तक ही वह पवित्र व निर्लोभी रह सकता है । परन्तु इनके निरीक्षण करने पर उसके दोनों-पवित्रा, निलोभता गुण नष्ट हो जाते हैं ।।

निर्दोष को दूषण लगाने से हानि :-

अदष्टस्य हि दूषणं सुप्तव्याल प्रबोधनमिव ॥110॥

अन्वयार्थ :- (अदष्टस्य) निर्दोष के (दूषणम्) दूषण लगाना (हि) निश्चय से (सुप्तव्याल प्रबोधनम्) सोये हुए सर्प को जगाने (मिव) के समान है ।

किसी निर्दोषी पुरुष को दोषारोपण करना सुसुप्त अहि को जाग्रत करने के सदृश समझना चाहिए ।

विशेषार्थ :- जिस प्रकार सोते हुए सर्प या व्याघ्र को जगाने वाले की मृत्यु होती है उसी प्रकार निर्दोष को दूषण लगाने से मनुष्य की क्षति होती है । क्योंकि इस प्रकार निर्दोषी व्यक्ति वैर-विरोध करके उसकी यथाशक्ति

हानि करने में प्रयत्नशील रहता है । सतत अवसर की वाट जोहता रहेगा । गुरु विद्वान भी कहते हैं ।

सुखसुप्तमहिं मूर्खो व्याघ्रं वा यः प्रबोधयेत् ।
स साधोर्दूषणं दद्यान्निर्दोषस्यात्ममृत्यवे ॥1॥

अर्थ :- जो मूर्ख किसी निर्दोषी, शिष्ट सदाचारी पुरुष को दूषण लगाता है वह अपनी मृत्यु के लिए सोये सर्प या व्याघ्र को जगाता है ऐसा समझना चाहिए ।।110॥

किसके साथ मित्रता नहीं करना चाहिए :-

येन सह चित्त विनाशोऽभूत स सन्निहितो न कर्त्तव्यः ॥111॥

अन्वयार्थ :- (येन) जिसके (सह) साथ (चित्त) मन (विनाशो) मुटाव (अभूत) हो गया (स) उसे (सन्निहितः) निकटवर्ती (न) नहीं (कर्त्तव्यः) करना चाहिए ।।

जिसके साथ मन मुटाव हो जाय उससे मित्रता नहीं करनी चाहिए ॥111॥

दृष्टान्त :- सकृद्विधटितं चेतः स्फटिकवलयमिवकः संधातुमीश्वरः ।।112॥

अन्वयार्थ :- (सकृद्) एक बार (विधटितम्) विरुद्ध हुआ (चेतः) मन (स्फटिकवलयः) स्फटिकमणि के कंकण के (इव) समान (संधातुम्) जोड़ने में (कः) कौन (ईश्वरः) समर्थ हो सकता है ? कोई नहीं ।

स्फटिकमणि का कङ्कण भिन्न होने पर जिस प्रकार जुडना अशक्य है उसी प्रकार मन फट् जाने पर मिलना दुर्लभ है ।।112॥ जैमिनि ने कहा है :-

पाषाण घटितस्यात्र सन्धिमग्नस्य नो यथा ।
कङ्कणस्येव चित्तस्य तथा वै दूषितस्य च ॥1॥

अर्थ :- जिस प्रकार लोक में पाषाण निर्मित कंकण टूट जाने पर पुनः जुड़ नहीं सकता, उसी प्रकार पूर्व वैर के कारण प्रतिकूल हुआ मन अनुराग युक्त नहीं होता ।

स्नेह नष्ट होने का क्या कारण है ? :-

न महताप्युपकारेण चित्तस्य तथानुरागो यथा विरागो भवत्यल्पेनाप्यपकारेण ॥113॥

अन्वयार्थ :- (महता) महान (अपि) भी (उपकारेण) उपकार से (चित्तस्य) मन की (तथा) उस प्रकार (अनुरागः) प्रीति (न) नहीं होती (यथा) जैसा (अल्पेन) अल्प (अपि) भी (अपकारेण) अपकार से (विरागः) विरक्ति (भवति) होती है ।

महान् उपकार करने पर भी उपकारी के प्रति उतना दृढ़ प्रेम-अनुराग नहीं होता जितना कि अत्यल्प भी अपकार करने वाले के प्रति विरक्तिभाव हो जाता है । विद्रोह भाव जाग्रत हो जाता है । विद्वान वादरायण ने भी लिखा है :-

न तथा जायते स्नेहः प्रभूतैः सुकृतैःबंहुः ।
स्वल्पेनाप्यपकारेण यथा वैरं प्रजायते ॥1॥

अर्थ :- संसार दशा बडी विचित्र है । अपकार थोड़ा भी हुआ तो वैर-विरोध अधिक और स्थायी हो जाता है, उपकार कितना ही क्यों न हो स्नेह उतना नहीं होता । उपकार को मनुष्य विस्मृत कर देता है अपकार भुलाये नहीं भूल सकता है । यह है मानव की विरपीत वृत्ति ।।

शत्रु क्या करते हैं ?

सूचीमुखसर्पवन्नानपकृत्य विरमन्त्यपराद्धाः ॥114॥

अन्वयार्थ :- (सूचीमुखसर्पवत्) दृष्टिविष सर्प समान (अपराद्धाः) शत्रुजन (अनपकृत्य) अपकार करके ही (विरमन्ति) विरत होते हैं ।

विशेषार्थ :- जिस प्रकार दृष्टिविष भुजंग प्रतिशोध करके ही छोड़ता है उसी प्रकार शत्रुजन भी अपकार किये बिना विश्रान्ति नहीं लेते । भृगु कहते हैं :-

यो दृष्टिविषः सर्पो दृष्टस्तु विकृतिं भजेत् ।
तथापराधिनः सर्वे न स्युर्विकृति वर्जिताः ॥1॥

अर्थ :- जिस प्रकार दृष्टि विष युक्त नाग देखने मात्र से विष उगलता है अपकार करता है । उसी प्रकार शत्रु लोग भी अपकार से रहित नहीं होते । अपकार करके ही रहते हैं ।।114॥

कामवेग से हानि :-

अतिवृद्धः कामस्तन्नास्ति यन्न करोति ॥115॥

अन्वयार्थ :- (अतिवृद्धः) अत्यन्त बढी (कामः) कामवासना वाला (तत्) वह (नास्ति) कार्य नहीं (यत्) जिसे (न) नहीं (करोति) करता है ।

विशेषार्थ :- कामी पुरुष अपनी अत्यन्त वृद्धिंगत कामवासना से संसार में ऐसा कोई निंद्य कार्य नहीं जिसे वह नहीं करता हो । अर्थात् सभी प्रकार के निंद्य, व घृणित कार्यों को भी सम्पन्न कर डालता है । पौराणिक दृष्टान्त :-

श्रूयते हि किल कामपरवशः प्रजापति रात्मदुहितरि, हरिर्गोपबधूषु, हरः शान्तनु कलत्रेषु, सुरपतिर्गौतमभार्यायां, चन्द्रश्च वृहस्पतिपत्नयां मनश्चकारेति ॥116॥

अन्वयार्थ :- (श्रूयते) सुना जाता है कि (हि) निश्चय से (किल) नियम से (कामपरवशः) कामाधीन (प्रजापतिः) ब्रह्मा ने (आत्मदुहितरि) अपनी कन्या से, (हरिः) कृष्ण (गोपबधूषुः) ग्वालाओं की कान्ताओं में, (हरः) शिवजी (शान्तनुकलयेषु) गंगानामक शान्तुनु की स्त्री में (सुरपतिः) इन्द्र (गौतमभार्यायाम्) गौतम की अहिल्या पत्नि में (च) और (चन्द्रः) चन्द्रमा (वृहस्पति पत्न्याम्) वृहस्पति पत्नि तारा में (मनः) मन को (चकार) लगाया मुग्ध हुए (इति) इस प्रकार किया ।

यह कथानक अन्य अजैन पुराणों का समझना चाहिए । जैनशास्त्र में इस प्रकार की विडम्बना नहीं है ॥116॥

मनुष्यों की धनाकांक्षा का दृष्टान्त :-

अर्थेषूपभोग रहितास्तरवोऽपि साभिलाषाः किं पुनर्मनुष्याः ॥117॥

अन्वयार्थ :- (अर्थेषु) धन में (उपभोगरहिताः) उपभोग नहीं करने वाले (तरवः) वृक्ष (अपि) भी (साभिलाषाः) फलने फूलने रूप धन की इच्छा करते हैं तब (पुनः) तो (मनुष्याः) मनुष्यों की (किम्) क्या बात है ? कुछ नहीं । मनुष्यों को तो अपने शरीर, परिवारादि की रक्षार्थ धन-सम्पत्ति का उपभोग करना पडता है । अतः साभिलाषी होना उचित ही है । जैमिनि विद्वान ने लिखा है :-

अर्थं तेऽपि च वाञ्छन्ति ये वृक्षाआत्मचेतसा ।
उपभोगैः परित्यक्ताः किं पुनर्मनुष्याश्च ये ॥1॥

अर्थ :- जो वृक्ष अपने उपभोग से रहित हैं वे भी धन की इच्छा से युक्त देखे जाते हैं । वे भी पुष्प फलादि की आकांक्षा करते हैं । फिर मनुष्य तो मनसहित हैं उनका तो कहना ही क्या है ? उन्हें तो धनाभिलाषी होना ही चाहिए ॥117॥

लोभ का स्वरूप :-

कस्य न धनलाभाल्लोभः प्रवर्तते ॥118॥

अन्वयार्थ :- (धनलाभात्) अर्थ प्राप्ति से (कस्य) किसका (लोभः) लोभ (न) नहीं (प्रवर्तते) प्रवृत्त नहीं होता ? होता ही है । वर्ग विद्वान ने कहा है :-

तावन्न जायते लोभो यावल्लाभो न विद्यते ।
मुनिर्यदि वनस्थोऽपि दानं गृह्णाति नान्यथा ॥1॥

अर्थ :- जब तक मनुष्य को धन लाभ नहीं होता, तब तक उन्हें लोभ भी जाग्रत नहीं होता । यदि ऐसा न होता तो वन खण्ड में एकाकी निस्पृही रहने वाले मुनियों को भी दान ग्रहण की वाञ्छा न होती । अतः अर्थालाभ लालच का मूल है ॥118॥

जितेन्द्रिय की प्रशंसा :-

स खलु प्रत्यक्षं दैवं यस्य परस्वेष्विव परस्त्रीषु निःस्पृहं चेतः ॥119॥

अन्वयार्थ :- (यस्य) जिसका (चेतः) मन (परस्य) दूसरे के (स्वेषु) धन में (इव) इसी प्रकार (परस्त्रीषु) पराई स्त्री में (निःस्पृहः) अभिलाष रहित हैं (सः) वह (खलु) निश्चय से (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष (दैवम्) देव [अस्ति] है ।

विशेषार्थ :- जो परधन और परस्त्री सेवन की अभिलाषा नहीं करता है वह पुरुष साक्षात् देवता है मनुष्य शरीर में । वर्ग विद्वान ने भी कहा है :-

पर द्रव्ये कलत्रे च यस्य दृष्टे महात्मनः ।
न मनो विकृतिं याति स देवो न च मानवः ॥1॥

अर्थ :- जिस महात्मा का मन परधन और परस्त्री के अवलोकन करने पर भी विकृत नहीं होता, वह वास्तव में मनुष्याकार में देव ही है ।।119॥

सन्तोषी पुरुषों का कार्य :-

समायव्ययः कार्यारम्भो राभसिकानाम् ।।120॥

अन्वयार्थ :- (राभसिकानाम्) सन्तोषी पुरुषों का (कार्यारम्भः) कार्य का प्रारम्भ (सम) समान (आय व्ययः) आमदनी-खर्च भी समान होने पर संतुष्ट रहते हैं ।। हारीत विद्वान ने भी लिखा है :-

आय व्ययौ समौ स्यातां यदि कार्यो विनश्यति ।
ततस्तोषेण कुर्वन्ति भूयोऽपि न त्यजन्ति तम् ।।

अर्थ :- सन्तोषी पुरुष समान आय व्यय वाले कार्यों में अथवा वह भी हाथ से निकल रहा हो तो भी उसे शान्ति धैर्यपूर्वक करते हैं । प्रारम्भ किये कार्य को हानि-लाभ की ऊहा-पोह से त्याग नहीं करते हैं॥120।।

महामूर्खों का कार्य :-

बहुक्लेशेनाल्पफलः कार्यारम्भो महामूर्खाणाम् ॥121॥

अन्वयार्थ :- (महामूर्खाणाम्) महान अज्ञानियों का (कार्यारम्भः) कार्य प्रारम्भ (बहुक्लेशेन) कठिन श्रम स (अल्पफलः) कम फल रूप [भवति] होता है ।।

अज्ञानियों का कार्यारम्भ अल्पफल और अधिक कष्ट देने वाला होता है ।

विशेषार्थ :- विवेकशून्य व्यक्ति लाभालाभ का विचार न कर कार्यारम्भ कर देता है । फलतः लाभ तो बहुत कम होता है और श्रम अत्यधिक हो जाता है ।। वर्ग विद्वान ने कहा है :-

बहुक्लेशानिकृत्यानि स्वल्प भावानि चकतुः ।
महामूर्खतमा येऽत्र न निर्वेदं व्रजन्ति च ॥1॥

अर्थ :- लोक में मधा मजूरी करने वाले मूर्खों की कमी नहीं है । इनका कार्य जीतोड़ परिश्रम करने पर अल्पफल देने वाला होता है । ऐसे ही कार्यों में संलग्न रहते हैं ।।

अधम पुरुषों का कार्यारम्भ :-

दोषभयान्न कार्यारम्भः का पुरुषाणाम् ॥122॥ पाठान्तर - "दोषभयात् कार्यानारम्भः" ।

अन्वयार्थ :- (दोषभयात्) विघ्न के भय से (का पुरुषाणाम्) कायर पुरुषों का (कार्यारम्भः) काम का प्रारम्भ (न) नहीं [भवति] होता है ।।

विशेषार्थ :- कायर, उद्यमहीन, डरपोक पुरुष प्रमादी बैठे रहते हैं । कार्यारम्भ शीघ्र नहीं करते । वे मात्र ख्याली पोलाव पकाते रहते हैं, अमुक कार्य में "यह दोष है, उसमें वह दोष है" यही सोचते काल खो देते हैं। वर्ग विद्वान ने लिखा है :-

कार्यं दोषान् विचिन्वन्तो नराः का पुरुषाः स्वयम् ।
शुभं भाव्यान्यपि त्रस्ता न कृत्यानि प्रकुर्वन्ति ॥1॥

अर्थ :- दुर्बुद्धि मानव कार्यों में छिद्रान्वेषण कर दोषोद्भावन कर-करके उनसे विमुख हो जाते हैं । समय चला जाता है और वे भयभीत हो रह जाते हैं ।।

भयशंका का त्यागपूर्वक कर्त्तव्य प्रवृत्ति :-

मृगाः सन्तीति किं कृषि नं क्रियते ।।123॥ पाठान्तर मृगाः सन्तीति किं कृषि नं कृष्यते ?

अन्वयार्थ :- (मृगाः) पशु (सन्ति) हैं (इति) इस प्रकार सोचकर (किं) क्या (कृषि) खेती (न) नहीं (क्रियते) करते ? करते ही हैं । अथवा :-

अजीर्णभयात् किं भोजनं परित्यज्यते ? ॥114॥

अन्वयार्थ :- (किम्) क्या (अजीर्णभयात्) पाचन नहीं होने से (भोजनम्) भोजन (परित्यज्यते) छोडा जाता है ? नहीं ।

अर्थ :- जिस प्रकार हिरणों-मृगों के भय से खेती करना और अजीर्ण के भय से कोई भोजन करना नहीं छोड देता, उसी प्रकार बुद्धिमान पुरुष विघ्नों के भय से कार्यारम्भ से विरत नहीं होते । अपितु कार्यारम्भ करते ही हैं ।।123-24॥

कार्यारम्भ में विघ्नों का आना:-

स खलु कोऽपीहाभूदस्ति भविष्यति वा यस्य कार्यारम्भेषु प्रत्यवाया न भवन्ति ॥125॥

पाठान्तर :- सखलु किं कोऽहीहाभूदस्ति भविष्यति वा यस्याप्रत्यवायः कार्यारम्भः ।।

अन्वयार्थ :- (इह) इस लोक में (कः) कोई (अपि) भी (किम्) क्या (अस्ति) है (अभूत्) हो गया (वा) अथवा (भविष्यति) होगा (यस्य) जिसके (खलु) निश्चय से (कार्यारम्भेषु) कार्य प्रारम्भ में (प्रत्यवायाः) विघ्न (न) नहीं (भवन्ति) होते हैं ?

विशेषार्थ :- कौन संसार में ऐसा मनुष्य है जिसके कार्यों में विघ्न न आया हो, न आता हो और न ही आयेगा? कोई नहीं । भागुरि ने भी कहा है :-

यस्योद्यमो भवति तं समुपैति लक्ष्मी ।
दैवेन देयमिति का पुरुषावदन्ति

दैवं निहत्यकुरु पौरुषमात्मशक्तया
यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्र दोषः ॥1॥

अर्थ :- सत्पुरुषार्थी को लक्ष्मी का समागम होता है । भाग्य में होगा तो वैभव मिलेगा इस प्रकार का कथन कायरों का होता है जो प्रमादवश कर्त्तव्य च्युत हो जाते हैं । अतः भाग्याधीनता त्याग शक्ति के अनुसार पुरुषार्थ करो। यदि सतत उद्योगशील रहने पर भी कार्यसिद्धि न हो तो इसमें पुरुषार्थ का अपराध नहीं, अपितु भाग्य की विडम्बना है ।। अतः उद्यम नहीं छोड़ना चाहिए ।

दुष्ट-अभिप्राय वालों के कार्य :-

आत्मसंशयेन कार्यारम्भो व्यालहृदयानाम् ।। पाठान्तर में व्याल के स्थान में बाल है ।

अन्वयार्थ :- (आत्मसंशयेन) स्वघात की शंका से (व्याल हृदयानाम्) भुजंग समान हृदय वाले दुर्जनों का (कार्यारम्भः) कार्य प्रारम्भ [भवति] होता है ।

विशेषार्थ :- सर्पादि दुष्ट जीवों के समान हृदय वाले मनुष्य इस प्रकार के निंद्य कार्य प्रारम्भ करते हैं जिनके कारण उन्हें अपने ही नाश की आशंका रहती है । शुक्र विद्वान लिखते हैं :-

ये व्याल हृदयाभूपास्तेषां कर्माणियानि च ।
आत्म सन्देह कारीणितानि स्युर्निखिलानि च ॥1॥

अर्थ :- विषधर के सदृश क्रूर भूपतियों के समस्त कार्य, आत्मघात की शंका से व्याकीर्ण रहते हैं । अर्थात् वे कभी भी आश्वस्त नहीं रह पाते ।।

महापुरुषों के गुण व मृदुता लाभ का विवेचन :-

दुर्भीरुत्वमासन्न शूरत्वं रिपौ प्रति महापुरुषाणाम् ॥127॥

अन्वयार्थ :- (दुर्) दुरवर्ती (आसन्नः) निकटवर्ती (रिपौ) शत्रु के (प्रति) प्रति (भीरुत्वम्) भयपना (तु) एवं (शूरत्वं) वीरता (महापुरुषाणाम्) महान पुरुषों की [भवति] होती है ।

विशेषार्थ :- नीति शास्त्र में कहा है -

तावत्परस्य भेतव्यं यावन्नो दर्शनं भवेत् ।
दर्शनेतु पुनर्जाते प्रहर्तव्यमशंकितैः ॥2॥

अर्थ :- जब तक शत्रु सम्मुख न आवे तभी तक उसे भयभीत रहना चाहिए । समक्ष उपस्थित होने पर निर्भय होकर उस पर प्रहार करना चाहिए ।।1॥

जलवन्मार्दवोपेताः पृथुनपि भूभृतो भिनत्ति॥128॥

अन्वयार्थ :- (जलवत्) नीर के समान (मार्दवम्) कोमलता को (उपेतः) प्राप्त व्यक्ति (पृथुनः) कठोर (अपि) भी (भूभृतः) राजा को (भिनत्ति) नष्ट कर देता है ।।128॥

अर्थ :- जिस प्रकार मृदु भी जल प्रवाह विशाल चट्टानों को तोड़-फोड़ देता है उसी प्रकार साम नीति से कठोर शत्रुओं को भी सरलता से परास्त कर देता है । अभिप्राय यह है कि कोमलता-सरलता से कठिन से भी कठिन काम आसानी से हल हो जाता है ।।128॥ नीति कार कहते हैं :-

युद्धं परित्यजेद्धीमानुपायैः सामपूर्वकैः ।
कदाचिज्जायते दैवाद्धीनेनापि बलाधिकः ॥1॥

अर्थ :- बुद्धिमानों को साम्यनीति से युद्ध करना चाहिए । यदि कदाचिद् आवश्यकता पड़े तो अधिक बलवान सैनिक लेकर युद्ध करना चाहिए ।

प्रियवचनों से लाभ :- गुप्त रहस्य प्रकाश की अवधि व महापुरुषों के वचन :- **प्रियंवदः शिखीव सदर्पानपि द्विषत्सर्पानुत्सादयति'' ।।129॥ सर्पानुच्छादयति पाठ भी है नाविज्ञाय परेषामर्थमनर्थं वा स्वहृदयं प्रकाशयन्ति महानुभावाः ।।130॥ क्षीरवृक्षवत् फलसम्पादनमेव महतामालापः ।।131॥** ''फलप्रदो'' भी पाठान्तर है ।

अन्वयार्थ :- (प्रियम्बदः) प्रियभाषी (शिखिः) मयूर (इव) समान (सदर्पान्) मदोन्मत्त (अपि) भी (द्विषत्) विषाक्त (सर्पान्) उरगों को (उत्सादयति) नष्ट कर देते हैं ।।129॥ (महानुभावः) महापुरुष (परेषाम्) दूसरों के (अर्थम्) प्रयोजन (वा) अथवा (अप्रयोजनम्) अनभिप्राय को (अविज्ञाय) बिना ज्ञात किये (स्वहृदयम्) अपने हृदय के भावों को (न) नहीं (प्रकाशयन्ति) प्रकाशित करते हैं ।।130॥ (महताम्) महापुरुषों के (आलापः) वचन प्रयोग (क्षीरवृक्षवत्) दूध वाले वृक्षों के समान (फलसम्पादनम्) फल प्रदायक (एव) ही [भवन्ति] होते हैं ।।131॥

विशेषार्थ :- मयूर की ध्वनि सुनते ही भयंकर विषधर भी भयभीत हो भाग जाते हैं, उसी प्रकार मधुरभाषी मनुष्य के समक्ष अभिमानी शत्रुरूपी भुजङ्ग भीत हो पलायमान हो जाते हैं । मधुर भाषण शत्रुओं को भी मित्र बनाने की रामवाण औषधि है । शुक्र विद्वान ने भी कहा है कि :-

यो राजा मृदुवाक्यः स्यात्सदर्पानपि विद्विषः । स निहन्ति न सन्देहो मयूरो भुजगानिव ॥1॥

अर्थ :- जिस प्रकार मयूर की मधुर 'केका' वाणी सुनते ही दर्पयुक्त भयंकर विषधर सर्प नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार मधुरवाणी बोलने वाला राजा भी अहंकारी शत्रुओं को निःसन्देह नष्ट कर देता है ।।129॥ उत्तम पुरुष दूसरों के हृदय की अच्छी या बुरी बात ज्ञात करके ही अपने मन की बात प्रकट करते हैं । भृगु विद्वान ने भी कहा है :-

अज्ञात्वापरकार्यं च शुभं वा यदि वाशुभम् ।
अन्येषां न प्रकाशेयुः सन्तो नैव निजाशयम् ॥1॥

अर्थ :- सज्जन पुरुष दूसरे के अच्छे या बुरे प्रयोजन को ज्ञात किये बिना अपना मानसिक अभिप्राय प्रकाशित नहीं करते ।।1॥ सामने वाला सत् या असत् प्रकृति का है यह जानकर ही महापुरुष अपना अभिप्राय प्रकट करते हैं ।।130॥

महात्माओं के हित, मित, प्रिय वचन क्षीर वृक्षों के समान सतत सुखद व हितकर होते हैं । उत्तम फलदायी-

सर्व कल्याणकारी होते हैं ।। वर्ग विद्वान ने कहा है :-

आलापः साधु लोकानांफलदः स्यादसशंयम् ।
अचिरेणैव कालेण क्षीर वृक्षो यथा तथा ॥1॥

अर्थ :- जिस प्रकार दुग्ध वाला वृक्ष शीघ्र उत्तम फल देता है, उसी प्रकार सत्पुरुषों के वचन भी निःसन्देह उत्तमफल प्रदान करते हैं ।। अभिप्राय यह है कि उत्तम पुरुषों को सदैव मधुर वचन बोलना चाहिए ।।131॥

दुर्जन व सज्जन का स्वरूप :-

दुरारोहपादप इव दण्डभियोगेन फलप्रदो भवति नीच प्रकृतिः ।।132।।

स महान् यो विपत्सु धैर्यमवलम्बते ।।133॥

अन्वयार्थ :- (दुरारोहः) कठिनाई से चढ़ा जाने वाले (पादपः) वृक्ष दण्डा द्वारा ही फल प्रदान करता है, (दण्डाभियोगेन) दण्डे से (फलप्रदः) फलदायक (भवति) होता है (इव) इसी प्रकार (नीचप्रकृतिः) तुच्छ स्वभावी मनुष्य [भवति] होता है ।।

(स) वह (महान्) महापुरुष है (यः) जो (विपत्सु) विपत्ति में (धैर्यम्) साहस (आलम्बते) धारण करते हैं ।।133॥

विशेषार्थ :- आम्रादि वृक्ष ऊच्च-लम्बे होते हैं । सर्वसाधारण जन ऊपर चढ़ नहीं पाते । तब वे बहुत लम्बा-सा डण्डा लेकर मारकर फल प्राप्त करते हैं । उसी प्रकार दुर्जन जन दण्डित होकर कार्य करने में प्रवृत्त होते हैं। भागुरि विद्वान ने लिखा है :-

दण्डाहतो यथारातिर्दुरारोहो महीरुहः ।
तथा फलप्रदो नूनं नीच प्रकृतिरत्र यः ॥1॥

अर्थ :- जिस प्रकार शत्रु और अति उच्च (न चढ़ने योग्य) वृक्ष दण्ड से ताड़ित किये जाने पर फल देता है, उसी प्रकार नीच मनुष्य भी दण्डनीति से वशी होता है ।। नीचपुरुषों को दण्डविधान करना भी आवश्यक है ।।132॥

जो पुरुष विपत्ति में धैर्य करता है, वही महापुरुष है ।। गुरु ने कहा है :-

आपत्कालेऽत्र संप्राप्तौ धैर्यमालम्बते हि यः ।
स महत्त्वमवाप्नोति पार्थिवः पृथिवीतले ॥1॥

अर्थ :- जो राजा विपत्ति-संकट आने पर धैर्य करता है वह निःसन्देह भूमितल पर यश और वैभव प्राप्त करता है ।।133॥

असफल बनाने वाला दोष व कुलीन पुरुष का स्वरूप :-

उत्तापकत्व हि सर्वकार्येषु सिद्धीनां प्रथमोऽन्तरायः ॥134॥
शरद्घना इव न खलु वृथालापा गलगर्जितं कुर्वन्ति सत्कुल जाताः ॥135॥

अन्वयार्थ :- (उत्तापकत्वम्) व्याकुलता (हि) निश्चय से (सर्वकार्येषु) समस्त कार्यों की (सिद्धीनाम्) सिद्धियों का (प्रथमः) पहला (अन्तरायः) विघ्न है । (शरद्घनाः) शरतकाल के बादल (इव) समान (खलु) निश्चय से (वृथालापा) व्यर्थ गर्जना (सत्कुलजाताः) उत्तम कुलोत्पन्न मनुष्य (गलगर्जितम्) गाल बजाना-बकवाद (न) नहीं (कुर्वन्ति) करत हैं ॥134-135॥

विशेषार्थ :- जो मनुष्य कर्त्तव्य पालन करने में आकुल-व्याकुल हो जाता है, उसका कार्य सिद्ध नहीं होता । अतएव कार्य सिद्धि में उतावली नहीं करना चाहिए ।। गुरु विद्वान भी कहते हैं :-

व्याकुलत्वं हि लोकानां सर्व कृत्येषु विघ्नकृत् ॥
पार्थिवानां विशेषेण येषां कार्याणि भूरिशः ॥1॥

अर्थ :- लोक में पुरुषों की घबराहट-आकुलता सभी कार्यों में विघ्नोत्पादक है । विशेष रुप से राजाओं के कार्यसिद्ध होने में उनका उतावलापन विशेष बाधक होता है । अतः राजाओं को धीर वीर होना अनिवार्य है ॥134॥

कुलीन पुरुष जलविहीन मेघों की भाँति व्यर्थ गर्जना, गडगडाहट नहीं करते । जिस प्रकार शरत्काल के मेघ तीव्र गर्जना करते हैं परन्तु बरसने का नाम निशान भी नहीं रहता । इस प्रकार सत्पुरुष या श्रेष्ठ नृपति व्यर्थ की गर्जना नहीं करते। अपितु पराक्रम दिखाते हैं । गौतम विद्वान ने लिखा है :-

वृथालापैर्न भाव्यं च भूमिपालैः कदाचन ।
यथा शरद् घ्ना कुर्युस्तोयवृष्टिविवर्जिताः ॥1॥

अर्थ :- पृथ्वी पतियों द्वारा कार्य शून्य वृथा वीरत्व के प्रदर्शन की डींग हाकना उचित नहीं । शरद् कालीन मेघ मात्र गर्जते हैं पानी नहीं बरसाते । उनकी गड़गड़ाहट का क्या प्रयोजन कुछ नहीं । अभिप्राय यह है कि महत्व कर्मठता का है, कार्यसम्पन्नता नहीं तो व्यर्थ बखान से क्या ? कुछ नहीं ।

अच्छी-बुरी वस्तु का दृष्टान्त :-

न स्वभावेन किमपि वस्तु सुन्दरमसुन्दरं वा, किन्तु यदेव यस्य प्रकृति तो भाति तदेव तस्य सुन्दरम् ॥136॥ न तथा कर्पूररेणुना प्रीतिः केतकीनां वा यथाऽमेधयेन ॥137॥

अन्वयार्थ :- (किम् अपि) कोई भी (वस्तु) पदार्थ (स्वभावेन) प्रकृति से (सुन्दरम् असुन्दरम् वा) सुन्दर अथवा बुरी (न) नहीं [अस्ति] है (किन्तु) परन्तु (यस्य) जिसकी (प्रकृतितः) स्वभाव से (यदा) जब (एव) ही (भाति) पसंद आवे (तदा) उस समय (एव) ही (तस्य) उसके लिए (सुन्दरम्) अच्छी है ॥136॥ मक्खियों को (कर्पूर रेणना) कपूर के चूर्ण से (वा) अथवा (केतकीनाम्) केतकी पुष्प की गंध (तथा) उस प्रकार (प्रीतिः) आनन्दकारी (न) नहीं (यथा) जिस प्रकार (अमेधयेन) मल मूत्रादि ॥137॥

विशेषार्थ :- शोभन-अशोभनपना पुरुषों की कल्पना है न कि वस्तु का स्वभाव । क्योंकि संसार में कोई पदार्थ अच्छा-बुरा नहीं, अपितु जिसको जो जिस समय अपने अनुकूल पड़ती है उसे वह उस समय अच्छी हो जाती है । जैमिनि विद्वान ने भी कहा है :-

सुन्दरासुन्दरं लोके न किंचिदपि विद्यते ।
निकृष्टमपि तच्छ्रेष्ठं मनसः प्रतिभाति यत् ॥1॥

अर्थ :- संसार में कोई भी वस्तु सुन्दर व असुन्दर नहीं हैं, अपितु जो मन को प्रिय लगती है वह सुन्दर और नहीं रुचे वह असुन्दर है । निकृष्ट होने पर भी मन की रुचि होने से सुन्दर प्रतीत है । अतः राग-द्वेष नहीं करना चाहिए ।।136॥ मक्षिकाओं को जिस प्रकार मल-मूत्रादि में प्रीति होती है उस प्रकार कपूर के चूर्ण में व केतकी की सुगन्ध में नहीं होती ।।137॥

क्रोधी, विचारशून्य और गुप्त बात प्रकट करने वाले पुरुष से हानि :-

अति क्रोधनस्य प्रभुत्वमग्नौ पतितं लवणमिव शतधा विशीर्यते ॥138॥

सर्वान् गुणान् निहन्त्यनुचितज्ञः ।। 139॥ परस्परं मर्म कथनयात्मविक्रमएव ।।140॥

अन्वयार्थ :- (अति क्रोधनस्य) अत्यन्त क्रोधी का (प्रभुत्व) प्रताप (अग्नौ) आग में (पतितम्) पड़े (लवणम्) नमक (इव) समान (शतधा) सैंकड़ों प्रकार से (विशीर्यते) नष्ट हो जाता है । (अनुचितज्ञः) विवेकशून्य (सर्वान्) सम्पूर्ण (गुणान्) गुणों को (निहन्ति) नष्ट कर देते हैं (परस्परम्) आपस में (मर्म) गुप्त (कथन) कथन करने से (आत्मविक्रम) आत्मशक्ति (एव) ही [अस्ति] है ।

विशेषार्थ :- अति क्रोधी का ऐश्वर्य अग्नि में होम किये लवण के समान सैकड़ों प्रकार से नष्ट हो जाता है । जैसाकि ऋषिपुत्रक ने भी कहा है :-

अतिक्रोधी महीपालः प्रभुत्वस्य विनाशकः ।
लवणस्य यथा वन्हिर्मध्ये निपतितस्य च ॥1॥

अर्थ :- अग्नि में पड़ा नमक जिस प्रकार विनष्ट हो जाता है उसी प्रकार उग्रकोप करने वाले राजा या मनुष्य का ऐश्वर्य नष्ट हो जाता है ।।138॥

योग्यायोग्य विचार शून्य पुरुष समस्त ज्ञानादि गुणों को नष्ट कर देता है । नारद विद्वान कहते हैं :-

गुणैः सर्वैः समेतोऽपिवेत्ति कालोचितं न च ।
वृथा तस्य गुणा सर्वेयथा षण्ढस्य योषितः ॥1॥

अर्थ :- जिस प्रकार नपुंसक पुरुष को गुणज्ञ-सुन्दर स्त्रियाँ व्यर्थ हैं, उसी प्रकार गुणों से विभूषित पुरुष यदि उन गुणों का समयानुकूल, विवेकपूर्वक प्रयोग नहीं करता है तो उसके गुण निरर्थक हैं ।।139॥

जो मानव परस्पर की गुप्त बातों को प्रकाशित करते हैं वे अपना-अपना पराक्रम ही प्रकट करते हैं । अभिप्राय यह है कि एक दूसरे के समक्ष वे गुप्त बात को कहकर अपना-अपना गौरव दिखलाते हैं परन्तु दोनों ही क्षति उठाते हैं जैमिनि कहते हैं :-

परस्य धर्म भेदं च कुरुते कलहाश्रयः ।
तस्य सोऽपि करोत्येव तस्मान्मंत्रं न भेदयेत् ॥1॥

अर्थ :- जो दुर्बुद्धि परस्पर में कलह-विसंबाद करके एक दूसरे की गुप्त बात को खोलते हैं । क्योंकि एक प्रकट करता है तो दूसरा सोचता है मैं भी खोलकर रहूँगा । इस प्रकार वे दोनों ही नष्ट होंगे । इसलिए मन्त्रभेद नहीं करना चाहिए। विश्वासघात सबसे बड़ा पाप है ।।140॥

शत्रुओं पर विश्वास करने से हानि :-

तदजाकृपाणीयं यः परेषु विश्वासः ॥141॥

अन्वयार्थ :- (यः) जो (परेषु) दूसरों में (विश्वासः) विश्वस्त होना (तद्) वह (अजा कृपाणीयम्) अजाकृपाणीय न्याय [अस्ति] है ।।

विशेषार्थ :- शत्रुओं पर विश्वास करना "अजाकृपाणीय न्याय" समान है ।। चाणक्य का कथन है-

नविश्वसेदविश्वस्तेऽपि न विश्वसेत् ।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलादपि निकृन्तति ॥1॥

अर्थ :- नीतिज्ञ पुरुषों को धोखेबाज-शत्रुओं का विश्वास नहीं करना चाहिए अविश्वासों की क्या बात, विश्वस्त पुरुषों का भी विश्वास नहीं करना चाहिए । क्योंकि विश्वास करने से उत्पन्न हुआ भय मनुष्य को जड़मूल से नष्ट कर देता है । अभिप्राय यह है कि मनुष्य को आत्मविश्वासी बनना चाहिए ।।141।।

चञ्चल चित्त और स्वतन्त्र पुरुष की हानि :-

क्षणिकचित्तः किंचिदपि न साधयति ।।142॥

स्वतंत्र सहसा कारित्वात् सर्वं विनाशयति ।।143॥

अन्वयार्थ :- (क्षणिकचितः) चञ्चल मन (किंचिद्) कुछ (अपि) भी (न) नहीं (साधयति) सिद्ध करता है । (स्वतंत्रः) स्वच्छन्द (सहसा) अचानक (कारित्वात्) करने वाला होने से (सर्वम्) सर्व (विनाशयति) नष्ट कर देता है ।।141॥143॥

विशेषार्थ :- चञ्चलचित्त मनुष्य का कोई भी सूक्ष्म कार्य तनिक भी सिद्ध नहीं होता । इसलिए यश के इच्छुक पुरुषों को अपना चित्त स्थिर करना चाहिए । हारीत विद्वान का कथन है :-

चल चित्तस्यनोकिंचित् कार्यं किंचित् प्रसिद्धयति ।
सु सूक्ष्ममपितत्तस्मात् स्थिरं कार्यं यशोऽर्थिभिः ॥1॥

इसी प्रकार जो राजा स्वतंत्र होता है । राजकीय कार्यों में सचिव मण्डल की सलाह नहीं लेता है, योग्य विचार विमर्श नहीं करता है । बिना विचारे असामयिक अनेक कार्यों को एक साथ प्रारम्भ कर देता है वह समस्त राज्य को नष्ट कर देता है । जैसा कि 'नारद' कहते हैं :-

यः स्वतंत्रोभवेद्राजासचिवान्न च पृच्छति ।
स्वयं कृत्यानि कुर्वाणः स राज्यं नाशयेद् ध्रुवम् ॥1॥

अर्थ :- जो राजा स्वच्छन्द होता है, वह मन्त्रियों से कुछ भी राय नहीं लेता । स्वयं मनमाना राजकीय कार्यों को करता है वह निश्चय से अपने राज्य को नष्ट कर देता है ।।1 ।। 143॥

नोट :- सूत्र 141 का अजाकृपाणीय न्याय :-

किसी समय एक भूखा बटोही हिंसक वन में विचरण कर रहा था । उसने एक बकरियों का समूह देखा। उसने स्वार्थवश उस झुण्ड में एक हृष्ट-पुष्ट बकरे को देखा और उसे कोमल-हरे पत्ते खिलाने लगा । इससे बकरा उसके पीछे-पीछे चलने लगा । कुछ दूर जाने पर वह उसका वध करने को अस्त्र खोजने लगा । इसी समय उस बकरे ने अपने खुरों से कुछ जमीन खोदी और वहीं उसे खड्ग दिखाई दिया । उसी हथियार से वह उसे काट कर खा गया । इसे ही 'अजाकृपानीय न्याय' कहा जाता है ।।141॥ सारांश यह है कि विश्वासघाती का संगम नहीं करना चाहिए ।।

आलस्य से हानि और मनुष्य कर्त्तव्य :-

अलसः सर्वं कर्मणामनधिकारी ।।144॥ प्रमादवान् भवत्यवश्यं विद्विषां वशः ।।145॥

कमप्यात्नोऽनुकूलं प्रतिकूलं न कुर्यात् ।।146॥ प्राणादपि प्रत्यवायो रक्षितव्यः ।।147॥

अन्वयार्थ :- (अलसः) प्रमादी (सर्वं) सम्पूर्ण (कर्मणाम्) राजकीय कार्यों के (अनधिकारी) अयोग्य [भवति] होता है ।।144॥ (प्रमादवान्) प्रमादी मनुष्य (अवश्यम्) निश्चय ही (विद्विषाम्) शत्रु के (वशः) वश में (भवति) हो जाता है ।।145॥ (कमपि) किसी को भी (आत्मनः) अपने (अनुकूलं) मित्र को (प्रतिकूलं) शत्रु (न) नहीं (कुर्यात्) बनाये ।।146॥ (प्राणात्) प्राणों से (अपि) भी (प्रत्यवायः) गुप्त रहस्य को (रक्षितव्यः) रक्षित करना चाहिए ।।

विशेषार्थ :- प्रमादी मनुष्य समस्त राजकीय कार्यों के अयोग्य होता है । राजपुत्र :-

आलस्योपहतान् योऽत्र विदधात्यधिकारिणः ।
सूक्ष्मेष्वपि च कृत्येषु न सिद्धये त्तानितस्य हि ॥1॥

अर्थ :- जो नृपति अल्प छोटे-छोटे कार्यों के लिए भी प्रमादीजनों को नियुक्त करता है वह किसी भी कार्य में सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता ।।145॥

जो मनुष्य कर्त्तव्य पालन में उत्साही व सावधान नहीं है वह शत्रुओं के वश हो जाता है । जैमिनि विद्वान ने लिखा है :-

सुसूक्ष्मेष्वपि कृत्येषु शैथिल्यं कुरुतेऽत्र यः ।
स राजा रिपुवश्यः स्यात् प्रभूत विभवोऽपि सन् ॥1॥

अर्थात् जो राजा छोटे-छोटे कार्यों में भी शिथिल बना रहता है वह ऐश्वर्य सम्पन्न होकर भी शत्रुओं से परास्त हो जाता है । राजा को हर समय सावधान रहना चाहिए ।

नीतिवान नृप का कर्त्तव्य है कि अपने अनुकूल को शत्रु नहीं बनावे ।। राजपुत्र का कथन है :-

मित्रत्वं वर्तमानं यः शत्रुरूपं कियान्नृपः ।
स मूर्खो भ्रम्यते राजा अपवादं च गच्छति ॥1॥

जो राजा मित्र को शत्रु बनाता है, वह अपनी इस मूर्खतावश अनेक कष्टों का सामना करता है और भ्रमित हो अपवाद का भाजन भी होता है ।।

मनुष्य को प्राणों से भी अधिक अपने गुप्त रहस्य की रक्षा करना चाहिए ।। भागुरि विद्वान का कथन है :-

आत्मच्छिद्रं परक्षेत जीवादपि महीपतिः ।
यतस्तेन प्रलब्धेन प्रविश्य घ्नन्ति शत्रवः ॥1॥

भूपति को अपने जीवन से भी अधिक अपने गुप्त कार्यों की सुरक्षा रखना योग्य है क्योंकि छिद्रान्वेशी शत्रुगण रहस्यभेद हो जाने पर उसे मार डालते हैं ।। समस्त कथन का सार है राजनीत में पेचीदे दाव पेचों में सावधान रहना ।। अपनी शक्ति ज्ञात कर शत्रु का सामना करना अन्यथा हानि :-

आत्मशक्तिमजानतो विग्रहः क्षयकाले कीटिकानां पक्षोत्थानमिव ।।148॥

कालमलभमानोऽपकर्तरि साधु वर्तेत ॥149॥

अन्वयार्थ :- (आत्मशक्तिः) स्व सामर्थ्य (अजानतः) नहीं जानकर (विग्रहः) संग्राम करना (क्षयकाले) मरण समय (कीटकानाम्) पतंगों के (पक्षोत्थानम्) पंखों खोलने के (इव) समान है ।। 148॥ (कालम्) समय (अलभमानः) प्राप्त नहीं करने वाला (अपकर्तरि) अपकार करने वालों में (साधु) मैत्रीरूप (वर्तेत) वर्तन करे ।।

विशेषार्थ :- जो राजा अपनी सामर्थ्य सैनिक शक्ति व कोष शक्ति को न समझ कर बलवान शत्रु के साथ संग्राम करता है वह अपना नाश करता है । जिस प्रकार पतंगा दीप अथवा अन्य प्रकाश पर जाने की चेष्टा करता है तो पंखों को उठाता है और उसकी लौ में झुलस कर मृत्यु प्राप्त करता है । इसी प्रकार निर्बल राजा का बलवन्त शत्रु के साथ युद्ध करने का प्रयास कर मृत्यु का वरण करता है । गुरु विद्वान ने कहा है :-

अचलं प्रोन्नतं योऽत्ररिपुं याति यथाचलम् ।
शीर्णदन्तो निवर्तेत स यथा मत्तवारणः ॥1॥

अर्थात् जिस प्रकार मदोन्मत्त हस्ती विशाल समुन्नत पर्वत का भेदन करता है, परन्तु जब उसके दन्त (खींसे) टूट जाते हैं तब हताश वापिस आता है, उसी प्रकार जो राजा अपनी शक्ति, सैन्यबल और कोषबल न देखकर बलवान राजा के साथ युद्ध ठानता है उसे अपनी शक्ति नष्ट करके परास्त होकर वापिस लौटना पड़ता है ।

विजिगीषु नृपति का कर्त्तव्य है कि जब तक अनुकूल परिस्थितियाँ, साधन प्राप्त न हों तब तक बलवान शत्रु के साथ साम नीति का प्रयोग करे । भागुरि ने कहा है :-

बलवन्तं रिपुं दृष्ट्वा तस्य छन्दोऽनुवर्तयेत् ।
बलात्त्या स पुनस्तं च भिन्द्यात् कुम्भमिवाश्मनः ॥1॥

अर्थ :- विजय के इच्छुक राजाओं का कर्त्तव्य है शत्रु को बलिष्ठ देखकर उसकी आज्ञानुसार चलना चाहिए। जिस समय स्वयं शक्तिशाली बन जाय, उसी समय आज्ञानुसार चलना चाहिए । जिस समय स्वयं शक्तिशाली बन जाय, उसी समय पत्थर से घड़े फोड़ने के समान शत्रु को नष्ट कर दें । समय का मूल्य है ।।149॥

उक्त कार्य का दृष्टान्त व अभिमान से हानि :-

किन्नु खलु लोको न वहति मूर्ध्ना दग्धुमिन्धनम् ॥150॥
नदीरयस्तरुणामंहीन् क्षालयन्नप्युन्मूलयति ॥151॥
उत्सेको हस्तगतमपि कार्यं विनाशयति ॥152॥

अन्वयार्थ :- (खलु) निश्चय से (किन्तु) क्या कोई (लोक) मनुष्य (दग्धुम्) जलाने को (ईंधनम्) लकड़ियों को (मूर्ध्ना) मस्तक से (न) नहीं (वहति) ले जाता है ? (नदीरयः) नदी का प्रवाह (तरुणाम्) वृक्षों के (अंहीन्) चरणों-जड़ों को (क्षालयन्) प्रक्षालन करता हुआ (अपि) भी (न) नहीं (उन्मूलयति) जड़ से उखाड़ता है ? (उत्सेकः) घमण्डी (हस्तगतम्) अधिकार प्राप्त (अपि) भी (कार्यम्) कार्य को (विनाशयति) नष्ट करता है ।। 150 ॥151 ॥152 ॥

विशेषार्थ :- जिस प्रकार ईंधन को शिर पर ढोकर समय आने पर जला कर भस्म कर दिया जाता है, उसी प्रकार प्रथम प्रबल शत्रु को प्रीति से मित्र बनाकर पुनः शक्ति और अवसर पाकर उससे युद्ध कर परास्त करना चाहिए।

दग्धुंवहति काष्ठानि तथापि शिरसा नरः ।
एवं मान्योऽपिवैरी यः पश्चाद्वध्यः स्वशक्तितः ।।1॥

शुक्र विद्वान

अर्थ :- जलाने के उद्देश्य से मनुष्य प्रथम लकड़ियों को सिर पर ढोता है और पुनः जलाकर भस्म करता है । इसी प्रकार शक्तिशाली शत्रु को प्रथम सम्मान प्रदान कर पुनः स्वशक्ति बढ़ने पर उसे परास्त करे ।।151॥

नदी का वेगप्रथम अपने तट पर आसीन वृक्षराजि को जडों-चरणों का प्रक्षालन करता है, पुनः उन्हें जड़ से उन्मूलन कर देता है । इसी प्रकार बुद्धिशाली महीपति को बलवान शत्रु को प्रथम सम्मान दे सन्तुष्ट करे पुनः बध करने में प्रवृत्त होवे ।। शुक्र विद्वान ने यही सिद्धान्त बताया है :-

क्षालयन्नपि वृक्षांह्लीन्नदीवेगः प्रणाशयेत् ।
पूजयित्वाऽपि यद्वच्च शत्रुर्वध्यो विचक्षणैः ॥1॥

विजयाभिलाषी नृप को शत्रु से प्रियवचन बोलना चाहिए । तथा विडाल से समान चेष्टा करनी चाहिए । जब शत्रु पूर्णतः विश्वस्त हो जावे, तब उस पर आक्रमण कर उसे धराशायी करे । विडाल चूहे की ताक में छुप कर देखता है जब वे विश्वस्त हो कूदते हैं, पकड कर नष्ट कर देता है । राजनीति भी इसी प्रकार सफल होती है । परन्तु यह एकान्त नियम नहीं है ।

शत्रु विनाश के ज्ञाता को लाभ का दृष्टान्त और नैतिक कर्त्तव्य :-

नाल्पं महद्वापक्षेपोपायज्ञस्य ।। पाठान्तर-नाल्पं महद्वाप्यकापापायज्ञस्य ।।153॥

नदीपूरः सममेवोन्मूलयति तीरजतृणांह्रिपान् ॥154॥

युक्तमुक्तं वचो बालदपि गृह्णीयात् ॥155॥

अन्वयार्थ :- (अपक्षेपः) शत्रुविनाश (उपायज्ञः) उपाय के ज्ञाता को (अल्पः) हीन शक्ति (वा) अथवा (महद्) महान् शक्ति का (न) कोई महत्त्व नहीं है ।।154॥ (नदीपूरः) नदी का पूर (समम) एक साथ (एव) ही (तीरज) तट पर उत्पन्न (तृणान्) घास को (अंघ्रिपान्) वृक्षों को (उन्मूलयति) उखाड़ फेंकता है । (युक्तम्) युक्तिसंगत (उक्तं) कहा (वचः) वचन (बालात्) बच्चे से (अपि) भी (गृह्णीयात्) ग्रहण करना चाहिए ।।

विशेषार्थ :- संधि-विग्रहादि के ज्ञाता के समक्ष निर्बल हो सबल शत्रु अनायास वश हो जाता है । शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

वधोपायान् विजानाति शत्रूणां पृथिवीपतिः ।
तस्याग्रे च महान् शत्रुस्तिष्ठते न कुतो लघुः ॥1॥

अर्थ :- जो राजा शत्रुबध के उपाय भलीभांति जानता है । उसके सामने महान प्रचुर सैन्यादि सम्पन्न शत्रु भी नहीं ठहर सकता, पुनः हीनशक्ति वाले की बात ही क्या ?

जिस प्रकार नदी तीव्र वेग-प्रवाह तटवर्ती वृक्षों तृणों को एक साथ उन्मूलन कर देता है, उसी प्रकार शत्रु विनाश के उपायों का ज्ञाता विजयेच्छु नृप बलवान शत्रुओं को भी जड़मूल से नष्ट कर देते हैं । गुरु विद्वान ने भी कहा है :-

पार्थिवो मृदुवाक्यैर्यः शत्रुनालापयेत् सुधीः ।
नाशं नयेच्छनैस्तांश्च तीरजान् सिन्धुपूरवत् ॥1॥

अर्थ :- जिस प्रकार नदी का पूर उसके तटवर्ती वृक्षों को उखाड़ फेंकता है उसी प्रकार प्रियवादी, मधुर भाषी भी, बुद्धिवन्त राजा शत्रु को विश्वास पात्र बना देते है पुनः पुनः विश्वासपात्र बनकर उसे अवसर पाकर नष्ट कर देता है।

नीतिवान राजा या पुरुष का कर्त्तव्य है कि न्याय-युक्त योग्य वचन बालक भी कहे तो ग्रहण कर लेना चाहिए। विदुर विद्वान ने भी कहा है :-

लघुं मत्वा प्रलापेत बालाच्चापि विशेषतः ।
यत्सारं भवति तद्ग्राह्यं शिलाहारी शिलं यथा ॥1॥

अर्थ :- जिस प्रकार खेत में से ऊमी (धान्य की बाल) को एक-एक कर संचय कर लेता है कृषक, उसी प्रकार चतुर मनुष्य को सारभूत बातें बच्चों से भी ग्रहण कर लेना चाहिए । लघु समझकर न्याय युक्त वार्ता की अवहेलना नहीं करना चाहिए ।। अब इसी का दृष्टान्त व निरर्थक वाणी से हानि बतलाते हैं :-

रवेरविषये किं न दीपः प्रकाशयति ॥156॥
अल्पमति वातायन विवरं बहूनुपलम्भयति ॥157॥

पतिंबरा इव परार्थाः खलु वाचस्ताश्च निरर्थकं प्रकाश्यमानाः शपयन्त्यवश्यं जनयितारम् ।।158॥

अन्वयार्थ :- (रवेः) सूर्य के (अविषये) नहीं जाने योग्य क्षेत्र में (किं) क्या (दीपः) प्रदीप (न) नहीं (प्रकाशयति) प्रकाशित करता है ? करता है ।।156॥ (अल्पम्) छोटी (अपि) भी (वातायनविवरम्) खिड़की का छिद्र (बहून्) बहुत पदार्थों को (उपलम्भयति) प्राप्त करती है - दिखाती है (पतिम्बरा) कन्या (इव) समान (परार्थाः) दूसरों को (खलु) निश्चय से (वाचः) वक्ता की वाणी संतोषकर होती है, (च) और (निरर्थकम्) यदि अप्रासंगिक (प्रकाश्यमानाः) कथन करे तो (अवश्यम्) अवश्य ही (जनयितारम्) वक्ता को (शपयन्ति) तिरस्कारी होती है ।

विशेषार्थ :- जिस स्थान में सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँचता वहाँ लघु दीप प्रकाश करता है उसी प्रकार महापुरुष-विद्वान के गम्य न हो वह बात-युक्ति लघुवयस्क व लघुबुद्धि वाले से भी प्राप्त हो जाती है । क्योंकि नन्हा-सा झरोखा भी कक्षवर्ती बडे-बडे पदार्थों को दिखाने में सक्षम होते हैं । बालक या अज्ञ भी विशेष युक्ति दर्शा सकता है । अतः किसी की अवहेलना करना उचित नहीं है । हारीत विद्वान ने कहा है :-

गवाक्ष विवरं सूक्ष्मं यद्यपि स्याद्विलोकितम् ।
प्रकाशयति यद्भूरि तद्वद् बालप्रजल्पितम् ।।1॥

अर्थ :- जिस प्रकार छोटा-सा रोशनदान भी बहुत सी बड़ी वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार यदा-कदा बाल वार्ता भी महत्वपूर्ण युक्तियुक्त सिद्ध होती है ।

जिस प्रकार विवाह योग्य कन्याएँ अपनी इच्छानुसार पतिवरण कर उसके इष्ट की सिद्धि करती हैं उसी प्रकार श्रेष्ठ वक्ताओं का वचन भी श्रोताओं की मनोभिलाषा तृप्त करने वाली होती है । वर्ग विद्वान ने भी किया है :-

वृथालापं च यः कुर्यात् स पुमान् हास्यतां व्रजेत् ।
पतिंवरा पिता यद्वदन्यस्यार्थे वृथा ददत् ॥1॥

अर्थ :- जो मनुष्य निरर्थक वाणी बोलता है उसकी हंसी होती है । जिस प्रकार स्वयं स्वयम्बर में पति चुनने वाली कन्या को यदि अन्य के साथ विवाह दे तो वह पिता का आदर नहीं करती ।।

मूर्ख व जिद्दी को उपदेश देने से हानि :-

तत्र युक्त मप्युक्त मयुक्त समं यो न विशेषज्ञः ।।159॥ "तत्रयुक्तमप्युक्तमनुक्तसमं" भी पाठ है :-

स खलु पिशाचकी वातकी वा यः परेऽनर्थिनी वाचमुद्दीरयति ।।160॥ "पातकी" भी है ।

अन्वयार्थ :- (यः) जो (विशेषज्ञः) विशिष्टज्ञानी (न) नहीं (तत्र) उसे (युक्तम्) योग्य भी (उक्तम्) कथन (अयुक्त) व्यर्थ (समम्) समान [अस्ति] है । (सः) वह पुरुष (खलु) निश्चय ही (पिशाच की) भूतग्रस्त (वा) अथवा (वातकी) सन्निपात ग्रस्त है (यः) जो (परे) दूसरों को (अनर्थिनि) अनिष्टकारक (वाचम्) वाणी (उद्दीरयति) बोलता है ।।160॥

विशेषार्थ :- जो किसी के कथन पर पूर्वापर विचार नहीं करता अथवा किस अभिप्राय से क्या कहा गया है इसे नहीं समझता, उसके समक्ष उचित वार्ता करना भी अयोग्य के सदृश है । सारांश यह है कि मूर्ख को उपदेश देना निष्फल है ।। वर्ग विद्वान ने कहा है :-

अरण्यरुदितं तत्स्यात् यन्मूर्खस्योपदिश्यते ।
हिताहितं न जानाति जल्पितं न कदाचन ॥1॥

अर्थ :- मूर्ख को उपदेश देना अरण्य में रोदन करने के समान है । व्यर्थ है क्योंकि वह हिताहित का विचार नहीं करता । अतः बुद्धिवन्तों को उससे बात नहीं करना चाहिए ।

जिस वक्ता की बात श्रोता सुनना नहीं चाहते और वह बोलता ही रहता है उसकी लोग निन्दा करते हैं कि "यह पिशाच से डशा है अथवा इसे वायुरोग हो गया है इसीसे यह निरर्थक वार्तालाप कर रहा है ।।160॥ भागुरि विद्वान भी कहते हैं :-

अश्रोतुः पुरतो वाक्यं यो वदेद विचक्षणः ।
अरण्यरुदितं सोऽत्र कुरुते नात्र संशयः ॥1॥

अर्थात् जो वक्ता उसकी बात नहीं सुनने वाले के सामने उपदेश करता है वह मूर्ख है । क्योंकि निसन्देह वह अरण्यरोदन कर रहा है ? वचन वहीं कहना जहाँ सफल हो ।।160॥

नीतिशून्य पुरुष की क्षति :-

विध्यायतः प्रदीपस्येव नयहीनस्य बुद्धिः ।।161॥ "बुद्धि" भी पाठ है ।

अन्वयार्थ :- (विध्यायतः) बुझने वाला (प्रदीपस्य) दीपक के (इव) समान (नय) नीति (हीनस्य) रहित की (वृद्धिः) उन्नति है ।

विशेषार्थ :- अस्त होने वाला दीपक तेज प्रकाशित होकर तत्काल बुझकर अंधकार फैलाता है उसी प्रकार अन्यायी राजा का या मनुष्य का वैभव कुछ ही समय के लिए प्रसारित होकर नष्ट हो जाता है । नारद विद्वान ने कहा है :-

चौर्यादिभिः समृद्धिर्या पुरुषाणां प्रजायते ।
ज्योतिष्कस्येव सा भूति नाशकाल उपस्थिते ।।1॥

अर्थ :- अन्यायी मनुष्यों का अत्याचार, तस्करी आदि से वृद्धिगंत उन्नति, उस दीपक के समान है जो बुझने के लिए अपना पूर्ण प्रकाश व्याप्त कर देता है ।।

कृतघ्न सेवकों की निन्दा :-

जीवोत्सर्गः स्वामिपदमभिलषतामेव ।।162॥

अन्वयार्थ :- (जीवोत्सर्गः) सेवक (स्वामिपदम्) मालिक के पद को (अभिलषिताम्) अभिलाषा करने वाला (एव) ही [कृतघ्नः] कृतघ्न है ।।

विशेषार्थ :- जो सेवक व अमात्य आदि अपने स्वामी के पद राज्य की कामना करते हैं वे कृतघ्न मृत्यु प्राप्त करते हैं । अतः उन्हें स्वामी पद की कामना उचित नहीं ।।

तीव्रतम अपराधियों को मृत्युदण्ड देने से लाभ, व क्षुब्धराजकर्मचारी :-

बहुदोषेषु क्षणदुःख प्रदोऽपायोऽनुग्रह एव ।।163॥

स्वामिदोषस्वदोषाभ्यामुपहतवृत्तयः क्रुद्ध-लुब्ध-भीतावमानिताःकृत्याः ।।164॥

अन्वयार्थ :- (बहुदोषेषु) अधिक अपराधी (उपायः) मृत्यु दण्ड का पात्र किया जाय (क्षण दुःख प्रद) क्षणभर को दुःखप्रद (अनुग्रहः) उपकार (एव) ही है ।

विशेषार्थ :- तीव्रतम अपराधियों का विनाश राजा को क्षणिक काल के लिए दुखकारी होता है । वास्तव में यह उसका उपकार ही समझना चाहिए । क्योंकि इससे राज्य की श्री वृद्धि होती है ।। हारीत विद्वान ने भी कहा है :-

अवध्या अपि वध्यास्ते ये तु पापा निजा अपि ।
क्षणदुःखे च तेषां च पश्चात्तच्छ्रेयसे भवेत् ।।1॥

अर्थ :- पापी दुष्ट जीव मनुष्य अबध्य है और पापाचार में रत हो तो उसे मृत्यु दण्ड ही उचित है क्योंकि यह तत्क्षण दुःख कारक होकर भी भविष्य के लिए महासुखद और राज्य व्यवस्था को समुन्नत करने वाला होता है ।।163॥

अन्वयार्थ :- (स्वामिदोषः) राजा के दोष व (स्वदोषाभ्याम्) अपने ही अपराधों द्वारा (उपहतः) नष्ट (वृत्तयः) जीविका वाले पुरुष (कृत्याः) कृत्या के (इव) समान (क्रुद्ध) कुपित (लुब्ध) लालची (भीता) भयवान (अवमानिताः) अपमानित [ज्ञातव्यः] जानना चाहिए ।।

विशेषार्थ :- मन्त्री, अमात्य, सेवक आदि राजदोष से (ईर्ष्या-द्वेषादि से) व स्वयं किये अपराधों के कारण जिनकी जीविका नष्ट कर दी गई है वे कृत्या देवी (जिसे जारण-मारणादि प्रयोगों को अयथाविधि सिद्ध करने पर वह क्रुद्ध हो साधक को ही समाप्त कर देती है) समान कुपित, क्षुब्ध, अपमानित, हुए नृप को ही समाप्त करने में उद्यत हो जाते हैं । अतः राजा को इस प्रकार के लोगों से सावधान रहना चाहिए ।। उन्हें निम्न प्रकार वश करे - नारद कहते हैं :-

नोपेक्षनीयाः सचिवाः साधिकाराः कृताश्च ये ।
योजनीय स्वकृत्ये ते न चेत् स्युर्वधकारिणः ।।1।।

अर्थ :- राजा को पूर्व में अधिकारी पदासीन मंत्री, अमात्य सेवकों आदि राज कर्मचारियों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए । उन्हें स्व वश में करना चाहिए । यदि वे राजघातक न हों तो पुनः उन्हें उनके पदों पर नियुक्त कर लेन चाहिए ।।164।।

क्षुब्धों का वशीकरण व राजा का कर्त्तव्य :-

अनुवृत्तिरभयं त्यागः सत्कृतिश्च कृत्यानां वशोपायाः ।।165।।
क्षयलोभविराग कारणानि प्रकृतीनां न कुर्यात् ।।166।।

अर्थ :- (कृत्यानाम्) दुष्कर्मों का (वशोपायाः) वश करने के उपाय (अनुवृत्तिः) पुनपद प्रदान, (अभयम्) अभयदान (त्यागः) दान देना (च) और (सत्कृतिः) सम्यक् व्यवहार ।।165।। (प्रकृतीनाम्) स्वभाव सम्बन्धी (क्षय-लोभ-विराग-कारणानि) नाश, लालच, विरक्ति के कारणों को (न) नहीं (कुर्यात्) करे ।।

विशेषार्थ :- सेवक, अमात्यादि राजकर्मचारी यदि पदच्युत या रुष्ट हो गये हैं तो वे 'कृत्या' समान राज्य व राजा के घातक हो जाते हैं उन्हें वश करने को उनके अनुकूल प्रवृत्ति, उन्हें अभयदान, आजीविका दान, सत्क्रियाओं द्वारा वश करना चाहिए ।

राजा का कर्त्तव्य है कि अपने राज्य के अंग मन्त्री और सेनापति आदि राज्यांगों को नष्ट न हों उस प्रकार किया करे । जिन कारणों से ये कर्त्तव्य च्युत न हो वैसा उपाय करना चाहिए । एवं लोभ का परित्याग कर उदारता से काम लेना चाहिए ।। वशिष्ठ ने कहा है :-

क्षयोलोभोविरागश्च प्रकृतीनां न शस्यते ।
कुतस्तासां प्रदोषेण राज्यवृद्धिः प्रजायते ।।1।।

तृतीयचरण संशोधित है ।

अर्थः- राजा को प्रकृति-अमात्यादि के नष्ट और विरक्त होने के साधनों का संग्रह तथा लोभ करना उचित

नहीं है। क्योंकि प्रकृति के कष्ट, दुष्ट और विरक्त होने से राज्य की वृद्धि किस प्रकार हो सकती है? नहीं हो सकती ॥166॥

प्रकृति क्रोध से हानि व अवध्य अपराधियों के प्रति कर्त्तव्य:-

सर्वकोपेभ्यः प्रकृतिकोपो गरीयान् ॥167॥

अन्वयार्थः- (सर्वकोपेभ्यः) सभी कोपों में (प्रकृतिकोपः) राजकर्मचारियों का क्रुद्ध होना (गरीयान) बलवान है॥

अन्य प्रजादि कुपित हो तो राज-काज की उतनी क्षति नहीं जितनी कि सचिव-मंत्री, दूत, सेनादि राजकर्मचारियों के कुपित होने से होती है, क्योंकि इनके कुपित होने से राज्य की जड़ ही नष्ट हो जाती है॥ राजपुत्र ने कहा है--

राज्ञां छिद्राणि सर्वाणि विदुः प्रकृतयः सदा ।
निवेद्य तानि शत्रुभ्यस्ततो नाशंनयन्ति तम् ॥1॥

अर्थ :- अमात्य आदि कर्मचारी राजा के सर्व दोष, कमजोरियों, छिद्रों को जानते हैं । अतएव विरुद्ध होने पर प्रकृति वर्ग शत्रु राजाओं को प्रकट कर राजा को मरवा देंगे । कहावत है "घर का भेदी लंका ढावे" विभीषण ने स्वोदर भ्राता रावण का भेद प्रकट कर उसको राम द्वारा मरवा डाला ।। अतएव राजा को राज कर्मचारियों से विरोध नहीं करना चाहिए । उन्हें सन्तुष्ट रखना ही श्रेयस्कर है ।।167॥

अचिकित्स्यदोष दुष्टान् खनिदुर्गसेतुबन्धाकर कर्मान्तरेषु क्लेशयेत् ।।168॥

अन्वयार्थ :- (अचिकित्स्य) उपायरहित (दोष) दोष (दुष्टान्) युक्त अपराधियों को (खनि-दुर्ग-सेतुबन्ध-आकर कर्मान्तरेषु) खाई, खोदना, किला, पुल, खान खोदनादि कार्यों में लगाकर (क्लेशयेत्) पीड़ित करे । कष्ट दे ।

विशेष :- जिन राजद्रोहियों का परिवार-कौटुम्बी सम्बन्धियों के कारण मृत्यु दण्डादि औषधि करना संभव या योग्य न हो तो उन्हें खाई खोदना, किला बनाना, सेतु निर्माण करना, खान खोदना आदि कष्ट साध्य कार्यों में नियुक्त कर क्लेशित करना चाहिए । शुक्र विद्वान ने इस विषय में लिखा है :-

अवध्याज्ञातयो ये च बहुदोषा भवन्ति च ।
कर्मान्तरेषु नियोज्यास्ते येन स्युर्व्यसनान्विताः ।।1॥

अर्थ :- जो महा अपराधी राजवंशज है, वध करने के योग्य नहीं हैं, राजा को चाहिए कि उन्हें सरोवर, कूप खुदवाना आदि विभिन्न कार्यों में संलग्न कर दण्डित करे । इससे वे दुष्टता त्याग शिष्ट बन सकते हैं ।।168॥

कथागोष्ठी अयोग्य और उनके साथ कथा-गोष्ठी करने से हानि :-

अपराध्यैरपराधकैश्च सहगोष्ठीं न कुर्यात् ।।169॥

"कुर्वीत" भी पाठ है ।

अन्वयार्थ :- राजा को (अपराध्यैः) अपराधियों के साथ (च) और (अपराध कैः) अपराध कराने वालों के साथ (सह) साथ (गोष्ठीम्) कथा-वार्ता (न) नहीं (कुर्यात्) करे ।

विशेष :- अपराध करने व कराने वाले शत्रु उच्छृंखल, छिद्रान्वेषी और भयंकर विद्रोही, वैर-विरोध करने वाले होते हैं । इसलिए भूप को शत्रुकृत उपद्रवों से रक्षणार्थ उनके साथ कथा गोष्ठी नहीं करना चाहिए । नारद विद्वान ने भी कहा है :

ते हि गृहप्रविष्ट सर्पवत् सर्वव्यसनानामागमन द्वारम् ॥170॥

अन्वयार्थ :- (ते) वे अपराधी (हि) निश्चय से (गृहप्रविष्टः) घर में घुसे (सर्पः) सांप (वत्) समान (सर्वव्यसनानाम्) सम्पूर्ण आपत्तियों का (आगमनम्) आने का (द्वारम्) दरवाजा है ।

विशेष :- जिस प्रकार घर में प्रविष्ट अहि घातक होता है उसी प्रकार सजापाये हुए और अपराधी लोग में परस्पर वार्तालाप के माध्यम से रहस्यपूर्ण छिद्रों को द्वेषी राजादि को प्रकट कर देंगे और राज्य को नष्ट कर देंगे । राजा को अनेक कष्ट पहुँचाने में ये दत्तचित्त रहते हैं । "शुक्र" विद्वान कहते हैं :-

परिभूता नरा ये च कृतो यैश्च पराभवः ।
न तैः सह क्रियाद गोष्ठीं य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥1॥

अर्थ :- और भी जो अपने ऐश्वर्य का इच्छुक है उस उपराधी व आपराध का दण्ड भोक्ता के साथ कथा-गोष्ठी नहीं करना चाहिए। क्योंकि वे अपराधी :-

यथाहिर्मन्दिराविष्टः करोति सततं भयम् ।
अपराध्याः सदोषाश्च तथा तेऽपि गृहागताः ॥1॥

अर्थ :- जिस प्रकार अपने घर में प्रविष्ट अहि (सर्प) निरन्तर भयोत्पादक होता है उसी प्रकार अपराध करने वाला और अपराध का दण्डभोक्ता दोनों ही कृष्ण नाग वत् परिहार्य हैं, त्यागने योग्य हैं ।

क्रोधी के प्रति कर्त्तव्य :-

नकस्यापि क्रुद्धस्य पुरतस्तिष्ठेत् ॥171॥

अन्वयार्थ :- (कस्य) किसी (क्रुद्धस्य) क्रोधी के (अपि) भी (पुरतः) सामने (न) नहीं (तिष्ठेत्) ठहरे।

विशेषार्थ :- क्रोध अन्धा होता है, मनुष्य को भी अन्ध-विवेकशून्य बना देता है । इसलिए कुपित व्यक्ति के समक्ष नहीं जाना चाहिए क्योंकि वह निरपराध को भी मार डालता है अपराधी की क्या बात ? गुरु विद्वान ने भी कहा है :-

यथान्धः कुपितोहन्यात् यच्चैवाग्रेव्यवस्थितम् ।
क्रोधान्धोऽपि तथैवात्र तस्मात्तं दूरतस्त्यजेत् ॥1॥

अर्थ :- जिस प्रकार अन्धा पुरुष कुपित होने पर जो कोई भी सामने आता है उसे ही मार देता है । उसी प्रकार क्रोधी पुरुष भी बिना विचारे चाहे जिसे जो सामने आया उसे ही मार डालता है ।। अतः क्रोधी के सामने नहीं जाना चाहिए ।।171॥ कहा है :-

क्रुद्धो हि सर्प इव यमेवाग्रे पश्यति तत्रैव रोष विषमुत्सृजति ।।172॥

अन्वयार्थ :- (हि) निश्चय से (क्रुद्धो) रुष्ट (सर्प) अहि (इव) समान (यमेव) जिसको भी (अग्रे) सामने (पश्यति) देखता है (तत्रैव) उसी समय (रोषविषम्) कोप विष को (उत्सृजति) उगलता है ।

विशेष :- कोपाविष्टपुरुष जिसको भी समक्ष पाता है उसी पर विषधर सर्प के समान झपटता है और कोप विष उगलता है । अभिप्राय यह है कि सर्प जिस प्रकार दोषी-निर्दोषी जो भी सामने आया उसे ही डस डालता है उसी प्रकार क्रुद्ध पुरुष की दशा है । तथाहि :-

अप्रतिविधातुरागमनाद्वरमनागमनम् ।।173॥

अन्वयार्थ :- (अप्रतिविधिः) प्रयोजन सिद्ध न करने वाला (आतुराः) व्यथित पुरुष (आगामनात्) आने से (वरम्) श्रेष्ठ (अनागमनं) नहीं आना है ।

विशेषार्थ :- प्रयोजन सिद्ध करने में असमर्थ व्यक्ति के समक्ष जाने की अपेक्षा नहीं जाना ही उत्तम है । क्योंकि कार्य सिद्ध न हो तो व्यर्थ समय खोने से क्या प्रयोजन ? कुछ भी नहीं । भारद्वाज विद्वान ने भी कहा है :-

प्रयोजनार्थमानीतो यः कार्यंतन्न साधयेत् ।
आनीतेनापि किं तेन व्यर्थोपक्षयकारिणा ।।1॥

अर्थ :- प्रयोजन सिद्धि के लिए बुलाया गया मनुष्य वैद्यादि यदि रोगादि कार्य का शमन नहीं करता तो उसके बुलाने से क्या प्रयोजन ? रोगी विलख रहा हो और वैद्य यों ही आकर जावे, रोगशामित न हो तो उसके बुलाने से क्या प्रयोजन ? कुछ भी नहीं । अपितु आने-जाने में व्यर्थ समय ही बरबाद होता है । क्योंकि निरर्थक व्यक्ति केवल प्रयोजनार्थी के समय को व्यर्थ नष्ट करता है ।।173॥ इत्यलम् ।। इति मन्त्रिसमुद्देशः ।।

इति श्री परम् पूज्य प्रातः स्मरणीय, विश्व वंद्य, चारित्रचक्रवर्ती मुनि कुञ्जर समाधि सम्राट् महान् तपस्वी, वीतरागी सन्त शिरोमणि दिगम्बर जैनाचार्य श्री 108 आदिसागर जी महाराज 'अंकलीकर' के पट्टाधीश परम् पूज्य तीर्थ भक्त शिरोमणि श्री 108 आचार्य महावीर कीर्ति जी महाराज के संघस्था, आचार्य श्री वात्सल्य रत्नाकर, रत्नत्रय मण्डित श्री 108 विमल सागर जी महाराज की शिष्या ज्ञान चिन्तामणि सिद्धान्त विशारदा प्रथम गणिनी आर्यिका 105 श्री विजयामती माता जी द्वारा परम पूज्य तपस्वी सम्राट् सिद्धान्त चक्रवर्ती 108 आचार्य श्री सन्मति सागर जी महाराज के पदपद्म सान्निध्य में विजयोदय हिन्दी टीका में मन्त्रिसमुद्देश नामका 10वां समुद्देश समाप्त हुआ ।।

"।। शुभं भूयात् ।।"

11

पुरोहित - समुद्देश

पुरोहित राजगुरु का लक्षण :-

पुरोहितमुदितोदित कुलशीलं षडंगवेदेदैवे निमित्तेदण्डनीत्यामभिविनीतमापदां दैवीनां मानुषीनां च प्रतिकर्त्तारं कुर्वीत ।।1॥

अन्वयार्थ :- (उदितकुलशीलम्) जो शुद्धकुल, सदाचारी (षडंगवेदे) राजनीति के छ अंग, चार वेद, (दैवे) निमित्त में (निमित्ते) स्वप्नादि फल ज्ञान (दण्डनीत्याम्) दण्डनीति में (अभिविनीतम् आपदाम्) मानुषी आपदा दूर करने में (दैवीनाम्) देवकृत (मानुषीणाम्) मनुष्यकृत (च) और (प्रतिकर्तारम्) अन्य भी प्रतिकार करने में समर्थ (पुरोहितम्) राजगुरु (उदितः) पदासीन (कुर्वीत) करना योग्य है ।

विशेष :- जो कुलीन, सदाचारी, शिक्षा-शिल्प-व्याकरण-निरुक्ति-छंद व ज्योतिष इन वेदाङ्गो का ज्ञाता, ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, व सामवेद अथवा प्रथमानुयोग चरणानुयोग, करणानुयोग व द्रव्यानुयोग का ज्ञाता, ज्योतिष, निमित्त और दण्डनीति विद्या प्रवीण एवं दैवी उल्कापातादि का ज्ञाता, मानुषी आपत्तियों को दूर करने में समर्थ हो ऐसे योग्य पुरुष को राजपुरोहित बनाना चाहिए ।।1॥ शुक्र विद्वान ने कहा है :-

दिव्यान्तरीक्ष भौमानामुत्पातानां प्रशान्तये ।
तथा सर्वापदां चैव कार्यो भूपैः पुरोहितः ।।1॥

अर्थ :- राजाओं को देव, आकाश, नक्षत्र, भूमि पर होने वाले समस्त उपद्रवों के शान्त करने के लिए एवं सर्व आपदाओं के निवारणार्थ पुरोहित नियुक्त करने चाहिए । अर्थात् उपर्युक्त विषयों के ज्ञाता पुरोहित होने योग्य होते हैं ।।1॥

मंत्रपुरोहित के प्रति राजकर्त्तव्य :-

राज्ञो हि मंत्रिपुरोहितौ माता-पितरौ, अतस्तौ न केषुचिद्वाञ्छितेषु विस्तरयेत् ।।2॥ पाठान्तर-विसूरयेत्, दुःखयेत्, वादुर्विनयेत् हैं विस्तरयेत् के स्थान में ।

अन्वयार्थ :- (मंत्रिपुरोहितौ) मंत्र और पुरोहित (हि) निश्चय से (राज्ञः) राजा के (मातापितरौ) माता पिता (अतः) इसलिए (तौ) उनको (केषुचिद्) किसी भी (वाञ्छितेषु) अभिलषित कार्यों में (न विस्तरयेत्) निराश न करे ।

मंत्री पुरोहितों को राजा कभी निराश व दु:खी न करे । अपितु उनका माता-पिता के समान सम्मान करे व सन्तुष्ट रखें । गुरु विद्वान ने कहा है :-

समो मातृपितृभ्यां च राज्ञो मंत्री पुरोहितौ ।
अतस्तौ वाञ्छितैरर्थैं नं कथंचिद्विस्तरयेत् ।।

अर्थ :- मंत्री, पिरोहित राजा के माता-पिता सदृश होते हैं । अत: वह उन्हें किसी इच्छित कार्यों में उन्हें निराश न करें ।

आपत्तियों का स्वरूप व भेद तथा राजपुत्र की शिक्षा का क्रमश: :-

अमानुष्योऽग्निरवर्षमतिवर्ष मरकी दुभिक्षं सस्योपघातो जन्तूत्सर्गो व्याधि-भूत पिशाच-शाकिनी-सर्प-व्याल-मूषक-क्षोभश्चेत्यापद: ।।3।।

शिक्षालापक्रियाक्षमो राजपुत्र: सर्वासु लिपिसु प्रसंख्याने पदप्रमाण प्रयोग कर्मणि नीत्यागमेषु रत्न परीक्षायां सम्भोग-प्रहरणोपवाह्यविद्यासु च साधुविनेतव्य: ।।4।।

अन्वयार्थ :- (अमानुष्य:) उल्का, विजली पात (अग्नि:) आग (अवर्ष:) अनावृष्टि (अतिवर्ष:) अतिवृष्टि (मरकी) महामारी रोग (दुभिक्षम्) दुष्काल (सस्योपघात:) टिड्डी दल (जन्तूत्सर्ग:) हिंसक जीवों से घात (व्याधि) शरीर पीड़ा (भूत-पिशाच-डाकिनी) व्यन्तर बाधा (सर्प-व्याल-मूषक) अहि, भुजंग, चूहा (च) और (क्षोभ:) कष्ट (इति) ये (आपदा:) आपत्तियाँ [सन्ति] हैं ।।3।। (शिक्षालाप क्रिया) वक्तत्व कला (क्षम:) समर्थ (सर्वासु) समस्त (लिपिसु) लिपियों में (प्रसंख्याने) गणित, (पदप्रमाण प्रयोग कर्मणि) व्याकरणादि कार्यों में (नीति) न्याय (आगमेषु) आगम (रत्नपरीक्षायाम्) रत्नों की जांच में (सम्भोग) कामशास्त्र, (प्रहरणोपवाह्य विद्यासु) शस्त्रविद्या हस्ती-अश्वादि वाहन विद्या में (च) और कार्यों में (राजपुत्र:) राजकुमार (साधु) सम्यक प्रकार (विनेतव्य:) शिक्षित होना चाहिए ।

विशेष :- राज पुत्र को भाषण कला में प्रवीण करना चाहिए । सार्वजनिक सभाओं में बोलने की कला आना चाहिए। पुन: समस्त भाषाओं, लिपियों, संख्याओं, व्याकरण, गणित, न्याय, नीतिशास्त्र, रत्नपरीक्षा, कामशास्त्र, शस्त्रविद्याहस्ती, अश्व संचालन क्रिया आदि विद्याओं में निपुण होना चाहिए ।।3-4।। राजपुत्र विद्वान ने भी कहा है :-

कुमारो यस्य मूर्खो स्यान्न विद्यासु विचक्षणः ।
तस्य राज्यं विनश्येत्सदप्राप्त्या नात्र संशयः ।।1।।

अर्थ :- जिसका राजकुमार विद्याओं में निपुण नहीं होता मूर्ख होता है, उसका राज्य निश्चय से विनाश को प्राप्त होता है ।। निसन्देह नष्ट हो जाता है ।।1।।

गुरु सेवा के साधन, विनय का लक्षण, व उसका फल क्रमश: :-

अस्वतन्त्र्यमुक्तकारित्वं नियमो विनीतता च गुरु पासन कारणानि ।।5।।

व्रत विद्यावयोधिकेषु नीचैराचरणं विनयः ।।6।।

पुण्यावाप्तिः शास्त्ररहस्यपरिज्ञानं सत्पुरुषाधिगम्यत्वं च विनयफलम् ।।7।।

अन्वयार्थ :- (अस्वातन्त्र्यः) स्वच्छन्दता (मुक्तकारित्वम्) रहितपना, गुरु आज्ञापालक (नियमः) इन्द्रिय विजयी (विनीतता) विनम्रव्यहार (च) और सदाचारादि (गुरुपासनकारणानि) गुरु उपासना-सेवा के कारण हैं ।।5।। (व्रत विद्या वयः) व्रत, विद्या व उम्र में (अधिकेषु) बड़ों के प्रति (नीचैः) नम्रता का (आचरणम्) व्यवहार (विनयः) विनय है .6।। (पुण्यस्य) पुण्य की (अवाप्तिः) प्राप्ति (शास्त्ररहस्य परिज्ञानम्) शास्त्र के गहन तत्वों का परिज्ञान (च) और (सत्पुरुषाधिगम्यत्वम्) महापुरुषों का समागम (विनयफलम्) विनय का फल है ।

विशेष :- स्वच्छन्द नहीं रहना, गुरु की आज्ञा पालन करना, इन्द्रियों का दमन करना अहिंसादि सदाचार रूपप्रवृत्ति करना एवं नम्रता का व्यवहार ये गुरु सेवा व भक्ति के साधन हैं । इन प्रवृत्तियों से गुरु प्रसन्न रहते हैं ।।5।। गौतम विद्वान ने कहा है :-

सदादेशकरो यः स्यात् स्वेच्छया न प्रवर्तते ।
विनयव्रतचर्याढ्यः सशिष्यः सिद्धिभाग्भवेत् ।।1।।

अर्थ :- जो शिष्य निरन्तर गुरु आज्ञा पालन व अपनी स्वच्छन्द प्रवृत्ति का निरोध करता है और विनय एवं व्रत पालन में तत्पर रहता है उसे विद्यालाभ होता है ।।1।।

अहिंसा, सत्य, अचौर्यादि व्रतों का पालन, सदाचार, विद्याध्ययन और अपने से बड़े-वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्धों में नमस्कारादि विनय करना, उनके साथ नम्रता का व्यवहार करना विनय है । जैनागम में आचार्य कहते हैं "विनयो मोक्खद्वारम् ।" विनय मुक्ति का द्वार है । माता-पिता, शिक्षागुरु, धर्मगुरु आदि महापुरुषों का यथायोग्य विनय, नमन, आज्ञापालनादि करना विनय है ।। विनयशील का यश सम्मान, विद्वता, अध्यनादि सद्गुण वृद्धि को प्राप्ति होते हैं । "गर्ग" ने कहा है :-

व्रतविद्याधिका ये च तथा च वयसाधिकाः ।
यत्तेषां क्रियतेभक्तिर्विनयः स उदाहृतः ।।1।।

अर्थ :- व्रतपालन से जो उत्कृष्ट-पूज्य, एवं विद्याध्ययन से महान और वयोवृद्ध हैं उनकी भक्ति करना "विनय" कहा जाता है ।।1।।6।।

महापुरुष, गुरुजनों व वय-ज्ञान-अनुभव वृद्धों का विनय करने से शास्त्रों का रहस्य ज्ञात होता है, बुद्धि तीक्ष्ण होती है, लौकिक-व्यवहार ज्ञान में नैपुण्य आता है । माता-पितादि की विनय से शिष्टों द्वारा सम्मान व समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है । यह विनय का फल है । इस लोक के समान ही परलोक में भी स्वर्गादि सुख व क्रमशः शिव-मोक्ष प्राप्ति होती है ।।7।।

विद्याभ्यास का फल :-

गुरु वचनमनुल्लंघनीयमन्यत्राधर्मानुचिताचारात्मप्रत्ययवायेभ्यः ।।9।।

पाठान्तर :-

गुरुवचनमनुल्लंघनीयमन्यत्राधर्मानुचिताचारात् ।।9॥

युक्तमयुक्तं वा गुरुरेव जानाति यदि न शिष्यः प्रत्यर्थवादी ।।10॥

गुरुजनरोषेऽनुत्तरदानमभ्युपपत्तिश्चौषधम् ।।11।।

शत्रूणामभिमुखः पुरुषः श्लाध्यो न पुनर्गुरुणाम् ।।12॥

आराध्यं न प्रकोपयेद्यद्यसावाश्रितेषु कल्याणशंसी ।।13॥

"कल्याणमाशंसति" भी है ।

गुरुभिरुक्तं नातिक्रमितव्यं, यदि नैहिकामुत्रिकफल विलोपः ।।14॥

सन्दिहानोगुरुमकोपयन्नापृच्छेत् ।।15॥ गुरुणां पुरतो न यथेष्टमासितव्यम्।।16॥

पाठान्तर - उक्त पाठ मूल प्रतियों से संकलित है ।

नानभिवाद्योपाध्यायाद्विद्यामाददीत ।।17॥ "यद्युक्ति-जाति, श्रुताभ्यामाधिक्यं समानत्वं वा ।" यह अधिक पाठ है ।।17॥

अध्ययनकाले व्यासङ्गं पारिप्लवमन्यमनस्कतां च न भजेत् ।।18॥

सहाध्यायिषु बुद्ध्यतिशयेन नाभिभूयेत ।।19॥ "नाभ्यसूयेत्" यह भी है ।

प्रज्ञयातिशयानो न गुरुमवज्ञायेत ।।20॥ "अवह्लादयेत् ।।" पाठान्तर है ।।

अन्वयार्थ :- (युक्तम्) उचित (अयुक्तम्) अनुचित (वा) अथवा (गुरुः) गुरु (एव) ही (जानाति) जानता है (यदि) अगर (शिष्यः) विद्यार्थी (प्रत्यर्थवादी) विपरीत बोलने वाला (न) नहीं हो ।।10॥ (गुरुजनरोषे) गुरुजनों के कुपित होने पर (अनुत्तरदानम्) प्रति उत्तर नहीं देने वाला (च) और (अभ्युपपत्तिः) उनकी सेवा करना (औषधम्) औषधि है ।।11॥ (शत्रूणाम्) वैरियों के (अभिमुखः) समक्ष आने वाला (पुरुषः) व्यक्ति (श्लाध्यः) प्रशंसनीय है (न) नहीं (पुनः) फिर (गुरुणाम्) गुरुजनों के समक्ष ।।12॥ (आराध्यम्) पूज्यपुरुष को (प्रकोपयेत्) कुपित (न) नहीं करे (यदि) अगर (असौ) वह (आश्रितेषु) अपने आधीनों का (कल्याणशंसी) उपकारक है । ।।13॥ (गुरुभिः) गुरुओं द्वारा (उक्तं) कथित (न अतिक्रमितव्यम्) उल्लंघन नहीं करना चाहिए । (यदि) अगर (ऐहिक) इस लोक (अमुत्रिक) परलोक सम्बन्ध (फलम्) फल को (विलोपः) लोप (न) नहीं करना है ।।14॥ (सन्दिहानो) शंकायुक्त शिष्य (गुरुम्) गुरु को (अकोपयम्) क्रोधित न कर (आपृच्छेत्) पूछे ।।15॥ (गुरुणाम्) गुरुओं के (पुरतः) सामने (यथेष्टम्) मनमाना (न) नहीं (आसितव्यम्) बैठना चाहिए ।।16॥ (अनभिवाद्यः) नमस्कार किये बिना (उपाध्यातात्) उपाध्याय से (विद्याम्) विद्या (न) नहीं (आददीत्) ग्रहण करे ।।17॥ (अध्ययन काले) पढ़ने के समय (व्यासङ्गम्) अन्यकार्य, (पारिप्लवनम्) चपलता (च) और (आन्यमनस्कताम्) मानसिक चपलता (न) नहीं (भजेत्) करे ।।18॥ (सहाध्यायिषु) सहपाठियों का (बुद्ध्यतिशयेन) तीव्र बुद्धि से (न) नहीं (अभिभूयेत्)

तिरस्कार को ।।19॥ (प्रज्ञयातिशयानाः) तीक्ष्ण बुद्धि होने से (गुरुम्) गुरु को (अवज्ञायेत) तिरस्कृत (न) नहीं [कुर्यात्] करे ।।20॥

विशेष :- जलने, दुराचार, अनीति और शुभकर्मों में विघ्न कारक बातों के अतिरिक्त अन्य सभी कार्यों में शिष्य को गुरुवाणी का उलंघन नहीं करना चाहिए ।।9॥ यदि गुरु से शत्रुता एवं वाद-विवाद नहीं करे तो उसके योग्यायोग्य समस्त कर्त्तव्यों को गुरु ही जानता है ।।10॥ गुरुजनों के कुपित होने पर शिष्य जबाव न दे और उनकी सेवा करे यह उनके कोप शान्ति की परम औषधि है ।।11॥ शत्रुओं के समक्ष जाना उनका सामना करना प्रशंसनीय है परन्तु गुरु के सामने जाने वाला, उनसे विरोध करने वाला शिष्य निन्दा का पात्र है ।।12॥ अपने पूज्य गुरु व माता-पिता आदि अपना (शिष्यों) की हित की कामना करते हैं तो उन्हें रुष्ट नहीं करना चाहिए । अपने कल्याण कर्त्ताओं के प्रति कृतज्ञ रहना चाहिए ।।13॥ जो पुरुष इस लोक व परलोक में सुखी रहना चाहता है उसे अपने गुरुजनों की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए ।।14॥ किसी विषय में शंका निवारणार्थ शिष्य विनयपूर्वक नम्रता से गुरु से प्रश्न करे ।।15॥ शिष्यों को स्वेच्छानुसार गुरुजनों के समक्ष उद्दण्डता से नहीं बैठना चाहिए ।।16॥ प्रथम गुरु को नमन कर ही विद्याग्रहण करना उचित है । नमस्कार किये बिना विद्या ग्रहण नहीं करना चाहिए ।।17॥ वशिष्ठ विद्वान ने भी कहा है :-

नमस्कारं विना शिष्यों यो विद्याग्रहणं क्रियात् ।
गुरोः स तां न चाप्नोति शूद्रो वेदश्रुतिं यथा ।।1॥

अर्थ :- जिस प्रकार शूद्र वेदश्रवण नहीं कर सकता, उसी प्रकार गुरु को नमस्कार किये बिना शिष्य को विद्या प्राप्त नहीं होती ।।1॥

विद्याध्ययन करने वाले विद्यार्थी को अध्ययन के अतिरिक्त कार्यों में संलग्न नहीं होना चाहिए । शारीरिक व मानसिक चपलता त्याग एकाग्र होकर अध्ययन करना चाहिए । चित्तवृत्ति को अन्यत्र नहीं ले जाना चाहिए । ।8॥ गौतम कहते हैं :-

अन्यकार्यं च चापल्यं तथा चैवान्य चित्तताम् ।
प्रस्तावे पठनस्यात्र यः करोति जडो भवेत् ।।1॥

अर्थ :- जो विद्यार्थी विद्यार्जन काल में अन्यकार्य, चित्तचापल्य, अन्यत्रचित वृत्ति लगाता है वह नियम से मूर्ख रह जाता है ।।

तीक्ष्णबुद्धि छात्रों को अपने सहपाठियों का तिरस्कार करना उचित नहीं ।।19॥ गुरु विद्वान ने भी कहा है :-

न सहाध्यायिनः कुर्यात् पराभवसमन्वितान् ।
स्वबुद्धयतिशयेनात्र योविद्यां वाञ्छति प्रभोः ।।1॥

अर्थ :- गुरु के पास विद्या लाभ का अभिलाषी विशिष्ट बुद्धि वाला है । तीक्ष्ण बुद्धि होने पर भी उसे

अपने सहपाठियों का पराभव नहीं करना चाहिए ।।1॥

शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह गुरु की अपेक्षा भी अधिक ज्ञानार्जन कर ले तो भी उसे गुरु की अवमानना नहीं करे ।। विद्वत्ता का मद नहीं होना चाहिए ।।20॥ भृगु विद्वान ने भी कहा है :-

बुद्धयाधिकस्तु यश्छात्रो गुरुं पश्येदवज्ञया ।
स प्रेत्य नरकं याति वाच्यतामिह भूतले ।।1॥

अर्थ :- जो विद्यार्थी विशेष कुशल बुद्धि होने पर अपने गुरु की अवज्ञा करता है अनादर करता है वह मरण कर नरक में जाता है । इस लोक में उसकी अपकीर्ति व्याप्त होती है ।

माता-पिता से प्रतिकूल पुत्र की कटु आलोचना और पुत्र कर्त्तव्य :-

स किमभिजातो मातरि यः पुरुषः शूरो वा पितरि ।।21॥

अननुज्ञातो न क्वचिद् व्रजेत् ।।22॥ मार्गमचलं जलाशयं च नैकोऽवगाहयेत् ।।23॥

अन्वयार्थ :- (किम्) क्या (सः) वह (अभिजातः) कुलीन है (यः) जो (पुरुषः) मनुष्य (मातरि) माता (वा) अथवा (पितरि) पिता में (शूरः) शूरवीरता [दर्शयते] दिखलाता है । (अननुज्ञातो) बिना कहे (क्वचित्) कभी भी। (न व्रजेत्) नहीं जावे ।। (मार्गम् अचलं) राह में, पर्वत पर (च) और (जलाशयम्) सरोवरादि को (एकः) अकेला (न अवगाहयेत्) नहीं जावे, आरोहण व प्रवेश नहीं करे ।

विशेष :- प्रत्येक व्यक्ति को अपने माता-पिता की भक्ति कर अपने श्रेष्ठकुल का परिचय देना चाहिए । अपने माता-पिता के साथ वाद-विवाद करना अपनी कुलीनता को नष्ट करना है । मनु विद्वान ने भी कहा है -

न पुत्रः पितरं द्वेष्टि मातरं न कथंचन ।
यस्तयोर्द्वेष संयुक्तस्तं विन्द्यादन्यरेतसम् ।।1॥

अर्थ :- यथार्थ में पुत्र वही है जो माता-पिता से कभी भी विरोध न करे । जो उनसे द्वेष करता है उसे अन्य का वीर्य समझना चाहिए ।। अर्थात् वह कुलीन नहीं है ।।21॥

पुत्र को माता-पिता की आज्ञा बिना कहीं नहीं जाना चाहिए ।।22॥ वशिष्ठ का कथन है :-

पितृमातृ समादेशमगृहीत्वा करोति यः ।
सुसूक्ष्माण्यपि कृत्यानि स कुलीनो भवेन्न हि ।।1॥

अर्थ :- जो पुत्र माता-पिता की आज्ञाबिना सूक्ष्म कार्य भी करता है उसे कुलीन नहीं समझना चाहिए । अतएव माता-पिता की आज्ञा पालनीय है ।।22॥

एकाकी मार्ग में नहीं जाना चाहिए, पर्वत पर नहीं चढ़ना चाहिए तथा जलाशयों में स्नानादि को नहीं जाना चाहिए । जहाँ भी जाना हो माता, पिता या साथियों के साथ ही जाना चाहिए ।।23॥ गुरु विद्वान ने भी कहा है :-

वापी कूपादिकं यच्च मार्गं वा यदि वाचलम् ।
नैकोऽवगाहयेत् पुत्रः पितृमातृविवर्जितः ।।1॥

अर्थ :- माता पिता से रहित अकेले पुत्र को कूप-वावड़ी, सरोवरादि जलाशयों पर मार्ग में व पर्वत पर नहीं जाना चाहिए ।।23॥

गुरु, गुरुपत्नि, गुरुपुत्र व सहपाठी के प्रति छात्र का कर्त्तव्य :-

पितरमिव गुरुमुपचरेत् ।।24॥ गुरुपत्नी जननीमिव पश्येत् ।।25॥

गुरुमिव गुरुपुत्रं पश्येत् ।।26॥ स ब्रह्मचारिणि बान्धव इव स्निह्येत् ।।27॥

अन्वयार्थ :- (पितरम्) पिता (इव) समान (गुरुम्) गुरु के प्रति (उपचरेत्) आचरण करे । (गुरुपत्नीम्) गुरु की पत्नी को (जननीम्) माता (इव) समान (पश्येत्) देखें, (गुरुम्) गुरु (इव) समान (गुरुपुत्रम्) गुरुपुत्र को (पश्येत्) देखे ।।26॥ (स ब्रह्मचारिणि) अपने साथ छात्र ब्रह्मचारियों में (बान्धव) परिवार (इव) समान (स्निहयेत्) स्नेह प्रीति करे ।।27॥

गुरु की पिता के समान सेवा करना शिष्य का कर्त्तव्य है ।।24॥ भारद्वाज ने कहा है :-

योऽन्तेवासी पितुर्यद्वद् गुरोभक्तिं समाचरेत् ।
स विद्यां प्राप्य निःशेषां लोकद्वयमवाप्नुयात् ।।1॥

अर्थ :- जो छात्र-विद्यार्थी गुरु की पिता के समान सेवा सुश्रुषा करता है, वह समस्त विद्याएँ प्राप्त कर उभय लोक में ऐहिक और पारलौकिक सुखों को प्राप्त करता है ।।24॥

गुरुपत्नि को माता के समान विद्यार्थी पूज्य समझे ।।25॥ याज्ञवल्क्य का कथन :-

गुरुभार्यां च यः पश्येद् दृष्ट्वा चात्र सकामया ।
स शिष्यो नरकं याति न च विद्यामवाप्नुयात् ।।

अर्थ :- जो विद्यार्थी अपनी गुरु-पत्नि को भोगाकांक्षा की दृष्टि से देखता है वह नरकगामी होता है उसे विद्यालाभ भी नहीं होता ।।25॥

विद्यार्थी अपने गुरु के समान ही गुरुपुत्र को पूज्य दृष्टि से देखे ।।26॥ वादरायण विद्वान ने भी कहा है :-

यथागुरुं तथा पुत्रं यः शिष्यः समुपाचरेत् ।
तस्य तुष्टो गुरुः कृत्स्नां निजां विद्यां निवेदयेत् ।।1॥

अर्थ :- जो विद्यार्थी अपने गुरुभाई की गुरु के समान पूजा, प्रतिष्ठा करता है उसे गुरु प्रसन्न-सन्तुष्ट होकर समस्त विद्याएँ प्रदान करता है ।। अर्थात् पढ़ाता है ।।26।।

विद्यार्थी को अपने सहपाठी विद्यार्थियों से भी भाई-बन्धुओं सदृश व्यवहार करना चाहिए ।।27 ॥ मनु विद्वान ने भी इस विषय में कहा है :-

यथा भ्रातुः प्रकर्त्तव्यः [स्नेहोऽत्र निर्निबन्धनः]
तथा स्नेहः प्रकर्त्तव्यः शिष्येण ब्रह्मचारिणः ।।1 ॥

अर्थ :- जिस प्रकार अपने सहोदर में सहज स्नेह होता है उसी प्रकार विद्यार्थी को अपने सहपाठियों के साथ भी करना चाहिए ।। स्वाभाविक प्रेम करना चाहिए ।। क्योंकि प्रेम से मित्र बनते हैं । कहा भी है :-

सत्पुरुषों से प्रेममय जिसका है व्यवहार ।
उसका वैरी अल्प भी कर न सकें अपकार ।।6 ।।

कुरल-कुन्दकुन्द पारि.छे. 45

जो लोग सुयोग्य-सज्जनों के साथ प्रेम का व्यवहार रखते हैं, उनके शत्रु उनकी कुछ भी हानि करने में समर्थ नहीं होते ।।

शिष्य कर्त्तव्य व अतिथियों से गोपनीय विषय :-

ब्रह्मचर्यमाषोडशाद्वर्षात्ततोगोदानपूर्वकं दारकर्म चास्य ।।28 ॥

समविद्यैः सहाधीतं सर्वदाभ्यस्येत् ।।29 ॥ गृहदौः स्थित्यमागन्तुकानां पुरतो न प्रकाशयेत् ।।30 ॥

अन्वयार्थ :- छात्र (आषोडशात्) सोलह (वर्षात्) वर्ष पर्यन्त (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य व्रत धारे (ततः) पश्चात् (गोदानपूर्वकम्) गोदान करे (च) और (अस्य) इसका (दारकर्म) विवाह कार्य होना । (समविद्यैः) सहपाठियों के (सह) साथ (अधीतम्) पठित विषय का (सदा) सदैव (अभ्यसेत्) अभ्यास करे ।।29 ॥ (गृहदौः) घर की दुर्दशा (स्थित्यम्) विपत्ति को (आगन्तुकानाम्) अतिथियों के (पुरतः) समक्ष (न) नहीं (प्रकाशयेत्) प्रकाशित करे ।।30 ॥

भावार्थ :- छात्र-विद्यार्थी सोलह वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य पालन करे पुनः गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे ।।28 ॥ विद्यार्थी का कर्त्तव्य है कि वह पठित ग्रन्थों का अपने साथियों के साथ अभ्यास करें।।29 ॥ नीतिज्ञ मनुष्य को अपनी गृहस्थिति-दारिद्रतादि को अतिथि के समक्ष प्रकाशित नहीं करनी चाहिए ।।30 ॥

पर-गृह में प्रविष्ट पुरुषों की प्रवृत्ति व महापुरुष का लक्षण :-

परगृहे सर्वोऽपि विक्रमादित्यायते ।।31 ॥

स खलु महान् यः स्वकार्येष्विवपरकार्येषूत्सहते ।।32 ॥ "स्वकार्येषु उत्सहते" पाठान्तर

अन्वयार्थ :- (परगृहे) दूसरे के घर में (सर्वाः) सभी (अपि) भी (विक्रमादित्यायते) विक्रमादित्यसम उदार बन जाते हैं ।।31 ॥ (खलु) निश्चय से (सः) वह (महान्) महान् है (यः) जो (स्वकार्येषू) अपने कार्यों के (इव) समान (परकार्येषु) दूसरे के कार्यों में (उत्सहते) उत्साहित होते हैं ।।32 ॥

विशेष :- पराये घर में पहुँचने पर सभी विक्रमादित्य बन जाते हैं । अर्थात् दूसरे का धन खर्च कराने में उदारता दिखलाते हैं ।131॥ महान् पुरुष वही है जो अपने कार्यों के समान ही दूसरे के कार्यों में भी परमोत्साह प्रकट करते हैं ।132॥ वादीभसिंह सूरि ने भी कहा है :- स्वापदं न हि पश्यन्ति सन्तः पारार्थ्य तत्पराः ।। 1/2 क्षत्र चूड़ामणौ

पर के कार्य साधन में लोकप्रवृत्ति :-

परकार्येषु को नाम न शीतलः ।133॥

अन्वयार्थ :- (परकार्येषु) दूसरे के कार्यों में (कः) कौन (नाम) पुरुष (शीतलः) प्रमादी (न) नहीं [भवति] होता है ।

दूसरे के कार्यों में कौन निरुत्साह (आलसी) नहीं होता ? सभी होते हैं ।133॥

राजकर्मचारी, धनिक कृपणों का गुणगान हानिकर व धनाभिलाषी को सन्तुष्ट करना :-

राजासन्नः को नाम न साधुः ।134॥ अर्थ परेष्वनुनयः केवलं दैन्याय ।135॥ को नामार्थार्थी प्रणामेन तुष्यति ।136॥

अन्वयार्थ :- (राजासन्नः) राजा के पास (को नाम) कौन कर्मचारी (साधुः) सज्जन (न) नहीं [भवति] होता है ? ।134॥ (अर्थपरेषु) कृपणधनी में (अनुनयः) धनेच्छा से विनय (केवलम्) मात्र (दैन्याय) दीनता मात्र है ।135॥ (कः) कौन (नाम) पुरुष (अर्थार्थी) धनाभिलाषी (प्रणामेन) नमस्कार से (तुष्यति) सन्तुष्ट होगा ।136॥

विशेषार्थ :- नृप के समक्ष कौन कर्मचारी सरल नहीं हो जाता ? सभी अपनी सभ्यता दण्डभय से कृत्रिम सज्जनता प्रदर्शित करते हैं । न कि स्वाभाविक ।134॥ आवश्यकतानुसार धनाढ्यकृपणों का अनुनय-विनय करना केवल अपनी दीनता ही प्रकट करना है ।135॥ अर्थ लाभादि प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ।। धनेच्छु व्यक्ति क्या प्रणाम करने से सन्तुष्ट होगा ? कभी नहीं ।136॥

राजकर्मचारियों में समदृष्टि, दरिद्र से धन प्राप्ति, असमर्थ से प्रयोजन सिद्धि :-

आश्रितेषु कार्यतो विशेषकारणेऽपि दर्शन प्रियालापनाभ्यां सर्वत्र समवृत्तिस्तंत्रं वर्द्धयति अनुरञ्जयति च ।137॥ तनुधनादर्थग्रहणं मृतमारणमिव ।138॥ अप्रतिविधातरि कार्यनिवेदनमरण्यरुदितमिव ।139॥

अन्वयार्थ :- राजा का कर्त्तव्य है (आश्रितेषु) अपने आधीनों में (कार्यतः) कार्य की अपेक्षा (विशेष कारणे) विशिष्ट कार्य करने में (अपि) भी (सर्वत्र) सर्व जगह (दर्शनप्रियालापनाभ्याम्) समदृष्टि वल मधुर भाषण में (समवृत्तिः) समान व्यवहार (तन्त्रम्) राज्य शासन तन्त्र की (वर्द्धयति) वृद्धि करता है (च) और (अनुरञ्जयति) अनुराग उत्पन्न करती है ।137॥ धनहीन-गरीब से धन (तनुधनात्) धनहीन से (अर्थग्रहणम्) धन लेना (मृतमारण) मरे को मारना (इव) समान है ।138॥ (अप्रतिविधातरि) असमर्थ के समक्ष में (कार्य निवेदनम्) कार्य कराने की प्रार्थना (अरण्यरुदितम् इव) जंगल में रोने के समान है ।139॥ अर्थात् व्यर्थ है :-

हठी को उपदेश करना :-

दुराग्रहस्य हितोपदेशो वधिरस्याग्रतो गानमिव ।140॥

अन्वयार्थ :- (दुराग्रहस्य) हठवादी को (हितोपदेश) हितकारी उपदेश देना (वधिरस्य) बहरे के (अग्रतः) सामने (गानम्) गान गाने (इव) समान [अस्ति] है ।

विशेष :- हठग्राही पुरुष को धर्मोपदेश देना बहरे मनुष्य को भजन सुनाने के समान है । वधिर सुनता ही नहीं तो सुनाना व्यर्थ है और यह मानता नहीं, इसे भी उपदेश देना व्यर्थ है ।140॥ कर्त्तव्यज्ञान शून्य को शिक्षा -

अकार्यज्ञस्य शिक्षण मन्धस्य पुरतो नर्तनमिव ।141॥

अन्वयार्थ :- (अकार्यज्ञस्य) कर्त्तव्यज्ञानविहीन को (शिक्षणम्) शिक्षा देना (अन्धस्य) नेत्रविहीन के (पुरतः) सामने (नर्तनम्) नाचने के (इव) समान है ।

विशेषार्थ :- जिस प्रकार नेत्ररहित पुरुष के समक्ष नृत्य करना व्यर्थ श्रम है उसी प्रकार कर्त्तव्य ज्ञान विहीन को शिक्षा देना व्यर्थ है । लाभकारी नहीं ।141॥

मूर्ख को योग्य बात कहना :-

अविचारकस्य युक्ति कथनं तुषकण्डनमिव ।142॥

अन्वयार्थ :- (अविचारकस्य) विचार शून्य के लिए (युक्तिः) कारणविशेष (कथनम्) कथन (तुष) भूसा (कण्डनम्) कूटने (इव) के समान [अस्ति] है ।।

विवेकशून्य व्यक्ति को युक्ति संगत कथन करना भूसा को कूटने के समान निस्फल है । तुष के छड़ने से क्या कण मिलेगा ? नहीं । विद्वानों ने कहा है :-

उपदेशो हि मूर्खानां केवलं दुःखबर्द्धनम् ।
पयः पानंभुजंगानां केवलं विषबर्द्धनम् ।।1॥

अर्थ :- जिस प्रकार भुजंग को दुग्ध पान कराना विषवर्द्धक होता है उसी प्रकार मूर्ख को उपदेश देना दुःख का कारण होता है ।।1॥

नीच पुरुष का उपकार :-

नीचेषु उपकृतमुदके विशीर्णं लवणमिव ।143॥

अन्वयार्थ :- (नीचेषु) नीच पुरुषों का (उपकृतम्) उपकार करना (उदके) जल में (लवणम्) नमक के (इव) समान (विशीर्णम्) नष्ट होता है ।

विशेष :- दुर्जन-नीचकुलोत्पन्न पुरुषों का उपकार जल में नमक की भांति नष्ट हो जाता है । अर्थात् नीच मनुष्य उपकृत नहीं होता है ।। उसके विपरीत हानि पहुँचाने वाला होता है । वादीभसिंह सूरि कहते हैं-

उपकारोऽपि नीचानामपकाराय कल्पते ।
पन्नगेन पयः पीतं विषस्यैव हि वर्द्धनम् ।।1।।

अर्थ :- नीच पुरुष का उपकार करना, स्वयं का अपकार करना है क्योंकि सर्प को दुग्धपान कराने से उसका विष ही वृद्धिंगत होता है ।।1।।

क्या-क्या निष्फल होता है :-

अविशेषज्ञे प्रयासः शुष्कनदीतरणमिव ।।44।।
परोक्षे किलोपकृतं सुप्त संवाहनमिव ।।45।।
अकाले विज्ञप्तमूषरे कृष्टमिव ।।46।।
उपकृत्योद्घाटनं वैरकरणमिव ।।47।।

अन्वयार्थ :- (अविशेषज्ञे) मूर्ख में (प्रयासः) समझाने का श्रम (शुष्कनदी) सूखी नदी में (तरणम्) तैरने के (इव) समान है ।।44।। (परोक्षे) पीठ पीछे (उपकृतम्) उपकार (किल) निश्चय से (सुप्तसंवाहनम्) सोये हुए के पैर दबाने के (इव) समान [अस्ति] है ।।45।। (अकाले) असमय में (विज्ञप्तम्) कहना (ऊषरे) खंजरभूमि में (कृष्टम् इव) बीज बोने के समान है ।।46।। (उपकृत्य) उपकार करके (उद्घाटनम्) प्रकट करना (वैरकरणम्) शत्रुता करने के (इव) समान है ।।47।।

विशेष :- मूर्खों को समझाना और सूखी नदी को पार करने के समान निष्फल है ।।44।। जो मनुष्य किसी की पीठ पीछे उपकार करता है वह सुप्त के पाँव दबाने के समान निष्फल है । यद्यपि उपकार करना बुरा नहीं परन्तु उपकृत्य व्यक्ति को उसका पता नहीं होने से वह उसका प्रत्युपकार कभी नहीं कर सकता इसलिए निरर्थक कहा है ।।45।। कोई भी बात अवसर के अनुसार कहना सार्थक होता है । बिना अवसर के शोभा नहीं देती । किसी के विवाह के अवसर पर रोदन करे और मरने पर गीत गाये तो क्या होगा ? विपरीत ही होगा ।।46।। किसी के प्रति किये गये उपकार को उसके समक्ष प्रकट करना वैर-विरोध बढ़ाने के समान है ।।47।।

उपकार करने में असमर्थ की प्रसन्नता व्यर्थ :-

अफलवतः प्रसादः काशकुसुमस्येव ।।48।।
गुणदोषावनिश्चित्यानुग्रह निग्रह विधानं ग्रहाभिनिवेश इव ।।49।।
उपकारापकारासमर्थस्य तोषरोषकरणमात्मविडम्बनमिव ।।50।।

अन्वयार्थ :- (अफलवतः) प्रत्युपकार विहीन की (प्रसादः) प्रसन्नता (काशकुसुमस्य) घास के पुष्प (एव) ही हैं ।।48।। (गुणदोष अवनिश्चित्य) गुण व दोष का विचार करे बिना (अनुग्रहं) उपकार (निग्रहम्) अपकार (विधानम्) करना (ग्रहाभिनिवेशम्) पिशाचग्रस्त (इव) के समान ।।49।। (उपकारः) भलाई (अपकारः) बुराई (असमर्थस्य) सामर्थ्यरहित का (तोषम्) सन्तोष (रोषम्) कोप (करणम्) करना (आत्म) अपनी (विडम्बना) विडम्बना (करणम्) करने (इव) समान है ।।50।।

विशेष :- उपकार करने की सामर्थ्य विहीन का प्रसन्न होना काश सुमनों समान व्यर्थ है । नदी पर उत्पन्न काश-घास विशेष में पुष्प होते हैं परन्तु फल नहीं देते, उसी प्रकार उपकार करने में असमर्थ की प्रसन्नता निष्फल होती है ।148॥ विद्वान ने कहा है :-

"**अफलवतोनृपतेः प्रसादः काशकुसुमस्येव**" और भी कहा है :-

यस्मिन रुष्टे भयं नास्ति तुष्टे नैव धनागमो ।
अनुग्रहो निग्रहो नास्ति स रुष्टः किं करिष्यति ।।1॥

अर्थ :- जिसके कुपित होने पर भय नहीं होता और सन्तुष्ट होने पर धन की प्राप्ति नहीं होती उसके उपकार, अपकार भी क्या होगा ? वह क्रोधित हुआ तो भी क्या करेगा ? कोई प्रयोजन नहीं होगा ।148॥

नीतिज्ञ को किसी के गुण व दोष का निर्णय करने पर ही उसका उपकार या अपकार करना चाहिए । इसके विपरीत करने वाला राहु-केतु या भूत-पिशाच ग्रस्त समझना चाहिए । अर्थात् वह दुःख का पात्र होता है ।149॥

जो उपकार करने में समर्थ नहीं है उसे सन्तुष्ट करने का प्रयास करना और अपकार करने में असमर्थ को असन्तुष्ट करना अपनी हंसी कराने के सदृश है ।150।।

असत् बहादुरी, उदारधन प्रशंसा व कृपणधन आलोचना :- :-

ग्राम्यस्त्री विद्रावणकारि गलगर्जितं ग्रामशूराणाम् ।151॥

सविभवो मनुष्याणां यः परोपभोग्यो न तु यः स्वस्यैवोपभोग्यो व्याधिरिव।152॥

अन्वयार्थ :- (ग्रामशूराणाम्) ग्रामीण शूर वीरों की (गलगर्जितम्) गर्जना (ग्राम्यस्त्रीविद्रावणकारि) मात्र ग्रामीण नारियों को भयोत्पादक है न कि नागरिकों को ।151॥ (यः) जो (परोपभोग्यः) दूसरों के भोग योग्य हो (सः) वह (विभवः) वैभव (मनुष्याणाम्) मनुष्यों का है (यः) जो (स्वस्यैव) अपने ही (उपभोग्यः) उपयोग में आवे (तु) निश्चय (न) धन नहीं अपितु (व्याधिः) पीडा (इव) समान है ।152॥

विशेष :- भीरु पुरुष जो स्वयं डरपोक हैं वे यदि वीरता दिखाने चलें तो भले ही भोली-भाली ग्रामीण ललनाएँ नीत हों, नागरिक सूर नहीं डर सकते ।151॥

धन वही प्रशंसनीय है जो परोपकार में लगाया जाय । किन्तु जिसे धनाढ्य स्वयं रोग के समान भोगता है वह कृपण का धन निन्द्य-त्याज्य है ।152॥ वल्लभदेव विद्वान ने कहा है :-

किं तया क्रियते लक्ष्म्या या वधूरिव केवला ।
या न वेश्येव सामान्या पथिकैरुपभुज्यते ।।1॥

अर्थ :- उस कृपण की लक्ष्मी से क्या लाभ ? जो कि कुल वधू समान केवल उसी के द्वारा भोगी जाती है, और जो सर्वसाधारण वेश्या समान पथिकों द्वारा नहीं भोगी जाती । यहाँ मात्र सम्पत्ति को वेश्या की उपमा दी है उससे कोई वेश्या की प्रशंसा की है यह नहीं समझना चाहिए ।

ईर्ष्यालु गुरु, पिता, मित्र तथा स्वामी की कटु आलोचना :-

स किं गुरुः पिता सुहृद्वा योऽभ्युसूययाऽर्भं बहुदोषं बहुषु वा दोषं प्रकाशयति न शिक्षयति च ।।53।।

स किं प्रभुर्यश्चिरसेवकेष्वेकमप्यपराधं न सहते ।

अन्वयार्थ :- (किम्) क्या (सः) वह (गुरुः) शिक्षक (पिता) तात (सुहृद् वा) वामित्र है (यः) जो (अभ्युसूयया) ईर्ष्यावश (बहुदोषम्) अनेक दोषों युत (अर्भम्) पुत्र को (बहुषु) बहुतों के मध्य (दोषम् प्रकाशयति) उसके दोषों को प्रकट करता है (वा) अथवा (च) और (न शिक्षयति) शिक्षा नहीं दे ? ।।53।। (किम्) क्या (सः) वह (प्रभुः) स्वामी है (यः) जो (चिरसेवकेषु) पुराने सेवकों के (एकम्) एक (अपराधम्) दोष को (अपि) भी (न सहते) सहन नहीं करता ? क्षमा नहीं करता ।।54।।

विशेष :- जो गुरु, पिता व मित्र अपने शिष्य, पुत्र व मित्र के बहुत से अपराधों को ईर्ष्या वश दूसरों के समक्ष प्रकट करते हैं, उन्हें दूर करने की उन्हें शिक्षा नहीं देते वे गुरु, पिता व मित्र निन्द्य, शत्रु व दुर्जन हैं ।। इनका कर्त्तव्य उसे सुशिक्षा प्रदान कर दोषों का परिहार करावें ।।53।। गोतम ने कहा है :-

शिक्षां दद्यात् स्वशिष्यस्य तद्दोषं न प्रकाशयेत् ।
ईर्ष्यागर्भं भवेद्यच्च प्रभूतस्य जनाग्रतः ।।1।।

अर्थ :- गुरु का कर्त्तव्य है कि अपने शिष्यों के बहु दोषों को भी दूसरों के समक्ष प्रकाशित नहीं करें । किन्तु उसे हित-कल्याण की शिक्षा देना चाहिए ।।

वह स्वामी निन्दनीय है जो अपने चिरकाल से सेवा करने वाले सेवक का एक अपराध भी क्षमा न करे ।। मनुष्य से यदा-कदा अपराध होना संभव है और स्वामी-सेवक में इसी समय परीक्षा होती है । अतः स्वामी का कर्त्तव्य है अनेक गुणों के साथ एक दोष हो गया तो उसे क्षमा प्रदान कर सन्तुष्ट करे ।।54।। शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

चिरकालचरोभृत्यो भक्तियुक्तः प्रसेवयेत् ।
न तस्य निग्रहः कार्यो दोषस्यैकस्य कारणात् ।।1।।

अर्थ :- मालिक को उस सेवक का, जो सच्चा भक्त होकर चिरकाल से उसकी सेवा-सुश्रुषा करता आ रहा है, केवल एक दोष के कारण उसका निग्रह नहीं करना चाहिए । अपितु क्षमा करना चाहिए ।।54।।

"।। इति पुरोहित समुद्देशः ।।"

इति श्री परम् पूज्य प्रातः स्मरणीय, विश्ववंद्य चारित्र चक्रवर्ती मुनिकुञ्जर सम्राट्-समाधि सम्राट् महातपस्वी, वीतरागी, दिगम्बराजैनाचार्य श्री 108 आदिसागर जी अंकलीकर के पट्टाधीश तीर्थभक्त शिरोमणि, समाधि सम्राट् आचार्य परमेष्ठी श्री 108 श्री महावीर कीर्ति जी महाराज के संघस्था परम् पूज्य सन्मार्गदिवाकर, कलिकाल सर्वज्ञ श्री 108 आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज की शिष्या, ज्ञानचिन्तामणि, सिद्धान्त विशारदा प्रथम गणिनी आर्यिका श्री विजयामती माता जी द्वारा विजयोदय हिन्दी टीका परम् पूज्य वात्सल्य रत्नाकर, तपस्वी सम्राट् सिद्धान्त चक्रवर्ती श्री 108 आचार्य सन्मति सागर जी महाराज के चरण सान्निध्य में ग्यारहवां समुद्देश समाप्त हुआ ।।

।। 0 ।।

12

सेनापति समुद्देश

सेनापति के गुण-दोष व राजसेवक की उन्नति :-

अभिजनाचार प्राज्ञानुरागशौचशौर्यसम्पन्नः प्रभाववान् बहुबान्धवपरिवारो निखिलनयोपायप्रयोगनिपुणः समभ्यस्त समस्त वाहनायुधयुद्धलिपिभाषात्म-परिज्ञानस्थिति सकलतन्त्रसामन्ताभिमतः, साङ्ग्रामिकाभिरामिकाकार शरीरो, भर्तुरादेशाभ्युदयहितवृत्तिषु निर्विकल्पः स्वामिनात्मवन्मानार्थ प्रतिपत्तिः, राजचिन्हैः सम्भावितः, सर्वक्लेशायाससह इति सेनापति गुणाः ।।1।।

स्वैः परैश्चप्रधृष्यप्रकृतिरप्रभाववान् स्त्रीजितत्वमौद्धत्यं व्यसनिताऽक्षय-व्यय-प्रवासोपहतत्वं तन्त्राप्रतीकारः सर्वैः सहविरोधः परपरीवादः परुषभासित्व--मनुचितज्ञताऽसंविभागित्वं स्वातन्त्र्यात्मसम्भावनोपहतत्वं स्वामिकार्यव्यसनो-पेक्षःसहकारि कृत कार्य विनाशो राजहितवृत्तिषु चेर्ष्यालुत्वमिति सेनापति दोषाः ।।2।।

स चिरं जीवति राजपुरुषो यो नगरनापित इवानुवृत्तिपरः ।।3।।

अन्वयार्थ :- (अभिजनः) कुलीन (आचारप्राज्ञः) आचार व्यवहार ज्ञाता (अनुरागाः) स्वामी व सेवकों से अनुरक्त, (शौच शौर्य सम्पन्नः) पवित्र हृदय, शूरवीर (प्रभाववान्) प्रभुत्व सम्पन्न (बहुबान्धव परिवारः) अनेक भाई बन्धु परिवार वाला (निखिलनयउपाय प्रयोग निपुनः) राजनीति के नय प्रयोगों का ज्ञाता (समस्त) सम्पूर्ण (वाहन-आयुध-युद्ध-लिपि-भाषात्म परिज्ञान स्थितिः समभ्यस्तः) वाहन, अस्त्र शस्त्र संचाल, संग्राम, लेखन क्रिया, भाषात्मक परिज्ञान से स्थिति को समझने में अभ्यस्त, (सकलतन्त्रसामन्त अभिमतः) सम्पूर्ण युद्धादि सम्बन्धी तंत्र व अभिप्राय ज्ञाता, (साङ्ग्रामिकः, अभिरामिक, शरीर, आकारः) योद्धा के अनुकूल शरीराकृति वाला, (भर्तुः) स्वामी की (आदेश, अभ्युदय, हितवृत्तिषु निर्यिकल्पः) आदेश, वृद्धि, हित कार्य वृत्ति में तत्पर (स्वामिना) स्वामी के द्वारा (आत्मवत्)

अपने समान, (मान, अर्थ, प्रतिपत्तिः) सम्मान व अर्थ प्राप्त हो, दिया हो (राजचिह्नैः) छत्र, चमरादि राज चिन्हों से (सम्भावितः) युक्त (सर्वक्लेश, आयास सहः सम्पूर्ण कष्टों के सहने में समर्थ (इति) ये (सेनापतिगुणाः) सेनापति के गुण हैं ।।1॥

भावार्थ-विशेष :- सेनाध्यक्ष पदासीन होने योग्य मनुष्य में निम्नगुणों का होना अनिवार्य है - कुलीन उच्च कुल वंश का होना, आचार-व्यवहार में कुशल होना, राजविद्या प्रवीण, स्वामी व सेवकों के प्रति अनुरक्त, पवित्राभिप्रायी, विशाल परिवार वाला, समस्त नैतिक साम-दाम आदि प्रयोग, जल अग्नि स्तंभन आदि विद्याओं में निपुण, वाहन, खड्गादि संचालन में, युद्ध एवं विभिन्न देशीय भाषाओं में निपुण होना, आत्मज्ञानी, सेना, स्वामी, आमात्य आदि का प्रियपात्र, शत्रुओं से लोहा लेने में समर्थ, उत्साही, स्वामी की आज्ञापालन में समर्थ, विजयाभिलाषी, राष्ट्रहित चिन्तक, विकल्परहित, जिसे स्वामी से पूर्ण सम्मान प्राप्त है, धन प्राप्त है, प्रतिष्ठालब्ध है, छत्र चामरादि राजचिन्हों से युक्त, और समस्त प्रकार के कष्ट व खेदों को सहने वाला सेनाध्यक्ष होना चाहिए । शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

सर्वैर्गुणैः समोपेतं सेनानाथं करोति यः ।
भूमिपालो न चाप्नोति सशत्रुभ्यः पराभवम् ।।1॥

अर्थ :- जो नृपति समस्त गुणयुक्त सेनाध्यक्ष नियुक्त करता है - उसे शत्रु कृत पराभव परास्त नहीं करता ।।1॥

अन्वयार्थ :- (स्वैः) स्वयं से (च) और (परैः) दूसरों से (प्रधृष्यप्रकृतिः) पराजय प्राप्त (अप्रभाववानः) प्रभुताहीन, (स्त्रीजितत्वम्) नारीवश (औद्धतम्) अभिमानी (व्यसनिता) व्यसनासक्त (अक्षयव्ययप्रवासो पहतत्वम्) मर्यादा से अधिक व्यय करने वाला (तंत्रस्य) राजचक्रों का (अप्रतीकारः) विरोध करने में असमर्थ (सर्वैः) सबके (सह) साथ (विरोधः) विरोधी (परपरिवादः) निन्दक (परुषभासित्वम्) कटुभाषी (अनुचित-ज्ञाता) अनुचित विचार (असंविभागत्वम्) आतिथ्य नहीं करने वाला, (स्वातन्त्र्यः) स्वच्छन्द (आत्मसंभावनो-पहतत्वम्) स्वाभिमान विघाती (स्वामीकार्यव्यसनोपेक्षः) स्वामी के कार्य की उपेक्षा करने वाले (सहकारिणः) सहायकों के (कार्यविनाशः) कार्य का विनाशक (राजहितवृत्तिषु) राज के कार्यों में (ईर्ष्यालुत्वम् च) और ईर्ष्या करने वाला (इति) ये (सेनापतिदोषाः) सेनानायक के दोष हैं ।।2॥ (सः) वह (चिरम्) बहुतकाल (जीवति) सुखी रहता है (यः) जो (नगरनापितः) शहर के नाई (इव) की भांति (अनुवृत्तिः परः) राजपुरुषों का अनुकरण में तत्पर रहता है ।।3॥

विशेषार्थ :- जिस भूपाल की प्रकृति-प्रधान आमात्य, सेनापति आदि आत्मीय व पर शत्रुओं से परास्त हो सकें, जो तेज विहीन, स्त्री कृत उपद्रवों के वश-अजितेन्द्रिय अहंकारी, व्यसनासक्त, अपनी मर्यादा से अधिक व्यय करने वाला, अनुचित बातों का ज्ञाता, अपनी कमाई आप ही खाने वाला, स्वच्छन्द स्वभावी, स्वामी के कार्य व आपत्तियों का उपेक्षक, युद्ध कार्य में सहयोगी योद्धाओं का कार्य विद्यातक, राजहितचिन्तकों से ईर्ष्या करने वाला ये सर्व सेनापति

के दोष हैं । अभिप्राय इतना ही है कि इन दोषों से युक्त व्यक्ति सेनापति पद के अयोग्य है, इससे राज्य विकास न होकर उसकी क्षति ही होगी । इस विषय में गुरु विद्वान ने भी कहा है :-

सेनापतिं स्व दोषाढ्यं यः करोति स मन्दधीः ।
न जयं लभते संख्ये बहुसेनोऽपि स क्वचित् ।।1॥

अर्थ :- जो मन्दबुद्धि नृप सेनापति के दोषयुक्त पुरुष को सेनापति पद नियुक्त करता है वह सेनापति प्रचुर सेनायुक्त होने पर भी विजयलक्ष्मी प्राप्त नहीं कर सकता । कार्यसिद्धि योग्यता की अपेक्षा करती है ।।2॥

जो राज सेवक राजकीय प्रधान पुरुषों की, नापित (नाई) की तरह विनय करता है वह चिरकाल तक सुखी रहता है । अर्थात् जिस प्रकार नापित नगर में प्रविष्ट होकर समस्त मनुष्यों के साथ विनय का बर्ताव करने से जीवन निर्वाह करता हुआ सुखी रहता है उसी प्रकार राजकीय पुरुषों के साथ विनयशील राजसेवक भी चिरकाल सुखी-सम्पन्न रहता है ।।3॥ शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

सेवकः प्रकृतीनां यो नम्रतां याति सर्वदा ।
स नन्दति चिरंकालं भूपस्यापि प्रियो भवेत् ।।1॥

अर्थ :- जो राजसेवक राजकीय प्रकृति अमात्यादि की सदा विनय करता है वह राजा के प्रेम का भाजन होकर चिरकाल तक सुखी जीवनयापन करता है ।।1॥ श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने कुरल काव्य में कहा है-

सेनापतेरसन्दावे न सेवा काऽपि जायते ।
सन्तु यद्यपिभूयांसः सैनिका रणकोविदाः ।।10॥

प.छे.76पृ.77.

अर्थ :- कितने ही संग्रामकला के निष्णात सैनिक क्यों न हों, सेनापति के बिना सेना का अस्तित्व नहीं रह सकता। विजय की तो बात ही क्या है ? इसीलिए कहा है कि :-

या न्यूना नास्ति संख्यायां नार्थाभावेन पीड़िता ।
तस्या अस्ति जयो नूनं सेनाया इति निश्चयः ।।9॥

कु.का.

अर्थ :- जिस सेना में सुभटों की संख्या कम नहीं है और धनाभाव भी नहीं है, रसदादि की कमी से जो पीड़ित नहीं है उसकी विजय निश्चित है । यह सब सेनानायक पर निर्भर करता है ।

स्वचक्र व परचक्र का आक्रमण राज्य पर होना स्वाभाविक है, शत्रु-मित्र का योग है । कभी शत्रुओं का प्राबल्य होता है तो कभी मित्रों का । अतः इस स्थिति में सेना-सुभटों का होना अनिवार्य है । वीर पुरुषों का संग्रह,

उनमें राजभक्ति, युद्ध के प्रति उत्साह, संगठन आदि सेनापति के आश्रित रहता है । अत: सेनापति को सर्वगुण सम्पन्न होना चाहिए ।3॥

इति सेनापति समुद्देश: ।।12॥

इति श्री परम पूज्य प्रात: स्मरणीय विश्ववंद्य, चारित्रचक्रवर्ती मुनि कुञ्जर समाधि सम्राट् महातपस्वी, वीतरागी, दिगम्बर 20वीं शदी के प्रथमाचार्य दिगम्बर गुरुवर्य श्री 108 आदिसागर जी महाराज जी अंकलीकर के पट्टाधीश, तीर्थभक्त शिरोमणि, समाधिसम्राट भगवन्त आचार्यमेष्ठी श्री 108 आचार्य महावीर कीर्ति जी महाराज संघस्था एवं कलिकाल सर्वज्ञ, वात्सल्यरत्नाकर, सन्मार्ग दिवाकर आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज की शिष्या 105 प्रथम गणिनी आर्यिका श्री ज्ञानचिन्तामणि, सिद्धान्त विशारदा विजयामती माता जी द्वारा यह विजयोदय हिन्दी भाषा टीका में 12वां सेनापति समुद्देश परम पूज्य, तपस्वी सम्राट, सिद्धान्त चक्रवर्ती परम्पराचार्य परमेष्ठी श्री सन्मतिसागर जी महाराज के चरणसानिध्य में समाप्त हुआ ।।

।। 0 ।।

13

दूत-समुद्देश

दूत के लक्षण, गुण व भेद :-

अनासन्नेष्वर्थेषु दूतो मंत्री ।।1॥ स्वामिभक्तिरव्यसनिता दाक्ष्यं शुचित्वममूर्खता प्रागल्भ्यं प्रतिभानवत्वं क्षान्तिः परमर्मवेदित्वं जातिश्च प्रथमे दूतगुणाः ।।2॥ सत्रिविधो निसृष्टार्थः परिमितार्थः शासनहरश्चेति ।।3॥ यत्कृतौस्वमिनः सन्धिविग्रहौ प्रमाणं स निसृष्टार्थः यथा कृष्णः पाण्डवानाम् ।।4॥

अन्वयार्थ :- (यः) जो (अनासन्नेषु) दूरवर्ती देशों में (अर्थेषु) पदार्थों-कार्यों में (मन्त्री) मन्त्री के समान हो (सः) वह (दूतः) दूत है ।

विशेषार्थ :- जो राज अधिकारी दूरवर्ती देशों के विषय में सन्धि-विग्रहादि कार्यों के करने में निपुण हो, मन्त्री समान पदार्थों व विषयों का जानकार हो वह व्यक्ति दूत कहलाता है । "राजपुत्र" नामक विद्वान ने लिखा है :-

देशान्तरस्थितं कार्यं दूतद्वारेण सिद्धयति ।
तस्माद् दूतो यथा मंत्री तत्कार्यं हि प्रसाधयेत् ।।1॥

अर्थ :- दूर देश में स्थित कार्यों की सिद्धि दूत के द्वारा ही होती है । इसलिए मंत्री के समान दूरवर्ती सन्धि-विग्रहादि जैसे कार्यों को सिद्ध करता है ।।1॥

आचार्य कुन्द-कुन्द देव कहते हैं :-

लोक पूज्ये कुले जन्म हृदयं करुणामयम् ।
नृपाणां मोद दातृत्वं राजदूतगुणा इमे ।।1॥

कुरल.परि.छे.69.पृ.69.

अर्थ :- जो लोकमान्य उत्तम कुलोत्पन्न हो, करुणा से परिपूर्ण हृदय वाला हो और राजाओं को आनन्द करने वाला हो वही गुणवन्त राजदूत कहलाता है ।।1॥

(स्वामिभक्तिः) राजा के प्रति भक्ति (अव्यसनिता) मद्यपानादि व्यसनों से हीन (दाक्ष्यम्) चातुर्य (शुचित्वम्)

पवित्रता (अमूर्खता) सुज्ञ, विद्वान (प्रागल्भ्यम्) सहिष्णु (प्रतिमानवत्वम्) शत्रुरहस्य का ज्ञाता (शान्तिः) शान्त (परमर्मवेदित्वम्) पर के रहस्य का ज्ञाता (च) और (जातिः) शुद्ध जाति (प्रथमे) प्राथमिक (दूतगुणाः) दूत के गुण हैं ।

विशेष :- राजभक्ति, मद्य, मांसादि व्यसन रहित, चतुर, निर्मलता, विद्वता, सहिष्णुता, राजावेद्या निपुणता, शान्त, पर के रहस्य को समझने वाला, और शुद्ध जाति ये दूत के सामान्य एवं प्रमुख गुण हैं ।। कुरल में भी कहा है :-

निसर्गात् प्रेमवृत्तित्वं वाग्मित्वं विस्मयावहम् ।
प्रतिभावत्वं च दूतानां त्रयो ह्यावश्यका गुणाः ।।2 ॥

प.69पृ.69.

प्रभावोत्पादिकावाणी वैदूष्यं समयज्ञता ।
प्रत्युत्पन्नमतित्वञ्च दूतस्य प्रथमे गुणाः ।।6 ॥

अर्थ :- स्वभाव से प्रेम व्यवहारी, वचन चातुर्य पटु, आश्चर्यजनक प्रतिभाशाली होना ये तीन दूत के प्रमुख गुण हैं ।।2 ॥ वाणी का प्रभावोत्पादकता होना, समयानुसार कार्य करने का सम्यक् ज्ञान होना, प्रत्युत्पन्न बुद्धि, ये दूत के प्रथमगुण हैं ।।6 ॥ शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

दक्षं जात्यं प्रगल्भंच दूतं यः प्रेषयेन्नृपः ।
अन्यैश्च स्वगुणैर्युक्त तस्य कृत्यं प्रसिद्ध्यति ।।1 ॥

अर्थ :- जो राजा चतुर, कुलीन, उदार एवं अन्य दूतोचित गुणों से युक्त दूत को भेजता है, उसका कार्य सिद्ध होता है ।।1 ॥

(सः) वह दूत (त्रिविधः) तीन प्रकार है (निसृष्टार्थः) निसृष्टार्थ, (परिमितार्थः) परिमितार्थ (च) और (शासनहरः) शासनहर (इति) ।

विशेषार्थ :- दूत तीन प्रकार के होते हैं - जिसके द्वारा निश्चित किये संग्रह, विग्रह, सन्धि आदि कार्यों को राजा प्रमाण मानता है वह दूत निसृष्टार्थ कहलाता है जैसे पाण्डवों का कृष्ण । अभिप्राय यह है कि कृष्ण ने पाण्डवों की ओर से कौरवों से विग्रह-संग्राम निश्चय किया, उसे पाण्डवों को प्रमाणस्वीकृत करना पड़ा । अतः कृष्ण "निसृष्टार्थ" राजदूत थे ।

राजा द्वारा भेजे गये सन्देश व शासन लेख को जैसा का तैसा शत्रु के पास कहने या देने वाले को क्रमशः "परिमितार्थ" व शासनहर जानना चाहिए ।।4 ॥ भृगु विद्वान ने भी इसी प्रकार कहा है :-

यद्वाक्यं नान्यथाभावि प्रभोर्यश्चाप्यनीप्सितम् ।
निसृष्टार्थः स विज्ञेयो दूतो नीति विचक्षणैः ।।1 ॥

यत्प्रोक्तं प्रभुणा वाक्यं तत् प्रमाणं वदेच्च यः ।
परिमितार्थं इतिज्ञेयो दूतो नान्यं ब्रवीति यः ।।2॥

प्रभुणा लेखितं यच्च तत् परस्य निवेदयेत् ।
यः शासनहरः सोऽपि दूतो ज्ञेयो नयान्वितैः ।।3॥

अर्थ :- राजा को अभिष्ट न होने पर भी जिसका वाक्य सन्धि विग्रह सम्बन्धी प्रमाणित होता है, राजा जिसका उलंघन नहीं करता वह "निसृष्टार्थ" दूत कहा जाता है ।। ऐसा विचक्षण विद्वानों का कथन है ।।1॥

राजा द्वारा उपदिष्ट सन्देश, वाक्य, शत्रु के प्रति जैसे का तैसा जाकर कहता है उसमें हीनाधिक नहीं करता उसे "परिमितार्थ" दूत कहते हैं ।।2॥

जो, राजा द्वारा लिखित लेखादि को दूसरे राजा को ज्यों का त्यों सुना देता है या पढ़ा देता है उसे "शासनहर" दूत कहा जाता है ।।3॥

कुरल में भी कुन्द कुन्द स्वामी ने यही भाव दर्शाया है :-

आवेशादपि न ब्रूते दुर्वाक्यं यो विचक्षणः ।
परराष्ट्रे स एवास्ति योग्यः शासनहारकः ।।9॥

परिच्छे.69पृ.69.

अर्थ :- जो दृढ़प्रतिज्ञ पुरुष अपने मुख से हीन और अयोग्य वचन कभी नहीं निकलने देता, विदेशी राजदरबारों में राजाओं के सन्देश सुनाने के लिए वे ही पुरुष योग्य शिष्य दूत सन्देशहर कहे जाते हैं ।।9॥ कुरल.

दूत कर्त्तव्य, शत्रु स्थान में प्रवेश व निर्गमनादि :-

अविज्ञातो दूतः परस्थानं न प्रविशेन्निर्गच्छेद्वा ।।5॥

मत्स्वामिनाऽसंधातुकामोरिपुर्मां विलम्बयितुमिच्छतीत्यननुज्ञातोऽपिदूतोऽप सरेद् गूढ़ पुरुषान्वाऽवसर्पयेत् ।।6॥
परेणाशु प्रेषितो दूतः कारणं विमृशेत् ।।7॥

अन्वयार्थ :- (दूतः) वचोवाही (अविज्ञातः) विज्ञप्ति दिये बिना (परस्थानम्) शत्रु स्थान में (न) नहीं (प्रविशेत्) प्रवेश करे (वा) अथवा (निर्गच्छेत्) प्रस्थान भी नहीं करे ।।5॥ (मत्) मेरे (स्वामिना) स्वामी के साथ (असंधातुकाम) सन्धि का इच्छुक नहीं है (रिपुः) शत्रु अपितु (माम्) मुझे (विलम्बयितुम्) युद्धेच्छा से मुझे देर कर रहा है (इति) इस प्रकार इस समय (अननुज्ञातः) उसे ज्ञात नहीं करके (अपि) भी (दूतः) वचोहर (अपसरेत्) बाहर निकल जावे । (वा) अथवा (गूढ़ पुरुषान) वृद्ध अनुभवी गुप्तचरों को अवसर्पयेत् ।।6॥ अर्थात् भेद दे : यदि (परेण) शत्रु द्वारा (आशु) शीघ्र ही (प्रेषितः) लौटा दिया तो (दूतः) दूत उसका (कारणम्) हेतू (विमृशेत्) विचार करे ।।7॥

विशेषार्थ :- वचोवाह (दूत) शत्रु से छिपकर – उसकी आज्ञा बिना, शत्रुस्थान में प्रवेश न करे और न

ही वहाँ से बिना आज्ञा वापिस आये ।। सारांश यह है कि दूत शत्रु की आज्ञानुसार प्रवेश व प्रस्थान करेगा तो उसे अपने अपाय-घात आदि का भय नहीं रहेगा ।।5॥ गुरु ने भी कहा है :-

शत्रूणा योऽपरिज्ञातो दूतस्तत्स्थानमाविशेत् ।
निर्गच्छेद्वाततः स्थानात् स दूतो वधमाप्नुयात् ।।1॥

अर्थ :- जो दूत शत्रु की आज्ञा बिना ही उसके स्थान में प्रवेश या प्रस्थान करता है, वह वध को प्राप्त करता है ।।1॥

यदि दूत को यह अवगत हो जावे कि यह शत्रु मेरे स्वामी के साथ सन्धि न करके युद्ध ही करना चाहता है, और मुझे इसी कारण विलम्ब करा रहा है, उस समय उसे शत्रु की आज्ञा बिना ही शीघ्र वहाँ से चला जाना चाहिए । अथवा अपने स्वामी के पास गुप्त दूत भेजकर उसे सूचना भेज देना चाहिए । इस विषय में हारीत विद्वान ने लिखा है :-

असन्धानं परं शत्रुं दूतो ज्ञात्वा विचक्षणः ।
अनुक्तोऽपि गृहं गच्छेद् गुप्तान् वा प्रेषयेच्चरान् ।।1॥

अर्थ :- चतुर दूत का कर्त्तव्य है कि शत्रु को अपने स्वामी से युद्ध करने का इच्छुक ज्ञात कर उसकी आज्ञा के बिना ही शीघ्र ही अपने स्वामी के स्थान पर गुप्त दूत भेज दे ।।1॥ ।।6॥ यदि शत्रु ने दूत को देखते ही वापिस भेज दिया हो तो इस विषय में दूत को स्थिरचित्त से विचार करना चाहिए । कारण खोजने से उसकी निर्वृत्ति का उपाय शीघ्र बन जाता है । गर्ग विद्वान ने भी कहा है :-

शत्रुता प्रेषितो दूतो यच्छीघ्रं प्रविचिन्तयेत् ।
कारणं चैव विज्ञाय कुर्यात् स्वामिहितं ततः ।।1॥

अर्थ :- शत्रु द्वारा शीघ्र विसर्जित-भेजे गये दूत को इस जल्दबाजी का "कारण क्या है ?" इसका पता अतिशीघ्र लगाना चाहिए । यथा-योग्य पात्र बिना दान किस प्रकार लगा रहता है इसका ज्ञान शीघ्र लगा लेना चाहिए ।।1॥

दूत का स्वामी-हितोपदेश-हितोपयोगी कर्त्तव्य :-

कृत्योपग्रहोऽकृत्योत्थापनं सुतदायादावरुद्धोपजापः स्वमण्डल प्रविष्ट गूढ़पुरुष परिज्ञानमन्त पालाट विककोशदेश, तन्त्र मित्रावबोधः कन्यारत्नं विहाय वाहरं सुतद्वारा रत्न वाहनविनि श्रावणं स्वाभीष्ट पुरुष प्रयोगात् प्रकृति क्षोभकरणं दूत कर्म ।।8॥

अन्वयार्थ :- (कृत्य) करके (उपग्रहः) उपकार कर (उत्थापनम्) उत्थान (अकृत्य) नहीं करके (सुत दायादौ) शत्रुपुत्र व हिस्सेदारों में (अवरुद्ध) विरोधी (उपजापः) द्रव्यदानादि से भेद (स्व मण्डल प्रवेश विष्टः) अपने समूह में (गूढ़पुरुष परिज्ञानम्) गुप्त पुरुषों का ज्ञान (अन्तपालाट) सीमाधिप (विवकोशदेश) भित्रादि कोश, देश (तन्त्रः) सेना (मित्रः) मित्र (विवोधः) परिज्ञान (कन्यारत्नवाहन) कन्यारत्न, हाथी घोड़ादि वाहन (विनिश्रावणम्)

निकालने का यत्न (स्वाभीष्टपुरुषप्रयोगात्) अपने इष्ट पुरुषों के प्रयोग से (प्रकृति क्षोभकरणम्) शत्रु के मंत्री, सेनापति आदि को क्षुमित करना (दूतकर्म) दूत का कर्त्तव्य है ।

विशेषार्थ :- दूत अपने स्वामी का समाचार लेकर शत्रु राजा के यहां जाता है । वहां निवासकर क्या करे? निम्न कार्य करे :-

1. नैतिकाचारपूर्वक शत्रु की सेनादि नष्ट करना 2. राजनीति के उपायों द्वारा शत्रु का अनर्थ करना-अर्थात् शत्रु विरोधी-क्रुद्ध-लुब्ध-भीत-अभिमानी लोगों को दान, सम्मानादि द्वारा वश करना, 3. शत्रु के पुत्रादि कुटुम्बियों में दानादि द्वारा भेद डालना, 4. शत्रु द्वारा नियुक्त गुप्तचरों का पता लगाना, 5. सीमाधिप-भिल्ल-आटविककोश, देश, सेना मित्रादि की परीक्षा करना, 6. शत्रुदेश की कन्यारत्न, अश्व, गजादि को निकालने का मार्ग पता लगाना, 7. शत्रु-प्रकृति-सेनापति, मंत्री आदि में क्षोभ उत्पन्न करने का प्रयत्न करना ये योग्य दूत के कर्त्तव्य हैं : कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है :-

स्थान समय कर्त्तव्य की जिसको है पहिचान ।
बोले पहिले सोचकर, वह ही दूत महान ।।7 ॥

कुरल पृ.246.हिन्दी

अर्थ :- जिसे समुचित क्षेत्र, समुचित समय और योग्य कर्त्तव्य का भान है-सही परख है, तथा बोलने में जो चतुर है, बोलने के पूर्व अपने शब्दों के फल का निर्णय ले सकता है वही दूत सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है ।।8 ॥

मन्त्रिपुरोहित सेनापति प्रतिबद्ध पूजनोपचार विश्रम्भाभ्यां शत्रोरितकर्त्तव्यतामन्तः सारतां च विद्यात् ।।9 ॥

अन्वयार्थ :- *दूत का कर्त्तव्य है कि शत्रु के (मन्त्रिपुरोहित, सेनापति प्रतिबद्धः) मन्त्रि, पुरोहित सेनापति* के योग्य और भी राजा के निकटवर्तियों को (पूजनोपचारेण) सत्कारादि उपाय से (विश्रम्भाभ्याम्) विश्वास देकर (शत्रोरितकर्त्तव्यता) कामों को (अन्तः) अन्तरङ्ग (सारताम्) सार को (च) और भी रहस्य (विद्यात्) जाने ।

विशेषार्थ :- दूत शत्रु के मन्त्री, पुरोहित और सेनाध्यक्ष के समीपवर्ती पुरुषों को धन, सम्मान, दान द्वारा विश्वास उत्पन्न कराकर शत्रु हृदय की गुप्त वार्ता, संग्रामादि के विषय में जानकारी प्राप्त करे । उसके कोशादि की शक्ति का परिज्ञान करे ।।9 ॥

स्वयमशक्तः परेणोक्तमनिष्टं सहेत ।।10 ॥

अन्वयार्थ :- (स्वयम्) अपने आप (अशक्तः) असमर्थ (परेण) दूसरे द्वारा (उक्तम्) कहे हुए (अनिष्टम्) अनिष्ट को (सहेत) सहन करे ।

विशेषार्थ :- दूत का कर्त्तव्य है कि वह स्वयं शत्रु राजा को कठोर वचन न कहकर उसके द्वारा कथित कठोर वाक्यों को सहन करे ।।10 ॥ शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

असमर्थेन दूतेन शत्रोर्यत् परुषं वचः । तत् क्षन्तव्यं न दातव्यमुत्तरं श्रियमिच्छता ।।

अर्थ :- लक्ष्मी के इच्छुक दूत को शत्रु से कर्कश-कठोर वचन न कहकर उसके कठोर वचनों को सहन

करे प्रत्युत्तर नहीं दे ।। और भी :-

गुरुषु स्वामिषु वा परिवादे नास्ति क्षान्तिः ।।11।।

अन्वयार्थ :- (गुरुषु) गुरु की (वा) अथवा (स्वामिषु) स्वामी की (परिवादे) निन्दा करने पर (क्षन्तिः) शान्त (नास्ति) नहीं रहना ।

विशेषार्थ :- यदि शत्रु राजा गुरु की अथवा दूत के राजा स्वामी की निन्दा करे तो उस समय उसे मौन नहीं रहना चाहिए अपितु यथायोग्य प्रतिकार करे ।।11।। जैमिनि विद्वान ने कहा है :-

गुरोर्वा स्वामिनो वापिकृतां निन्दां परेण तु ।
यः श्रृणोति न कुप्येच्च स पुमान्नरकं व्रजेत् ।।1।।

अर्थ :- जो पुरुष गुरु व अपने स्वामी की निन्दा को शत्रु द्वारा किये जाने पर सुनता है सहन करता है, उसका विरोध नहीं करता, कुपित नहीं होता वह पुरुष नियम से नरक में जाता है ।।1।।

निरर्थक विलम्ब से हानि :-

स्थित्वापि यियासतोऽवस्थानं केवलमुपक्षयहेतुः ।।12।।

अन्वयार्थ :- (स्थित्वा) स्थित (अपि) भी (यियासतः) गमन का इच्छुक (अवस्थानम्) रुकता है तो (केवलम्) मात्र यह (उपक्षय) नाश का (हेतुः) कारण ।

विशेषार्थ :- जो व्यक्ति अपने कार्य की सिद्धि के लिए विदेश गमन के लिए निश्चय कर चुका है, तो भी कारण वश या प्रमादवश नहीं जाता या जाने में विलम्ब करता है तो उसका धन लाभादि कार्य नष्ट हो जाता है । रैम्य ने कहा है :-

अवश्यं यदि गन्तव्यं तन्न कुर्याद्विलम्बनम् ।
गन्तव्यमेव नो चेद्धि तस्माद्धनपरिक्षयः ।।1।।

अर्थ :- नैतिक पुरुष को अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचने में विलम्ब नहीं करना चाहिए । अन्यथा उसकी अर्थ क्षति अवश्यंभावी है ।।1।।

राजनैतिक प्रकरण में इसका अभिप्राय यह है कि विजिगीषु राजा स्थित होकर भी शक्ति संचय-सेना-संगठन, कोष सञ्चय आदि करके शत्रु पर शीघ्र आक्रमण नहीं करे, केवल शत्रु को परास्त करने की इच्छा लिए बैठा रहे या विलम्ब करे तो उसके धन-जन, यश की क्षति हो जाती है । क्योंकि शत्रु निर्बल ज्ञात कर उस पर चढ़ाई कर देगा, फलतः उसे परास्त होकर धन जन की क्षति होगी ।।12।।

दूतों से सुरक्षा का दृष्टान्त :-

वीर पुरुष परिवारितः शूरपुरुषान्तरितात् दूतान् पश्येत् ।।13।।
श्रूयते हि किल चाणिक्यस्तीक्ष्णदूतप्रयोगेणैकं नन्दं जघान ।।14।।

अन्वयार्थ :- (वीर पुरुष परिवारित:) स्वयं सुभटों के मध्य रहकर (शूर पुरुषान्तरितान्) शूरवीरों से घिरे (दूतान्) दूतों को (पश्येत्) देखे बात करे ।।13॥ (हि) क्योंकि (श्रूयते) सुना जाता है (किल) निश्चय से (चाणिक्य:) चाणिक्य ने (तीक्ष्णदूतप्रयोगेन) विषकन्या रुप दूत द्वारा (एकम्) एकाकी (नन्दम्) नन्द राजा को (जघान) मार डाला ।

विशेषार्थ :- विजिगीषु राजा को स्वयं वीर, भक्त सुभटों के मध्य रहकर एवं शत्रु देश से आये दूतों को भी वीर सैनिकों के मध्य रखकर उनसे वार्तालाप करना चाहिए । सारांश यह है कि सैनिक समूह बिना अकेला राजा शत्रु दूतों को अकेला रखकर बात-चीत न करे अन्यथा वह खतरे में पड़ जायेगा । नारद ने भी कहा है -

परदूतान् नृपः पश्येत् वीरैर्बहुभिरावृतः ।
शूरैरन्तर्गतस्तेषां चिरं जीवितुमिच्छया ।।1॥

अर्थ :- चिरकाल जीवित रहने की इच्छुक राजा विजिगीषु बहुत से सैनिकों से घिरा रहकर शत्रु दूतों को देखे अर्थात् उनसे वार्तालाप करे ।।

ऐतिहासिक सत्य घटना है कि आर्य चाणक्य (ई. से 330 वर्ष पूर्व सम्राट् चन्द्रगुप्त का मन्त्री) ने तीक्ष्ण दूत-विषकन्या के प्रयोग द्वारा अरक्षित नन्द राजा को मार डाला था ।।14॥

शत्रु द्वारा प्रेषित लेख उपहार के विषय में राजा का कर्त्तव्य :-

शत्रु प्रहितं शासनमुपायनं च स्वैर परीक्षितं नोपाददीत ।।15॥

अन्वयार्थ :- (शत्रुप्रहितम्) शत्रु द्वारा भेजा (शासनम्) लेख (च) और (उपायनम्) उपहार (स्वैः) अपने द्वारा (अपरीक्षितम्) परीक्षा नहीं करके (न) नहीं (उपाददीत) ग्रहण करे ।।15॥

विशेषार्थ :- शत्रु राजा के यहां से आया दूत लेख या उपहार प्रदान करे तो प्रथम राजा स्वयं उसकी परीक्षा करके ग्रहण करे । प्रथम आत्मीयजनों व प्रामाणिक वैद्यों द्वारा परीक्षित कराकर ग्रहण करे ।। शुक्र विद्वान भी कहते हैं :-

यावत् परीक्षितं न स्वैर्लिखितं प्राभृतं तथा ।
शत्रोरभ्यागतं राज्ञा तावद् ग्राह्यं न तद्भवेत् ।।1॥

अर्थ :- राजा को शत्रु प्रेषित पत्र व उपहार की जब तक वैद्यादि आप्त पुरुषों द्वारा प्रमाणित नहीं कराले तब तक उसे स्वीकार नहीं करे ।।1॥ दृष्टान्त :-

श्रूयते हि किल स्पर्शविषवासितादद्भुतवस्त्रोपायनेन करहाटपतिः कैटभोवसुनामानं राजानं जघान ।।16॥

अन्वयार्थ :- (हि) इस प्रकार (किल) निश्चय से (श्रूयते) कहा जाता है (स्पर्श विषवासित:) विष के स्पर्श से वासित (अद्भुत) सुन्दर (वस्त्रोपायनेन) वस्त्र उपहार द्वारा (करहाटपति:) करहाट के राजा (कैटभ:) कैटभ ने (वसुनामानं) वसुनाम के (राजानम्) राजा को (जघान) मार डाला ।।16॥

विशेषार्थ :- कहा जाता है कि करहाट देश के राजा कैटभ ने वसुनाम के प्रतिद्वन्दी भूपाल के पास दूत द्वारा कुछ सुन्दर वस्त्र उपहार स्वरूप भेजे । वे वस्त्र विष द्वारा वासित-पुट किये गये थे अर्थात् बार-बार विषजल में डुबो फैलने वाले विष युक्त हो जाते हैं । वे बहुमूल्य वस्त्र भेंट में आये । राजा ने विचारे बिना उन्हें स्वीकार कर लिया और मृत्यु का वरण किया । अतः शत्रु कृत खतरे से रक्षित रहने के लिए राजा को लोभ त्याग कर परिक्षित वस्तुओं का ग्रहण करना चाहिए ।।16॥ इसी प्रकार और भी उदाहरण है :-

आशीविषधरोपेतरत्नकरण्डक प्राभृतेन च करवालः करालं जघानेति ।।17॥

अन्वयार्थ :- (आशीविषधरः) भयंकर विषधर से (उपेतः) सहित (रत्नकरण्डकः) रत्नों का पिटारा (प्राभृतेन) उपहार द्वारा (च) और (करवालः) करवाल राजा ने (करालम्) कराल नामक राजा को (जघान इति) मार डाला ।

विशेषार्थ :- प्रतिद्वन्दी-शत्रु राजा करवाल ने दृष्टिविष वाले सर्प से युक्त रत्नों से भरा पिटारा (करण्ड) कराल राजा की भेंट में दूत द्वारा भेजा । कराल पृथ्वीपति ने अपने आत्मीयजनों के परामर्श के बिना स्वयं ही उस करण्ड को ग्रहण कर लिया । ज्यों ही उसे खोला कि उसके अन्दर विद्यमान आशीविष भुजंग ने उसे डस लिया । शीघ्र ही विष सर्वाङ्ग व्याप्त हो गया और कराल चिरनिद्रा (मृत्यु) वश हो गया ।। अतः राजा को निरन्तर सावधानी से परीक्षा कर ही शत्रु द्वारा प्रेषित वस्तुओं को स्वीकार करना चाहिए अन्यथा नहीं ।।17॥

दूत के प्रति राजा का कर्त्तव्य :- वध न करना, दूत लक्षण, वचन श्रवण :-

महत्यपराधेऽपि न दूतमुपहन्यात् ।।18॥
उद्धतेष्वपि शस्त्रेषु दूतमुखाः वै राजनः ।।19॥

अन्वयार्थ :- (महति) भयंकर (अपराधे) अपराध करने पर (अपि) भी (दूतम्) दूत को (न) नहीं (हन्यात्) मारे ।।

विशेष :- भयंकर अपराध करने पर दूत का वध नहीं करना चाहिए । शुक्र ने भी इस विषय में कहा है :-

दूतो न पार्थिवो हन्यादपराधे गरीयसि ।
कृतेऽपि तत्क्षणात्तस्य यदीच्छेद् भूतिमात्मनः ।।1।।

अर्थ :- राजा यदि अपनी भलाई या कल्याण चाहता है तो उसे दूत द्वारा गुरुतर दोष-अपराध किये जाने पर भी उसका उस समय वध नहीं करना चाहिए ।।1॥

(उद्धतेषु) उठाने पर (अपि) भी (शस्त्रेषु) शस्त्रेषु (दूतमुखाः) दूतों से समाचार पाने वाले (वै) ही (राजनः) राजा लोग [भवन्ति] होते हैं ।

विशेष :- सैनिकों द्वारा शस्त्र संचालन प्रारम्भ होने पर घोर युद्ध प्रारंभ होने पर भी राजा लोग दूत वचनों द्वारा सन्धि-विग्रहादि का समाचार प्राप्त कर विजय लक्ष्मी प्राप्त करते हैं । संग्राम के बाद भी दूतों का उपयोग होता है । अतः दूत कभी भी राजाओं द्वारा वध्य नहीं होता ।।19॥ गुरु विद्वान ने भी कहा है :-

अपि सङ्ग्रामकालेऽपि वर्तमाने सुदारुणे ।
सर्व्यन्ति संमुखा दूता वधं तेषां न कारयेत् ।।1 ॥

अर्थ :- महा भयङ्कर संग्राम प्रारम्भ होने पर भी दूत राजाओं के समक्ष सन्धि आदि कराने के निमित्त विचरते रहते हैं । अतएव राजा का उनका वध नहीं करना चाहिए । दूत राजा का दांया हाथ होता है ।।19॥ और भी कहते हैं :-

(तेषांमन्तेवा) तेषामन्तावसायिनोऽप्यवध्या: ।।20 ॥

अन्वयार्थ :- (तेषाम्) उन दूतों में (अन्तौ असयिन:) चाण्डाल (अपि) भी (अवध्या:) मारने योग्य नहीं है ।

विशेष :- दूतों में यदि कोई चाण्डालजाति का है तो भी वह मृत्युदण्ड का पात्र नहीं फिर ब्रह्माणादि उच्चकुलीनों की तो बात ही क्या है ? वे तो अवध्य हैं ही ।।

किं पुन ब्राह्मण: ।।21 ॥

ब्राह्मणादि यदि दूत पदासीन हैं तो वे तो अवध्य हैं ही । शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

अन्तावसायिनो येऽपि दूतानां प्रभवन्ति च ।
अवध्यास्तेऽपि भूतानां स्वकार्य परिसिद्धये ।।1 ॥

अर्थ :- राजदूतों में यदि कोई चाण्डाल भी हों तो भी राजा को अपने कार्य की सिद्धि के लिए उसका वध कभी नहीं करना चाहिए ।।1 ॥

अबध्यभावो दूत: सर्वमेव जल्पति ।।22 ॥

अन्वयार्थ :- (अबध्यभाव:) नहीं मारने योग्य (दूत:) राजदूत (सर्वमेव) सत्य-असत्य, कटु-मधुर आदि सर्व ही वार्ता (जल्पति) बोलता है ।

विशेष :- दूत राजा द्वारा मारने योग्य नहीं होता । वह निर्भयता से सत्य-असत्य कटु-मधुर, प्रिय-अप्रिय, वचन राजा के समक्ष बोलता है तो भी राजा को धैर्य पूर्वक सर्व सहन करना चाहिए ।।22॥ दृष्टान्त :-

क:सुधीर्दूतवचनात् परोत्कर्षं स्वापकर्षं च मन्येत ।।23 ॥

अन्वयार्थ :- (क:) कौन (सुधी:) बुद्धिमान (दूतवचनात्) दूत के वचन से (परोत्कषम्) पर का विकास (च) और (स्वाप कर्षम्) अपना अपकर्ष (मन्येत) मानता है ?

विशेषार्थ :- राजदूत के वचन सुनकर कौन बुद्धिमान राजा अपने शत्रु का उत्कर्ष और अपना अपकर्ष मानेगा? कोई नहीं मानेगा । क्योंकि दूत के वचन शत्रु की उन्नति और अपनी अवनति करने वाले नहीं ।। अत: वशिष्ठ विद्वान ने भी कहा है :-

श्रोतव्यानि महीपेन दूतवाक्यान्यशेषतः ।
विशेषेर्ष्यां परित्यज्य सुशुभान्यशुभान्यपि ।।1 ॥

अर्थ :- बुद्धिमान राजनीतिज्ञ राजा को ईर्ष्या परित्याग कर दूत द्वारा कहे हुए प्रिय अप्रिय सभी प्रकार के वचन शान्ति से सुनने चाहिए ।।1 ॥

दूत के प्रति शत्रु-रहस्यज्ञानार्थ राजकर्त्तव्य व शत्रु लेख :-

स्वयं रहस्य ज्ञानार्थं परदूतो नयाद्यैः स्त्रीभिरुभयवेतनैस्तद् गुणाचार शीलानुवृत्तिभिर्वा वंचनीयः ।।24 ॥

चत्वारि वेष्टनानि खड्गमुद्रा च प्रतिपक्ष लेखानाम् ।।25 ॥

अन्वयार्थ :- राजा (स्वयं) आप (रहस्य ज्ञानार्थं) शत्रु के रहस्य को जानने के लिए (परदूतः) शत्रु राजा के दूत को (नयाद्यैः) न्याय नीति से युक्त (स्त्रीभिः) वेश्यादि स्त्रियों द्वारा (उभय वेतनैः) दोनों ओर से वेतनभोगी दूतों तथा (वा) अथवा (तद्गुणाचार शीलानुवृत्तिभिः) दूत के गुण, आचार-विचार स्वभाव से परिचितों द्वारा (वञ्चनीयः) वश करना चाहिए ।।24 ॥

विशेष :- शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

दूतस्य यद्रहस्यं च तद्वेश्योभयवेतनैः ।
तच्छीलैर्वा परिज्ञेयं येन शत्रुः प्रसिद्धयति ।।1 ॥

अर्थ :- राजा को शत्रु-दूत का रहस्य, जिससे कि शत्रु राजा समुन्नत हो रहा है जानने के लिए वेश्याओं, दोनों तरफ से वेतन लेने वाले तथा दूत प्रकृति से परिचित व्यक्तियों द्वारा प्रयत्नशील रहना चाहिए ।।1 ॥

(चत्वारि वेष्टनानि) चार कपड़ों में लपेटकर (खड्गमुद्रा) राजमोहर (च) और लगा (प्रतिपक्ष लेखानाम्) शत्रु के लेखों को प्रेषित करें ।।

विशेष :- विजिगीषु राजा के पास प्रेषित लेखों-पत्रादि में चार वेष्टन लपेट उनके ऊपर चार मोहर लगाना चाहिए जिससे वे खुलने न पावें ।।25।।

" ॥ इति दूत समुद्देशः ।।" ।।13 ॥

इति श्री परम् पूज्य प्रातःस्मरणीय विश्ववंद्य, चारित्र चक्रवर्ती मुनिकुञ्जर समाधि सम्राट् महातपस्वी, वीतरागी, दिगम्बराचार्य श्री आदिसागर जी अंकलीकर के पट्टाधीश तीर्थ भक्त शिरोमणि, समाधि सम्राट् आचार्य श्री 108 महावीर कीर्ति जी महाराज संघस्था, सन्मार्ग दिवाकर आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज की शिष्या श्री ज्ञानचिन्तामणि परम् पूज्य प्रथमगणिनी आर्यिका श्री 105 विजयामती जी ने यह विजयोदय हिन्दी भाषा टीका का 13वाँ समुद्देश परम् पूज्य तपस्वी सम्राट् सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य श्री 108 सन्मति सागर जी महाराज के चरण सान्निध्य में सोत्साहपूर्ण किया ।।

14

चार समुद्देश

गुप्तचरों का लक्षण, गुण, वेतन व उसका फल :-

स्वपर मण्डल कार्याकार्यावलोकने चाराः खलु चक्षूंषि क्षितिपतीनाम् ।।1।।

अलौल्यममान्द्यममृषाभाषित्वमभ्यूहकत्वं चारगुणाः ।।2।।

तृप्टिदानमेव चाराणां वेतनम् ।।3।।

ते हि तल्लोभात् स्वामिकार्येषु त्वरन्ते ।।4।।

अन्वयार्थ :- (गुप्तचराः) गुप्तचर (स्वः) अपने (व) अथवा (परः) शत्रु के (मण्डलस्य) मण्डल के कार्य का (कार्याकार्य) कार्य व अकार्य के (अवलोकने) निरीक्षण में (खलु) निश्चय ही (चक्षुंषि) आखें हैं (क्षितिपतीनाम्) राजाओं की ।।1।।

विशेषार्थ :- गुप्तचर राजाओं के नेत्र समान होते हैं क्योंकि वे स्व और पर शत्रुओं के कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य का निरीक्षण कर उन्हें सूचित करते हैं । राजनीति सम्बन्धी वृत्तान्त वे ही लाते हैं ।।1।। गुरु विद्वान ने कहा है -

स्व मण्डले परे चैव कार्याकार्यं च यद्भवेत् ।
चरैः पश्यन्ति यद्भूपा सुदूरमपि संस्थिताः ।।1।।

अर्थ :- राजा लोग दूरदेशवर्ती होकर के भी स्वदेश, परदेश सम्बन्धी कार्य अकार्य शुभाशुभ कार्यों का दूतों द्वारा ही परिज्ञान करते हैं । गुप्तचर राजाओं के नेत्र हैं ।।1।। (अल्यौल्यम्) सन्तोष (अमान्द्यम्) उत्साह (अमृषा) सत्य (भषित्वम्) बोलना (अभ्यूहकत्वं) कार्य-अकार्य ज्ञान (चारगुणाः) गुप्तचरों के गुण हैं।

विशेषार्थ :- सन्तोष, निरालस्य-उत्साह या निरोगता, सत्यभाषण और विचारशक्ति ये गुप्त चरों के गुण हैं। भागुरि विद्वान ने भी लिखा है :-

अनालस्यमलौल्यं च सत्यवादित्वमेव च ।
अहकत्वं भवेद्येषां ते चराः कार्यसाधकाः ।।1।।

अर्थ :- प्रमादरहित होना, सन्तोष और सत्यवादिता, तर्क-वितर्कता ये गुप्तचरों के गुण हैं । इन गुणों से युक्त गुप्तचर अवश्य राजकीय कार्य सिद्ध करने वाले होते हैं ।।1॥

"तुष्टिदानमेव चाराणां वेतनम् ।।3॥"

अन्वयार्थ :- (तुष्टिदानम्) सन्तुष्ट राजा द्वारा दिया पारितोषिक (चाराणाम्) गुप्तचरों का (वेतनम्) वेतन है-नौकरी है ।।

विशेषार्थ :- कार्य सिद्धि होने पर राज तृप्त-सन्तुष्ट होकर जो गुप्तचरों को पारितोषिक रूप में धनराशि या द्रव्य प्रदान करता है वही उनकी तनख्वाह-वेतन है । क्योंकि -

तेहि तल्लोभात् स्वामिकार्येषु त्वरन्ते ।।4॥

अन्वयार्थ :- क्यों कि (ते) वे-गुप्तचर (हि) निश्चय से (तल्लोभात्) इनाम के लोभ से (स्वामिकार्येषु) अपने स्वामी के कार्यों में (त्वरन्ते) शीघ्रता करते हैं ।।4॥

विशेष :- पारितोषित पाने की चाह-लोभ से वे अपने राजा के कार्यों को विशेष उत्साह और सावधानी से शीघ्र ही सम्पादन करने का प्रयत्न करते हैं ।। गौतम ने कहा है :-

स्वामिसंतुष्टिप्रदानं ये प्राप्नुवन्ति समुत्सुकाः ।।
ते तत्कार्याणि सर्वाणि चराः सिद्धिं नयन्ति च ।।1॥

अर्थ :- जो गुप्तचर अपने कार्य की सफलता से राजा को सन्तुष्ट करते हैं और प्रसन्न राजा से सुन्दर उपहार-धनादि प्राप्त करते हैं । राजा से हमें विशेष पारितोषिक प्राप्त होगा इस आशा से वे अतिशीघ्र और विशेष लगन से स्वामी के कार्यों का सम्पादन करते हैं ।।1॥ ।।4॥ कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है :-

रिपूणां राजभृत्यानां बान्धवानाञ्च भूपतिः ।
गतिं मतिं च विज्ञातुं नियुञ्जीत 'चरं' सदा ।।4॥

कुरल.प.छे.59पृ.59.

अर्थ :- शत्रु राजाओं और नोकर चाकर एवं बन्धु-बान्धवों की क्रिया, प्रकृति मति, बुद्धि, भावों को ज्ञात करने के लिए राजा गुप्तचर नियुक्त करे ।।4॥

गुप्तचर के वचनों पर विश्वास, गुप्तचर बिना हानि व दृष्टान्त :-

असति संकेते त्रयाणामेकवाक्ये सम्प्रत्ययः ।।5॥ "युगपत" यह पद भी स्थान में है ।

अनवसर्पो हि राजा स्वैः परश्चातिसन्धीयते ।।6॥
किमस्त्ययाभिकस्य निशि कुशलम् ।।7॥

अन्वयार्थ :- (असति) नहीं होने पर (संकेते) संकेत के (त्रयाणाम्) तीन गुप्तचरों की (एक वाक्ये) एक समान बात होने पर (सम्प्रत्ययः) विश्वास करना ।।5॥

विशेषार्थ :- यदि राजा को किसी गुप्तचर के सन्देश में शंका हो जावे तो, तीन गुप्तचरों से पृथक्-पृथक्

समाचार मंगावे । तीनों का एक समान वचन हो तो विश्वास कर लेना चाहिए ।15॥ भागुरि विद्वान ने कहा है –

असंकेतेन चाराणां यदा वाक्यं प्रतिष्ठितम् ।
त्रयाणामपि तत्सत्यं विज्ञेयं पृथिवीभुजा ।।1॥

अर्थ :- जब गुप्तचरों के वाक्य निश्चित (विश्वासयोग्य) न हों तो तीन गुप्तचरों से कही गई एक समान बात होने प्रमाणित कर लेना चाहिए ।। यही बात :-

परस्परमजानन्तः स्वराष्ट्रे द्वुर्गे सभीहितम् ।
त्रयाणामेकवाक्ये तु सत्यं बुध्येत भूपतिः ।।9॥

कुरल प.छे.59 ।।

अर्थ :- परस्पर अज्ञात ऐसे गुप्तचरों में तीनों की बात एक समान मिले तो उसे प्रमाण स्वीकार करे और उनको समीहित-इच्छापूर्ति के कार्य में ही लगावे । एक समान कार्य की रिपोर्ट समान होने पर सत्य मानना चाहिए ।19॥

अन्वयार्थ :- (अनवसर्पः) गुप्तचर रहित (राजा) भूपाल (हि) निश्चय से (स्वैः परैश्च) अपने और दूसरे शत्रुओं द्वारा (अतिसन्धीयते) आक्रमण किया जायेगा । आक्रमण किया जाता है ।।

विशेषार्थ :- जो भूप गुप्तचर नहीं रखता वह निश्चय ही स्वराजकीय शत्रुभाव प्राप्तों द्वारा व अन्यदेशीय शत्रुओं द्वारा आक्रमण योग्य होता है । अर्थात् कोई भी कभी भी आक्रमण कर परास्त कर देगा । अतः विजिगीषु राजाओं को अवश्य ही गुप्तचर बहाल करना चाहिए । चारायण विद्वान ने भी कहा है :-

वैद्यसंवत्सराचार्यैश्चारैर्ज्ञेयं निजं बलम् ।
वामाहिरण्डिकोन्मत्तैः परेषामपि भूभुजाम् ।।1॥

अर्थ :- राजाओं को वैद्य, ज्योतिषी, विद्वान, स्त्री, संपेरा शराबी आदि नानाविध गुप्तचरों द्वारा अपनी व शत्रुओं की सैन्यशक्ति आदि का पता लगाने का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए ।।1॥ अतः राजाओं को गुप्तचर अवश्य रखना चाहिए ।16॥

अन्वयार्थ :- (किम्) क्या (अयामिकस्य) पहरेदार के बिना (निशि) रात्रि में (कुशलम्) क्षेम (अस्ति) है ? नहीं।

विशेषार्थ :- यदि कोई धनेश्वर पहरेदार न रखे तो क्या रात्रि में वह निर्भय व सुरक्षित रह सकेगा ? नहीं रह सकता। इसी प्रकार जो राजा गुप्तचर नियुक्त न करे तो वह भी उसी के समान शत्रुओं द्वारा आक्रमण किये जाने पर परास्त कर दिया जायेगा । जिस प्रकार रात्रि में कोतवाल बिना चोरादि धनिक के माल को चुरा सकते हैं उसी प्रकार गुप्तचरों के बिना शत्रु राजा लूट-पाट-चढ़ाई कर राज्य को नष्ट कर देंगे । अतः राजा को राज्य की सुरक्षार्थ गुप्तचर अवश्य रखना चाहिए ।17॥ वर्ग विद्वान ने भी कहा है :-

यथाप्राहरिकैर्वाह्यं रात्रौ क्षेमं न जायते ।
चारैर्विना न भूपस्य तथाज्ञेयं विचक्षणैः ।।1॥

अर्थ :- जिस प्रकार प्रहरी के बिना रात्रि में बाह्य चोरों से लोगों का रक्षण कल्याण नहीं हो सकता, धनाढ्य

सुरक्षित नहीं रह सकते उसी प्रकार गुप्तचरों के अभाव में राजा की कुशलक्षेम नहीं हो सकती ।। सारांश यह है कि राजा को राज्य की रक्षार्थ गुप्तचर अवश्य रखना चाहिए । गुप्तचरों को कुन्द-कुन्द स्वामी ने राजाओं के नेत्र कहा है :-

नेत्रद्वयेनभूपालोवीक्षते राज्य संस्थितिम् ।
राजनीतिस्तु तत्रैकं द्वितीयं चरसंज्ञकम् ।।1 ॥

अर्थ :- राजा को सतत ध्यान रखना चाहिए कि राजनीति और गुप्तचर ये दो आँखें हैं जिनसे राजा अवलोकन करता है ।।1 ॥ कुरल, परि.छेद 59.

गुप्तचरों के भेद एवं लक्षण :-

छात्र कापिटकोदास्थित-गृहपति-वैदेहित-तापस-किरात-यम पट्टिका हितुण्डिक शौण्डिक-शौभिक-पाटच्चर-विट-विदूषक-पीठमर्द-नर्त्तक-गायन-वादक-वाग्जीवन-गणक-शाकुनिक-भिषगैन्द्रजालिक-नैमित्तिक-सूदारालिक-संवादक-तीक्ष्ण+क्रूर-जड़-मूक-वधिरान्ध छद्मावस्थायियापि भेदेनावसर्पवर्गा: ।।8 ॥

विशेषार्थ :- आगम में दूतों के 34 भेद कहे हैं, वे हैं-कुछ कार्य तो अवस्थायी होते हैं, जिन्हें राजा स्वयं अपने ही देश में पुरोहित आदि की जांच के लिए नियुक्त करते हैं और कुछ यायी-अन्य देश के शत्रु राजाओं की गति-विधि का ज्ञान करने के लिए नियुक्त करते हैं । 34 भेद निम्न प्रकार हैं-1. छात्र, 2. कापटिक 3. उदास्थित 4. गृहपति 5. वैदेहिक 6. तापस 7. किरात 8. यमपट्टिक 9. अहितुण्डिक 10. शौण्डिक 11. शौभिक 12. पाटच्चर 13. विट 14. विदूषक 15. पीठमर्द 16. नर्तक 17. गायन 18. वादक 19. वाग्जीवन 20 गणक 21. शाकुनिक 22. भिषक् 23. ऐन्द्रजालिक 24. नैमित्तिक 25. सूद 26. आरालिक 27. संवादक 28. तीक्ष्ण 29. क्रूड़ 30. रसद 31. जड़ 32. मूक 33. वधिर और 34. अन्ध ।।

परमर्मज्ञ: प्रगल्भश्छात्र: ।।9 ॥

अन्वयार्थ :- (पर) दूसरे के (मर्मज्ञ:) अन्त:करण का ज्ञाता (प्रगल्भ:) बुद्धिमान (छात्र:) छात्र कहलाता है ।।10 ॥

विशेषार्थ :- अन्य वाह्य, अभ्यन्तर शत्रुओं के हृदय-विचारों का ज्ञाता व प्रतिभाशाली गुप्तचर "छात्र" कहलाता है ।।10 ॥

यं कमपि समयमास्थाय प्रतिपन्नछात्रवेषक: कापाटिक: ।।10 ॥
प्रभूतान्तेवासी प्रज्ञातिशययुक्तो राज्ञा परिकल्पितवृत्तिरुदास्थित: ।।11 ॥

अन्वयार्थ :- (यम्) जिस (कम्) किसी (अपि) भी (समयम्) शास्त्र को (आस्थाय) पढ़कर (प्रतिपन्न:) प्रबुद्ध (छात्रवेषक:) छात्र के वेष में हो वह (कापाटिक:) कापाटिक है । (प्रभूत) बहुत (अन्तेवासी) छात्रमण्डल युक्त (प्रज्ञातिशययुक्त:) तीक्ष्णबुद्धिवाला (राज्ञा) राजा के आश्रित (परिकल्पितवृत्ति:) निश्चित आजीविका वाला (उदास्थित:) उदास्थित [अस्ति] है ।।9-10 ॥11 ॥

विशेषार्थ :- किसी भी शास्त्र का अध्ययन कर छात्रवेषधारी गुप्तचर "कापटिक" कहलाता है ।।10॥ बहुत सी शिष्यमण्डली सहित, विशिष्ट बुद्धि सम्पन्न और जिसकी जीविका राजा के आश्रय से चलती हो ऐसे गुप्तचर कोउदास्थित कहते हैं ।

गृहपति वैदेहिकौ ग्राम कूटिश्रेष्ठिनौ ।।12॥

अन्वयार्थ :- (ग्रामकूटः) कृषकवेषी (गृहपतिः) गृहपति (श्रेष्ठिनः) सेठ के रूप में रहने वाला (वैदेहिकः) वैदेहिक ।।12॥

विशेष :- जो गुप्तचर कृषक के रूप में रहता है उसे गृहपति गुप्तचर कहते हैं ।। एवं जो श्रेष्ठी-सेठ के भेष में रहकर गुप्तचर (खुफिया) का काम करता है उसे "वैदेहिक" गुप्तचर कहते हैं ।।12॥

वाह्यव्रतविद्याभ्यां लोक दम्भहेतुस्तापसः ।।13॥

अल्पाखिल शरीरावयवः किरातः ।।14॥

यमपहिको गलत्रोटिकः प्रतिगृहं चित्रपटदर्शी वा ।।15॥

अहितुण्डिकः सर्पक्रीडा प्रसरः ।।16॥

शौण्डिकः कल्यपालः ।।17॥

शौभिकः क्षपायां पटावरणेन रूपदर्शी ।।18॥

पाटच्चरश्चौरो वन्दीकारो वा ।।19॥

व्यसनिनां प्रेषणानुजीवो विटः ।।20॥

सर्वेषां प्रहसनपात्रं विदूषकः ।।21॥

कामशास्त्राचार्यः पीठमर्दः ।।22॥

अन्वयार्थ :- (वाह्यव्रतविद्याभ्याम्) बनावटी व्रत व विद्या द्वारा (लोकदम्भ) मनुष्यलोक को ठगने का (हेतुः) कारण (तापसः) ।।13॥ (अल्पः) छोटे (अखिलः) सम्पूर्ण (शरीर अवयवः) शरीर के आङ्गोपाङ्ग (किरातः) किरात है ।।14॥ (प्रतिगृहम्) प्रत्येक घर (यमपट्टिकः) कपड़े में चित्रित पटदर्शी (गलत्रोटिकः) गलाफाड़कर चिल्लाना (वा) अथवा (चित्रपटदर्शी) चित्र दिखाने वाला ।।15॥ (सर्प क्रीडा प्रसरः) अहिक्रीडा प्रचारक (अहितुण्डकः) अहितुण्डिक है ।।16॥ (कल्यपालः) शराब बेचने वाले (शौण्डिकः) शौण्डिक ।।17॥ (क्षपायाम्) रात्रि में (पटावरणेन) चित्रपट फैलाकर (रूपदर्शी) रूप दिखाने वाले (शौभिकः) शौभिक (चौरो) चोर रूप में (वा) अथवा (वन्दीकारः) कैदी (पाटच्चरः) पाटच्चर [अस्ति] है (व्यसनिनाम्) विभिन्न व्यसनों में लोगों को वेश्यादि के यहाँ (प्रेषणः) भेजने से (अनुजीवः) जीविका वाला (विटः) विट है ।।20॥ (सर्वेषाम्) सबको (प्रहसन) हंसाने का (पात्रम्) पात्र (विदूषकः) विदूषक ।।21॥ (कामशास्त्र) काम शास्त्र का (आचार्यः) निपुण (पीठमर्दः) पीठ मर्द कहलाता है ।।22॥

विशेषार्थ :- गुप्त रहस्यों का ज्ञाता, प्रतिभासम्पन्न गुप्तचर को "छात्र" कहते हैं ।।13॥ कपट युक्त बनावटी

व्रत विद्या द्वारा ठगने में निपुण, सन्यासो वेषधारी गुप्तचर को "तापस" कहते हैं ॥13॥ बौना अर्थात् जिसके समस्त शरीराङ्गोपाङ्ग छोटे हों उसे "किरात" गुप्तचर कहा जाता है ।।14॥ घर-घर में जाकर वस्त्र में लिखित चित्रों को दिखाने वाला अथवा कोटवाल-गलाफाड़ कर चिल्लाने वाला गुप्तचर "यमपट्टिक" कहलाता है ।।15॥ भुजंग क्रीड़ा कराने में निपुण-सपेरा का वेष में गुप्तचर का कार्य करने में निष्णात "अहितुण्डिक" गुप्तचर कहा जाता है ।।16॥ शराब बेचने वालों के रूपधारी को "शौण्डिक" गुप्तचर कहते हैं ।।17॥ जो गुप्तचर रात्रि में नाट्यशाला में जाकर परदा लगाकर नाना रूप धारण कर तमाशा दिखाता है उसे "शौभिक" कहते हैं ।।18॥ तस्कर अथवा कैदी के वेष में वर्तमान गुप्तचर को "पाटच्चर" कहते हैं ।।19॥ जो गुप्तचर वेश्यादि गमन व्यसना सक्तों को वेश्यादि से परिचय कराकर अपनी आजीविका चलाते हैं उन्हें राजकीय कार्यों के की प्रयोजनों को सिद्धि करते हैं उन्हें "विट" कहते हैं ।।20॥ समस्त दर्शकों या श्रोताओं को हंसाने में प्रवीण गुप्तचर को "विदूषक" कहा जाता है ।।21॥ कामशास्त्र के ज्ञाता गुप्तचर को "पीठमर्द" कहते हैं ।।22॥ और भी आगे :-

गीताङ्गपटप्रावरणेन नृत्यवृत्याजीवी नर्तको नाटकाभिनयरङ्ग नर्त्तको वा ? ।।23॥

रूपाजीवावृत्युपदेष्टा गायकाः ।।24॥

गीतप्रबन्धगति विशेष वादक चतुर्विधातोद्य प्रचार कुशलो वादकः ।।25॥

वाग्जीवी वैतालिकः सूतो वा ।।26॥ गणकः संख्याविद् दैवज्ञो वा ।।27॥

शाकुनिकः शकुनवक्ता ।।28॥ भिषगायुर्वेद विद्वैद्यः शस्त्र कर्मविच्च ।।29॥

ऐन्द्रजालिक तन्त्र युक्त्या मनोविस्मयकरो मायावी वा ।।30॥ नैमित्तिको लक्ष्यवेधी दैवज्ञो वा ।।31॥

महासाहसिकः सूदः ।।32॥ विविध भक्ष्यप्रणेता आरालिकः ।।33॥

अङ्गमर्दन कलाकुशलोभारवाहको वा संवाहकः ।।34॥ द्रव्यहेतोः कृच्छ्रेण कर्मणा यो जीवितविक्रयी स तीक्ष्णोऽसहनो वा ।।35॥ बन्धूस्नेह रहिताः क्रूराः ।।36॥ अलसाश्च रसदाः ।।37॥ जड-मूक-बाधिरान्धाः प्रसिद्धाः ।।38॥

विशेषार्थ :- कमनीय वस्त्रों से अलंकृत होकर स्त्री वेष में गीत-नाचकर आजीविका चलाने वाले हों अथवा नाटकादि अभिनय प्रदर्शन करने वाले "नर्तक" गुप्तचर कहे जाते हैं ।।23॥

अन्वयार्थ :- (रूपाजीवा वृत्तिः) वेश्यावृत्ति संचालक-पुरुष वशीकरण विद्या सिखाने से आजीविका चलाने वाला - (उपदेष्टा) उपदेश करने वाला (गायकाः) गायक ।।24॥ (गीतप्रबन्धगतिः) गीत सम्बन्धी प्रबन्धों के ज्ञाता- वाद्य बजाने (विशेषः) वाला (वादक) बजाने वाला (चतुर्विधातोद्य प्रचार कुशलो) चार प्रकार के वाद्य वादन में चतुर (वादकः) "वादक" है ।।25॥ (वाग्जीवी) स्तुतिपाठक (वैतालिकः) ("वाग्जीवी") है ।।26॥ (संख्याविद्) गणितज्ञ (वा) अथवा (दैवज्ञः) ज्योतिषज्ञ (गणकः) "गणक" है ।।27॥ (शाकुनिकः) शकुनज्ञाता (शकुनवक्ताः) शकुनवक्ता है ।।28॥ (भिषक्) वैद्य (आयुर्वेद) शास्त्र (विद्) ज्ञाता (वैद्यः) वैद्य (शस्त्रकर्म) शस्त्रसंचालन (वित्) जानने वाला ।।29॥ (तन्त्रयुक्त्या) आश्चर्यकर कला ज्ञाता द्वारा (वा) अथवा (मनोविस्मयकारी) आश्चर्यचकित मन को करने वाला (मायावी) मायाचारी (ऐन्द्रजालिकः) ऐन्द्रजाली ।।30॥ (नैमित्तिकः) निमित्त ज्ञाता (लक्ष्यवेधी) लक्ष्यज्ञाता (वा) अथवा (दैवज्ञः) ज्योतिषी ।।31॥

(महासाहसिकः) अति साहसी (सूदकः) सूदक ।।32॥ नाना भोजन प्रणेता (आरालिकः) (अंगमर्दनक- लाकुशलः) उबटनादि लगाने की कला में चतुर (वा) अथवा (भारवाहकः) भार ढोने वाला (संवाहकः) है ।।34॥ (द्रव्यहेतोः) धन को (कृच्छ्रेण) कष्टमय (कर्मणा) कर्म द्वारा (यः) जो (जीवितविक्रयी)

जीवन चलाने वाला (स:) वह (तीक्ष्णो) तीक्ष्ण (वा) अथवा (असहन:) ।135॥ (बन्धुस्नेहरहिता:) परिवार में स्नेह नहीं रखने वाला (क्रूरा:) क्रूर है ।136॥ (अलसा) आलसी (च) और (रसदा:) रसद हैं । ।136॥ जड़-मूर्ख, मूक-गंगा, वधिरा-बहरा, अन्धा-नेत्रहीन- प्रसिद्धा: ।138॥ इस प्रकार चौंतीस प्रकार के गुप्तचर हैं ।।

विशेषार्थ :- जो वेश्याओं को पुरुषवशीकरण मंत्रादि प्रयोग बतलाकर आजीविका चलाता है, संगीतादि कला का उपदेश करता है उसे "गायक" कहते हैं ।124॥ गीत सम्बन्धी प्रबंन्धों को गतिविशेषों को बजाने वाला और चारों प्रकार के-तत, अवनद्ध, धन व सुषिर आदि वाद्य बजाने की कला प्रवीण गुप्तचर को "वादक" कहते हैं ।125॥ जो स्तुति पाठक या वन्दी बनकर राजकीय कार्यों को गुप्तरीति से सिद्ध करते हैं वे "वाग्जीवि" कहलाते हैं ।126॥ गणितशास्त्रज्ञ वा जोतिष विद्या निपुण गुप्तचर को "गणक" कहते हैं ।127॥ शुभाशुभ लक्षणों द्वारा शुभाशुभ फल बताने वाले को "शाकुनि" कहते हैं ।128॥ अष्टाङ्ग आयुर्वेद के ज्ञाता व शस्त्रचिकित्सा-प्रवीण गुप्तचर को "भिषक्" कहते हैं ।129॥ तन्त्रशास्त्र की युक्तियों द्वारा आश्चर्यजनक व मायावी दृश्य दिखाये उसे "ऐन्द्रजालिक" कहते हैं ।130॥ निशाना लगाने में प्रवीण धनुर्धारी अथवा निमित्तशास्त्र के विद्वान् गुप्तचर को "नैमित्तिक" कहते हैं ।131॥ पाक विद्याप्रवीण गुप्तचर को "सूद" कहते हैं ।132॥ नाना प्रकार की भोजन सामग्री बनाने में निष्णात को "आरालिक" कहते हैं ।133॥ हाथ-पैर दबाने की कला में निपुण या भारवाही-कुली के वेष में रहने वाले गुप्तचर को संवाहक कहते हैं ।134॥ जो गुप्तचर धनार्थी लोभवश अत्यन्त दुर्लभ और कठिन कार्यों से अपनी आजीविका करते हैं, यहाँ तक कि कभी-कभी जीवन को खतरे में डाल देते हैं । सिंह, व्याघ्र, व्यालादि का सामना भी कर बैठते हैं । धैर्यहीन होते हैं । ऐसे गुप्तचरों को "तीक्ष्ण" कहते हैं ।135॥ जो गुप्तचर अपने बंधुजनों से विरोध करता है उसे "क्रूर" कहते हैं ।136॥ कर्त्तव्यपालन में निरुत्साही-प्रमादी गुप्तचरों को "रसद" कहते हैं ।137॥ मूर्ख को जड़, गूंगे को मूक, बधिक को बहरा और अंधे को अन्ध कहते हैं ।138॥ ये वस्तुत: मूर्ख, मूक, बधिर व अन्धे नहीं होते अपितु कार्य सिद्धि के लिए कपट से बन जाते हैं ।138॥ शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

स्थायिनो यायिनश्चारा यस्य सर्पन्ति भूपते: ।
स्वपक्षे परपक्षे वा तस्य राज्यं विवर्द्धते ।।1॥

अर्थ :- जिस राजा के यहाँ स्वदेश में "स्थायी" और शत्रु देश "यायी" गुप्तचर घूमते रहते हैं । उसके राज्य की वृद्धि होती है ।

गुप्तचर-खुफिया राज्य की सुरक्षा, वृद्धि और समृद्धि के प्रमुख साधन होते हैं । इनके निमित्त से राजा और राज्य सुव्यवस्थित रहते हैं । चारों ओर के खतरों से ये सुरक्षित रखते हैं । अत: राजाओं को गुप्तचर नियुक्त कर उन्हें प्रसन्न और अनुकूल रखना चाहिए ।।

।। इति चार समुद्देश: ।।14॥

इति श्री परम पूज्य, प्रात: स्मरणीय, विश्व वंद्य, चारित्रचक्रवर्ती मुनिकुञ्जर समाधि सम्राट्, महातपस्वी, वीतरागी, दिगम्बर जैनाचार्य श्री 108 आदिसागर जी (अंकलीकर) महाराज के पट्टाधीश परम् पूज्य तीर्थभक्त शिरोमणि आचार्य परमेष्ठी श्री महावीर कीर्ति जी महाराज की संघस्था, श्री परम् पूज्य सन्मार्गदिवाकर, वात्सल्य रत्नाकर श्री 108 आचार्य विमल सागर जी महाराज की शिष्या श्री 105 प्रथम गणिनी आर्यिका विजयामती माताजी द्वारा विजयोदय हिन्दी टीका में चार समुद्देश नामका 14वां समुद्देश श्री परम पूज्य, तपस्वी सम्राट् सिद्धान्त चक्रवर्ती परम्पराचार्य श्री 108 सन्मतिसागर जी महाराज के चरण सान्निध्य में समाप्त हुआ ।।0॥

।।0॥

15

विचार समुद्देश

विचारपूर्वक कर्त्तव्य :-

नाविचार्य कार्यं किमपि कुर्यात्।।1॥

अन्वयार्थ :- (किम्) कुछ (अपि) भी (कार्यम्) कार्य (अविचार्यम्) बिना विचारे (न) नहीं (कुर्यात्) करे ।।1॥

विशेषार्थ :- नीतिज्ञ, पुरुषों को प्रत्येक कार्य के सम्पादन के पूर्व उसके फल के सम्बन्ध में वितर्कना करना चाहिए । बिना विचारे किया गया कार्य विघ्न कारक हो सकता है ।। जैमिनि विद्वान ने भी कहा है :-

अपि स्वल्पतरं कार्यं नाविचार्य समाचरेत्।
यदीच्छेत् सर्वलोकस्य शंसां राजा विशेषतः ।।1॥

अर्थ :- प्रजा द्वारा प्रतिष्ठा व स्नेह चाहने वाले राजाओं को सूक्ष्म कार्य भी बिना विचारे नहीं करना चाहिए।।1॥

प्रत्यक्ष प्रमाण, प्रामाणिक पुरुषों के वचन व युक्ति द्वारा निर्णीत करके ही शासकों को शासन सम्बन्धी कार्यों को करना चाहिए ।।1॥

विचार प्रत्यक्ष का लक्षण :-

प्रत्यक्षानुमानागमैर्यथावस्थित वस्तु व्यवस्थापन हेतुर्विचारः ।।2॥

अन्वयार्थ :- (प्रत्यक्ष, अनुमान, आगमैः) प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम प्रमाण द्वारा (यथावस्थित) जैसी की तैसी (वस्तुव्यस्थापन) पदार्थ व्यवस्था करने का (हेतुः) साधन (विचारः) विचार [अस्ति] है ।।2॥

विशेषार्थ :- वस्तु का जैसा स्वभाव है उसकी निर्णिति प्रत्यक्ष प्रमाण अनुमान या आगम प्रमाणों द्वारा होती है । न कि केवल प्रमाण से । अतः तीनों प्रमाणों द्वारा वस्तु स्वरूप ज्ञात करना "विचार" कहा जाता है।।2॥

शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

दृष्टानुमानागमज्ञैर्यो विचारः प्रतिष्ठितः।
स विचारोऽपिविज्ञेय स्त्रिभिरेतैश्च यः कृतः ।।1॥

अर्थ :- प्रत्यक्षदर्शी, दार्शनिक व विद्वान व प्रामाणिक पुरुषों द्वारा किया हुआ विचार प्रतिष्ठित-सत्य व मान्य होता है । अतः प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम प्रमाण द्वारा किये गये निर्णय को "विचार" कहते हैं ।12॥

"स्वयं दृष्टं प्रत्यक्षम्" ।। 3॥

अन्वयार्थ :- (स्वयं) अपने से (दृष्टम्) देखा गया (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष है ।13॥

विशेष :- नेत्रों के समक्ष होने वाले कार्यों को प्रत्यक्ष कहते हैं ।13॥

ज्ञान मात्र से प्रवृत्ति :-

न ज्ञान मात्रत्सात् प्रेक्षावतां प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा ।।4॥

अन्वयार्थ :- (ज्ञान मात्रत्वात्) सामान्य ज्ञान मात्र से (प्रेक्षावताम्) बुद्धिमानों की (प्रवृत्तिः) कार्य में प्रवृत्ति (वा) अथवा (निवृत्तिः) विकर्षण (न) नहीं [भवति] होती है ।

विशेषार्थ :- सुबुद्ध पुरुषों को योग्य-हित में प्रवृत्ति व अयोग्य-अहित में निर्वृत्ति ज्ञान मात्र से नहीं करनी चाहिए। क्योंकि ज्ञान सामान्य में संशयादि भी हैं । यथा मृगतृष्णा-सूर्य रश्मियों से चमकती बालू को किसी पुरुष ने जल समझ लिया, अब उसे अनुमान प्रमाण से निर्णीत करना चाहिए अन्यथा भ्रान्ति बनी रहेगी । वह विचारे कि ग्रीष्म काल में क्या मरुभूमि में जल हो सकता है ? नहीं हो सकता । पुनः किसी विश्वस्त पुरुष से पूछकर निर्णय ले कि वहाँ जल है या नहीं ? यदि नकारात्मक उत्तर मिले तो वहाँ से निर्वृत्त होना चाहिए । अतः ज्ञानमात्र से सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए ।14॥

गुरु विद्वान ने भी कहा है :-

दृष्ट मात्रान्न कर्त्तव्यं गमनं वा निवर्तनम् ।
अनुमानेन नो यावदिष्टवाक्येन भाषितम् ।।1॥

अर्थ :- बुद्धिमान को मात्र देखने से किसी पदार्थ को ग्राह्य व अग्राह्य नहीं समझना चाहिए । अर्थात् प्रवृत्ति व निवृत्ति नहीं करना चाहिए । अपितु अनुमान से तथा इष्ट पुरुष के वचनों से प्रमाणित कर निर्णय करना चाहिए ।14॥

ज्ञानमात्र से निवृत्ति :-

स्वयं दृष्टेऽपिमतिर्विमुह्यति संशेते विपर्यस्यति वा किं पुनर्न परोपदिष्टे वस्तुनि ।।5॥

अन्वयार्थ :- (स्वयं) अपने आप (दृष्टे) देखने पर (अपि) भी (मतिः) बुद्धि (विमुह्यति) मूढ़ हो जाती है (संशेते) सन्देह होता है (विपर्यस्यति) विपरीत होती है (वा) एवं (किम्) क्या (पुनः) फिर (परोपदिष्टे) दूसरे के द्वारा कही (वस्तुनि) वस्तु में (न) नहीं [भवति] होता है ?

विशेषार्थ :- यदि स्वयं की देखी हुई वस्तु में भी मतिभ्रम-अज्ञान, विपरीतता व संशय होना संभव है तो

फिर दूसरे के द्वारा निर्दिष्ट पदार्थों में क्यों न होगा ? अवश्य ही होगा । गुरु विद्वान ने भी उक्त बात की पुष्टि की है :-

मोहो वा संशयो वाथ दृष्ट श्रुत विपर्ययः ।
यतः संजायते तस्मात् तामेकां न विभावयेत् ।।1।।

अर्थ :- स्वयं देखी व सुनी हुई वस्तु में भी मोह-अज्ञान, संशय व विपर्यय होना संभव है इसलिए अकेले एक ही बुद्धि से कार्य का निर्णय नहीं करना चाहिए ।15॥

विचारज्ञ का लक्षण :-

स खलु विचारज्ञो यः प्रत्यक्षेणोपलब्धमपि साधु परीक्ष्यानुतिष्ठति ।।6॥

अन्वयार्थ :- (खलु) निश्चय से (सः) वह (विचारज्ञः) विचारज्ञ (प्रत्यक्षेण) स्वयं देखे हुए (उपलब्धम्) प्राप्त (अपि) भी (साधु) सम्यक् (परीक्ष्य) विवेचना कर (अनुतिष्ठति) अनुकरण करता है ।

विशेषार्थ :- जो मनुष्य प्रत्यक्ष द्वारा जानी हुई वस्तु को भी अच्छी तरह परीक्षा संशय, भ्रम व अज्ञानं रहित निश्चय-करके उसमें प्रवृत्ति करता है, उसे निश्चय से विचारज्ञ-विचारशास्त्र का वेत्ता कहते हैं ।16॥ ऋषिपुत्रक ने कहा है :-

विचारज्ञः स विज्ञेयः स्वयं दृष्टेऽपि वस्तुनि ।
तावन्नो निश्चयं कुर्याद् यावन्नो साधु वीक्षितम् ।।1॥

अर्थ :- जो व्यक्ति स्वयं देखी हुई वस्तु की भले प्रकार जांच किये बिना उसका निश्चय नहीं करता-परीक्षण कर ही निर्णय करता है,उसे ही "विचारज्ञ" कहते हैं ।।1॥

बिना विचारे कार्य करने से हानि :-

अतिरभसात् कृतानि कार्याणि किं नामानर्थं न जनयन्ति ।।7॥ अविचार्य कृते कर्मणि यत् पश्चात् प्रतिविधानं गतोद—के सेतु बन्धनमिव ।।8॥

अन्वयार्थ :- (अतिरभसात्) अतिवेग से (कृतानि) किये (कार्याणि) कार्य (किम् नाम) क्या क्या (अनर्थम्) अनर्थों को (न) नहीं (जनयन्ति) उत्पन्न करते ? (यत्) जो (कर्मणि) कार्य हो चुका (पश्चात्) पुनः (प्रतिविधानम्) प्रतिकार करे वह (उदके) जल के (गते) चले जाने पर (सेतुः) पुल (बन्धनम्) बांधने (इव) समान है ।।8॥

विशेषार्थ :- विचार किये बिना ही सहसा जल्दीबाजी में किये बिना ही गये कार्य लोक में किन-किन इष्ट कार्यों को नष्ट नहीं करते ? सभी प्रकार के अनर्थों को करने वाले होते हैं ॥7॥ भागुरी ने भी कहा है :-

सगुणमविगुणं वा कुर्वता कार्यमादौ, परिणतिरवधार्यायत्नतः पण्डितेन ।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्तेर्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ।।1॥

अर्थ :- विद्वान पुरुष सार्थक व निरर्थक कार्य करते समय सर्वप्रथम उसका प्रतिफल-परिणाम विचारते हैं क्योंकि बिना विचारे किये गये कार्य उतावली में चारों तरफ विपत्तियों को उत्पन्न कर देते हैं । वे हृदय को भेदन करते हैं तथा कीली के समान चुभनेवाले होते हैं ।।1।।7॥

जो मनुष्य बिना विचारे उतावली में आकर कार्यों को कर बैठता है और कटु फल आने पर उसका प्रतीकार-दूर करने का उपाय करता है, उसका वह प्रतिकार नदी का पूर उतर जाने के बाद सेतु-पुल बांधने के समान हैं। अर्थात् पानी बह जाने पर बांध बांधने से क्या प्रयोजन ? कुछ भी नहीं । नैतिक पुरुषों को विचारपूर्वक कार्य करना चाहिए । कहा भी है :-

बिना विचारे जो करै फिर पाछे पछताय ।
काम बिगाड़े आपनो, जग में होय हंसाय ।।

शुक्र विद्वान ने कहा है :-

सर्वेषामपि कार्याणां यो विधानं न चिन्तयेत् ।
पूर्वं पश्चात् भवेद् व्यर्थं सेतुर्नष्टे यथोदके ।।1॥

अर्थ :- जो व्यक्ति कार्य करने के पूर्व उनका अनर्थ परिहार नहीं विचारता पश्चात् प्रतिक्रिया करने का उद्यम करता है, उसका कार्य-प्रयत्न प्रवाह-जल प्रवाह के चले जाने पर सेतु बन्ध के समान निरर्थक है-व्यर्थ है । अब पश्चाताप के सिवाय अन्य फल नहीं मिलता ।

अविवेकी, सहसा कार्य कर कार्य का भी नाश करता है और अन्त में पश्चाताप भी करता है ।। अतः विचारपूर्वक कार्य करना चाहिए ।।

राज्यप्राप्ति के चिन्ह :-

आकारः शौर्यमायतिर्विनयश्च राजपुत्राणां भाविनो राज्यस्य लिङ्गानि ।।9॥

अन्वयार्थ :- (आकारः) आकृति (शौर्यम्) शूरता (आयतिः) शासन विज्ञान (च) और (विनयः) विनय (राजपुत्राणाम्) राजकुमारों के (भाविनः) भविष्य में (राज्यस्य) राज के (लिङ्गानि) चिन्ह हैं ।9॥

विशेषार्थ :- शारीरिक सौन्दर्य-रूप-लावण्य,वीरत्व, राजनीति सम्बन्धी विज्ञान और विनय ये राजपुत्रों के भविष्य में राजा बनने के चिन्ह हैं ।। अर्थात् इन गुणों से सम्पन्न पुरुष राजा बनेंगें-राज्य श्री के भोक्ता होंगे इसके परिचायक होते हैं ।।।। विद्वान राजपुत्र ने भी कहा है :-

आकारोविक्रमो बुद्धि विस्तारो नम्रता तथा ।
बालानामपि येषां स्युस्ते स्युर्भूपा नृपात्मजाः ।।1॥

अर्थ :- जिन राजपुत्रों में शारीरिक सौन्दर्य, स्वाभाविक वीरता, राजनीति का परिज्ञान, सैनिक व कोष सम्बन्धी

वृद्धि का ज्ञान और विनम्रता ये गुण पाये जाते हैं, वे भविष्य में राजा होते हैं ।।11॥

अनुमान का लक्षण :- व फल :-

कर्मसु कृतेनाकृतावेक्षणमनुमानम् ।।10॥

संभावितैकदेशोनियुक्तं विद्यात् ।।11॥

अन्वयार्थ :- (कृतेन) किये हुए (कर्मसु) कार्यों में से (अकृत) नहीं किये (आवेक्षणम्) कार्य का बुद्धि से निश्चय करना (अनुमानम्) अनुमान प्रमाण है । (एकदेशः) एक देश (संभावितः) संभावना (नियुक्तम्) निश्चय (विद्यात्) अनुमान ज्ञान ।।11॥

विशेषार्थ :- बहुत से कार्य समाप्त हो चुके । उनमें से किसी एक दो कार्यों द्वारा नहीं किये गये कार्य का बुद्धि द्वारा निर्णय या निश्चय करना "अनुमान" ज्ञान है ।। सारांश यह है कि किसी के एकदेश कार्य की निर्विघ्न समाप्ति देखकर उसके अन्दर पूर्ण कार्य की क्षमता का-कुशलता का निर्णय करना 'अनुमान' प्रमाण है ।।10।।11॥

आगे भवितव्यता-प्रदर्शक चिन्ह कहते हैं :-

प्रकृतेर्विकृति दर्शनं हि प्राणिनां भविष्यतः शुभाशुभस्य चापि लिङ्गम् ।।12॥

अन्वयार्थ :- (हि) निश्चय से (प्राणिनाम्) मनुष्यों की (प्रकृतिः) शुभाकृति (विकृत्तिः) अशुभ (दर्शनम्) दिखाई देना (भविष्यतः) आगे होने वाले (शुभः) अच्छे (च) और (अशुभः) बुरे का (अपि) भी (लिङ्गम्) चिन्ह हैं ।।12॥

विशेषार्थ :- शुभ व अशुभ स्वभाव मनुष्य का किस प्रकार परिवर्तित हो रहा है यह देखकर उसके भविष्य सम्बन्धी शुभाशुभ कार्यों का ज्ञापक समझना चाहिए । सारांश यह है कि कोई सत्पुरुष वर्तमान में अपने सदाचार शिष्टाचार व शीलाचारादि उत्तम गुणों से विपरीत मार्ग की ओर जाना चाहता है तो समझना चाहिए कि उसका भविष्य अंधकारमय है - होनहार बुरी है । इसी प्रकार यदि कोई अनीति या दुर्नीति का सत्सङ्गति से त्याग कर रहा है तो समझना चाहिए कि उसका होनहार बुरा नहीं है - अच्छा है ।।12॥ नारद विद्वान ने कहा है :-

शुभभावोमनुष्याणां यदा पापे प्रवर्तते ।
पापो वाथ शुभे तस्य तदा अनिष्टं शुभं भवेत् ।।1॥

अर्थ :- जिस समय मनुष्य का शुभ भाव पाप या अशुभ में परिवर्तित होने लगता है तो समझना चाहिए उसका अनिष्ट-बुरा होने वाला है । यदि अशुभ भाव शुभ में परिणमन हो अर्थात् शुभ कार्यों में प्रवृत्त हो तो समझना चाहिए कि उनका कल्याण होने वाला है ।। क्योंकि कहा है "जऊ मई लई गई" जैसी मति तैसी गति" । अर्थात् जैसी बुद्धि होती है वैसी ही गति हो जाती है ।।12॥

बुद्धि का प्रभाव :-

य एकस्मिन् कर्मणि दृष्ट बुद्धिः पुरुषकारः स कथं कर्मान्तरेषु न समर्थः ॥ 13॥

अन्वयार्थ :- (यः) जो पुरुष (एकस्मिन्) एक (कर्मणि) कार्य में (दृष्टबुद्धिः) बुद्धिमान देखा जाता है (सः) वह (पुरुषाकारः) पुरुष (कर्मान्तरेषु) अन्यकार्यों में (कथम्) किस प्रकार (समर्थः) सामर्थ्यवान (न) नहीं होता ।।13॥

विशेषार्थ :- जो सुज्ञ पुरुष किसी एक कार्य में चतुर होता है वह दूसरे कार्यों में भी सफलता पाने का अधिकारी क्यों नहीं हो सकता है ? होना संभव है । अर्थात् संभव है कि कोई विद्वान किसी कार्य में पूर्ण निष्ठात तो नहीं है परन्तु तो भी अपने बुद्धि-कौशल से उन कार्यों को अवश्य कर दे ।। अर्थात् उसमें करने की क्षमता है ।। सही प्रयोग करे तो कर सकता है ।। जैमिनि विद्वान् ने भी लिखा है ।। :-

पूर्वं यस्य मतिर्दृष्टा पुरुषार्थोऽपरस्तथा ।
पश्चात्तेनानुमानेन तस्य ज्ञेया समर्थता ॥1॥

अर्थ :- जिसमें बुद्धि और पुरुषार्थ की सिद्धि एक कार्य में सफलता देखी जाती है उसे उसी अनुमान प्रमाण से अन्य कार्य की सिद्धि में भी सक्षम समझ लेना चाहिए ।। बुद्धि का विकास संगति व पुरुषार्थ पर आधारित होता है ।।13॥

आगम व आप्त का लक्षण :-

आप्त पुरुषोपदेश आगमः ।।14॥
यथानुभूतानुमित श्रुतार्थाविसंवादि वचनः पुमानाप्तः ।।15॥

अन्वयार्थ :- (आप्तः) यथार्थ देव-सर्वज्ञ (पुरुषस्य) पुरुष का (उपदेशः) धर्मोपदेश (आगमः) आगम [अस्ति] है ।।14॥ [यस्य] जिसके (वचनः) वचन (यथा) जिस प्रकार (अनुभूतः) अनुभव में आये (अनुमितः) अनुमान प्रमाण से निश्चित (श्रुतः) श्रुत के (अविसंवादि) विसंवाद रहित हों [सः] वह (पुमान्) पुरुष (आप्तः) आप्त है ।।14॥15॥

विशेषार्थ :- आप्त-वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी तीर्थंकर या आगमानुकूल सत्य वक्ता आचार्यों शिष्ट पुरुषों का उपदेश "आगम" कहलाता है ।।14॥

जो अनुभव अनुमान एवं आगम प्रमाण द्वारा निश्चित किये हुए पदार्थों को तद्नुकूल-विरोध शून्य वचनों द्वारा निरुपण करता है उस यथार्थ वक्ता तीर्थङ्कर महापुरुष को वा उक्तगुण सहित प्रामाणिक शिष्ट पुरुष को "आप्त" कहते हैं ।।15॥ हारीत विद्वान ने भी कहा है :-

यः पुमान् सत्यवादी स्यात्तथालोकस्य सम्मतः ।
श्रुतार्थो यस्य नो वाक्यमन्यथाप्तः स उच्यते ।।1॥

अर्थ :- जो पुरुष सत्यवक्ता, लोकमान्य कुलोत्पन्न, आगमानुकूल पदार्थों का निरुपण करने वाले और अन्यथावादी नहीं हों वे "आप्त" कहलाते हैं ।।15॥

निरर्थकवाणी व वचनों की महत्ता :-

सा वागुक्ताऽप्यनुक्तसमा, यत्र नास्ति सद्युक्तिः ।।16॥
वक्तुर्गुण गौरवाद्वचनगौरवम् ।।17॥

अन्वयार्थ :- (यत्र) जहाँ (सत्) सम्यक् (युक्तिः) युक्ति (नास्ति) नहीं है (सा) वह (वाक्) वाणी (उक्ता) कही भी (अनुक्तसमा) नहीं कही के समान [अस्ति] है ।।16॥ (वक्तुः) वक्ता के (गौरवात्) प्रमाणित होने से (वचन गौरवम्) वचन में प्रमाणता (भवति) होती है ।।17॥

विशेषार्थ :- वक्ता यदि प्रशस्त युक्तियों का प्रयोग करते हुए पदार्थ का समर्थन नहीं करता है तो वे वचन शोभन अभिप्राय न होने से कथित होने पर भी नहीं कहे के समान समझे जाते हैं ।। हारीत विद्वान ने भी कहा है :-

सा वाग्युक्ति परित्यक्ता कार्यं स्वाल्पाधिकस्य वा ।
सा प्रोक्ताऽपि वृथा ज्ञेया त्वरण्यरुदितं यथा ।।1॥

अर्थ :- वक्ता की वाणी यदि युक्ति शून्य है और श्रोताओं के अल्प अथवा अधिक प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर सकती है, उसे अरण्यरोदन के समान व्यर्थ समझना चाहिए । अर्थात् उसके बोलने का कोई प्रयोजन नहीं है ।।1।।16॥

वक्ता के गुणों का वैशिष्टय-विद्वत्ता, नैतिक शुभ प्रवृत्ति एवं सदाचार में महत्ता होने से उसके कहे हुए वचनों में भी महत्ता, प्रामाणिकता व मान्यता प्राप्त होती है ।।17॥ रैम्य विद्वान ने भी कहा है :-

यदि स्याद् गुणसंयुक्तो वक्ता वाक्यं च सद्गुणम् ।
मूर्खो वा हास्यतां याति सभामध्ये प्रजल्पितम् ।।1॥

अर्थ :- वक्ता यदि गुणज्ञ है तो उसकी वाणी भी गुण भरी गंभीर होती है । यदि वक्ता मूर्ख-अज्ञानी है तो वह सभा के मध्य निरर्थक प्रलापी होने से हंसी का पात्र होता है । अतएव गुण और वाणी का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है । तभी तो कहा है "अन्तर की करणी सबै निकसत मुख की बाट" अर्थात् अन्तरङ्ग के गुण-दोष-शुभ-अशुभ भाव मुख द्वार से वाणी के रूप में बाहर प्रकट होते हैं । अतः वक्ता को हृदय शुद्धि रखना अनिवार्य है ।।17॥

कृपणधन की आलोचना और जन साधारण की प्रवृत्ति :-

किं मितंपचेषु धनेन चाण्डालसरसि व जलेन यत्र सतामनुपभोगः ।।18॥

लोको गतानुगतिको यतः सदुपदेशिनीमपि कुट्टिनीं तथा न प्रमाणयति यथा गोघ्नमपि ब्राह्मणम् ।।19॥

अन्वयार्थ :- (मितंपचेषु) अधिक (धनेन) लक्ष्मी से (व) अथवा चाण्डाल के (सरसि जलेन) सरोवर

के जल से (किम्) क्या प्रयोजन ? (यत्र) जहाँ (सताम्) सत्पुरुषों को (अनुपभोगः) उपयोग या उपभोग में न आवे ।।18॥

विशेषार्थ :- कञ्जूस का धन-वैभव और चाण्डालों का सरोवर दोनों ही निष्प्रयोजन हैं क्योंकि इनके द्वारा सज्जनों का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है । कृपण का वैभव कितना ही हो या चाण्डालों के सरोवर में कितना गहरा जल क्यों न भरा हो, उसका लवांश भी सत्पुरुषों से सेवित नहीं हो सकता । नारद विद्वान ने भी कहा है :-

किं किनानधनेनात्र किमन्त्यज तडागजम् ।
सलिलं यद्धि नो भोग्यं साधूनां सम्प्रजायते ।।1॥

अर्थ :- सत्पुरुषों के उपभोग्य से रहित कृपण के प्रभूत धन और चाण्डाल के लबालब भरे तालाब से भी क्या लाभ ? कुछ लाभ नहीं है ।।1॥

जन साधारण एक दूसरे की देखा-देखी करते हैं ।

अन्वयार्थ :- (लोकः) संसारी (गतानुगतिकः) देखा-देखी करने वाले (यतः) क्योंकि (सदुपदेशिनी) यथार्थ उपदेश देने वाली भी (अपि) भी (कुट्टिनीम्) वेश्या को (तथा) उस प्रकार (न) नहीं (प्रमाणयति) प्रमाणित किया जाता यथा (गोघ्नमपि) गाय की हत्या करने वाले भी (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण को ।।19॥

विशेषार्थ :- सामान्यतः जन-साधारण लोग देखा-देखी क्रिया-काण्डादि को करते हैं । यदि कोई सत्पुरुष अपने शुभ प्रयोजन को लेकर किसी मार्ग से चल पड़ा । दूसरे दर्शक लोग भी बिना सोचे विचारे ही परीक्षा किए बिना उस पथ पर चल पड़ते हैं । उसका अनुकरण तो करते ही है तथा उसे प्रामाणिक भी मान लेते हैं । परन्तु यदि कोई वृद्ध अनुभवी सुन्दरी वेश्या यदि सुन्दर, शोभावान पुरुषों को धर्मोपदेश सुनाने लगे तो उसे कोई मान्यता नहीं देते । प्रामाणिक नहीं मानते । उसी स्थान में-उसी प्रकार यदि कोई हत्यारा मनुष्य ब्राह्मण है गाय का वध करने वाला भी है तो उसे मान्यता देते हैं ।।19॥ गौतम विद्वान ने भी कहा है :-

कुट्टनीधर्म युक्ताऽपि यदि स्यादुपदेशिनी ।
न च तां कोऽपिपृच्छेत जनो गोघ्नं द्विजं यथा ।।1॥

अर्थ :- वेश्या धार्मिक होकर भी यदि धर्मोपदेश देती है तो उसे कोई मान्यता नहीं देता और गाय का हत्यारा ब्राह्मण यदि धर्मोपदेश दे तो उसे सर्वजन प्रमाणित स्वीकार करते हैं ।।1॥ किसी विद्वान ने कहा है-

गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः
वालुकालिंग मात्रेण गतं में ताम्रभाजनम् ।।1॥

अर्थ :- साधारण जन समूह वास्तविक कर्त्तव्य मार्ग पर नहीं चलते अपितु देखा-देखी कर बैठते हैं । बालुका-रेत में लिङ्ग का चिन्ह बनाने से मेरा ताम्बे का बर्तन नष्ट हो गया ।।1॥

इसका कथानक है :-

कोई एक दरिद्र ब्राह्मण हाथ में ताम्र बर्तन लेकर स्नान करने सागर में गया । उसके उस पात्र को कोई चुरा न ले जाय इस भय से समुद्र तट पर बालु में छुपा कर रख दिया । उसकी (स्थान) परीक्षा-जानकारी के लिए एक-लिङ्ग का चिन्ह बनाकर स्नान करने चला गया । इसी समय वहाँ और भी अनेक लोग स्नानार्थ आये । उन्होंने वहाँ बालू के ढेर पर ब्राह्मण द्वारा बनाया गया शिवलिङ्ग का चित्र देखा । उन्होंने विचार किया आज के पर्व का यही "कल्याणकारी" क्रिया है । अतः सभी ने अपने-अपने कल्याणार्थ बहुत से लिङ्ग बना डाले । हर एक ने एक-एक लिंग बनाया पर लोग बहुत होने से बहुत से हो गये । अब ब्राह्मण देव स्नान करके आया तो उसे उसका बनाया लिंग प्राप्त नहीं हुआ, उसका ताम्रपात्र गुम हो गया । निष्कर्ष यह निकला कि जनसाधारण परीक्षक न होकर देखा-देखी करते हैं ।।

"इति विचार-समुद्देश ।।15।।"

इति श्री परम पूज्य प्रातः स्मरणीय विश्ववंद्य चारित्र चक्रवर्ती मुनि कुञ्जर समाधि सम्राट् महातपस्वी, वीतरागी, दिगम्बराचार्य श्री 108 आदिसागर जी महाराज अंकलीकर के पट्टाधीश परम् पूज्य परम् पूज्य तीर्थ भक्त शिरोमणि, समाधि सम्राट् आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी महाराज की संघस्था परम् पूज्य प्रथमगणिनी 105 आर्यिका विजयामती "शिष्या श्री सन्मार्गदिवाकर प.पू. आचार्य विमल सागर जी" ने हिन्दी विजयोदयटीका का 15वां समुद्देश श्री परम पूज्य तपस्वी सम्राट् सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य श्री 108 सन्मति सागर जी महाराज के पावन चरणारविन्दद्वय के सान्निध्य में समाप्त किया

।। ॐ शुभम ॐ ।।

।। ० ।।

16

व्यसन-समुद्देश

व्यसन लक्षण, भेद, निवृत्ति, शिष्ट लक्षण व कृत्रिम व्यसन निवृत्ति :-

व्यस्यति पुरुषं श्रेयसः इति व्यसनम् ।।1॥ व्यसनं द्विविधं सहजमाहार्यं च ।।2॥ सहजं व्यसनं धर्माभ्युदयहेतुभिरधर्म जनित महा प्रत्यवाय प्रतिपादनैरुपा ख्यानैर्योग पुरुषैश्च प्रशमं नयेत् ।।3॥ पर चित्तानुकूल्येन तदभिलषितेषूपायेन विरक्ति जनन हेतवो योगपुरुषाः ।।4॥ शिष्टजन संसर्ग दुर्जनाऽसंसर्गाभ्यां पुरातनमहापुरुष चरितोत्थिताभिः कथाभिराहार्यं व्यसनं प्रतिबध्नीयात् ।।5॥

अन्वयार्थ :- (पुरुषम्) मनुष्य को (श्रेयसः) कल्याण से (व्यस्यति) गिराते हैं (इति) वे (व्यसनम्) व्यसन [अस्ति] है ।। [सन्ति] हैं ।।1॥ (व्यसनम्) व्यसन (द्विविधम्) दो प्रकार हैं (सहजः) स्वाभाविक (च) और (आहार्यम्) आहार्य ।।2॥ (सहजम्) स्वाभाविक (व्यसनम्) व्यसन को (धर्म-अभ्युदय-हेतुभिः) धर्म बढ़ाने वाले कारणों से (अधर्मजनित) अधर्म-पाप से उत्पन्न (महाप्रत्यवाय) महान दोषों के (प्रतिपादनैः) कहने से (उपाख्यानैः) कथानकों द्वारा (च) और (योगपुरुषैः) योग्यपुरुषों द्वारा (प्रशमम्) शान्त (नयेत्) करे ।।3॥ (परिचितानुकूल्येन) ज्ञात व्यसनासक्त मन के अनुकूल (तद्) उस (अभिलषितेषु) इच्छित पदार्थों में (उपायेन) उपायों से (विरक्ति जनन) विरक्त कराने के (हेतवः) कारणभूत व्यक्ति (योगपुरुषः) शिष्टजन [सन्ति] हैं । (शिष्टजनसंसर्ग) सत्पुरुष समागम (दुर्जनऽसंसर्गाभ्याम्) दुष्टजन से दूर रहने के (पुरातन) प्राचीन (महापुरुष) उत्तम पुरुषों के (चरितोत्थिताभिः) चारित्र से उत्पन्न (कथाभिः) कथाओं से (आहार्य) कृत्रिम (व्यसनम्) व्यसन को (बध्नीयात्) नष्ट करे ।।5॥

विशेषार्थ :- जो दुष्कर्म-द्यूत, मद्यपानादि मनुष्य को कल्याण पथ से भ्रष्ट करते हैं, पतन कराते हैं उन्हें व्यसन कहते हैं ।।1॥ शुक्र विद्वान ने कहा है :-

उत्तमादधमं स्थानं यदा गच्छतिमानवः ।
तदा तद्व्यसनं ज्ञेयं बुधैस्तस्य निरन्तरम् ।।1॥

अर्थ :- मानव जिस असत्प्रवृत्ति से निरन्तर अपने श्रेष्ठतमपद से नीचपद को प्राप्त होता है उसे विद्वज्जन "व्यसन" कहते हैं ।।1॥ व्यसन दो प्रकार के है । 1. व्यसन-सहज और 2. आहार्य । जन्म से ही दुःखोत्पादक

व्यसन सहजव्यसन कहे जाते हैं । कुसंगति से उत्पन्न दुर्व्यसन आहार्य कहलाते हैं । मनुष्य को स्वाभाविक व्यसन, धर्म व स्वर्गादि के साधन कल्याण कारक पदार्थों-विशुद्ध भावों के चिन्तवन, पापों के उत्पादक महादोषों का कथन-श्रवण, तथा उन दोषों के निरुपक चरित्र-रावण, दुर्योधनादि अशिष्ट पुरुषों के भयंकर चरित्र श्रवण द्वारा एवं शिष्ट पुरुषों की सङ्गति से नष्ट करना चाहिए ।।3॥ गुरु ने कहा है :-

धर्मेणाभ्युदयो यस्य प्रत्यवायस्त्वधर्मतः ।
तं श्रुत्वा सहजं याति व्यसनं योगिसंगतः ।।1॥

अर्थ :- धर्म से सुखी व पाप से दुःखी होने वाले शिष्ट व दुष्ट पुरुषों के चरित्र श्रवण व महापुरुषों के सत्सङ्ग से स्वाभाविक व्यसन नष्ट होते हैं ।।1॥3॥

जो सत्पुरुष व्यसनी व्यक्ति के हृदय-प्रिय बनकर, उन्हें विश्वस्त कर अनेक प्रकार के नैतिक उपायों से उसके उन अभिलषित-इच्छित व्यसनों से विरक्त करते हैं उनसे छुड़ा देते हैं वे महापुरुष "योगपुरुष" कहलाते हैं । हारीत विद्वान ने भी शिष्ट पुरुषों का इसी प्रकार लक्षण कहा है :-

परचित्तानुकूल्येन विरक्तिं व्यसनात्मके ।
जनयन्तीष्टनाशेन ते ज्ञेया योगिनो नराः ।।1॥

अर्थ :- बुद्धिमान पुरुषों को व्यसनों से दूर सत्पुरुषों के उत्तम चरित्रों के और दुर्जनों व्यसनासक्तों के कुत्सित चरित्रों के क्रूर निंद्य परिणामों को ज्ञात कर व्यसनों का परित्याग कर देना चाहिए । आदर्श चरित्रों के पठन-पाठन, श्रवणादि द्वारा कुसंगजन्य व्यसनों का त्याग करना चाहिए ।।5॥ शुक्र विद्वान ने भी इसी प्रकार कहा है :-

आहार्यं व्यसनं नश्येत् सत्सङ्गेनाहितासितम् ।
महापुरुष वृत्तान्तैः श्रुतैश्चैव पुरातनैः ।।1॥ सं.प.

अर्थ :- सत्सङ्गति द्वारा कुसंगति से प्राप्त परस्त्री सेवनादि व्यसनों का त्याग करना चाहिए । महापुरुषों के चरित्र, पुण्य-पुरातन पुरुषों के कथानकों के श्रवण, पठन-पाठनादि द्वारा आहार्य व्यसनों का परिहार करना चाहिए ।। सर्व का सारांश यही है ।।5॥

अब 18 प्रकार के व्यसन बताते हैं :-

स्त्रियमतिशयेन भजमानो भवत्यवश्यं तृतीया प्रकृतिः ।।6॥ सौम्यधातुक्षयेण सर्वधातुक्षयः ।।7॥ पानशौण्डश्चित्त विभ्रमान् मातरमपि गच्छति ।।8॥ मृगयासक्तिः स्तेन व्याल द्विषद्दायादानामामिषं पुरुषं करोति ।।9॥ द्यूता सक्तस्य किमप्यकृत्यं नास्ति ।।10॥ मातर्यपि हि मृतायां दिव्यत्येव हि कितवः ।।11॥ पिशुनः सर्वेषामविश्वासं जनयति ।।12॥ दिवास्वापः गुप्त व्याधि व्यालानामुत्थापनदण्डः सकल कार्यान्तरायश्च॥13॥ न पर परीवादात् परं सर्व विद्वेषणभेषजमस्ति ।।14॥ तौर्यत्रयासक्तिः प्राणार्थमानैर्वियोजयति ।।15॥ वृथाट्या नाविधाय कमप्यनर्थं विरमति ।।16॥ अतीवेर्ष्यालुं स्त्रियोऽनन्ति, त्यजन्ति

वा पुरुषम् ।।17॥ परपरिग्रहाभिगमः कन्यादूषणं वा साहसम् ।।18॥ यत् साहसं दसमुख दण्डिका विनाश हेतुः सुप्रसिद्धमेव ॥19॥ यत्र नाहमस्मीत्यध्यवसायस्तत् साहसम् ।।20॥ अर्थदूषकः कुबेरोऽपि भवति भिक्षाभाजनम् ।।21॥ अतिव्ययोऽपात्र व्ययश्चार्थ दूषणम् ।।22॥ हर्षामर्षाभ्यामकारणं तृणाङ्कुरमपि नोपहन्यात्किं पुनर्मर्त्यम् ।।23॥ श्रूयते किल निष्कारण भूतावमानिनौवातापिरिल्वलश्च द्वाक्-सुरावगस्त्याशनाद्विनेशतुरिति ।।24॥ यथादोषं कोटिरपि गृहीता न दुःखायते अन्यायेन पुनस्तृणशलाकापि गृहीताप्रजाः खेदयति ।।25॥ तरुच्छेदेनफलोपभोगः सकृदेव ।।26॥ प्रजाविभवोहिस्वामिनोऽद्वितीयो भाण्डागारोऽतोयुक्तितस्तमुपभुञ्जीत ।।27॥ राजपरिगृहीतं तृणमपि काञ्चनी भवति [जायते पूर्वं सञ्चितस्याप्यर्थस्यापहाराय] ।।28॥ वाक् पुरुष्यं शस्त्र पातादपि विशिष्यते ।।29॥ जाति यर्यो दृक्त स्थाद्दोषगणकुत्सितं तद्धो वाक्यपारुष्यम्॥30॥ स्त्रियमपत्यं भृत्यं च तथोक्त्या विनयं ग्राहयेद्यथा हृदयप्रविष्टाच्छल्यादिवन ते दुर्मनायन्ते ।।31॥ वधः परिक्लेशोऽर्थहरणमक्रमेणदण्डपारुष्यम् ।।32॥ एकेनापिव्यसनेनोपहतश्चतुरङ्गोऽपि राजा विनश्यति, किं पुनर्नाष्टादशभिः ।।33॥

क्रमशः अन्वय, विशेषार्थ :-

(स्त्रियमतिशयेन) अपनी स्त्री को भी अतिशय (भजमानः) भोगने वाला (अवश्यम) जरूर ही (तृतीया) तीसरी वृद्धावस्था [प्रकृति] पने को (भवति) होता है ।।

जो पुरुष स्व विवाहित के साथ भी अनावश्यक भोग भोगता है उसका वीर्य अधिक मात्रा में क्षरण होने से असमय में ही वृद्ध दशा को प्राप्त होता है ।।1॥

कहा है :-

अकालं जरसा युक्तः पुरुषः स्त्रीनिषेवणात् ।
अथवा यक्ष्मणा युक्तस्तस्माद् युक्तं निषेवयेत् ।।1॥

अर्थ :- इसका भी अभिप्राय उपर्युक्त ही है । अतः अपनी पत्नी के साथ भी मर्यादित रूप में ही भोग भोगे। सीमा का उलंघन न करे ।।6॥

(सौम्य) वीर्य (धातुक्षयेण) क्षय होने से (सर्वधातुक्षयः) सर्व धातुओं का क्षय है । यदि मर्यादा रहित स्त्री संभोग होगा तो अधिक वीर्य क्षय होने से अन्य-रस, रुधिर, मांस, मेद व अस्थि आदि भी धातुएँ नष्ट हो जाती हैं ।। सारांश यह है कि नीति मान पुरूषों को अपनी शक्ति के बीजभूत वीर्य का रक्षण करने हेतु ब्रह्मचर्य व्रत का अधिक पालन करना चाहिए ।। अपनी स्त्री का भी लोलुपता वश अधिक भोगने का त्याग करना चाहिए । मर्यादा उत्थान की सोपान है ।।7॥ वैद्यक ने भी कहा है :-

सौम्य धातुक्षये पुंसां सर्वधातु क्षयो यतः ।
तस्मात्तं रक्षयेद् यत्नान्मूलोच्छेदं न कारयेत् ।।1॥

सौम्य धातु बलात् सर्वे बलवन्तो हि धातवः ।
तं रक्षति यतः सिंहो लघुस्तुङ्गेन सोऽधिकः ।।2।।

अर्थ :- वीर्य क्षय से सर्व धातुएँ नष्ट होती हैं, इसलिए मूल का नाश नहीं करना चाहिए । वीर्य के बलवान रहने से अन्य सभी धातु बलिष्ठ रहती हैं । सिंह अपने वीर्य का रक्षण कर गज से अधिक बलिष्ठ होता है ।।1-2॥

(पानशौण्डः) मद्यपीने वाला (चित्तविभ्रमात्) नशा होने से (मातरम्) माता को (अपि) भी (गच्छति) भोगने जाता है ।।3॥

शराबी पुरुष मानसिक विकार-नशा चढ़ने से माता को भी सेवन करने में नहीं चूकता । अतः इस प्रकार के अनर्थकारी शराब का सर्वथा त्याग करना श्रेयस्कर है ।।3॥ नारद ने भी कहा है :-

यदा स्यान्मद्यमत्तस्तु कुलीनोऽपि पुमांस्तदा ।
मातरं भजते मोहत्तस्माद्युक्तं निषेवयेत् ।।1।।

अर्थ उपर्युक्त है । अतः सर्वथा कुलीनों को इसका त्याग करना चाहिए ।।3॥

(मृगयासक्तिः) शिकार में आसक्त मनुष्य (स्तेन) चोर-डाकू (व्याल-द्विषद्) सिंह, व्याघ्रादि (दायादाम्) कुटुम्बी एवं (आभिषम्) मांसाहारियों में प्रवृत्ति (करोति) करता है ।।9॥

शिकार व्यसन में फंसे मनुष्य को चोर, डाकू, सिंह, व्याघ्र, कुटुम्बी मांसाहार बना लेते हैं अर्थात् मार डालते हैं ।।9॥ भारद्वाज के उद्धरण में भी यही भाव है :-

मृगयाव्यसनोपेतः पुरुषो वधमाप्नुयात् ।
चौर व्यालारिदायादपार्श्वादेकतमस्य च ।।1॥

(द्यूताव्यसनस्य) जुआरी के (किम् अपि) कुछ भी (अकृत्यम्) नहीं करने योग्य (न अस्ति) नहीं है । ।।10॥ (हि) निश्चय से (मातरि) माता के (अपि) भी (मृतायाम्) मरने पर (कितवः) जुआरी (दिव्यति) जुआ खेलता (एव) ही है ।।11॥

संसार में ऐसा कौन अनर्थ-पाप है जिसे जुआरी नहीं करता हो और तो क्या माता का मरण होने पर भी वह द्यूत खेलना बन्द नहीं करता । सारांश यह है कि जुआरी कर्त्तव्यबोध से च्युत हो जाता है । अतः इसका त्याग ही करना चाहिए ।।10-11॥ शुक्र ने कहा है :-

सानुरागोऽपि चेन्नीवीं पत्न्याः स्पृशति कर्हिचित् ।
द्यूतविन्नेच्छते साधुर्वस्त्राहरणशंकया ।।1॥

जुआरी इतना अविश्वस्त हो जाता है कि "यदि उसकी पत्नी का भी वह प्रेम से पल्ला पकड़ता है तो वह

भी सोचती है कि कहीं मेरा वस्त्र छीनकर इसे भी दाव पर न लगा दे ।'' मेरी सुन्दर साड़ी का अपहरण कर लेगा, अतः उससे प्रेम नहीं करती ।।1॥

(पिशुनः) चुगलखोर (सर्वेषाम्) सर्वजनों को (अविश्वासं) अप्रतीति (जनयति) उत्पन्न करता है ।।12॥ चुगली करने वाला समस्त लोगों में अविश्वास उत्पन्न करता है । चुगली में नियम से कपट रहता है, कपटी का वचन सत्य रूप नहीं होता अतः वह किसी का भी विश्वास पात्र नहीं बन सकता ।।12॥ वशिष्ठ विद्वान ने भी ऐसा ही कहा है :-

विद्वानपि कुलीनोऽपि राजाग्रे चैव पैशुनम् ।
यः करोति नरो मूर्खस्तस्य कोऽपि न विश्वसेत् ।।1॥

राजा के समक्ष भी यदि चुगली करता है तो वह मूर्ख सभी का अविश्वास पात्र हो जाता है अर्थात् उसका कोई भी विश्वास नहीं करता है ।।1॥

(दिवास्वापः) दिन में सोने वाला (गुप्त व्याधि व्यालानाम्) छिपी व्याधि रूपी सर्पों को (उत्थापन दण्डः) जगाने वाला है (च) और (सकलकार्याणाम्) समस्त कार्यों की सिद्धि का (अन्तरायम्) विघ्न कर्ता है ।।13॥

दिवस काल में निद्रा लेना शरीर में अनेकों रोगरूपी सर्पों को जगाने का कारण है । और समस्त कार्यसिद्धि में बाधक हैं । निष्कर्ष यह है कि स्वास्थ्य व कार्य सिद्धि निमित्त दिन में शयन का त्याग करे ।। धनवन्तरि ने भी कहा है कि :-

ग्रीष्मकालं परित्यज्य योऽन्यकाले दिवा स्वपेत् ।
तस्य रोगोः प्रवर्द्धन्ते यैः स याति यमालयम् ।।1॥

अर्थात् ग्रीष्मकाल को छोड़कर जो अन्य ऋतुओ में दिन में सोता है उसके रोगों की वृद्धि होती है और वह नियम से यमलोक की यात्रा करता है ।।1॥

(परपरिवादात्) दूसरों की निन्दा से (परम्) अधिक (सर्व विद्वेषण) सबके साथ द्वेष करने की (भेसजम्) औषधि (न) नहीं (अस्ति) है ।।14॥

संसार में दूसरे की निन्दा के अतिरिक्त सबसे द्वेष करने की अन्य कोई औषधि नहीं है ।। अर्थात् जो मनुष्य परनिन्दा करता है सारा संसार उसका शत्रु बन जाता है । अथवा यों कहें या समझें कि जिसकी पर की निन्दा कर रहा है उसकी हम प्रशंसा करें तो वह निन्दा करना छोड़ देगा, यही निन्दक को प्रशंसक बनाने की अमोघ औषधि है ।।14॥ हारीत विद्वान ने भी इसी अभिप्राय को कहा है :-

क्षयव्याधि परीतस्य यथा नास्त्यत्र भेषजम् ।
परीवादप्रयोगस्य स्तुतिं मुक्त्वा न भेषजम् ।।1॥

अर्थ :- क्षयव्याधि ग्रस्त व्यक्ति की जिस प्रकार कोई औषधि नहीं है उसी प्रकार निन्दक की स्तुति को छोड़कर अन्य कोई औषधि नहीं है ।।1 ॥14॥ (तौर्यत्रय) गान, नृत्य, वादित्र (आसक्तिः) में आसक्ति (प्राण, अर्थ, मानैः) प्राण, धन और सम्मान का (वियोजयति) वियोग करती है ।।

गीत सुनने में आसक्ति, नृत्य-दर्शन की लोलुपता और बाजा बजाने का लोभ ये तीनों प्राण, धन और सम्मान का नाश करने वाले हैं । अतः विवेकी को इनके व्यामोह में नहीं फंसना चाहिए ।।15॥

(व्यथा) बिना प्रयोजन (आट्या) घूमने वाला (कम् अपि) किसी भी (अनर्थम्) अपाय को (अविधाय) करे बिना (न) नहीं (विरमति) विश्राम लेता है ।।16॥

बिना प्रयोजन के इधर-उधर घूमने-फिरने वाला व्यक्ति अपूर्व अनर्थों-पापों का मूल है । अतः मनुष्य को निष्प्रयोजन यत्र-तत्र भ्रमण का त्याग करना चाहिए ।।16॥ भृगु विद्वान ने निरर्थक घूमने वालों के विषय में लिखा है :-

वृथाटनं नरो योऽत्र कुरुते बुद्धिवर्जितः ।
अनर्थं प्राप्नुयाद्रौद्रं यस्य चान्तो न लभ्यते ।।1॥

बुद्धिहीन जो वृथा यहाँ-वहाँ घूमते फिरते हैं उनके भयंकर रुद्रकार्यों-अनर्थों का कभी अन्त नहीं आता । समस्त पाप उन्हें प्राप्त होते हैं ।।1॥

(अतीव) अत्यन्त (ईर्ष्यालु) द्वेषी को (स्त्रियः) नारियाँ (पुरुषम्) पुरुष को (घ्नन्ति) मार देती हैं (वा) अथवा (व्यजन्ति) त्याग देती हैं ।।17॥

जो पुरुष महिलाओं के साथ अधिक ईर्ष्या व द्वेष रखते हैं उन्हें वे मार डालती हैं या छोड़ देती हैं ।।17॥ अतः प्रत्येक व्यक्ति स्त्री के साथ प्रेम का व्यवहार करे । भृगु विद्वान का उद्धरण इस विषय में दृष्टव्य है :-

ईर्ष्याधिकं त्यजन्ति स्म घ्नन्ति वा पुरुषं स्त्रियः ।
कुलोद्भूता अपि प्रायः किं पुनः कुकुलोद्भवाः ।।1 ॥10 ॥17॥

(पर परिग्रहा) पर स्त्री (अभिगमः) गमन (वा) अथवा (कन्यादूषणम्) कन्या सेवन (साहसम्) साहस है ।।18॥ (यत्) जो (साहसं) साहस (दशमुखस्य) रावण का एवं (दण्डिका) दण्डिक के (विनाश) नाश का (हेतुः) कारण (सुप्रसिद्धम् एव) अच्छी तरह प्रसिद्ध ही है ।।19॥

परस्त्री का एवं कन्या का सेवन करना साहस है । कैसा साहस है ? विनाश और दुर्गति का प्रबल कारण। इतिहास व आगम प्रसिद्ध लंकाधिपति और दण्डिक दोनों ही यश और जीवन के साथ नष्ट हो दुर्गति के पात्र हुए ।।18-19॥ भारद्वाज ने पर कलत्र सेवन, व कन्या-दूषण को दुःख देने वाला ही निरुपित किया है।

अन्यभार्यापहारो यस्तथा कन्या प्रदूषणम् ।
तत् साहसम् परिज्ञेयं लोकद्वयभयप्रदम् ।।1॥

भृगु ने कहा:-

अङ्गीकृत्यात्मनो मृत्युं यत् कर्म क्रियते नरैः ।
तत्साहसं परिज्ञेयं रौद्रकर्मणि निर्भयम् ।।1।।

भृगु

सारांश यह है कि परस्त्री को माता, बहिन, पुत्री सम देखना चाहिए । उसी प्रकार कन्या के शील-संयम का रक्षण सत्पुरुषों का कार्य है ।।18-19॥

(यत्र) जहाँ (अहम्) मैं (न अस्मि) नहीं हूँ (इति) इस प्रकार (अध्यवसायः) प्रतीति (तत्) वह (साहसम्) साहस है ।।20॥ उपर्युक्त अर्थ ही यहाँ समझना ।।

(अर्थदूषकः) धन का दुरुपयोग कर्ता (कुबेरोऽपि) कुबेर भी (भिक्षाभाजनम्) भीख मांगने वाला (भवति) होता है ।।21॥ जो व्यक्ति अपनी आय से अधिक व्यय करता है अथवा कुपात्र, अपात्रों को दान देता है वह कुबेर के समान धनाढ्य होने पर भी भिक्षुक समान हो जाता है ।।21॥ हारीत विद्वान भी कहते हैं :-

अति व्ययं च योऽर्थस्य कुरुते कुत्सितं सदा ।
दारिद्र्योपहतः स स्याद्धनदोऽपि न किं नरः ।।1।।

अर्थ :- कुबेर समान भी नर अपव्यय व कुदानादि से दारिद्र्य से पीड़ित हो जाता है तो फिर साधारण जनों की क्या बात ? वे तो हो ही जायेंगे कंगाल ।।

अभिप्राय यह है कि विवेकी पुरुषों को अपनी सम्पदा का सदुपयोग करना चाहिए। सत्पात्रदानादि सत्क्षेत्रों में यथाशक्ति प्रदान करे ।।21॥

(अतिव्ययः) आय से अधिक खर्च (च) और (अपात्रव्ययः) अपात्रों को दान (अर्थदूषणम्) धन का दूषण है।

अपनी आमदनी से अधिक खर्च करना और अपात्रों को दान देना अपने धन का दुर्व्यवहार है ।।22॥ (हर्ष) अहं (आमर्षभ्याम्) क्रोध द्वारा (तृणाङ्कुरम्) तिनके को (अपि) भी (न) नहीं (उपहन्यात्) नष्ट करे (पुनः) फिर (मर्त्यम्) मनुष्य की (किम्) क्या बात ?

अहंकार व क्रोधावेश में एक तिनके के अङ्कुर की भी हिंसा नहीं करना चाहिए, फिर मनुष्य को मारने व कष्ट देने की तो बात ही क्या है ? किसी को सताना पाप है । भारद्वाज का भी यही कथन है :-

तृणच्छेदोऽपिनो कार्यो बिना कार्येण साधुभिः ।
येन नो सिद्ध्यते किं चित् न किंपुनर्मानुषंमहः ।।1।।

(निष्कारण) बिना प्रयोजन (भूतः) प्रजा को (अवमानिनौ) अपमानित करने वाले (वातापिः) वातापि (च) और (इल्वलः) इल्वल नामक (द्वौ) दो (असुरौ) असुर (किल) निश्चय से (अगस्त्याशनात्) अगस्त्य नाम सन्यासी

से (विनेशतु) नष्ट किये गये (इति श्रूयते) ऐसा सुना जाता है ।

वातापि और इल्वल नाम के दोनों राजाओं ने अपनी प्रजाओं को निरपराध कष्ट दिया-सताया था । फलतः अगस्त्य नाम के सन्यासी द्वारा मारे गये ।।24॥

(यथादोषम्) अपराध के अनुसार (कोटिः) करोड़ (अपि) भी (गृहीता) ग्रहण किये जाने वाला (न) नहीं (दुःखायते) दुःखी नहीं होता (अन्यायेन) बिना अपराध, अन्याय से (पुनः) फिर (तृणशलाका) तिनके बराबर (अपि) भी (गृहीता) लेने पर (प्रजाः) प्रजा (खेदयति) दुःखी होती है ।।25॥

यदि राजा अपराध के अनुसार-न्यायोचित ढंग से करोड़ रुपये भी यदि ले ले तो भी प्रजा कष्टानुभव नहीं करती। किन्तु यदि अन्याय से निरपराध से एक तिनके के बराबर भी धनराशि दण्ड करे तो प्रजा खेदखिन्न होती ही है ।।25॥ भागुरि ने भी कहा है :-

गृहीता नैव दुःखाय कोटिरप्यपराधिनः ।
अन्यायेन गृहीतं यद्भूभुजा तृणमर्त्तिदम् ।।1॥

(तरुच्छेदेन) जड़काटकर (फलोपभोगः) फलभक्षण (सकृत्) एक बार (एव) ही है । अर्थात् जिस प्रकार वृक्ष को मूल से काटकर फलभक्षण करने वाला, मात्र एक बार ही फलोपभोग कर सकता है, उसी प्रकार अन्याय से प्रजा का धन हड़पी नृप भी एक बार धन पा सकता है सर्वदा नहीं ।। भविष्य में कुछ नहीं पाता ।।26॥ कहा भी है :-

मूलच्छेदे यथा नास्ति तत्फलस्य पुनस्तरोः ।
सर्वस्वहरणे तद्वन्न नृपस्य तदुद्भवः ।।1॥

(हि) निश्चय से (प्रजाविभवः) प्रजा की विभूति (स्वामिनः) राजा का (अद्वितीयः) विशिष्ट (भाण्डागारः) खजाना है (अतः) इसलिए (तम्) उसका (युक्तितः) न्याय से (उपभुञ्जीत) भोग करे ।।27॥ प्रजा की सम्पदा राजा के लिए अपूर्व खजाना है । अतः उसका सदुपयोग न्यायपूर्वक करना चाहिए । अर्थात् अपराधानुसार ही दण्ड में धनराशि लेना चाहिए । आर्थिक दण्ड आवश्यकता से अधिक नहीं लेना चाहिए ।।27॥ गौतम का अभिप्राय :-

प्रजानां विभवो यश्च सोऽपरः कोश एव हि ।
नृपाणां युक्तितो ग्राह्यः सोऽन्यायेन न कर्हिचित् ।।1॥

(राजपरिगृहीतम्) राजकीय गृहीत (तृणम्) तिनका (अपि) भी (काञ्चनी) सोना (भवति) होता है (पूर्वसचितस्य) पहले संग्रह किया (अपि) भी (अर्थस्य) धन का (अपहराय) अपहरण होता है ।।28॥

राजकीय साधारण वस्तु भी-तृण भी चुराये तो उसके बदले में सुवर्णमुद्रा देनी पड़ती है । क्योंकि राजदण्ड के कारण राजकीय सामान्य वस्तु भी पूर्व संचित धन को नष्ट कर देती है । क्रुद्ध राजा धनापहरण करा सकता है। अतः राज चोरी टैक्स आदि की चोरी कभी नहीं करना चाहिए ।।28॥ ब्लैक मार्केटिंग आदि से सदैव सावधान रहना चाहिए ।। धन व्यामोह नहीं करना चाहिए ।। कहा भी है :-

यो हरेद्भूपजं वित्तमपि स्वल्पतरंहि यत् ।
गृहस्थस्यापि विज्ञस्य तन्नाशाय प्रजायते ।।1 ॥

राजकीय अल्प अर्थ का भी अपहरण व्यापारी या गृहस्थ के प्रचुर संचित द्रव्य नाश का कारण हो जाता है ।।28 ॥

वाक् पारुष्यं शस्त्रपातादपि विशिष्यते ।।29 ॥

(वाक्) वचन (पारुष्यम्) कठोरता (शस्त्र) अस्त्र (पातात्) गिराने से (अपि) भी (विशिष्यते) अधिक है ।।29 ॥ कठोर वचन शस्त्र के घाव से भी अधिक पीड़ाकारक होता है । अतएव मर्मभेदी, कर्कश वचन बोलना अच्छा नहीं है ।।29 ॥ विदुर ने भी कहा है :-

वाक्सायका रौद्रतमा भवन्ति यै राहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य मर्मस्वापिते पतन्ति तान् पण्डितो नैव क्षिपेत् परेषु ।।1 ॥

अर्थ :- कर्कश वचन रूपी वाण महातीक्ष्ण व भयंकर होते हैं, क्योंकि वे दूसरों के मर्मस्थल का भेदन कर यातना प्रदान करते हैं । इनसे बिद्ध मनुष्य अहर्निश व्याकुल रहता है । अतएव सत्पुरुषों को कठिन व कर्कश वचन नहीं बोलना चाहिए ।।1 ॥

(जाति) जाति (वयः) उम्र (वृत्त) आचरण (विद्या) ज्ञान के (दोषाणाम्) दोषोत्पादक (अनुचितम्) अयोग्य (वचः) वचन (वाक्) वचन (पारुष्यम्) कठोरता [अस्ति] है ।।30 ॥

कुलीन को नीच, वृद्ध को बाल, सदाचारी को दुराचारी, विद्वान को मूर्ख और निर्दोष को दोषी कहना 'वाक् पारुष्य' कहलाता है ।।30 ॥ जैमिनि विद्वान ने भी कहा है :-

जातिविद्यासुवृत्ताख्यान् निर्दोषान् यस्तु भर्त्सयेत् ।
तद्गुणैर्वामतां नीतैः पारुष्यं तन्न कारयेत् ।।1 ॥

उपर्युक्त ही अर्थ है ।

(स्त्रियम्) पत्नी (अपत्यम्) पुत्र (भृत्यम्) नौकर (च) और (तथोक्त्या) पारुष्य वचनों के प्रति (विनयम्) विनय अनुकूलता (ग्राह्येत्) ग्रहण करे (यथा) जिससे (प्रविष्ट) घुसी (शल्यम्) कांटे (इव) समान (ते) वे वचन (न) नहीं (दुर्मनायन्ते) दुःखी मन करे ।

नैतिक मनुष्य अपनी पत्नी, पुत्र, सेवक-नौकर-चाकरों को वाक्पारुष्यकर्कश वचन का त्याग करना, हित, मित-प्रिय वचन बोलना चाहिए । विनयशील बनना चाहिए । इस प्रकार नम्रता व विनयपूर्वक अन्य के प्रति वचन कहने से वे दूसरों के हृदय में कील समान चुभकर कष्ट नहीं देते, अपितु आनन्द प्रदायक होते हैं ।।31 ॥ शुक्र ने भी कहा है :-

भार्याभृत्यसुता यस्य वाक् पारुष्य सुदुःखिताः ।
भवन्ति तस्य नो सौख्यं तेषां पार्श्वात् प्रजायते ।।1 ॥

अर्थ :- जिस पुरुष के वचनों से स्त्री, भृत्य, पुत्रादि को कष्ट हो वे परुष या कठोर वचन कहलाते हैं। इनके द्वारा प्राणी को रञ्चमात्र भी सुख नहीं होता ।।1।।

(बधः) मृत्युदण्ड (परिक्लेशः) पीड़ादान (अर्थहरणम्) धन हड़पना (अक्रमेण) बिनाक्रम आरोप (दण्डपारुष्यम्) दण्डपारुष्य कहलाता है ।।32।।

अन्याय से किसी की हत्या करना, जेलखाने की सजा देना, समस्त धन अपहरण करना या उसकी जीविका नष्ट कर देना "दण्डपारुष्य" है ।।32।। गुरु विद्वान ने कहा :-

बंध क्लेशापहारं यः प्रजानां कुरुते नृपः ।
अन्यायेनहितत् प्रोक्तंदण्डपारुष्यमेव च ।।1।।

उपर्युक्त ही परिभाषा है ।

(एकेन) एक (अपि) भी (व्यसनेन) व्यसन द्वारा (उपहतः) पीड़ित (चतुरङ्गः) चतुरंग सेनासहित (अपि) भी (राजा) नृप (विनश्यति) नष्ट हो जाता है, (किं) क्या (पुनः) फिर (न) नहीं (अष्टादशभिः) अठारह व्यसनों की क्या बात ?

जो भूपति उपर्युक्त 18 व्यसनों में से एक का भी सेवन करता है, वह चतुरङ्ग-सेना-हाथी, घोड़ा, रथ, पदाति से युक्त हो, खजाने की भी दृढ़ता-भरपूर हो तो भी नष्ट हो जाता है । फिर यदि 18 के अठारह ही सेवन करे तो उसका विनाश तो सुनिश्चित है ही ।।

इस समुद्देश में आचार्य श्री ने राजा और राजसत्ता के नाश के कारणभूत अठारह व्यसनों का निरूपण किया हैं। वस्तुतः ये व्यसन प्राणी मात्र के अहित करने वाले हैं । ये निम्न प्रकार है :-

(1) स्व स्त्री में आसक्ति अर्थात् अमर्याद स्त्री संभोग करना (2) मद्यपान-शराब पीना (3) शिकार खेलना - आखेट (4) द्यूत खेलना-जुआ खेलना (5) पैशून्य-चुगली करना (6) दिन में सोना-ग्रीष्मकाल के अतिरिक्त दिन में शयन करना (7) पर निन्दा करना (8) गीत श्रवण करने में आसक्ति रखना (9) नृत्यदर्शन में आसक्ति (10) वादित्र-बाजा श्रवण करने में लोलुपता रहना (11) वृथा-निष्प्रयोजन (12) ईर्ष्या (13) दुस्साहस (परस्त्री सेवन व कन्यादूषण) (14) अर्थदूषण-धन का अपव्यय-दुरुपयोग करना (15) अकारण वध (16) पर द्रव्य हरण-चोरी (17) कर्कश-कटु भाषा प्रयोग करना और (18) दण्डपारुष्य-अन्यायपूर्वक दण्ड देना ।।अनावश्यक अन्य भी कार्यों का त्याग करना चाहिए ।।

"।। इति व्यसन समुद्देशः ।।"

इति श्री परम् पूज्य प्रातः स्मरणीय, विश्ववंद्य, चारित्रचक्रवर्ती, मुनिकुञ्जर समाधि सम्राट, महातपस्वी, वीतरागी दिगम्बर जैनाचार्य श्री आदिसागर जी 'अंकलीकर' के पट्टाधीश आचार्य तीर्थ भक्ति शिरोमणि श्री महावीर कीर्ति जी संघस्था, श्री परम् पूज्य निमित्तज्ञान शिरोमणि आचार्य 108 विमल सागर जी महाराज की शिष्या 105 प्रथम गणिनी आर्यिका विजयामती ने श्री परम् पूज्य सिद्धान्तचक्रवर्ती 108 आचार्य श्री सन्मति सागर जी महाराज के चरणारविन्द सान्निध्य में हिन्दी भाषा की विजयोदय टीका में 16वाँ समुद्देश समाप्त किया ।।

।। 0 ।।

17

स्वामी-समुद्देश

राजा का लक्षण :-

धार्मिक : कुलाचाराभिजन विशुद्धः प्रतापवान्नयानुगतवृत्तिश्च स्वामी ।।1॥

कोपप्रसादादयोः स्वतन्त्र ।।2॥ आत्मातिशयं धनं वा यस्यास्ति स स्वामी ।।3॥

अन्वयार्थ :- (धार्मिकः) धर्मात्मा (कुलाचारः) शुद्धाचरणी (अभिजनविशुद्धः) श्रेष्ठ कुलोत्पन्न (प्रतापवान) प्रतिभासम्पन्न (नयानुगत) नय के अनुसार (च) और (वृत्तिः) प्रवृत्ति करने वाला (स्वामी) राजा (कोपः) दुष्टों के प्रति कोप (प्रसादादयः) शिष्टों के प्रतिपालन को प्रसन्नादि (स्वतन्त्रः) अपने कार्यों में स्वाधीन (आत्मातिशयं) आत्मगौरव सम्पन्न (धनम्) प्रचुर सम्पत्ति (वा) अथवा (यस्य) जिसके धन है (सः) वह (स्वामी) राजा है ।।1,3॥

विशेषार्थ :- जो धर्मात्मा हो, कुलाचार श्रेष्ठ, उत्तम शुद्ध कुल-वंश-परम्परा में उत्पन्न, भाग्यशाली, नैतिकाचारसम्पन्न, दुष्टों के साथ दण्डप्रयोग-कोप, शिष्टों का परिपालन-प्रसन्नचित्त, स्वतन्त्र विचारक, आत्म-गरिमा युक्त, धन-सम्पत्ति सम्पन्न-सेना-खजाना भरपूर रखने वाला हो वह राजा या स्वामी कहलाता है ।। शुक्र, गर्ग और गुरु ने भी राजा का यही लक्षण कहा है :-

धार्मिको यः कुलाचारै र्विशुद्धः पुण्यवान्नयी ।
स स्वामी कुरुते राज्यं विशुद्धं राज्यकण्टकैः ।।1॥

स्वायत्तः कुरुतेयश्च निग्रहानुग्रहौ जने ।
पापे साधुसमाचारे स स्वामी नेतरः स्मृतः ।।2॥

आत्मा च विद्यते यस्य धनं वा विद्यते बहु ।
स स्वामी प्रोच्यते लोकैर्नेतरोऽन्न कथंचन ।।3॥

अमात्य-आदि प्रकृति स्वरूप :-

स्वामिमूलाः सर्वाः प्रकृतयोऽभिप्रेतार्थ योजनाय भवन्ति नास्वामिकाः ।।4।।

उच्छिन्नमूलेषु तरुषु किं कुर्यात् पुरुष प्रसन्नः ।।5।।

अन्वयार्थ :- (सर्वाः) सभी (प्रकृतयः) मंत्री, पुरोहितादि (अभिप्रेतार्थ) अभीष्ट-प्रयोजन सिद्धि (योजनाय) उपाय (स्वामिमूलाः) राजा के आश्रय से (भवन्ति) होते हैं, (अस्वामिकाः) राजाओं के बिना (न) नहीं होते ।।4।। गर्ग विद्वान ने भी कहा है :-

स्वामिना विद्यमानेन स्वाधिकारानवाप्नुयात् ।
सर्वाः प्रकृतयो नैव बिना तेन समाप्नुयुः ।।1।।

अर्थ :- समस्त प्रकृति-आमात्य, पुरोहितादि राजा के रहने पर ही अपने अधिकार प्राप्त करने में समर्थ होते हैं अन्यथा नहीं ।।4।।

(उच्छिन्नमूलेषु) जड़ से नष्ट वृक्ष में (तरुषु) वृक्ष में (किम्) क्या (पुरुषप्रयत्नः) मनुष्य का पुरुषार्थ (कुर्यात्) कर सकता है ? ।।5।।

हरे भरे वृक्ष को आमूल छिन्न (काटने) करने पर पुरुष प्रयोग से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, उसी प्रकार राज के अभाव में मन्त्री, पुरोहितादि के प्रयजनों की सिद्धि नहीं हो सकती है ।।5।। भागुरि विद्वान ने भी कहा है :-

छिन्न मूलेषु वृक्षेषु यथा नो पल्लवादिकम् ।
तथा स्वामि विहीनानां प्रकृतीनां न वाञ्छितम् ।।1।।

अर्थ :- जिस प्रकार मूल रहित वृक्ष के फल-फूलों का आधार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार राजा के अभाव में समस्त कर्मचारियों का आश्रय नष्ट हो जाता है ।।1।।

असत्य व धोखा देने से हानि :-

असत्यवादिनो नश्यन्ति सर्वे गुणाः ।।6।। वञ्चकेषु न परिजनो नापि चिरायुः ।।7।।

अन्वयार्थ :- (असत्यवादिनः) झूठ बोलने वालों के (सर्वे:) समस्त (गुणाः) गुण (नश्यन्ति) नष्ट हो जाते हैं ।।6।। (वञ्चकेषु) ठगों में-धोखेबाज के पास (परिजनाः) सेवकादि (न) नहीं रहते (अपि) और भी (चिरायुः) अधिककाल जीवन भी (न) नहीं रहता ।।

विशेषार्थ :- असत्यभाषण करने वाले मनुष्य के सभी गुण (ज्ञान-सदाचार आदि) नष्ट हो जाते हैं । 'रैम्य' विद्वान ने भी कहा है :-

कुलशीलोद्भवा ये च गुणा विद्यादयोऽपराः ।।
ते सर्वे नाशमायान्ति ये मिथ्यावचनात्मकाः ।।1।।

अर्थ :- स्वाभाविक शुद्धकुलोद्भव-परम्परा से प्राप्त तथा अन्य भी पुरुषार्थ साध्यविद्यादि गुण असत्य भाषण से नष्ट हो जाते हैं । अतः गुणों की रक्षा व वृद्धि के लिए सतत सत्य भाषण करना चाहिए । मिथ्या वचन सर्वथा त्याज्य हैं ।।1।। इसी प्रकार :-

वंचक, ठगों-धोखेबाजों के पास न सेवक जन ही ठहरते हैं और न वे चिरायु होते हैं। क्योंकि उनके अनायास शत्रु पीछे लगे रहते हैं। कारण कि सेवकादि को यथा समय वेतन नहीं देते, विपत्ति में उनकी सहायता नहीं करते। वे उनसे विमुख हो जाते हैं, द्वेष करते हैं और अवसर पाकर उन्हें अकाल में ही मृत्यु का ग्रास बना ही देते हैं। अतएव सत्पुरुषों को असत्य व ठग-वंचना का सर्वथा त्याग करना चाहिए ।।7।।

भागुरि ने भी कहा है :-

यः पुमान् वंचनासक्तस्तस्य न स्यात् परिग्रहः ।
न चिरं जीवितं तस्मात् सद्भिस्त्याज्यं हि वंचनम् ।।1।।

अर्थ :- जो पुरुष वंचना करने में निपुण है, उसके सेवकादि भी नहीं रहते और जीवन भी सदा सन्देह तुला पर आरूढ़ रहता है । अतः धोखेबाजी का त्याग करना श्रेयस्कर है ।।7।।

लोकप्रिय, दाता, प्रत्युपकार का फल, कृतज्ञ की कड़ी आलोचना :-

स प्रियोलोकानां योऽर्थं ददाति ।।8।। स दाता महान् यस्य नास्ति प्रत्याशोपहतं चेतः ।।9।। प्रत्युपकर्तुरुपकारः सवृद्धिकोऽर्थन्यास इव तज्जन्मान्तरेषु च न केषामृणं येषामप्रत्युपकारमनुभवनम् ।।10।। किं तया गवा या न क्षरति क्षीरं न गर्भिणी वा ।।11।। किं तेन स्वामि-प्रसादेन यो न पूरयत्याशाम् ।।12।।

अन्वयार्थ :- (यः) जो पुरुष (अर्थम्) धन (ददाति) दान करता है (सः) वह (लोकानाम्) संसार का (प्रियः) प्रिय [होता है] अत्रि विद्वान ने भी लिखा है :-

अन्त्यजोऽपि च पापोऽपि लोक बाह्योऽपि निर्दयः ।
लोकानां वल्लभः सोऽत्र यो ददाति निजं धनम् ।।1।।

अर्थ :- जो मनुष्य चाण्डाल, पापी, जाति वहिष्कृत, निर्दयी भी होकर यदि लोगों को अपना धन दान देता है तो वह भी जनता का प्रिय पात्र बन जाता है ।।1।।

(सः) वह (दाता) दानी (महान्) उत्तम है (यस्य) जिसका (प्रत्याशा) प्रत्युपकार के भाव से (चेतः) चित्त (उपहतः) पीड़ित (नास्ति) नहीं है । अत्रिपुत्रक ने कहा है :-

दत्वा दानं पुरुषोऽत्र तस्माल्लाभं प्रवाञ्छति ।
प्रगृहीतुः सकाशाच्च तद् दानं व्यर्थतां भवेत् ।।1।।

अर्थ :- जो व्यक्ति धनादि दान देकर याचकों से प्रत्युपकार चाहता है उसका दान देना व्यर्थ है । अभिप्राय यह है कि संसार में दाता वही श्रेष्ठ है जो निस्पृह होकर, प्रत्युपकार की भावना से शून्य होकर याचकों को अभिलाषित धनादि देता है । यदि उसके बदले में उससे धनादि ग्रहण का भाव रखता है तो यह दान नहीं वणिक् वृत्ति व्यापार है । अतः आत्महितैषी को उदार भाव से प्रत्युपकार की भावना से रहित होकर दान देना चाहिए ।।9॥

(प्रत्युपकर्तुः) कृतज्ञ का (उपकारः) उपकार (सवृद्धिकः) वृद्धिसहित (अर्थः) धन (न्यासः) धरोहर (इव) समान (तत्) वह (जन्मान्तरेषु) परलोक में भी युक्त है (च) और (येषाम्) जिनके (अप्रत्युकारः) बिना उपकारी का उपकार माने (अनुभवनम्) भोगता है वह (केषाम्) किसको (ऋणम्) कर्ज (न) नहीं है ? है ।

जो प्रत्युपकार की भावना रखता है उसका उपकार वृद्धिंगत करने वाली सम्पत्ति के समान है । अभिप्राय यह है कि उपकृत-विश्वासपात्र है उसके यहाँ रखी धन-सम्पत्ति सुरक्षित है तो जब चाहे तब ले सकते हैं परन्तु उसमें अधिकता कुछ भी नहीं होती । परन्तु प्रत्युपकारी के साथ किया धन-दानादि से उपकार, उपकारी को विशेष फलदायक होता है । क्योंकि उसके बदले में विशेष धनादि लाभ होने से बढ़ने वाली धरोहर के समान जानना चाहिए। अतः प्रत्युपकारी को दिया दान विशेष लाभकारी होता है ।। इसी प्रकार जो लोग प्रत्युपकार किये बिना परोपकार का उपभोग करते हैं वे जन्मान्तर में किन दाताओं के ऋणी नहीं होते ? सभी के कर्जदार बने रहेंगे । सारांश यह हुआ कि शिष्ट पुरुष को कृतज्ञतापूर्वक उपकारी का प्रत्युपकार करना चाहिए ।।10॥ ऋषिपुत्रक विद्वान ने कहा है :-

उपकारं गृहीत्वा यः प्रकरोतिपुनर्नवा ।
जन्मान्तरेषु तत्तस्य वृद्धिं याति कुसीदवत् ।।1॥

अर्थ उपर्युक्त प्रकार ही है ।।10॥

अन्वयार्थ :- (किम्) क्या (तया) उस (गवा) गाय से प्रयोजन (या) जो (न) नहीं (क्षरति) देती है (क्षीरम्) दूध (वा) अथवा (गर्भिणी) गर्भधारक भी (न) नहीं होती ? तथैव (तेन) उस (स्वामी-प्रसादेन) स्वामी-राजा की प्रसन्नता से (किम्) क्या (यः) जो (आशाम्) आशा इच्छा को (न) नहीं (पूरयति) पूर्ण करती है ।।12॥

विशेष :- उस गाय से क्या प्रयोजन जो दूध नहीं देती और गर्भ भी धारण नहीं करती ? कोई लाभ नहीं है । उसी प्रकार राजादि स्वामी प्रसन्न रहकर यदि याचकों की आशा पूर्ति नहीं करे - न्यायपूर्वक सेवकों के मनोरथ पूर्ण न करे तो उसकी प्रसन्नता से क्या लाभ ? कुछ भी लाभ नहीं है । क्योंकि अपने आश्रितों के मनोरथों की पूर्ति करना ही स्वामी-राजादि का कर्त्तव्य है ।।12॥

क्षुद्र-दुष्ट अधिकारी युक्त राजा-कृतघ्नता, मूर्खता, लोभ, आलस्य से हानि :-

क्षुद्रपरिषत्कः सर्पाश्रय इव न कस्याऽपि सेव्यः ।।13॥ अकृतज्ञस्य व्यसनेषु न सहन्ते सहायाः ।।14॥ अविशेषज्ञो विशिष्टैर्नाश्रीयते ।।15॥ आत्मम्भरिः परित्यज्यते कलत्रेणापि ।।16॥ अनुत्साहः सर्वव्यसनानामागमन द्वारम् ।।17॥

अन्वयार्थ :- (क्षुद्रपरिषत्कः) दुष्ट अमात्यादि सभा में रहने से (सर्पाश्रयः) घर में सर्प (इव) समान (कस्यापि-कस्य-अपि) किसी को भी (नसेव्यः) सेवन नहीं करना चाहिए । (अकृतज्ञस्य) कृतघ्न के (व्यसनेषु) व्यसन सेवियों के (सहायाः) सहायक (न सहन्ते) नहीं रहते हैं ।।14॥ (अविशेषज्ञः) साधारण व्यक्ति (विशिष्टैः) विशेष पुरुषों द्वारा (न) नहीं (आश्रियते) आश्रय योग्य हैं ।।15॥ (आत्मम्भरिः) लोभी-अंहकारी (कलत्रेण) स्त्री द्वारा (अपि) भी (परित्यज्यते) छोड़ दिया जाता है ।।16॥ (अनुसाह.) प्रमाद (सर्व) सम्पूर्ण (व्यसनानाम्) व्यसनों का (आगमन) आने का (द्वारम्) दरवाजा है ।।17॥

विशेषार्थ :- जिस भूपति की सभा में मूर्ख मंत्री आदि होते हैं, वे राजा सर्पयुक्त घर समान भयङ्कर राज्य में रहते हैं । इसलिए वे किसी के द्वारा सेवन करने योग्य नहीं हैं ।। गुरु विद्वान ने भी कहा है :-

हंसाकारोऽपि चेद्राजा गृध्राकारैः सभासदैः ।
असेव्यः स्यात् स लोकस्य ससर्प इव संश्रयः ।।1॥

अर्थ :- यदि राजा हंस के समान शुद्ध चित्त है, सौम्याकृति है, किन्तु यदि वह गृद्धपक्षियों समान, मन्त्री, पुरोहितादि दुष्ट, और घातकों से घिरा हो तो सर्पयुक्त गृह समान प्रजा द्वारा सेवन करने योग्य नहीं है, उसे प्रजा द्वारा त्याज्य समझना चाहिए ।।13॥

जो दूसरों से उपकृत होकर भी उनका उपकार नहीं मानता, कृतघ्न है तो वृद्धावस्था में उसकी सेवा करने वाले सेवक भी उसे छोड़ देते हैं । आपत्तिकाल में कोई भी उसकी सेवा सुश्रुषा नहीं करता । अतएव प्रत्येक व्यक्ति को कृतज्ञ होना चाहिए ।।14॥ जैमिनि ने भी कहा है :-

अकृतज्ञस्य भूपस्य व्यसने समुपस्थिते ।
साहाय्यं न करोत्येव कश्चिदासोऽपि मानवः ।।1॥

कृतघ्न राजा पर विपत्ति आने पर अन्य तो क्या उसका परिवार मण्डल भी उसकी सहायता करने को तैयार नहीं होते ।।14॥

अज्ञानी मूर्ख पुरुष शिष्ट-मनीषी, विद्वानों द्वारा सेवित नहीं होता ।।15॥

शुक्र विद्वान ने भी कहा है-

काचंमणिं मणिं काचं योवेत्ति पृथिवी पतिः ।।
सामान्योऽपि न त सेवेत् किं पुनर्विवुधोजनः ।।1॥

अर्थ :- जो मूर्ख, अविवेकी पृथ्वीपति काँच को मणि और मणि को काँच समझता है उसे साधारण जन भी मान्यता नहीं देते फिर विशिष्ट पुरुषों की तो बात ही क्या ? क्या विद्वान उसकी सेवा करेंगे ? नहीं कर सकते ।।15।।

केवल मात्र अपने ही उदरपूर्ति में मस्त रहने वाले, परिवार की ओर लक्ष्य नही देने वाले लोभी-कृपण पुरुष

को उसकी पत्नी भी त्याग देती है फिर अन्य की तो बात ही क्या है ? दूसरे सेवकादि तो छोड़ ही देते हैं । गुरु विद्वान ने कहा है :-

उपार्जितो यो नो दद्यात् कस्यचिद्भक्षयेत् स्वयम् ।
आत्मभरिः स विज्ञेयस्त्यज्यते भार्ययापि च ।।1।।

पेटू पुरुष को उसकी स्त्री भी छोड़ देती है अन्य की क्या बात ? ।।16।।

आलस्य सभी आपत्तियों का द्वार है । अर्थात् प्रमादी को सदा सभी कष्ट घेरते हैं ।।

वादरायण कहते हैं :-

आलस्योपहतो यस्तु पुरुषः संप्रजायते ।
व्यसनानि न तं क्वापि संत्यजन्ति कथंचन ।।1।।

आलसी-प्रमादी को कहीं पर भी आपत्तियाँ नहीं त्याग सकती हैं ।।17।।

उद्योग, अन्यायी, स्वेच्छाचारी, ऐश्वर्य-फल व राजाज्ञा :-

शौर्यममर्षः शीघ्रकारिता सत्कर्मप्रवीणत्वमुत्साहगुणाः ।।18।।

अन्याय प्रवृत्तस्य न चिरं सम्पदो भवन्ति ।।19।। यत्किञ्चनकारी स्वैः परैर्वाभिहन्यते ।।20।।

आज्ञाफलमैश्वर्यम् ।।21।। राजाज्ञाहि सर्वेषामलंघ्यः प्राकारः ।।22।।

अन्वयार्थ :- (शौर्यम्) शूरता (अमर्षः) क्रुद्धता (शीघ्रकारिता) जल्दीबाजी (सत्कर्मप्रवीणत्वम्) श्रेष्ठ कार्यों में चतुराई (उत्साहगुणाः) उत्साही के गुण हैं ।।28।। (अन्याय) अनीतिकर्ता (प्रवृत्तस्य) करने वाले के (सम्पदः) सम्पत्ति (चिरम्) चिरस्थायी (न) नहीं (भवन्ति) होती हैं।।19।। (यत्किञ्चनकारी) स्वेच्छाचारी पुरुष (स्वैः) अपने (वा) अथवा (परैः) दूसरों द्वारा (अभिहन्यते) मारा जाता है ।।20।। (ऐश्वर्य) वैभव का (फलम्) फल (आज्ञा) आज्ञा है ।।21।। (हि) निश्चय से (राजाज्ञा) राजा की आज्ञा (सर्वेषाम्) सभी के लिए (अलंघ्यः) उलंघन नहीं करने वाला (प्राकारः) कोट है ।।22।।

विशेषार्थ :- शूरवीरता, दूसरे अपराधियों के उपद्रवों से क्रुद्ध होने वाला, शीघ्र कार्य करने वाला, सत्कर्म करने का स्वभाव ये उत्साही पुरुष के गुण हैं ।।18।। शौनकगुणी ने भी कहा है :-

शौर्यं कार्यार्थकोपश्च शीघ्रता सर्व कर्मसु ।
तत्कर्मणः प्रवीणत्वमुत्साहस्य गुणाः स्मृताः ।।1।।

उपर्युक्त ही अर्थ है ।

अन्यायी पुरुष की सम्पत्तियाँ चिरस्थायी नहीं होती है । शीघ्र नष्ट हो जाती हैं ।।29।। अत्रि विद्वान ने भी कहा है :-

अन्यायेन प्रवृत्तस्य न चिरं सन्ति सम्पदाः ।
अपि शौर्य समेतस्य प्रभूत विभवस्य च ।।1।।

स्वेच्छाचारी-मनमाना कार्य करने वाला पुरुष अपने ही परिवार वालों से अथवा अन्य लोगों के द्वारा मार दिया जाता है ।।20।। अत्रिविद्वान ने भी कहा है :-

स्वेच्छया वर्तते यस्तु न वृद्धान् परिपृच्छति ।
सपरैर्हन्यते नूनमात्मीयैर्वा निरङ्कुशः ।।1।।

अर्थ :- ज्ञानवृद्धों के परामर्श बिना जो व्यक्ति स्वेच्छा से निरंकुश कार्य प्रवृत्ति करते हैं, उन स्वेच्छाचारियों को कुटुम्बियों द्वारा अथवा अन्य लोगों द्वारा मृत्यु प्राप्त होती है ।।20।।

राज्य ऐश्वर्य की सेन्य-कोष-शक्ति, प्रजा व मन्त्री, पुरोहितों द्वारा आज्ञा पालन से ही सफलता होती है ।।21।। वल्लभदेव विद्वान ने भी कहा है :-

स एव प्रोच्यते राजा यस्याज्ञा सर्वतः स्थिता ।
अभिषेको व्रणस्यापि व्यजनं पट्टमेव च ।।1।।

अर्थ :- जिसकी आज्ञा सर्वमान्य हो वही राजा कहलाता है । यदि उसकी आज्ञा नहीं चले तो वह व्यक्ति केवल अभिषेक, व्यजन (चमरादि) व व्यजन-पंखा से हवा किया जाना और पट्टनबन्ध आदि चिन्हों से युक्त मात्र राजा नहीं हो सकता क्योंकि जल से धोना-अभिषेक व पट्टी बांधना रुप कार्य तो फोड़े का भी होता है । क्योंकि फोड़े की सफाई को जल से धोना, मलहम लगाकर पट्ट बांधना, और मक्खियाँ उड़ाने को पंखा झलता ही है । अतः राजा की गरिमा उसकी आज्ञा का होना ही है ।।21।।

राजकीय आज्ञा समस्त प्रजा द्वारा अलंघ्य होती है । जिस प्रकार विशाल परकोटा उल्लंघन नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार राजा की आज्ञा भी सर्वमान्य होती है किसी के भी द्वारा उसका प्रतीकार नहीं किया जाता है ।।22।। गुरु विद्वान ने भी कहा है :-

अलंघ्यो यो भवेद्राजा प्राकार इव मानवैः ।
यमादेशमसौ दद्यात् कार्य एव हि स ध्रुवम् ।।1।।

राजकर्त्तव्य, आज्ञाहीन राजा की आलोचना, सजा के योग्य पुरुष :-

आज्ञाभंगकारिणं पुत्रमपि न सहेत ।।23।। कस्तस्य चित्रगतस्य च विशेषो यस्याज्ञा नास्ति ।।24।। राजाज्ञावरुद्धस्य तदाज्ञां न भजेत् ।।25।। परमर्माकार्यमश्रद्धेयं च न भाषेत ।।26।।

अन्वयार्थ :- (आज्ञाभंगकारिणम्) राजाज्ञा नहीं मानने वाले (पुत्रम्) पुत्र को (अपि) भी (न सहेत) सहन नहीं करे ।।23।। (तस्य) उस (चित्रगतस्य) चित्र में बने राजा की (च) और (यस्य) जिसकी (आज्ञा) आदेश

का (नास्ति) पालन नहीं होता (कः) क्या (विशेषः) विशेषता है ? ।।24॥ (राजाज्ञा) राजा की आज्ञा (अवरुद्धस्य) विरोधी का (तद्) उस (आज्ञाम्) आज्ञा को (न भजेत) नहीं माने, उसका पक्ष नहीं लेवे ।।25॥ (परमर्मः) दूसरे की गुप्त (अकायम्) व्यर्थ (च) और (अश्रद्धेयम्) श्रद्धान के अयोग्य (न भाषेत) वचन नहीं बोले ।।26॥

विशेषार्थ :- राजा का कर्त्तव्य है कि अपने आज्ञा विरोधी पुत्र की भी उपेक्षा न करे । अर्थात् पुत्र को भी अपराध करने पर न्यायोचित दण्ड देना चाहिए । नारद विद्वान ने कहा है :-

आज्ञाभंगो नरेन्द्राणामशस्त्रोवधमुच्यते ।
प्राणार्थिभिर्न कर्त्तव्यस्तमात्सोऽत्रकथंचन ।।1॥

अर्थ :- राजाज्ञा का उल्लंघन करना, बिना शस्त्र के मरण बुलाना है । अतः जीवन की इच्छा करने वालों को कभी भी राजा की आज्ञा का उल्लंघन-विरोध नहीं करना चाहिए ।।1॥ नीतिकारों को राजा की आज्ञानुसार चलना चाहिए ।।23॥

जिन राजाओं की आज्ञा का राज्य में पालन नहीं होता उनमें और चित्र में चित्रित राजा में क्या अन्तर है? कुछ भी नहीं । गुरु विद्वान ने भी कहा है :-

यस्याज्ञां नैव कुर्वन्ति, भूमौ भूपस्य मानवाः ।
आलेख्यगः स मन्तव्यो न मनुष्यः कथंचन ।।1॥

अर्थ :- जिस राजा की आज्ञा का प्रजा जन अनुसरण नहीं करती उस राजा के जीवन से क्या प्रयोजन ? उसे चित्र में (फोटो) लिखा हुआ समझना चाहिए, जीवन्त मनुष्य नहीं ।। अर्थात् - आज्ञा का पालन यदि नहीं हो तो उस राज्य से और नृप से क्या कार्य सिद्धि है ? उसे मृतक समान समझना चाहिए ।।24॥

जो पुरुष राजदण्ड में कारागार की सजा प्राप्त है, उसका पक्ष कभी नहीं लेना चाहिए अन्यथा पक्ष लेने वाला भी अपराधी समझा जायेगा । भारद्वाज ने भी कहा है :-

विरुद्धो वर्तते यस्तु भूपते सह मानवः ।
तस्याज्ञां कुरुते यस्तु स दण्डोहौं भवेन्नरः ।।1॥

अर्थ :- जो व्यक्ति राजा के साथ विरुद्ध प्रवृत्ति करता है और जो उस विरोधी का साथ देता है वे दोनों ही दण्ड के पात्र होते हैं । इसलिए राजद्रोही का कभी भी पक्ष नहीं लेना चाहिए ।।25॥

सदाचारी, नीतिज्ञ मनुष्य को किसी की निरर्थक व अविश्वासकारी गुप्त बात को प्रकट नहीं करना चाहिए ।।26॥ भागुरि विद्वान ने भी कहा है :-

परमर्म न वक्तव्यं कार्य वाह्यं कथंचन ।
अश्रद्धेयं च विज्ञेयं य इच्छेद्धितमात्मनः ।।1॥

अर्थ :- कार्य वाह्य-निष्प्रयोजन किसी की गुप्त बात को कभी भी प्रकट नहीं करना चाहिए । अश्रद्धायुक्त बात को कहने से आत्महित नहीं होता । अतः आत्महितैषियों को कभी भी किसी के गुप्त रहस्य को उजागर नहीं करना चाहिए ।।26॥

अज्ञात-वेष, राज क्रोध व पापी राजा से हानि, राजा द्वारा अपमानित व मान्य पुरुष :-

वेषमाचारं वानभिज्ञातं न भजेत ।।27॥ विकारिणिप्रभौ को नाम न विरज्यते ।।28॥

अधर्म परे राज्ञि को नाम नाधर्मपरः ।।29॥ राज्ञावज्ञातो यः स सर्वैरवज्ञायते ।।30॥ पूजितं पूजयन्ति लोकाः ।।31।

अन्वयार्थ :- (वेषम्) छद्म वेषी (आचारम्) आचरण करने वाले (वा) अथवा (अनभिज्ञातम्) आप्त पुरुषों को (न भजेत्) काम में न लगावे । ।।27॥ (विकारिणि) विपरीत-कुपित (प्रभौ) राजा के होने पर उससे (को नाम) कौन पुरुष (न विरज्यते) विरक्ति नहीं होता ? ।।28॥ (अधर्मपरे) अधर्म में तत्पर (राज्ञि) राजा के होने पर (को नाम) कौन पुरुष (अधर्म परः) पाप में रत (न) नहीं होता ? ।।29॥ (राज्ञा) राजा के द्वारा (अवज्ञातः) तिरस्कृत (यः) जो पुरुष है (सः) वह (सर्वैः) सबके द्वारा (अवज्ञायते) तिरस्कृत होता है ।।30॥ (पूजितम्) राजसम्मानित को (लोकाः) सभी जन (पूजयन्ति) पूजते हैं - सम्मानित करते हैं ।।31॥

विशेषार्थ :- छद्मवेषधारी--जो बहुमूल्य वस्त्राभूषण धारण कर स्त्री का रूप बनाकर सुन्दर हाव-भाव दिखाता हो, बनावटी प्रेम दर्शाता हो ऐसे व्यक्तियों की परीक्षा किये बिना, अनुभवी, वृद्धजनों द्वारा विश्वास किये बिना राजा को उन्हें अपने राजकार्यों में नियुक्त नहीं करना चाहिए । क्योंकि शत्रु लोग भी इस प्रकार किन्हीं गुप्तचरों को भेज सकते हैं । मायाचारपूर्ण व्यवहार द्वारा भेद पाने का प्रयत्न करते हैं । अतः विजिगीषु भूपालों को सावधान रहना चाहिए अन्यथा धोखे में पड़ने से राज्य की महती क्षति संभव हो सकती है ।।27॥ जिस पुरुष से राजा क्रुद्ध हो उससे कौन कुपित न होगा ? सभी उस पर क्रोधित होंगे ।। हारीत विद्वान ने कहा है :-

विकारान् कुरुते योऽत्र प्रकृत्या नैव तिष्ठति ।
प्रभोस्तस्य विरज्येत निजा अपि च बान्धवः ।।1॥

जो अपराधी राजा द्वारा तिरस्कृत हुआ है उसके प्रति कौन सन्तुष्ट होगा ? उसके भाई-बन्धु भी कुपित हो जाते हैं अन्य की क्या बात ? अतः राजा के विरुद्ध कार्य करके उसका कोपभाजन नहीं बनना चाहिए ।।28॥

"यथा राजा तथा प्रजा" भूपति के अनुसार प्रजा भी शिष्ट व दुष्ट होती है । अतः नृपति के पापी होने पर कौन व्यक्ति या प्रजा पापी नहीं होगी ? सभी पापात्मा ही रहेंगे ।।29॥ व्यास विद्वान ने भी यही अभिमत प्रकट किया है :-

राज्ञिधर्मणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः खले खलाः ।।
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः ।।1॥

अर्थ :- राजा धर्मज्ञ है तो प्रजा भी धर्मात्मा-सरल होती है । पापी राजा हो तो प्रजा का भी पापात्मा होना सरल है और राजा यदि दुष्ट है-खल-दुर्जन है तो प्रजा भी इन्हीं विशेषणों युक्त होगी । क्योंकि प्रजा अनुकरणशील होती है । जैसा राजा वैसी प्रजा भी शिष्ट व शुद्ध अथवा दुष्ट होती है ।120॥

राजा द्वारा तिरस्कृत व्यक्ति का सर्वजन तिरस्कार व अपमान करते हैं । इसी प्रकार राज सम्मन्न-राजा से सम्मानित यदि कोई है तो प्रजा-संसारी जीव भी उसकी अभ्यर्थना-राजकीय दृष्टान्तानुसार पूजन करते हैं । अतएव प्रत्येक स्वतंत्र जीव उसका सम्मान आदर करता है । नारद विद्वान ने भी इसका समर्थन किया है :-

अवज्ञातस्तु यो राज्ञा स विद्वानपि मानवैः ।
अवज्ञायेत मूर्खोऽपि पूज्यते नृप पूजितः ।।1॥

वही अर्थ है ।

राज कर्त्तव्य व अधिकारियों की अनुचित जीविका :-

प्रजा कार्यं स्वयमेव पश्येत् ।।32॥ यथावसरमसङ्ग द्वारं कारयेत् ।।33॥ दुर्दर्शो हि राजा कार्याकार्यं विपर्यासमासन्नैः कार्यते द्विषतामति सन्धानीयश्च भवति ।।34॥ वैद्येषु श्रीमतां व्याधि वर्द्धमानादिव नियोगिषु भर्तृव्यसनादपरो नास्ति जीवनोपाय ।।35॥

अन्वयार्थ :- (प्रजाकार्यम्) प्रजा की व्यवस्था (स्वयमेव) राजा स्वयं ही (पश्येत्) देखे ।32॥ (यथावसरम्) समय-समय पर (असङ्ग) निरावरण-खुला (द्वारम्) दरवाजा (कारयेत्) रखाना चाहिए ।33॥ (हि) यदि (राजा) नृपाल (दुर्दर्शः) कठिन दर्शनीय नहीं है तो (कार्यम्) कार्य (अकार्यम्) नहीं करने योग्य (विपर्यासम्) विपरीत (आसन्नैः) निकटवर्तियों द्वारा (कार्यते) कर दिया जाता है (च) और (द्विषताम्) शत्रु (अतिसंधानीयः) वगावती-विद्रोही (भवति) हो जाता है ।34॥ (वैद्येषु) वैद्यो-चिकित्सक की (श्रीमताम्) धनवानों की (व्याधिः) रोग (वर्द्धनम्) बढ़ाने के समान (इव) इसी प्रकार (नियोगिषु) मन्त्री आदि की (भर्तृ) राजा को (व्यसनात्) व्यसनों में फंसाने से (परः) अन्य (जीवनोपायः) आजीविका का उपाय (नास्ति) है ।35॥

विशेषार्थ :- नृपति को चाहिए कि अपने राजशासन के कार्यों-शिष्टापालन-दुष्ट निग्रह आदि के विषय में स्वयं विचार करे । मंत्री आदि के आश्रय ना रहे । क्योंकि रिश्वत के लालच में पड़कर मंत्री आदि प्रजा का ध्यान बराबर नहीं रख सकेंगे । अन्याय से प्रजा दुःखी होगी । देवल विद्वान ने कहा है :-

ये स्युर्विचारका राज्ञामुत्कोचां प्राप्यतेऽन्यथा ।
विचारयन्ति कार्याणि तत् पापं नृपतेर्यतः ।।1॥

अर्थ :- प्रजा के कार्यों को राजा यदि अमात्यादि के ऊपर छोड़ता है तो प्रजा को कष्ट भोगना पड़ता है। अतः राजा का कर्त्तव्य है कि स्वयं ही प्रजा की देखभाल करे । सहायक के रूप में मन्त्री आदि का विचार ज्ञात करे ।32॥

राजा को चाहिए कि समय-समय पर साधारण जनता को भी दर्शनार्थ अपना द्वार खुला रक्खे, जिससे प्रजा

को उसका दर्शन सुलभता से प्राप्त होता रहे और उनका प्रेम व विश्वास भी दृढ़ बना रहे ।133॥ गर्ग विद्वान ने कहा है :-

मुक्त्वावसरमेकं च द्वारं गुप्तं प्रकारयेत् ।
प्रस्तावेऽपि परिज्ञाते न द्रष्टव्यो महीभुजा ।।1॥

अर्थ :- एक अवसर के अतिरिक्त राजा सदैव अपना द्वार सुरक्षित रखे । व अवसर आने पर भी प्रजा को दर्शन नहीं दे तो निश्चय से प्रजा को दर्शन न देने वाला राजा का कार्य अधिकारी वर्ग स्वार्थ वश हो नष्ट कर देते हैं । एवं शत्रु वर्ग भी बलवा करने में तत्पर हो जाते हैं । अतः प्रजा को राजा का दर्शन सरलता से होना चाहिए ।134॥ राजपुत्र और गर्ग ने कहा है कि :-

ज्ञानिनं धनिनं दीनं योगिनं वार्त्तिं संयुतं ।
द्वारस्थं य उपेक्षेत स श्रिया समुपेक्ष्यते ।।1॥

स्त्री व्यासक्त चित्तो यः क्षितिपः संप्रजायते ।
वामतां सर्वकृत्येषु सचिवैर्नीयते अरिभिः ।।1॥

अर्थ :- जो पृथ्वीपाल अपने द्वार पर आये हुए विद्वान, धनाढ्य, दीन (गरीब), साधु व पीड़ित पुरुष की उपेक्षा करता है उसे लक्ष्मी उपेक्षा कर त्याग देती है । स्त्रियों में आसक्त रहने वाले राजा के कार्य मन्त्रियों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट कर दिये जाते हैं और वह शत्रु प्रिय हो जाता है अर्थात् शत्रु उसे परास्त कर आनन्दित होते हैं ।।1,2॥ सारांश यह है कि राजा को प्रकृति से काम लेना चाहिए परन्तु उन पर विश्वास कर अधिकार नहीं छोड़ना चाहिए, तभी राज्य में अमन-चैन रह सकता है ।134॥

श्रीमन्तों के रोगों की वृद्धि कर धनार्जन का वैद्यों को अन्य कोई साधन नहीं है उसी प्रकार राजा को व्यसनों में फंसाकर अधिकारियों को भी यही एक आजीविका का साधन है । सारांश यह है कि अशिष्ट भिषक् (वैद्य) अवैद्य-विपरीत चिकित्सा कर धनेश्वरों से फीसादि लेते रहते हैं उसी प्रकार दुष्ट, वंचक मंत्री आदि अधिकारी वर्ग अपने राजा को व्यसनासक्त कर उसकी राज्य सम्पदा को हड़पने का घृणित उपाय करते हैं । अतः राजा को उनसे सावधान रहना चाहिए जिससे कि वे रिश्वतखोर न बन सकें ।135॥ रैम्य विद्वान ने भी कहा है :-

ईश्वराणां यथा व्याधि वैद्यानां निधिरुत्तमः ।
नियोगिनां तथाज्ञेयः स्वामिव्यसन सम्भव ।।1॥

अर्थ :- जिस प्रकार धनवानों की चिकित्सा करने से भिषकों को विशेष अर्थ सम्पदा प्राप्त होती है उसी प्रकार राजा को व्यसनों में फंसाकर नौकरचाकराधिकारी वर्गों को विशेष सम्पत्ति प्राप्त होती है ।।1॥

राजकर्त्तव्य व घूसखोरी से हानि :-

कार्यार्थिनः पुरुषान् लञ्चलुञ्चानिशाचराणां भूतवलीन्न कुर्यात् ।।36।।
लञ्चलुञ्चा हि सर्व पातकानामागमन द्वारम् ।।37।।

मातुः स्तनमपि लुञ्चन्ति लञ्चोपजीविनः ।।38।।
लञ्चेन कार्य कारिभिरूर्ध्वः स्वामी विक्रीयते ।।39।।

अन्वयार्थ :- (कार्यार्थिनः) प्रयोजनार्थी (पुरुषान्) पुरुषों को, (लुञ्चलुञ्चा) रिश्वत-घूंस लेने वाले (निशाचराणाम्) रात्रिचरों का (भूतवलीन्) प्राणों की बलि करने वाले (न) नहीं (कुर्यात्) बनावे, करे ।।36।। (लञ्चलुञ्चा) बलात्कार घूंस लेने को (हि) निश्चय से (सर्व) सम्पूर्ण (पातकानाम्) पापों के (आगमन) आने का (द्वारम्) दरवाजा [कथ्यते] कहा है ।।37।। (लञ्चोपजीविनः) घूंसखोरी से जीवन चलाने वाले (मातुः) माता के (स्तनम्) स्तनों को (अपि) भी (लुञ्चन्ति) भक्षण कर जाते हैं ।। (लञ्चेन) घूंस से (कार्यकारिभिः) कार्य करने वाले (ऊर्ध्वः) उन्नतशील (स्वामी) स्वामी को (विक्रीयते) बेच देता है ।।39।।

विशेषार्थ :- राजा आगत प्रयोजनार्थी पुरुषों को, बलात्कार रिश्वत लेने वाले अमात्य आदि को एवं प्राणों की बलि देने वाले समान घूंस देने वालों को न बनाये । अभिप्राय यह है कि रिश्वत लेने और देने से प्रजा को पीड़ा, अन्यायवृद्धि एवं राजकोष क्षय होता है । अतः राजा को प्रयोजनार्थी पुरुषो का घूंसखोरों से रक्षण करे ।।36।। शुक्र ने भी कहा है :-

कार्यार्थिनः समायातान् यश्च भूपो न पश्यति ।
स चाडै र्गृह्यते तेषां दत्तं कोशे न जायते ।।1।।

प्रयोजनवश आये लोगों का राजा यदि रिश्वतखोरों से रक्षण न करे तो उसके कोष की क्षति होती है ।।1।।

बलात्कार पूर्वक रिश्वत लेना सम्पूर्ण पापों का द्वार है ।।37।। हिंसादि पापों का हेतू है । वशिष्ठ विद्वान ने भी कहा है :-

लञ्चलुञ्चानको यस्य चाटुकर्मरतो नरः । तस्मिन् सर्वाणि पापानिसंश्रयन्तीह सर्वदा । अर्थात् चापलूस व रिश्वतखोर अधिकारियों से युक्त राजा को समस्त पापों का आश्रय बतलाया है ।।1।। ।।37।।

रिश्वतखोरी से जीविका करने वाले अन्यायी रिश्वत खोरी लोग अन्य की क्या बात अपनी माता का स्तन आतों को भी भक्षण कर जाते हैं । अपने हितैषियों से भी रिश्वत ले लेते हैं फिर दूसरे से क्यों न लेंगे ? लेते ही हैं ।।38।। भारद्वाज कहते हैं :-

लञ्चोपजीविनो येऽत्र जनन्या अपि च स्तनम् ।
भक्षयन्ति सुनिस्त्रिंशा अन्य लोकस्य का कथा ।।1।।

उपर्युक्त ही अर्थ है ।।

रिश्वत जीविका संचालक अपने उन्नतिशील स्वामी का भी घात कर डालते हैं । अर्थात् बेच देते हैं ।। इसका अभिप्राय यह है कि घूंसखोर जिस प्रयोजनार्थी से रिश्वत लेते हैं उसकी असत्य बात को भी सत्य साबित करते हैं, अन्याय को भी न्याय घोषित करते हैं । इससे राजा की आर्थिक क्षति होती है यही स्वामी की विक्री हुई ।। भृगु विद्वान ने भी इसी अभिप्राय को प्रकट किया है :-

लञ्चेन कर्मणा यत्र कार्यं कुर्वन्ति भूपते: ।
विक्रीतमपि चात्मानं नो जानाति समूढधी: ।।

मूर्ख-मूढ़ बुद्धि रिश्वतखोरों द्वारा स्वयं की बिक्री को भी नहीं समझ पाता ।। अत: राजा को इन कार्यों से सावधान रहना चाहिए ।।39।।

बलात् धन लेने से राजा, प्रजा की हानि, अन्याय का दृष्टान्त :-

प्रासाद ध्वंशनेन लौहकीलकलाभ इव लञ्चेन राज्ञोऽर्थ लाभ: ।।40।।

(प्रासाद:)-महल (ध्वंशनेन) फोड़ तोड़कर (लौहकीलक:) लोहे की कीलें (लाभ) प्राप्ति (इव) के समान (लञ्चेन) घूंसखोरी से (राज्ञ:) राजा का (अर्थ:) धन (लाभ:) लाभ है ।

विशेषार्थ :- जो प्रजापाल प्रजा से बलात्कार रिश्वत आदि द्वारा धनार्जन की अवैध चेष्टा करता है वह नवीन महल को फोड़ कर लोहे की कीलें समन्वित करने के समान कार्य है । अर्थात् जिस प्रकार साधारण लाभ कीलों को पाने की इच्छा से बहुमूल्य, सुन्दर, अतिश्रम से निर्मित राजप्रासाद को धराशायी कर कीलें प्राप्त करे उसी प्रकार क्षुद्र स्वार्थ के लिए लूट-मार, असत्यारोपादि द्वारा प्रजा से धन-लूटना हानिकारक है, शत्रुओं के निर्माण का सफल प्रयोग है और खजाने को खाली करने का उपाय है । क्योंकि इस घोर अन्याय से प्रजा पीड़ित होगी, संत्रस्त होकर बगावत करेगी, फलत: राजक्षति भी होगी। अभिप्राय यह है कि राज-बहुमूल्य प्रासाद के सदृश है और लुञ्च (लूट-मार) कीलों के समान है । इस प्रकार का कार्य राजा की मूढ़ता का परिचायक है । इससे वह हंसी का पात्र होगा । क्योंकि इस प्रकार कार्य स्वयं अपने हाथों से अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारने के समान है ।।40।। गर्ग ने भी कहा है :-

लञ्च द्वारेण यो लाभोभूमिपानां स कीदृश: ।
लोहकीलकलाभस्तु यथा प्रासाद ध्वंसने ।।1।।

उपर्युक्त ही अर्थ है ।।

राज्ञो लञ्चेन कार्यकरणे कस्य नाम कल्याणम् ।।41।।

अन्वयार्थ :- (राज्ञ:) राजा का (लञ्चेन) घूंस द्वारा (कार्यकरणे) कामकरने से (कस्य नाम) किसका (कल्याणम्) हित होने वाला है ? किसी का नहीं ।।41।।

विशेष :- जो राजा बलपूर्वक अपनी प्रजा से बलात्कार धनादि अपहरण करता है । उसके राज्य में किसका कल्याण हो सकता है ? किसी का भी नहीं ।।41।। विद्वान भागुरि ने भी कहा है :-

लञ्चनद्वारमाश्रित्य यो राजोत्थधनं हरेत् ।
न तस्य किंचित् कल्याणं कदाचित् संप्रजायते ।।1।।

अर्थ वही है ।

देवतापि यदि चौरेषु मिलति कुतः प्रजानां कुशलम् ।।42।।

अन्वयार्थ :- (यदि) अगर (देवता) देव (अपि) भी (चौरेषु) चोरों में (मिलति) मिलता है (कुतः) कहाँ (प्रजानाम्) प्रजा की (कुशलम्) कुशलता है ? उसी प्रकार स्वयं राजा ही रिश्वतखोरों से मिल जाय, लूट-पाट कर धन हड़पने का प्रयास करे तो प्रजा की सहायता कौन करेगा ? कौन उसका रक्षक हो ? बाढ़ ही खेत खाने लगे, सरोवर ही अपने जल पीने लगे तो फिर बताओ स्वयं राजा के लुटेरा हो जाने पर प्रजारक्षक कौन बने ।।42।। अत्रि ने लिखा है :-

राज्ञो लुञ्चा प्रवृत्तस्यकीदृक्ष्याजनता सुखम् ।
यथा दुर्गाप्रसादेन चौरोपरि कृतेन च ।।1।।

रिश्वत व लूटमार आदि घृणित उपाय द्वारा प्रजा का धन अपहरण करने वाला राजा अपने देश (राज्य) खजाना, मित्र, सैन्य नष्ट कर देता है ।।43।। सूत्र निम्न है :-

लुञ्चेनार्थोपाश्रयं दर्शयन् देशं कोशं मित्रं तन्त्रं च भक्षयति ।।43।।

अन्वयार्थ :- (लुञ्चेन) लूटमार से (अर्थोपाश्रयम्) धनोपार्जन करता है यह (दर्शयन्) दिखाता हुआ (देशं) देश को (कोशं) खजाने को (मित्रम्) मित्र (च) और (तन्त्रम्) तन्त्र को (भक्षयति) भक्षण करता है ।।43।। विशेष ऊपर लिखा है ।। भागुरि ने भी लिखा है :-

दर्शनं लुञ्चनार्थस्य यः करोति महीपतिः ।
स देश कोश मित्राणां तन्त्रस्य च क्षयंकरः ।।1।।

आगे दृष्टान्त निम्न है :-

राज्ञोऽन्यायकरणं समुद्रस्य मर्यादालङ्घनमादित्यस्य तमः पोषणमिवमातुश्चा पत्य भक्षणमिव कलिकाल विजृम्भितानि ।।44।।

अन्वयार्थ :- (राज्ञः) राजा का (अन्यायकरणम्) अन्याय करना (समुद्रस्य) सागर का (मर्यादा) सीमा (लङ्घनम्) उलंघन (आदित्यस्य) सूर्य का (तमः) अंधकार (पोषणम्) विस्तृत करने (इव) समान (च) और (मातुः) माता का (अपत्य) पुत्र (भक्षणम्) भक्षण (इव) समान प्रवृत्ति (कलिकाल) कलि दोष (विजृम्मतानि) फैल रहा है ।।44।।

विशेषार्थ :- भूपाल द्वारा प्रजा के साथ अन्याय लूट-पाटआदि करना, मानों सागर की मर्यादा उल्लंघन, सूर्य द्वारा अंधकार विस्तार करना, माता को अपने भक्षण पुत्र का भक्षण करना के समान है, कौन निवारण करे ?

कोई निवारण नहीं कर सकता है । सारांश यह है कि उपर्युक्त विपरीत क्रियाएँ यदि होने लगें तो इनका कौन निवारण कर सकता है ? इसे कलिकाल का ही प्रभाव समझना चाहिए ।। राजा का कर्त्तव्य न्यायपूर्वक प्रजा का पुत्र वात्सल्य समान पालन करना चाहिए। यदि राजा इसके विपरीत क्रिया करता है तो यह कलिकाल का ही दोष समझना चाहिए। अतः राजा को प्रजा के प्रति अन्याय नहीं करना चाहिए ।144॥

न्याय के प्रजापालन का परिणाम, न्यायी राजा की प्रशंसा-राजकर्त्तव्य :-

न्यायतः परपालके राज्ञिप्रजानां कामदुधा भवन्ति सर्वादिशः ।145॥ कालेवर्षतिमघवान्, सर्वाश्चेतयः प्रशाम्यन्ति, राजानमनुवर्तन्ते सर्वेऽपि लोकपालाःतेन मध्यमप्युत्तमं लोकपालं राजानमाहुः ।147॥ अव्यसनेन क्षीणधनान् मूलधनप्रदानेन सम्भावयेत् ।148॥ राज्ञोहि समुद्रावधिर्महीं कुटुम्बं, कलत्राणि च वंशवर्द्धन क्षेत्राणि ।149॥

अन्वयार्थ :- (न्यायः) न्यायपूर्वक (परपालके) प्रजापालन करने वाले (राज्ञि) राजा के होने से (प्रजानाम्) प्रजा को (सर्वा) सम्पूर्ण (दिशः) दिशाएँ (कामदुधा) कामधेनु (भवन्ति) हो जाती हैं ।145॥ (काले) समय पर (मघवान्) मेघ (वर्षति) बरसते हैं, (सर्वाः) सभी (चेतयः) प्राणी-चित्त (प्रशाम्यन्ति) शान्त हो जाते हैं (राजानम्) राजा का (अनुवर्तन्ते) अनुकरण करते हैं (सर्वे) सर्व (अपि) भी (लोकपालाः) लोकरक्षक (तेन) उससे (मध्यम्) बीच का (अपि) भी (राजानम्) राजा को (उत्तमम्) सर्वोत्तम (लोकपालम्) प्रजारक्षक (आहुः) कहते हैं ।147॥ (अव्यसनेन) व्यसनरहित होने पर भी (क्षीणधनान्) जो गरीब हो गये उन्हें (मूलधनप्रदानेन) मूल धन देकर (सम्भावयेत्) स्थितिकरण करे, अर्थात् उन्हें धन प्रदान कर सुखी करे ।148॥ (हि) निश्चय से (राज्ञः) राजा का (समुद्रावधिमहीं) सागरपर्यन्त भूमि (कुटुम्बम्) परिवार (कलत्राणि) स्त्रियां, (वंशवर्द्धन) वंशवृद्धि के (क्षेत्राणि) क्षेत्र हैं ।149॥

विशेषार्थ :- जो राजा न्यायपूर्वक राज करता है, प्रजा की सुरक्षा में दत्तचित्त रहता है उसकी प्रजा को दशों दिशाएँ कामधेनु सदृश हो जाती हैं । क्योंकि ललितकला, कृषि, वाणिज्य आदि की प्रगति न्याययुक्त शासन के आश्रय से ही संभव होती है । नीतिकारों ने कहा है :-

राज्ञाचिन्तापरे देशे स्वार्थसिद्धिः प्रजायते ।
क्षेमेण कर्षकाः सस्यं प्राप्नुयु र्धनिनो धनम् ।।1॥

अर्थ :- नृपति यदि प्रजापालन की चिन्तारत रहता है तो सर्व की स्वार्थ सिद्धि होती हैं । क्योंकि कृषिकादि सभी आनन्द से कर्त्तव्यनिष्ठ रहते हैं जिससे खेती खूब फलती है-धान्य सुख से उत्पन्न होता है धनिकों को धनोपलब्धि होती है । क्योंकि व्यापार-विस्तार होता है ।। इसलिए न्यायपूर्वक राजा को राज्य शासन करना चाहिए ।145॥ समय-समय पर वर्षा होती है, सबों के चित्त शान्त उपद्रवरहित होते हैं, समस्त लोक रक्षक राजा का अनुसरण करते हैं। यही कारण है कि विद्वानजन राजा को मध्यम लोकपाल होते हुए भी ऊर्ध्वलोक पालक कहते हैं ।। अर्थात् स्वर्ग का रक्षक-लोकपाल मानते हैं ।146-47॥ गुरु विद्वान ने कहा है:-

इन्द्रादि लोकपाला ये पार्थिवे परिपालके ।
पालयन्ति चतद्राष्ट्रं वामेवामं च कुर्वते ।।1॥

उपर्युक्त ही अर्थ है ।146॥

रैम्य विद्वान ने कहा है :-

लञ्चादि विकलो राजा मध्यमोऽच्यथ मानवैः ।
श्लाघ्यते यस्तु लोकानां सम्यक् स्यात् परिपालकः ।।

यही अर्थ है ।

अर्थ :- प्रजान्तर जो व्यक्ति सदाचारी हैं, द्यूतादि सप्तव्यसनों से रहित हैं, वे यदि दुर्भाग्यवश व्यापारादि में हानि से निर्धन हो गये हों तो राजा उन्हें कर्ज देकर आश्वस्थ करे । अर्थात् उनके व्यापारादि में सहायता प्रदान करे । शुक्र ने भी कहा है :-

प्रतिकं च शतं वृद्ध्या देयं राज्ञा कुटुम्बिने ।
सीदमानाय नोदेयं द्यूताद्यैर्निर्धनाय च ।।1॥

अर्थ :- राजा द्यूतादि व्यसनासक्तों को छोड़कर अन्य दु:खियों को-दरिद्रपीड़ितों को ब्याज पर रुपये देकर समृद्ध बनावे । धनार्जन-व्यापारार्थ उन्हें कर्ज देकर सम्पन्न बनाने का प्रयत्न करे ।।47॥

समुद्रपर्यन्त समस्त प्रजा राजा का परिवार होता है । तथा अन्न प्रदान करके राजा व प्रजा का संरक्षण करने वाले क्षेत्रादि उसकी (राजा) पत्नियाँ हैं । अभिप्राय यह है कि धर्मात्मा राजा अपनी प्रजा को अपना कुटुम्ब समझकर क्षेत्रादि का परिरक्षण कर उसके पालन की व्यवस्था करे ।। क्योंकि "अन्नं वै प्राणाः" अन्न प्राण है और अन्नोत्पति का हेतू कृषि है। अत: कृषि रक्षण का प्रयत्न करे ।।49॥

किस उपहार को ग्रहण न करे, हंसी मजाक की सीमा, वाद-विवाद का निषेध :-

अर्थिनामुपायनमप्रतिकुर्वाणो न गृह्णीयात् ।।50॥ आगन्तुकैरसहनैश्च सह नर्म न कुर्यात् ।।51॥ पूज्यै सह नाधिकं वदेत् ।।52॥ भर्त्तुमशक्य प्रयोजनं च जनं नाशया परिक्लेशयेत् ।।53॥

अन्वयार्थ :- (अप्रतिकुर्वाण:) प्रत्युपकार न कर सके तो (अर्थिनाम्) प्रयोजकों का (उपायनम्) उपहार (न गृह्णीयात्) स्वीकार न करे ।।50॥ (आगन्तुकै:) अपरिचित (च) और (असहनै:) सहनशक्ति-हीन (सह) के साथ (नर्म) हंसी-मजाक (न) नहीं (कुर्यात्) करे ।।51॥ (पूज्यैः) पूज्यपुरुषों के (सह) साथ (अधिकम्) अधिक (न) नहीं (वदेत्) बोले ।।52॥ (भर्तु:) भरणपोषण के (अशक्य प्रयोजनम्) असमर्थ हेतू (च) और अप्रयोजनीय (जनम्) मनुष्य को (आशया) आशा से (न) नहीं (परिक्लेशयेत्) पीड़ित न करे ।।53॥

विशेषार्थ :- संसार में उपहार देने वाले प्राय: उससे अपने इष्ट साधन की अपेक्षा रखते हैं । यदि राजा उपहार लाने या भेजने वाले के प्रयोजन की सिद्धि नहीं कर सकता हो तो उसे उसका प्रजेण्ट भी स्वीकार नहीं करना चाहिए । उसे वापिस भेज देना चाहिए । क्योंकि प्रत्युपकार नहीं करने पर लोक निन्दा होगी और हंसी का पात्र भी बनना पड़ेगा ।। अत: उसे अस्वीकार ही कर देना चाहिए ।।50॥ नारद विद्वान ने कहा है :-

उपायनं न गृह्णीयाद्यदि कार्यं न साधयेत् ।
अर्थिनां पृथ्वीपालो नो चेद्याति स वाच्यताम् ।।1॥

अर्थ उपर्युक्त ही है ।

नीतिवान पुरुषों को अपरिचित व असहिष्णु व्यक्तियों के साथ हंसी-मजाक नहीं करना चाहिए ।। क्योंकि इसका परिणाम महाभयङ्कर होता है । पुराण में आख्यान मिलता है कि जुआ में रुक्मि ने बलदेव की हंसी उड़ाई थी, परन्तु वे उसे सहन नहीं कर सके । फलतः उन्होंने क्रुद्ध होकर रुक्मि पर गदा प्रहार कर डाला और उसका अनायास व्यर्थ ही घात हो गया ।।51।। शौनक विद्वान ने भी लिखा है :-

हास्य केलिं न कुर्वीत भूपः सार्द्धं समागतैः ।
ये चापि न सहन्तेस्म दोषोऽयं यतोऽपरः ।।

उपर्युक्त ही अर्थ है ।।

शिष्टाचार पालक, नैतिक पुरुष को पूज्य पुरुषों के साथ वाद-विवाद नहीं करना चाहिए ।।52।। शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

पूज्यैः सह विवादं यः कुरुते मतिवर्जितः ।
सनिन्दां लभते लोके परत्र नरकं व्रजेत् ।।1।।

अर्थ :- व्यक्ति को मूर्खतावश पूज्यपुरुषों के साथ वाद-विवाद नहीं होना चाहिए । क्योंकि पूज्यों के साथ वाद-विवाद करने वाला लोक में निंद्य होता है और परलोक में दुर्गति का पात्र बनता है।। नरकों के दुःख भोगता है।।52S।।

जो व्यक्ति अति दरिद्री व बहुकुटुम्बी है, उसे धन देकर उससे अधिक ब्याज की आशा से उसे दुःखी नहीं करना चाहिए । जिससे उसका भरण-पोषण नहीं हो सके अपितु और भार हो जाय उससे क्या प्रयोजन ? अतः शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

पुष्टि नेतुं न शक्येत योजनः पृथ्वी भुजा ।
वृथाशया न संक्लेशो विशेषान्निष्प्रयोजनः ।।

उपर्युक्त ही अर्थ है ।।53।।

सेवक किसका ? दरिद्रता की लघुता व विद्या का माहात्म्य :-

पुरुषस्य पुरुषो न दासः किन्तु धनस्य ।।54।। को नाम धनहीनो न भवेल्लघुः ।।55।।

सर्वधनेषुविद्यैव धनं प्रधान महार्यत्वात् सहानुयायित्वाच्च ।।56।। सरित्समुद्रमिव नीचोपगतापि विद्या दुर्दर्शमपि राजानं संगमयति ।।57।। परन्तु भाग्यानां व्यापारः ।।58।। सा खलु विद्या विदुषां कामधेनुर्यतो भवति समस्त जगत्स्थिति ज्ञानम् ।।59।।

अन्वयार्थ :- (पुरुषः) मनुष्य (न) नहीं (पुरुषस्य) मनुष्य का दास (किन्तु) अपितु (धनस्य) धन का है।।54।। (को नाम) कौन (धनहीनः) दरिद्री (लघुः) नीच (न) नहीं (भवेत्) होवे ? ।।55।। (सर्वधनेषु) सब धनों में (विद्या) ज्ञान (एव) ही (प्रधानम्) मुख्य (धनम्) धन है (अहार्यत्वात्) चुराई नहीं जाने से (च) और

(सह) साथ-परलोक में (अनुयायित्वात्) साथ जाने वाली होने से ।।56॥ (सरित्) नदी (समुद्रम्) सागर को पालती है (इव) इसी प्रकार (नीचः) नीच पुरुष (उपगता) प्राप्त (अपि) भी (विद्या) विद्या (दुर्दशम्) कठिनाई से (अपि) भी दर्शनीय (राजानम्) नृप को (संगमयति) मिला देती है ।।57॥ (परन्तु) किन्तु (भाग्यानाम्) शुभोदय का (व्यापारः) धनलाभादि होना है ।।58॥ (खलु) निश्चय से (सा) वह (विद्या) विद्या (विदुषाम) विद्वानों को (कामधेनुः) कामधेनु है (यतो-यतः) जिससे (समस्त) सम्पूर्ण (जगत् स्थितिः) संसार की स्थिति का (ज्ञानम्) ज्ञान (भवति) होता है ।।59॥

विशेषार्थ :- संसार में मनुष्य, पुरुष का सेवक नहीं होता अपितु धन का भृत्य होता है । क्योंकि जीवन निर्वाह तो धन ही से होता है । गुरु विद्वान ने भी कहा है :-

पुमान् सामान्य गात्रोऽपि न चान्यस्य स कर्मकृत् ।
यत् करोति पुनः कर्म दासवत्तद्धनस्य च ।।1॥

इसी प्रकार व्यास ने भी कहा है :-

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् ।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ।।1॥

अर्थः- हे युधिष्ठिर ! सुनिये, मनुष्य धन का दास है । परन्तु धन किसी का दास नहीं होता अतः धन के कारण ही मैं (भीष्मपितामह) कौरवों का अधीन हुआ हूँ (महाभारत के भीष्म पर्व में युधिष्ठर से महात्मा भीष्मपितामह ने कहा है ।।) ।।54॥ संसार में धनहीन पुरुष कौन है जो छोटा-लघु नहीं होता ? सभी होते ही हैं ।।55॥ महाकवि कालिदास ने अपने मेघदूत काव्य में कहा है :-

"रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ।।" अर्थात् संसार में सभी मनुष्य दारिद्रय से लघु और धन से गुरु-महान होते हैं ।। बड़े होते हैं ।।55॥

सुवर्णादि समस्त धनों में विद्या धन सर्वोत्तम है-प्रधान है क्योंकि अन्य धन तो चोर-लुटेरों द्वारा हरा जा सकता है परन्तु विद्या धन को कोई भी दस्यु चुरा नहीं सकता । इतना ही नहीं यह परलोक में भी साथ ही जाता है जबकि अन्य धन का एक परमाणु भी साथ नहीं जाता ।।56॥ नारद ने भी विद्या की महत्ता कही है :-

धनानामेव सर्वेषां विद्याधनमुत्तमम् ।
ह्रियते चन्न केनापि प्रस्थितेन समं व्रजेत् ।।1॥

उपर्युक्त ही अर्थ है ।।56॥

अर्थः- जिस प्रकार सरिता निम्न गामिनी होकर भी अपने प्रवाहवर्ती पदार्थों-तृणादिकों को दूरवर्ती सागर में ले जाकर मिला देती है, उसी प्रकार नीच पुरुष के पास गई विद्या भी उच्च पुरुष-जिसका दर्शन कठिनाई से होना संभव है ऐसे राजादि से मिला देती है ।।57॥ गुरु विद्वान के उद्धरण में भी यही आशय है :-

नीचादपि च यो विद्यां प्राप्नुयाद् बुद्धिमान्नरः ।
दुर्दर्शमपि राजानं तत्प्रभावात् स पश्यति ।।1।।

अर्थः- यद्यपि विद्या प्रभाव से राजादि से भेंट होना तो सुलभ है तो भी उससे अर्थादि प्राप्त होना भाग्याधीन है। क्योंकि भाग्य प्रतिकूल होने पर विद्या प्रभाव कार्यकारी नहीं हो सकती है ।।58।। गुरु विद्वान ने भी कहा है :-

दुर्दर्शमपि राजानं विद्या दर्शयति ध्रुवम् ।
आत्मप्रभावतो लोके तस्य भाग्यानि केवलम् ।।1।।

अर्थः- विद्या निश्चय से कामधेनू सदृश शुभफलप्रदायी है । क्योंकि विद्या समस्त मनोरथों की पूर्णता करती है। समस्त सांसारिक व्यवहारों का बोध कराने वाली एवं कर्त्तव्यों और प्रतिष्ठा का समाधान विद्या से ही उपलब्ध होता है ।। शुक्र विद्वान ने भी यही अभिप्राय व्यक्त किया है :-

विद्या कामदुधा धेनुर्विज्ञानं संप्रजायते ।
यतस्तस्याः प्रभावेन पूज्याः स्युः सर्वतो दिशः ।।1।।

अर्थ :- वस्तुतः विद्या कामधेनु ही है । परम विज्ञान इसी से उत्पन्न होता है । इसके प्रभाव से सर्व दिशाओं में मनुष्य पूज्य हो जाता है ।।

लोक व्यवहार निपुण की प्रशंसा :-

लोक व्यवहारज्ञो हि सर्वज्ञोऽन्यस्तु प्राज्ञोऽप्यवज्ञायक एव ।।60।।

अन्वयार्थ :- (हि) निश्चय से (लोकः) ससार (व्यवहार) पद्धति का (ज्ञाता) जानने वाला (सर्वज्ञः) सर्वज्ञ (अस्तु) होवे (अन्यस्तु) लोक व्यवहार ज्ञान रहित (प्राज्ञः) बुद्धिमान (अपि) भी (अवज्ञायकः) अवज्ञा का पात्र (एव) ही (भवति) होता है ।।60।।

विशेषार्थ :- विद्वान व पण्डित वही माना जाता है जो लोक व्यवहार में निपुण होता है । व्यावहारिकता विद्वत्ता का चिन्ह है । यदि लोक व्यवहार शून्य है तो वह विद्या अवज्ञा-तिरस्कार कराने वाली ही होती है । नारद विद्वान ने कहा है :-

लोकानां व्यवहारो यो विजानाति स पण्डितः ।
मूर्खोऽपि योऽथवान्यस्तु स विज्ञेयोऽपि यथा जडः ।।1।।

अर्थ :- लोक व्यवहार ज्ञाता पण्डित कहा जाता है । अन्य मूर्ख हो विद्वान मूर्ख ही समझा जाता है लोकरीति शून्य होने से ।।60।। प्रज्ञावान कौन :-

ते खलु प्रज्ञापारमिताः पुरुषा ये कुर्वन्ति परेषां प्रतिबोधनम् ।।61।।

अन्वयार्थः- (ते) वे (खलु) निश्चय ही (प्रज्ञापारमिताः) बुद्धिपारंगत हैं (ये) जो (पुरुषाः) जो मनुष्य (परेषाम्) दूसरों का (प्रतिबोधनम्) मार्गदर्शन या दिशाबोध (कुर्वन्ति) करते हैं ।।61।।

अर्थः- संसार में ज्ञान या बुद्धि के धनेश्वर वे ही पुरुष कहे जाते हैं जो अपने ज्ञान वैभव को मुक्त कण्ठ से दूसरों को लुटाते हैं । अर्थात् आश्रितों के अज्ञान अंधकार को नष्ट कर उन्हें सद्बोध प्रदान करते हैं ।। जैमिनि ने भी कहा है :-

अथ विज्ञाः प्रकुर्वन्ति येऽन्येषांप्रतिबोधनम् ।
सर्वज्ञास्ते परे मूर्खा यत्ते स्युर्घटदीपवत् ।।1।।

अर्थात् जो अपनी विद्वत्ता से परोपकार करते हैं उन्हीं की विद्या सार्थक है अन्यथा घड़े में स्थित दीपवत् वह संकुचित रहती है ।।61।।

कर्त्तव्य बोधहीन विद्या :-

अनुपयोगिना महतापि किं जलधिजलेन ।।62।।

अन्वयार्थ :- (अनुपयोगिना) परोपकार शून्य विद्या (महत्ता) अधिक (अपि) भी हो तो (किम्) क्या ? (जलधिजलेन) समुद्र जल (अस्ति) है ।।62।।

विशेषार्थ :- रत्नाकर अपार जलराशि सम्पन्न होता है परन्तु उसकी एक बिन्दु भी तृषित जनों की प्यास बुझा सकती है क्या ? नहीं । निष्प्रयोजन होने से उसके प्रभूत होने का क्या फल है ? कुछ भी नहीं । इसी प्रकार उस विद्या से जो मात्र अहंकार की पुष्टि करे, किसी का उपकार न कर सके - ज्ञानबोध, कर्त्तव्य बोध न करावे उससे भी क्या प्रयोजन ? कुछ भी नहीं । शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

किं तया विद्यया कार्यं या न बोधयते परान् ।
प्रभूतैश्चापि किं तोयैर्जलधेर्व्यर्थतां गतैः ।।

अर्थ उपर्युक्त प्रकार ही है । अतः विद्याध्ययन का फल विनम्रता और परोपकार है । ये गुण प्रकट नहीं हों तो क्या लाभ ? कुछ भी नहीं ।।

''इति स्वामि - समुद्देशः ।।''

इति श्री परम् पूज्य प्रातः स्मरणीय विश्ववंद्य, चारित्र चक्रवर्ती मुनिकुञ्जर समाधि सम्राट् महान् तपस्वी वीतरागी दिगम्बर जैनाचार्य श्री आदिसागर जी महाराज की परम्परा के पट्टाधीश समाधि सम्राट् तीर्थ भक्त शिरोमणी परम पूज्य श्री आचार्य महावीर कीर्ति जी महाराज संघस्था, श्री सन्मार्ग दिवाकर कलिकालसर्वज्ञ श्री 108 आचार्य विमलसागर जी महाराज की शिष्या प्रथम गणिनी ज्ञान चिन्तामणि 105 आर्यिका विजयामती ने हिन्दी भाषा में विजयोदय टीका का 17वाँ समुद्देश श्री परम पूज्य वात्सल्य रत्नाकर, सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य परमेष्ठी श्री सन्मति सागर जी महाराज के पावन चरण सान्निध्य में पूर्ण किया ।।

'' ॥ ॐ शान्ति ॐ ।।''

18

अमात्य समुद्देश

सचिव (मंत्री) महामात्य-बिना राज्यकार्य हानि व दृष्टान्त

चतुरङ्गोऽस्ति द्यूते नानमात्योऽपि राजा किं पुनरन्यः ।।1।। पाठान्तर

"चतुरङ्ग युतोऽपि नानमात्यो राजास्ति, किं पुनरेकः" दृष्टान्त छोड़कर एक ही अर्थ है ।

अन्वयार्थ :- (चतुरङ्गो) हाथी, घोड़ा, रथ, पयादे (अस्ति) है (द्यूते) जुआ में (न अमात्यः) मंत्री नहीं होने पर (अपि) भी (राजा) बादशाह (न) नहीं होता (किम्) क्या (अन्यः) दूसरा (पुनः) फिर हो सकेगा ?

विशेषार्थ :- जिस प्रकार शासन में राजा की हस्ति, घोटक, स्यन्दन एवं पयादे यह चार प्रकार की सेना होती है, उसी प्रकार शतरंज के खेल में भी ये हाथी, घोड़े आदि रहते हैं । यदि मन्त्री न हो तो बादशाह विजय प्राप्त नहीं कर सकता - अर्थात् खेल का बादशाह आदि प्रतिद्वन्दियों को मन्त्री बिना परास्त नहीं कर सकते तो क्या पृथ्वीपति गजाश्व, रथ-पयादे चतुरङ्ग बल सहित होकर भी योग्य अमात्य-मन्त्री के बिना शत्रु को परास्त कर विजय श्री प्राप्त कर सकता है? राजा हो सकता है? नहीं ।।1।। गुरु विद्वान ने भी इसका समर्थन किया है :-

चतुरङ्गेऽपि नो द्यूते मन्त्रिणा परिवर्जितः ।
स्वराज्यं कर्तुमीशः स्यात् किं पुनः पृथिवीपतिः ।।1।।

तथाहि :

नैकस्य कार्य सिद्धिरस्ति ।।2।। नह्येकं चक्रं परिभ्रमति ।।3।। किमवातः सेन्धनोऽपि वह्निर्ज्वलति ।।4।।

अन्वयार्थ :- (एंकस्य) अकेले की (कार्यसिद्धिः) कार्य पूर्ति (न) नहीं (अस्ति) होती है ।।2।। (एकम्) अकेला (चक्रम्) पहिया (न) नहीं (परिभ्रमति) घूमता है ।।3।। (किम्) क्या (अवातः) वायुहीन (स इन्धनः) ईंधन सहित (अपि) भी (वह्नि) अग्नि (न) नहीं (ज्वलति) जलती है ।।4।।

विशेषार्थ :- जिस प्रकार शकट (गाड़ी) का एक चक्र (पहिया) दूसरे की सहायता बिना नहीं चल सकता-घूम सकता उसी प्रकार अकेले राजा से मन्त्री बिना राज्य शासन भी नहीं चल सकता है ।।2।। कहावत है "अकेला

चना भाड़ नहीं फोड़ सकता'' अभिप्राय यह है कि कार्य सिद्धि में पर की सहायता लेना अनिवार्य है ।12।13॥ इसी प्रकार कितना ही ईंधन पड़ा हो अग्नि के अनुकूल पवन नहीं है तो आग प्रज्वलित नहीं हो सकती । उसी प्रकार बलिष्ठ व सुयोग्य राजा भी सैन्य, मन्त्रीबल रहित अकेला राज्य शासन कार्य-सन्धि विग्रहादि कार्यों को करने में समर्थ नहीं हो सकता है ।। श्री वल्लभदेव का उद्धरण भी इसी विषय का पोषण करता है :-

किं करोति समर्थोऽपि राजा मन्त्रिवर्जितः ।
प्रदीप्तोऽपि यथा वह्निः समीरण बिना कृतः ।।1॥

मन्त्री लक्षण, कर्तव्य व आय-व्यय का दृष्टान्त :-

स्वकर्मोत्कर्षापकर्षयोर्दानमानाभ्यां सहोत्पत्ति विपत्ति येषां तेऽमात्याः ।।5॥

आयोव्ययः स्वमिरक्षा तन्त्रपोषणं चामात्यानामधिकारः ।।6॥

आयव्यय मुखयो र्मुनि कमण्डलुनिदर्शनम् ।।7॥

अन्वयार्थ :- (दानमाभ्याम्) राजा द्वारा दान व सम्मान द्वारा जो (स्वकर्म) अपना कर्त्तव्य (उत्कर्षापकर्षयोः) राजा के उत्थान और ह्रास (सह) साथ (येषाम्) जिनकी (उत्पत्ति विपत्तिः) उत्थान-पतन रहे (ते) वे (अमात्याः) मंत्री [सन्ति] हैं ।15॥ (आमात्यानाम्) मंत्रियों के (आयः) आमदनी (व्ययः) खर्च (स्वामीरक्षा) राजा की रक्षा (च) और (तन्त्रपोषणम्) सेना का पालन इन चार कार्यों को देखना ।16॥

विशेषार्थ :- जो व्यक्ति राजा द्वारा दिये गये दान व सम्मान को प्राप्त कर उसके साथ अपने कर्त्तव्य का उत्साहपूर्वक पालन करता हुआ सहायक होता है उसे मन्त्री कहते हैं। अर्थात् राजा की सम्पत्ति व विपत्ति में उसके समान सुख व दुःख का अनुभव करते हैं वे ''मन्त्री'' कहे जाते हैं ।15॥ शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

अप्रसादे प्रसादे च येषां च समता स्थितिः ।
अमात्यास्ते हि विज्ञेया भूमिपालस्य संमताः ।।1॥

अर्थ :- जो राजा के समान ही उसके सुख-दुःख में सुख-दुःख का अनुभव करता है उसे राजमान्य 'अमात्य' कहा जाता है । आगे अमात्य के कार्यों को कहते हैं :- मन्त्री का प्रथम कर्त्तव्य है आय-सम्पत्ति उत्पादन के कार्य टैक्स, चुंगी आदि की यथा योग्य समुचित व्यवस्था करे । दूसरा है व्यय-स्वामी की आज्ञानुसार आय के अनुकूल प्रजा संरक्षणार्थ सेना आदि विभागों में आवश्यकतानुसार उचित खर्च करना । तीसरा है - स्वामी रक्षा - राजा व उसके परिवार का संरक्षण और चौथा है चतुरङ्ग का पालन-पोषण - अर्थात् हाथी, घोड़े, रथ, प्यादों की पालना करना अर्थात् इन्हें यथायोग्य समय के लिए सन्नद्ध रखना ।16॥

अन्वयार्थ :- (आय-व्यय मुखयोः) राजा की आय व व्यय के द्वारों के लिए (निदर्शनम्) उदाहरण (मुनिकमण्डलुः) मुनिराजों का कमण्डलु है ।17॥

विशेषार्थ :- मुनि-निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु का कमण्डलु पानी को अधिक और शीघ्र ग्रहण करता है परन्तु

खर्च शनैः शनैः टोंटी द्वारा अल्प मात्रा में करता है । इसी प्रकार अमात्य का कर्त्तव्य है राजा के राजकोष को अधिक मात्रा में शीघ्र परिपूर्ण करने का प्रयत्न करे और खर्च शनै-शनै धीरे और अल्प मात्रा में करे । अर्थात् समयानुकूल सदुपयोग करे दुरुपयोग नहीं ।।7॥ व्यापार व टैक्सादि का सम्यक् प्रयोग करे । गुरु विद्वान का अभिप्राय :-

आयोऽनल्पतरः कार्यो व्ययान्नित्यञ्च मन्त्रिभिः ।
विपरीतो व्ययो यस्य स राज्यस्य विनाशकः ।।1॥

अर्थ :- मन्त्रियों को खर्च की अपेक्षा आमदनी अधिक प्रमाण में करने का ध्यान रखना चाहिए । अर्थात् अपनत्व बुद्धि होना चाहिए ।। अन्यथा राज्य क्षति होना अनिवार्य है । मंत्री के कर्त्तव्यों के विषय में शुक्र विद्वान ने कहा है :-

आगतिर्व्ययसंयुक्ता तथा स्वामी परक्षणम् ।

तन्त्रस्य पोषणं कार्यं मन्त्रिभिः सर्वदैव हि ।।1॥ 6वीं वार्ता का ही अर्थ है । कुरल काव्य में भी मन्त्री का लक्षण कहा है - कुन्दकुन्द देवरचित :-

महत्वपूर्ण कार्याणां सम्पादन कुशाग्रधीः ।
समयज्ञश्च तेषां यः स मन्त्री स्यान्महीभुजाम् ।।1॥

कुरल प. छे. 64

अर्थ :- जो महत्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन करने में विशिष्ट बुद्धिमन्त हो समय-स्वशास्त्र और पर शास्त्रों का ज्ञाता हो अथवा किस समय किस प्रकार कौनसा कार्य उचित है कौन अनुचित है इस विषय का मर्मज्ञ राजा का मंत्री होने के योग्य होता है ।।1॥

आय-व्यय का लक्षण, खर्च का संतुलन, स्वामी व तंत्र का लक्षण :

आयो द्रव्यस्योत्पत्ति मुखम् ।।8॥ यथास्वामि शासनमर्थस्य विनियोगो व्ययः ।।9॥

आयमनालोच्य व्ययमानो वैश्रमणोऽप्यवश्यं श्रमणायते ।।10॥ राज्ञः शरीरं धर्मः कलत्रं अपत्यानि च स्वामि शब्दार्थः ।।11॥ तन्त्रं चतुरङ्ग बलम् ।।12॥

अन्वयार्थ :- (द्रव्यस्य) द्रव्य की (उत्पत्तिः) उत्पन्न करने का (मुखम्) द्वार (आयः) आमदनी [अस्ति] है ।।8॥ (यथा) जैसा (स्वामी) राजा का (शासनम्) शासन व्यवस्था है (अर्थस्य) धन का (विनियोगः) खर्च करना (व्ययः) व्यय [भवति] होता है ।।9॥ (आयम्) आय को (अनालोच्य) विचार न कर (व्ययमानः) खर्च करने वाला (वैश्रवणः) इन्द्रः (अपि) भी (अवश्यम्) नियम से (श्रमणायते) साधु हो जाता है ।।10॥ (राज्ञः) राजा का (शरीरम्) देह, (धर्मः) धर्म-स्वभाव (कलत्रम्) स्त्री (च) और (अपत्यानि) सन्तान-पुत्र (स्वामीशब्दार्थः) स्वामी के स्वरूप हैं ।।11॥ (चतुरङ्ग) चारों प्रकार की सेना (बलम्) शक्ति (तन्त्रम्) तन्त्र [अस्ति] है ।

विशेषार्थ :- धनोपार्जन का निमित्त आय कहलाती है। टैक्स, चुंगी, व्यापार, कृषि आदि द्वारा प्राप्ति आय है ।।8॥ अपने स्वामी-राजा के राज्य की आवश्यकतानुसार मन्त्री को चतुरङ्ग रक्षणार्थ व अन्य कार्यों में खर्च करना 'व्यय' कहलाता है ।।9॥ जो मनुष्य अपनी आय आमदनी का विचार नहीं कर उससे अधिक खर्च करता है वह कुवेर समान भी धनाढ्य हो तो भी असंख्य धनराशि रहते हुए भी दरिद्री के समान हो जाता है । फिर अल्प द्रव्य के धनी राजा की क्या बात ? अतः साधारण व राजा का धनहीन होना स्वाभाविक ही है ।।10॥ राजा का शरीर, धर्म, रानियाँ, कुमार इन सबका स्वामी शब्द से ज्ञान होता है । अभिप्राय यह है कि मन्त्री को इन सबका संरक्षण करना चाहिए । क्योंकि इनमें से किसी के भी साथ वैमनस्य या द्वेष करने पर राजा रुष्ट हो जाता है ।।12॥ चतुरङ्ग-हाथी, अश्व, अश्वारोही व पैदल इन चारों को चतुरङ्ग कहते हैं ।।12॥

मंत्री के दोष, एवं अपने देश का मन्त्री :-

तीक्ष्णं बलवत्पक्षमशुचि व्यसनिनम शुद्धाभिजनमशक्य प्रत्यावर्तनमति व्ययशीलमन्यदेशायातमतिचिक्कणं चामात्यं न कुर्वीत ।।13॥ तीक्ष्णोऽभियुक्तो म्रियते मारयति वा स्वामिनम् ।।14॥ बलवत्पक्षो नियोगाभियुक्तः कल्लोल इव (मत्तगज इव) पाठान्तर है समूलं नृपांघ्रिपमुन्मूलयति ॥115॥ अल्पायति महाव्ययो भक्षयति राजार्थम् ।।16॥ अल्पायमुखो जनपद परिग्रहौ पीडयति ।।17॥ नागन्तु केष्वर्थाधिकारः प्राणाधिकारो वास्ति यतस्ते स्थित्वापिगन्तारोऽपकर्तारो वा ।।18॥ स्वदेशजेष्वर्थः कूपपतित इव कालान्तरादपि लब्धुं शक्यते ।।19॥ चिक्कणादर्थलाभः पाषाणाद्वल्कलोत्पाटनमिव ।।20॥

अन्वयार्थ :- राजा को (तीक्ष्णम्) अतिक्रोधी (वलवद् पक्षः) जिसका पक्ष सबल हो (अशुचिः) अपवित्र (व्यसनिनम्) व्यसनी, (अशुद्ध) नीच (अभिजनम्) कुलोत्पन्न (अशक्य) हठी (प्रत्यावर्तनम्) बात न माने (अतिव्ययशीलः) आय से अधिक खर्चीला (अन्यदेशायातम्) परदेशी (च) और (चिक्कणम्) कृपण, लोभी व्यक्ति का (अमात्यम्) अमात्य (नकुर्वीत) नहीं बनाना चाहिए ।।13॥ (तीक्ष्णः) कोपाधिक्य से (अभियुक्तः) सहित (म्रियते) मर जाता है (वा) अथवा (मारयति) अन्य को मार देता है (स्वामिनम्) स्वामी को ।।14॥ (वलवत्पक्षः) बलवान पक्ष वाला (नियोगाभियुक्तः) मंत्री पदासीन (कल्लोल इव) नदी वेग समान (नृपांघ्रिपम्) राजा रूपी वृक्ष को (समूलम्) जड़ से (उन्मूलयति) उखाड़ फेंकता है ।।15॥ (अल्पा) कम (आयति) आमदनी (व्ययः) खर्च (महा) अधिक करता है वह (राजार्थम्) राजा मूल (अर्थम्) धन को (भक्षयति) भक्षण कर जाता है ।।16॥ (अल्पआयमुखः) जो खर्च अपेक्षा अल्प आय हो तो (जनपदः) देश (परिग्रहः) राजपरिवार को (पीडयति) कष्ट देता है ।।17॥ (आगन्तकेषु) नवीन अनजानों को (अर्थाधिकारः) धन सम्पत्ति का अधिकार व (प्राणाधिकारः) प्राण रक्षा अधिकार (न) नहीं (अस्ति) है (यतः) क्योंकि (ते) वे (स्थित्वा) रहकर (अपि) भी (गन्तारः) अपने देश चलें जायें (वा) अथवा (अपकर्तारः) विद्रोही हो सकता है ।।19॥ (स्वदेशजेषु) अपने देश में जन्मे (अर्थः) कोषाध्यक्ष करे क्योंकि (कूपपतितः) वापिका में पड़े के (इव) समान (कालान्तरे) अधिक समय होने पर (अपि) भी (लब्धुं) प्राप्त करने में (शक्यते) समर्थ हो सकते हैं ।।29॥ (चिक्कणात्) कृपण से (धनलाभः) धन प्राप्त करना (पाषाणात्) पत्थर से (वल्कलः) छाल (उत्पाटनम्) छीलने के (इव) समान कठिन है ।।20॥

विशेषार्थ :- राजा या प्रजा को निम्न दोषों से युक्त व्यक्ति को अमात्यपद पर नियुक्त नहीं करना चाहिए

1. अत्यन्त क्रोधी हो, 2. जिसका पक्ष बलवान हो - अधिक शक्तिशाली व्यक्ति हो, 3. वाह्याभ्यन्तर मलिनता से दूषित हो, 4. सप्त व्यसनी हो, 5. नीच कुलोत्पन्न हो, 6. हठवादी-किसी की बात नहीं मानने वाला हो, 7. आमदनी से अधिक खर्च करने वाला हो, 8. परदेशी-अनजान हो एवं 9. कृपण-लोभी हो उसे मन्त्री पद का अधिकार नहीं ।। अभिप्राय यह है कि इन दोषों से दूषित व्यक्ति राज्यक्षति का कारण होगा न कि राज्य के उत्थान में सहायक। अगर बाहर से आये अज्ञात व्यक्ति को मंत्री पद या कोषाध्यक्ष बना दिया तो संभव है वह भाग जाय अथवा धोखा दे सकता है । इसलिए जो विश्वस्त हो उसी को नियुक्त करना चाहिए । इसी प्रकार नीच कुलीन व्यक्ति भी प्रजा का पालन करने में समर्थ नहीं हो सकता । इसी प्रकार जिसके साथ वलिष्ट लोग रहेंगे तो वे लोग राज्य विरुद्ध होकर राजा का घात भी कर सकते हैं । व्यसनी मंत्री होगा तो कर्त्तव्याकर्त्तव्य ज्ञान-विहीन, नीच कुल का अधिक वैभव प्राप्त कर मदोन्मत्त, हठी दुराग्रह-वश, हितकारक उपदेश की अवहेलना करने वाला अधिक खर्चीला-स्वार्थ-क्षति होने पर राजकीय सम्पत्ति को भी हड़प करने वाला एवं लोभी मंत्री भी कर्त्तव्य विमुख होता है । अत: राजा को पूर्णत: निर्दोष समझकर, परीक्षा कर ही मंत्री आदि पद प्रदान करना चाहिए ।।13॥ शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

तीव्रं क्षुद्रं दुराचारमकुलीनं विदेशजम् ।।
एक ग्राहं व्ययप्रायं कृपणं मन्त्रिणं त्यजेत् ।।

उपर्युक्त ही अर्थ है ।

यदि कोपानल से जाज्वल्यमान मंत्री होगा तो वह कारणवश यदि राजा ने उसे दण्डित किया तो वह क्रोधावेश में या तो स्वयं मर जाय अथवा राजा को ही मार डालेगा ।। अत: क्रोधान्ध को मंत्री नहीं बनाना चाहिए ।।14॥ प्रबल पक्ष वाला मंत्री, नदी में बाढ़ आने पर जिस प्रकार उसका प्रबल प्रवाह वेग तट पर स्थित वृक्षों को जड़ मूल से उखाड़ फेंकती है, उसी प्रकार शक्तिशाली परिवार व मित्रमण्डली वाला मंत्री भी राजरूपी वृक्ष का उन्मूलन कर डालता है ।।15॥ शुक्र विद्वान ने भी यही अभिप्राय प्रकट किया है :-

वलवत्पक्षभाग् मंत्री उन्मूलयति पार्थिवम् ।।
कल्लोलो वलवान् यद्वत्तटस्थं च महीरुहम् ।।1॥

उपर्युक्त ही अर्थ है ।

अभिप्राय यह है कि राजा को पुरुष परीक्षा दक्ष होना चाहिए ।।15॥

यदि मन्त्री राजकोष की आय-व्यय का कांटा बुद्धिपूर्वक नहीं बनायेगा तो राज खतरे में पड़ जायेगा । अर्थात् टैक्स, व्यापार कृषि कर्म आदि कोष वृद्धि के साधनों की वृद्धि न करे तो मूल धन का व्यय हो जाने से राजसत्ता नष्ट हो जायेगी। इसीलिए मंत्री को राजभक्त और उद्योगी होना चाहिए ।। गुरु विद्वान ने भी कहा है-

मन्त्रिणं कुरुते यस्तु स्वल्पलाभं महाव्ययम् ।
आत्म वित्तस्य भक्षार्थं स करोति न संशय: ।।1॥

जो मन्त्री आय तो स्वल्प करे और व्यय अधिक तो निसंशय वह स्वयं मूल धन का भक्षी समझना चाहिए ।।16॥

व्यय की अपेक्षा अल्प आय-आमदनी करने वाला मंत्री देश व राज परिवार को पीड़ित करता है । क्योंकि दारिद्रय कष्ट दायक होता है ।।17॥ गर्ग विद्वान का उद्धरण विचारणीय है :-

अल्पायमुखमेवात्र मन्त्रिणं प्रकरोति यः ।
तस्य राष्ट्रं क्षयं याति तथा चैव परिग्रहः ।।1॥ परिवार ।।

अर्थ वही है ।

राजा को दूरदर्शी होना चाहिए ।। दूर देश से आये हुए अनजान व्यक्ति की वाह्य टीम-टाम या चतुराई देखकर उसे कोषाध्यक्ष या प्राणरक्षक मंत्री पदासीन नहीं करना चाहिए । कारण अवसर प्राप्त कर वह कभी भी अपने देश को जा सकता है । दूसरी बात यह है कि उसे राजा व प्रजा के प्रति यथार्थ भक्ति व सहानुभूति होना शक्य नहीं। मौका पाकर राजद्रोही भी हो सकता है । अतः कोष सचिव, सेना सचिव, महामात्य अपने ही देश के योग्य व्यक्ति को बनाना चाहिए ।।18॥ शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

अन्यदेशागतानां च योऽधिकारं धनोद्भुवम् ।
ददाति गात्ररक्षां वा सोऽर्थप्राणैर्वियुज्यते ।।1॥

उपर्युक्त ही अर्थ है ।

विशेष यही है कि जो राजा नव आगुंतुक को धन व प्राणरक्षा का उत्तरदायित्व प्रदान करता है, वह राज्य व प्राणों को खो बैठता है ।।1॥18॥

जो शासक अपने देश व राज्य में उत्पन्न व्यक्ति को कोषाध्यक्ष सेनापति, आमात्य बनाता है, उसके धन हानि होने पर भी वह कूप में पड़ी सम्पदा समान समझनी चाहिए । कूप में पड़ी वस्तु प्रयत्नपूर्वक कालान्तर में प्राप्त हो सकती है परन्तु जो दूर देश लेकर भाग गया तो क्या मिलेगा ? कुछ नहीं मिल सकता ।।19॥ नारद विद्वान ने भी कहा है :-

अर्थाधिकारिणं राजा यः करोति स्वदेशजम् ।
तेन द्रव्यं गृहीतं यदनष्टं कूपवद्गतम् ।।1।।

पूर्वोक्त अर्थ ही है ।

अत्यन्त कृपण लोभी मन्त्री यदि राजकीय धन को ग्रहण कर लेता है तब उससे धन का वापिस प्राप्त करना पाषाण से छाल छीलने के समान दुष्कर है । अर्थात् जिस प्रकार पाषाण से छिलका उतारना असंभव है उसी प्रकार लुब्धक कृपण पदाधिकारियों से सम्पदा लेना-वसूल करना असंभव है । अतः ऐसे कंजूस पुरुष को कोई पदाधिकारी नहीं बनाना चाहिए। अत्रि विद्वान ने भी इसी प्रकार अपने विचार व्यक्त किये हैं :-

वल्कलं इषदोयद्वत् कृपणेन हृतं धनम् ।
यतस्तन्न प्रलभ्ये त् तस्मात्तं दूरतस्त्यजेत् ।।

अर्थ वही है ।120॥

योग्य-अयोग्य अधिकारी, अयोग्यों से हानि, बन्धु-भेद व लक्षण :-

सोऽधिकारी यः स्वामिनासति दोषे सुखेन निगृहीतुं शक्यते ।121॥

ब्राह्मण-क्षत्रिय-सम्बन्धिनो न कुर्यादधिकारिणः ।122॥ ब्राह्मणोजाति वशात्सिद्धमप्यर्थं कृच्छ्रेण प्रयच्छति, न प्रयच्छति वा ।123॥ क्षत्रियो अभियुक्तः खड्गं दर्शयति ।124॥ सम्बन्धी ज्ञातिभावेनाक्रम्य सामवायिकान् सर्वमप्यर्थं ग्रसते ॥125॥ सम्बन्धस्त्रिविधः श्रौतो, मौख्यो यौनश्च ।126॥ सहदीक्षितः सहाध्यायी वा श्रौतः ।127॥ मुखेन परिज्ञातो मौख्यः ।128॥ यौनेर्जातो यौनः ।129॥ वाचिकसम्बन्धे नास्ति सम्बन्धान्तरानुवृत्तिः ।130॥ अन्वयार्थ कहा जाता है :-

अन्वयार्थ :- (अधिकारी) पदासीन (सः) वह है (यः) जो (सति दोषे) अपराध होने पर (स्वामिना) राजा द्वारा (सुखेन) सरलता से (निगृहीतुम्) दण्डित करने में (शक्यते) समर्थ हो ।121॥ (ब्राह्मणः) विप्र (क्षत्रियः) क्षत्रिय (सम्बन्धनः) बन्धु, बान्धवों को (अधिकारिणः) अधिकारी-पदधारी (न कुर्यात्) नहीं बनाना चाहिए ।122॥ (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (जातिः) जाति (वशात्) स्वभाव से (सिद्धम्) ग्रहण (अपि) भी (अर्थम्) धन को (कृच्छ्रेण) कष्ट से (प्रयच्छति) देता है (वा) अथवा (न प्रयच्छति) नहीं देता है ।123॥ (क्षत्रियः) क्षत्रिय (अभियुक्तः) विरोधी हुआ (खड्गम) तलवार (दर्शयति) दिखाता है ।124॥ (सम्बन्धी) बन्धुजन (ज्ञातिभावेन) जातीय भाव से - "मैं राजा की जाति का हूँ" इस अहं भाव से (सामवायिकान्) सहयोगियों के (सर्वम्) सम्पूर्ण (अपि) भी (अर्थम्) धन को (ग्रसते) लील-निगल जाता है ।125॥ (सम्बन्धः) सम्बन्ध (त्रिविधः) तीन प्रकार (श्रौतः) श्रौत (मौख्यः) मौख्य (च) और (यौनः) यौन ।126॥ (सहदीक्षितः) साथ दीक्षित (वा) अथवा (सहाध्यायी) साथ में पढ़ने वाला (श्रौतः) श्रौत [अस्ति] है ।127॥ (मुखेन) मौखिक (परिज्ञातः) परिचित (मौख्यः) मौख्य बन्धु [अस्ति] है ।128॥ (यौने) योनी में (जातः) उत्पन्न हुआ (यौनः) यौन [अस्ति] है ।129॥ (वाचिक) वचन से (सम्बन्धे) सम्बन्ध होने पर (सम्बन्धान्तरः) अन्य सम्बन्ध (अनुवृत्तिः) प्रवृत्ति (नास्ति) नहीं होती है ।130॥

विशेषार्थ :- मन्त्री आदि अधिकारी वही बनने योग्य होता है, जो अपराध करने पर राजा द्वारा सरलता से दण्डित किया जा सके ।121॥ नीतिकार ने भी कहा है :-

सोऽधिकारी सदा शस्यः कृत्वा दोषं महीभुजे ।
ददाति याचितो वित्तं साम्नाय समवल्गुना ।।1॥

अर्थ :- अधिकारी वही प्रशंसनीय है जो अपराध करके, राजा द्वारा दिये दण्ड को सरलता से स्वीकार कर तदनुसार धनादि प्रदान करे ।। अभिप्राय यह है कि पदाधिकारियों को सरल होना चाहिए ।121॥

ब्राह्मण क्षत्रिय व बन्धुजनों को अमात्यादि पदों पर नियुक्त नहीं करना चाहिए ।122॥ क्योंकि ब्राह्मण अधिकारी

होने पर अपनी जातिस्वभाव के कारण ग्रहण किया हुआ धन महान प्रयत्न से देता है अथवा नहीं भी देता है ।123॥ सारांश यह है कि धन लम्पटता व कातरता ब्राह्मण जाति का स्वाभाविक दोष है । अतः उससे गृहीत राजधन की प्राप्ति अति दुर्लभ है । अतः ब्राह्मण को अधिकारी बनाना योग्य नहीं है ।123॥

क्षत्रिय का स्वभाव संग्राम करना है । क्षत्रिय अधिकारी होने पर विरुद्ध हुआ तो तलवार दिखलाता है । सारांश यह है कि क्षत्रिय अधिकारी द्वारा ग्रहण किया गया धन शस्त्र प्रहार किये बिना प्राप्त होना दुर्लभ है ।। वह तलवार चलाये बिना शान्त नहीं होता । अतएव उसे पदालंकृत नहीं करना चाहिए । सेना में ही रखने योग्य होते हैं ये ।124॥ यदि राजा अपने भाई-बन्धु कुटुम्बी मंत्री आदि पद पर नियुक्त होता है तो वह इस अहंभाव से कि "मैं राजा का सम्बन्धी हूँ" अन्य कर्मचारियों को तुच्छ समझता है । उनके साथ दुर्व्यवहार कर समस्त राजधन स्वयं ही हड़प लेगा । अर्थात् सम्पूर्ण अधिकारियों को सताता है । अर्थात् अन्य अधिकारियों को तिरस्कृत कर स्वयं बलिष्ठ हो जाता है ।125॥ बन्धु तीन प्रकार के होते हैं :- 1. श्रौत, 2. मौख्य और 3. यौन । ।126॥ जो व्यक्ति राजा की राजगद्दी समारोह के साथ ही अमात्य-पद की जिसे प्राप्ति हुई है । अर्थात् जिस प्रकार राजकुमार को अपनी वंश परम्परानुसार राज्यसम्पदा प्राप्त होती है उसी प्रकार कुल परम्परा से मन्त्री पद जिसे अपने पितामह व पिता भी इस पद पर रह चुके हैं और अब इसे प्राप्ति हुई है, अथवा राजा का सहपाठी रहा हो-विद्याध्ययन राजा के साथ किया हो वह श्रौतबन्धु कहलाता है ।127॥ जो ओरल (मौखिक) वार्तालाप व सहवास आदि के निमित्त से राजा का अभिन्न मित्र रह चुका है उसे "मौख्य" बन्धु कहते हैं । बोल-चाल की भाषा में "मुंह लगा" कहा जा सकता है ।128॥ राजा के सहोदर, चाचा वगैरह "यौन" बन्धु कहलाते हैं ।129॥ जो राजा के साथ राजगद्दी-राजतिलक से पूर्व मित्र हो चुका है, अधिक सहवास कर चुका हो, वार्तालाप में निसंकोच हो चुका है, ऐसे घनिष्ठ मित्रों को भी अन्य पदासीन नहीं करना चाहिए । क्योंकि वे राजाज्ञा का उलंघन कर सकते हैं । इसके कारण राजा की प्रतिष्ठा कम होगी । अतः मित्र को भी मंत्री पद पर नियुक्त नहीं करना चाहिए ।130॥

मित्र को भी मंत्री पद पर नियुक्त होने के अयोग्य व्यक्ति :-

न तं कमप्यधिकुर्यात् सत्यपराधे यमुपहत्यानुशयीत ।131॥ मान्योऽधिकारी राजाज्ञामवज्ञाय निरवग्रहश्चरति ।132॥ चिर सेवको नियोगी नापराधेष्वाशङ्कते ।133॥ उपकर्त्ताधिकारस्य उपकारमेव ध्वजीकृत्य सर्वमवलुम्पति ।134॥ सहपांशु क्रीडितोऽमात्योऽतिपरिचयात् स्वयमेव राजायते ।135॥ अन्तर्दुष्टो नियुक्तः सर्वमनर्थमुत्पादयति ।136॥ शकुनि-शकटालावत्र दृष्टान्तौ ।137॥ सुहृदि नियोगिन्यवश्यं भवति धनमित्रनाशः ।138॥ मूर्खस्य नियोगे भर्तुर्धर्मार्थयशसां संदेहो निश्चितौ चानर्थ-नरकपातौ ।139॥

अन्वयार्थ :- (तम्) उस व्यक्ति को (कमपि) किसी प्रकार भी (अधिः) अधिकारी (न कुर्यात्) नहीं बनावे (यम्) जिसको (अपराधे) अपराध (सति) होने पर (उपहत्य) दण्डित कर (अनुशयीत) पश्चाताप करना पड़े ।131॥ (मान्य) राजा द्वारा पूर्वमान्य पुरुष (अधिकारी) अधिकारी हो तो (राजाज्ञाम्) राजा की आज्ञा की (अवज्ञाय) तिरस्कृति कर (निरवग्रहः) निरंकुश (चरति) आचरण करता है ।132॥ (चिरसेवकः) पुराना सेवक (अपराधेषु) दोष करने पर भी (नियोगी) पदासीन रहने में (नाआशङ्कते) आशंका नहीं करता ।133॥ (उपकर्ता) उपकारी पुरुष को (अधिकारस्य) अधिकार के मिलने पर (उपकारम्) उपकार को ही (ध्वजीकृत्य) प्रमुख कर (सर्वम्) धनादि

को (अवलुम्पति) हड़प जाता है ।।34॥ (सह) साथ-साथ (पांशुक्रीडितः) धूलि में खेला (अमात्यः) अमात्यपद पाकर (अतिपरिचयात्) अत्यन्त निकट का परिचय होने से (स्वयमेव) स्वयं ही (राजायते) राजा का आचरण करता है ।।35॥ (अन्तर्दुष्टः) अंन्तःकरण में कालुष्य वाला व्यक्ति (नियुक्तः) राज पद कर्मचारी हो तो (सर्वम्) सम्पूर्ण (अनर्थम्) अपायों को (उत्पादयति) उत्पन्न करता है ।।36॥ (अत्र) इस विषय में (शकुनिः) शकुनि (शकटालः) शकटाल (दृष्टान्तौ) उदाहरण हैं ।।37॥ (सुहृदि) मित्र (नियोगिनि) पदासीन होने पर (अवश्यम्) अवश्य (धनमित्रनाशः) धन और मित्र नाश (भवति) होता है ।।38॥ (मूर्खस्य) मूर्ख के (नियोगे) पदाधिकारी होने पर (भर्तुः) स्वामी-राजा का (धर्मः) धर्म (अर्थः) अर्थ (यशताम्) यश (सन्देहः) शंकित होते हैं (च) और (अनर्थः) अनर्थ एवं (नरकपातः) नरकगति [भवति] होती है ।।39॥

विशेषार्थ :- उपर्युक्त तीनों प्रकार के बन्धुओं में से किसी को भी अर्थ मंत्री, आदि अधिकारी नहीं बनाना चाहिए ।। जिसे अपराध करने पर कठोर दण्ड देने पर पश्चाताप करना पड़े ।।31॥ गुरु विद्वान ने भी कहा है -

सम्बन्धिनां त्रयाणां च न चैकमपि योजयेत् ।।
अर्थाधिकारे तं चापि यं हत्वा दुःखमाप्नुयात् ।।1॥

अर्थात् तीनों प्रकार के बन्धुओं में से किसी को भी अर्थ-सचिव नहीं बनाना चाहिए । क्योंकि कठोर अपराध का कठोर ही दण्ड देना पड़ता है । दुष्कृत्य करने पर मृत्यु दण्ड देकर पश्चाताप करना पड़ेगा । अतः उसे अति निकटवर्ती को अर्थ सचिवादि पदों पर नियुक्त नहीं करना चाहिए ।।31॥

नृपराज को अपने पूज्य पुरुषों को पदाधिकारी नहीं बनाना चाहिए । क्योंकि वह अपने को राजा द्वारा पूज्य-माननीय समझ कर उच्छृंखल प्रवृत्ति करेगा । राजाज्ञा का उल्लंघन करेगा । राजधन अपहरण आदि मनमानी प्रवृत्ति करेगा । इससे राजकीय अर्थक्षति स्वाभाविक है ।।32॥ 'नारद' ने भी कहा है :-

मान्योऽधिकारी मान्योऽहमिति मत्वा न शङ्कते ।
भक्षयन् नृप वित्तानि तस्मात्तं परिवर्जयेत् ।।1॥

मैं बड़ा, मैं पूज्य मानकर वह राजधन का भक्षण करता हुआ निःसंकोच निर्भय आचरण करेगा इसलिए पूज्य पुरुषों को राजा अपना अर्थमंत्री आदि पद नहीं देवे ।।1॥32॥ बहुत दिनों से सेवक चला आया पुरुष भी यदि मंत्री प्रभृति पदों पर आसीन होगा तो वह भी निःसंकोच सूक्ष्म-स्थूल वस्तुओं का निसंकोच अपहरण कर राज क्षति, प्राण क्षति उत्पन्न कर देगा ।। अतः राजा अतिपरिचित को पदाधिकारी न बनावे ।।33॥ देवल विद्वान ने भी कहा है -

चिर भृत्यं च यो राजा वित्तकृत्येषु योजयेत् ।
स वित्तं भक्षयन् शङ्कां न करोति कथंचन ।।1॥

उपर्युक्त ही अर्थ है ।।

जो भूपति अपने उपकारी को अधिकारी पद पर नियुक्त करता है वह (अधिकारी) पूर्वकृत उपकार राजा

के समक्ष प्रकट कर समस्त राजकीय धन-सम्पदा को हड़प कर जाता है, अतः उपकारी को अधिकारी नहीं बनाना चाहिए ।134॥ **वशिष्ठ विद्वान ने भी इसी प्रकार कहा है :-**

पूर्वोपकारिणं भूपो नाधिकारे नियोजयेत् ।
स तं कीर्त्तयमानस्तु सर्व वित्तं प्रभक्षयेत् ।।1॥

उपर्युक्त अर्थ है ।

आगे कहते हैं कि राजा को ऐसे बाल मित्र को जो उसके साथ धूल में खेला है, अथवा साथ-साथ विद्याभ्यास किया है (ऐसे) उसे अर्थ सचिवादि पदासीन नहीं करे । वह "अति परिचयादवज्ञा" के अनुसार राजाज्ञा का निशंक उलंघन करेगा । अभिमानवश स्वयं को राजा समान मान बैठेगा ।135॥ जैमिनि विद्वान ने भी कहा है :-

बाल्यात्प्रभृति यः सार्द्धं क्रीडितो भूभुजा सदा ।
स च स्यान्मन्त्रिणः स्थाने तन्नूनं पार्थिवायते ।।1 ।।35॥

क्रूर हृदय वाला पुरुष राज अधिकारी बना तो राज्य में समस्त अनर्थों का जन्म होगा । क्योंकि वह किसी की सुख सुविधा का विचार ही नहीं करेगा ।136॥ गर्ग विद्वान ने कहा है :-

अन्तर्दुष्टममात्यं यः कुरुते पृथिवीपतिः ।
सोऽनर्थान्नित्यशः कृत्वा सर्वराज्यं विनाशयेत् ।।

दुष्टाभिप्रायी नित्य ही खुरापातों द्वारा राज्य और राजा का सर्व विनाश कर देगा ।137॥ इस राजद्वेषी क्रूर के पदाधिकारी से होने वाली हानि के निदर्शन हैं - शकुनि - यह दुर्योधन का मामा जिसे इसने कौरवों का राजमंत्री बनाया था । और शकटाल (नन्द राजा का मंत्री) । ये दोनों ऐतिहासिक निदर्शन हैं ।। इन दोनों ही दुष्ट हृदय वाले मंत्रियों ने अपने-अपने स्वामियों से द्वेष कर राज्य में अनेक अनर्थ उत्पन्न किये । जिनके फलस्वरूप राज्य की क्षति हुई ।137॥ शकुनि का वृत्तान्त :-

यह गांधार देश के राजा सुबल का पुत्र व दुर्योधन का मामा था, जो कि कौरव (धृतराष्ट्र) के बड़े पुत्र दुर्योधन द्वारा राजमन्त्री पद पर नियुक्त किया गया था । वह बड़ा क्रूर हृदय था । जिस समय पाण्डवों के वनवास की - अज्ञातवास की अवधि पूर्ण हुई उस समय महात्मा कृष्ण और विद्वान नीति निपुण विदुर ने इस मन्त्री को बहुत कुछ समझाया कि आप कौरवों से पाण्डवों का राज्य वापिस दिलवा दो । परन्तु इसने एक न मानी और पाण्डवों से वैर-विरोध रखा, दुर्योधन को सन्धि नहीं करने दी । फलतः महाभारत युद्ध हुआ । जिसमें इसने अपने स्वामी दुर्योधन का वध करवाया। और स्वयं भी मारा गया ।।

दूसरा दृष्टान्त शकटाल का है :-

यह ई. से 330 वर्ष पूर्व राजा नन्द का मन्त्री था, जो कि बड़ा दुष्ट हृदयी था । इसे अपराधवश कारागार की कड़ी सजा हुई। कुछ दिनों पश्चात् राजा ने इसे जेल से मुक्त कर दिया। पुनः राजमंत्री पद पर नियुक्त किया

गया, परन्तु अन्त:करण में यह राजा का शत्रु था, यह उसके घात की प्रतीक्षा कर रहा था । अत: अवसर पाकर यह सम्राट् चन्द्रगुप्त के प्रधान अमात्य चाणिक्य से मिल गया और उसकी सहायता से इसने अपने स्वामी राजा नन्द को मरवा डाला ।137॥

मित्र को अमात्य आदि अधिकारी बनाने से राजकीय-धन व मित्रता की क्षति होती है । अर्थात् मित्र अधिकारी राजा को अपना मित्र समझकर निर्भयतापूर्वक उच्छृंखल होकर उसका धन खा लेता है । जिससे राजा उसका वध कर डालता है । इस प्रकार मित्र को अधिकारी बनाने से राजकीय धन व मित्रता दोनों का नाश होता है । अत: मित्र को अधिकारी नहीं बनाना चाहिए ।138॥ रैम्य विद्वान ने भी कहा है :-

नियोगे संनियुक्तस्तु सुहृद्वित्तं प्रभक्षयेत् ।
स्नेहाधिक्येन नि:शंकस्ततो वधमवाप्नुयात् ।।1॥

इसी प्रकार मूर्ख मूढ़ अज्ञानी व्यक्ति को अर्थ व राज सचिव बनाने पर राज्य देश धन व यश का सर्वनाश होता है। अथवा इनकी प्राप्ति सुदुर्लभ हो जाती है । क्योंकि मूर्ख अधिकारी से राजा को धर्म मार्ग निर्देशन नहीं मिलता, न धनार्जन ही हो सकता है और न ही यशोपलब्धि ही सुनिश्चित हो पाती है । दो बातें निश्चित होती हैं - 1. स्वामी को आपत्ति में फंसाना और 2. राजा को नरक में ले जाना । अर्थात् मूर्ख अधिकारी ऐसे दुष्कृत्य कर बैठता है जिससे उसका स्वामी आपद् ग्रस्त हो जाता है । एवं ऐसे दुष्कर्म कर डालता है, जिससे प्रजा पीड़ित होती है । जिसके फलस्वरूप स्वामी नरक प्रयाण करता है ।139॥ नारद विद्वान ने मूर्ख को अधिकारी बनाने का निम्न चित्रण किया है :-

मूर्खे नियोगयुक्ते तु धर्मार्थयशसां सदा ।
सन्देहोत्र पुनर्नूनमनर्थो नरके गति: ।।1॥

अधिकारियों की उन्नति, उनकी निष्फलता, राजा की हानि :-

सोऽधिकारी चिरं नन्दति स्वामिप्रसादो नोत्सेकयति ।140॥ किं तेन परिच्छदेन यत्रात्मक्लेशेन कार्यं सुखं वा स्वामिन: ।141॥ का नाम निर्वृत्ति: स्वयमूढ़तृणभोजिनो गजस्य ।142॥ अश्वसर्धाण: पुरुषा: कर्म्मसु नियुक्ता विकुर्वते तस्मादहन्यहनि तान् परीक्षेत् ।143॥

अन्वयार्थ :- [य:] जो (अधिकारी) मंत्री, पुरोहित (स्वामिप्रसाद:) राजा के प्रसन्न होने से (न उत्सेकयति) अभिमानी नहीं होता (स:) वह (चिरम्) बहुत काल (नन्दति) प्रसन्न रहता है ।140॥ (तेन) उस (परिच्छदेन) राज्याधिकारियों से (किम्) क्या (यत्र) जहाँ (आत्मक्लेशेन) स्वयं पीड़ित हो (कार्यम्) काम (वा) अथवा (स्वामिन:) राजा को (सुखम्) सुख हो ।141॥ (का नाम) क्या (निर्वृत्ति:) निश्चितता (स्वयं) स्वत: (मूढ़तृणभोजिन:) मूर्ख हाथी, घास खाने वाला (गजस्य) हाथी के प्रयास के समान ।142॥ (अश्व:) घोटक (सर्धाण:) उन्मत्त (पुरुषा:) पुरुष (कर्म्मसु) कार्य में (नियुक्त:) लगाना (नियुक्ता) पदाधिकारी (तस्मात्) इसलिए (अहनि-अहनि) प्रतिदिन (तान्) उन्हें (परीक्षेत्) परीक्षित करे ।143॥

विशेषार्थ :- जो मन्त्री या पदाधिकारी राजा के प्रसन्न होने पर भी अहंकार नहीं करता वह बहुत समय तक आनन्दानुभव करता है. ।। अर्थात् वह कभी भी पदच्युत नहीं होता, कीर्ति, अर्थलाभ और सम्मान की वृद्धि करता है ।। शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

स्वामि प्रसादमासाद्य न यः कुर्यात्सुखोदयः ।।
स नन्दति चिरंकालं भ्रश्यते नाधिकारतः ।।1।।

राजा को उन अधिकारियों से क्या प्रयोजन, जिनके रहते हुए भी राजा को कष्ट उठाना पड़े - स्वयं राजकार्य करने पड़ें। अथवा स्वयं कर्त्तव्यपालन कर सुख प्राप्त करना पड़े ? कुछ भी लाभ नहीं । सारांश यह है कि राजा को यदि स्वयं राज-काज का भार वहन करना पड़े, तो मंत्री, सचिवों से क्या प्रयोजन? अधिकारियों को ड्यूटिफुल-कर्त्तव्यनिष्ठ होना चाहिए ।। स्वामी को कोई कष्ट न उठाना पड़े और वह सुखानुभव करे। जिस प्रकार स्वयं अरण्य से भार लेकर आने वाला गज उस पत्ते-घास को खाकर सुखी नहीं हो सकता उसी प्रकार राजकीय-शासनकार्यों का भार ढोने वाला राजा भी सुखी नहीं हो सकता। अतएव विजीगिषु राजा को योग्य राजाधिकारी व सेवकों की नियुक्ति करनी चाहिए। तभी प्रजा-राज सम्बन्धी समस्त कार्य सुचारु ढंग से चल सकेंगे, जिससे राजा और प्रजा सुखी होगी । अन्यथा नहीं ।।41-42।। नारद ने भी कहा है :-

स्वयमाहृत्य भुंजाना बलिनोऽपि स्वभावतः ।
नरेन्द्राश्च गजेन्द्राश्च प्रायः सीदन्ति केवलाः ।।1।।

क्षुद्र प्रकृति वाले अधिकारीजनों को अपने-अपने अधिकारों में नियुक्त किये हुए सैन्धव जाति के घोड़ों के समान विकृत मदोन्मत्त हो जाते हैं । अर्थात् जिस प्रकार सैंधव जाति के अश्व योग्यता प्राप्त कर लेने पर (चाल आदि में निष्णात होने पर) दमन करने पर अवश हो जाते हैं । उन्मत की भांति चेष्टा करते हैं । सवार को ही धराशायी भी कर डालते हैं । इसी प्रकार क्षुद्र प्रकृति वाले गर्वान्वित होकर राज्यक्षति में तत्पर हो जाते हैं । राजा ही को धोखे में डाल देते हैं । अतः राजा को इस प्रकार के लोगों की सतत् जांच पड़ताल करते रहना चाहिए ।।43।। वादरायण और भृगु विद्वानों ने भी लिखा है :-

अश्वा यथा विकुर्वन्ति दान्ता अपि च सैन्धवाः ।
तथाप्यपुरुषा ज्ञेया येधिकारे नियोजिताः ।।1।।

वादरायण

परीक्षा भूभुजा कार्या नित्यमेवाधिकारिणाम् ।
यस्मात्ते विकृतिं यान्ति प्राप्य सम्पदमुत्तमाम् ।।1।।

भृगु

सभी का एक ही अभिप्राय है कि इस प्रकार क्षुद्र एवं दुष्ट पुरुषों से सदैव सावधान रहे राजा और उनकी परीक्षा भी करता रहे ।।43।।

इसी का दृष्टान्त, अधिकारियों की लक्ष्मी, समृद्धों के दोष :-

मार्जारेषु दुग्धरक्षणमिव नियोगिषु विश्वास करणम् ।।44॥ ऋद्धिश्चित विकारिणी नियोगिनामिति सिद्धानामादेशः।।45॥ सर्वोप्यति समृद्धोऽधिकारीभवत्यायत्यामसाध्यः कृच्छ्रसाध्यः स्वामिपदाभिलाषी वा ।।46॥ भक्षणमुपेक्षणं प्रज्ञाहीनत्वमुपरोधः प्राप्तार्था प्रवेशो द्रव्यविनिमयश्चेत्यमात्य दोषाः ।।47॥

अन्वयार्थ :- (मार्जरिषु) विडालों को (दुग्धरक्षणम्) दूध की रक्षा को नियुक्ति (इव) समान (नियोगिषु) मंत्री आदि पर (विश्वास) विश्वस्त (करणम्) रहना चाहिए ।।44॥ (नियोगिनाम्) मन्त्री आदि की (ऋद्धिः) सम्पदा (चित्तविकारिणी) मन को दूषित करने वाली (इति) ऐसा (सिद्धानाम्) प्रामाणिकों की (आदेशः) आज्ञा है ।।45॥ (सर्वोः) सभी (अधिकारी) राजपदाधिकारी (अतिसमृद्धाः) अधिक बलवान (अपि) भी (आयात्याम्) अवश (असाध्यः) दुर्दमनीय (कृच्छ्रसाध्यः) कठिनसाध्य (वा) अथवा (स्वामिपदाभिलाषी) राजा के राजपद के अभिलाषी (भवति) होता है ।।46॥ (भक्षणम्) राजद्रव्य खाना (उपेक्षणम्) राजकीय क्षति की उपेक्षा (प्रज्ञाहीनत्वम्) बुद्धि का अभाव (उपरोधः) दुराग्रह (प्राप्तार्थः) टैक्सादि से प्राप्त धन का (अप्रवेशः) कोष में जमा न करना (च) और (द्रव्यविनिमयः) अधिक मूल्य वाली वस्तु को कम में देना (इति) ये (अमात्यदोषाः) मन्त्री के दोष [भवन्ति] होते हैं ।।47॥

विशेषार्थ :- जिस प्रकार दुग्ध की सुरक्षा को बिल्ली को नियुक्त करना विश्वास योग्य नहीं, उसी प्रकार अयोग्य मन्त्री, पुरोहितादि को राजसत्ता रक्षणार्थ नियुक्ति करना भी है । अर्थात् राजा को समस्त राजभार ऐसे मंत्री आदि कर्मचारियों पर नहीं छोड़ना चाहिए ।। क्योंकि राजकोषादि की रक्षा उनसे नहीं हो सकती । उनकी सतत् परीक्षा करनी चाहिए ।।44॥ भारद्वाज ने भी कहा है :-

मार्जारेष्विव विश्वासो यथा नो दुग्धरक्षणे ।
नियोगिनां नियोगेषु तथा कार्यो न भूभुजा ।।1॥

अर्थ वही है ।।

"अर्थो मूलोऽनर्थानाम्" युक्ति के अनुसार सम्पत्ति पाकर अधिकारी वर्ग उन्मत्त हो जाते हैं चित्त विभ्रम हो जाता है । नारद ने भी कहा है :-

तावन्न विकृतिं याति पुरुषोऽपि कुलोद्भवः ।
यावत्समृद्धि संयुक्तो न भवेदत्र भूतले ।।1॥

अर्थात् पृथ्वी पर कोई पुरुष कुलीन होकर भी तब तक ही सीधा रहता है जब तक धन की गरमी नहीं आती । धनाढ्य होते ही कुलीन भी गर्विष्ठ हो जाता है ।। अतएव राजा को इस ओर ध्यान रखना चाहिए ।।45॥

समस्त राजपदाधिकारियों का एक समान प्रायः आचरण होता है । ये धनेश्वर होते ही राजा के वश में नहीं रहते, अथवा वशवर्ती करना कठिन हो जाता है या उसके पद (राज) को पाने के इच्छुक हो जाते हैं ।।46॥ नारद विद्वान ने भी कहा है :-

अति समृद्धि संयुक्तो नियोगी यस्य जग्यते ।
असाध्यो भूपतेः स स्यात्तस्यापि पदवाञ्छकः ।।1 ॥

वही अर्थ है ।

इस विषय में विद्वान गुरु का कथन विशेष महत्वपूर्ण है :-

प्रेष्याः कर्मसुपटवः पूर्णा अलसा भवन्ति ये भृत्याः ।
तेषां जलौकसामिव पूर्णा नैवात्र ऋद्धता न्याय्या ।।1 ॥

अर्थ :- जो राज-सेवक कर्त्तव्यनिपुण, धनी व आलसी होते हैं उनका जोंक के समान पूर्ण सम्पत्तिशाली होना न्याय-युक्त नहीं, दरिद्रता ही उनकी शोभा है । संक्षेप में कहें कि जिस प्रकार जोंक विषाक्त-विकारी रक्त को भरपेट पान कर फट् जाती हैं उसी प्रकार क्षुद्र, कर्त्तव्यविहीन प्रमादी सेवक भी अत्यन्त धनाढ्य होने पर उन्मत्त-मदान्ध होकर अपने ही स्वामी के विपरीत अथवा घातक हो जाते हैं । अस्तु उनका दरिद्र बना रहना ही उचित है ।146 ॥

जिस पुरुष में 6 दोष पाये जायें वह राज-सेवक या राजसत्ता पदाधिकारी नियुक्त नहीं करना चाहिए । वे दोष इस प्रकार है :- 1. भक्षण-राजकीय धन खा जाने वाला, 2. उपेक्षण - राजकीय सम्पत्ति को नष्ट करने वाला अथवा धन प्राप्ति में अनादर व विघ्न करने वाला, 3. प्रज्ञाहानत्व - जिसकी मति नष्ट व भ्रष्ट हो गई हो अथवा जो राजनैतिक ज्ञान शून्य-मूर्ख है, 4. उपरोध - प्रभावहीन - अर्थात् राजशासन के विरुद्ध चलने वालों को रोकने पर भी जिसके द्वारा रोके न जा सकें ऐसा प्रभावहीन, शत्रु दमन में असमर्थ । 5. प्रासार्था--प्रवेश प्राप्त हुए धन को कोष-खजाने में जमा नहीं कराने वाला। अर्थात् टैक्सादि उपायों से प्राप्त धन कोष में न भेजे, जमा न करावे । 6. द्रव्य विनिमय - राजाज्ञा विरुद्ध बहुमूल्य वस्तुओं को अल्पमूल्य की वस्तु कर विक्रय कर दे या करा दे । अर्थात् सुवर्ण सिक्के, रजत सिक्कों को स्वयं रखकर राजकोष में उनके बदले अल्पमूल्य के सिक्के जमा करा दे । अथवा चला देने में प्रयत्नशील हो । सारांश यह है कि जो राजा या प्रजा उक्त दोषयुक्त पुरुष को अर्थ मंत्री या सचिव बनाता है तो वह राज्य को नष्ट कर देता है ।147 ॥ शुक्र विद्वान ने भी लिखा है-

योऽमात्यो राजकीयं स्वं बहुधा विप्रकारयेत् ।
सदैव दुष्टभावेन स त्याज्यो सचिवो नृपैः ।।1 ॥

अर्थ :- जो अमात्य दुष्ट प्रकृतिवश राजकीय धन अनेक प्रकार से नष्ट कर डालता है वह राजा द्वारा त्याज्य है ।।1 ॥ अतः राजा को इस विषय में सावधान रहना चाहिए ।147 ॥

राजतन्त्र-स्वयं देख-रेख योग्य, अधिकार, राजतन्त्र व नीवि लक्षण, आय-व्यय शुद्धि और उसके विवाद में राजकर्त्तव्य :-

बहुमुख्यमनित्यं च करणं स्थापयेत् ।148 ॥ स्त्रीष्वर्थेषु च मनागप्यधिकारे न जाति सम्बन्धः ।149 ॥ स्व पर

देशजावन- पेक्ष्यानित्यश्चाधिकारः ।।50 ॥ आदायक निबन्धक प्रतिबन्धकनीवीग्राहक राजाध्यक्षाः करणानि ।।51 ॥ आय व्यय विशुद्धं द्रव्यं नीवी ।।52 ॥ नीवी निबन्धक पुस्तक ग्रहण पूर्वक मायव्ययौ विशोधयेत् ।।53 ॥ आय व्ययविप्रतिपत्तौ कुशलकरणकार्यपुरुषेभ्यस्तद्विनिश्चयः ।।54 ॥

अन्वयार्थ :- (बहुमुख्यम्) एक मुखिया नहीं (च) और (अनित्यम्) स्थायी नहीं इस प्रकार (करणम्) कर्मचारी (स्थापयेत्) नियुक्त करे ।।48 ॥ (स्त्रीषु) स्त्रियों का (च) और (अर्थेषु) धन के विषय में (मनाक्) अल्प (अपि) भी (अधिकारे) रक्षण में (जातिसम्बन्धः) सम्बन्ध उत्पन्न (न) नहीं करे ।।49 ॥ (स्व) निज (परदेशज) अन्य देशी (अनपेक्ष्य) विचार न कर (अनित्यः) कुल कालिक (च) और (अधिकारः) अधिकार [प्रयच्छेत्] प्रदान करे ।।50 ॥ (आदायकः) व्यापारी (निबन्धकः) खाता लेखक (प्रतिबन्धकः) मुहर लगाने वाला (नीवी) खजांची (ग्राहकः) लेने वाला (राजाध्यक्षाः) प्रधान (करणानि) कुलाः [भवन्ति] होते हैं ।।51 ॥ (आय व्यय विशुद्धम्) आमद-व्यय-खर्च से शेष रहा द्रव्य (नीवी) "नीवी" [अस्ति] है ।।52 ॥ (नीवी) जमा द्रव्य (निबन्धकः) सम्बन्धी (पुस्तकम्) पुस्तक, वही (ग्रहणपूर्वकम्) लेकर (आय-व्ययौ) प्राप्ति व खर्च को (विशोधयेत्) जांच करे ।।53 ॥ (आयव्ययविप्रतिपत्तौ) आय और व्यय के सम्बन्ध में विवाद होने पर (कुशलकरणाः) शुभचिन्तकों (कार्यपुरुषेभ्यः) कार्यकर्ताओं से (तत्) उसका (निश्चयः) निश्चय [कुर्यात्] करे ।।54 ॥

विशेषार्थ :- राजा एवं प्रजा को इस प्रकार का राजतंत्र स्थापित करना चाहिए जिसमें बहुत से शिष्ट, सदाचारी, न्यायी, बुद्धिमन्त अधिकारी संचालक हों तथा जिसमें अधिकारियों की नियुक्ति स्थायी न हो क्योंकि स्थायी होने पर स्वेच्छाचारी होकर अनर्थ भी कर सकता है। तथा राजकोष की क्षति भी कर सकता है। अतः मंत्री, कोषाध्यक्ष, सचिव, सेनापति आदि करण की नियुक्ति न तो केवल अकेले की करे और न ही स्थायी रूप में करे। क्योंकि "प्रभुता पाय काय मद नाहि।" प्रभुत्व प्राप्त होने से तुच्छ बुद्धियों को मद चढ़ता है। अतः समयानुसार बदलने वाले ही स्थिरप्रज्ञ हो कार्य-कर्त्तव्य निभायगें ।।48 ॥

गुरु विद्वान के उद्धरण का भी यही भाव है :-

अशाश्वतं प्रकर्त्तव्यं करणं क्षितिपालकैः ।
बहुशिष्टं च यस्मात्तदन्यथा वित्तभक्षकम् ।।1 ॥

उपर्युक्त ही अर्थ है ।

राजा अथवा अन्य सत्पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह अपने धन व स्त्री का रक्षक अन्य को न बनावे । गुरु विद्वान ने इस विषय में लिखा है :-

स्त्रीष्वर्थेषु च विज्ञेयो नित्योयं जातिसंभवः ।।1 ॥ उपर्युक्त ही अर्थ है ।।49 ॥ स्वदेश का हो या परदेस का राजा स्थायी रूप में अधिकारियों की नियुक्ति न करे । अपितु अस्थायी, कुछ काल के लिए मंत्री आदि बनावे । क्योंकि राजपदाधिकारियों की स्थायी नियुक्ति हानिकारक होती है । वे राजकीय धन को हड़पने की चेष्टा में लग सकते हैं, प्रजा को भी तानाशाही से सता सकते है। परदेस से आगत व्यक्ति भी राजा द्वारा सचिवादि पद पर नियुक्त किया जाता है तो अस्थायी रूप में ही करना चाहिए । जो जिस कार्य में दक्ष हो उसे उसी का अधिकारी नियुक्त

करना चाहिए ।150॥ राजा के राजतन्त्र संचालनार्थ निम्न पाँच करण या कुल हैं - 1. आदायक - व्यापारियों से चुंगी, टैक्स द्वारा द्रव्य वसूल कर राजकोष में जमा करने वाला कोषाध्यक्ष, 2. निबन्धक - उक्त उपाय द्वारा प्राप्त द्रव्य व माल का हिसाब जो बहीखाते में लिखता है । 3. प्रतिबंधक - जो चुंगी आदि के माल पर या खजाने में जमा होने वाली वस्तुओं पर राजमुद्रा की छाप लगाता है । 4. नीवी-ग्राहक - राजकीय द्रव्य को राजकोष में जमा करने वाला - खजांची । 5. राजाध्यक्षः - उक्त चारों अधिकारियों की देख-रेख रखने वाला प्रधान पुरुष ।151॥

राजशासकीय आय में से उपयुक्त व्यय करने के अनन्तर जो कुछ शेष रहता है, और जांच-पड़ताल पूर्वक खजाने में जमा की हुई सम्पत्ति को "नीवी" कहते हैं ।152॥ राजा को चाहिए कि वह कोषाध्यक्ष से 'नीवी' को जमा करने वाले बही-खाते मंगवाकर उनकी व्यवस्थित रूप से देखभाल करे । विशुद्ध करे अर्थात् आय-व्यय को विशुद्ध करे ।153॥ किसी नीतिकार ने भी राजकीय सम्पत्ति की आय-व्यय शुद्धि के विषय में इसी प्रकार लिखा है :-

शुद्ध पुस्तक हस्ते यत् पुस्तकं समवस्थितम् ।
आयव्ययौ च तत्रस्थौ यौ तौ वित्तस्य शुद्धिदौ ।।1॥

जिस समय सम्पत्ति की आय-व्यय के सम्बन्ध में अधिकारियों के मध्य यदि विवाद उपस्थित हो जाय अर्थात् समान शक्ति वाला विरोध आ खड़ा हो तो राजा को जितेन्द्रिय, राजनीतिज्ञ प्रधान पुरुषों मंत्री आदि से विचार-परामर्श करके उसका निर्णय कर लेना चाहिए । अभिप्राय यह है कि किसी अवसर पर कारणवश राज्य में टैक्स-आदि द्वारा होने वाली सम्पत्ति की आमदनी बिल्कुल रुक गई हो और धन का व्यय अधिक हो रहा हो, जो कि अवश्य करने योग्य प्रतीत हो जैसे शत्रुकृत हमले के समय राष्ट्ररक्षार्थ सैनिक शक्ति के बढ़ाने में अधिक और आवश्यक खर्च । इस प्रकार के अवसर पर यदि अधिकारियों में आय-व्यय सम्बन्धी विवाद उपस्थित हो जाए, तो राजा को सदाचारी व राजनीतिज्ञ शिष्ट पुरुषों का कमीशन बिठाकर उक्त विषय का निश्चय कर लेना चाहिए । अर्थात् यदि महान् प्रयोजन सिद्धि (विजय) होती हो तो आमदनी से अधिक खर्च करने का निश्चय कर लेना चाहिए । अन्यथा नहीं ।154॥ शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

यदा विप्रतिपत्तिश्च करणस्य प्रजायते ।
प्रवेशे निष्क्रिये वापि साधुभ्यो निश्चयं कुर्यात् ।।1॥

रिश्वत से संचित धन का उपाय पूर्वक ग्रहण व अधिकारियों को धन व प्रतिष्ठा की प्राप्ति :-

नित्य परीक्षणं कर्म विपर्ययः प्रतिपत्तिदानं नियोगिष्वर्थोपायाः ।155॥

नापीडिता नियोगिनो दुष्टव्रणा इवान्तः सारमुद्वमन्ति ।156॥

पुनः पुनरभियोगे नियोगिषु भूपतीनां वसुधाराः ।157॥

सकृन्निष्पीडितं हि स्नानवस्त्रं किं जहाति स्निग्धताम् ।।58।।

देशमपीडयन् बुद्धिपुरुषकाराभ्यां पूर्वनिबन्धमधिकं कुर्वन्नर्थमानौ लभते ।।59।।

विशेषार्थ :- (नित्यपरीक्षणम्) जांच करना (कर्मविपर्ययः) कार्य-पद परिवर्तन (प्रतिपत्तिदानम्) बहुमूल्य पारितोषिक प्रदान (नियोगिषु) अधिकारियों में (अर्थोपायः) अर्थ प्राप्ति का उपाय ।।55।। (अपीडितः) कष्ट दिये बिना (नियोगिनः) अधिकारी वर्ग (दुष्टाः) पके (वृणाः) फोड़े (इव) समान (अन्तःसारम्) अन्तरंगसार को (उद्वमन्ति) उगलते (न) नहीं हैं ।।56।। (पुनः-पुनः) बार-बार (अभियोगे) उच्च-पद में (नियोगिषु) अधिकारियों (भूपतीनाम्) राजाओं को यह (वसुधाराः) धनवृष्टि [अस्ति] है ।।57।। (सकृत्) एक बार (निष्पीडितम्) निचोड़ा (स्नानवस्त्रं) स्नान का वस्त्र (हि) निश्चय से (किम्) क्या (स्निग्धताम्) मलिनता को (जहाति) त्यागता है ? ।।58।। (देशम्) देश को (अपीडियन्) पीड़ा न देता हुआ (बुद्धिपुरुषकाराभ्याम्) ज्ञान और सम्मान द्वारा (पूर्वनिबन्धम्) पहली व्यवहारता को (अधिकम्) उन्नत (कुर्वन्) करता हुआ (अर्थम्) धन (च) और (मानम्) सम्मान (लभते) प्राप्त करता है ।।59।।

विशेषार्थ :- राजाधिकारी रिश्वत लेना कर्त्तव्य समझते हैं । नीतिज्ञ राजा उस घूसखोरी के धन को उनसे ग्रहण करने का प्रयत्न करता है । वह तीन प्रकार से उस अर्थ लाभ को करता है - 1. नित्यपरीक्षा - प्रतिदिन उनके कर्त्तव्य पर कड़ी दृष्टि रखने से एवं कठोर दण्ड देने से । 2. कर्म विपर्ययः - अपराध प्रत्यक्ष होने पर उसे उच्च पद से निम्न पद पर नियुक्त कर । क्योंकि पदच्युति के भय से घूस लेंगे नहीं और लिया भी तो राजकोष में जमा करा देंगे। 3. प्रतिपत्तिदान - अधिकारियों को छत्र, चमरादि बहुमूल्य वस्तुएँ भेंट में देना, जिससे वे प्रसन्न होकर स्वामी को रिश्वत का धन बता देंगे ।। इस प्रकार के उपायों से राजा रिश्वत का धन निकलवा सकता है। गुरु विद्वान ने भी कहा है :-

छिद्रान्वेषणतो लाभो नियोगिजनसम्भवः ।
अधिकारविपर्यासात् प्रतिपत्तेस्तथापरः ।।1।।55।।

अधिकारी जन दुष्ट पके सड़े फोड़े की भाँति होते हैं । जिस प्रकार पके फोड़े को दबाये बिना उसका मल-पीवादि बाहर नहीं निकलता उसी प्रकार अधिकारीजन ताड़न, बन्धन आदि बिना घर में स्थापित घूस के धन को नहीं बताते हैं । जिस प्रकार दूषित फोड़े को शस्त्रादि से छेदन-भेदन करने से उसका पीव-रक्तादि बाहर निकलता है । उसी प्रकार दुष्ट राज कर्मचारियों को भी ताड़ना देने से ही रिश्वत से संचित धन निकलता है ।। अतः राजा को दण्ड प्रयोग करना चाहिए ।।56।। नीतिकार चाणक्य ने भी कहा है :-

शान्त्याधिकारिणो वित्तमन्तः सारं वदन्ति नो ।
निपीड्यन्ते न ते यावद्गाढं दुष्टव्रणा इव ।।1।।

वही अर्थ है ।

संसार में प्रत्येक व्यक्ति पदाधिकारी रहना चाहता है । पदच्युति से तो वह और अधिक आकुलित होता है।

अतः राजा बार-बार जब उच्चपदाधिकारियों को नीचे पद पर आसीन करता है तो वे पदच्युति के भय से रिश्वत का धन आसानी से प्रदान करते हैं । यह उपाय राजा को धनवर्षण है ।।57॥

मलीन वस्त्र को एक बार धोने से वह मलिनता नहीं छोड़ सकता । उसे बार-बार धोना आवश्यक है । इसी प्रकार रिश्वत का धन शीघ्र नहीं त्यागा जाता है । वस्त्र को पछाड़ कर या डण्डे से कूटने पर वह अपनी मलिनता को त्यागता है । इसी प्रकार राजा द्वारा बार-बार कठिन दण्ड दिये जाने पर अधिकारी-राजकर्मचारी वर्ग रिश्वत से संचित धन का परित्याग करने में प्रवृत्त होते हैं । अतः राजा को दण्ड देने में उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ।। शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

यथाहि स्नानजं वस्त्रं सकृत् प्रक्षालितं न हि ।
निर्मलं स्यान्नियोगी च सकृद् दण्डे न शुद्धयति ।।1॥

राजा के राज्य की सुरक्षा व वृद्धि अमात्य, सचिवादि पर निर्भर करती है । जो अधिकारी (अमात्यादि) देश को पीड़ित नहीं करता अर्थात् अनुचित, अयोग्य अधिक चुंगी, टैक्स द्वारा प्रजा को कष्ट नहीं देता और अपनी बुद्धिपटुता, उद्योगशील-चातुर्य द्वारा राष्ट्र के पूर्व व्यवसाय, व्यवहार को विशेष समुन्नत करता है वह देश, प्रजा, सुख-शान्ति प्राप्त कर सकता है। अर्थात् राष्ट्र सम्बन्धी कृषि, वाणिज्य, आदि की उत्तरोत्तर वृद्धि का उपाय करने में तत्पर रहता है तो देश में दारिद्रतादि उत्पन्न नहीं होते । इससे उसे धनादि के साथ प्रतिष्ठा सम्मान प्राप्त होता है ।।59॥ इस विषय में शुक्र ने भी कहा है :-

यो देशं रक्षयन् यत्नात् स्व बुद्धया पौरुषेण च ।
निबन्धान् वर्द्धयेद्राज्ञः सवित्तं मानमाप्नुयात् ।।1॥

अभिप्राय उपर्युक्त है ।

नियुक्ति, उपयोगी गुण, समर्थन व अधिकारी का कर्त्तव्य :-

यो यत्र कर्मणि कुशलस्तं तत्र विनियोजयेत् ।।60॥ न खलु स्वामिप्रसादः सेवकेषु कार्य सिद्धि निबन्धनं किन्तु बुद्धि पुरुषकारावेव ।।61॥ शास्त्रविदप्यदृष्ट कर्मा कर्मसु विषादं गच्छेत् ।।62॥ अनिवेद्यभर्तुं नं किंचिदारम्भं कुर्यादन्य त्रापत्प्रतीकारेभ्यः ।।63॥

अन्वयार्थः- (यः) जो (यत्र) जहाँ (कर्मणि) कार्य करने में (कुशलः) चतुर हो (तम्) उसे (तत्र) वहीं (विनियोजयेत्) नियुक्त किया जाय ।।60॥ (खलु) निश्चय से (स्वामी प्रसादः) राजा की प्रसन्नता (सेवकेषु) सेवकों की (कार्यसिद्धिः) सफलता की (निबन्धनम्) कारण (न) नहीं (किन्तु) परन्तु (बुद्धिः) विवेक (एवं) और (पुरुषकारः) पुरुषार्थ (एव) ही है ।।61॥ (शास्त्रविद्) ज्ञानी (अपि) भी (अदृष्टकर्मा) अपरिचित (कर्मसु) कर्मों में (विषादम्) कष्ट को (गच्छेत्) प्राप्त करता है ।।62॥ भृगु विद्वान ने भी कर्त्तव्य हीन अधिकारी के विषय में लिखा है । (भर्तुः) राजा को (अनिवेद्य) ज्ञात कराये बिना (किंचिद्) कुछ भी (आरम्भम्) प्रारम्भ (न) नहीं (कुर्यात्) करे (आपत्) आपत्ति (प्रतिकारेभ्यः) का विरोध (अन्यत्र) सिवाय ।।63॥

विशेषार्थ :- जो अधिकारी जिस पद के कर्त्तव्य का पालन करने में कुशल हो उसे उसी कार्यविभाग में नियुक्त करना चाहिए ।। तभी उसे सफलता और कार्य निर्विघ्न सिद्धि होना संभव हो सकता है ।।60॥ कर्मचारी चाहे कि राजा को प्रसन्न करने मात्र से अपने कार्य में सफलता प्राप्त हो जायेगी, तो यह सुनिश्चित नहीं है । अपितु स्वयं उस कार्य में कुशलता, बुद्धिप्रयोग और पुरुषार्थ-उद्योग गुणों का होना भी अनिवार्य है । तभी वह सफल हो सकता है ।।61॥ शास्त्रज्ञ पुरुष भी जिस कार्य से अनभिज्ञ होते हैं उनमें कर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं । मोहभाव-अज्ञानभाव को प्राप्त हो जाते हैं ।। अतएव अपने-अपने विषय में दक्षता अनिवार्य है ।।62॥ भृगुविद्वान ने भी कहा है :-

येन यन्न कृतं कर्म सं तस्मिन् योजितो नृपैं ।
नियोगी मोहमायाति यद्यपि स्याद्विचक्षणः ।।1॥

उपर्युक्त ही अर्थ है ।

यदि असह्य संकट आ पड़े तो राजा के परामर्श बिना भी किया जा सकता है । अकस्मात् आपत्ति के सिवाय कोई भी कार्य भूपति की आज्ञा बिना या उसे विदित कराये बिना नहीं करना चाहिए । अर्थात् युद्धकालीन शत्रुकृत उपद्रवों का नाश सेवक को स्वामी से बिना पूछे कर लेना चाहिए इसके अतिरिक्त कार्य स्वामी की आज्ञा बिना कभी भी नहीं करने चाहिए ।।63॥ भागुरि विद्वान ने कहा है :-

न स्वामि वचनात् वाह्यं कर्म कार्यनियोगिना ।
अपि स्वल्पतरं यच्च मुक्त्वा शत्रु समागमम् ।।1॥

भाव ऊपर ही है ।

सहसा धन लाभ होने पर राजकर्त्तव्य, अधिक मुनाफाखोरों के प्रति राजकर्त्तव्य व अधिकारियों में परस्पर कलह से लाभ :-

सहसोपचितार्थो मूलधनमात्रेणावशेषयितव्यः ।।64॥ मूलधनाद् द्विगुणाधिको लाभो भाण्डोत्थो यो भवति स राज्ञः ।।65॥ परस्पर कलहो नियोगिषु भूभुजां निधिः ।।66॥

अन्वयार्थ :- (सहसा) अचानक (उपचितः) प्राप्त (अर्थः) धन (मूलधन) पूर्वधन (मात्रेण) मात्र से (अवशेषयितव्यः) कोष में मिलाना चाहिए ।।64॥ (मूलधनात्) मूलधन से (द्विगुणः) दूने से (अधिकः) ज्यादा (भाण्डोत्थः) भाण्डा-बर्तन बेचने (लाभः) नफा (यः) जो (भवति) होता है (सः) वह (राज्ञः) राजा का है ।।65॥ (नियोगिषु) अधिकारियों में (परस्पर कलहः) विसंवाद (भूभुजाम्) राजाओं की (निधिः) सम्पदा है ।।66॥

यदि लावारिस के मरने पर उसका विशेष धन सहसा प्राप्त होने पर या और भी अन्य निमित्तों से धनार्जन हो तो उसे अपने राजकोष में स्थापित कर राजा को कोष वृद्धि करना चाहिए ।। अत्रि विद्वान ने भी अधिकारियों से प्राप्त हुई भाग्याधीन सम्पत्ति के विषय में इसी प्रकार कहा है :-

अचिन्तितस्तु लाभो यो नियोगाद्यस्तु जायते ।
स कोषे संनियोज्यश्च येन तच्चाधिकं भवेत् ।।64।।

व्यापारी बर्तन विक्रय करने को आते हैं । वे असली मूल्य से दुगुणा मूल्य पर्यन्त बेचें तो कोई बात नहीं, परन्तु इससे अधिक मूल्य लें तो उसे राजा जब्त कर ले । क्योंकि इससे अधिक मुनाफा व्यापारीजन चोरी, धोखेबाजी व अन्याय बिना नहीं ले सकते हैं । अन्याय का दमन करना राजा का कर्त्तव्य है ।।65॥ शुक्र का भी यही अभिप्राय है :-

यदि मूलधनाद् कश्चित् द्विगुणाभ्यधिकं लभेत् ।
तत्तस्य मूलाद्विगुणं दत्त्वा शेषं नृपस्य हि ।।1।।

द्विगुण नफा-लाभ तक क्षम्य है इससे अधिक को राजा ग्रहण कर सकता है ।।65॥

यदि कारणवश राज्याधिकारियों में परस्पर कलह-फूट हो जाय तो यह राजा के लिए सम्पदा है । कारण "घर का भेदी लंका ढाये" आपस में लड़ने से वे एक दूसरे के दोषों को प्रकट कर देते हैं । राजा को उनके अन्याय से संचित धन का लाभ होता है क्योंकि भंडा-फोड़ हो जाने से राजा दण्डित करेगा इस भय से स्वयं ही चट-पट बतला देते हैं । अत: राजा को सहज ही दोनों ओर से अर्थोपलब्धि सुलभता से प्राप्त हो जाती है ।।66॥ गुरु विद्वान ने भी यही कहा है :-

नियागिनां मिथो वादो राज्ञां पुण्यैः प्रजायते ।
यतस्तेषां विवादे च लाभः स्याद् भूपतेर्बहुः ।।1॥

अर्थ उपर्युक्त ही समझना चाहिए।

धनाढ्य अधिकारियों से लाभ, संग्रहयोग्य मुख्य वस्तु धान्य संचय का फल :-

नियोगिषु लक्ष्मीः क्षितीश्वराणां द्वितीयः कोशः ।।67॥ सर्व संग्रहेषु धान्य संग्रहो महान् ।। यतस्तन्त्रिनबन्धनं जीवितं सकलप्रयासश्च ।।68॥ न खलु मुखे प्रक्षिप्तः खरोऽपि द्रम्भः प्राण त्राणाय यथा धान्यम् ।।69॥ सर्वधान्येषु चिर जीविनः कोद्रवाः ।।70॥

अन्वयार्थ :- (नियोगिषु) अधिकारियों की सम्पदा (लक्ष्मीः) सम्पत्ति (क्षितीश्वराणाम्) राजाओं का (द्वितीय) दूसरा (कोशः) कोष-खजाना है ।।67॥ नारद विद्वान ने भी लिखा है - यैव भृत्यगता संपत् सैव सपन्महीपतेः ।

यतः कार्ये समुत्पन्ने निः शेषस्तां समानयेत् ।।1॥ वही अर्थ है ।

विशेषार्थ :- अधिकारियों की सम्पदा राजा का द्वितीय कोष समझना चाहिए । क्योंकि अकस्मात् संकटकाल उपस्थित होने पर वे राजा को प्रदान कर सहायता करते हैं ।।67॥

(सर्वसंग्रहेषु) संचित योग्य वस्तुओं में (धान्यसंग्रहः) अनाज संचय (महान्) उत्तम, (यतः) क्योंकि

(जीवितम्) जीवन का (निबन्धनम्) कारण (च) और (सकलप्रयासः) सम्पूर्ण प्रयास है ।।68॥

विशेषार्थ :- संसार में सञ्चित करने योग्य पदार्थों में सर्वोत्तम धान्य का संग्रह करना है । क्योंकि अन्न प्राणों का आधार है । जीवन निर्वाह का साधन है । इसके लिए मनुष्यों को कृषि आदि के कठोर कष्ट उठाने पड़ते हैं । भृगु का उद्धरण भी यही बताता है कि :-

सर्वेषां संग्रहाणां च शस्योऽन्नस्य च संग्रहः ।
यतः सर्वाणि भूतानि विलस्यन्ति च तदर्थतः ।।1।।68॥

अन्वयार्थ :- (खलु) निश्चय से (मुखे) मुख में (प्रक्षिप्तः) डाला (खरः द्रम्मः) सुवर्ण का सिक्का (प्राण त्राणाय) प्राण रक्षण (न) नहीं करता है ।।69॥ (यथा) जैसे विशेष :- (धान्यम्) अन्वन ।।

अर्थः- मुख में सोने का सिक्का भी रख दिया जाय तो प्राणरक्षा नहीं कर सकता । जिस प्रकार कि अन्न प्राणों का संरक्षण करता है ।। अतः सुवर्णादि से भी अधिक मूल्य अन्न का है । गर्ग ने भी कहा है :-

प्रभूतैरपि नो द्रव्यैः प्राणत्राणं विधियते ।
मुखे क्षिप्ते यथन्नेन स्वल्पेनापि विधीयते ।।1।।69॥

अन्वयार्थ :- (सर्वधान्येषु) समस्त अन्नों में (कोद्रवाः) कोदों (चिरजीविनः) सदैव रहने वाला धान्य [अस्ति]।

अन्य सभी धान्य घुन जाते हैं । परन्तु कोदों कितना ही पुराना होने पर भी घुनता नहीं है । अतः इसे चिरस्थायी माना जाता है । इसका संग्रह करना चाहिए ।।70॥ भारद्वाज विद्वान का भी इस विषय में यही अभिप्राय है :-

तुष धान्यानि सर्वाणि को द्रवप्रभृतीन् च ।
चिरजीवीनि तान्याहुस्तेषां युक्तः सुसंग्रहः ।।1॥

आगे संचित धन का उपयोग, प्रधान व संग्रह करने योग्य रस व लवण का महत्व बताते हैं :-

अनवं नवेन वर्द्धयितव्यं व्ययितव्यं च ।।71॥ लवण संग्रहः सर्वरसानामुत्तमः ।।72॥ सर्वं रस प्रथमप्यन्नमलवणं गोमायते ।।73॥

विशेषार्थ :- पुराना संचित धान्य ब्याजूना (फसल के मौके पर कृषकों को बाड़ी में देना) देकर बदले में नवीन धान्य कीआय द्वारा वृद्धिंगत करना चाहिए । और ब्याज द्वारा प्राप्त धान्य व्यय-खर्च करते रहना चाहिए । जिससे कि मूलधन की हानि न हो सके ।।71॥ वशिष्ठ विद्वान ने भी कहा है :-

अनवं यद्भवेत् सस्यं तन्नवेन विवर्द्धयेत् ।
वृद्धया प्राप्तो भवेद्यस्तु तस्य कार्यो व्ययो बुधैः ।।1॥

अन्वयार्थ :- (सर्व रसानाम्) सभी रसों में (लवण संग्रहः) नमक का सञ्चय करना (उत्तमः) उत्तम [अस्ति] है ।।72।। (सर्वरसमयम्) सर्वरस युक्त (अपि) भी (अन्नम्) भोजन (अलवणम्) नमक बिना (गोमयायते) गोबर सम होता है ।।73।।

विशेषार्थ :- घृत, दधि, शर्करादि रसों में नमक का संग्रह करना उत्तम है । अतः विवेकी पुरुष को उसी का संग्रह करना चाहिए । नमक का महत्व भोजन में विशिष्ट होता है । घी, शर्करा, तैलादि रसों से निर्मित नाना व्यञ्जन तैयार होने पर भी वे सभी नमक के अभाव में गोबर के समान हो जाते हैं ।।72।।73।। हारीत विद्वान ने भी यही अभिप्राय व्यक्त किया है :-

स्याद्रसैः पञ्चभिर्युक्तं लवणेनोज्झितं यदि ।
जिह्वा तद्गोभयास्वादं गृहीत्वा रुचिमाप्नुयात् ।।1।।

"।। इति अमात्य समुद्देश।।"

इति श्री परम पूज्य प्रातः स्मरणीय विश्ववंद्य चारित्र चक्रवर्ती मुनिकुञ्जर सम्राट् आचार्य वीतरागी, श्री आदिसागर जी महाराज (अंकलीकर) के पट्टाधीश तीर्थ भक्त शिरोमणि, समाधिसम्राट् आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी संघस्था, परम पूज्य सन्मार्ग दिवाकर कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज की प्रमुखशिष्या 105 प्रथम गणिनी आर्यिका विजयामती ने हिन्दी विजयोदय टीका में 18 वां समुद्देश, परम पूज्य भारत गौरव, तपस्वी सम्राट, सिद्धान्त चक्रवर्ती, अंकलीकर के तृतीय पट्टाधीश श्री सन्मति सागर जी के पावन चरण सानिध्य में सम्पूर्ण किया ।।

"शुभमस्तु, शान्तिरस्तु पुष्ठिरस्तु"

इति

19

अथ जनपद-समुद्देश

देश के विविध नाम और उनकी सार्थकता

पशुधान्यहिरण्य सम्पदा राजते इति राष्ट्रम् ।।1 ॥ भर्तुर्दण्ड कोशवृद्धिं दिशतीति देशः ।।2 ॥ विविध वस्तुप्रदानेन स्वामिनः सद्मनि गजान् वाजिनश्च विषिणोति बध्नातीति विषयः ।।3 ॥ सर्वकामधुक्त्वेन नरपति हृदयं मण्डयति भूषयतीति मण्डलम् ।।4 ॥ जनस्य वर्णाश्रमलक्षणस्य द्रव्योत्पत्तेर्वा पदं स्थानमिति जनपदः ।।5 ॥ निजापतेरुत्कर्ष जनकत्वेन शत्रु हृदयानि दारयति भिनत्तीति दारकम् ।।6 ॥ आत्म समृद्धया स्वामिनं सर्व व्यसनेभ्यो निर्गमयतीति निर्गमः ।।7 ॥

अन्वयार्थ :- [जहाँ] जिस देश में (पशु,धान्य-हिरण्य) चौपाये, अन्न व चाँदी (सम्पदा) सम्पत्ति (राजते) शोभित हो (इति) यह (राष्ट्रम्) "राष्ट्र" [अस्ति] है ।।1 ॥ (भर्तुः) स्वामी के (दण्डकोशवृद्धिम्) सैन्य कोष वृद्धि को (दिशति) देता है (इति) वह (देशः) देश है ।।2 ॥ (विविध) अनेक (वस्तु) पदार्थ (प्रदानेन) देकर (स्वामिनः) राजा के (सद्मनि) महल में (गजान्) हाथियों को (च) और (वाजिनः) अश्वों को (विषीणोत) विषय बनाता है (बध्नाति) बांधता है (इति) इसे (विषयः) विषय कहा है ।।3 ॥ (सर्व) सम्पूर्ण (कामधुक्) कामधेनू (त्वेन) पने से (नरपति हृदयम्) राजा के हृदय को (मण्डयति) सजाता है (इति) इससे (मण्डलम्) मण्डल है ।।4 ॥ (जनस्य) मनुष्य के (वर्णाश्रमलक्षणस्य) वर्णाश्रम के स्वरूप का (वा) अथवा (द्रव्योत्पत्तेः) द्रव्य की उत्पत्ति का (पदम्) पद (स्थानम्) स्थान (इति) इससे (जनपदः) जनपद है ।।5 ॥ (निजापतेः) अपने स्वामी के (उत्कर्षजनकत्वेन) उत्थान करने से (शत्रुहृदयानि) अरि मन को (दारयति) पीड़ित करता है (भिनत्ति) भेदता है (इति) इससे (दारकम्) "दारक" कहलाता है ।।6 ॥ (आत्मसमृद्धया) स्वयं अभिवृद्धि द्वारा (स्वामिनम्) राजा को (सर्व व्यसनेभ्यो) समस्त संकटों से (निर्गमयति) निकालता है (इति) इससे (निर्गमः) निर्गम है ।।7 ॥

विशेषार्थ :- देश गाय, भैंस, अश्व, गजादि, चौपायों आदि धन एवं जो, गेहूँ, मौठ, मटर, चावल आदि धान्यों से सुशोभित रहता है इसलिए इसे "राष्ट्र" कहते हैं ।।1 ॥ भागुरि ने कहा है :-

पशुभिर्विविधैधान्यैः कुप्यभाण्डैः पृथग्विधैः ।
राजते येन लोकेऽत्र तद्राष्ट्रमिति कीर्त्यते ।।1 ॥

अर्थात् पशु, धान्य, धन-खनिज-लोहा, तांबा, बर्तन, धातु बर्तनों से शोभायमान होने से "राष्ट्र" संज्ञा प्राप्त करता है ।।1॥

यह देश-को स्वामी को, सैन्य, कोषादि की वृद्धि प्रदान करता है अतः "देश" कहलाता है । शुक्र विद्वान ने भी कहा है :- ॥3॥

स्वामिनः कोशवृद्धिं च सैन्यवृद्धिं तथा परम् ।
यस्माद्दिशति नित्यं स तस्माद्देश उदाहृतः ।।1॥

उपर्युक्त ही अर्थ है ।

चूंकि स्वामी को नाना प्रकार के सुवर्ण, माणिक, धान्यादि प्रदान कर राजप्रासाद में हाथी, घोड़े, रथादि अनेक एकत्रित करता है अतः इसे "विषय" कहते हैं । जैसा शुक्र ने कहा है :-

विविधान् वाजिनो गाश्च स्वामि सद्मनि नित्यशः ।
स्त्रिनोति च यतस्माद्विषयः प्रोच्यते बुधैः ।।1॥

व्याख्या वही है ।3॥

देश राजा को कामधेनू के सदृश समस्त मनोरथों को प्रदान करता है । सुख शान्ति से हृदय को अलंकृत करता है, भूषित करता है । अतः इसे "मण्डल" कहते हैं ।4॥ यथा :-

सर्वकाम समृद्धया च नृपतेर्हृदयं यतः ।
मण्डनेन समा युक्तं कुरुतेऽनेन मण्डलम् ।।1॥

शुक्र विद्वान ।। अर्थ उपर्युक्त ही है।

देश-वर्ण-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र और आश्रम-ब्रह्मचारी, वाणप्रस्थ, गृहस्थ और यति में वर्तमान प्रजाजनों का निवास स्थान अथवा सम्पत्ति का उत्पत्ति स्थान होने से "जनपद" संज्ञा को प्राप्त करता है । शुक्र विद्वान ने भी "जनपद" का यही अर्थ किया है :-

वर्णाश्रमाणां सर्वेषां द्रव्योत्पत्तिश्च वा पुनः ।
यस्मात् स्थानं भवेत् सोऽत्र तस्माज्जनपदः स्मृतः ।।1॥

देश अपने स्वामी की सर्वाङ्गीण उन्नति कर शत्रु राजाओं के हृदय को विदीर्ण करता है इस कारण इसे "दारक" कहते हैं ।6॥ जैमिनी विद्वान ने कहा है :-

भर्तुरुत्कर्षदानेन शत्रूणां हृदयं यतः ।
दारका दारयन्तिस्म प्रभूता दारकं ततः ।।1॥

यद देश अपने धनादि वैभव द्वारा स्वामी को समस्त व्यसनों संकटों से रक्षित करता है इसलिए इसे विद्वानों

ने "निर्गम" कहा है ।17॥ शुक्र विद्वान ने लिखा है :-

मोचापयति यो वित्तैर्निजैः स्वामिनमात्मनः ।
व्यसनेभ्यः प्रभूतेभ्यो निर्गमः स इहोच्यते ।।1॥

अर्थ वही है ।17॥

देश के गुण व दोष :-

अन्योन्य रक्षकः खन्याकर द्रव्य नाग धनवान् नातिवृद्ध नातिहीनग्रामो बहुसार विचित्रधान्य हिरण्य पण्योत्पत्तिरदेवमातृकः पशुमनुष्यहितः श्रेणिशूद्रकर्षक प्राय इति जनपदस्य गुणाः ।18॥ विषतृणोदकोषर पाषाण कण्टक गिरिगर्त्त गह्वर प्रायभूमिभूरिवर्षा जीवनोव्याल-लुब्धकम्लेच्छ बहुलः स्वल्प सस्योत्पत्तिस्तरुफलाधार इति देश दोषाः ।19॥ तत्र सदा दुर्भिक्षमेव, यत्र जलद जलेन सस्योत्पत्तिरकृष्ट-भूमिश्चारम्भः ।।10॥

अन्वयार्थ :- (अन्योऽन्य रक्षकः) एक दूसरे की रक्षा (खनि) खान (आकर) रुपया-पैसादि का खजाना (द्रव्य) पदार्थ (नाग) शीशा (धनवान्) खनिज पदार्थों से धनाढ्य (अतिवृद्धः) अत्यन्तवृद्ध (न) नहीं (न अतिहीनः) न हीन (ग्रामाः) ग्राम (बहुसार) सारभूत (विचित्र) नाना प्रकार (धान्य) अन्न (हिरण्य पण्योत्पत्ति) चाँदी व विक्रिय वस्तुओं की उत्पत्ति (अदेवमातृकाः) मेघापेक्षारहित (पशुमनुष्यहितः) पशु व मनुष्य के हितकर (श्रेणिशूद्रकर्षकप्रायः) खेती सिंचाई के साधन हों (इति) ये (जनपदस्य) जनपद के गुण हैं ।18॥ (विषम्) विष (तृणः) घास (उदकम्) जल (ऊषरा) बंजर (पाषाणः) पथरीला (कण्टकः) कांटे (गिरिः) पर्वत (गर्तः) गड्ढे (गह्वर) गुफा (प्रायः) अधिक रूप में (भूमिः) पृथ्वी (भूरिवर्षा) अधिक वर्षा से (जीवनः) फलती हो (व्यालः) सर्प (लुब्धकः) लोभी (म्लेच्छः) म्लेच्छ (बहुलः) अधिक हों (स्वल्पसस्यः) धान्योत्पत्तिअल्प (उत्पत्ति) होना (तरुः) वृक्ष (फलाधारः) फलों के आधार (इति) इस प्रकार (देशदोषाः) देश के दोष हैं ।19॥ (तत्र) वहाँ (सदा) हमेशा (दुर्भिक्षम्) दुष्काल (एव) ही (यत्र) जहाँ (जलद) बादल (जलेन) जल द्वारा (सस्योत्पत्तिः) धान्योत्पन्न हो (च) और (अकृष्टभूमिः) बिना जोते भूमि में (आरम्भः) खेती की जाती है ।।10॥

विशेषार्थ :- देश के निम्न गुण होते हैं - 1. प्रजा में परस्पर एक दूसरे का रक्षण करने का स्वभाव होना अथवा राजा देश की और देश-प्रजा राजा की रक्षा करे । 2. सुवर्ण, चाँदी, रत्न, हीरा, लौह, तांबा की खानों का होना, गंधक, नमक आदि खनिज पदार्थों की उत्पत्ति प्रचुर मात्रा में होती है, एवं रुपया, अशर्फी आदि तथा हाथी, बाजी, गो आदि धन परिपूर्ण हो । 3. ग्रामों की संख्या न बहुत अधिक हो और न कम ही हो, 4. जहाँ पर विविध प्रकार के आभरण, खनिज पदार्थ, अन्न नानाभांति के पशु आदि का व्यापार प्रचुर मात्रा में पाया जाता हो, 5. जो मेघ जल की अपेक्षा नहीं रखता हो, अर्थात् सिंचाई के साधन कूप, चरस, मशीन, ट्यूबैल आदि साधन हों । 6. मनुष्य और पशु जहाँ सुखपूर्वक निवास करते हों । ये सर्व एवं जहाँ पर लुहार, बढ़ई, चमार, नाई, धोबी आदि शिल्प शूद्र, छिपी, रंगरेज आदि, मशीन, कारखाने आदि हों वह देश सुख-सम्पन्न रहता है । ये सर्व देश के गुण हैं । इन गुणों से युक्त ही देश समृद्ध होता है ।18॥

इसी प्रकार देश के दोष भी निम्न प्रकार हैं :- जिनसे यह देश दुःखी रहता है :- 1. जिसका घास, पानी,

रोगजनक होने से विष समान हानिकारक हो, 2. जहाँ की भूमि ऊषर-घास-अन्न की उपज से रहित हो, 3. जहाँ की पृथ्वी विशेष पथरीली, अधिक कंटकाकीर्ण तथा अधिक पर्वत, असम गर्म और गुफाओं से व्याप्त हो, 4. जहाँ पर बहुत सी जलवृष्टि द्वारा प्रजाजनों का जीवन (धान्य की उपज) होती हो 5. जहाँ पर बहुलता से सर्प, भील और म्लेच्छों का निवास हो, 6. जिसमें थोड़ी-सी धान्य (अन्न) उत्पन्न होती है, 7. जहाँ के लोग धान्य की उपज कम होने के कारण वृक्षों के फलों द्वारा अपना जीवन निर्वाह करते हों ।।9॥ ये सर्व देश के दोष हैं ।।

जिस देश में बिना मेघों के कृषि करने की व्यवस्था हो, कर्षणक्रिया के बिना फसल उत्पन्न होती हो, अर्थात् जहाँ कछवारों की पथरीली भूमि में बिना हल जोते ही बीज बखेर दिये जाते हैं । वहाँ सतत् अकाल बना रहता है क्योंकि ऊसर-बंजर भूमि में बीज जमता नहीं, वर्षा भी यथासमय, यथोचित प्रमाण में नही होती । कोई निश्चय ही नहीं रहता समय पर वर्षा होने का । कांटे-भाटे से भरी भूमि में किस प्रकार, कितना अन्न हो सकता है ? नहीं के बराबर । अतः ऐसे देश में अकाल होना स्वाभाविक है ।।10॥ गुरु विद्वान के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है :-

मेघजेनाम्मसा यत्र सस्यं च नरैष्मिकम् ।
सदैव तत्र दुर्भिक्षं कृष्यारम्भो न यत्र च ।।1॥

अर्थ ऊपर प्रमाण है ।।10॥

क्षत्रिय व वैश्यों की अधिक संख्या वाले ग्रामों से क्षति व स्वदेशी एवं परदेशी के प्रति राज्य का कर्त्तव्य निर्धारण :-

क्षत्रियप्राया हि ग्रामाः स्वल्पास्वपि बाधासु प्रतियुद्धयन्ते।।11॥ म्रियमाणोऽपि द्विजलोको न खलु सान्त्वेन सिद्धमप्यर्थं प्रयच्छति।।12॥ स्वभूमिकं भुक्तपूर्वमभुक्तं वा जनपदं स्वदेशाभिमुखं दानमानाभ्यां परदेशादावहेत् वासयेच्च।।13।। पाठान्तर- भूमिकं भुक्तपूर्वं वा जनपदं स्वदेशाभिमुख्यं दानमानाभ्यां परदेशोपवाहनेन वा वासयेत् ।।13॥

अन्वयार्थ :- (क्षत्रियप्रायाः) अधिक क्षत्रियों से युक्त (ग्रामाः) ग्राम (हि) निश्चय से (स्वल्पासु) अल्प भी (बाधासु) बाधा, विघ्न होने पर (अपि) भी (प्रतियुद्धयन्ते) परस्पर युद्ध करते हैं ।।11॥ (द्विजलोकाः) ब्राह्मण (म्रियमाणाः) मरने पर (अपि) भी (खलु) निश्चय से (सान्त्वेन) शान्ति से (सिद्धम्) न्यायोक्त (अपि) भी (अर्थम्) टैक्स आदि धन (न) नहीं (प्रयच्छति) देते हैं ।।12॥ (स्वभूमिकम्) अपना कर (भुक्तपूर्वम्) पहले चुकाया (वा) अथवा (अभुक्तम्) न चुकाया (जनपदम्) जनपद को (स्वदेशाभिमुखम्) अपने देश के अनुकूल (दानमानाभ्याम्) दान व सम्मान से (परदेशात्) विदेश से (आवहेत्) बुलाये (च) और (वासयेत्) निवास प्रदान करे ।।13॥

विशेषार्थ :- जिन ग्रामों में सुभट वीर, योद्धा, क्षत्रिय अधिक संख्या में हों-अर्थात् निवास करते हैं तो छोटी-छोटी सी बातों में या तिरस्कारादि होने पर तलवारें तान लेते हैं । बराबर युद्ध चालू रखते हैं आपस में लड़ मरते हैं ।।11॥ शुक्र विद्वान ने भी क्षत्रिय विशेषों के विषय में लिखा है :-

वसन्ति क्षत्रिया येषु ग्रामेष्वतिनिरर्गलाः ।
स्वल्पापराधतोप्येव तेषु युद्धं न शाम्यति ।।1॥

उपर्युक्त प्रकार ही अर्थ समझना चाहिए ।।11॥

जिस गांव में ब्राह्मणों की संख्या अधिक होती है वहां भी राजा को विशेष दण्ड-विधान करना पड़ता है। कारण कि ब्राह्मण स्वभाव से अतिलुब्धक होते हैं । जायज-नीतियुक्त टैक्स कर भी सरलता से नहीं देते । दण्डविधान बिना शान्त नहीं होते । अतः अधिक ब्राह्मणों का निवास भी कष्टप्रद है ।।12॥ शुक्र ने कहा है :-

ब्राह्मणै र्भक्षितो योऽर्थो न स सान्त्वेन लभ्यते ।
यावन्न दण्डपारुष्यं तेषां च क्रियते नृपैः ।।1॥

वही अर्थ है ।।12॥

राजा का कर्त्तव्य है कि वह परदेश में प्राप्त हुए अपने देशवासी पुरुषों को जिनसे पूर्व में टैक्स करादि ग्रहण किया है अथवा नहीं भी किया है, उन्हें दान सम्मान द्वारा वश में करे । तथा अपने देश में निवास स्थान प्रदान करे । सारांश यह है कि अपने देशवासी शिष्ट पुरुषों को विदेश से बुलाकर अपने देश में बसाने से राष्ट्र की जनसंख्या वृद्धि, व्यापारिक उद्योग उन्नति, राजकोषवृद्धि, गुप्त रहस्यों का संरक्षण आदि अनेक लाभ होते हैं । जिनके फलस्वरूप राज्य की श्रीवृद्धि होती है, राज्य में अमन चैन रहता है ।।13॥ शुक्र विद्वान का कथन-

परदेशगतं लोकं निजदेशे समानयेत् ।।
भुक्तपूर्वमभुक्तं वा सर्वदैव महीपतिः ।।1॥

पाठान्तर का अर्थ यह है कि राजा परदेसवासी व उपद्रवकारी मनुष्य को जो कि इसके देश में रहना चाहता है, दानमानपूर्वक दूसरे देश में भेज देवें । क्योंकि ऐसा करने से प्रजा परदेसवासी प्रजा के उपद्रवों से सुरक्षित रहती है ।।13॥

स्वल्पोऽ(पि) प्यादायेषु प्रजोपद्रवो महान्तमर्थं नाशयति ।।14॥ पाठान्तर-स्वल्पोऽपि राष्ट्रेषु पर प्रजोपद्रवो महान्तमर्थं नाशयति ।।14॥ क्षीरिषुकणिशेषु सिद्धादायो जनपदमुद्वासयति ।।15॥ लवनकाले सेनाप्रचारो दुर्भिक्षमावहति ।।16॥

विशेषार्थ :- प्रजा तनिक भी अन्याय सहन नहीं कर सकती । अपितु उसे महान आर्थिक हानि होती है। राजा यदि आवश्यकता या नियम से विरुद्ध अधिक टैक्स लेता है तो जनता उसके विरोध में खड़ी होकर व्यापारादि ही बन्द कर देगी । आयात निर्यात के साधनों के अभाव में छल, कपट, असत्य प्रक्रिया प्रारम्भ कर देंगे, । अतः राजा का न्याय युक्त शासन होना चाहिए ।।14॥ अतः गुरु विद्वान ने भी यही कहा है-

जो राजा लगान न देने से कुपित हो अपनी कृषकप्रजा की अर्द्धपक्व खेती को कटवा ले और उन्हें अन्य देश में जाने को बाध्य करे तो कृषक और राजा दोनों ही आर्थिक संकट भोगते हैं । दुर्भिक्ष हो जाता है । अतः राजा को इस प्रकार जनपद को, कृषकों को अन्याय का शिकार नहीं बनाना चाहिए ।।15॥

शुक्र विद्वान ने भी यही कहा है :-

क्षीर युक्तानि धान्यानि यो गृहणाति महीपतिः ।
कर्षकाराणां करोत्यत्र विदेशगमनं हि सः ।।1॥

क्षीरयुक्त अर्थात् कच्चे धान्यादि को जो राजा ग्रहण कर लेता है और बेचारे किसानों को विदेश गमन करा देता है उसके राज्य में असंतोष और दुःख व्याप्त होता है ।।1॥ लवणकाले अर्थात् फसल काटने के समय यदि राजा अपने हाथी, घोड़े, रथ, पयादे आदि सेना को खेतों के मध्य से प्रयाण कराता है-गमनागमन कराता है तो नियम से वह दुर्भिक्ष को निमन्त्रण देता है क्योंकि सेना धान्य फसल का सत्यानाश कर देगी । जिससे अन्नाभाव-दुर्भिक्ष सुनिश्चित है । अतः राजा को विवेकशील दूरदर्शी होना चाहिए ।। जैमिनि विद्वान ने भी कहा है :-

सस्यानां परिपक्वानां समये यो महीपतिः ।
सैन्यं प्रचारयेत्तच्च दुर्भिक्षं प्रकरोति सः ।।1॥

उपर्युक्त ही अर्थ है ।।16॥

अब प्रजा पीड़ा से हानि, टैक्स मुक्त पुरुषों के प्रति राजकर्त्तव्य, मर्यादा उल्लंघन से हानि, प्रजा की रक्षा के उपाय व न्याय से सुरक्षित राष्ट्र के शुल्क स्थानों से लाभ :-

सर्व बाधा प्रजानां कोशं पीडयति ।।17॥ दत्तपरिहारमनुगृह्णीयात् ।।18।। मर्यादातिक्रमेण फलवत्यपि भूमिर्भवत्यरण्यानी ।।19॥ क्षीणजनसम्भावनं तृण शलाकाया अपि स्वयमग्रहः ।। कदाचित्किंचिदुपजीवनमिति परमः प्रजानां वर्धनोपायः ।।20॥ न्यायेन रक्षिता पण्यपुट भेदिनी पिष्ठा राज्ञां कामधेनुः ।।21॥ पाठान्तर - "न्यायेन रक्षिता पण्यपुट भेदिनी राज्ञां कामधेनुः ।।"

अन्वयार्थ :- (प्रजानाम्) प्रजा को (सर्वबाधा) हर प्रकार कष्ट दे [सः] वह राजा (कोशम्) अपने खजाने को (पीडयति) कष्ट देता है । पाठान्तर है (कर्षयन्ति) कृषकों को पीड़ित करते हैं ।।17॥ (दत्त) टैक्सादि (परिहारम्) निषेध कर (अनुगृह्णीयात्) उनसे पुनः टैक्स न ले, अपितु अनुग्रह करे ।।18॥ (मर्यादा) सीमा (अतिक्रमेण) उल्लंघन करने से (फलवति) फलवान (अपि) भी (भूमि) पृथ्वी (अरण्यानि) जंगल (भवति) होती है ।।19॥ (क्षीणजनसम्भावनम्) दरिद्रों की सहाय (तृण शलाकायाः) तिनका (अपि) भी (स्वयम्) अपने आप (अग्रहः) नहीं लेना (कदाचित्) कभी-कभी (किंचित्) कुछ न कुछ (उपजीवनम्) जीवन साधन (परमः) उत्तम (प्रजानाम्) प्रजा की (वर्धनोपायः) वृद्धि का उपाय है ।।20॥ (न्यायेन) नीति-पूर्वक (रक्षिता) रक्षित (पण्य) बाजार-दुकाने (पुट भेदिनी) अधिक मात्रा में हों (राज्ञाम्) राजाओं को (कामधेनुः) कामधेनु गाय के समान है ।।21॥

विशेषार्थ :- जो राजा अपनी प्रजा को सर्वत्र, सर्वप्रकारेण कष्ट देता है । आवश्यकता से अधिक टैक्स लेता है तो उसकी प्रजा विरोध में खड़ी होकर बगावत करेगी । टैक्सादि भी नहीं देगी । फलस्वरूप खजाना-कोष रिक्त होता जायेगा। गर्ग विद्वान ने भी कहा है :-

प्रजानां पीडनाद्वित्तं न प्रभूतं प्रजायते ।
भूपतीनां ततो ग्राह्यं प्रभूतं येन तद्भवेत् ।।

अर्थ वही है ।।17।।

राजा ने पूर्व में जिनको टैक्स मुक्त कर दिया हो, पुनः उनसे चुंगी आदि नहीं लेनी चाहिए । क्योंकि ऐसा करने से उसके वचन का मूल्य कम हो जायेगा और प्रजा अविश्वस्त होगी । अतः उनका अनुग्रह करना चाहिए। इससे प्रतिष्ठा बढ़ेगी । नारद विद्वान ने भी कहा है :-

अकरा ये कृताः पूर्वं तेषां ग्राह्यः करो न हि ।
निज वाक्य प्रतिष्ठार्थं भू भुजा कीर्तिमिच्छता ।।1।।

सत्य वचन सम्मान, प्रतिष्ठा, यश व विश्वास का प्रतिष्ठापक है । अतः राजा ने जो आज्ञा घोषित की हो तदनुसार चलना चाहिए ।।18।।

अमर्यादा-सीमातिक्रान्त करने से धन धान्यादि से समृद्ध भूमि भी अरण्य जंगल हो जाती है । फलशून्य हो जाती है । अतएव विवेकी मानव व भूपति को नैतिकता का उल्लंघन कभी नहीं करना चाहिए ।।19।। गुरु विद्वान ने कहा है :-

मर्यादातिक्रमो यस्यां भूमौ राज्ञः प्रजायते ।
समृद्धापि च सा द्रव्यैर्जायतेऽरण्य सन्निभा ।।1।।

उपर्युक्त ही अर्थ सरल है ।

सूत्र नं. 20 में "स्वयं संग्रहः" पद करने पर यह अर्थ होता है कि जिस प्रकार तृण संग्रह भी कभी उपयोगी होता है उसी प्रकार दारिद्र्यपीड़ित व्यक्ति भी उपकारक होता है । अतः राजा को निर्धन प्रजा का संरक्षण धनादि से अवश्य करना चाहिए ।। प्रजा की रक्षा के उपाय निम्न प्रकार समझने चाहिए :-

(1) धनाभाव हो जाने से विपद्ग्रस्त परिवारों को आर्थिक सहायता प्रदान करना ।

(2) प्रजा से अन्यायपूर्वक तृणमात्र भी टैक्सादि वसूल नहीं करना । न्यायोचित टैक्स लेना अथवा दरिद्रपीड़ितों से टैक्स नहीं लेना ।

(3) अपराध करने पर योग्य दण्ड विधान करना ।।20।।

सबका सार यह है कि प्रजा सन्तुष्ट रहे उस प्रकार राजा को शासन कर लेना चाहिए । नारद विद्वान ने भी लिखा है :-

चिन्तनं क्षीणवित्तानां स्वग्राहस्य विवर्जनम् ।
युक्तदण्डं च लोकानां परमं वृद्धिकारणम् ।।1।।

लोक रक्षा होना चाहिए ।।20।।

राष्ट्र के शुल्क स्थान-अर्थात् प्रमुख शहर व मुख्यतः कृषि प्रधान नगर ग्रामादि जो न्याय से सुरक्षित होते हैं । जहां पर अधिक टैक्स न लेकर न्यायोचित कर लिया जाता है, तथा चोरों-लुटेरों का भय न हो, चुराई गयी वस्तुओं को प्रजा को वापिस दिलाने का प्रयत्न हो, जहाँ व्यापारियों की खरीद-बिक्री की साधनभूत अनेक दुकानें हों । इस प्रकार के स्थान व व्यवस्था राजा को कामधेनु समान इच्छित फल देने वाले होते हैं । क्योंकि शुल्क स्थानों से नरपति टैक्स द्वारा प्रचुर सम्पत्ति प्राप्त कर शिष्ट पालन और दुष्ट निग्रह में उपयोगी सैनिक विभाग, शिक्षाविभाग, स्वास्थ्य विभाग, आदि की उन्नति करने में समर्थ होता है, एवं राष्ट्र को शत्रुकृत उपद्रवों से सुरक्षित रखता हुआ खजाने की भी वृद्धि करता है । परन्तु शुल्क स्थान न्याय से सुरक्षित होने चाहिए अन्यथा प्रजा असंतुष्ट व क्षुब्ध हो जाने से राज्य राष्ट्र व राजा के विपत्ति में फंसने का भय हो जायेगा । कोषक्षति, शत्रु-दल उपद्रवों की संभावना होगी । शुक्र विद्वान ने भी लिखा है :-

ग्राह्यं नैवाधिकं शुल्कं चौरैर्वंच्चाहृतं भवेत् ।
पिण्ठायां भूभुजा देयं वणिजां तत् स्वकोशतः ।।1 ।।

सेना व राजकोष की वृद्धि के कारण, विद्वान् व विप्रों को देने योग्य दान, भूमि व तालाब दान आदि में विशेषता :-

राज्ञांचतुरङ्गबलाभिवृद्धये भूयांसो भक्तग्रामाः ।।22।। सुमहच्च गोमण्डलं हिरण्याययुक्तं शुल्कं कोशवृद्धि हेतुः ।।23 ।। देवद्विज प्रदेया गोरुतप्रमाणा भूमिर्दातु रादातुश्च सुख निर्वाहा ।।24 ।। क्षेत्रवप्रखण्ड गृहमायातनानामुत्तरः पूर्वं बाधते न पुनरुत्तरं पूर्वः ।।25 ।।

अन्वयार्थ :- (राज्ञाम्) राजाओं को (चतुरङ्ग) हाथी, घोड़े, रथ, पयादे (बलाभिवृद्धये) बल की वृद्धि करने के लिए कारण (भूयांसाः) अधिक (ग्रामाः) ग्राम (भक्ताः) विभाजित योग्य [न] नहीं हैं ।।22 ।। (सुमहत्) अति विशाल (गोमण्डलम्) गाय, वृषभादि का समूह (च) और (हिरण्यः) सुवर्ण (शुल्कम्) टैक्स द्वारा (युक्तम्) प्राप्त (आय) आमदनी (कोशवृद्धिः) खजाने की वृद्धि की (हेतुः) कारण होती [अस्ति] है ।।23 ।। (देव) विद्वान (द्विजः) विप्र को राजा (गोः) गाय के (रुत्) रंभाने का शब्द (प्रमाणा) प्रमाण (भूमिः) भूमि (प्रदेया) देना चाहिए क्योंकि इससे (दातुः) देने वाला (आदातुः च) और लेने वालों का (सुखनिर्वाहा) सुख से निर्वाह होता है ।।24 ।। (क्षेत्र व प्रखण्ड गृहमायतनानाम्) क्षेत्र, सरोवर कोट, गृह और मन्दिर इन पाँचों का दान (उत्तराः) अन्तिम वाले (पूर्वम्) पहले को (बाधते) बाधित करते हैं (पुनः) फिर (पूर्वः) पूर्व वाले (उत्तरम्) उत्तर वालों को (न) नहीं ।।25 ।।

विशेषार्थ :- जो भूमि व ग्राम धान्य की विशेष उपज करने वाले हैं उनको राजा को किसी को नहीं देना चाहिए। क्योंकि ये चतुरङ्ग बल-गज, अश्व, रथ, पयादों की वृद्धि व उनको बलिष्ठ बनाने के साधन हैं । शुक्र विद्वान ने भी लिखा है :-

चतुरङ्गबलं येषु भक्तग्रामेषु तृप्यति
वृद्धिं याति न देयास्ते कस्यचित् सस्यदा यतः ।।1 ।।

बहुत सा गोमण्डल-गाय, बैलों का समूह, सुवर्ण और चुंगी-टैक्स (कर-लगान) आदि द्वारा सम्पादित अर्थ-धन राजकोष की वृद्धि का हेतू है ।।23।। गुरु विद्वान ने भी कहा है :-

प्रभूता धेनवो यस्य राष्ट्रे भूपस्य सर्वदा ।
हिरण्याय तथा च शुल्कं युक्तं कोशाभिवृद्धये ।।1।।

क्षेत्र, सरोवर, कोट, गृह और मन्दिर इन पाँच वस्तुओं के दान में आगे-आगे वाले दान पूर्व-पूर्व के दानों को बाधित कर देते हैं । अर्थात् पूर्व पूर्व वाला हीन या गौण माना जाता है । परन्तु प्रथम वस्तु का दान आगे की वस्तु के दान को हीन नहीं करता । अर्थात् क्षेत्र खेत के दान की अपेक्षा सरोवर का दान उत्तम है, इसी प्रकार सरोवर की अपेक्षा कोट का दान विशेष होता है, कोट दान की अपेक्षा गृहदान श्रेष्ठतर है और गृह दान से जिनालय-देवस्थान का दान उत्तम है । मुख्य माना जाता है । क्योंकि ये दान उत्तरोत्तर अधिक विशिष्ट पुण्यबन्ध के कारण हैं । इस विषय का स्पष्टीकरण करने को निम्न प्रकार समझा जा सकता है ।

(2) अर्थ :- एक विशाल भू प्रदेश लावारिस पड़ी थी । उस पर भिन्न-भिन्न पुरुषों ने भिन्न-भिन्न काल में अपनी रुचि के अनुसार क्षेत्र सरोवर, कोट, मकान और देवालय बनवा लिए । कुछ समयोपरान्त उनमें स्वामित्व सम्बन्धी विवाद खड़ा हो गया । अब प्रश्न था इसका न्यायाधीश किसे नियुक्त किया जाय ? बात यह थी कि प्रथम रिक्त भूमि पर किसी पुरुष ने खेत (क्षेत्र) तैयार किया । दूसरे ने उसके चारों ओर कोट तैयार कर दिया । तीसरे ने सुन्दर सरोवर तैयार कर लिया । चौथे ने अपना प्रासाद तैयार करवा लिया और अन्य एक ने मन्दिर निर्माण करा लिया । तत्पश्चात् विवाद का सूत्रपात कर सब झगड़ने लगे । निर्णय यह हुआ कि आगे-आगे की वस्तु निर्माता न्यायोचित अधिकारी समझे जायेंगे । अर्थात् खेत बनाने वाले की अपेक्षा, सरोवर बनाने वाला, सरोवर वाले की अपेक्षा कोटनिर्माता, कोट की अपेक्षा गृह निर्माणकर्ता, गृह निर्माता की अपेक्षा मन्दिर बनाने वाला प्रधान अधिकारी समझा जायेगा । परन्तु पूर्व-पूर्व की वस्तु वाला नहीं । अतः अन्तिम मन्दिर बनाने वाला सर्वाधिक बलवान और प्रधान अधिकारी माना गया । भावार्थ या सारांश यह है कि उपर्युक्त रीति से मन्दिर बनाने वाला ही पूर्ण जमीन का अधिकारी स्वीकृत किया जायेगा । यही धर्म न्याय है ।

"इति जनपद समुद्देशः ।।

इति श्री परम् पूज्य चारित्र चक्रवर्ती मुनिकुञ्जर सम्राट् विश्ववंद्य घोर तपस्वी, वीतरागी, दिगम्बर, चमत्कारी, जैनाचार्य श्री आदिसागर जी महाऋषिराज अंकलीकर के पट्टाधीश परम् पूज्य समाधि सम्राट् तीर्थभक्त शिरोमणि चारित्र चूड़ामणि श्री महावीर कीर्ति जी गुरुदेव की संघस्था, श्री परम् पूज्य निमित्त ज्ञान शिरोमणि, वात्सल्य रत्नाकर आचार्यपरमेष्ठी श्री विमलसागर जी महाराज की प्रिय शिष्या ज्ञानचिन्तामणि प्रथम गणिनी आर्यिका 105 श्री विजयामती द्वारा विजयोदय हिन्दी टीका का यह उन्नीसवाँ जनपद समुद्देश परम पूज्य तपस्वी सम्राट् भारत गौरव, सिद्धान्त चक्रवर्ती गुरुवर्य अंकलीकर के तृतीय पट्टाधीश श्री 108 आचार्य सन्मतिसागर जी महाराज के चरण सानिध्य में समाप्त किया गया ।। इति ।।

ॐ शान्ति ॐ शान्ति ॐ शान्ति

नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, नमोऽस्तु ।।

20

दुर्ग समुद्देशः

दुर्ग शब्दार्थ एवं उसके भेद :-

यस्या भियोगात्परे दुःखं गच्छंति दुर्जनोद्योगविषया व स्वस्यापदो गमयतीति दुर्गम् ।।1॥ तद्द्विविधं स्वाभाविकमाहार्यं च ।।2॥

अन्वयार्थ :- (यस्य) जिसके (अभियोगात्) सम्मुख होने से (परे) शत्रुदल (दुःखम्) दुःख को (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं, (दुर्जनानाम्) दुष्टों के (उद्योग) प्रयत्न का (विषया) कारण (व) अथवा (स्वस्य) अपने स्वयं की (आपदा) विपत्ति को (गमयति) दूर करे (इति) वह (दुर्गम्) किला [अस्ति] है ।।1॥ (तद्) वह (द्विविधम्) दो प्रकार का (स्वाभाविकम्) प्राकृतिक (च) और (आहार्यम्) कृत्रिम बनाया हुआ ।।2॥

विशेषार्थ :- जिसके सान्निध्य को प्राप्त कर समरार्थ बुलाये गये शत्रुजन दुःखानुभव करते हैं, अथवा दुष्टों के उद्योग द्वारा विजिगीषु की आपत्तियाँ नष्ट होती हैं उसे ''दुर्ग'' कहते हैं । अर्थात् जिस समय विजिगीषु पृथिवीपति अपने राज्य में शत्रु द्वारा हमला होने के अयोग्य विकट स्थान-किला, खाई आदि स्थान बनवाता है तो उनसे अरिदल पीड़ित होता है । कारण उनके हमले विफल हो जाते हैं । अतः ''दुर्ग'' नाम सार्थक है । अथवा शत्रुः दुर्जनों के आक्रमणों के संकटों-दुःखों से जीतने के इच्छुक राजाओं के मनोरथ सफल होते हैं कष्ट टलते हैं इससे इसे ''दुर्ग'' कहते हैं ।।1॥

शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

यस्य दुर्गस्य सम्प्राप्तेः शत्रवो दुःखमाप्नुयुः ।
स्वमिनं रक्षयत्येव व्यसने दुर्गमेव तत् ।।1॥

अर्थ :- जिसके सामीप्य को प्राप्त हो शत्रु वर्ग दुःखित होते हैं अथवा जो संकट आने पर स्वामी की रक्षा करता है उसे दुर्ग कहते हैं । जिस प्रकार कहा है :-

दंष्ट्रा विरहितः सर्पो यथा नागो मदच्युतः ।
दुर्गेण रहितो राजा तथा गम्यो भवेद्रिपोः ।।2॥

देशगर्भेतु यद् दुर्गं तद् दुर्गं काव्यते बुधैः ।
देश प्रान्तगतं दुर्गं न सर्वं रक्षितो जनैः ।।3 ॥

अर्थात् दशन विहीन सर्प, मद विरहित गज, जिस प्रकार सहज वश कर लिए जाते हैं उसी प्रकार दुर्ग रहित नृप सरलता से परास्त कर दिया जाता है ।।2 ॥ जो किला या दुर्ग देश के मध्य की सीमा पर निर्मित किया जाता है विद्वान उसकी प्रशंसा करते हैं अर्थात् वह देश की सुरक्षा में उपयुक्त माना जाता है । तथा जो देश की अन्तिम सीमा पर दुर्ग निर्मित किया जाता है वह सम्पूर्ण जनपदों की रक्षा में समर्थ नहीं होता ।।3 ॥ इस प्रकार "दुर्ग" का अभिप्राय समझना चाहिए ।।1 ॥

दुर्ग के दो भेद हैं - 1. स्वाभाविक और 2. आहार्य ।

1. स्वयं उत्पन्न हुए, युद्धोपयोगी व शत्रुओं द्वारा आक्रमण करने के अयोग्य गिरि कन्दरा, कोट, खाई आदि विकट या अगम्य स्थानों को स्वाभाविक दुर्ग कहते हैं । अर्थशास्त्रज्ञ चाणक्य ने इसके चार भेद कहे हैं - 1. औदक-जलदुर्ग, 2. पार्वत्-पर्वत दुर्ग, 3. धान्वन और 4. वनदुर्ग-स्थलदुर्ग । तथा हि :-

1. औदक - नगर के चारों ओर नदी या विशाल सरोवरों से वेष्टित व मध्य में टापू समान विकट स्थान को "औदक" कहते हैं ।
2. पार्वत - जो बड़े-बड़े पर्वतों से घिरा हो स्वयं जिसके चारों ओर गुफाएँ कन्दराएँ निर्मित हो गई हों वह "पार्वत" कहलाता है ।
3. धान्वन - जल व घास-तृण शून्य भूमि या ऊपर जमीन में बने हुए विकट स्थान को "धान्वन" कहते हैं।
4. वनदुर्ग - चारों ओर घनी-कीचड़ से अथवा कांटेदार झाड़ियों से घिरे हुए स्थान को वनदुर्ग कहते हैं।

जलदुर्ग और पर्वत दुर्ग देशरक्षार्थ एवं धान्वन व वन-दुर्ग आटविकों की रक्षा के स्थान माने जाते हैं । आपत्तिकाल में शत्रुओं से रक्षित होने के लिए राजा भी इनमें जाकर छिप सकते हैं ।। देखें कौटिल्य अर्थशास्त्र प्र.21 सूत्र 2-3

(2) आहार्य दुर्ग :- कृत्रिम उपायों द्वारा बनाया गया दुर्ग "आहार्य" कहलाता है । अर्थशास्त्र के आधार पर बुद्धोपयोगी खाई, कोट आदि दुर्गम, विकट स्थानों का निर्माण आहार्य कहा जाता है । "आहार्य दुर्ग" कहलाता है ।।2 ॥

दुर्ग विभूति व दुर्ग शून्य देश तथा राजा की हानि :-

वैषम्यं पर्यासावकाशो यवसेन्धनोदक भूयस्त्वं स्वस्य परेषामभावो बहुधान्य रस संग्रहः प्रवेशापसारौ वीर पुरुषा इति दुर्ग सम्पत् अन्य द्वन्दिशालावत् ।।3 ॥ अदुर्गो देशः कस्य नाम न परिभवास्पदम् ।।4 ॥ अदुर्गस्य राज्ञः पयोधिमध्येपोतच्युतपक्षीवदापदि नास्त्याश्रयः ।।5 ॥

अन्वयार्थ :- (वैषम्य) पर्वतादि से युक्त (पर्याप्तः) सम्यक प्रकार (अवकाशः) आवश्यक वस्तुएँ जहाँ (अवकाशः) सुलभस्थान हो, (यव) जौ आदि अन्न एवं (सेन्धनं) नमकादि (उदकम्) जल (च) और (भूयः) कर (त्वम्) आप-तुम (स्वस्य) स्वयं का (परेषाम्) दूसरों के (अभावः) अभाव (बहु धान्य रस संग्रहः) अधिक धान्य (अन्न) रसादि के संग्रह का (प्रवेशः) आयात (अपशारः) निर्यात् हो (वीरः) सुभट (पुरुषा) बलवान वीर योद्धा (इति) इस प्रकार ये (दुर्ग सम्पत्) किले की विभूति हैं (अन्यत्) यदि ये साधन नहीं तो (वन्दिशालावत्) जेलखाने के समान हैं ।।3।। (अदुर्गः) किलेरहित (देशः) देश (कस्य) किसका (नाम न) नहीं (पराभव) तिरस्कार का (आस्पदम्) स्थान है ।।4।। (अदुर्गस्य) दुर्गविहीन (राज्ञः) राजा का (पयोधि) समुद्र के (मध्ये) बीच में (पोतच्युतपक्षिः) जहाज से च्युत पक्षी (इव) समान (आपदि) विपत्ति में (आश्यः) सहारा (न अस्ति) नहीं है ।।5।।

विशेषार्थ :- दुर्ग के साथ निम्न बातों का होना दुर्ग की सम्पत्ति मानी जाती हैं - जिससे विजिगीषु शत्रुकृत उपद्रवों से अपना राष्ट्र सुरक्षित कर विजयश्री प्राप्त कर सकता है ।। सर्वप्रथम - 1. दुर्ग की भूमि पर्वतादि के कारण विषम - ऊंची-नीची व विस्तीर्ण हो । 2. जहाँ पर अपने स्वामी के लिए ही घास, ईंधन और जल बहुतायत से प्राप्त हो सके, परन्तु आक्रमण करने वाले शत्रुओं के लिए नहीं । 3. जहाँ पर गेहूँ, जौ, चावल आदि अन्न व नमक, तैल व घी वगैरह रसों का प्रचुर मात्रा में संग्रह हो । 4. जिसके पहले दरवाजे से प्रचुर धान्य और रसों का प्रवेश (आयात) और दूसरे द्वार से निर्गम (निर्यात) होता हो । 5. जहाँ पर बहादुर सैनिकों का पहरा हो । जिस दुर्ग के द्वारा इन कार्यों की सफलता हो वही दुर्ग की सम्पत्ति व वैभव है अन्य नहीं । यदि ये कार्य न हों तो वह दुर्ग नहीं, अपितु जेल खाना है । अपने स्वामी का घात स्थान है ऐसा समझना चाहिए ।।3।। शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

न निर्गमः प्रवेशश्च यत्र दुर्गे प्रविद्यते ।
अन्य द्वारेण वस्तूनां न दुर्गं तद्धि गुग्गिदम् ।।1।।

अर्थात् जिसमें एक द्वार से वस्तु प्रवेश और अन्य द्वार से वस्तुओं का निर्गम नहीं होता वह दुर्ग रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकता । वह दुर्ग न होकर मात्र बन्दिखाना-जेलखाना है ।।3।।

दुर्ग विहीन राज्य किसी पराजय का हेतू नहीं होता ? सभी के पराभव-नाश का कारण होता ही है।।4।।

दुर्ग विरहित राजा का कोई अन्य रक्षा करने वाला नहीं । वह निराश्रय होकर नष्ट हो जाता है । जिस प्रकार विशाल सागर के मध्य से जाते हुए जहाज से कोई पक्षी उड़ जाय तो उसे मरण तुल्य आपत्तियों से बचाने वाला कोई सुरक्षित स्थान प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार दुर्गरहित राजा कितना ही वलिष्ठ सुभट, बुद्धिमान व नीतिज्ञ क्यों न हो शत्रु आक्रमण से होने वाली क्षति से उसे कोई नहीं बचा सकता । शत्रु द्वारा कृत उपद्रवों, संकटों में उसे फंसना ही पड़ता है ।।5।। शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

दुर्गेण रहितो राजा पोतभ्रष्टो यथा खगः ।
समुद्रमध्ये स्थानं न लभते तद्वदेव सः ।।1।।

अर्थात् दुर्ग शून्य राजा अवश्य ही शत्रु द्वारा परास्त किया जाता है । अतः राजा का कर्त्तव्य है राज्य, राष्ट्र और स्वयं की रक्षार्थ सुदृढ़ दुर्ग अवश्य निर्मित कराये ।।5।।

शत्रु के दुर्ग को नष्ट करने का उपाय, राज कर्त्तव्य व ऐतिहासिक दृष्टान्त :-

उपायतोऽधिगमनमुपजापश्चिरानुबन्धोऽवस्कन्द तीक्ष्ण पुरुषोपयोगश्चेति पर दुर्गलम्भोपायाः ।।6।। नामुद्रहस्तोऽशोधितो वा दुर्गमध्ये कश्चित् प्रविशेन्निर्गच्छेद्वा ।।7।। श्रूयते किल हूणाधिपतिः पण्यपुट वाहिमिः सुभटैः चित्रकूटं जग्राह ।।8।। खेट खड्गधरैः सेवार्थं शत्रुणा भद्राख्यं कांचीपतिमिति ।।9।।

अन्वयार्थ :- (उपायतः) युक्तिपूर्वक (अधिगमनम्) सामादि (उपजापः) विविध उपाय (चिरानुबन्धः) अधिक समय तक घेरा डालना (अवस्कन्दः) शत्रुदल के कर्मचारियों को वश करना (तीक्ष्ण-पुरुषोपयोगः च) और कठोर गुप्तचर नियुक्ति (इति) ये (परदुर्गलम्भः) शत्रु दुर्ग लेने का (उपायाः) उपाय [सन्ति] हैं ।।6।। (अमुद्रहस्तः) राज मुद्रारहित (वा) अथवा (अशोधितः) अपरिचित (दुर्ग-मध्ये) किले में (कश्चित्) कोई पुरुष (न) न (प्रविशेत्) प्रवेश करे (वा) अथवा-तथा (निर्गच्छेत्) जाय भी नहीं ।।7।। (श्रूयते) सुना जाता है (किल) कि (हूणाधिपतिः) हूण राजा (पण्यपुटवाहिमिः) व्यापारार्थ आये (सुभटैः) वीर वेषी सुभटों द्वारा (चित्रकूटम्) चित्रकूट को (जग्राह) जीतलिया ।।8।। (खेट खड्गधरैः) शिकार में दक्ष शत्रु (सेवार्थम्) सेवा के बहाने से (शत्रुणा) शत्रु द्वारा प्रेषिकों द्वारा (भद्राख्यम्) भद्रनामक राजा को मार दिया (काञ्चीपतिम्) काञ्जी के पति को (इति) अपने स्वामी को पति बनाया ।।9।।

विशेषार्थ :- अपने राज्य विस्तार के इच्छुक, शत्रुविजय के अभिलाषी नृपति का कर्त्तव्य है कि वह अपने कार्य सिद्धचर्थ निम्न उपाय करे :-

1. अधिगमन - समादि उपायपूर्वक शत्रु दुर्ग में शस्त्रादि से सन्नद्ध सेना प्रविष्ट करावे ।
2. उपजाप - अर्थात् विविध उपायों-साम,दाम,भेद नीतियों का सामयिक प्रयोग कर शत्रु के अमात्यादि में भेद उत्पन्न करावे ।
3. चिरानुबन्ध - शत्रु के चारों ओर सशस्त्र घेरा डालना ।
4. अवस्कन्द - शत्रु दल के अधिकारियों को प्रलोभनादि देकर बच्चों समान वश करना एवं
5. तीक्ष्ण पुरुष प्रयोग - घातक कुम्मकर्त्ता अर्थात धनुर्विद्या में पारंगत एक ही व्यक्ति अपने ही किले में बैठकर वह सैकड़ों भटों को मृत्यु के पार पहुँचा सकता है । अथवा घातक गुप्तचरों को शत्रु सेना - कटक में भेजकर शत्रुबल, शक्ति आदि का सञ्चय कितना है ? माल खजाना क्या है ? आदि ज्ञात करना। ।।2।। शुक्र विद्वान ने कहा है:-

न युद्धेन प्रशक्यं स्यात् परदुर्गं कथंचन ।
मुक्त्वा भेदाद्युपायांश्च तस्मात्तान् विनयोजयेत् ।।1।।

अर्थात् - विजिगीषु राजा शत्रु समूहो को केवल युद्ध द्वारा ही नष्ट नहीं कर सकता, अपितु उसके अधिकारियों वर्गों में साम छोड़ कर भेदादि उपाय करना चाहिए ।

दुर्ग के अन्दर बैठा एक धनुर्धारी । यह बाण चलाने में सिद्ध हस्त हो तो अकेला ही एक साथ तीरंदाजी से अनेकों को अपने वाणों का लक्ष्य बना देता है । अतः उठते ही शत्रुओं को तीरों से नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है। अभिप्राय यह है कि एक ही निर्भय होकर शक्तिशाली भी शत्रु को परास्त करने में सक्षम होता है । अतः दुर्ग में रहकर भी युद्ध किया जा सकता है ।।6।।

शत्रु पर विजय पाने के इच्छुक पृथ्विीपति को जिसके पास राजमुद्रा नहीं दी गई है अर्थात् जो अज्ञात व अपरिचित पुरुष है - जिसके गन्तव्य, स्थान, उद्देश्य आदि के विषय में जांच पड़ताल नहीं की गई है ऐसे पुरुष को अपने दुर्ग में प्रवेश की आज्ञा नहीं देनी चाहिए तथा दुर्ग में हो तो बाहर भी नहीं जाने देना चाहिए ।। क्योंकि वह शत्रु पक्ष का भी हो सकता है और भेदक होने से विजय में बाधक हो सकता है ।।7॥ शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

प्रविशन्ति नरा यत्र दुर्गे मुद्राविवर्जिताः ।
अशुद्धाः निः सरन्ति स्म तद्दुर्गं तस्य नश्यति ।।1॥

अर्थात् जिसके शासनकाल में दुर्ग में राजमुद्रा-विहीन व अपरिचित पुरुष प्रविष्ट हो जाते हैं अथवा वहां से बहिर निकल आते हैं उसका दुर्ग नष्ट हो जाता है ।।1॥

इतिहास में लिखा है कि हूण देश के नरेश ने अपने सैनिकों को विक्रय योग्य वस्तुओं को लेकर व्यापारियों के वेश में आये लोगों को चित्रकूट देश के दुर्ग में प्रवेश करा दिया । उनके द्वारा दुर्ग के स्वामी की हत्या करा दी गई । तथा चित्रकूट देश पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया ।। यह कूटनीति है जिसके शासकों को सावधान रहना अत्यावश्यक है ।।8॥

इतिहास में एक उल्लेख प्राप्त होता है, कि किसी शत्रु राजा ने कुछ सैनिकों को भेजा । हम कांची नरेश की सेवार्थ आये हैं इस प्रकार उन्होंने विज्ञप्ति दी । वे खूंखार शिकारी थे । शिकार का पूर्ण अभ्यास था उनको। आसानी से दुर्ग में प्रविष्ट हो उन्होंने सरलता से वहाँ के राजा भद्र को मार डाला और अपने स्वामी को कांची देश का अधिपति-शासक बना दिया ।।9।। जैमिनि विद्वान ने भी कहा है :-

स्वदश जेषु भृत्येषु विश्वासं यो नृपो व्रजेत् ।
स द्रुतं नाशमायाति जैमिनिस्त्विदमब्रवीत् ।।1॥

अर्थ :- जो राजा अपने देश में प्रविष्ट हुए अपरिचित व अपरिक्षित पुरुषों का विश्वास करता है, वह अवश्य शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ।।1॥ अभिप्राय यह है कि राजा को निरन्तर विश्वस्त चिर-परिचित लोगों को ही अपने राज्य में निवासादि देना चाहिए ।।9॥

" ॥ इति दुर्ग समुद्देश ।।"

इति श्री परम् पूज्य चारित्र चक्रवर्ती मुनिकुञ्जर समाधि सम्राट् आचार्य श्री 108 महातपस्वी, वीतरागी, दिगम्बर जैनाचार्य श्री आदिसागर जी अंकलीकर महाराज के पट्टाधीश परम् पूज्य तीर्थभक्त शिरोमणि आचार्य परमेष्ठी श्री 108 महावीरकीर्ति जी महाराज के संघस्था, श्री परम् पूज्य सन्मार्ग दिवाकर, वात्सल्य रत्नाकर श्री 108 आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज की शिष्या 105 ज्ञानचिन्तामणि प्रथम गणिनी आर्यिका विजयामती ने यह हिन्दी विजयोदय टीका का 20वां समुद्देश, परम् पूज्य अंकलीकर के तृतीय पट्टाधीश, तपस्वी सम्राट् सिद्धान्त चक्रवर्ती, वात्सल्यरत्नाकर श्री 108 आचार्य सन्मतिसागर जी महाराज के चरणारविन्द्द्वय के सान्निध्य में समाप्त किया ।।20॥

ॐ शान्ति ॐ

॥0॥

21

कोश - समुद्देशः

"कोष" का अर्थ, गुण व राजकर्त्तव्य :-

यो विपदि सम्पदि च स्वामिनस्तंत्राभ्युदयं कोशयतीति कोशः ।।1॥ सातिशयहिरण्य रजतप्रायो व्यावहारिकनाणक बहुलो महापदि व्ययसहश्चेति कोशगुणाः ।।2॥ कोशं वर्धयन्नुत्पन्नमर्थमुपयुञ्जीत ।।3॥

अन्वयार्थ :- (यः) जो (विपदि) आपत्ति में (च) और (सम्पदि) सम्पत्ति में (स्वामिनः) राजा की (तन्त्र) चतुरंग सेना के (अभ्युदयम्) उत्थान को (कोशयति) वृद्धिंगत करता है (इति) वह (कोशः) कोश है ।।1॥ [यस्मिन्] जिसमें (सातिशयः) विशेष (हिरण्यः) सुवर्ण (रजतः) चाँदी (प्रायः) बहुतायत से (व्यावहारिक नाणकबहुलः) प्रतिदिन व्यवहार में चलने वाले सिक्कों का संग्रह हो जो (महापदि) संकट समय (व्ययसह) अधिक खर्च के साथ (च) और समर्थ रहे (इति) ये (कोशगुणाः) कोश के-खजाने के गुण हैं ।।2॥ (कोशम्) कोष को (वर्धयन्) बढ़ाते हुए (उत्पन्नम्) उत्पत्ति के साधन अन्नादि, व्यापार, चुंगी द्वारा (उपयुञ्जीत) वृद्धि करे ।।3॥

विशेषार्थ :- जो राजा को संकट व निष्कण्टक समय में राजतन्त्र-गज, अश्व, पैदल, रथ सेना की वृद्धि व पुष्टि करता है, उसे सुगठित करने को धन संचय करता है उसे कोष या खजाना कहते हैं । राजकीय धन सम्पत्ति के समन्वित-एकत्रित करने का स्थान खजाना कहलाता है ।।1॥ शुक्र विद्वान ने भी कहा है :

आपत्काले च सम्प्राप्ते सम्पत्काले विशेषतः ।
तन्त्रं विवर्धयते राज्ञां स कोशः परिकीर्तितः ।।1॥

अब कोष के गुण बताते हैं । कोष संकट काल में वृद्ध की लकड़ी के समान सहारा प्रदान करता है । जिसमें अधिक मात्रा में सोना, चाँदी, माणिक आदि रत्नों का सञ्चय हो, नित्य व्यवहार में चलने वाले रुपये, पैसे आदि सिक्कों, नोटो का पूर्ण सञ्चय हो, पर्याप्त मात्रा में संग्रह पाया जाता हो, जिससे विपत्तिकाल में अधिक से अधिक खर्च कर कार्यसिद्धि की जा सके । ये कोष के गुण हैं । इस प्रकार संचित धन राशि से राजा व प्रजा दोनों का कल्याण होता है । राज कोष से राजा व राज्य का वैभव आंका जाता है ।।2॥ गुरु विद्वान ने भी लिखा है :-

आपत्काले तु सम्प्राप्ते बहुव्ययसहक्षमः ।
हिरण्यादिभिः संयुक्तः स कोशो गुणवान् स्मृतः ।।1।।

अर्थात् वह कोष गुणवान है जहाँ से यथावसर यथायोग्य धनराशि व्यय की जा सके ।।1।। राज कोष भरपूर सम्पत्तिशाली होना चाहिए ।।2।।

नीतिकार कामन्दक ने भी कहा है :-

मुक्ताकनकरत्नाढ्यः पितृपैतामहोचितः । धर्मार्जितो व्ययसहः कोषः कोषज्ञ सम्मतः ।।1।।

धर्म हेतोस्तथार्थाय भृत्यानां भरणाय च । आपदर्थं च संरक्ष्यः कोषः कोषवता सदा ।।2।।

अर्थ :- जो मुक्ता, मणि, सुवर्ण और रत्नों से भरपूर, पिता व पितामह (दादा) आदि पैतृक परम्परा से न्यायोचित संग्रहीत चला आया, ठोस, पुष्कल खर्च सहन करने में सक्षम हो उसे अर्थ शास्त्र वेत्ताओं ने कोष या खजाना कहा है । कोषाध्यक्ष धनाढ्य पुरुषों को धर्म और धन की रक्षा के निमित्त एवं भृत्यों के भरण-पोषण के लिए, आपत्ति से संरक्षणार्थ सतत कोश की रक्षा करना चाहिए ।।2।।

भूपति अपने खजाने की न्यायोचित टैक्स द्वारा वृद्धि करता हुआ आय रूप सम्पत्ति में से अनुपातानुसार कम से कम धन अपने खर्च में व्यय करे ।।3।। वशिष्ठ विद्वान ने कहा है :-

कोशवृद्धि सदा कार्या नैव हानिः कथंचन ।
आपत्कालादृते प्राज्ञैर्यत्कोशो राज्यरक्षकः ।।1।।

अर्थ :- बुद्धिमान नरेशों को आपत्तिकाल को छोड़कर राज्यरक्षक कोष की सतत् वृद्धि करना चाहिए, न कि हानि ।।1।।

कोश हानि से राजा का भविष्य, कोश माहात्म्य, कोषविहीन राजा के दुष्कृत्य व विजयलक्ष्मी का स्वामी-

कुतस्तस्यायत्यां श्रेयांसि यः प्रत्यहं काकिण्यापि कोशं न वर्धयति ।।4।। कोशोहि भूपतीनां जीवनं न प्राणाः ।।5।। क्षीण कोशो हि राजा पौरजनपदानन्यायेन ग्रसते ततो राष्ट्रशून्यता स्यात् ।।6।। कोशो राजेत्युच्यते न भूपतीनां शरीरम् ।।7।। यस्य हस्ते द्रव्यं स जयति ।।8।।

अन्वयार्थ :- (यः) जो (प्रत्यहम्) प्रतिदिन (काकिण्यः) कौड़ी-कौड़ी (अपि) से भी (कोशम्) खजाने को (न) नहीं (वर्धयति) बढ़ाता है (तस्य) उस राजा के (आयत्याम्) भविष्य में (कुतः) कहाँ से (श्रेयांसि) कल्याण हो ।।4।। (भूपतीनाम्) राजाओं का (हि) निश्चय से (कोशः) खजाना (जीवनम्) जीवन है (प्राणाः) प्राण (न) नहीं है ।।5।। (क्षीणकोशः) रिक्त खजाने वाला (राजा) नृपति (हि) निश्चय (पौरजनपदान्) नगरवासियों को (अन्यायेन) अन्याय से (ग्रसते) पीड़ित कर मारता है (ततः) इसलिए (राष्ट्रशून्यता) जनहीन राष्ट्र (स्यात्) होगा ।।6।। (कोशः) खजाना (राजा) भूपाल (इति) है ऐसा (उच्यते) कहा जाता है (भूपतीनाम्) राजाओं का (शरीरम्) शरीर (न) राजा नहीं है ।।7।। (यस्य) जिसके (हस्ते) हाथ में (द्रव्यम्) धन है (सः) वह (जयति) विजयी होता है ।।8।।

विशेषार्थ :- जो राजा ऐशो-आराम से विलासी जीवन विताता है । एक-एक कौड़ी भी खजाने की वृद्धि में नहीं लगाता वह भविष्य में किस प्रकार अपना व राज्य का परित्राण कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता ।14॥ गुरु विद्वान ने भी कहा है :-

काकिण्यपि न वृद्धिं यः कोशं नयति भूमिपः ।
आपत्काले तु सम्प्राप्ते शत्रुभिः पड्यिते हि सः ।।1॥

वही अर्थ है ।14॥

निश्चय से खजाना ही पृथिवीपतियों का जीवन है क्योंकि प्राणों की रक्षा कोष पर आधारित रहती है । रसद नहीं तो सेनादि कहाँ और उनके बिना जीवन की रक्षा ही कैसे हो ? अतः कोष ही जीवन वास्तविक है ।15॥ भागुरि विद्वान ने इस विषय में लिखा है :-

कोशहीनं नृपं भृत्या कुलीनमपि चोन्नतम् ।
संत्यज्यान्यत्र गच्छन्ति शुष्कं वृक्षमिवाण्डजाः ।।1॥

अर्थ :- जिस प्रकार वृहद् और उन्नत वृक्ष भी शुष्क-पत्र-फल विहीन होने पर पक्षीगण त्याग कर उड जाते हैं । अन्यत्र हरे-भरे वृक्षों का आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार कुलीन और उन्नातशील राजा को भी कोशहीन-धनहीन देखकर राजकर्मचारी, अमात्य, सेवक आदि त्यागकर अन्यत्र धनाढ्य राजा की शरण में चले जाते हैं । धन की सेवा संसार करता है ।।॥

कोषविहीन राजा अन्याय में प्रवृत्त हो जाता है । निर्दोष प्रजा पर दोषारोपण करता है । उन्हें व्यर्थ दण्डित कर टैक्स लेता है, अनौचित्य रूप से व्यापारादि वर्ग से प्रचुर मात्रा में धनार्जन करने की चेष्टा में लगा रहता है। फलतः अन्याय पीड़ित प्रजा पलायन कर जाती है-भाग जाती है - क्योंकि "राजा हो चोरी करे न्याय कौन घर जाय" ? अतएव राष्ट्र शून्य हो जाता है कहा भी है "बाढ़ ही खेत को खा जाय तो अन्न कहाँ से आये ?" अतएव राजा को न्यायोचित उपायों से कोषवृद्धि करते रहना चाहिए ।16॥ गौतम विद्वान ने भी यही कहा है :-

कोशहीनो नृपो लोकान् निर्दोषानपि पीडयेत् ।
तेऽन्यदेशं ततो यान्ति ततः कोशं प्रकारयेत् ।।1॥

उपर्युक्त कथन की ही पुष्टि है ।

नीतिज्ञ पुरुष राजकोष को ही राजा स्वीकार करते हैं, राजा के शरीर को नहीं । कारण कि कोश शून्य होने से वह शत्रुओं के द्वारा पीड़ित किया जाता है मरण भी वरण कर लेता है ।17॥ रैम्य विद्वान ने भी कहा है :-

राजा शब्दोऽत्रकोशस्य न शरीरे नृपस्य च ।
कोशहीनो नृपो यस्माच्छत्रुभिः परिपीड्यते ।।1॥

अर्थ उपर्युक्त ही है ।

जिसके पास धनराशि परिपूर्ण होती है, वही विजय पताका फहराने में समर्थ होता है । अतः राजाओं को अपना खजाना बलशाली बनाना चाहिए ।।8 ॥

निर्धन की कटु आलोचना, कुलीन सेना अयोग्य राजा, धन-माहात्म्य, मनुष्य की कुलीनता और बड़प्पन व्यर्थ होने के कारण :-

धनहीनः कलत्रेणापि परित्यज्यते किं पुनर्नान्यैः ।।9 ॥ न खलु कुलाचाराभ्यां पुरुषः सर्वोऽपि सेव्यतामेति किन्तु वित्तेनैव ।।10 ॥ स खलु महान् कुलीनश्च यस्यास्ति धनमनूनम् ।।11 ॥ किं तया कुलीनतया महत्तया वा या न सन्तर्पयति परान् ।।12 ॥

अन्वयार्थ :- (धनहीनः) निर्धनपुरुष (कलत्रेण) स्त्री द्वारा (अपि) भी (परित्यज्यते) छोड दिया जाता है (पुनः) फिर (अन्यैः) अन्य की (किम्) क्या बात ? ।।9 ॥ (खलु) निश्चय से (कुलाचाराभ्याम्) कुल व आचार द्वारा (पुरुषः) मनुष्य (सर्वोऽपि) सबके द्वारा भी (सेव्यताम्) पूज्यता को (न) नहीं (एति) प्राप्त होता है (किन्तु) अपितु (वित्तेन) धन से (एव) ही ।।10 ॥ (यस्य) जिसके (अनूनम्) अपरिमित (धनम्) धन (अस्ति) है (सः) वह (खलु) निश्चय (महान्) बड़ा (च) और (कुलीनः) उत्तम कुली (अस्ति) है ।।11 ॥ (तया) उस (कुलीनतया) कुलीनता (च) और (महत्तया) महानता से (किं) क्या प्रयोजन (या) जो (परान्) दूसरों को (न) नहीं (सन्तर्पयति) सन्तुष्ट करे ? ।।12 ॥

विशेषार्थ :- संसार बड़ा विचित्र है । धनवान के सब साथी हैं निर्धन होने पर अपनी सहधर्मिणी पत्नि भी पति का त्याग कर देती है ।। तब अन्य सेवकों की तो बात ही क्या है ? वे तो छोड़ ही देंगे । सारांश यह है कि विपत्ति काल में निर्धन की कोई सहायता नहीं करता । अतः विवेकी पुरुषों को न्यायोचित उपायों से धनार्जन करने का प्रयत्न करना चाहिए ।।9 ॥

सेवक सेवा का फल धन चाहते हैं । अतः उत्तम कुली और सदाचारी होने मात्र से वे राजा की सेवाभक्ति नहीं करते अपितु धनार्थ सेवा सुश्रुशा, आज्ञापालन आदि करते हैं । संसार में देखा जाता है दरिद्री व्यक्ति कितना ही सुशील, सदाचारी, उच्चकुलीन होने पर भी उसकी सेवार्थ कोई नहीं आता, क्योंकि उससे जीविकोपार्जन का साधन धन प्राप्ति की संभावना नहीं है । किन्तु चारित्र भ्रष्ट, नीचकुलोत्पन्न धनाढ्य व्यक्ति की सभी सेवा को तत्पर रहते हैं क्योंकि उससे जीविका का साधन उपलब्ध होता है । सबका निष्कर्ष यही है कि राजा को कुलीन, सदाचारी, न्यायी होने पर भी कोष वृद्धि का लक्ष्य रखना चाहिए । ताकि राजतन्त्र व्यवस्थित, पुष्ट और राजभक्ति बना रहे ।।10 ॥ व्यास विद्वान ने भी कहा है :-

अर्थस्यपुरुषो दासो नार्थो दासोऽत्र कस्यचित् ।
अर्थार्थं येन सेव्यन्ते नीचा अपि कुलोद्भवैः ।।1 ॥

अर्थ :- संसार में मानव व धन का भृत्य है, धन किसी का नौकर नहीं । क्योंकि धनार्थ कुलीन व्यक्ति भी नीचधनेश्वर की सेवा करते हैं ।।1 ॥10 ॥

जिस महानुभाव के पास अपार धनराशि है, वही महान व कुलीन कहा जाता है ।।11॥ जैमिनि ने भी कहा है :-

कुलीनोऽपि सुनीचोऽत्र यस्य नो विद्यते धनम् ।
अकुलीनोऽपि सद्वंश्यो यस्य सन्ति कपर्दिकाः ।।1॥

अर्थ :- धनवान नीच कुल का होने पर भी उच्च और उच्चकुलीन निर्धन होने से नीच कुलीन माना जाता है ।।1॥ संसार विवेकशून्य अधिक होता है ।।11॥

जो राजा या व्यक्ति अपने आश्रितों को सन्तुष्ट नहीं कर सकता उसकी कुलीनता व महत्ता से क्या प्रयोजन ? वे व्यर्थ ही हैं उनसे कोई लाभ नहीं होता । तात्पर्य यह कि पुरुष की महत्ता-गरिमा व कुलीनता संसार में तभी स्थापित रह सकती है जबकि वह अपने सम्पादित धन द्वारा आश्रितों-सेवकादिकों का योग्य भरण-पोषण करे । दीन-हीनों को यथायोग्य अन्न, वस्त्र और आवास की व्यवस्था या सुविधा प्रदान करे ।। अन्यथा उसका वैभव, बड़प्पन व उच्चकुलीनत्व व्यर्थ है ।।12॥ गर्ग ने भी कहा है :-

वृथा तद्धनिनां वित्तं यन्न पुष्टिं नयेत्परान् ।
कुलीनोऽपि हि किं तेन कृपणेन स्वभावतः ।।1॥

अर्थ :- उस धनिक का धन व्यर्थ है जो परोपकार में उसे नहीं लगाता । वह यदि कुलीन भी हुआ तो क्या यदि स्वभाव से कृपण-कञ्जूस है ।।12॥

दृष्टान्त द्वारा समर्थन व रिक्त कोष की वृद्धि का उपाय :-

तस्य किं सरसो महत्त्वेन यत्र न जलानि ।।13॥ देवद्विजवणिजां धर्माध्वर परिजनानुपयोगि द्रव्य भागैराढ्य विधवानियोगि ग्रामकूट गणिकासंघ पाखण्डिविभव प्रत्यादानैः समृद्धपौरजानपदक्षिण संविभाग प्रार्थनै रनुपक्षय श्री कामंत्रिपुरोहित सामन्त भूपालानुनयग्रहागमनाभ्यां क्षीणकोशः कोशं कुर्यात् ।।14॥

अन्वयार्थ :- (तस्य) उस (सरसः) सरोवर का (किं) क्या (महत्त्वेन) बडेपन से (यत्र) जहाँ-जिसमें (जलानि) जल (न) न हो ? व्यर्थ है ।।13॥

विशेषार्थ :- सरोवर की शोभा जल से है । पिपासु अपनी प्यास बुझाने सरोवर पर आता है और वहाँ उसे बूंदभर भी जल उपलब्ध न हो तो सरोवर की विशालता से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? कुछ भी नहीं । उसी प्रकार धन से अर्थीजनों की तृप्ति न हो तो कितना ही प्रभूत धन रहे क्या प्रयोजन ? कुछ भी नहीं ।।13।।

रिक्त कोष को भरित करने के चार उपाय बताये हैं । यथा :-

(1) देव द्विज वणिजाम् - विद्वान, ब्राह्मण व व्यापारियों से प्राप्त धन से क्रमशः धर्माध्वर परिजनान् उपयोगि द्रव्य भागैः - धर्मानुष्ठान, यज्ञानुष्ठान और कौटुम्बिक परिपालना के अतिरिक्त शेष द्रव्य द्वारा आढ्य-खजाने को वृद्धिगंत करे ।

(2) धनाढ्य पुरुष, सन्तानहीन धनपति, विधवायें, धर्माध्यक्ष आदि ग्रामीण अधिकारी वर्ग, वेश्याओं का समूह और कापालिक आदि पाखण्डी लोगों के धन पर टैक्स लगाकर उसकी सम्पत्ति का अल्पांश लेकर अपने कोष की वृद्धि करे ।।

(3) जो देशवासी प्रचुर सम्पत्ति सञ्चय कर रख लिए हैं उनकी सम्पत्ति का उचित विभाजन कर, उनके निर्वाह योग्य उचित धनराशि छोड़कर, अवशेष राशि को उनसे विनयपूर्वक प्रार्थना कर, समझा कर शान्ति से साथ ग्रहण करना और अपने कोष में जमाकर उसको ठोस बनाना ।

(4) जिनके पास अचल सम्पत्ति है ऐसे मन्त्री-आमात्य, पुरोहित और अधीनस्थ अन्य राजागण को मान-सम्मान से प्रसन्न कर फुसलाकर, अनुनय-विनय कर उनके घर जाकर उनसे धन का अंश लेकर कोष की वृद्धि करनी चाहिए ।।14॥ शुक्र विद्वान ने भी राजकीय कोष वृद्धि के ये ही उपाय कहे हैं नीतिसं. टी. पृ. 206 पर देखिये ।।

"।। इतिकोष समुद्देश ।।" 21॥

इति श्री परम् पूज्य चारित्रचक्रवर्ती मुनिकुञ्जर समाधि सम्राट् महातपस्वी, विश्व वंद्य, वीतरागी दिगम्बराचार्य श्री आदिसागर जी अंकलीकर के पट्टाधीश परम् पूज्य तीर्थभक्त शिरोमणि समाधि सम्राट् श्री महावीर कीर्ति जी महाराज की संघस्था, परम् पूज्य वात्सल्य रत्नाकर, निमित्त ज्ञानशिरोमणि श्री 108 आचार्य विमल सागर जी महाराज की शिष्या 105 प्रथमगणिनी ज्ञानचिन्तामणि आर्यिका विजयामती ने परम् पूज्य वात्सल्य रत्नाकर, सिद्धान्तचक्रवर्ती, तपस्वी सम्राट् अंकलीकर के तृतीय पट्टाधीश आचार्य 108 सन्मतिसागर जी के चरणसान्निध्य में यह हिन्दी विजयोदय की टीका का 21वां कोषसमुद्देश पूर्ण किया ।।

॥ ॐ ॥

22

बल-समुद्देश

बल शब्द की व्याख्या, प्रधान सैन्य, गज माहात्म्य, युद्धोपयोगी गजों की शक्ति :-

द्रविण दानप्रिय भाषणाभ्यामराति निवारणेन यद्धिहितं स्वामिनं सर्वावस्थासु बलते संवृणोतीति बलम् ।।1॥ बलेषु हस्तिनः प्रधानभंगं स्वैरवयवैरष्टायुधा हस्तिनो भवन्ति ।।2॥ हस्ति प्रधानो विजयो राज्ञां यदेकोऽपि हस्ती सहस्रं योधयति न सीदति प्रहार सहस्रेणापि ।।3॥ जातिः कुलं वनं प्रचारश्च वन हस्तिनां प्रधानं किन्तु शरीर बलं शौर्यं शिक्षा च तदुचिता च सामग्री सम्पत्तिः ।।4॥

अन्वयार्थ :- (द्रविण दानप्रिय भाषणाभ्याम्) धनदान व प्रियवचनों द्वारा (आराति निवारणेन) शत्रुओं का निवारण कर (यत्) जो (हि) निश्चय से (स्वामिनम्) राजा का (हितम्) हित को (सर्वावस्थासु) सभी अवस्थाओं में (बलते) बल प्रयोग करने (संवृणोति) रक्षण करे (इति) यह (बलम्) बल है ।।1॥ (बलेषु) बलों में (हस्तिनः) हाथी का (प्रधानम्) मुख्य (अंगम्) अंग, (स्वैः) अपने (अवयवैः) अवयवों द्वारा (अष्टायुधाः) अष्टायुध (हस्तिनः) हाथी (भवन्ति) होते हैं ।।2॥ (हस्तिप्रधानः) हाथियों की प्रधानता (राज्ञाम्) राजाओं की (विजयः) विजय है (यत्) क्योंकि (एकोऽपि) एक भी (हस्तिः) गज (सहस्रम्) हजारों (योधयति) युद्ध करता है (सहस्र) हजारों (प्रहारेण) प्रहारों से (अपि) भी (न) नहीं (सीदति) दुखी होता है ।।3॥ (हस्तिनाम्) हाथियों के (जातिः, कुलं, वनं, च प्रचारम) जाति, कुल वन और विचरण तो (प्रधानम्) प्रधान हैं (किन्तु) परन्तु (शरीरबलम्) शारीरिक शक्ति (शौर्यः) शूरता, (शुचिता) पवित्रता (च) और (उचिता सामग्री) उचित सामग्री (सम्पत्तिः) सम्पदा [अस्ति] है ।।4॥

विशेषार्थ :- जो राजा के शत्रुओं का निवारण करे, दान सम्मान व मधुर भाषण द्वारा अपने स्वामी के सभी प्रयोजनों को सिद्ध करे उसके कल्याण का उपाय करे, आपत्तियों से सुरक्षित करे, शक्ति प्रदान करता है उसे बल या सैन्य-चतुरङ्ग-हाथी, घोडे, रथ, पयादे कहते हैं ।।1॥ शुक्र विद्वान ने भी "बल" शब्द की यही व्याख्या की है :-

धनेन प्रिय संभाषैश्चैवं पुरार्जितम् ।
आपद्भयः स्वामिनं रक्षेत्ततो बलमिति स्मृतम् ।।1॥

चतुरङ्ग सेना में गज प्रमुख माने जाते हैं । क्योंकि ये अष्टायुध कहलाते हैं । ये अपने चार पैर, दो दाँत, सूंड और पूंछ इन आठों अंगों से युद्ध करते हैं । शत्रुओं का विनाशकर विजयश्री प्राप्त करते हैं । जबकि अन्य पैदल सैनिक दूसरे असि आदि आयुधों के धारण करने से आयुधधारी कहलाते हैं ।।2।। पालकि विद्वान ने भी कहा है :-

अष्टायुधो भवेद्दन्ती दन्ताभ्यां चरणैरपि ।
तथा च पुच्छ शुण्डाभ्यां संख्ये तेन स शस्यते ।।1।।

राजाओं की विजय के प्रधान हेतू गज ही होते हैं । क्योंकि समरांगण में हजारों शस्त्र प्रहारों से भी व्याकुल नहीं होता अपितु धीर, वीर निर्भीक सुभट की भाँति घायल होकर भी हजारों शत्रुओं को परास्त कर देता है ।।2।। शुक्र विद्वान ने भी द्विपद के पराक्रम वर्णन किया है :-

सहस्रं योधयत्येको यतो याति न च व्यथाम् ।
प्रहारै र्बहुभिर्जर्जरैस्तस्माद्धस्तिमुखो जयः ।।1।।

गज, मात्र जाति, कुल, वन और प्रचार के ही कारण प्रधान नहीं माने जाते । अपितु अन्य भी चार कारण हैं । वे निम्न प्रकार हैं :-

(1) उनका शरीर हृष्ट-पुष्ट एवं शक्तिशाली होता है, उनकी शक्ति न हो तो वे उनमें मन्द पशु जाति, ऐरावत आदि कुल, प्राच्य आदि वन, पर्वत, नदी आदि प्रचार पाये जाने पर भी वे युद्ध में विजयी नहीं हो सकते।

(2) शौर्य, पराक्रम का होना अत्यावश्यक है । इनके बिना प्रमादी-आलसी हाथी, अपने ऊपर आरूढ़ महावत के साथ-साथ युद्धभूमि में शत्रुओं द्वारा मार दिये जाते हैं ।

(3) उनमें युद्धोपयोगी शिक्षा भी होना अनिवार्य है । क्योंकि शिक्षित गज ही शत्रु के दाव-पेचों के अनुसार स्वयं बल प्रयोग कर विजय प्राप्त कर सकता है । अशिक्षित होने पर अपने साथ-साथ महावत को भी नष्ट करा देगा । और यदि बिगड गया तो अपने ही स्वामी की सेना को रौंद कर नष्ट-भ्रष्ट कर देगा ।

(4) हाथियों में समरोपयोगी सामग्री होना चाहिए । यथा कर्त्तव्यशीलता, आज्ञापालन, स्वामीभक्ति, विनय आदि सामग्री के साथ कठिन स्थानों में गमन करना, शत्रु सेना का उन्मूलन करना, आदि होना प्रधान है । क्योंकि इसके बिना वे विजयश्री प्राप्त नहीं करा सकते । वल्लभदेव ने भी कहा है :-

जातिवंशवनभ्रान्तै र्बलैरेतैश्चतुर्विधैः ।
युक्तोऽपिबलहीनः स यदि पुष्टो भवेन्न च ।।1।।

अशिक्षित हाथी से हानी और उनके गुण :-

अशिक्षिता हस्तिनः केवलमर्थप्राणहराः ।।5॥ सुखेन यानमात्मरक्षा परपुरावमर्दनमरिव्यूह विघातो जलेषु सेतुबन्धो वचनादन्यत्र सर्वविनोद हेतवश्चेति हस्तिगुणाः ।।6॥

अन्वयार्थ :- (अशिक्षिता) शिक्षारहित (हस्तिनः) गज (केवलम्) मात्र (अर्थप्राणहराः) धन और प्राणों के नाशक [भवन्ति] होते हैं ।।5॥ (सुखेन) आराम से (यानम्) सवारी (आत्मरक्षा) स्वरक्षा-महावत रक्षा (परपुरः) अन्य नगर का (अवमर्दनम्) नष्ट करना, (अरिव्यूहविघातः) शत्रु समूह का नाश (जलेषु) नदी आदि में (सेतुबन्धः) पुल (वचनात्) वचन के सिवाय (अन्यत्र) अन्य रूप से (विनोदः) मनोरञ्जक (च) और (सर्व) सम्पूर्ण (विनोदहेतवः) प्रमोद का साधन (हस्तिगुणाः) हाथी के गुण [भवन्ति] होते हैं ।।6॥

विशेषार्थ :- समरांगण की शिक्षारहित हाथी स्वामी का केवल धन खर्च करता है और युद्धादि में महावत के प्राणों का घात करता है । उनके द्वारा शत्रुविजयलाभ रूप प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । अतएव वे राजा-स्वामी का अन्न-घास आदि खाकर आर्थिक क्षति ही करते हैं, बिगड़ गया तो महावत के साथ अपने ही स्वामी की सेना को ध्वस्त-नष्ट कर देता है ।।5॥ नारद जी ने भी कहा है :-

शिक्षाहीना गजा यस्य प्रभवन्ति महीभृतः ।
कुर्वन्ति धननाशं ते केवलं धन संक्षयम् ।।1॥

गजों में निम्न गुण प्रमुख रूप से पाये जाते हैं :-

(1) कठिन मार्ग को सरलता से पार कर लेना, (2) शत्रुकृत प्रहारों से अपनी व महावत की रक्षा कर लेना, (3) शत्रु-नगर कोट व प्रवेश द्वार भङ्ग कर उसमें प्रविष्ट होकर जय करना, (4) शत्रु की सेना को कुचलकर नष्ट करना, (5) नदी में पंक्तिबद्ध खड़े होकर पुलबांधना, (6) बचनालाप के अतिरिक्त अपने स्वामी के सर्व कार्य आनन्द से करना ।।6॥ भागुरि विद्वान ने भी यही कहा है :-

सुख यानं सुरक्षा च शत्रोः पुरविभेदनम् ।
शत्रुव्यूह विघातश्च सेतुबन्धो गजैःस्मृतः ।।1॥

अब अश्वों की सेना, उसका माहात्म्य व जात्याश्व का माहात्म्य :-

अश्ववलं सैन्यस्य जंगमं प्रकारः ।।7॥ अश्वबल प्रधानस्य हि राज्ञः कदन कन्दुक क्रीडाः प्रसीदन्ति श्रियः, भवन्ति दूरस्था अपि शत्रवः करस्थाः । आपत्सु सर्वमनोरथ-सिद्धिस्तुरंगे एव, सरणमपसरणमवस्कन्दः परानीकभेदनं चतुरङ्गमसाध्यमेतत् ।।8॥ जात्यारूढो विजीगीषुः शत्रोर्भवतितत्तस्यगमनं नारति र्ददाति ।।9॥ तर्जिका (स्व) स्थलाणा करोखरागाजिगाणा केकाणा पुष्टाहारा गव्हारा सादुयारा सिन्धुपारा जात्याश्वानां नवोत्पत्ति स्थानानि ।।10॥

अन्वयार्थ :- (अश्ववलम्) अश्वसेना (सैन्यस्य) सेना का (जंगमम्) चलता फिरता (प्रकारः) भेद

है ।17॥ (हि) निश्चय से (अश्वबलप्रधानस्य) घोटकबल प्रधान वाला (राज्ञः) राजा (कदनकन्दुकः) युद्ध रूप गेंद (क्रीडाः) खेल (प्रसीदन्ति) प्रसन्न होती है, - विजयश्री प्रसन्न (श्रियः) लक्ष्मी [प्रसीदन्ति] प्रसन्न होती है (दूरस्था) दूर के (अपि) भी (शत्रवः) शत्रु (करस्थाः) हाथ में आ जाते हैं (आपत्सु) आपातकाल में (सर्वमनोरथ-सिद्धिः) सभी इच्छित सिद्ध (तुरंगाः) अश्व (एव) ही, (सरणम्) आना (अपसरणम्) भाग जाना (अवस्कन्दः) सेना से (पर अनीक भेदनम्) शत्रु सेना का भेद न करना (च) और (एतत्) इसी प्रकार (असाध्य) कठिन कार्य (तुरङ्गाम्) घोडे का कार्य [अस्ति] है ।18॥ (विजिगीषु) जीतने का इच्छुक (जात्यारूढः) उसका विजयी होता है (आततिः) शत्रु (गमनम्) आक्रमण (न) नहीं (ददाति) करता है ।19॥ (तर्जिकादि) जाति अश्व के उत्पत्ति स्थान 9 हैं ।।10॥

विशेषार्थ :- अश्व सेना चतुरङ्ग सेना का चलता-फिरता भेद है । क्योंकि ये अत्यन्त चपल, तीव्र-वेग व वीर होते हैं ।17॥ नारद विद्वान ने कहा है :-

तुरंगमबलं यच्चतत्प्रकारो बलं स्मृतम् ।
सैन्यस्य भूभुजा काय तस्मात्तद्वेगवत्तरम् ।।1॥

अर्थ उपर्युक्त ही है ।17॥

जो राजा अश्व सेना से बलिष्ठ है उस पर विजयश्री प्रसन्न होती है । क्योंकि गेन्द के खिलाड़ी की भाँति युद्ध में क्रीड़ा करने वाली विजयलक्ष्मी अश्वारोहियों को ही विजय हार पहनाती है । जिससे स्वामी को प्रचुर सम्पत्ति प्राप्त होती है । दूरवर्ती शत्रु भी निकटवर्ती हो जाते हैं । इस सेना द्वारा विजयेच्छु आपत्तिकाल में इष्ट वस्तु प्राप्त करता है । शत्रुओं के समक्ष जाना, उस पर हमला करना और अवसर आने पर छलांग मार कर भाग जाना सरलता से हो जाता है । छल से उन पर धावा करना अथवा शत्रुसेना को छिन्न-भिन्न कर डालना, ये कार्य अश्व सेना ही द्वारा संभवित होते हैं । रथादि से नहीं ।18॥ शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

प्रेक्षतामपि शत्रूणां यतो यान्ति तुरंगमैः ।
भूपाला येन निघ्नन्ति शत्रुं दूरेऽपि संस्थितम् ।।1॥

अर्थ :- राजागण अश्वसेना के माध्यम से दर्शकों के समक्ष ही शत्रुओं पर आक्रमण कर दूरवर्ती सेना को भी परास्त कर देते हैं, शत्रु को मार डालते हैं ।।1॥

जो नृप जात्यश्व पर आरूढ़ होकर शत्रु पर चढ़ाई करता है वह अवश्य विजयी होता है । शत्रु विजिगीषु पर शत्रु प्रहार नहीं कर सकता ।19॥

जाति अश्व के 9 उत्पत्ति स्थान व जातियाँ हैं :-

1. तार्जिका, 2. स्वस्थलाणा, 3. करोखरा, 4. गाजिगाणा, 5. कंकाणा, 6. पुष्टाहार, 7. गाव्हारा, 8. सादुयारा व 9. सिन्धुपारा ।।10॥ शालिहोत्र विद्वान ने भी कहा है :-

तर्जिका, स्वस्थलाणासुतोखरास्थोत्तमाहयाः । गाजिगाणासकेकाणाःपुष्टाहाराश्च मध्यमाः ।।1॥

रथसैन्य का माहात्म्य व सप्तम-उत्साहीसेना एवं उसके गुण :-

समाभूमिधनुर्वेदविदोरथारुढाःप्रहर्तारो यदा तदा किमसाध्यं नाम नृपाणाम् ।।11॥ रथैरवमर्दितं पर बलं सुखेन जीयते मौल-भृत्यकभृत्यश्रेणी मित्राटविकेषु पूर्वं पूर्वं वलं यतेत ।।12॥ अथान्यत्सप्तममौत्साहिकं बलं यद्विजिगीषोर्विजययात्राकाले पर राष्ट्रविलोडनार्थमेव मिलति क्षत्रसारत्वं शस्त्र ज्ञत्वं शौर्य सारत्वमनुरक्तत्वं चे त्यौत्साहिकस्य गुणाः ।।13॥

अन्वयार्थ :- (यदा) जब (धनुर्वेदविदाः) धनुर्विद्यानिपुण (रथारुढाः) रथ पर सवार हो (समाभूमि) रणभूमि में (प्रहर्तारः) प्रहार करें (तदा) उस समय (नृपाणाम्) राजाओं को (किम्) क्या (नाम) वस्तु (असाध्यम्) असंभव है ? कुछ नहीं ।।11॥ (रथैः) रथों द्वारा (अवमर्दितम्) कुचला (परबलम्) शत्रुदल (सुखेन) सरलतया (जीयते) जीती जाती है । (मौलः) परम्परा से आगत (भृत्यकभृत्यः) अधिकारी सैन्य (श्रेणी) श्रेणी सेना (मित्राः) मित्र सेना (आटविकेषु) आटविक सेना में (पूर्वम् पूर्वम्) पहले पहले (बलम्) सेना का (यतेत) प्रयोग करे ।।12॥ (अथ) इनके सिवा (अन्यत्) दूसरी (सप्तमम्) सातवीं (औत्साहिकम्) औत्साहिक (वलम्) सेना (यत्) जो (विजीगीषोः) जीतने वालों की (जय यात्रा काले) विजयकाल में (पर-राष्ट्र) शत्रुराष्ट्र को (विलोडनार्थम्) नष्ट करने को (एव) ही (मिलति) मिलती है (क्षत्रसारत्वम्) क्षात्र (शस्त्रज्ञत्वम्) शस्त्रज्ञान (शौर्यसारत्वम्) वीरत्व (च) और (अनुरक्तत्वम्) स्वामी अनुराग (औत्साहिकस्य) औत्साहिक सेना के (गुणाः) गुण हैं ।।13॥

विशेषार्थ :- समानभूमि समर में जब धनुर्विद्याविद् रथों पर सवार हो शत्रु पर प्रहार करते हैं तब राजाओं को क्या असाध्य रहता है ? कुछ भी नहीं ।।11॥ अर्थात् विजयलाभादि सरलता से प्राप्त होती है । सारांश यह है कि समतल भूमि में संग्राम करने पर प्रवीण योद्धाओं द्वारा विजय निश्चित प्राप्त होती है । ऊबड-खाबड भूमि में सेना-रथादि बराबर संचरित न होने से पराजय ही होती है ।।11॥ शुक्र विद्वान ने निम्न उद्धरण का भी यही आशय है :-

रथारूढाः सुधानुष्का भूमिभागे समे स्थिताः ।
युद्धयन्ते यस्य भूपस्य तस्यासाध्यं न किंचन ।।1॥- ॥11॥

विजयाभिलाषी के रथों की सेना द्वारा नष्ट-भ्रष्ट हुई शत्रु सेना सरलता से जीती जा सकती है । परन्तु इसके साथ ही मौल-वंश परम्परा से चली आयी प्रामाणिक, विश्वस्त व युद्धविद्या विशारद पैदल सेना, अधिकारी सेना, सामान्य सेना, श्रेणी सेना, मित्र सेना व आटविक सैन्य, ये 6 प्रकार की सेनाएं हैं इनमें से सर्वप्रथम सारभूत सैन्य को युद्ध में सुसज्जित करने का प्रयत्न करना चाहिए । क्योंकि फल्गुसैन्य-कमजोर, अविश्वासी, युद्धकाल में अकुशल, निस्सार सैन्य द्वारा तो पराजय सुनिश्चित है ही ।।12॥

विशेष विवरण चाणक्य ने किया है । वंश परम्परा से आने वाली नित्य वशी रहने वाली प्रामाणिक व विश्वासपात्र पैदल सेना को "सारबल" कहते हैं एवं गुण निष्पन्न गजों व घोडों की सेना भी "सारभूत सैन्य" है । अर्थात् कुल, जाति, धीरता, कार्य करने योग्य आयु, शारीरिक बल, आवश्यक ऊँचाई-चौडाई आदि वेग, पराक्रम, युद्धोपयोगी शिक्षा, स्थिरता, सतत ऊपर मुंह उठाकर रहना, सवार की आज्ञा में रहना तथा और भी शुभ लक्षण व चेष्टाएँ इत्यादि

गुण-युक्त हाथी व घोडों का सैन्य भी "सारबल" है । अतएव जयलक्ष्मी के इच्छुक राजा सारभूतसैन्य द्वारा सुखपूर्वक शत्रु का दमन करता है ।। नारद ने भी "सारबल" का यही लक्षण कहा है :-

रथैरवमर्दितं पूर्वं परं सैन्यं जयेन्नृपः ।
षड्भिर्बलैः समादिष्टै र्मौलाद्यैः स सुखेन च ।।

उपर्युक्त षट् सेनाओं के अतिरिक्त एक सातवीं उत्साही सेना भी होती है । जिस समय विजयाभिलाषी शत्रु की सेना पर चतुरंग सेना से प्रबल आक्रमण करता है, तब वह शत्रु-राष्ट्र को नष्ट-भ्रष्ट करने व धन लूटने के लिए इसकी सेना में घुस जाते हैं । मिल जाते हैं । इनमें छात्र क्षेत्र समाज, विवेक, शस्त्र विद्या प्रवीण व इसमें अनुराग युक्त क्षत्रिय वीर पुरुष सैनिक होते हैं ।।13॥ नारद विद्वान ने भी कहा है :-

औत्साहिक सैन्य के प्रति राज-कर्त्तव्य, प्रधान सेना का माहात्म्य स्वामी द्वारा सेवकों को दिये सम्मान का प्रभाव :-

मौलबलाविरोधेनान्यद्बलमर्थमानाभ्यामनुगृह्णीयात् ।।14॥ मौलाख्यमा पद्यनुगच्छति दण्डितमपि न द्रुह्यति भवति चापरेषामभेद्यम् ।।15॥ न तथार्थः पुरुषान् योधयति यथा स्वामिसम्मानः ।।16॥

अन्वयार्थ :- (मौलिबलः) मुख्य सेना (अविरोधेन) के विरोध बिना (अन्यत्) दूसरी (बलम्) सेना को भी (अर्थम्) धन (मानाभ्याम्) मान द्वारा (गृह्णीयात्) स्वीकार करे ।।14॥ (मौलाख्या) मौल नामक सेना (आपदि) विपत्ति में (अनुगच्छति) साथ रहती है (दण्डितम्) दण्ड दिये जाने पर (अपि) भी (न द्रुह्यति) द्रोह नहीं करती है (च) और (परेषाम्) शत्रु से (अभेद्यम्) अभिद्य (भवति) होती है ।।15॥ (यथा) जिस प्रकार (स्वामिसम्मानः) राजा से प्राप्त सम्मान (पुरुषान्) वीरों को (योधयति) युद्ध कराता है (तथा) उस प्रकार (अर्थम्) धन-सम्पत्ति (न) नहीं कराती है ।।16॥

विशेषार्थ :- भूपति अपनी प्रधान सेना का अपमान कभी न करें । अपितु उसे दान सम्मान द्वारा प्रसन्न-अनुकूल बनाने का प्रयत्न करे । उसके साथ ही उत्साही सैन्य अर्थात् शत्रु सेना को भी राज सम्मान देकर प्रसन्न रखने की चेष्टा करे, ताकि वह अधिक विद्रोही न हो जावे ।।14॥ बादरायण का भी यही मत है :-

अन्यद् बलं समायातमौत्सुक्यात् परनाशनम् ।
दानमानेन तत्तोष्यं मौल सैन्याविरोधतः ।।1॥

मौल सैन्य विपत्ति आने पर भी राजा का साथ देता है । दण्डित होने पर भी स्वामीभक्ति से विमुख नहीं होता । तथा शत्रुओं द्वारा भेदनीति से वश नहीं होता । अतएव विजय वैजयन्ती लाभेच्छु भूपेन्द्रों को उसको मान-सम्मान व दान द्वारा प्रसन्न रखना चाहिए ।।15॥ वशिष्ठ विद्वान ने भी यही कहा है :-

न दण्डितमपि स्वल्पं द्रोहं कुर्यात् कथंचन ।
मौलं बलं न भेद्यं च शत्रुवर्गेण जायते ।।1॥

जिस प्रकार राजा से प्राप्त सम्मान-प्रशंसा सैनिकों को युद्धार्थ प्रेरणा प्रदान करती है, उत्साहित करती है उस प्रकार दान में दिया धन नहीं करता । अर्थात् सैनिक सुभटों को धन की अपेक्षा सम्मान देना उत्तम है । श्रेयस्कर है ।।16॥ नारायण विद्वान ने भी सेना को अनुकूल रखने का यही उपाय कहा है :-

न तथा पुरुषानर्थः प्रभूतोऽपि महाहयम् ।
कारापयति योद्धृणां स्वामि संभावना यथा ।।1॥

सेना विरुद्ध के कारण :-

स्वयमनवेक्षणं देयांशहरणं कालयापना व्यसनाप्रतीकारो विशेषविधाव संभावनं च तंत्रस्य विरक्ति कारणानि ।।17॥ स्वयमवेक्षणीयसैन्यं परैरवेक्षयन्नर्थतंत्राभ्यां परिहीयते ।।18॥ आश्रितभरणे स्वामिसे वायां धर्मानुष्ठाने पुत्रोत्पादने च खलु न सन्ति प्रतिहस्ताः ।।19॥

अन्वयार्थ :- (स्वयम्) अपने आप (अनवेक्षणम्) निरीक्षण न करना (देयम्) दान (अंशम्)भाग को (हरणम्) हडपना (कालयापना) वेतन समय पर न देना (व्यसने) विपत्ति में (अप्रतिकारः) सहाय न करना (च) और (विशेषविधौ) विशेष विधानों में (असंभावनम्) सहाय न करना (तंत्रस्य) सेना के (विरक्ति) विमुखता के (कारणानि) कारण [सन्ति] हैं ।।17॥ (स्वयम्) अपने (अवेक्षनीयम्) निरीक्षण योग्य (सैन्यम्) सेना को (परैः) दूसरों द्वारा (अवेक्षयन्) देखभाल कराने से (अर्थ-तंत्राभ्याम्) धन और सेना (परिहीयते) क्षीण होते हैं-कम होते हैं ।।18॥ (आश्रितभरणे) सेवकों के भरण-पोषण में (स्वामिसेवायाम्) राज सेवा में (धर्मानुष्ठाने) धार्मिक क्रिया में (च) और (पुत्रोत्पादने) पुत्रोत्पत्ति में (खलु) निश्चय से (प्रतिहस्ताः) दूसरों के हाथ-आक्षेप (न) नहीं (सन्ति) होते हैं ।।19॥

विशेषार्थ :- सेना राजा के निम्न कार्यों से विरुद्ध हो जाती है - 1. स्वयं अपनी सेना की देख-रेख नहीं करना, 2. योग्य वेतन में कटौती करना - कम देना, 3. वेतन यथा समय नहीं देना, विलम्ब से पारिश्रमिक देना, 4. विशेष अवसरों पर यथा पुत्रोत्पत्ति, त्यौहार, विवाहादि के समय उन्हें आर्थिक सहयोग नहीं देना । अतः राजा को चाहिए कि इन बातों का ध्यान रखते हुए सैन्य बल को अनुकूल बनाये ।।17॥ भारद्वाज ने भी कहा है :- इसी ग्रन्थ के नीतिवाक्यामृत मू.पृ.213 श्लो. 1 से 3 तक ।

जो नृपति अपनी सेना की स्वयं देख-भाल न कर दूसरों से सुरक्षा कराता है । स्वयं प्रमादी रहता है वह नियम से धन और सेना दोनों से हाथ धो बैठता है । अर्थात् धन व सेनारहित हो जाता है । जैमिनि ने भी कहा है ।।18॥

स्वयं नालोकयेत्तंत्रं प्रमादाद्यो महीपतिः ।
तदन्यैः प्रेक्षितं धूर्तैर्विनश्यति न संशयः ।।1॥

सदाचारी, नीतिकुशल पुरुषों को सेवकों का भरण-पोषण, स्वामी की सेवा, धार्मिक कार्यों का अनुष्ठान और पुत्रोत्पत्ति इन चारों कार्यों को अन्य से न कराकर स्वयं ही करना चाहिए । यही लोकाचार व धर्माचार है ।।19॥ शुक्र ने भी कहा है -

भृत्यानां पोषणं हस्ते स्वामिसेवाप्रयोजनम् ।
धर्मकृत्यं सुतोत्पत्तिं पर पार्श्वान्न करायेत् ।।1।।

अब सेवकों को दातव्य धन, वेतन न मिलने पर भी सेवक का कर्त्तव्य, दृष्टान्त :-

तावद्देयंयावदाश्रिताः सम्पूर्णतामाप्नुवन्ति ।।20।। न हि स्वं द्रव्यमव्ययमानो राजा दण्डनीयः ।।21।। को नाम सचेताः स्वगुडंचौर्यात्खादेत् ।।22।।

अन्वयार्थ :- (तावत्) उतना (देयम्) देना (यावत्) जितना से (आश्रिताः) सेवकजन (सम्पूर्णताम्) पूर्ण सन्तुष्टि (आप्नुवन्ति) प्राप्त करते हैं ।।20।। (स्वम्) अपने (द्रव्यम्) धन को (अव्ययमानः) नहीं व्यय करे तो भी (राजा) नृप (दण्डनीयः) दण्डयोग्य (न) नहीं (हि) निश्चय से ।।21।। (कः) कौन (नाम) व्यक्ति (सचेताः) विचारशील (स्वगुडम्) अपने ही गुड को (चौर्यात्) चोरी से (खादेत्) खावे ? ।।22।।

विशेषार्थ :- सेवक स्वामी के आश्रय अपना जीवन चलाते हैं । अतएव स्वामी राजा का कर्त्तव्य है कि वह उन्हें उनके भरण-पोषण योग्य पर्याप्त सामग्री प्रदान करे । जिससे वे संतुष्ट रहें सुखी जीवन जी सकें ।।20।। शुक्र विद्वान कहते हैं :-

आश्रितायस्य सीदन्ते शत्रुस्तस्य महीपतेः ।
स सर्वैष्ठ्यते लोकैः कार्पण्याच्च सुदुःस्थितः ।।1।।

यदि राजा अपने सेवकों को वेतन नहीं दे तो भी उनका कर्त्तव्य है कि वे अपना सेवा कार्य न छोड़े, तथा स्वामी विद्रोह भी नहीं करे ।।21।। शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

वृत्त्यर्थं कलहः कार्यो न भृत्यैर्भूभुजा समं ।
यदि यच्छति नो वृत्तिं नमस्कृत्य परित्यजेत् ।।1।।

अर्थ :- वृत्ति न मिलने पर सेवकों को राजा के साथ कलह नहीं करना चाहिए । यदि कार्य न देना चाहे तो नमस्कार कर प्रेम-भक्ति से नौकरी त्याग दे ।। इति ।।

जिस प्रकार स्वाभिमानी पुरुष अपने गुड को चोरी से नहीं खाता उसी प्रकार वह राजा के साथ विग्रह कर कुपित हो अपना अपमान कराना भी नहीं चाहता । अर्थात् स्वामिद्रोह अपमान का कारण होता है उसे कभी नहीं करे ।।22।।

कृपण राजा का दृष्टान्त, आलोचना, योग्यायोग्यविचार शून्यता से हानि :-

किं तेन जलधेन यः काले न वर्षति ।।23।। स किं स्वामी य आश्रितेषु व्यसने न प्रविधत्ते ।।24।। अविशेषज्ञे राज्ञि को नाम तस्यार्थे प्राणव्यये नोत्सहेत ।।25।।

अन्वयार्थ :- (तेन) उस (जलधेन) बादल से (किम्) क्या (यः) जो (काले) समय पर (न) नहीं (वर्षति)

बरसता है ? ।123॥ (सः) वह (स्वामी) राजा (किं) क्या (यः) जो (आश्रितेषु) अपने आधीन के (व्यसने) विपत्तिकाल में (न) नहीं (प्रविधत्ते) रक्षा करे ? ।।24॥

विशेष :- उन मेघों से क्या प्रयोजन जो समय पर जलवर्षण नहीं करते हैं ? कोई कार्य सिद्धि नहीं होता। उसी प्रकार जो पुरुष या राजा समय पर अपने सेवकों का रक्षण नहीं करता उससे क्या लाभ ? कुछ भी नहीं । वह स्वामी व्यर्थ है ।।23॥

वह स्वामी किस काम का ? जो अपने आश्रितों का विपत्तिकाल में रक्षण नहीं करे । संकटकाल में सेवकों की सहायता नहीं करना निंद्यनीय है ।। अभिप्राय यह है कि दुःख में सहायक होना स्वामी का कर्त्तव्य है ।।23॥

जो राजा गुण-दोषों का विचार नहीं करता । अर्थात् कौन व्यक्ति विश्वास करने योग्य है, कौन नहीं है ऐसा विचार नहीं कर सकता । काँच और मणि में भेद नहीं समझता । अर्थात् सज्जन व दुर्जन के साथ समान व्यवहार करता है, उसके लिए कौन सेवक अपने प्राण न्यौछावर करेगा ? कौन युद्धभूमि में अपने बलि देगा ? कोई नहीं? आंगिर विद्वान ने भी यही कहा है :-

काचोमणिर्मणिः काचो यस्य सम्भावनेदृशी ।
कस्तस्य भूपतेरग्रे संग्रामे निधनं व्रजेत् ।।

अर्थ :- जो काँच को मणि और मणि को काच समझता है उस राजा के समक्ष संग्राम में मरने को कौन तैयार होगा ? अर्थात् कोई नहीं ।।1।।24॥

।। इति बल समुद्देशः 1।22।।

इति श्री चारित्र चक्रवर्ती परमपूज्य मुनिकुञ्जर समाधि सम्राट् आचार्य परमेष्ठी विश्ववन्द्य, अघोर तपस्वी, वन गुहा निवासी श्री 108 आचार्य आदिसागर जी महाराज (अंकलीकर) के पट्टाधीश तीर्थभक्त शिरोमणि समाधिसम्राट् परम् पूज्य श्री आचार्य महावीर कीर्ति जी संघस्था एवं परम पूज्य वात्सल्य रत्नाकर, निमित्त ज्ञान शिरोमणि श्री 108 आचार्य विमल सागर जी की शिष्या प्रथम गणिनी, ज्ञान चिन्तामणि 105 आर्यिका विजयामती ने यह हिन्दी विजयोदय टीका का 22वां बल समुद्देश श्री परम पूज्य उग्रतपस्वी सम्राट् सिद्धान्त चक्रवर्ती अंकलीकर के तृतीय पट्टाधीश आचार्य श्री सन्मतिसागर जी महाराज के पावन चरणों में पूर्ण किया ।।

ॐ शान्ति ॐ

23

मित्र समुद्देशः

मित्र के लक्षण व भेद :-

यः सम्पदीव विपद्यपि मेद्यति तन्मित्रम् ।।1॥ यः कारणमन्तरेण रक्ष्योरक्षको वा भवति तन्नित्यं मित्रम् ।।2॥ तत्सहजं मित्रं यत्पूर्वपुरुष परम्परायातः सम्बन्धः ।।3॥ यद वृत्ति जिवित हेतोराश्रितं तत्कृत्रिमं मित्रम् ।।4॥

अन्वयार्थ :- (यः) जो (सम्पदि) सम्पति के (इव) समान (विपदि) विपत्ति में (अपि) भी (मेद्यति) स्नेह करता है (तत्) वह (मित्रम्) मित्र [अस्ति] है ।।1॥ (यः) जो (कारणम्) प्रयोजन (अन्तरेण) नहीं होने से भी (रक्ष्य) बचाने योग्य (वा) अथवा (रक्षकः) रक्षा करने वाला (भवति) होता है (तत्) वह (नित्यम्) नित्य (मित्रम्) मित्र [भवति] होता है ।।2॥ (यत्) जो (पूर्वपुरुष) पूर्वजों की (परम्परायातः) परम्परा से चला आया (सम्बन्धः) सम्बन्ध हो (तत्) वह (सहजम्) सहज (मित्रम्) मित्र [अस्ति] है ।।3॥ (यत्) जो (वृत्तिः) आजीविका (जिवितहेतो) जीवन के निमित्त (आश्रितम्) आश्रय ले (तत्) वह (कृत्रिमम्) बनावटी (मित्रम्) मित्र [अस्ति] है ।।4॥

भावार्थ :- जो पुरुष सम्पत्ति काल अर्थात् सुखमय जीवन के समान दुःख संकट आने पर भी उसी प्रकार साथ दे उसे मित्र कहते हैं । यदि आपत् काल में सहयोगी नहीं हो तो वह मित्र नहीं, अपितु शत्रु है ।।1॥ जैमिनि विद्वान ने भी लिखा है :-

यत्समृद्धौ कियात्स्नेहं यद्वत्तद्वत्तथापदि,
तन्मित्रं प्रोच्यते सद्भिर्वैपरीत्येन वैरिणः ।।1॥

जो सम्पत्ति व विपत्ति दोनों स्थिति में समान रूप से स्नेह करे वह मित्र, इससे विपरीत चले वह शत्रु है ।।1॥

जो शत्रु द्वारा पीडित किये जाने पर एक-दूसरे की रक्षा करते हैं "वे नित्य मित्र" कहलाते हैं ।।2॥ नारद विद्वान ने नित्यमित्र का यही लक्षण बताया है । यथा :-

रक्ष्यते वध्यमानस्तु अन्यैर्निष्कारणं नरः ।
रक्षेद्वा वध्यमानं यत्तन्नित्यं मित्रमुच्यते ।।1॥

परम्परा से चले आये भाई-बहिन आदि कुटुम्बी जन सहज मित्र हैं । क्योंकि वंश परम्परा से चले आ रहे हैं । भागुरि विद्वान ने भी यही सिद्धान्त बताया है :-

सम्बन्धः पूर्वजानां यस्तेन योऽत्र समाययौ ।
मित्रत्वं कथितं तच्च सहजं मित्रमेव हि ।।1 ॥

यही सहजमित्र का लक्षण है ।13 ॥

जो व्यक्ति उदरपूर्ति और प्राणरक्षा के लिए अपने स्वामी की सेवा करता है और वेतन प्राप्त करता है - वेतन से ही स्नेह करता है वह 'कृत्रिम' मित्र है । क्योंकि वह स्वार्थ सिद्धिवश मित्रता करता है और जीविकोपयोगी वेतन न मिलने पर अपने स्वामी से मित्रता करना छोड़ देता है ।14॥ भारद्वाज विद्वान ने भी कहा है :-

वृत्तिं गृह्णति यः स्नेहं नरस्य कुरुते नरः ।
तन्मित्रं कृत्रिमं प्राहुर्नीतिशास्त्रविदोजनाः ।।1 ॥

स्वार्थं सिद्धयर्थं जो प्रीति करता है वह कृत्रिम मित्र है ।14 ॥

मित्र के गुण-दोष, मित्रता-नाशक कार्य व निष्कपट मैत्री का दृष्टान्त :-

व्यसनेषूपस्थानमर्थेष्वविकल्पः स्त्रीषु परमं शौचं कोप प्रसादविषये वाप्रतिपक्षत्वमिति मित्रगुणाः ।15 ॥ दानेन प्रणयः स्वार्थपरत्वं विपद्युपेक्षणमहितसम्प्रयोगो विप्रलम्भनगर्भप्रश्रयश्चेति मित्रदोषाः ।16 ॥ स्त्री संगति र्विवादोऽभीक्ष्णयाचनमप्रदानमर्थसम्बन्धः परोक्षदोषग्रहणंपैशून्याकर्णनं च मैत्री भेदकारणानि ।17 ॥ न क्षीरात् परं महदस्ति यत्संगति मात्रेण करोति नीरमात्मसमम् ।18 ॥

अन्वयार्थ :- (व्यसनेषु) दुःख में (उपास्थानम्) उपस्थित होना (अर्थेषु) धन में (अविकल्पः) छलरहित, (स्त्रीषु) स्त्रियों में (परमम्) अत्यन्त (शौचम्) पवित्रभाव, (वा) तथा (कोपविषादविषये) क्रोध-खेद में (अपरितिपक्षत्वम्) ईर्ष्यारहित (इति) ये (मित्रगुणाः) मित्र के गुण हैं ।15॥ (दानेन) दान से (प्राणयः) प्रीति, (स्वार्थपरत्वम्) स्वार्थीपन (विपदि) संकट में (उपेक्षणम्) उपेक्षा करना, (अहितसम्प्रयोगो) अहित में प्रवृत्ति (विप्रलम्भन) वंचना (च) और (गर्भप्रश्रयः) गुणों की प्रशंसा न करना (इति) ये (मित्रदोषाः) मित्र के दोष हैं ।16॥ (स्त्री संगतिः) मित्र की स्त्री से सम्पर्क (विवादः) विवाद (अभीक्ष्ण याचनम्) नित्य मांगना (अप्रदानम्) स्वयं दान नहीं देना (अर्थ सम्बन्धः) लैन-दैन (परोक्षदोषग्रहणम्) परोक्ष में दोष कथन (च) और (पैशून्यं) चुगली (अकर्णनम्) सुनना (मैत्री) मित्रता के (भेदकारणानि) भंग के कारण हैं ।17॥ (क्षीरात्) दूध से (परम्) बढकर (महत्) महान (न) नहीं (अस्ति) है (यत्) जो (संगतिमात्रेण) सम्पर्क मात्र से (नीरम्) जल को (आत्मसमम्) आत्म समान (करोति) करता है ।18॥

विशेषार्थ :- यथार्थ मित्र के निम्न प्रकार गुण हैं - 1. जो पुरुष बिना बुलाये मित्र के संकट काल में आकर उपस्थित होता है । 2. जो अपने मित्र से स्वार्थ सिद्धि नहीं चाहता हो अर्थात् प्रत्युपकार की भावना नहीं करता हो, 3. जो अपने मित्र के धन के साथ छल कपट नहीं करता - उसके धन को हडपने की चेष्टा न करता हो

। 4. मित्र की पत्नी के प्रति दुर्भाव भोगदृष्टि नहीं रखता हो, 5. मित्र के क्रुद्ध व प्रसन्न होने पर भी ईर्ष्या नहीं रखता हो । इन गुणों से युक्त ही सच्चा मित्र होता है । नारद विद्वान ने भी ये ही गुण कहे हैं :-

आपत्काले च सम्प्राप्ते कार्ये च महति स्थिते ।
कोपे प्रसादनं नेच्छेद् मित्रस्येति गुणाः स्मृताः ।।1॥

सारांश यह है कि मित्र वही है जो अपने मित्र की हर परिस्थिति में उसका सहायक बना रहे ।।5॥

अब दुर्गुणी मित्र को कहते हैं :-

1. मित्र से धनादि प्राप्ति की अपेक्षा से स्नेह करना । 2. स्वार्थ सिद्धि में लीन रहना । 3. विपत्तिकाल में सहाय नहीं करे । 4. विश्वासघात करना अर्थात् मित्र के शत्रुओं के साथ जा मिलना । 5. छल-कपट करना, धोखे से ऊपरी नम्रता, विनय व हमदर्दी दिखाना । 6. मित्र के गुणों का प्रकाश न करना ये मित्र के दोष हैं ।।6॥ रैम्य विद्वान ने भी मित्र के दोषों का उल्लेख करते हुए कहा है :-

दानस्नेहो निजार्थत्वमुपेक्षा व्यसनेषु च ।
वैरिसंगो प्रशंसा च मित्रदोषाः प्रकीर्तिताः ।।1॥

1. मित्र की स्त्री पर कुदृष्टि रखना, 2. मित्र के साथ वाद-विवाद करना, 3. सतत् धनादि की याचना करना, 4. स्वयं कभी भी धनादि नहीं देना, 5. आपस में लेन-देन व्यापार का सम्बन्ध रखना, 6. मित्र की निन्दा व चुगली करना। आदि बातों से मैत्री भंग हो जाती है । प्रीति नष्ट होती है ।।7॥ शुक्र ने कहा है-

स्त्री संगति र्विवादोऽथ सदार्थित्वमदानता ।
स्वसम्बन्धस्तथा निन्दा पैशून्यं मित्रवैरिता ।।

जल का सच्चा मित्र दूध है । दुग्ध सिवाय अन्य कोई उत्तम मित्र है ही नहीं । क्योंकि वह अपने सानिध्य से तत्क्षण अपने गुण स्वरूप बना लेता है । उसी प्रकार मनुष्य को ऐसे ही उत्तम पुरुष की संगति करना चाहिए जो उसे अपने समान गुणयुक्त बना सके ।।8॥ गौतम विद्वान का भी यही अभिप्राय है :-

गुणहीनोऽपि चेत्संगं करोति गुणिभिः सह ।
गुणवान् मन्यते लोकैर्दुग्धाढ्यं कं यथा पयः ।।2॥

मैत्री की आदर्श परीक्षा, प्रत्युपकार की दुर्लभता व दृष्टान्त :-

न नीरात्परं महदस्ति यन्मिलितमेवसंवर्धयति रक्षति च स्वक्षयेण क्षीरम् ।।9॥ येन केनाप्युपकारेण तिर्यञ्चोऽपि प्रत्युपकारिणोऽव्यभिचारिणश्च न पुनः प्रायेण मनुष्याः ।।10॥ तथा चोपाख्यानकंअटव्यां किलान्ध कूपे पतितेषु कपि सर्पसिंहा क्षशालिकसौवर्णिकेषु कृतोपकारः कंकायननामा कश्चित्पान्थो विशालायां पुरि तस्मादक्ष शालिकाद् व्यापादनममवापनाडीजंघश्च गोतमादिति ।।11॥

अन्वयार्थ :- (नीरात्) जल से (परम्) बढ़कर (महद्) महान (न) नहीं (अस्ति) है, (यत्) जो (मिलितम्) मिलते (एव) ही (संवर्धयति) बढाता है (च) और (स्व) अपने (क्षयेण) नाश से (क्षीरम्) दुग्ध को (रक्षति) रक्षित करता है ।।9॥ (येन) जिस (केन) तिस (अपि) भी (उपकारेण) भलाई से (तिर्यञ्च) पशु (अपि) भी (प्रत्युपकारिणः) प्रत्युपकार (च) और (मनुष्याः) मनुष्य (प्रायेण) प्रायकर (पुनः) फिर (न) नहीं (व्याभिचारिणः) अपवाद है ।।10॥ इसी का उदाहरण है 11वीं गाथा-सूत्र में है ।।11॥

विशेषार्थ :- पय के अतिरिक्त दूसरा कोई भी पदार्थ दूध का मित्र नहीं है । जो मिलने मात्र से ही उसकी वृद्धि कर देता है और अग्निपरीक्षा के समय अपना नाश करके भी अपने मित्र दूध की रक्षा करता है।।9॥

संसार में पशुगण भी उपकारी के प्रति कृतज्ञ व विरुद्ध न चलने वाले होते हैं, न कि कृतध्न पर मनुष्य प्रायः इसके विरुद्ध चलने वाले भी देखे जाते हैं - वे उपकारी के प्रति कृतध्नता कर डालते हैं ।।10॥

इतिहास में उपाख्यान प्राप्त होता है कि एक अटवी-घनघोर जंगल था । उसमें घास आदि से आच्छादित एक अन्धकूप था । पापोदय से प्रेरित हुए उसमें एक समय वानर, सर्प और शेर और जुआरी, सुनार पड़ गये-गिर गये । पश्चात् कोई कांकायन नाम का राहगीर आया और करुणा कर उन्हें उस अन्ध कूप से बाहर निकाल लिया। उपकृत हुए उन पाँचों में से मर्कट, अहि, शेर व सुनार ये चारों उसका उपकार मान उसकी आज्ञानुसार अपने-अपने स्थान पर चले गये । परन्तु जुआरी कृतध्न होने के कारण उसने उस पथिक के साथ कपटभाव से मित्रता कर ली । "मुंह में राम बगल में छुरी" कहावत को चरितार्थ करने उसके धनहरण की भावना से उसके साथ हो लिया । अनेकों ग्राम व नगरों में परिभ्रमण करता रहा । एक समय विशाला नगरी में पहुँचे । वहाँ के एक शून्य मन्दिर में ठहरे । पथिक सो गया, और मौका देख उस जुआरी ने उसका धन हरण कर लिया । इससे सिद्ध होता है कि तिर्यञ्च भी कृतज्ञ होते हैं, परन्तु कृतध्नी भी होते देखे जाते हैं ।।10॥

इसी प्रकार गौतम नामक किसी तपस्वी ने नाडीजंघ नाम के उपकारी को स्वार्थवश मार डाला । यह कथा अन्यग्रन्थों से पढें ।।11।।

॥ इति मित्र समुद्देशः ।।

इति श्री चारित्र चक्रवर्ती परम पूज्य मुनिकुञ्जर सम्राट विश्ववंद्य, परम तपस्वी, सर्वमान्य, घोरतपस्वी श्री 108 आचार्य आदिसागर जी अंकलीकर महाराज के पट्टशिष्य परम् पूज्य तीर्थभक्त शिरोमणि श्री 108 आचार्य परमेष्ठी श्री महावीर कीर्ति महाराज की संघस्था, परमपूज्य वात्सल्य रत्नाकर, निमित्तज्ञान शिरोमणि आचार्य श्री 108 विमल सागर जी की शिष्या प्रथम गणिनी आर्यिका श्री 105 विजयामती ने यह 23 वां मित्र समुद्देश, परम पूज्य, उग्रतपस्वी सम्राट् सिद्धान्त चक्रवर्ती अंकलीकर के तृतीयपट्टाधीश श्री 108 सन्मतिसागर जी महाराज के पुनीत चरण-कमल सान्निध्य में समाप्त हुआ ।।

"॥ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।।"

24

राजरक्षा समुद्देश

राजा की रक्षा, उपाय, अपनी रक्षार्थ रखने योग्यायोग्य पुरुष :-

राज्ञि रक्षिते सर्वं रक्षितम् भवत्यतः स्वेभ्यः परेभ्यश्च नित्यं राजा रक्षितव्यः ।।1॥ अतएवोक्तं नयविद्भिः- पितृपैतामहं महासम्बन्धानुबद्धं शिक्षितमनुरक्तं कृतकर्मणं चजनं आसन्नं कुर्वीत ।।2॥ अन्यदेशीयमकृतार्थमानं स्वदेशीयं चापकृत्योपगृहीतमासन्नं न कुर्वीत ।।3॥ चित्तविकृतेर्नास्त्य विषयः किन्नं भवति मातापि राक्षसी ।।4॥

अन्वयार्थ :- (राज्ञि) राजा के (रक्षिते) रक्षित होने पर (सर्वम्) सभी (रक्षितम्) रक्षित (भवति) होता है (अतः) अतएव (स्वेभ्यः) अपने (परेभ्यः च) और पर के द्वारा (नित्यम्) सदैव (राजा) राजा (रक्षितव्यः) रक्षा करना चाहिए ।।1॥ (अतएव) इसलिए (नयविद्भिः) नय वेत्ताओं ने (उक्तम्) कहा है (पितृ पैतामहम्) वंश परम्परा से चले आये भाई बन्धु (महासम्बन्ध) विवाह सम्बन्धी (अनुबद्धम्) शाला आदि (शिक्षितम्) शिक्षित (अनुरक्तम्) प्रेमी (च) और (कृतकर्मणम्) राजकर्म निपुण (जनम्) मनुष्य को (आसन्नम्) निकट (कुर्वीत) करे ।।2॥ (अन्यदेशीयम्) दूसरे देश का (अकृतार्थानाम्) सत्कार रहित (अपकृत्य) अपकारी (स्वदेशीयम्) अपने राज्य का (च) और (उपगृहीतम्) दण्डित को (आसन्नम्) निकटी (न) नहीं (कुर्वीत) करे ।।3॥ (चित्तविकृते) मनोविकार होने पर (अविषयः) अनर्थों (नास्ति) नहीं है ? (किम्) क्या (माता) माँ (अपि) भी (राक्षसी) भक्षिका (न) नहीं (भवति) होती है ? ।।4॥

विशेषार्थ :- राजा सर्वदेवमय होता है । सर्वप्रजा का रक्षक होता है । अतः राजा की रक्षा सबकी रक्षा है । इसलिए स्वयं के द्वारा तथा अन्यों के द्वारा राजा की रक्षा कराना चाहिए । अभिप्राय यह है कि राष्ट्र सुरक्षार्थ राजा को अपने कुटुम्बियों व शत्रुओं से सदैव अपनी रक्षा करना चाहिए ।।1. रैम्य विद्वान ने भी कहा है :-

रक्षिते भूमिनाथे तु आत्मीयेभ्यः सदैव हि ।
परेभ्यश्च यतस्तस्य रक्षा देशस्य जायते ।।1॥

नीतिकारों ने कहा है कि भूपाल अपनी रक्षार्थ ऐसे पुरुषों को नियुक्त करे, जो उसके वंश का भाई-बन्धु हो, वैवाहिक सम्बन्ध वालों में से साला वगैरह हो, नीतिशास्त्रज्ञ हो, राजा से अनुरक्त हो, और राजकीय कार्यों में कुशल हो ।।2॥ गुरु विद्वान ने भी कहा है :-

वंशजं च सुसम्बन्ध शिक्षितं राजसंयुतम् ।
कृतकर्म जनं पार्श्वे रक्षार्थं धारयेन्नृपः ।।1 ॥

राजा विदेशी पुरुष को, जिसे धन व सम्मान से मान्यता नहीं दी है, और पूर्व में सजा भोग चुका हो, ऐसा स्वदेशवासी, अधिकारी बनाया हो अपनी रक्षार्थ नियुक्त न करे । क्योंकि सम्मानविहीन व दण्डित व्यक्ति द्वेष युक्त होकर उससे बदले की चेष्टा करेगा । विरोधी हो जायेगा ।।3 ॥ शुक्र विद्वान के संग्रहीत श्लोकों का भी यही अर्थ है :-

नियोगिनं, समीपस्थं दण्डयित्वा न धारयेत् ।
दण्डको यो न वित्तस्य बाधा चित्तस्य जायते ।।1 ॥

अन्यदेशोद्भवं लोकं समीपस्थं न धारयेत् ।
अपूजितं स्वदेशीयं वा विरुद्धय प्रपूजितम् ।।2 ॥

दुष्टचित्त-दुर्जन व्यक्ति विक्षिप्त चित्त होने पर क्या-क्या अनर्थ नहीं करता ? सभी अनर्थों को कर डालता है । अत्यन्त स्नेहमयी माता भी विकृत, द्वेषयुक्त हो जाने पर क्या राक्षसी (हत्यारी) नहीं होती ? होती ही है ।।4 ॥ शुक्र विद्वान कहते हैं :-

यस्य चित्ते विकारः स्यात् सर्वं पापं करोति सः
जातं हन्ति सुखं माता शाकिनीं मार्गमाश्रिता ।।1 ॥

विकृत चित्त पुरुष हिताहित विवेक शून्य हो जाता है ।।4 ॥

स्वामीरहित अमात्य की हानि, आयुशून्य पुरुष, राजकर्त्तव्य (आत्मरक्षा) व स्त्री सुखार्थ प्रवृत्ति धन संग्रह निष्फलः

अस्वामिकाः प्रकृतयः समृद्धा अपि निस्तरीतुं न शक्नुवन्ति ।।5 ॥ देहिनि गयायुषि सकलांगे किं करोति धन्वन्तरि रपि वैद्यः ।। 6 ॥ राज्ञस्तावदासन्ना स्त्रिय आसन्नतरा दायादा आसन्नतमाश्च पुत्रास्ततो राज्ञः प्रथमं स्त्रीभ्यो रक्षणं ततो दायादेभ्यस्ततः पुत्रेभ्यः ।।7 ॥ आवष्ठादाचक्रवर्तिनः सर्वोऽपि स्त्रीसुखाय क्लिश्यति ।।8 ॥ निवृत्त स्त्री संगस्य धन परिग्रहो मृतमण्डनमिव ।।9 ॥

अन्वयार्थ :- (अस्वामिकाः) राजा बिना (प्रकृतयः) मंत्री, सेनापति आदि (समृद्धाः) समर्थ (अपि) भी (निस्तरीतुम्) विजय के लिए (न) नहीं (शक्नुवन्ति) समर्थ होते हैं ।।5 ॥ (गतः) नष्ट (आयुषि) आयु होने पर (सकलाङ्गे) सम्पूर्ण अंग रहने पर (अपि) भी (देहिनि) शरीरी-प्राणी में (धन्वन्तरिः) धनवन्तरि (वैद्यः) वैद्य (अपि) भी (किम्) क्या (करोति) करता है ? ।।6 ॥ (तावत्) क्योंकि (राज्ञः) राजा के (आसन्ना) निकट (स्त्रियः) स्त्रि (आसन्नतराः) उससे भी निकट (दायादाः) कुटुम्बी (च) और (आसन्नतमाः) सबसे निकट (पुत्राः) पुत्र होते हैं (ततो) इसलिए (राज्ञः) राजा का (प्रथमम्) प्रथम (रक्षणम्) रक्षण (स्त्रीभ्यो) स्त्रियों द्वारा (ततः) फिर (दायादेभ्यः) कुटुम्बियों से (ततः) पुनः (पुत्रेभ्यः) पुत्रों द्वारा [भवतु] होवे ।।7 ॥ (आवष्ठात्) नीच-लकडहारा

से (आचक्रवर्तिनः) चक्रीपर्यन्त (सर्वाः) सभी (अपि) भी (स्त्रीसुखाय) पत्नि सुख के लिए (क्लिश्यंति) दुखी होते हैं ।18॥ (स्त्रीसंगस्य) नारी संगति से (निवृत्तः) विरक्त पुरुष के (धनपरिग्रहो) अर्थ संचय (मृत) मुर्दे के (मण्डनम्) शृंगार (इव) समान है ।19॥

विशेषार्थ :- मन्त्री, सेनापति, सैनिक आदि कितने ही सुभट-शक्तिशाली क्यों न हों, यदि राजा नहीं है तो विजयश्री इन्हें प्राप्त नहीं हो सकती । अर्थात् विपत्तियों का सामना नहीं कर सकते । अराजक होने पर शत्रुओं के हमला होने पर राष्ट्र की संकट से रक्षा नहीं कर सकते ।15॥ वशिष्ठ भी यही कहते हैं -

वांजप्रकृतयोनैव स्वामिना रहिताः सदा ।
गन्तुं निर्वाहणं यद्वत् स्त्रियः कान्तविवर्जिताः ।।1॥

जिस व्यक्ति की आयु पूर्ण हो चुकी, शरीर से प्राणों का वियोग हो गया उसके सभी आङ्गोपाङ्ग पूर्ण हैं, परन्तु क्या इस समय धन्वन्तरि वैद्य, जो अचूक औषधि दाता माना जाता है प्राण संचार कर सकता है ? नहीं । 72 कलाओं से निपुण भी पुरुष मृत्यु से नहीं बच सकता । इसी प्रकार राष्ट्र के सात अङ्गों 1. स्वामी, 2. मंत्री, 3. राज्य, 4. किला, 5. खजाना, 6. सेना व 7. मित्र वर्ग में राजा की ही प्रधानता है । अतः सर्वप्रथम राजा को अपनी रक्षा करनी आवश्यक है।16॥ व्यासजी ने भी कहा है कि :-

न मंत्र न तपो दानं न वैद्यो न च भैषजम् ।
शक्नुवन्ति परित्रातुं नरं कालेन पीडितम् ।।1॥

अर्थ :- कालपीडित पुरुष मन्त्र, तप, दान, वैद्य व औषधि द्वारा नहीं बचाया जा सकता है ।।1॥ मृत्यु सर्वोपरि है । इसी प्रकार राष्ट्र रक्षार्थ राजा सर्वोपरि है ।16॥

राजा के निकट रहने वाली स्त्रियाँ होती हैं । स्त्रियों से भी अधिक निकटवर्ती बन्धु-बान्धव होते हैं, और इनसे भी अधिक समीपवर्ती पुत्र होते हैं । इसलिए राजा को सर्वप्रथम स्त्रियों से, पुनः कुटुम्बियों से और तत्पश्चात् अपने पुत्र से अपनी रक्षा करनी चाहिए ।17॥ हर प्रकार से राजा का सुरक्षित होना अनिवार्य है ।17॥

संसार में निकृष्ट लकडहारादि माना जाता है,-जघन्य पुरुष से लेकर चक्रवर्ती पर्यन्त समस्त पुरुष जाति स्त्री सुखलोलुपी हुए, उसके लिए कृषि, व्यापार, शिल्प व कलादि जीवनोपयोगी कार्यों को सम्पादन करते हैं । महाक्लेश उठाते हैं, कठिन कष्ट सहते हैं, पुनः धन संचित कर स्त्री सुख प्राप्त करते हैं ।18॥ गर्ग विद्वान ने भी कहा है:

कृषिं सेवां विदेशं च युद्धं वाणिज्यमेव च ।
सर्वं स्त्रीणां सुखार्थाय स सर्वो कुरुते जनः ।।1॥

जिस प्रकार मुर्दे को वस्त्राभूषणों से अलंकृत करना व्यर्थ है ।। उसी प्रकार स्त्रीरहित पुरुष का धन संचय करना व्यर्थ है ।19॥ वल्लभदेव विद्वान ने कहा है :-

प्रभूतमपि चेद्वित्तं पुरुषस्य स्त्रियं बिना ।
मृतस्य मण्डनं यद्वत् तत्तस्य व्यर्थमेव हि ।।1।।

स्त्रियों की प्रकृति का स्वरूप :

सर्वाः स्त्रियः क्षीरोदवेला इव विषामृतस्थानम् ।।10।। मकरदंष्ट्रा इव स्त्रियः स्वाभावादेव वक्रशीलाः ।।11।। स्त्रीणां वशोपायो देवानामपि दुर्लभः ।।12।। कलत्रं रुपवत्सुभगमनवद्याचारमपत्यवदिति महतः पुण्यस्य फलम् ।।13।। कामदेवोत्संग स्थापि स्त्री पुरुषान्तरमभिलषति च ।।14।। न मोहो लज्जा भयंस्त्रीणां रक्षणं किन्तु परपुरुषादर्शनं संभोगः सर्वसाधारणता च ।।15।।

अन्यवार्थ :- (सर्वाः) समस्त (स्त्रियः) स्त्रिया (क्षीरोदवेला) क्षीरसागर की लहरों (इव) समान (विषम्) विष-दुख (अमृतम्) अमृत-सुख की (स्थानम्) स्थान [सन्ति] हैं ।।10।। (मकरदंष्ट्रा) मगर की डाढ (इव) समान (स्त्रियः) नारियाँ (स्वभावात्) स्वभाव से (एव) ही (वक्रशीलः) कुटिल हैं ।।11।। (स्त्रीणाम्) महिलाओं के (वशोपायः) वश करने का उपाय (देवानाम्) देवों के (अपि) भी (दुर्लभः) कठिन [अस्ति] है ।।12।। (रुपवत्) सुन्दरी (सुभग) सुशीला (अनवद्या) निर्दोष (आचारा) आचार वाली (अपत्यवत्) पुत्रवती (इति) ऐसी (कलत्रं) स्त्री (महतः) महान् (पुण्यस्य) पुण्य का (फलम्) फल [अस्ति] है ।।13।। (कामदेवोत्संगस्थापि) कामदेव समान पति संगम होने पर भी (स्त्री) चंचल स्त्री (पुरुषान्तरम्) अन्य पुरुष को (अभिलषति) चाहती है ।।14।। (मोहः) स्नेह (लज्जा) शर्म (भयम्) ड़र (स्त्रीणाम्) नारियों की (रक्षणम्) रक्षक (न) नहीं (किन्तु) अपितु (परपुरुषः) अन्यपुरुष (अदर्शनम्) नहीं देखना (संभोगः) भोग-पति संभोग (च) और (सर्वसाधारणता) ईर्षारहिता [रक्षणम्] रक्षक [अस्ति] है ।।15।।

विशेषार्थ :- क्षीर सागर की तरंगों में विष एवं अमृत दोनों ही पाये जाते हैं । इसी प्रकार नारियों में भी विष-दुःखदायक एवं अमृत-सुखदायक प्रवृत्ति पायी जाती है । अर्थात् क्रूरता और मृदुता ये दोनों ही दोष व गुण पाये जाते हैं। अभिप्राय यह है कि जो सुशील अनुकूल रहने वाली स्त्री होती है वह सुखदायक होती है और जो प्रतिकूल आचरण करने वाली होती है वह विषसदृश कष्टदायक होती है ।।10।। बल्लभदेव ने भी कहा है :

नामृतं न विषं किंचिदेकां मुक्त्वा नितम्बिनीम् ।
विरक्ता मारयेद्यस्मात्सुखायत्यनुरागिणी ।।1।।

स्त्रियाँ मगरमच्छ की दाढों के समान स्वभाव से ही कुटिला होती हैं ।।1।। बल्लभदेव ने भी इसी प्रकार कहा है :

स्त्रियोऽति वक्रतायुक्ता यथा दंष्ट्रा झषोद्भवाः ।
ऋजुत्वं नाधिगच्छन्ति तीक्ष्णत्वादति भीषणाः ।।1।।

अर्थ :- स्त्रियाँ अतिवक्रता युक्त होती हैं जैसे मगर की दाढ । सरलता नहीं आती क्योंकि अत्यन्त-भीषण तीक्ष्णता होने से मुक्त होती हैं ।।1।।

विरुद्ध-रुष्ट हुई स्त्रियों को वश में करना देवों को भी संभव नहीं है ।। अर्थात् विपरीत आचरण करने वाली कुटिल स्त्रियों को कण्ट्रोल में रखने का उपाय देवता भी नहीं समझते हैं ।।12॥ वल्लभदेव ने भी कहा है :-

चतुरः सृजता पूर्वमुपायांस्तेन वेधसा ।
न सृष्टः पंचमः कोऽपि गृह्यन्तेयेन योषितः ।।1॥

सांसारिक विषयसुख प्राप्ति का हेतू पुण्य होता है । अतएव रूपवती, सौभाग्यवती, पतिव्रता, सदाचारिणी एवं पुत्रवती स्त्री पूर्वजन्मकृत महान पुण्य से प्राप्त होती है ।।13।। चाणक्य सिद्धान्त ने भी कहा है-

सुरूपं सुभगं यद्वा सुचरित्रं सुतान्वितः ।।
यस्येदृशं कलत्रं स्यात्पूर्वपुण्यफलंहि तत् ।।1॥

अर्थ उपर्युक्त ही है ।।13॥

चञ्चल-दुराचारिणी स्त्री कामदेव के समान सुन्दर पति प्राप्त कर भी पर पुरुष की अभिलाषा करती है । कुपथगामिनी स्त्री के विषय में नारद ने भी कहा है :-

कामदेवोपमं त्यक्त्वा मुखप्रेक्षं निजं पतिम् ।
चापल्याद्वाञ्छते नारी विरूपांगमपीतरम् ।।1॥

अर्थ वही है ।।14॥

जो कामिनी परपुरुष से सतत् विरक्त रहती है, स्व पति के साथ ही रमण करती है तथा पति से प्राप्त वस्तुएँ प्राप्तकर उन्हीं से संतुष्ट रहती है और ईर्ष्याहीन पतिवाली स्त्री सदाचारिणी-पतिव्रता रह सकती है । पर से स्नेह करने वाली, लज्जा और भय रखने वाली नारी पतिव्रता नहीं रह सकती । जैमिनि विद्वान का भी यही अभिप्राय है :-

अन्यस्यादर्शनं कोपात् प्रसादः कामसंभवः ।
सर्वासामेव नारीणामेतद्रक्षात्रयं मतम् ।।

अर्थात् सम्पूर्ण स्त्रियों के रक्षण के तीन उपाय हैं - परपुरुष का नहीं देखना, पतिकोप से भी प्रसन्न रहना, काम-रति सेवन पति के साथ कर ही संतुष्ट रहना ।। अभिप्राय यह है कि स्वपुरुष सन्तोष व्रत पालन करना चाहिए ।।15॥

स्त्रियों को अनुकूल रखने का उपाय, पति का कर्त्तव्य, स्त्री सेवन का समय व स्त्री रक्षा-दानदर्शनाभ्यां समवृत्तौ हि पुंसि नापराध्यन्ते स्त्रियः।।15।।परिगृहीता सुस्त्रीषु प्रिया-प्रियत्वं न मन्येत ।।17॥ कारणवशान्निम्बोऽप्यनुभूयते एव ।।18॥ चतुर्थ दिवसस्नाता स्त्री तीर्थं तीर्थोपराधो महान् धर्मानुबन्धः ।।19॥ ऋतावपिस्त्रियमुपेक्षमाणः पितृणामृणभाजनं ।।20॥ अवरुद्धाः स्त्रियः स्वयं नश्यन्ति स्वामिनं वा नाशयन्ति ।।21॥ न स्त्रीणामकर्तव्ये मर्यादास्ति वरमविवाहोनोढोपेक्षणं ।।22॥ अकृत रक्षस्य किं कलत्रेणाकृषतः किं क्षेत्रेण ।।23॥

अन्वयार्थ :- (दान) इच्छितवस्त्राभूषण (दर्शनाभ्याम्) सम-प्रेमदृष्टि (समवृत्तौः) निष्पक्ष व्यवहार (हि) निश्चय से (पुंसि) पुरुष में (स्त्रियः) स्त्री (न) नहीं (अपराध्यन्ते) अपराध नहीं करतीं ।।16॥ (परिगृहीतासु) पाणिग्रहण की (स्त्रीषु) स्त्रियों में (प्रियम्) प्रेम (अप्रियम्) द्वेष (न) नहीं (मन्येत) मानें ।।17॥ (कारणवशात्) निमित्त वश से (निम्बोऽपि, कटु नीम भी (अनुभूयते) सेवन करता (एव) ही है ।।18॥ (चतुर्थदिवसे) चतुर्थ दिन में (स्नाता) स्नान की हुयी (स्त्री) नारी (तीर्थम्) पवित्र भोग्ययोग्य है (तीर्थोपराधो) पवित्र नारी का सेवन न करना (महान्) अत्यन्त (अधर्मः) पाप का (अनुबन्धः) कारण है ।।19॥ (ऋतौ) रजस्वलाकाल में (अपि) भी (स्त्रियम्) स्त्री की (उपेक्षमाणः) उपेक्षक (पितृणाम्) वंश की परम्परा का (ऋणभाजनम्) ऋणि [अस्ति] है ।।20॥ (स्त्रीणाम्) स्त्रियों की (अकर्त्तव्ये) अमर्यादिकार्यों में (मर्यादा) सीमा (न अस्ति) नहीं है (ऊढा) विवाहिता की (उपेक्षणम्) उपेक्षा (न) नहीं करना, अपितु (अविवाहः) विवाह न करना ही (वरम्) श्रेष्ठ है ।।22॥ (अकृतरक्षस्य) रक्षा न करने (कलत्रेण) स्त्री से (किम्) क्या प्रयोजन ? (अकृषतः) बिना जोते (क्षेत्रेण) खेत से (किम्) क्या प्रयोजन ? ।।23॥

विशेषार्थ :- जो पुरुष धर्मानुकूल विवाह कर अपनी पत्नी को वस्त्राभूषण प्रदान करता है व प्रेम पूर्ण दृष्टि से व्यवहार करता है उससे स्त्री भी वैर विरोध नहीं करती । अभिप्राय यह है कि स्त्रियों को वश करने का उपाय पति द्वारा दान सम्मान व प्रेम प्रदान करना है ।।16॥ नारद विद्वान ने भी कहा है :-

दानदर्शन संभोगं समं स्त्रीषु करोति यः ।
प्रसादेन विशेषं च न विरुध्यंति तस्य ताः ।।1॥

अर्थ :- जो पुरुष अपनी विवाहिता स्त्रियों में समान रूप से दान (वस्त्राभूषण प्रदान) दर्शन (स्नेह दृष्टि) संभोग (रतिक्रीडा) करता है । उसके विरोध में स्त्रियाँ कभी नहीं जातीं । अर्थात् वे पति के अनुकूल ही आचरण करती हैं ।।1॥16॥

अपनी विवाहित स्त्रियों में से सुन्दर-रूपवानों से प्रेम और कुरूपों से द्वेष-ईर्ष्या नहीं करना चाहिए । सबके साथ एक समान व्यवहार करे । अन्यथा कुरूपा स्त्रियाँ विरोध में होकर उसका अनिष्ट चिन्तन करेंगी ।।17॥ भागुरि विद्वान ने भी कहा है :-

समत्वेनैव दृष्टव्या याः स्त्रियोऽत्र विवाहिताः ।
विशेषो नैव कर्त्तव्यो नरेण श्रियमिच्छता ।।1॥

रोगादि के होने पर कटु नीम का भी औषधि रूप में सेवन किया जाता है उसी प्रकार अपनी रक्षा व वंशवृद्धि आदि की अपेक्षा के कुरूप नारी का भी सेवन किया जाता है ।।18॥ भारद्वाज विद्वान ने भी कहा है :-

दुर्भगापि विरूपापि सेव्या कान्तेन कामिनी ।
यथौषधकृते निम्बः कटुकोऽपि प्रदीयते ।।1॥

अर्थ वही है ।।

स्वभाव से स्त्रियों के प्रतिमास रजोधर्म होता है । चतुर्थ दिवस स्नान करने पर उनकी शुद्धि मानी गई है। अर्थात् इस दिन वे उपभोग योग्य होती हैं । उस समय जो पुरुष अपनी पत्नी का त्याग कर देता है अर्थात् भोग नहीं करता वह अधर्मी माना जाता है । क्योंकि उसने गर्भधारण में बाधा डाली, जिससे धर्म परम्परा व वंशवृद्धि में सहायक सज्जातित्व-सन्तानोत्पत्ति में बाधा डाली । अतएव चतुर्थ दिन स्नान शुद्धि की गई स्त्री (धर्मपत्नि) की उपेक्षा नहीं करना चाहिए ।।19॥

ऋतुधर्म के बाद चतुर्थस्नान के अनन्तर शुद्धिकर (स्नानकर) शुद्ध हुई स्त्री की उपेक्षा करने वाला व्यक्ति सन्तानोत्पत्ति में बाधक होने से अपने पूर्वजों का ऋणि-कर्जदार होता है ।।20॥

ऋतुकाल में भी सेवन नहीं की जाने वाली स्त्रियाँ अपना व अपने पति का अनिष्ट कर बैठती हैं ।।21॥ गर्ग विद्वान का भी यही कथन है :-

ऋतुकाले च सम्प्राप्ते न भजेद्यस्तु कामिनी
तद्दुःखात्सा प्रणश्येत स्वयं वा नाशयेत्पतिम् ।।1॥

अर्थात् - रुष्ट पत्नी पति की घातका हो जाती है ।।1॥

विरुद्ध होने पर स्त्रियाँ पति का प्राण नाश भी कर सकती हैं । विरुद्ध नारियाँ मर्यादा का उल्लंघन कर देती हैं। अतः ऋतुकाल में विवाहित स्त्रियों का त्याग करने या उपेक्षा करने की अपेक्षा विवाह नहीं करना श्रेष्ठ है । अभिप्राय यह है कि बाल ब्रह्मचारी रहना सर्वोत्तम है । यदि विवाह किया तो यथाकाल उसका सेवन करना ही चाहिए । अन्यथा उसका विरोधी होना संभव है ।।22॥ भार्गव ने भी कहा है :-

नाकृत्यं विद्यते स्त्रीणामपमाने कृते सति ।
अविवाहो वरस्तस्मान्न तूढानां विवर्जनम् ।।1॥

क्षेत्र है, परन्तु उसे जोते नहीं, उसमें बीजारोपण नहीं करे तो उस क्षेत्र से क्या प्रयोजन ? कुछ भी नहीं। उसी प्रकार धर्मानुकूल विवाह कर यथा समय उसके साथ संभोग-रतिक्रीडा न करे तो स्त्रियों से क्या प्रयोजन ? क्योंकि उससे वंशवर्द्धन व धर्म परम्परा रक्षण रूप कार्य नहीं हो सकता ।।23॥

स्त्रियों के प्रतिकूल होने का कारण, उनकी प्रकृति, दूतीपन, व रक्षा का उद्देश्य :

सपत्नीविधानं पत्युरसमंजसं च विमाननमपत्याभावश्च चिरविरहश्च स्त्रीणां विरक्तकारणानि ।।24॥ न स्त्रीणां सहजो गुणो दोषो वास्ति किन्तु नद्यः समुद्रमिव यादृशं पतिमाप्नुवन्ति तादृश्यो भवन्ति स्त्रियः ।।25॥ स्त्रीणां दौत्यं स्त्रिय एवं कुर्युस्तैरश्चोऽपिपुंयोगः स्त्रियं दूषयति किं पुनर्मानुष्यः ।।26॥ वंश विशुद्धयर्थमनर्थपरिहारार्थं स्त्रियो रक्ष्यन्ते न भोगार्थम् ।।27॥

अन्वयार्थ :- (सपत्नीविधानम्) सौत होना (च) और (पत्युः) पति का (असमंजसम्) मनोमालिन्य (विमाननम्) अपमान (अपत्यभावः) बांझ होना (च) और (चिरविरहः) अधिक कालपति वियोग (स्त्रीणाम्) स्त्रियों

के (विरक्तकारणानि) विरक्ति के कारण [सन्ति] हैं ।।24॥ (स्त्रीणाम्) स्त्रियों के (सहजः) स्वाभाविक (गुणः) गुण (वा) अथवा (दोषः) दोष (न) नहीं (अस्ति) है (किन्तु) परन्तु (नद्यः) नदी के (समुद्रम्) समुद्र (इव) समान (यादृशम्) जैसा (पतिम्) पति (आप्नुवन्ति) प्राप्त करती हैं (तादृश्यः) उसी प्रकार की (स्त्रियः) स्त्रियाँ (भवन्ति) होती हैं ।।25॥ (स्त्रीणाम्) स्त्रियों का (दौत्यम्) दूतीपना (स्त्रियः) स्त्रियाँ ही (एव) ही (कुर्युः) करें (तैरश्चः) तिर्यञ्च (अपि) भी (पुंयोगः) पुरुष हो तो (स्त्रियम्) स्त्रियों को (दूषयति) दूषित कर देता है (पुनः) फिर (मानुष्यः) मनुष्य की (किम्) क्या बात? ।।26॥ (वंश विशुद्धचर्थम्) वंश शुद्धि के लिए (अनर्थपरिहारार्थम्) अनर्थ को दूर करने के लिए (स्त्रियः) नारियाँ (रक्ष्यन्ते) रक्षित हैं (भोगार्थम्) भोग के लिए (न) नहीं ।।27॥

विशेषार्थ :- स्त्रियाँ पति से विरक्त क्यों हो जाती हैं ? इसके निम्न कारण हैं :

1. सपत्नीविधान करना अर्थात् पतिद्वारा द्वितीय कन्या का वरण करना । 2. पति के मन में ईर्ष्या, द्वेषादि मलिन भाव जाग्रत होना । 3. पत्नी का बांझ होना-सन्तान विहीन होना । 4. बहुत काल तक पति का विदेशादि में रहना अर्थात् चिर समय तक पति वियोग होना । 5. पति द्वारा पत्नी का तिरस्कार किया जाना । अभिप्राय यह है कि जिन्हें अपनी पत्नी को अपने अनुकूल और पतिव्रता बनाना है वे उपर्युक्त पाँच बातों का परिहार करें ।।24। जैमिनि विद्वान ने भी स्त्रियों की प्रतिकूलता के विषय में यही कहा है :-

सपत्नी वा समानत्वमपमानमनपत्यता ।
देशान्तरगतिः पत्युः स्त्रीणां रागं हरन्त्यमी ।।1॥

अर्थ उपर्युक्त प्रमाण ही है ॥24॥

महिलाओं में गुण व दोष स्वाभाविक-सहज नहीं होते । अपितु समुद्र में प्रविष्ट नदी की भाँति पति के गुण-दोषों के साथ मिलकर गुणी व दोषी हो जाती हैं ।। जिस प्रकार नदियाँ सुस्वादु मधुर जलभरी होते हुए भी सागर में मिलकर उसी के अनुसार क्षारजल रूप हो जाती हैं ।। इसी प्रकार स्त्रियाँ भी पति के गुणों से युक्त-मिलकर गुणी और दोषों के साथ दोषी हो जाती हैं ।।25॥ शुक्र विद्वान ने भी यही अभिप्राय व्यक्त किया है :-

गुणो वा यदि वा दोषो न स्त्रीणां सहजो भवेत् ।
भर्त्तुः सदृशतां यांति समुद्रस्यापगा यथा ।।1॥

स्त्रियों की सेवा करने वाली, दूतकर्म-सन्देशवाहिका स्त्रियाँ ही होनी चाहिए । पुरुष वेदी तिर्यञ्च भी उनके सम्पर्क में आयेगा तो उन्हें दूषित कर देगा फिर मनुष्य जातीय पुरुष की तो बात ही क्या है ? मनुष्य संसर्ग को तो दूषण का कारण जानना ही चाहिए । गुरु विद्वान ने भी कहा है :-

स्त्रीणां दौत्यं नरेन्द्रेण प्रेष्या नार्यो नरो न वा ।
तिर्यञ्चोऽपि च पुंयोगो दुष्टो दूषयति स्त्रियम् ।।1॥

पतिव्रता-शीलवती नारियों को पशुजाति के पुरुष से भी सावधान-दूर रहना चाहिए । मनुष्य जातीय पुरुष की तो बात ही क्या है ? उससे तो दूर रहना ही चाहिए ।126॥

स्त्रियों की रक्षा वंश की विशुद्धि के लिए और अनर्थ का परिहार करने के लिए करना चाहिए । भोगों के लिए नहीं । विषय-वासना का परिहार करने के लिए रक्षित-पालित नहीं की जाती हैं । अपितु नीतिज्ञ सदाचारी वंशवृद्धि और अनर्थ परिहार के लिए विवाहादि कर रक्षण करना चाहिए ।127॥ गुरु विद्वान ने भी कहा है :-

वंशस्य च विशुद्धयर्थं तथानर्थक्षयाय च
रक्षितव्याः स्त्रियो विज्ञैर्न भोगाय च केवलम् ।।

मात्र भोगों के लिए नहीं, वंश शुद्धि व कदाचार परिहार के लिए नारियाँ होती हैं ।।1॥

वेश्या सेवन त्याग, स्त्रियों के निवास में प्रवेश निषेध, तथा राज कर्त्तव्य :-

भोजनवत्सर्वसमानाः पण्याङ्गनाः कस्तासु हर्षामर्षयोरवसरः ।128॥ यथाकामं कामिनीनां संग्रहः परमनीर्ष्यावानकल्याणावहः प्रक्रमोऽदौवारिके द्वारि को नाम व प्रविशति ।129॥ मातृव्यञ्जन विशुद्धा राजवसत्युपरिस्थायिन्यः स्त्रियः संभवतव्याः ।130॥ दर्दुरस्य सर्पगृहप्रवेश इव स्त्री प्रवेशो राज्ञः ।131॥ न हि स्त्री गृहादायातं किंचित्स्वमनुभवनीयम् ।132॥ नापि स्वयमनुभवनीयेषु स्त्रियो नियोक्तव्याः ।133॥

अन्वयार्थ :- (पण्याङ्गनाः) वेश्याएँ (भोजनवत्) बाजार के भोजन समान (सर्वसमानाः) सर्व साधारण होती हैं (तासु) उनमें (कः) कौन पुरुष (हर्षामर्षयोः) हर्ष विषाद का (अवसरः) समय प्राप्त करेगा ? ।128॥ (यथाकामम्) यथावसर (कामिनीनाम्) स्त्रियों वेश्याओं का (संग्रहः) संग्रह करता है (परम) परन्तु (अनीर्ष्यावान्) निरर्थक (कल्याणावहः) अकल्याणकारी (प्रक्रमः) कार्य है (अदौवारिके) द्वारपाल रहित (व्यञ्जन) परम्परा (विशुद्धा) शुद्ध (राजवसति) राजद्वार में निवासिनी (उपरिस्थायिन्यः) स्थित रहने वाली (स्त्रियः) वेश्याओं के घर में प्रवेश (दर्दुरस्य) मेंढक का (सर्पगृहप्रवेशः) सांप की वामी में प्रवेश (इव) समान [अस्ति] है ।131॥ (हि) निश्चय से (स्त्री) रानियों के (गृहात्) घर से (आयातम्) आई हुई (किंचित्) कुछ भी (स्वयम्) स्वयम (न) नहीं (अनुभवनीयम्) भोगे ।132॥ (स्वयम्) अपने (अनुभवनीयेषु) भोगनेयोग्य भोजनादि में (स्त्रियः) स्त्रियों को (न) नहीं (अपि) भी (नियोक्तव्याः) नियुक्त नहीं करना चाहिए ।133॥

विशेषार्थ :- संसार में वेश्याओं को बाजारु कहा जाता है । अभिप्राय यह है कि बाजार के भोजन के समान सर्वसाधारण होती हैं । अतः कौन नीतिज्ञ, सदाचारी पुरुष उन्हें देखकर प्रसन्न होगा ? कोई नहीं ।128॥ अर्थात् वेश्याओं के विषय में शीलवान सत्पुरुष हर्ष-विषादादि नहीं करते । उनमें उपेक्षा भाव रखते हैं ।128॥

शत्रु पर विजय चाहने वाले राजा को स्वार्थ सिद्धि के लिए अर्थात् शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए वेश्याओं का संग्रह करना चाहिए । परन्तु यह कथन व्यर्थ और अकल्याण कारक है । क्योंकि जिस प्रकार द्वार पर दरबान नहीं होता उस द्वार में चाहे जो प्रविष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार सर्वसाधारण द्वारा भोगी जाने वाली वेश्याओं के घर में भी हर एक पुरुष प्रवेश करते हैं । उसका किसी एक के प्रति प्रेम नहीं होता । वस्तुतः वे पुरुष से नहीं

अपितु धन से प्रीति करती हैं । अतः शत्रुपक्ष बलवान हुआ अधिक धनाशा से स्वामी राजा के भेद खोलकर उसे परास्त करा देगी या मार डालेगी। अतएव राजाओं को साम, दाम, दण्ड, भेद नीतिओं द्वारा विजयलाभ करना चाहिए न कि वेश्याओं द्वारा ।129॥ भूपतियों का कर्त्तव्य है कि वह उन भोगपत्नियों-वेश्याओं का संग्रह करे जिनकी जाति-मातृपक्ष विशुद्ध (व्यभिचाररहित) हो व राजद्वार पर निवास करने वाली हों । इनका समूह भी प्रयोजन होने पर करना चाहिए । विजयेच्छुओं को शत्रु का असली भेद पाने के लिए उनका सञ्चय करना उचित है । अनावश्यक नहीं करना चाहिए ।।130॥ भुजंग की बाम्बी में प्रविष्ट हुए मेंढक का जीवन जिस प्रकार समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार जो राजा स्त्रियो के घरों में प्रवेश करते हैं वे भी अपने जीवन से हाथ धो बैठते हैं - मृत्यु के ग्रास बन जाते हैं। क्योंकि ये (वेश्याऐं) दुष्ट चञ्चल स्वभावी होती है, लुब्धक भी होती हैं। शत्रु पक्ष में मिलकर उसे मार डालती हैं । अथवा उपायान्तरों से मरवा डालती हैं ।।131॥ गौतम विद्वान ने भी कहा है :-

प्रविष्टो हि यथा भेको बिलं सर्पस्य मृत्युभाक् ।
तथा संजायते राजा प्रविष्टो वेश्मनि स्त्रियः ।।1॥

अर्थ उपर्युक्त ही है ।

राजा को अपने जीवन रक्षा के लिए सदैव सावधान रहना चाहिए । वह सतर्क रहे । उपर्युक्त (वेश्याओं) स्त्रियों के यहां से आये हुए भोजन को नहीं करे (खावे) । तथा उनको अपने भोजनगृह में भोजन बनाने को भी नियुक्त न करें। कारण ये विश्वास पात्र नहीं होतीं । इनकी चञ्चलता खतरे से खाली नहीं होती । कभी भी अनर्थ कर सकती हैं ।।132॥ वादरायण ने भी यही कहा है :-

स्त्रीणां गृहात् समायातं भक्षणीयं न भूभुजा ।
किंचित् स्वल्पमपि प्राणान् रक्षितुं योऽभिवाञ्छति ।।1॥

उपर्युक्त ही अर्थ है ।

राजा स्वयं भक्षण करने योग्य भोजनादि कार्यों में उपर्युक्त प्रकार की (वेश्यादि) स्त्रियों को नियुक्त न करें। क्योंकि वे चञ्चल होती हैं, कोई भी अनर्थ कर सकती हैं ।।133॥ भृगु विद्वान भी कहते हैं :-

भोजनादिषु सर्वेषु नात्मीयेषु नियोजयेत् ।
स्त्रियो भूमिपतिः क्वापि मारयन्ति यतश्च ताः ।।1॥

स्वेच्छाचारिणी स्त्रियों के अमर्थ, उनका इतिहास व माहात्म्य :

संयमनं स्वातंत्र्यं चाभिलषन्त्यः स्त्रियः किं नाम न कुर्वन्ति ।।134॥ श्रूयते हि किल आत्मनः स्वच्छन्दवृत्तिमिच्छन्ती विषविदूषितगण्डूषेण मणिकुण्डला महादेवी यवनेषु निजतनुज राज्यार्थं जघान राजानमङ्गराजम् ।।135॥ विषालक्तकदिग्धेनाधरेणवसन्मतिः शूरसेनेषुसुरतविलासं, विषोपलिप्तेन मेखलामणिनावृकोदरी दशार्णेषु मदनार्णवं, निशितनेमिना मुकुरेण मदराक्षी मगधेषु मन्मथविनोदं, कबरीनिगूढेनासिपत्रेण चन्द्ररसा पाण्ड्येषु पुण्डरीकमिति ।।136॥ अमृतरसवाप्य इव श्रीजसुखोपकरणं स्त्रियः ।।137॥ कस्तासांकार्याकार्य विलोकनेऽधिकारः ।।138॥

अन्वयार्थ :- (संवदनम्) वशीकरण, उच्चाटन (च) और (स्वातंत्र्यम्) स्वच्छन्दता (अभिलषन्त्यः) चाहने वाली (स्त्रियः) स्त्रियाँ (किंनाम) क्या (न) नहीं (कुर्वन्ति) करती हैं ? ।।34॥ (हि) निश्चय ही (किल) यही (श्रूयते) सुना जाता है (आत्मनः) स्वयं की (स्वच्छन्दवृत्तिम्) उच्छृंखलवृत्ति को (इच्छन्ती) चाहती हुई (मणिकुण्डला महादेवी) महाकुण्डलारानी ने (विषविदूषित) विषमिश्रित मद्य के (गण्डूषेण) कुरलों से (यवनेषु) यवनों में (निजतनुज) अपने पुत्र के (राज्यर्थम्) राज्य के लिए (अङ्गराजम्) अंगराज नामक (राजानम्) पति राजा को (जघान) मार डाला ।।35॥ (विष) जहर (आलक्तक) आलते से (दिग्धेन) लिप्त (अधरेण) ओठों से (वसन्तभतिः) वसन्तमती ने (शूरसेनेषु) मथरा में (सुरतविलासम्) सुरतविलास राजा को, (विषोपलिप्तेन) विषाक्त (मेखलामणिना) करधनी की मणियों द्वारा (वृकोदरी) वृकोदरी ने (दशार्णेषु) भेलसागांव में (मदनार्णवम्) मदनार्णव राजा को, (निशितनेमिना) तीक्ष्ण नुकीले (मुकुरेण) दर्पण से (मगधेषु) मगध में (मदराक्षी) मदराक्षी ने (मन्मथविनोदम्) मन्मथविनोद को, (कबरीनिगूढेन) चोटी में छिपी (असिपक्षेण) तलवार सम छुरी द्वारा (चन्द्ररसा) चन्द्ररसा रानी ने (पाण्डयेषु) पाण्ड्य देश में (पुण्डरीकम्) पुण्डरीक को (इति) समाप्त किया ।।36॥ (श्रीजसुखोपकरणम्) लक्ष्मी से उत्पन्न सुख रूप (अमृतरस वाप्यः) अमृत रस भरी वापियों (इव) समान (स्त्रियः) स्त्रियाँ [सन्ति] हैं । ।।37॥ (कः) कौन (तासाम्) उन नारियों (में) के (कार्याकार्य) करणीय-अकरणीय (विलोकने) देखने में (अधिकारः) अधिकारी है ? कोई नहीं ।।38॥

विशेषार्थ :- जो नारियाँ वशीकरण, उच्चाटन एवं स्वच्छन्द विचरण करने में दत्तचित्त रहती हैं वे क्या क्या अनर्थ नहीं कर सकतीं ? सब कुछ कर सकती हैं ।। इस प्रकार की स्त्रियों से सावधान रहना आवश्यक है ।। 34॥ भारद्वाज ने भी लिखा है :

कार्मणं स्वेच्छयाचारं सदावाञ्छन्ति योषितः ।
तस्मात्तासु न विश्वासः प्रकर्त्तव्यः कथंचन ।।1॥

अर्थ :- जो महिलाएँ सतत् स्वच्छन्द विचरण करती हैं, मंत्र तंत्रादि प्रयोग में उलझी रहती हैं उनका विश्वास नहीं करना चाहिए । प्रधानतः राजाओं को उनसे दूर रहना चाहिए ।।34॥

इतिहास में ऐसे अनेक इतिवृत्त हैं जिनमें नारियों द्वारा किये गये महा अनर्थों का उल्लेख है । कुछ निदर्शन इस प्रकार हैं - यवन देश में मणिकुण्डला नाम की स्वच्छन्द महिला ने अर्थात् पट्टमहिषी-पटरानी ने अपने पुत्र को राज्य दिलाने के व्यामोह में अपने पति अङ्गराज नामक राजा को विषदूषित पानक पिलाकर कुरले कराकर मार डाला ।।35॥ इसी प्रकार शूरसेन (मथुरा) में वसन्तमती नाम की स्त्री ने विषमिश्रित आलते से अधर ओष्ठ रंगकर सुरतविलास नामक राजा को मृत्यु का दास बना दिया । दशार्ण (भेलसा) नगर में वृकोदरी रानी ने विषलिप्त करधनी के मणि से मदनार्णव नामक राजा को यमराज के द्वार पहुँचाया-मरण को प्राप्त कराया, मदिराक्षी ने मगध देश में तीखे दर्पण से मन्मथविनोद को मरण का वरण कराया, तथा पाण्डय देश में चण्डरसा रानी ने कबरी-केशपाश में छुपी छूरिका द्वारा अपने पति को पुण्डरीक को मृत्यु के घाट उतार डाला ।।36॥

स्त्रियाँ लक्ष्मी की अवतार हैं । अर्थात् जिस प्रकार पुरुष लक्ष्मी-धन प्राप्त कर विशेष सुखानुभव करते हैं, उसी प्रकार स्त्रियों को पाकर भी विषय सुखानुभव में विशेष आनन्द मानते हैं । एवं अमृतरस भरी वावडी सदृश

समान प्रियंकरा होती हैं, अर्थात् पुरुषों के चित्त में आनन्द उत्पन्न करती हैं । अमृत न किसी ने देखा है न पान ही किया है, संभवतः देवों के कण्ठ से झरने का वृत्तान्त ज्ञात कर उसकी उपमा दी जाती है । जो हो विषय-भोगी जन नारियों को भी उस अमृत के साथ तुलना कर आनन्द दायक स्वीकार करते हैं ।।37॥ शुक्र विद्वान ने भी लिखा है :-

लक्ष्मी संभव सौख्यस्य कथिता वामलोचनाः ।
यथा पीयूष वाप्यश्च मन आह्लाददा सदा ।।1॥

उपर्युक्त अर्थ के समान ही है।

मनुष्यों को नारियों के कर्त्तव्य या अकर्त्तव्य देखने से क्या प्रयोजन ? कुछ भी प्रयोजन नहीं है । सारांश यह है कि महिलाएँ स्वभाव से कोमलांगी, सरस हृदया, सरल चित्ता हुआ करती हैं । जिनागम में कन्याओं का स्वभाव केवल ज्ञान सदृश कहा है वे जैसा समागम-सम्पर्क पाती हैं उसी प्रकार के गुणधर्म ग्रहण कर लेती हैं । अतएव नीतिवान पुरुषों का कर्त्तव्य है कि वे उन्हें सुशिक्षा के माध्यम से सुयोग्य, सदाचारिणी, धर्मज्ञा बनायें ।। सन्मार्ग रूढ करें ।।38॥

स्त्रियों की सीमित स्वाधीनता, आसक्त पुरुष, उनकी आधीनता से हानि, पतिव्रता का माहात्म्य व उनके प्रति पुरुष का कर्त्तव्य वर्णन :-

अपत्यपोषणेगृहकर्मणि शरीर संस्कारे शयनावसरे स्त्रीणां स्वतन्त्र्यं नान्यत्र ।।39॥ अति प्रसक्तः स्त्रीषु स्वातन्त्र्यं कर पत्रमिव पत्युर्नाविदार्यहृदयं विश्राम्यति ।।40॥ स्त्रीवश पुरुषों नदी प्रवाह पतितपादप इव न चिरं नन्दति ।।41॥ पुरुष मुष्टिस्थास्त्री खड्गयष्टिरिव कमुत्सवं न जनयति ।।42।। नातीव स्त्रियो व्युत्पादनीयाः स्वभावसुभगोऽपिशास्त्रोपदेशः स्त्रीषुशस्त्रीषु पयोलव इव विषमतां प्रतिपद्यते ।।43॥

अन्यवार्थ :- (अपत्य) संतान (पोषणे) पालन करने में (गृहकर्मणि) गृह कार्यों में (शरीरसंस्कारे) शरीर शृंगार में (शयनावसरे) पति के साथ शयन में (स्त्रीणाम्) स्त्रियों को (स्वातन्त्र्यम्) स्वतन्त्रता है (अन्यत्र) अन्य कार्यों में (न) नहीं ।।39॥ (अतिप्रसक्तः) अति आसक्त पुरुष (स्त्रीषु) स्त्रियों में (स्वातन्त्र्यम्) उन्हें स्वच्छन्दता देता है तो वे (करपत्रम्) तलवार के (इव) समान (पत्युः) पति के (हृदयम्) हृदय को (विदार्य) विदीर्ण करे बिना (न) नहीं (विश्राम्यति) विश्राम को प्राप्त नहीं होती ।।40।। (स्त्री-वश पुरुषः) स्त्री के वशीभूत (नदीप्रवाहपतित) नदी के बहाव में पडे (पादपः) वृक्ष (इव) समान (चिरम्) अधिककाल (न) नहीं (नन्दति) प्रसन्न रहता है ।।41॥ (पुरुषमुष्टिस्था) पुरुष के अंकुश में (स्त्री) पत्नी (खड्गयष्टिः) तलवार (इव) समान (कम्) किसको (उत्सवम्) आनन्द (न) नहीं (जनयति) उत्पन्न करती है ? ।।42॥

विशेषार्थ :- कहावत है "जिको काम जाई को छाजे, बीजो करे तो डंको बाजै" जो कार्य जिसके योग्य उसे ही वह कार्य करना चाहिए और उसमें उसे पूर्ण स्वतंत्र होना चाहिए । स्त्रियों के योग्य प्रमुख चार कार्य हैं - 1. सन्तान का पालन पोषण करना, 2. गृहकार्यों का सम्पादन करना, 3. शरीर संस्कार-शृंगारादि व वस्त्राभूषण धारण करना वगैरह और 4. पति के साथ शयन करना । इन चार कार्यों के अतिरिक्त अन्य कार्यों में उन्हें स्वातन्त्र्य नहीं देना चाहिए ।।39॥ भागुरि विद्वान ने भी कहा है :-

स्वातन्त्र्यं नास्ति नारीणां मुक्त्वा कर्मचतुष्टयम् ।
बालानां पोषणं कृत्यं शयनं चाङ्ग भूषणम् ।।1॥

कामी पुरुष भोगलिप्सा के वशीभूत हो स्त्री को स्वच्छन्द कर देते हैं । सभी कार्यों में मन-माना करने से वे उद्दण्ड होकर अनर्थों में जुट जाती हैं । पुनः वे निरंकुश हो अपने पति के हृदय को भी उसी प्रकार विदीर्ण करती हैं, जिस प्रकार तलवार वेध कर पार हो जाती है । निरंकुश गज की भाँति वे क्या-क्या अनर्थ नहीं करती? सब कुछ कर डालती हैं । पति के चित्त को ही छिन्न-भिन्न कर डालती हैं ।40॥

नदी तट से उखड़ा वृक्ष जल प्रवाह में पड़ जाये तो क्या चिरकाल तक स्थिर रह सकता है ? क्या अपनी वृद्धि कर सकता है ? नहीं कर सकता । अपितु नष्ट हो जाता है । इसी प्रकार स्त्री के प्रेम नाशे में पराधीन पुरुष उसके आधीन रहने से अधिक क्षति के साथ नष्ट हो जाता है । अतएव स्त्रियों के आश्रित नहीं रहना चाहिए ।41॥ शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

न चिरं वृद्धिमाप्नोतियः स्त्रीणां वशगो भवेत् ।
नदी प्रवाह पतितो यथा भूमि समुद्भवः ।।1॥

जिस प्रकार अपनी मुट्ठी में स्थित तलवार की मूठ समराङ्गण में विजय प्राप्त कराती है, उसी प्रकार पति की आज्ञानुसार चलने वाली पतिव्रता नारी भी उसके सम्पूर्ण मनोरथों की सिद्धि करती हैं । सारांश यह है कि नारी जीवन स्वच्छन्द नहीं होना चाहिए । उसे पतिपरमेश्वर मानकर उसके अनुकूल ही आचरण करना चाहिए ।42॥ किसी नीतिकार ने भी कहा है :-

या नारी वशगा पत्युः पतिव्रता परायणा ।
सास्वपत्युः करोत्येव मनोराज्यं हृदि स्थितम् ।।1॥

अर्थात् पतिवश्या पतिव्रता-आज्ञाकारिणी नारी पति के इच्छित कार्यों की पूर्ति में सहयोगी होती है ।।1॥

स्त्रियाँ स्वभाव से काम-क्रीडा में चतुर होती हैं । अतः नीतिज्ञ पुरुषों को नारियों को कामशास्त्र की शिक्षा में विशेष प्रवीण नहीं करना चाहिए । क्योंकि स्वभाव से उत्तम काम शास्त्र का ज्ञान स्त्रियों को छुरी में पडे पानी की बिन्दु समान नष्ट कर देता है । अर्थात् जिस प्रकार पानी की बिन्दु छुरी पर पडते ही नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार कामशास्त्र की शिक्षा भी स्त्रियों को कुल-धर्म चारित्रधर्म से गिराकर नष्ट-भ्रष्ट कर देती है । अतः स्त्रियों को कामशास्त्र के अतिरिक्त अन्य लौकिक एवं धार्मिक शिक्षण देना चाहिए । मूलतः तो धार्मिक शिक्षा ही प्रमुख है ।43॥ भारद्वाज विद्वान ने भी कहा है :-

न कामशास्त्र तत्वज्ञाः स्त्रियः कार्या कुलोद्भवाः ।
यतो वैरूपमायान्ति यथा शास्त्र्यं दुःसंगमः ।।1॥

श्रेष्ठ कुलोत्पन्न नारियों को कामशास्त्र का अध्ययन नहीं करना चाहिए । क्योंकि यह दुराचार की भावना को उभारता है ।।1 ॥

वेश्यागमन के दुष्परिणाम :

अध्रुवेणाधिकेनाप्यर्थेन वेश्यामनुभवन्पुरुषो न चिरमनुभवति सुखम् ।।44 ॥ विसर्जनाकारणाभ्यां तदनुभवे महाननर्थः ।।45 ॥ वेश्यासक्तिः प्राणार्थहानिं कस्य न करोति ।।46 ॥ धनमनुभवन्ति वेश्या न पुरुषम् ।।47 ॥ धनहीने कामदेवेऽपिन प्रीतिं वध्नन्ति वेश्याः ।।48 ॥ सपुमान् न भवति सुखी, यस्यातिशयं वेश्यासुदानम् ।।49 ॥ स पशोरपि पशुः यः स्वधनेन परेषामर्थवन्तीं करोति वेश्याम् ।।50 ॥ आचित्तविश्रान्ते वेश्यापरिग्रहः श्रेयान् ।।51 ॥ सुरक्षितापि वेश्या न स्वां प्रकृतिं परपुरुष सेवन लक्षणां त्यजति ।।52 ॥

अन्वयार्थ :- (अध्रुवेण) स्थायी (अधिकेन) प्रचुर (अर्थेन) धन द्वारा (अपि) भी (वेश्याम्) वेश्या को (अनुभवन्) सेवन करता हुआ (पुरुषः) मनुष्य (चिरम्) अधिक काल (सुखम्) सुख (न) नहीं (अनुभवति) अनुभव करता है ।।44 ॥ (अकारणाभ्याम्) बिना कारण (विसर्जनम्) त्यागी को (तदनुभवे) पुनः सेवन से (महान्) महान (अनर्थः) अनर्थ [भवति] होता है ।।45 ॥ (वेश्यासक्तिः) वेश्या में आसक्ति (कस्य) किसके (प्राणार्थः) प्राण और अर्थ की (हानिम्) हानि (न) नहीं (करोति) करती है।।46 ॥ (वेश्या) वेश्या (धनम्) धन को (अनुभवन्ति) भोगती है (पुरुषम्) पुरुष को (न) नहीं।।47 ॥ (वेश्या) वेश्या (धनहीने) निर्धन (कामदेवे) कामदेव में (अपि) भी (प्रीतिम्) प्रेम (न) नहीं (बध्नन्ति) जोडती है।।48 ॥ (सः) वह (पुमान्) पुरुष (सुखी) सुखी (न) नहीं (भवति) होता है (यस्य) जिसके (वेश्यासु) वेश्याओं में (दामन्) देना (आतिशायी) प्रचुर मात्रा में [भवति] होता है ।।49 ॥ (सः) वह पुरुष (पशोः) पशु का (अपि) भी (पशुः) पशु है (यः) जो (स्व) अपने (धनेन) धन द्वारा (परेषाम्) दूसरों से भी (वेश्याम्) वेश्या को (अर्थवन्तीम्) धनवान (करोति) करता है [परेषाम्] दूसरों से कराता है ।।50 ॥ (आचित्तविश्रान्ते) शत्रु विजयपर्यन्त-चित्तशान्ति तक (वेश्यापरिग्रहः) वेश्याओं का संचय करना (श्रेयान्) कल्याणकारी [अस्ति] है ।।51 ॥ (सुरक्षता) रक्षित की गई (अपि) भी (वेश्या) वेश्या (परपुरुषसेवनलक्षणाम्) पर पुरुष के साथ भोग के लक्षण रुप (स्वाम्) अपनी (प्रकृतिम्) स्वभाव को (न) नहीं (त्यजति) छोड़ती है ।।52 ॥

विशेषार्थ :- विवेकहीन पुरुष अपने प्रचुर धन को वेश्याओं के व्यामोह से उन्हें अर्पण कर देता है परन्तु तो भी वे उसे यथेष्ट अधिक समय तक सुख प्रदान नहीं करतीं । फिर भला धनहीन या अल्पधनी कैसे उनसे सुखी हो सकता है ? नहीं हो सकता । बिना कारण कोई व्यक्ति प्रथम वेश्या का त्याग कर दे (छोड दे) और पुनः उसके यहाँ जावे तो वह उसका सम्मान नहीं करती । यही नहीं उसका अनर्थ भी कर डालती हैं-मार डालती है । अभिप्राय यह है कि वेश्यागामी पुरुष अपने प्राण, धन, यश और मानप्रतिष्ठा मर्यादा को खो देता है ।।44-45-46 ॥ नारद विद्वान ने भी वेश्यासक्त को प्राण व धननाशक कहा है :

प्राणार्थ हानिरेव स्याद्वेश्यायां सक्तितो नृणाम् ।
यस्मात्तस्मात्परित्याज्या वेश्या पुंभिर्धनार्थिभिः ।।1 ॥

वेश्याओं की प्रीति धन से होती है पुरुष से नहीं । क्योंकि निर्धन व्यक्ति 64 कलाओं का पारगामी (महाविद्वान) व कामदेव समान अत्यन्त रूपवान भी क्यों न हो, उसको भी वे तिरस्कृत कर ठुकरा देती हैं । और धनवान काना

कुबडा, भयानक व्याधियों से पीड़ित भी हो तो उसे अनुराग से गले लगाती हैं । क्योंकि उससे धन प्राप्त होगा ।। अभिप्राय यह है कि वेश्याओं पर विश्वास नहीं करना चाहिए । सत्पुरुषों को उनसे सम्बन्ध ही नहीं रखना चाहिए ।।47॥ भारद्वाज विद्वान ने भी लिखा है :-

न सेवन्ते नरं वेश्याः सेवन्ते केवलं धनम् ।
धनहीनं यतो मर्त्यं संत्यजन्ति च तत्क्षणात् ।।1॥

वेश्या सेवी अविवेकी, अज्ञानी व दुर्मति है । वह मूर्ख स्वयं का धन उसे अर्पण कर देता है परन्तु वह उसे उपेक्षा से ही देखती हैं, धन समाप्त होते ही उसे धक्का दे बाहर कर देती है । क्या वह सुखी होगा ? कभी नहीं । इसीलिए नीतिकारों ने कहा है कि जो पुरुष अपना धन वेश्या को देता है और दूसरों का धन भी उसे दिलाकर धनाढ्य बनाता है वह पशु से भी बढ़कर पशु है क्योंकि अपनी क्षति के साथ दूसरों की भी आर्थिक क्षति के साथ यश, सम्मान की भी क्षति करता है ।।49-53॥ वल्लभदेव विद्वान ने भी यही आलोचना की है :-

आत्मवित्तेन यो वेश्यां महार्थां कुरुते कुधीः ।
अन्येषां वित्तनाशाय पशूनां पशुः सर्वतः ।।1॥

वेश्यागामी पशुओं का शिरोमणि पशु है ।।1॥

राजाओं को वेश्याओं का संग्रह करना बुरा नहीं, परन्तु वह केवल अपनी विजय की आकांक्षा से गुप्तचरों के रूप में ही उन्हें रखना चाहिए । इससे वह शत्रुओं के उपद्रवों से प्रजा-राष्ट्र की रक्षा में समर्थ होता है । परन्तु विजिगीषु विजयलाभ होने पर उनका सम्बन्ध त्याग दे ।।51॥

कहावत है "स्वभावोऽन्यथाकर्तुं ब्रह्माऽपि न पार्येत" स्वभाव का परिवर्तन अति दुर्लभ ही नहीं असंभव भी होता है । वेश्या को कितने ही सुख-साधन उपलब्ध करा दिये जांये तो भी वह पर पुरुष सेवन रूप स्वभाव का त्याग नहीं करती ।।52।। गुरु विद्वान ने भी कहा है :-

यद्वेश्या लोभसंयुक्ता स्वीकृताऽपि नरोत्तमैः ।
सेवयेत्पुरुषानन्यान् स्वभावो दुस्त्यजो यतः ।।1॥

प्रकृति निर्देश :-

या यस्य प्रकृतिः सा तस्य दैवेनापि नापनेतुं शक्येत ।।53॥ सुभोजितोऽपि श्वा किमशुचीन्यस्थीनि परिहरति ।।54॥ न खलु कपिः शिक्षाशतेनापि चापल्यं परिहरति ।।55॥ इक्षुरसेनापि सिक्तो निम्बः कटुरेव ।।56॥

अन्वयवार्थ :- (यस्य) जिसकी (या) जैसी (प्रकृतिः) स्वभाव है (सा) वह (तस्य) उसकी (दैवेन) देव द्वारा (अपि) भी (अपनेतुम्) दूर करने को (न) नहीं (शक्येत्) समर्थ होता है ।।53॥ (सुभोजितः) सम्यक् भोजन कराने पर (अपि) भी (श्वा) कुत्ता (किम्) क्या (अशुचीनि) अपवित्र (अस्थीनि) हड्डियों को (परिहरति)

त्यागता है ? ।154॥ (कपिः) बानर (शिक्षाशतेन) सैकडों शिक्षा देने पर (अपि) भी (खलु) निश्चय से (चापल्यम्) चपलता (न) नहीं (परिहरति) त्यागता है ।155॥ (इक्षुरसेन) गन्ने के रस से (अपि) भी (सिक्तः) सिंचित (निम्बः) नीम (कटुः) कड़वा (एव) ही [भवति] होता है ।156॥

विशेषार्थ :- जिसका जो स्वभाव होता है उसे विधाता भी परिवर्तित नहीं कर सकता । अन्य की क्या बात? नारद ने भी कहा है - ।153॥

व्याघ्रः सेवति काननं सुगहनं, सिंहो गुहां सेवते ।
हंसः सेवति पद्मनिं कुसुमितां गृद्धः श्मशानस्थलीम् ।।

साधु सेवति साधुमेव सततं नीचोऽपिनीचं जनम् ।
या यस्य प्रकृतिः स्वभावजनिता दुःखेन सा त्यज्यते ।।1॥

अर्थ :- व्याघ्र गहन वन प्रदेश में निवास चाहता है, शेर गुफा में रहना पसन्द करता है, हंस पक्षी को सुमनो से युक्त सरोवर की वाञ्छा करता है, गृद्ध पक्षी श्मशान भूमि को श्रेष्ठ मानता है, साधुजन श्रमणों के मध्य रहना चाहते हैं, नीच पुरुष अपने समान नीचों की संगति में ही आनन्द मानता है । जिसकी प्रकृति जैसी होती है वह उसी स्वभाव रूप में रमता है उसका त्याग करना अति कठिन है ।।1॥।154॥

श्वान-कुत्ते को भरपेट शुद्ध, सुस्वादु भोजन कराने पर भी क्या वह अपवित्र मांसादि लिप्त अस्थि का चबाना त्यागता है ? नहीं उसे उस हड्डी के चाटे बिना तृप्ति नहीं होती ।154॥ भृगु विद्वान ने भी यही अभिप्राय प्रकट किया है।154॥

स्वभावो नान्यथाकर्तुं शक्यः केनापि कुत्रचित् ।
श्वेव सर्वरसान् भुक्त्वा विना मेध्यान्न तृप्यति ।।1॥

अर्थात् कुत्ता सब कुछ शुद्ध पदार्थ खाने पर भी हड्डी के बिना तृप्त नहीं होता ।।

वानर की चपलता जग प्रसिद्ध है । उसे स्थिर शान्त बैठने की सैकड़ों शिक्षा दिये जाने पर भी वह अपने चपल स्वभाव को नहीं छोड सकता ।155॥ अत्रि विद्वान ने भी कहा है :-

प्रोक्तः शिक्षाशतेनाऽपि न चापल्यं त्यजेत्कपिः ।
स्वभावो नोपदेशेन शक्यते कर्तुमन्यथा ।।1॥

उपदेश स्वभाव को बदलने में समर्थ नहीं होता, यथा बन्दर को सैकडों शिक्षा दी जायें पर उसकी चपलता नहीं जाती ।।1॥

नींम का स्वभाव कटु होता है । यदि उसे सुमधुर इक्षु-गन्ने के रस से भी सींचा जायं तो भी वह मधुर नहीं होता। अपनी कटुता नहीं छोड़ता ।157॥ गर्ग विद्वान ने भी यही कहा है :-

पिशुनं दानमाधुर्यं संप्रयायि कथंचन ।
सिक्तश्चेक्षुरसेनापि दुस्तत्यजा प्रकृतिर्निजा ।।1 ॥

प्रकृति, कृतघ्नों को पोषण, विकृति के कारण, शारीरिक सौन्दर्य व कुटुम्बियों का संरक्षण :-

क्षीराश्रित शर्करापानभोजितश्चाहिर्नकदाचित् परित्यजति विषम् ।।57।। यह सूत्र मु.म.पुस्तक में संकलित है सं.टी.पु. में नहीं है ।।

सम्मानदिवसादायुः कुल्यानामपग्रहहेतुः ।।58॥ तंत्र कोशवर्धिनी वृत्तिर्दायादान् विकारयति ।।59॥ तारुण्यमधिकृत्य संस्कार साराहितोपयोगाच्च शरीरस्य रमणीयत्वं न पुनः स्वभावः ।।60॥ भक्ति विश्रम्भादव्यभिचारिणं कुल्यं पुत्रं वा संवर्धयेत् ।।61॥ विनियुञ्जीत उचितेषु कर्मसु ।।62॥

अन्वयार्थ :- (क्षीराश्रितशर्करा) शक्कर मिला दुग्ध (पानभोजितः) पीकर भोजन करने वाला (अहि) सर्प (कदाचित्) कभी भी (विषम्) जहर को (न) नहीं (परित्यजति) त्यागता है ।।58॥ (तंत्रः) सेनादि (कोशः) खजाना (वर्धिनी) बढ़ाने वाली (वृत्तिः) दान सम्मानादि (दायादान्) कुटुम्बियों को (विकारयति) प्रतिकूल करती है ।।59॥ (तारुण्यम्) यौवन को (अधिकृत्य) स्वीकार कर (संस्कारसारः) सजावट-शृंगार से (आहित) प्राप्त (च) और (उपयोगात्) उपयोग से (शरीरस्य) शरीर का (रमणीयत्वम्) सौन्दर्य है (पुनः) इसके सिवाय (स्वभावः) स्वभाव से (न) नहीं ।।60॥ (भक्तिविश्रम्भात्) भक्ति, विश्वास, श्रद्धावान (अव्यभिचारिणम्) अनुकूल सदाचारी (कुल्यम्) कुटुम्ब (वा) अथवा (पुत्रम्) पुत्र को (संवर्धयेत्) संरक्षण करे ।। (उचितेषु) योग्य (कर्मसु) कार्यों, पदों पर (विनियुञ्जीत) नियुक्त करे ।।61-62॥

विशेषार्थ :- जिस प्रकार भुजंग को शर्करा मिलाकर मधुर दुग्ध पान कराया जाय तो भी वह अपनी विषाक्त प्रकृति को नहीं छोड़ सकता । उसी प्रकार जिसकी जैसी प्रकृति होती है वह उसे नहीं छोड सकता । सारांश यह है कि वेश्याएँ भी धनलोलुपता वश अपने व्यभिचार कर्म का परित्याग नहीं कर सकती । इसलिए विवेकी, सदाचारी, नीतिवान पुरुषों को शारीरिक भयंकर रोगोत्पादक, धनविनाशक, चारित्रसंहारक, मान मर्यादा विनाशक, प्राण घातक वेश्याओं का संगम त्याग ही देना चाहिए ।। उनसे सम्बन्ध ही नहीं रखना चाहिए ।।57॥

अर्थ भी कभी अनर्थों का मूल हो जाता है । प्रजापालक-राजा अपने निकट-सम्बन्धियों को उच्च-पदाधिकारी बना देता है, उन्हें भरण-पोषण के प्रचुर धनादि साधन प्रदान करता है तो वे अहंकार के वशीभूत हो जाते हैं । अभिमानी विवेक शून्य हो जाता है । फलतः वह राज्य के लोभ से राजा को ही मार डालते हैं ।।58॥ शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

कुल्याणां पोषणं यच्च क्रियते मूढपार्थिवैः ।
आत्मनाशाय तज्ज्ञेयं तस्मात्त्याज्यं सुदूरतः ।।1॥

अर्थ :- निकटवर्ती पारिवारिक जनों का पोषण करना राजा की मूर्खता है क्योंकि वे लोभवश उसी के घातक सिद्ध होते हैं । अतः उन्हें दूर ही से त्याग देना चाहिए ।।1॥

सेनादि एवं कोष की वृद्धि करने वाले साधनों को प्राप्त कर कुटुम्बीजन विकृत हो जाते हैं और वे उसी के घातक भी बन जाते हैं । अतः राजा का कर्त्तव्य है कि वह अपने सजातीय पारिवारिकजनों को आवश्यकता से अधिक धन माल व सम्मान नहीं देना चाहिए । अन्यथा उसका परिणाम भयङ्कर होता है । वे उसी के घातक बन जाते हैं । लोभ-लालचवर्द्धक साधन उसे देना योग्य नहीं ।159॥ गुरु ने भी यही कहा है-

वृत्तिः कार्या न कुल्याणं यथा सैन्यं विवर्धते ।
सैन्यवृद्धया तु ते घ्नन्ति स्वामिनं राज्यलोभतः ।।1॥

शरीर सौन्दर्य के विषय में विचार करने से प्रतीत होता है कि शरीर में कृत्रिम साज-शृंगार, सज-धज का सौन्दर्य होता है न कि स्वाभाविक । कारण कि युवावस्था में उत्तम वस्त्रालंकारों से स्वयं को विभूषित करता है तो सुन्दर प्रतीत होता है ।160॥

राजा का कर्त्तव्य है कि वह हर समय विवेक से कार्य करे । जो पुरुष अपने प्रति श्रद्धालु हैं, भक्त हैं, अविरुद्ध हैं और नम्र, आज्ञाकारी, विश्वासपात्र हैं उन सजातीय, कौटुम्बी, पुत्रादि का संरक्षण करे, उन्हें योग्य पदों पर नियुक्त करे। और सर्व प्रकार सहयोग प्रदान करे । ।161-62॥ नारद एवं वल्लभदेव भी कहते हैं :-

वर्धनीयोऽपिदायादः पुत्रो वा भक्तिभाग्यदि ।
न विकारं करोति स्म ज्ञात्वा साधुस्ततः परम् ।।1॥

नारदः ।।

स्थानेष्वेव नियोज्यन्ते भृत्या आभरणानि च ।
न हि चूडामणिः पादे प्रभवामीति बध्यते ।।1॥

वल्लभदेवः ।।

अर्थ :- भक्ति, श्रद्धावान यदि हैं तो उन्हें उचित संवर्द्धन करे । ये मेरे विरोधी नहीं होंगे ऐसा प्रथम ज्ञात कर उनका पोषण करना चाहिए ।

सेवक और आभरणों को उचित स्थान-पद और अंगों में धारण करना चाहिए । अधिक प्रभा होगी ऐसा समझ कोई शिर की चूडामणि को पैरों में नहीं पहनता । सारांश यह है कि पुरुष व आभरण उचित और सीमित ही शोभित होते हैं ।162॥

आज्ञापालन, विरोधियों का वशीकरण, कृतज्ञ के साथ कृतघ्नता का दुष्फल, अकुलीन माता-पिता का सन्तान पर कुप्रभाव :-

भर्तुरादेशं न क विकल्पयेत् ।163॥ अन्यत्र प्राण बाधा बहुजन विरोध पातकेभ्यः ।164॥ बलवत्पक्ष परिग्रहेषु दायिष्वात्म पुरुष पुरः सरो विश्वासो वशीकरणं गूढपुरुषनिक्षेपः प्रणिधिर्वा ।165॥ दुर्बोधे सुते दायादे वा सम्यग्युक्तिभिर्दुरभिनिवेशमवतारयेत् ।166॥ साधुषूपचर्यमाणेषु विकृति भजनं स्वहस्ताङ्गाराकर्षणमिव ।167॥ क्षेत्रबीजयोर्वैकृत्यमपत्यानि विकारयति ।168॥

अन्वयार्थ :- (भर्तुः) स्वामी की (आदेशम्) आज्ञा को (न) नहीं (विकल्पयेत्) उलंघन करे ।।63॥ (अन्यत्र) इन्हें छोड़कर (प्राणबाधा) प्राणनाशक (बहुजनविरोधी) लोगों से विरोधकारी (पातकेभ्यः) पाप में प्रवृत्ति कराने वाली।।64॥ (बलवत्पक्षपरिग्रहेषु) अपने ही कुटुम्बी सेना-कोष से बलशाली हो जायें तो (वशीकरणम्) उन्हें आधीन करने को राजा (दायादिषु) परिवारजनों में (आप्तपुरुषान्) प्रामाणिकों को (पुरः सरः) अग्रेसर करे (वा) अथवा (विश्वासः) विश्वस्त करे एवम् (गूढपुरुषनिक्षेपः) गुप्तचर भेजे (प्रणिधिः) अभिप्राय ज्ञात करे ।।65॥ (सुते) पुत्र (वा) अथवा (दायादे) भाई बन्धु के (दुर्बोधे) मूर्ख होने पर (सम्यग्युक्तिभिः) समीचीन युक्तियों द्वारा भी (दुरभिनिवेशम्) विपरीत अभिप्राय को (अवतारयेत्) नष्ट करते हैं ।।66॥ (उपचर्यमानेषु) उपकारी (साधुषु) सत्पुरुषों में (विकृतिभजनम्) विपरीतता उत्पन्न करना (स्वहस्त) अपने हाथ (अङ्गारः) अग्नि (आकर्षणम्) खींचने (इव) समान [अस्ति] है ।।67॥ (क्षेत्र-बीजयोः) माता-पिता की (वैकृत्यम्) विकृति--अशुद्धि (अपत्यानि) सन्तान को (विकारयति) विकृत-दूषित कर देती हैं ।।68॥

विशेषार्थ :- सेवक का, स्वामी आज्ञा पालन करना परम कर्त्तव्य है । परन्तु यदि स्वामी आज्ञा प्राण-नाशिनी, वैर विरोध वर्द्धिनी, पाप कार्यों में प्रवर्तन कराने वाली हो तो उसका पालन नहीं करे । शेष सभी कार्यों मे सर्वत्र सेवक अपने स्वामी की आज्ञा को सहर्ष पालन करे । "आज्ञा मात्र फलं राज्यम्" कहा है ।।63-64॥

सैन्य व कोष बलवर्द्धक होते हैं और दुर्जनों को अभिमान बढ़ाने वाले भी होते हैं । यदि राजा के सजातीय पारिवारिक जन इन शक्तियों से बलिष्ठ हो दुर्विनीत विपरीत हो जायें तो राजा का कर्त्तव्य उन्हें वशी करे । उसके लिए प्रथम उपाय है अपने शुभचिन्तक प्रामाणीक लोगों को अग्रेसर-मुखिया नियुक्त करे । उनके द्वारा उन्हें विश्वास उत्पन्न करावे । दूसरा उपाय है उनके चारों ओर गुप्तचर नियुक्त करे, जिससे उनके अभिप्राय, चेष्टाएँ व गति-विधियों की जानकारी प्राप्त होती रहे। राजा यदि उनके क्रिया-कलापों से भिज्ञ होगा तो उन पर अंकुश लगाने का प्रयत्न करेगा और सफल भी हो सकेगा। साम-दाम, भेद-दण्ड नीतियों का उचित प्रयोग ही कार्यकारी होना संभव है ।।65॥ शुक्र विद्वान ने कहा है :-

बलवत्पक्षा दायादा आप्तद्वारेण वश्यगाः ।
भवन्ति चातिगुप्तैश्च चरैः सम्यग्विशोधिताः ।।1॥

दो ही उपाय हैं ।।

सत्पुरुषों को नीति शास्त्रानुसार अपने पुत्र या कुटुम्बियों के दुरभि निवेष को, खोटे आचरणों को सशक्त, योग्य, सुयुक्तियों द्वारा नष्ट करना चाहिए। सम्यक् प्रकार, प्रेम से युक्ति युक्त वचनों द्वारा उन्हें सन्मार्ग पर लाया जा सकता है।।66॥ रैम्य कवि नीतिकार ने भी कहा है :-

पुत्रो वा बांधवो वापि विरुद्धोजायते यदा ।
तदा संतोष युक्तस्तु सत्कार्यो भूतिमिच्छता ।।1॥

शिष्ट व सत्पुरुषों को सदैव व सम्मान की दृष्टि से देखना चाहिए । जो मूर्ख गुणीजनों-शिष्ट पुरुषों के साथ अन्याय का व्यवहार करता है वह मानों अपने हाथ से अंगारों (आग) को खींचता है । अर्थात् अन्यायी स्वयं

अपना ही नाश करता है । सारांश यह है कि जिस प्रकार अंगारों को हाथ से छूने वाला स्वयं जलता है, अपनी ही क्षति करता है, उसी प्रकार पूज्य पुरुषों के साथ या सज्जनों के साथ जो अन्याय करता है, वह अपना ही अहित, आर्थिक क्षति आदि करता है । उपकारी का उपकार करना चाहिए । यदि उपकार न हो सके तो उन्हें क्षति पहुँचाने का उपक्रम तो कभी भी नहीं करना चाहिए ।।67।। भागुरि विद्वान ने भी कहा है-

साधूनां विनयाढ्यानां विरुद्धानि करोति यः ।
स करोति न सन्देहः स्वहस्तेनाग्निकर्षणम् ।।1।।

माता-पिता यदि नीच कुल के हैं तो उनके पुत्र भी नीच-विकार युक्त नीचकुल के ही कहलाते हैं । इसी प्रकार जो अपने उच्च कुल को भी विधवादि विवाह कर कलंकित कर लेते हैं वे भी उच्च कुलीन भी नीच कहे जाते हैं । इसी प्रकार सन्तान के जघन्य आचरणों से माता-पिता भी अकुलीनता जानी जाती है ।।68।।

उत्तम पुत्र की उत्पत्ति का उपाय :

कुल विशुद्ध रुभयतः प्रीतिर्मनः प्रसादोऽनुपहत काल समयश्च श्री सरस्वत्यावाहन मंत्र पूत परमान्नो पयोगश्च गर्भाधाने पुरुषोत्तममवतारयति ।।69।।

अन्वयार्थ :- (कुलविशुद्धिः) जाति वंश शुद्धि (उभयतः) दोनों दम्पत्ति में (प्रीतिः) स्नेह (मनः प्रसादः) चित्त की निर्मलता (अनुपहतकाल) समय की मर्यादा (च) और (समयः) यौवनकाल (श्री सरस्वत्याः) सरस्वती का (आवाहन) आवाहन, (मंत्रपूत) मंत्रशुद्धि (परमान्नः) उत्कृष्ट अन्न (च) और (गर्भाधाने) गर्भान्वयी क्रिया (पुरुषोत्तमम्) उत्तम पुरुष को (अवतारयति) अवतर करती है ।।69।।

विशेषार्थ :- जो दम्पत्ति उत्तम, श्रेष्ठत पुत्रोत्पन्न के इच्छुक हैं उन्हें निम्न प्रकार कारण सामग्री का समन्वित करना चाहिए :-

(1) कुलविशुद्धि - दम्पत्ति के माता-पिता की कुलपरम्परा विशुद्ध, निष्कलंक होनी चाहिए । उन्हें पिण्डशुद्धि (सज्जातित्व) का रक्षण करना चाहिए । माता पक्ष जाति और पिता की परम्परा कुल कहलाती है । दोनों की पवित्रता सज्जाति कही है । भगवज्जिन सेनाचार्य ने भी महापुराण में कहा है :-

पितुरन्वयशुद्धि र्या तत् कुलं परिभाष्यते ।
मातुरन्वय शुद्धिस्तु जाति रित्यभिलप्यते ।।1।।

(संस्कार जन्मन) विशुद्धिरुभयास्य सज्जातिरनुवर्णिता ।
यत्प्राप्तौ सुलभा बोधिरयत्नोपनतै र्गुणैः ।।2।।

संस्कार जन्मना चान्या सज्जातिरनुकीर्त्यते,
यामासाद्यद्विजन्मत्वं भव्यात्मा समुपाश्नुते ।।3।।

विशुद्धाकर संभूतोमणिः संस्कारयोगतः ।
यात्युत्कर्षं यथात्मैवं क्रियामन्त्रैः सुसंस्कृतः ।।4 ।।

सुवर्णधातुरथवा शुद्धच्छेदासाद्य संस्क्रियाम् ।
यथा तथैव भव्यात्मा शुद्ध्यत्यासादित क्रियः ।।5 ।।

ज्ञानजः स तु संस्कारः सम्यग्ज्ञानमनुत्तरम् ।
यदाथ लभते साक्षात् सर्वविन्मुखतः कृती ।।6 ।।

तदैव परमज्ञानगर्भात् संस्कारजन्मना ।
जातो भवेद् द्विजन्मेति व्रतैः शीलैश्च भूषितः ।।7 ।।

आदि पु.

अर्थ :- वंश परम्परा से आगत पिता की वंश शुद्धि "कुल" और माता की वंश शुद्धि "जाति" है, तथा दोनों कुल व जाति की शुद्धि "सज्जाति" कही जाती है । अभिप्राय यह है कि जिन दम्पत्तियों के बीज-वृक्ष सदृश परम्परागत समान गोत्र में, विधवा व विजाति विवाह नहीं हुआ हो-पिण्ड अशुद्धि नहीं हुई हो, किन्तु एक ही जाति में भिन्न गोत्र की कन्या के साथ विवाह संस्कार द्वारा प्रवाह रूप चला आया वंश पूर्ण विशुद्ध हो, उसे "सज्जाति" कहते हैं । इस प्रकार के विशुद्ध कुल में उत्पन्न पुरुष को सहज-स्वभाव से सदाचार, शिष्टाचार, उत्तमशिक्षा, शुभाचार धर्मानुराग प्राप्त हो जाते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय भी परम्परा से सहज-बिना विशेष पुरुषार्थ के प्राप्त होता है ।।1।।2 ।।

उपर्युक्त सज्जातित्व की विशेष सुरक्षार्थ आचार्य श्री ने गर्भाधानादि संस्कारों से उद्भूत द्वितीय सज्जातित्व कहा है । जिसके द्वारा कुलीन भव्यात्मा द्विजन्मा (1. गर्भ से शरीर का जन्म और 2. संस्कारों से आत्म-संस्कार) कहा जाता है । यथा विशुद्ध खान से निकली मणि संस्कार द्वारा समुज्जवल-प्रकाशित होती है उसी प्रकार श्रेष्ठ कुलोत्पन्न मनुष्य गर्भाधानादि मंत्रों के संस्कारों से संस्कारित हुए विशेष निर्मल-विशद परिणामी हो जाते हैं । जिस प्रकार सुवर्ण-पाषाण उत्तम संस्कार-छेदन भेदन व अग्निपुट-पाक आदि से शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार विशुद्ध कुलोत्पन्न भव्यात्मा-जीव भी उत्तम क्रियाओं (संस्कारों) को प्राप्त कर परम विशुद्ध हो जाता है । धार्मिक संस्कार आत्मा को शुद्ध करते हैं ।।4-5 ।।

उत्तम संस्कार ज्ञान से जाग्रत होते हैं । सम्यग्ज्ञान सर्वोत्तम है । जिस क्षण यह भव्यात्मा साक्षात् सर्वज्ञ देव के मुखारबिन्द से प्रकट दिव्य धर्मोपदेश रुप ज्ञानामृत का पान करता है तब वह सम्यग्ज्ञान रूप गर्भ से संस्कार रुप जन्म से सुसंस्कृत हो पाँच अणुव्रत 3 गुणव्रत, 4 शिक्षाव्रतों से विभूषित हुआ "द्विजन्मा" कहलाता है । सारांश यह है कि कुलीन दम्पत्ति से उत्पन्न सन्तान भी कुलीन, उत्तम होती है और गर्भाधानादि से मंत्र संस्कारों से मोक्षसाधन भूतरत्नत्रय धारक होने योग्य हो जाते हैं । यह प्रथम हेतू है ।

2. दम्पत्तियों का पारस्परिक प्रेम-स्नेह होना चाहिए । 3. मन: प्रसाद-हृदय-कमल की प्रफुल्लता-सतत शान्त चित्त होना 4. गर्भाधान का समय चन्द्रग्रहण आदि से रहित दिन होना चाहिए । 5. लक्ष्मी-अन्तरङ्ग-अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख व अनन्तवीर्य, वहिरङ्ग समवशरणादि, तथा श्रुतज्ञान सरस्वती देवी के आह्वानन रुप मंत्रों का यथा विधि उच्चारण करना, 6. आचारशास्त्र के अनुसार प्रकृति के और ऋतु के अनुकूल शुद्ध-प्रासुक भोजन-आहार भक्षण करना। इस प्रकार माता-पिता के आचरणों-क्रिया कलापों से उनकी सन्तान पराक्रमी, वीर, शुद्धाचरणी, धर्मात्मा आदि गुण सम्पन्न होती है ।69 ॥

निरोगी व दीर्घ जीवी संतान का कारण, राज्य व दीक्षा के अयोग्य पुरुष, अङ्गहीनों का राज्याधिकार की सीमा, विनय का प्रभाव, अभिमानी राजकुमारों की हानि :-

गर्भशर्मजन्मकर्मापत्येषु देहलाभात्मलाभयो: कारणं परमम् ।।70 ॥ स्वजाति योग्य संस्कार हीनानां राज्ये प्रव्रज्यायां च नास्त्यधिकार: ।।71 ॥ असति योग्येऽन्यस्मिन्नङ्गविहीनोऽपि पितृपदमर्हत्यापुत्रोत्पत्ते: ।।72 ॥ साधुसम्पादितो हि राजपुत्राणां विनयोऽन्वयमभ्युदयं न च दूषयति ।।73 ॥ घुण जग्धं काष्ठमिवाविनीतं राजपुत्रं राजकुलमभियुक्तमात्रं भंज्येत् ।।74 ॥

अन्वयार्थ :- (गर्भ:) गर्भकाल (शर्म:) शान्त-निरोग माँ हो (जन्मकर्म) जन्म शुभ ग्रह में हो वह (अपत्येषु) सन्तान में (देह:) शरीर (आत्मलाभयो:) और आत्मलाभ का (कारणम्) हेतू (परमम्) उत्तम [भवति] होता है ।।70 ॥ (स्व) अपनी (जातियोग्य:) जाति के योग्य (संस्कारहीनानाम्) संस्कारों से रहितों को (राज्ये) राज करने में (च) और (प्रव्रज्यायाम्) दीक्षाधारण में (अधिकार:) अधिकार (न) नहीं (अस्ति) है ।।71 ॥ (असति) अभाव (योग्य) योग्य के (अन्यस्मिन्) दूसरा (अङ्गविहीन:) विकलांग (अपि) भी (पितृपदम्) पिता के पद को (अर्हति) योग्य है (आ पुत्रोत्पत्ते:) पुत्र की उत्पत्तिपर्यन्त ।।72 ॥ (हि) निश्चय से (साधुसम्पादित:) सत्पुरुषों द्वारा सम्पादित (राजपुत्राणाम्) राजकुमारों की (विनय:) विनम्रता-सदाचार (अन्वय:) कुलपरम्परा (च) और (अभ्युदयम्) ऐश्वर्य को (न) नहीं (दूषयति) मलिन करती है ।।73 ॥ (घुणजग्धम्) दीमक लगे (काष्ठम्) लकड़ी (इव) समान (अविनीतम्) विनयरहित (राजपुत्रम्) युवराज (राजकुलम्) राजवंश को (अभियुक्तमात्रम्) प्राप्ति के साथ ही (भंज्येत्) नष्ट कर देता है ।।74 ॥

भावार्थ :- जो स्त्री गर्भावस्था में निरोगी एवं सुख-शान्ति में रहती है, उसकी सन्तान भी सुखी रहती है एवं स्वस्थ होती है । जिस बच्चे का जन्म शुभ ग्रहों-योगों में होता है वह दीर्घजीवी (चिरायु) होता है ।।70 ॥ गुरु विद्वान का भी यही अभिप्राय है :-

गर्भस्थानमपत्यानां यदि सौख्यं प्रजायते ।
तद्धवेद्धि शुभो देहो जीवितव्यं च जन्मनि ।।1 ॥

जिन पुरुषों का अपनी जाति के नियमानुसार मन्त्रादि संस्कार व गर्भाधानादि क्रियाएँ नहीं हुई हैं उनको राज्य प्राप्ति का अधिकार नहीं है । तथा दीक्षाधारण करने का भी अधिकार नहीं है ।।71 ॥ नृपति के कालकवलित होने पर यदि उसका पुत्र विकलाङ्ग है तो भी वह राजशासन का अधिकारी हो सकता है । परन्तु वह तभी तक राजा माना जायेगा जब तक कि उसके पुत्रोत्पन्न नहीं होता । उस अङ्गहीन की योग्य सन्तान होने पर वही राज्याधिकारी होगी ।।72 ॥ शुक्र विद्वान ने भी यही अभिप्राय व्यक्त किया है :-

राजाभावे तु संजाते योग्यः पुत्रो न चेद्भवेत् ।
तदा ह्यंगोऽपि संस्थाप्यो यावत्पुत्र समुद्भवः ।।1॥

जो राजकुमार शिष्ट व साधु पुरुषों के सन्निकट विद्याध्ययन करते हैं । नीतिशास्त्र, सदाचार व विनयाचार अवगत करते हैं । वे अपने वंश की वृद्धि करते हैं तथा राज्य को दूषित नहीं करते ।।73॥ वादरायण विद्वान ने भी यही भाव व्यक्त किये हैं :-

विनयः साधुभिर्दत्तो राजन्यानां भवेद्धि यः ।
न दूषयति वंशं तु न राज्यं न च सम्पदम् ।।1॥

योग्यशिक्षित युवराज अपने कुल, वंश, राज्य व सम्पदा कोष की क्षति नहीं करता अपितु वृद्धि ही करता है ।।1॥

जिस प्रकार घुण लगने पर-कीड़ों से खाई गई लकड़ी नष्ट हो जाती है उसी प्रकार दुराचारी, उद्दण्ड, दुशिक्षित राजकुमार का राज्य व वंश भी शीघ्र नष्ट हो जाता है । इसलिए दुराचारी व अनैतिक व्यक्ति को राज्याधिकारी नहीं बनाना चाहिए ।।74॥ भागुरि विद्वान ने भी कहा है :-

राजपुत्रो दुराचारो यदि राज्ये नियोजितः ।
तद्राज्यं नाशमायाति घुणजग्धं च दारुवत् ।।1॥

पिता से विद्रोह न करने वाले पुत्र (राजकुमार), माता-पिता, लाभ, माता-पिता के अनादर से हानि, उससे प्राप्त राज्य की निरर्थकता, पुत्रकर्त्तव्य :-

आप्तविद्यावृद्धोपरुद्धाः सुखोपरुद्धाश्च राजपुत्राः पितरं नाभिद्रुह्यन्ति ।।75॥ मातृपितरौ राजपुत्राणां परमं दैवम् ।।76॥ यत्प्रसादादात्मलाभो राज्यलाभश्च ।।77॥ मातृपितृभ्यां मनसाप्यपमानेष्वभिमुखा अपि श्रियो विमुखा भवन्ति ।।78॥ किं तेन राज्येन यत्र दुरपवादोपहतं जन्म ।।79॥ क्वचिदपि कर्मणि पितुराज्ञां नो लंघयेत् ।।80॥

अन्वयार्थ :- (आप्तविद्या) वंश परम्परागत शिक्षा (वृद्ध-उपरुद्धाः) अपने निजी बजुर्गों से शिक्षित (सुखेन) सुख से (उपरुद्धाः च) और सुखपूर्वक पालित (राजपुत्राः) युवराज (पितरम्) पिता को (अभिद्रुह्यन्ति) विद्रोह के कारण (न) नहीं होते हैं ।।75॥ (मातृपितरौ) योग्य माता-पिता प्राप्त होना (राजपुत्राणाम्) राजकुमारों का (परमम्) महान (दैवम्) भाग्य [अस्ति] है ।।76॥ (यत्) जिसके (प्रसादात्) प्रसाद से (आत्मलाभः) स्व लाभ (च) और (राज्यलाभः) राज्यलाभ [भवति] होता है ।।77॥ (मातृ-पितृभ्याम्) माता-पिता को (मनसा) मन से (अपि) भी (श्रियः) लक्ष्मी (विमुखा) विपरीत (भवन्ति) होती हैं ।।78॥ (तेन) उस (राज्येन) राज से (किम्) क्या (यत्र) जहाँ (दुरपवादः) खोटा अपवाद (उपहतम्) पीडित (जन्म) जीवन [भवेत्] हो ।।79॥ (क्वचिद्) कभी (अपि) भी (कर्मणि) कार्य में (पितुराज्ञाम्) पिता की आज्ञा को (न) नहीं (लंघयेत्) उल्लंघन करे ।।80॥

विशेषार्थ :- जिन युवराजों को राजकीय वंश परम्परा से चले आये अनुभवी, वृद्ध, सदाचारी विद्वानों द्वारा नैतिकाचार और राजतंत्रविद्या सिखाई गई है । सुशिक्षा द्वारा और सुसंस्कारों से जो वृद्धि को प्राप्त हुए हैं । तथा

जिनका लालन-पालन भी सुख-शान्ति से किया गया है, वे कभी भी अपने पिता के साथ विद्रोह नहीं करते, उसका अनिष्ट चिन्तन नहीं करते ।।75॥ गौतम विद्वान ने भी कहा है :-

आप्तैर्विद्याधिकैर्येऽत्र राजपुत्राः सुरक्षिताः ।
वृद्धिं गताश्च सौख्येन जनकं न द्रुह्यन्ति ते ।।1।।75॥

श्रेष्ठतम माता-पिता की प्राप्ति राजकुमारों के पुण्योदय पर निर्भर करती है । भाग्योदय से उत्तम, शुद्ध माता-पिता प्राप्त होते हैं । अभिप्राय यह है कि युवराजों ने पूर्व भव में सातिशायी पुण्यार्जन किया है तो इस भव में उन्हें पितृ-वंश परम्परा से चली आयी राज सम्पदा प्राप्त होती है । अर्थात् पिता के राज्य को संभाल सकता है, अन्यथा नहीं ।।76॥ गर्ग विद्वान ने भी यही कहा है :-

जननी जनकश्चेती प्राक्तनं कर्म विश्रुतौ ।
सर्वेषां राजपुत्राणां शुभाशुभप्रदौहि तौ ।।1॥

अर्थ :- राजकुमारों को अनुकूल व प्रतिकूल भाग्य से उन्हें इष्ट व अनिष्ट फल देने वाले माता-पिता की प्राप्ति होती है ।।1॥

जो राजकुमार विनयशील-माता-पिता की भक्ति व सेवा करता है उसे उनके प्रसाद से उसे शुभ शरीर, राजलक्ष्मी व सदाचार प्राप्त होता है । अभिप्राय यह है कि माता-पिता का सन्तान के प्रति अनन्त उपकार होते हैं । इसलिए सुख शान्ति के इच्छुक पुत्रों को अपने माता-पिता की तन, मन, धन से सतत् सेवा-सुश्रुषा व आज्ञापालन करना चाहिए ।।77॥ रैम्य विद्वान ने भी कहा है :-

अतएव हि विज्ञेयौ जननी जनकावुभौ ।
दैवं याभ्यां प्रसादेन शरीरं राज्यमाप्यते ।।1॥

उपर्युक्त ही अभिप्राय है ।।

जो व्यक्ति मन से भी अपने माता-पिता का अपमान करता है, अवज्ञा का भाव रखता है व तिरस्कार की भावना रखता है, उनके पास से लक्ष्मी, दूर हो जाती है । जो वैभव प्रसन्नता से प्राप्त होने वाला था वह भी दूर भाग जाता है । अभिप्राय यह है कि सुख सम्पत्ति पाने के अभिलाषियों को माता-पिता की भूलकर भी अवज्ञा-अपमान नहीं करना चाहिए। अज्ञात दशा में भी उनका तिरस्कार नहीं करना चाहिए फिर जानकर अपमान करना तो महा अनर्थ है ।।78॥

वादरायण विद्वान ने भी कहा है :-

मनसाप्यपमानं यो राजपुत्रः समाचरेत्
सदा मातृपितृभ्यां च तस्य श्रीः स्यात् पराङ्मुखा ।।1॥

वही अभिप्राय है ।

उस राज्य की प्राप्ति से क्या प्रयोजन ? जिसे पाकर मानव लोकनिन्दा का पात्र बने ।। कहावत है कि "बद भला बदनाम बुरा" खराब होना उतना खतरनाक नहीं जितना बदनाम होना-कुख्यात होना बुरा है ।।79॥ शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

जनापवादसहितं यद्राज्यमिह कीर्त्यते ।
प्रभूतमपि तन्मिथ्या तत्पापाय राजसंस्थिते ।।1॥

पुत्र का कर्त्तव्य है कि प्रत्येक कार्य में पिता की आज्ञा स्वीकार करे एवं पिता जो आज्ञा करे तदनुसार ही कार्य करे । उनके आदेश का कभी भी किसी भी अवस्था में उल्लंघन न करे ।

दृष्टान्त और पुत्र के प्रति पिता का कर्त्तव्य :-

किन्नु खलु रामः क्रमेण विक्रमेण वा हीनो यः पितुराज्ञया वनमाविवेश ।।81॥ यः खलु पुत्रो मनसितपरम्परया लभ्यते स कथमपकर्त्तव्यः ।।82॥ कर्त्तव्यमेवाशुभं कर्म यदि हन्यमानस्य विपद्विधानमात्मनो न भवेत् ।।83।।

अन्वयार्थ :- (किम्) क्या (नु) निश्चय से (रामः) रामचन्द्र (क्रमेण) राजनीति तत्वों के ज्ञान में (वा) अथवा (विक्रमेण) शूरवीरता से (हीनः) कम थे (यः) जो (पितुः) पिता की (आज्ञया) आज्ञा से (खलु) निश्चय ही (वनम्) वन को (आविवेश) प्रविष्ट हुए ।।81॥ (यः) जो (पुत्रः) पुत्र (खलु) निश्चय ही (मनसित) मनौतियों की (परम्परया) परम्पराओं द्वारा (लभ्यते) प्राप्त किया गया (सः) वह पुत्र (कथम्) किस प्रकार (अपकर्त्तव्यः) अपकार का पात्र होना चाहिए? नहीं ।।82॥ (अशुभम्) अशुभ (कर्त्तव्यम्) कार्य करना चाहिए (एव) यह ही (कर्म) कार्य (यदि) अगर (हन्यमानस्य) हिंसक को (विपद्) विपत्ति का (विधानम्) विधान (आत्मनः) आत्मा का (न) नहीं (भवेत्) होवे ? ।।83॥ओ

विशेषार्थ :- रामचन्द्र महानुभाव थे । राजनीति कुशल और सुभटों में सुभट थे । फिर भी पिता की आज्ञा पालनार्थ राज्यसम्पदा त्याग वन में प्रविष्ट हुए । क्या इससे उनकी राजनैतिज्ञता और सुभटत्व कम हो गया ? नहीं, अपितु निखर कर विश्वव्यापी यश के रूप में बिखर गया । सारांश यह है कि लोक परम्परा के अनुसार ज्येष्ठ होने से राम राजगद्दी के अधिकारी थे ही । बलिष्ठ होने से यदि चाहते तो भरत को ही नहीं पिता को भी परास्त कर सकते थे, कैकेयी को कैदी बनाकर भी राजगद्दी प्राप्त कर सकते थे । परन्तु ऐसा नहीं किया । क्यों ? क्योंकि पिता की आज्ञा पालन करना पुत्र का कर्त्तव्य है । अतः 14 वर्ष तक कठोर आज्ञा का पालन किया । उनका गौरव ही विशेष हुआ । अतः सम्यक्त्वी सदाचारी पुरुषों को पिता की आज्ञा अवश्यमेव पालन करना चाहिए ।।81॥

माता-पिता को पुत्र प्राप्ति करना स्वर्ग सम्पदा प्राप्ति के समान होता है । उसके लिए नहीं होने पर नाना प्रकार की मनौतियाँ मनाते हैं । यहाँ तक कि मिथ्या देवी देवताओं की शरण में भी पहुँच जाते हैं । इस प्रकार के प्रयत्नों से प्राप्त पुत्र के प्रति भला माता-पिता अपाय किस प्रकार सोच सकते हैं ? नहीं सोच सकते । गुरु विद्वान का उद्धरण :-

उपायाचित संघातैर्यः कृच्छ्रेण प्रलभ्यते ।
तस्मादात्मजस्य नो पापं चिन्तनीयं कथंचन ।।

अर्थात् अनेकों उपायों से प्राप्त पुत्र के प्रति माता-पिता अहित कार्य नहीं कर सकते ।।1॥

जो व्यक्ति दूसरे को कष्ट देता है, बध, बन्धनादि करता है, निर्दोषों का च्छेदन-भेदन, मारन-ताड़न आदि करते हैं। उनके इन कर्मों का कटुफल उसे ही भोगना पड़ता है । अतः तत्त्वज्ञानी, परम वीतरागी होने का इच्छुक सम्यक्त्वी क्या दूसरों को सतायेगा ? नहीं, कदाऽपि नहीं । अभिप्राय यह है कि सत्पुरुषों, सदाचारियों को पर को कष्टदायक कार्य नहीं करना चाहिए ।।83॥ गर्ग विद्वान ने कहा है :-

अनिष्टमपि कर्त्तव्य कर्म पुंभिर्विचक्षणैः ।
तस्य चेद्धन्यमानस्य यज्जातं तस्वयंभवेत् ।।1॥

युवराजों के सुख का कारण, दूषित राजलक्ष्मी, निष्प्रयोजनकार्य से हानि, उसका दृष्टान्त राज्य के योग्य उत्तराधिकारी व अपराधी की पहिचान :-

ते खलु राजपुत्राः सुखिनो येषां पितरि राजभारः ।।84॥ अलं तया श्रिया या किमपि सुखं जनयन्ती व्यासंगपरम्पराभिः शतशो दुःखमनुभावयति ।।85॥ निष्फलोहि आरम्भः कस्य नामोदर्केण सुखावहः ।।86परक्षेत्रं स्वयं कषतः कर्षापयतो वा फलं पुनस्तस्यैव यस्य तत्क्षेत्रम् ।।87॥ सुतसोदर सपत्न पितृव्यकुल्यदौहित्रागन्तुकेषु पूर्वपूर्वाभावे भवत्युत्तरस्य राज्यपदावाप्ति ।।88॥ शुष्कश्यामामुखता वाक्स्तम्भः स्वेदो विजृम्भणमतिमात्रं वेपथुः प्रस्खलनमास्य प्रेक्षणमावेगः कर्मणि भूमौ वानवस्थानमिति दुष्कृतं कृतः करिष्यतो वा लिंगानि ।।89॥

अन्वयार्थ :- (ते) वे (राजपुत्राः) राजकुमार (खलु) निश्चय से (सुखिनः) सुखी हैं (येषाम्) जिनका (राजभारः) शासन भार (पितरि) पिता के ऊपर (अस्ति) है ।।84॥ (तया) उस (श्रिया) लक्ष्मी से (अलम्) बस हो (या) जो (किम्) कुछ (अपि) भी (सुखम्) सुख (जनयन्ती) उत्पन्न करती हुयी (शतशः) सैंकडों (व्यासंगपरम्पराभिः) व्यसनों-कष्टों द्वारा (दुखम्) दुखों को (अनुभावयति) अनुभव कराती है ।।85॥ (निष्फलः) प्रयोजनहीन (आरम्भः) कार्यारम्भ (हि) निश्चय से (कस्यनाम) किसको (उदर्केण) भविष्य में (सुखावहः) सुखदायी होगा ? नहीं ।।86॥ (परक्षेत्रम्) दूसरे के खेत को (स्वयम्) अपने आप (कषतः) जोते (वा) अथवा (कर्षापयतः) जुतवाये (पुनः) पश्चात् (फलम्) फल (तस्यैव) उसीका ही होगा (यस्य) जिसका (तत्) वह (क्षेत्रम्) खेत [अस्ति] है ।।87॥ (सुतः) पुत्र (सोदरः) भाई (सपत्नः) दूसरी रानी से उत्पन्न (पितृव्यः) चाचा (कुल्यः) राजवंशी (दौहित्रः) पुत्री का पुत्र (आगन्तकेषु) दत्तकों में से (पूर्व पूर्व) पहले-पहले के (अभावे) अभाव होने पर (उत्तरस्य) उत्तरवर्ती को (राज्यपदस्य) राजपद की (अवाप्तिः) प्राप्ति होती है ।।88॥ (शुष्कः) सूखा (श्यामः) काला (सुखता) मलिनता चेहरे पर (वाक्स्तम्भः) स्खलति बोलना (स्वेदः) पसीना आना, (विजृम्भणम्) शरीर भर में व्याप्त हो (अतिमात्रम्) अत्यन्त-असीम (वेपथुः) कांपता है (प्रस्खलनम्) रुक-रुक कर (आस्यः) मुख को (प्रेक्षणम्) फैलाना जभाई (आवेगः) जल्दबाज (कर्मणि) कर्मों में (भूमौ) भूमि पर (वा) अथवा (अनवस्थानम्) यत्र तत्र बैठता हो (इति) इस प्रकार ये (दुष्कृतं) खोटे कर्म (कृतः) करचुका (वा) अथवा (करिष्यति) करेगा इसके (लिंगानि) चिन्ह हैं ।।89॥

जिन युवराजों के पिता स्वयं राजशासन करते हैं वे सुखी रहते हैं । क्योंकि राज-काज सम्बन्धी सभी भार से वे मुक्त रहते हैं । राज शासन कार्य कठिन होता परन्तु वे निश्चिन्त रहते हैं । अतएव पिता के राजा होने पर राजपुत्रों का जीवन आजादी का होने से सुखी होता है ।।84॥ आत्रि का भी यही अभिप्राय है :-

येषां पिता बहेदत्र राज्यभारं सुदुर्वहम् ।
राजपुत्रा सुखाढ्याश्च ते भवन्ति सदैवहि ।।1॥

अभिप्राय यह है कि पिता के राज्य में पुत्रों को कोई चिन्ता नहीं होती है । इसलिए वे निश्चिन्त होने से सुखी रहते हैं । कहा भी है :-

चाह गई चिन्ता मिटी मनुआ वे परवाह ।
जिनको कुछ न चाहिए सो ही शहंशाह ।।84॥

उस राज्य सम्पदा से क्या प्रयोजन जो प्रारम्भ में तनिक सुख देकर अन्त में अनेकों विपत्तियों-कंटकों को उत्पन्न कर दे ? अभिप्राय यह है कि क्षणिक सुखदायक सामग्री से यदि भविष्य में भयंकर आपत्ति की संभावना हो तो उसे ग्रहण ही न करे ।।85॥ कौशिक विद्वान ने भी कहा है :-

अल्प सौख्यकरा या च बहुक्लेशप्रदा भवेत् ।
वृथा सात्र परिज्ञेया लक्ष्म्याः सौख्यफलं यतः ।।

जिस पदार्थ से अल्प सुख व बहुक्लेश हो उसे व्यर्थ समझना चाहिए । क्योंकि लक्ष्मी का फल सुख होता है । यदि दुःख प्राप्त हो तो वह किस प्रकार ग्राह्य होगी ? कदाऽपि स्वीकारने योग्य नहीं हो सकती ।।85॥

प्रत्येक कार्य के पीछे कुछ न कुछ उद्देश्य होना चाहिए । निष्प्रयोजन कार्य का प्रारम्भ करना योग्य नहीं। क्योंकि उससे आगामी आने वाला कोई भी सुखकर फल प्राप्त नहीं होता । निष्फल कार्यारम्भ मूर्खता का द्योतक है । यथा भूषा को कूटना, जल को बिलोना व तैल को पेलना । क्या श्रम मात्र का कष्ट नहीं है । है ही । उसके करने से लाभ कुछ नहीं मिलता । अतएव विवेकीजनों को भले प्रकार सोच-विचार कर, भावी फल को दृष्टि में रखकर कार्यारम्भ करना चाहिए ।। तभी वह सुख-साता प्राप्त कर सकता है । कहावत है :-

बिना विचारे जो करे सो पाछे पछताय
काम बिगाडे आपनो जग में होय हँसाय ।।1॥

प्रत्येक काय स्वयं का अपने ही करने पर शोभा पाता है । जो मनुष्य पराये दूसरे के खेत को स्वयं जोतता है या दूसरे से जुतवाता है, उसका परिश्रम व्यर्थ हो जाता है । क्योंकि इससे उसे कुछ लाभ नहीं होता, अपितु जिसका खेत है उसे ही उसमें होने वाली उपज का लाभ होगा । जिसका स्वामित्व होता है । वही भोक्ता कहलाता है । कौशिक विद्वान का उद्धरण भी यही है :

पर क्षेत्रे तु यो बीजं परिक्षिपति मन्द धीः ।
परिक्षेपयतो वापि तत्फलं क्षेत्रपस्य हि ।।1॥

राजा के अभाव में अर्थात् मृत्यु हो जाने पर किसे राजा बनाना चाहिए ? इस प्रश्न के उत्तर का समाधान निम्न प्रकार है :-

1. राजपुत्र, 2. राजा का भाई, 3. पटरानी के अतिरिक्त अन्य रानी का पुत्र, 4. राजा का चाचा, 5. राजा के वंश का पुत्र, 6. राजकुमारी का पुत्र, 7. और बाहर से आया हुआ राजा के पास रहने वाला - दत्तक पुत्र आदि। इनमें से सर्व प्रथम राजपुत्र राजा होने का अधिकारी है, उसके नहीं होने पर भाई आदि क्रमशः राज्य का अधिकारी होता है ।। अतः योग्यतानुसार और समयानुसार इनमें से किसी को भी राजा बनाना चाहिए ।।88॥ शुक्र विद्वान का भी यही कथन है :

सुत सोदरसापत्नपितृव्या गोत्रिणस्तथा ।
दौहित्रागन्तुका योग्यापदे राज्ञो यथाक्रमम् ।।1॥

अर्थ उपर्युक्त ही है ।

जो पुरुष पूर्व में पाप क्रिया में प्रवृत्ति कर चुका हो, या वर्तमान में पापों में फंसा हो, अथवा भविष्य में पापाचार, अत्याचार, अनाचारादि करेगा, इसके निम्न प्रकार के चिन्हों को देखकर न्यायाधीशों को निर्णय करना चाहिए :-

1. जिसका चेहरा नीला, उदास या काला दिखाई पड़ता हो, 2. जिसके मुख से स्पष्ट वचन नहीं निकलता हो । 3. न्यायालाय में प्रश्न पूछे जाने पर जो उत्तर देने में असमर्थ हो । 4. जिसे लोगों को देखकर पसीना आता हो, 5. जो बारम्बार जंभाई लेता हो, 6. जो अत्यन्त कांपता हो, 6. जो पैरों से लड़खड़ा रहा हो-चलने से डग-मग पाँव पड़ रहे हों, 7. जो अन्य लोगों का मुख बार-बार देखता हो, 8. जो अत्यन्त जल्दबाज हो, 9. जो स्थिरता से कार्य न करता हो अथवा जो स्थिर भाव से जमीन पर न बैठता हो, एक स्थान पर स्थिर न रहता हो । शुक्र का भी यही अभिप्राय है :-

आयाति स्खलितैः पादैः सभायां पापकर्मकृत् ।
प्रस्वेदनेन संयुक्तो अधोदृष्टिः सुर्म्मनाः ।।1॥

यही अभिप्राय है ।।

।। इति श्री राजरक्षा समुद्देश ।।

इति श्री परम पूज्य प्रातः स्मरणीय, विश्ववंद्य, चारित्रचक्रवर्ती, मुनिकुञ्जर समाधि सम्राट् महातपस्वी, वीतरागी दिगम्बर जैनाचार्य श्री 108 आचार्य आदिसागर जी महाराज अंकलीकर के पट्टशिष्य परमपूज्य तीर्थभक्त शिरोमणि, समाधिसम्राट् उद्भटविद्वान आचार्य श्री 108 महावीरकीर्ति जी महाराज के संघस्था, प.पूज्य कलिकाल सर्वज्ञ, सन्मार्ग दिवाकर वात्सल्य रत्नाकर श्री 108 आचार्य विमलसागर जी महाराज की शिष्या ज्ञान चिन्तामणि प्रथम गणिनी आर्यिका 105 विजयामती जी द्वारा विजयोदय हिन्दी टीका का यह चौबीसवां राजरक्षासमुद्देश नामा समुद्देश परमपूज्य सिद्धान्त चक्रवर्ती, वात्सल्यमूर्ति, उग्रतपस्वी सम्राट् वात्सल्य रत्नाकर, श्री "अंकलीकर" के तृतीय पट्टाधीश आचार्य श्री 108 सन्मतिसागर जी महाराज के प्रसाद से उन्हीं के चरण सान्निध्य में समाप्त हुआ ।।

इत्यलम्

।। ॐ नमः ॐ शान्तिः ।।

25 वाँ महाधिकार

दिवसानुष्ठान - समुद्देश

नित्य कर्त्तव्य, सुखी निद्रा से लाभ, सूर्योदय व सूर्यास्तकाल में सोने से हानि :-

ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थायेति कर्त्तव्यतायां समाधिमुपेयात् ।।1 ॥ सुखनिद्राप्रसन्ने हि मनसि प्रतिफलन्ति यथार्थ ग्राहिका बुद्धयः ।।2 ॥ उदयास्तमनशायिषु धर्मकालातिक्रमः ।।3 ॥ आत्मवक्त्रमाज्ये दर्पणे वा निरीक्षेत् ।।4 ॥ न प्रातर्वर्षधरं विकलाङ्गं वा पश्येत् ।।5 ॥ सन्ध्या सुधौतमुखं जप्त्वा देवतोऽनुगृह्णाति ।।6 ॥ नित्यमदन्त धावनस्य नास्ति मुखशुद्धिः ।।7 ॥ न कार्यं व्यासंगेन शरीरं कर्मोपहन्यात् ।।8 ॥ न खलु युगैरपि तरङ्गविगमात् सागरे स्नानम् ।।9 ॥ वेग-व्यायाम-स्वाप-स्नान-भोजन स्वच्छन्द वृत्तिं कालान्नोपरुन्ध्यात् ।।10 ॥

अन्वयार्थ :- (ब्राह्मेमुहूर्ते) प्रातः (उत्थाय) उठकर (इति) इस प्रकार (कर्त्तव्यतायाम्) करने योग्य कार्यों में (समाधिं) स्थिर चित्त (उपेयात्) प्राप्त करे ।।1 ॥ (सुखनिद्रा) गहरी नींद (हि) निश्चय से (प्रसन्ने) स्वास्थ (मनसि) मन में (यथार्थ) याथातथ्य (ग्राहिका) ग्रहण करने वाली (बुद्धयः) बुद्धियाँ (प्रतिफलन्ति) स्पष्ट फलती हैं ।।2 ॥ (उदय+अस्तमन) सूर्योदय और अस्त समय में (शायिषु) सोने वालों के (धर्मः) धर्म कार्य का (कालातिक्रमः) समय पर धर्म कार्य नहीं होता ।।3 ॥ प्रातः काल (आत्मवक्त्रम्) अपना मुख (आज्ये) घृत में (वा) अथवा (दर्पणे) शीशे में (निरीक्षेत्) अवलोके ।।4 ॥ (प्रातः) प्रभात में (वर्षधरम्) नपुंसक (वा) अथवा (विकलाङ्गम्) अंगहीन को (न) नहीं (पश्येत्) देखे ।।5 ॥ (सन्ध्या) तीनों संध्याकाल में (धौतमुखम्) मुख धोकर (जात्वा) जपकरके ध्यान करने वाले पर (देवताः) 24 भगवान (अनुगृह्णाति) अनुग्रह करते हैं ।।6 ॥ (नित्यम्) प्रतिदिन (अदन्तधावनस्य) दांतुन नहीं करने वाले के (मुखशुद्धिः) मुखशोधन (नास्ति) नहीं होता ।।7 ॥ (कार्य व्यासंगेन) विशेष कार्य के आने पर (शारीरम्) शारीरिक (कर्म) क्रिया-मल मूत्र क्षेपनादि को (न) नहीं (उपहन्यात्) नष्ट करे ।।8 ॥ (खलु) निश्चय से (युगैः) युगों से (तरङ्ग) लहरें (विगमात्) विलय होने पर (अपि) भी (सागरे) समुद्र में (स्नानम्) स्नान (न) नहीं (कुर्यात्) करे ।।9 ॥ (वेगः) मूत्रादि (व्यायामः) व्यायाम (स्वापः) निद्रा (स्नानम्) नहाना (भोजन) भोजन (स्वच्छन्दवृत्तिं) स्वच्छ हवा-टहलना में (कालात्) समय से व्यतिरेक (न) नहीं (उपरुन्ध्यात्) उल्लंघन करे ।।10 ॥

विशेषार्थ :- प्रातः काल उठकर इस शास्त्र में जो नियम बतलाये हैं उनके अनुसार पालन करना चाहिए ।।1 ॥

जिस पुरुष का चित्त निश्चिन्त-सुख से निद्रा लेने से स्वस्थ रहता है तो प्रसन्नता जाग्रत होती है । इससे मन में

यथार्थ तत्व ग्राहिणी बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं ।12॥ जिस समय सूर्य का उदय होता है और अस्त हो उस समय निद्रा नहीं लेना चाहिए । क्योंकि ये संध्याकाल हैं । इस समय सोने से धर्मकार्य-सामायिकादि का यथाकाल सम्पादन नहीं हो सकेगा। सामायिकादि आत्मशुद्धि के साधन हैं, सोकर इनका नाश नहीं करना चाहिए ।13॥ प्रातः काल निद्रा तजने पर अपना मुख घृत में अथवा दर्पण में देखना चाहिए ।14॥ विवेकी मनुष्य को निद्रातजने पर प्रातः प्रथम नपुंसक व विकलाङ्ग अङ्गहीन का मुख नहीं देखना चाहिए ।15।।

जो व्यक्ति तीनों सन्ध्यायों में मुख शुद्धि कर सामायिकादि अनुष्ठान करते हैं उन पर चौबीसों तीर्थंकर-ऋषभादि अनुगृह करते हैं । अर्थात् भगवान सर्वज्ञ का ध्यान आत्मध्यान है । आत्मध्यानी सतत् सुखी रहता है ।16॥

जो व्यक्ति प्रतिदिन दातुन नहीं करता उसकी मुख शुद्धि नहीं होती । अतः सुस्वस्थ शरीर व सौन्दर्य चाहने वाले पुरुषों को प्रातः काल एवं सायंकाल दातुन करना चाहिए । साथ ही इस बात का ध्यान रक्खें कि मसूड़ों में कष्ट घाव न हों । तथा दातुन नीमादि कटु रस वाली हो । इस प्रकार करने से मुख में दुर्गन्ध नहीं आयेगी, दाँतों व मसूड़ों सम्बन्धी रोग भी नहीं होंगे । दाँत भी सुन्दर व चमकीले होंगे ।। अतः प्रतिदिन दन्तधावन करना चाहिए ।17॥

शारीरिक कुछ क्रियाएँ अनिवार्य होती हैं । यथा मल क्षेपण, मूत्र त्यागनादि ये स्वाभाविक क्रियाएँ हैं । किसी भी कार्य में आसक्ति नहीं करना चाहिए । कैसा ही आवश्यक कार्य क्यों न हो, परन्तु मल-मूत्र निरोध नहीं करना चाहिए ।18॥

नीतिवान व विवेकी पुरुष को समुद्र में कभी भी स्नान नहीं करना चाहिए । भले ही युगों से उसकी तरंगें स्थिर क्यों न हो गई हों तो भी उस खारा-नमकीन पानी में स्नान करना उचित है । अतः तरंगें बन्द होने पर सागर में कदाऽपि स्नान नहीं करना चाहिए ।19॥

स्वस्थ व रोगरहित शरीर की इच्छा करने वालों को वेग (मलमूत्रादि का वेग) व्यायाम, नींद, स्नान, भोजन और शुद्ध-स्वच्छ हवा में टहलना-घूमना आदि दैनिक अनिवार्य कार्यों में विलम्ब नहीं करना चाहिए । अर्थात् उपर्युक्त कार्यों को यथाकाल करना चाहिए ।।10॥

वीर्य व मलमूत्रादि रोकने से हानि शौच और गृह प्रवेश विधि व व्यायाम :

शुक्रमलमूत्र मरुद्वेग संरोधोऽश्मरी भगन्दर-गुल्मार्शसां हेतुः ।।11॥ गंधलेपावसानं शौचमाचरेत् ।।12।। बहिरागतो नाचाम्य गृहं प्रविशेत् ।।13॥ गोसर्गे व्यायामो रसायन मन्यत्र क्षीणाजीर्णवृद्धबालकि रुक्षभोजिभ्यः ।।14॥ शरीरायास जननी क्रिया व्यायामः ।।15॥ शस्त्रवाहनाभ्यासेन व्यायामं सफलयेत् ।।16॥ आदेह स्वेदं व्यायामकालमुखन्त्याचार्यः ।।17॥ बलातिक्रमेण व्यायामः कां नाम नापदं जनयति ।।18॥ अव्यायाम शीलेषु कुतोऽग्नि दीपनमुत्साहो देहदाढ्यं च ।।19॥

अन्वयार्थ :- (शुक्रमलमूत्रमरुद्वेगः) वीर्य, शौच (मलत्याग) पेशाब और वायु के वेग (रोधः) रोकना, (अश्मरी) पथरी (भगन्दरः) भगन्दर (गुल्म) गुल्म (आर्शसाम्) बवासीर के (हेतुः) कारण [सन्ति] हैं ।।11॥ (शौचम्) मलत्याग के (गंधलेपः) सुगन्धी द्रव्य का (अवसाधनम्) अन्त में (आचरेत्) प्रयोग करे ।।12॥ (बहिर आगतः) बाहर से आये हुए को (अनाचाम्य) आचमन (कुरला) किये बिन (गृहम्) घर में (न) नहीं (प्रविशेत्)

प्रवेश करे ।।13॥ (क्षीणः) शक्तिहीन (जीर्णः) वृद्ध रोगी (वृद्धः) बूढे (वातकि) वकवादि रोगग्रस्त (रूक्षभोजिभ्यः) रुखा भोजन करने वालों के (अन्यत्र) सिवाय अन्य लोगों को (गो सर्गे) गोधूलि बेला में (व्यायामः) व्यायाम करना (रसायनम्) रसायन [अस्ति] है ।।14॥ (शरीर आयास जननी) शरीर में श्रम उत्पन्न करने वाली (क्रिया) कार्य (व्यायामः) व्यायाम [अस्ति] है ।।15॥ (शस्त्र वाहन अभ्यासेन) शस्त्र व वाहन के अभ्यास से (व्यायामम्) व्यायाम को (सफलयेत्) सार्थक करे ।।16॥ (आदेहः) शरीर भर में (स्वदेम्) पसीना आये (व्यायामकालम्) उतना व्यायाम का समय (आचार्याः) आचार्य (उशन्ति) कहते हैं ।।17॥ (बलातिक्रमेण) शरीर शक्ति का उलंघन कर (व्यायामः) व्यायाम (काम् नाम्) किसको (आपदंम्) आपत्ति (न) नहीं (जनयति) उत्पन्न करती है ? ।।18॥ (अव्यायाम्) व्यायाम नहीं करने वाले (शीलेषु) स्वभावी को (अग्निदीपनम्) जठराग्नि की उत्तेजना (उत्साहः) कार्यतत्परता (च) और (देदाढ्यम्) शरीर वृद्धि या पुष्टि (कुतः) कहाँ है ?

विशेषार्थ :- शरीर एक मशीनरी है । इसके कल-पुर्जे स्वाभाविक रुप से कार्य करते हैं । इनमें विघ्न डालने से या इनके नियमों का व्यतिक्रम करने से अनेक प्रकार की विडम्बना संभव हैं । शरीर के स्वाभाविक कार्य हैं शुक्र-वीर्यप्रवाह, मलक्षेपण, मूत्र स्रवण, वायुप्रवहण आदि । इनको यथासमय करना ही चाहिए । इनके वेग का अतिक्रमण कभी भी नहीं करना चाहिए । पूर्ण अवरोध की तो बात क्या है ? यदि समय का भी उल्लंघन किया, कुछ काल को इनका वेग रोक दिया तो नाना प्रकार के भयङ्कर रोग खड़े हो जायेंगे । यथा अश्मरी-पथरी, भगंदर (गुदास्थान में भरियाफूटा फोड़ा), गुल्म, बवासीर, अजीर्ण, लीवरवृद्धि आदि । अभिप्राय यह है कि स्वस्थ शरीर के इच्छुकजनों को उपर्युक्त शरीर क्रियाओं में कालव्यति क्रम व अवरोध उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए ।।11॥ चरक विद्वान ने भी कहा है :-

न वेगान् धारयेद्धीमान् जातान् मूत्रपुरीषयोः
न रेतसो न वातस्य न छर्दयाः क्षवथोर्न च ।।1॥

अर्थ वही है ।।

विशेष यह है कि बुद्धिमान पुरुष को मल-मूत्र, वीर्य, वायु, वमन, छींक, उद्गार, जंभाई, भूख, प्यास, नींद और परिश्रमजन्य श्वासोच्छ्वास के वेगों को रोकना नहीं चाहिए । क्योंकि मूत्र का वेग रोकने से गुदा और जननेन्द्रिय में पीड़ा, पेशाब करने में कष्ट, शरीर पीड़ा होती है, शरीर झुक जाता है, तथा अण्डकोषों की वृद्धि होती है ।। मल का वेग रोकने से पक्वाशय और शिर में पीड़ा आदि रोग होते हैं । वीर्य के वेग को रोकने से जननेन्द्रिय व अण्डकोषों में पीड़ा व पेशाब का रुक जाना आदि उपद्रव होते हैं । अतः स्वास्थ्य के अभिलाषियों को उपर्युक्त वेग को रोकना नहीं चाहिए ।।12॥

शौच के पश्चात् गुदा और हस्त-पाद आदि की शुद्धि मिट्टी-मुल्तानी माटी के द्वारा हाथ व गुदास्थान की शुद्धि करना चाहिए तथा अन्त में सुगन्धित द्रव्यों से गुदादि स्थानों से शुद्धि करना चाहिए ताकि दुर्गन्ध निकल जाय। इससे चित्त प्रसन्न होता है ।।12॥

बाहर से भ्रमणकर या व्यापारादि से आया हुआ प्राणी-मानव गृह में प्रवेश करने के पूर्व आचमन (कुरला) करके ही प्रवेश करे । अर्थात् बिना मुख शुद्धि के गृह प्रवेश कभी नहीं करे ।।13॥

व्यायाम करना शरीर रक्षा का प्रथम सोपान है – उपाय है । अतः प्रत्येक पुरुष को प्रतिदिन व्यायाम करना चाहिए। परन्तु निम्न व्यक्तियों को नहीं :- 1. जिनके शरीर में रक्त की कमी हो, 2. दुर्बल व्यक्ति, 3. अजीर्ण रोग ग्रस्त, 4. शरीर से वृद्ध, 5. लकवा-पक्षाघातादि रोग युक्त और 6. रुक्ष भोजन आहारी । इनके अतिरिक्त अन्य बालक, नवयुवकों को नियमित रूप से शक्ति के अनुसार प्रतिदिन प्रातःकाल व्यायाम करना अत्यन्त अनिवार्य है । क्योंकि उषाकालीन व्यायाम-रसायन के समान सुखद होता है ।।14॥ चरक ने भी कहा है :-

बाल वृद्ध प्रवाताश्च ये चोच्चैर्बहुभाषकाः ।
ते वर्जयेयुर्व्यायामं क्षुधितास्तृषिताश्च ये ।।1॥

वही अर्थ है ।।

व्यायाम क्या है ? शरीर में परिश्रम या थकान उत्पन्न करने वाली क्रिया अर्थात् दण्ड-बैठक, मुद्गर भ्रमण, दौड़ व ड्रील आदि समस्त क्रियायें, विशेष रीति के खेल-कूद, रैस आदि कार्य "व्यायाम" कहे जाते हैं । चरक विद्वान ने भी यही समर्थित किया है :-

शरीर चेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवर्द्धिनी ।
देह व्यायाम संख्यातामात्रया तां समाचरेत् ।।1॥

अर्थात् शरीर को स्थिर रखने वाली, शक्तिवर्धिनी व मन को प्रिय लगने वाली शस्त्र संचालन-आदि शारीरिक क्रियाओं को व्यायाम कहते हैं । इसे उचित मात्रा में करना चाहिए ।।15॥ व्यायाम की सफलता अस्त्र शस्त्र सञ्चालन व अश्वारोहण, गजारोहणादि सवारियों से होती है ।।16।।

आयुर्वेद के उद्भट विद्वान आचार्य ने कहा है कि जब तक शरीर पसीना-पसीना न हो जाय तब तक व्यायाम करते रहना चाहिए ।।16॥ चरक विद्वान ने भी कहा है :-

श्रमः क्लमः क्षयस्तृष्णा रक्तपित्तं प्रतामकः ।
अतिव्यायामतः कासो ज्वरश्छर्दिश्च जायते ।।1॥

अति मात्रा में व्यायाम करने से अत्यन्त थकावट, मन में ग्लानि व ज्वरादि अनेक रोगों के होने की संभावना कही है ।। अभिप्राय यह है कि व्यायाम यथासमय, और यथाशक्ति करना चाहिए ।।17॥ आगे यह कहते हैं ।

जो मानव समय और शक्ति का ध्यान न रखकर अतिरेक रूप से व्यायाम आदि करते हैं उनके शारीरिक अनेक कौन-कौन रोग नहीं होते ? सर्व ही रोग होते हैं ।।18॥

जो व्यक्ति कालानुसार उचित व्यायाम का अभ्यास नहीं करते उनको जठराग्नि का उद्दीपन-वृद्धि, शरीर में उत्साह और दृढ़ता, सुगठिता किस प्रकार हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं हो सकते ।।19॥ चरक विद्वान ने भी कहा है :-

लाघवं कर्म सामर्थ्यं स्थैर्यं दुःख सहिष्णुता ।
दोष क्षयोऽग्नि वृद्धिश्च व्यायामादुपजायते ।।1 ॥

अर्थात् व्यायाम करने से शारीरिक स्फूर्ति, चुस्ती, लघुता, कार्य करने में उत्साह, कार्य की क्षमता, शारीरिक शक्ति का स्फुरण, दुःखों को सहने की योग्यता - दृढ़ता, बात, पित्त, कफादि से उत्पन्न रोगों का उपशमन एवं जठराग्नि का उद्दीपन होता है । अतः बालक, किशोर, युवक को योग्यतानुसार व्यायाम-कसरत अवश्य करना चाहिए ।।1 ॥19 ॥

निद्रा का लक्षण उससे लाभ, समर्थन, आयुरक्षक कार्य, स्नान का उद्देश्य व लाभ, स्नान की निरर्थकता, स्नानविधि व निषिद्ध स्नान :-

इन्द्रियात्म मनोमरुतां सूक्ष्मावस्था स्वापः ।।20 ॥ यथासात्म्यं स्वपाद् भुक्तान्न पाको भवति प्रसीदन्ति चेन्द्रियाणि ।।21 ॥ सुघटितमपिहितं चभाजनं साधयत्यन्नानि ।।22 ॥ नित्य स्नानं द्वितीय मुत्सादनं तृतीय कमायुष्यं चतुर्थकं प्रत्यायुष्यमित्यहीनं सेवेत ।।23 ॥ धर्मार्थ कामशुद्धि दुर्जनस्पर्शाः स्नानस्य कारणानि ।।24 ॥ श्रमस्वेदालस्य विगमः स्नानस्य फलम् ।।25 ॥ जलचरस्येव तत्स्नानं यत्र न सन्ति देव गुरु धर्मोपासनानि ।।26 ॥ प्रादुर्भवत्क्षुत्पिपासाऽभ्यङ्ग स्नानं कुर्यात् ।।27 ॥ आतप संतप्तस्य जलावगाहो दृग्मान्द्यं शिरोव्यथां च करोति ।।28 ॥

अन्वयार्थ :- पाँचो इन्द्रियों (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व श्रोत्र), आत्मा और मन एवं श्वासोच्छ्वास की अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था अर्थात् धीमे-धीमे संचार होना "निंद्रा" कहलाती है ।।20 ॥ प्रकृति के अनुकूल यथेष्ठ निंद्रा लेने से किया हुआ भोजन सम्यक् प्रकार से पच जाता है और समस्त इन्द्रियाँ पुष्ट एवं स्वस्थ हो जाती हैं ।।21 ॥ भोजन पकाने वाला पात्र यदि अभिन्न व औंपन मुख होता है तो अन्न या सब्जी पकाने में कार्यकारी होता है उसी प्रकार यथेष्ठ निद्रा लेने पर शरीर स्वस्थ होकर कर्त्तव्यपालन में समर्थ होता है ।।22 ॥ अतः निद्रा लेना आवश्यक है ।।

मनुष्य को प्रत्येक कार्य समयानुसार करना चाहिए । नित्यस्नान, स्निग्ध पदार्थों से उबटन करना, आयु सुरक्षा के साधनभूत ऋतु के अनुसार व प्रकृति के अनुरूप आहार-विहार करना, पूर्व कथित मल-मुत्रादि स्वाभाविक क्रियाओं के वेग का अवरोध नहीं करना, व्यायाम व अभ्यंग-स्नानादि करना चाहिए । इन कार्यों में न्यूनाधिकता नहीं करने से जीवन में सतत् सुख शान्ति बनी रहती है ।।23 ॥ धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थ की शुद्धि के लिए एवं दुष्टों का स्पर्श हो जाने पर स्नान करना चाहिए । इस से बाह्य शुद्धि होती है और यह अन्तरङ्ग शुद्धि की भी कारण बनती है ।।24 ॥ स्नान करने से शरीर की थकावट, आलस्य और पसीना नष्ट हो जाते हैं ।।25 ॥ चरक विद्वान ने भी कहा है :-

पवित्रं वृष्यमायुष्यं श्रम स्वेद मलापहम् ।
शरीरबल सन्धानं स्नामोजस्करं परम् ।।1 ॥

अर्थात् स्नान शरीर को पवित्र करने वाला, कामोद्दीपक, आयुवर्द्धक, परिश्रम, स्वेद-पसीना व शरीरमल को दूर करने वाला, शारीरिक शक्तिवर्द्धक और शरीर को तेजस्वी बनाने वाला है ।।1 ॥

जो व्यक्ति देव, गुरु, शास्त्र और धर्म की उपासना के उद्देश्य से स्नान नहीं करता उसका स्नान पक्षियों की भांति निरर्थक है ।126॥ क्षुधापीड़ित व तृषित-प्यासे व्यक्ति को तैलादि मालिश कर स्नान करने से लाभ होता है ।127॥ जिस व्यक्ति कों सूर्य की ताप से सन्तप्त हुआ है उसे जल में प्रविष्ट होकर स्नान करता है इससे उसके नेत्रों की ज्योति मन्द हो जाती है । और शिर में पीड़ा हो जाती है । अभिप्राय यह है कि गर्मी-धूप से पीड़ित व्यक्ति को शीघ्र स्नान नहीं करना चाहिए ।128॥

आहार सम्बन्धी स्वास्थ्योपयोगी सिद्धान्त :

बुभुक्षा कालो भोजनकालः ।129॥ अक्षुधितेनामृतमप्युपभुक्तं च भवति विषम् ।130॥ जठराग्नि वज्राग्निं कुर्वन्नाहारादौ सदैव वज्रकं बलयेत् ।131॥ निरन्नस्य सर्वं द्रवद्रव्यमग्निं नाशयति ।132॥ अतिश्रमपिपासोपशान्तौ पेयायाः परं कारणमस्ति ।133॥ घृताधरोत्तरभुञ्जानोऽग्निं दृष्टिं च लभते ।134॥ सकृद्भूरि नीरोपयोगो वन्हिमवसादयति ।135॥ क्षुत्कालातिक्रमादन्नद्वेषो देहसादश्च भवति ।136॥ विध्याते वह्नौ किं नामेन्धनं कुर्यात् ।137॥ योमितं भुंक्ते सबहुं भुंक्ते ।138॥ अप्रमितमसुखं विरुद्धमपरीक्षितमसाधुपाकमती तरसमकालं चान्नं नानुभवेत् ।139॥ फल्गुभुजमननुकूलं क्षुधितमतिक्रूरं च न भुक्तिसमये सन्निधापयेत् ।140॥ ग्रहीत ग्रासेषु सहभोजिष्वात्मनः परिवेषयेत् ।141॥ तथा भुञ्जीत यथासायमन्येद्युश्च न विपद्यते वह्निः ।142॥ न भुक्तिपरिमाणे सिद्धान्तोऽस्ति ।143॥ वन्ह्यभिलाषायत्तं हि भोजनं ।144॥ अतिमात्रभोजी देहमग्निं च विधुरयति ।145॥ दीप्तो वन्हिर्लघु भोजनाद्बलं क्षपयति ।146॥ अत्यशितुर्दुः खेनान्नपरिणामः ।147॥ श्रमार्तस्य पानं भोजनं च ज्वराय छर्दये वा ।148॥ न जिहत्सुर्न प्रस्रोतुमिच्छुनसिमञ्जसमनाश्च नानपनीय पिपासोद्रेकमश्नीयात् ।149॥ भुक्त्वा व्यायामव्यवायौ सद्यो व्यापत्तिकारणम् ।150॥ आजन्मसात्म्यं विषमपि पथ्यम् ।151॥ असात्म्यमपि पथ्यं सेवेत न पुनः सात्म्य मप्यपथ्यं ।152 ।सर्व बलवतः पथ्ययिति न कालकूटं सेवेत ।153॥ सुशिक्षितोऽपि विषतंत्रज्ञो म्रियत एव कदाचिद्विषात् ।154॥ संविभज्यातिथिष्वाश्रितेषु च स्वयमा हरेत् ।155॥

विशेषार्थ :- जिस समय भूख-क्षुधा लगे वह समय भोजन करने का समय समझना चाहिए । अभिप्राय यह है कि विवेकी, धर्मात्मा पुरुष अहिंसाधर्म परिपालनार्थ क्षुधा लगने पर दिन में ही यथायोग्य शुद्ध और प्रकृति के अनुकूल भोजन करे । रात्रि में कदाऽपि भोजन न करे । तथा बिना भूख लगे भी भोजन नहीं करना चाहिए ।129॥ चरक विद्वान ने भी लिखा है :

आहार जातं तत् सर्वमहितायोपदिशते । 1/2
यच्चाऽपि देशकालग्निमात्रासात्म्यानिलादिभिरित्यादि ।

यच्चानुत्सृज्य विण्मूत्रं भुङ्क्ते यश्चाबुभुक्षितः । 1/2
तच्च क्रम विरुद्धं स्यात् ।।
चरकसंहिता सूत्र स्थान अ. 26 ।।

अर्थ :- देश, काल, अग्नि, मात्रा, प्रकृति, संस्कार, वीर्य, कोष्ठ, अवस्था व क्रमादि से विपरीत भोजन करना अहितकारी होता है, अनेक रोग उत्पन्न करता है । जो व्यक्ति कार्य विशेष होने पर मल-मूत्र के वेग को रोक कर

भोजन करता है या भूख न रहने पर भी भोजन कर लेता है वह महा अज्ञानी स्वयं अनेक रोगों को आमन्त्रण देता है । अर्थात् उसके अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं ।। सर्व का सार यही है कि भोजन के लिए जीना है समझकर नहीं खाना अपितु जीवन के लिए भोजन है विचार कर भोजन करना चाहिए ।।29 ॥

आचार्य कहते हैं कि क्षुधा नहीं लगने पर भी भोजन करने पर अमृत भी विष का कार्य करता है । अत: भूख लगने पर ही भोजन करना चाहिए ।।30 ॥ जो व्यक्ति आहार करने के प्रारम्भ में अपनी जठराग्नि को वज्र की अग्नि समान उद्दीप्त करता है वह वज्र के समान ही शक्तिशाली हो जाता है । अभिप्राय यह है कि तीव्र बुभुक्षा लगने पर भोजन करने से विशेष बलदायक होता है ।।31 ॥ निर् अन्नस्य अन्न के बिना केवल द्रव-पेय-पदार्थों को ही पीकर जो भूख शान्त करता है, उसकी जठराग्नि शान्त हो जाती है । अभिप्राय यह है कि भोजन में पीने के दूध, फल रस, घृत आदि पीने के पदार्थों के साथ-साथ अन्न से बने पदार्थ-खाद्य पदार्थ भी खाने चाहिए ।।32 ॥ अत्यन्त श्रम से श्रान्त के कारण उत्पन्न हुई प्यास को शान्त करने में दूध आदि पेय पदार्थ सहायक होते हैं ।।33 ॥ जो व्यक्ति प्रथम घृत घी पान कर भोजन करता है, उसकी जठराग्नि वृद्धिंगत होती है, और नेत्रों की ज्योति तीव्र होती है ।।34 ॥ जो व्यक्ति प्यास लगने पर एक साथ प्रमाण से अधिक पानी पियेगा तो उसकी जठराग्नि मन्द हो जाती है ।।35 ॥ क्षुधा-भूख का समय उलंघन करने से अन्न में अरुचि व शरीर में कृशता कमजोरी-वीकनेश हो जाती है । **अतः भोजन के समय का उलंघन नहीं करना चाहिए ।।36 ॥**

अन्वयार्थ :- (वह्नौ) अग्नि के (विध्याते) बुझने पर (किम्)क्या (नाम) मतलब (ईन्धनम्) लकड़ी आदि (कुर्यात्) करे ? कुछ भी नहीं ।

विशेषार्थ :- अग्नि बुझ चुकी हो तो कितना ही ईन्धन-लकड़ी कण्डे आदि डाले जाय तो भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । इसी प्रकार उदर की जठराग्नि यदि उद्दीप्त नहीं है तो कितना ही सुन्दर, सुस्वादु, मूल्यवान भोजन डाला जाय तो भी क्या प्रयोजन ? कुछ भी स्वास्थ्य लाभ नहीं हो सकता है । पदार्थ पचने पर ही रुधिरादि सप्तधातुओं का निर्माण करते हैं । अत: मन्द भूख में या तीव्र भूख में कालातिक्रम करके भोजन नहीं करना चाहिए ।। अभिप्राय यह है कि जठराग्नि के प्रदीप्त होने पर ही भोजन करना लाभप्रद होता है ।।37 ॥

अन्वयार्थ :- (य:) जो (मितम्) सीमित (भुंक्ते) भोजन करता है (स:) वही (बहुम्) अधिक (भुंक्ते) भोजन करता है ।।38 ॥

विशेषार्थ :- जो पुरुष या स्त्री कोई भी अपनी भूख और शक्ति अनुसार मर्यादित योग्य प्रासुक भोजन करता है वही स्वस्थ रहता है और स्वस्थ रहने से अधिक भोजन करने में भी समर्थ होता है ।।38 ॥

अन्वयार्थ :- (अप्रमितम्) प्रमाणाधिक (असुखम्) दु:खदायी (विरुद्धम्) प्रकृति विरुद्ध (अपरिक्षितम्) अज्ञात (असाधुपाकम्) अधकच्चा, (अतीतरसम्) चलितरस (च) और (असमकालम्) असमय में (अन्नम्) भोजन (न) नहीं (अनुभवेत्) करना चाहिए ।।39 ॥

अभिप्राय या विशेषार्थ :- जिह्वाइन्द्रिय की लम्पटता या अज्ञान से प्रमादवश निम्न प्रकार के भोजन को स्वस्थ शरीर के इच्छुकों को नहीं करना चाहिए । यथा :- 1. जठराग्नि से अधिक, 2. अहित कारक (दुख देने वाला) 3. अपरिक्षित-जिसके विषय में विशेष जानकारी न हो, 4. सम्यक् प्रकार जो पका न हो अर्थात् कच्चा या

पक्का-परिपूर्ण जो सीझा न हो अथवा आवश्यकता से अधिक पका हो, 5. नीरस-रुखा-सूखा 6. भोजन का समय उलंघन किया हुआ - ठंडा, 7. वासी आदि भोजन कभी नहीं करना चाहिए। **अर्थात् स्वास्थ्य के इच्छुक पुरुषों को उपर्युक्त भोजन नहीं करना चाहिए।।39॥**

अन्वयार्थ :- (फल्गु) व्यर्थ वाद-विवाद (भुजम्) भोजन के प्रतिकूल (अननुकूलम्) विरुद्ध (क्षुधितम्) भूखे होने पर (अतिक्रूरम्) अतिक्रोधित (च) और (भुक्तिसमये) भोजन के समय (सान्निधापयेत्) स्थिर करें ।।40॥

विशेषार्थ :- स्वास्थ्य चाहने वाले व्यक्ति को हंसी-मजाक नहीं करते हुए शुद्ध मौन से उष्ण, स्निग्ध, जठराग्नि के अनुकूल, पूर्व भोजन के पच जाने पर किया हुआ, इष्ट देश में वर्तमान व कामक्रोधादि दुर्भावों को उत्पन्न करने वाला आहार न अत्यन्त शीघ्रता से और न अत्यन्त विलम्ब से करे ।। अभिप्राय यह है कि भोजनकाल में व्यर्थ के लोगों से सम्पर्क न कर एकाग्रचित, शान्तभाव से मौनपूर्वक भोजन करे ।।40॥ भोजन के समय नीतिवान पुरुष अपने पास आहार काल में अल्पभोजी, अपने से वैर-विरोधी करने वाले, बुभुक्षित व दुष्ट व्यक्ति को नहीं बैठाये । क्योंकि इनके रहने से भोजन अरुचिकर हो जायेगा, मन उद्विग्न होगा ।।40॥

अन्वयार्थ :- (गृहीतग्रासेषु) कवल ग्रहण करने पर (आत्मनः) अपनी थाली या भोजन पात्र (सहभोजिषु) साथ में भोजन करने वाले के मध्य में (परिवेषयेत्) स्थापित करे ।।41॥

विशेषार्थ :- भोजन करने वाला व्यक्ति भोजन करते समय अपनी भोजनथाली को सहयोगी-सहभोजी व्यक्तियों के मध्य में स्थापित करे । मध्य में थाली रहने से सभी सुखपूर्वक भोजन कर सकेंगे ।।41॥

अन्वयार्थ :- (तथा) उस प्रकार (भुञ्जीत) भोजन किया हुआ (यथासायम्) इस सन्ध्या (च) और (अन्येद्युः) दूसरे दिन (वन्हिः) जठराग्नि (न) नहीं (विपद्यते) नष्ट होती ।।

विशेषार्थ :- मनुष्य को चाहिए कि वह इस प्रकार भोजन करे कि उसकी जठराग्नि शाम को या दूसरे दिन भी मन्द नहीं होने पावे ।। अभिप्राय यह है कि अपनी पाचनशक्ति के अनुसार उचित भोजन करे॥42।।

अन्वयार्थ :- (भुक्ति परिमाणे) भोजन की मात्रा में (सिद्धान्तः) सिद्धान्त (न) नहीं (अस्ति) है ।।43॥

विशेषार्थ :- प्रत्येक मानव की जठराग्नि भिन्न-भिन्न होती है । अतः कोई एक निश्चित सिद्धान्त भोजन के प्रमाण सम्बन्धी नहीं हो सकता है ।।43॥ निश्चय से मनुष्य की उत्तम, मध्यम, जघन्य जठराग्नि के अनुसार ही भोजन की मात्रा भी उत्तम, मध्यम, जघन्य रूप होती है ।।43॥

(वन्हि) जठराग्नि (अभिलाषयत्तम्) अभिलाषा (हि) निश्चय से (भोजनम्) भोजन की व्यवस्था [अस्ति] है ।

विशेषार्थ :- जठराग्नि के अनुकूल यथोचित यथायोग्य मात्रा में भोजन करना चाहिए ।।44॥ चरक संहिता में भी लिखा है "आहार मात्रा पुनरग्निबलापेक्षिणी" अर्थात् आहार-भोजन का प्रमाण मात्रा मनुष्य की जठराग्नि की उत्कृष्ट, मध्यम् व जघन्य शक्ति पर निर्भर करती है ।।

(अतिमात्रभोजी) शक्ति से अधिक खाने वाला (देहम्) शरीर (च) और (अग्निं) जठराग्नि को (विधुरयति) नष्ट करता है ।।45।।

विशेषार्थ :- पाचन शक्ति से अधिक भोजन करने वाला शारीरिक शक्ति और जठराग्नि-भोजन को पेट में पचाने वाली अग्नि को ही नष्ट कर देता है । लोक में अग्नि के पुट बिना जिस प्रकार भोजन तैयार है उसी प्रकार उदरस्थ भोजन को पकाने जठराग्नि के उत्तेजित-दीप्त न होने से वह शरीर की शक्ति को क्षीण कर देती है । साथ जठराग्नि को ही अतिमन्द कर देती है ।।45।।

अन्वयार्थ :- (दीप्तः) उत्तेजित (वन्हिः) जठराग्नि (लघुः) हलके (भोजनात्) भोजन से (बलम्) शक्ति को क्षपयति ।।46।।

विशेषार्थ :- क्षुधा तो मुंहफाड़े खड़ी हो और भोजन बहुत अल्प दिया जाय तो वह (शरीर की शक्ति को क्षीण करती है ।। दोनों ही ओर से भोजनागार आदि की व्यवस्था समयानुसार और शक्ति के अनुसार होनी चाहिए ।।46।।

अन्वयार्थ :- (अति+अशितुः) प्रमाणाधिक भोजन (दुःखेन) कठिनाई से (अन्नपरिणामः) परिपाक-पाचन होता है।

विशेषार्थ :- जो पुरुष भूख से अधिक भोजन करता है उसका पाचन बराबर नहीं हो पाता । फलतः अजीर्णादि रोग वृद्धिंगत होते हैं । अतएव सीमित भोजन ही करना चाहिए जिससे कि परिपाक में कठिनाई न हो ।।47।।

अन्वयार्थ :- (श्रमार्तस्य) परिश्रम करने पर तत्काल (पानम्) पीना (च) और (भोजनम्) भोजन करना (ज्वराय) ताप के लिए (वा) अथवा (छर्दये) वान्ति का कारण होता है ।

विशेषार्थ :- जो व्यक्ति श्रम करके तुरन्त थकान में ही जलादि पान करता है या भोजन करता है । उसे या तो बुखार-ज्वर हो जाता है अथवा वान्ति-उल्टी हो जाती है । अभिप्राय यह है कि किसी भी कठिन कार्य के करने पर जब तक श्रम दूर न हो, थकान न उतरे तब तक पानी नहीं पीना चाहिए और भोजन भी नहीं करना चाहिए ।।48।।

अन्वयार्थ :- (जिहत्सु) मलक्षेपक (न) नहीं (प्रस्रोतुम्) मूत्र (इच्छु) इच्छुक (न) नहीं (असमञ्जसमनः) चिन्तातुर (च) और (अनपनीय) पिपासु (न) नहीं (पिपासोद्रेक) प्यास से व्याकुल (अश्नीयात्) भोजन करे ।

विशेषार्थ :- मलमूत्र के वेग को रोकने वाले, पिपासा को रोकने वाले अस्वस्थ चित्त वाले व्यक्ति को उस काल में भोजन नहीं करना चाहिए । अर्थात् प्रथम मल मूत्र की बाधा दूर करे, चित्त को स्वस्थ-सावधान करे और शान्तचित्त से भोजन करे क्योंकि उपर्युक्त दशा में भोजन करने से अनेक प्रकार के रोगादि उत्पन्न हो जाते हैं ।।49।।

अन्वयार्थ :- (भुक्त्वा) भोजन करके (सद्यः) तत्काल (व्यायामव्यवायौ) व्यायाम व मैथुन करना (व्यापत्तिः) विपत्ति (कारणम्) कारण है ।।

विशेषार्थ :- भोजन करने के बाद शीघ्र ही कसरत और मैथुन सेवन (रतिक्रीड़ा) नहीं करना चाहिए । क्योंकि इससे रोगादि विपत्तियों का होना संभव है ।150॥

अन्वयार्थ :- (आजन्मसात्म्यम्) जन्म से अभ्यस्त को (विषम) जहर (अपि) भी (पथ्यम्) पथ्य [भवति] हो जाता है ।।

विशेषार्थ :- जन्म से ही विष भक्षण का अभ्यास करने पर वह विष मारण कार्य न कर साधक हो जाता है । अर्थात् विष भी पथ्य-स्वास्थ्यवर्द्धक हो जाता है ।151॥

अन्वयार्थ :- (असात्म्यम्) आत्मसात् नहीं होने पर (अपि) भी (पथ्यम्) पथ्य (सेवेत) सेवन करे (पुनः) फिर (न) नहीं (सात्म्यम्) अभ्यस्त (अपथ्यम्) अयोग्य ।

विशेषार्थ :- पूर्व से अभ्यास न होने पर मनुष्य को पथ्यकारक-पचने योग्य भोजन ही करना चाहिए । परन्तु पूर्वाभ्यास होने पर भी अपथ्य-अपचकारी प्रकृति विरुद्ध भोजन का सेवन नहीं करना चाहिए ।152॥

अन्वयार्थ :- (बलवतः) बलवान (सर्वम्) सभी (पथ्यम्) पथ्य-पचाने योग्य हैं (इति) यह मान (कालकूटम्) कालकूट (न) नहीं (सेवेत) सेवन करे ।153॥

विशेषार्थ :- बलवान शक्तिशाली मनुष्य को यह विचार कर कि "मैं महाशक्तिशाली हूँ सब कुछ पचा सकता हूँ" विष-जहर नहीं खाना चाहिए ।153॥

अन्वयार्थ :- (कदाचित्) कभी-कभी (सुशिक्षितः) जानकार (अपि) भी (विषतंत्रज्ञः) विष प्रयोग वेत्ता (म्रियत) मर (एव) ही जाता है (विषात्) विषभक्षण से ।

विशेषार्थ :- विष की शक्ति को नष्ट करने की विद्या का पारङ्गत-कुशलव्यक्ति भी क्वचित् कदाच चूक जाता है अर्थात् उसका सेवन कर मरण को प्राप्त हो जाता है ।154॥

अन्वयार्थ :- (अतिथिषु) मेहमानों (आश्रितेषु) नौकरादि को (संविभज्य) देकर (च) और (स्वयम्) अपने आप (आहरेत्) भोजन करे ।155॥

विशेषार्थ :- सत्पुरुष का कर्त्तव्य है कि प्रथम अतिथियों को भोजन करावे, पुनः सेवकों को भोजन दे पुनः स्वयं भोजन करे ।155॥ ।10॥

सुखप्राप्ति का उपाय :-

देवान् गुरुन् धर्मं चोपचरन्न व्याकुलमतिः स्यात् ।156॥

अन्वयार्थ :-(देवान्) भगवान (गुरुन्) गुरुओं (च) और (धर्मम्) धर्म का (उपचरन्) आचरण कर्ता (व्याकुलमतिः) दुःख (न) नहीं (स्यात्) होगा ।

विशेषार्थ :- सच्चे-निर्दोष देव, शास्त्र व धर्म का उपासक दुर्बुद्धि, विपरीत कार्य करने वाला क्या दुखी नहीं होता। अर्थात् सुखेच्छु को देव, गुरु और धर्म की शरण में ही रहना चाहिए ।156॥

इन्द्रियों को शक्तिहीन करने वाला कार्य :-

व्याक्षेपभूमनोनिरोधोमन्दयति सर्वाण्यपीन्द्रियाणि ।।57।।

अन्वयार्थ :- (व्याक्षेपः) तिरस्कार (भूः) भूमि (मनोनिरोधः) मन का रोकना (सर्वाणि) सम्पूर्ण (अपि) भी (इन्द्रियाणि) इन्द्रियों को (मन्दयति) शिथिल करती है ।।57।।

विशेषार्थ :- जिस भूप्रदेश में अपमानित होना पड़े अर्थात् जो स्थान विरोध रूप हो वहाँ ध्यान करने से समस्त इन्द्रियाँ शक्तिहीन हो जाती हैं । क्षेत्र का प्रभाव इन्द्रिय और मन पर भी पड़ता है । अतः योग्य क्षेत्र में ध्यान करना चाहिए ।।57।।

स्वच्छ वायु का सेवन का फल :-

स्वच्छन्दवृत्तिः पुरुषाणां परमं रसायनम् ।।58।।

अन्वयार्थ :- (स्वच्छन्दवृत्तिः) स्वच्छ वातावरण (पुरुषाणाम्) मनुष्यों को (परमम्) उत्तम (रसायनम्) रसायन [अस्ति] है ।।58।।

विशेषार्थ :- जिस प्रकार उत्तम रसायन का सेवन मनुष्यों को नीरोग, बलिष्ठ और योग्य बनाता है उसी प्रकार स्वच्छ, खुली एवं शीतल वायु में घूमना मन्द, सुगन्ध वायु का सेवन करना भी मन, इन्द्रिय एवं शरीर को स्वास्थ्य प्रदान करता है ।।58।। प्रातः काल का समय अधिक उपयोगी होता है ।।

स्वच्छ वातावरण का दृष्टान्त :-

यथाकामसमीहानाः किल काननेषु करिणो न भवन्त्यास्पदं व्याधीनाम् ।।59।।

अन्वयार्थ :- (यथाकाम) इच्छानुसार (समीहानाः) विहारी (करिणः) गज (किल) निश्चय से (काननेषु) जंगलों (व्याधीनाम्) रोगों का (आस्पदम्) स्थान (न) नहीं (भवन्ति) होते हैं ।

विशेषार्थ :- सघन कानन (वन) में स्वतन्त्रता से इच्छानुसार विचरण करने वाले हाथियों को निश्चय से कभी भी रोग उत्पन्न नहीं होते ।।59।।

सदैव सेवन योग्य वस्तु :-

सततं सेव्यमाने द्वे एव वस्तुनी सुखाय, सरसः स्वैरालापः ताम्बूलभक्षणं चेति ।।60।।

अन्वयार्थ :- (द्वे) दो (एव) ही (वस्तुनी) वस्तुएँ (सततम्) निरन्तर (सेव्यमाने) प्रयुक्त करने से (सुखाय) सुख के लिए हैं - (संरसः) प्रेम से (स्वैः) स्वजनों से (आलापः) वार्तालाप (च) और (ताम्बूल-भक्षणम्) पान खाना (इति) बस ।।60।।

विशेषार्थ :- संसार में अनेकों वस्तुएँ भोगोपभोग योग्य हैं । उनमें निरन्तर सेवनीय और सुख देने वाली

दो वस्तुएँ मुख्य हैं । एक तो अपने शिष्ट स्वजनों के साथ प्रेम से वार्तालाप करना-सुख दुःख की पूछना और दूसरा पान भक्षण करना ।160 ॥

बैठक के विषय में :-

चिरायोर्ध्वजानु र्जडयति रसवाहिनीर्नसाः ।161 ॥

अन्वयार्थ :- (चिरायः) अधिक समय (ऊर्ध्वजानुः) घुटने के बल बैठना (रसवाहिनीः) रक्त प्रवाहिनी (नसा) नसों को (जडयति) निष्काम करता है ।161 ॥

विशेषार्थ :- जो मानव अधिक समय तक ऊँचे घुटनों के बल-आश्रय से बैठा रहता है उसकी रस धारण करने वाली नसें शक्तिहीन हो जाती हैं ।161 ॥

शोक से हानि :-

सततमुपविष्टो जठरमाध्मापयति प्रतिपद्यते च तुन्दिलतां वाचि, मनसि, शरीरे च ।162 ॥

अन्वयार्थ :- (सततम्) निरन्तर (उपविष्टः) बैठने से (जठरम्) जठराग्नि (आध्मापयति) मन्द होती है (च) और (तुन्दिलताम्) तोंद (प्रतिपद्यते) निकलती है (च) और (वाचि) वचन में (मनसि) मन में (शरीरे) शरीर में भी विकृति होती है ।162 ॥

विशेषार्थ :- अधिक समय तक निरन्तर बैठे रहने से मनुष्य की पाचनशक्ति-जठराग्नि मन्द हो जाती है। शरीर स्थूल-मोटे पेट वाला, आवाज खुरखुरी-मोटी और मानसिक शक्ति स्थूल-विचार शून्य हो जाती है ।162 ॥ शोक कर एक ही जगह बैठकर नहीं रहना चाहिए ।। इसी का समर्थन :-

अतिमात्रं खेदः पुरुषमकालेऽपिजरया योजयति ।163 ।।

अन्वयार्थ :- (अतिमात्रम्) अत्यधिक (खेदः) शोक (पुरुषम्) मनुष्य को (अकाले) असमय (अपि) भी (जरया) वृद्धता से (योजयति) जोड़ देता है ।।

विशेषार्थ :- अत्यधिक शोक, चिन्ता या खेद करने वाला मनुष्य जवानी में ही बुद्धिहीन होता हुआ वृद्ध हो जाता है । अभिप्राय यह है कि अधिक शोकाकुल रहने से मनुष्य की जवानी-यौवन में ही शरीर, इन्द्रियाँ व मन, बुद्धि शक्तिहीन हो जाती हैं । अतः पुरुषों को अधिक शोक नहीं करना चाहिए ।163 ॥

शरीर गृह की शोभा :-

नादेवं देहप्रासादं कुर्यात् ।164 ॥ (देहप्रासादम्) शरीर रूपी महल को (अदेवम्) ईश्वररहित (न) नहीं (कुर्यात्) करे ।।

विशेषार्थ :- मनुष्य का कर्त्तव्य है शरीर में प्राण रहने पर्यन्त भगवद्भक्ति को नहीं छोड़ना चाहिए । अर्थात् हृदय में भगवान-वीतरागप्रभु का ध्यान करना चाहिए ।164 ॥

अविश्वसनीय पुरुष :-

देवगुरुधर्मरहिते पुंसि नास्ति सम्प्रत्ययः ।।65।।

अन्वयार्थ :- (देवधर्मगुरुरहिते) देवगुरु धर्मरहित (पुंसि) पुरुष में (सम्प्रत्ययः) विश्वास (न) नहीं (अस्ति) होता है ।।65।।

विशेषार्थ :- भगवान की भक्ति, गुरु उपासना व अहिंसाधर्म की अवहेलना करने वाला पुरुष विश्वास का पात्र नहीं होता है । नैतिक और सदाचारी पुरुष धर्मविहीन नहीं होता । वही विश्वास योग्य माना जाता है । अतः विवेकी पुरुष को शाश्वत कल्याणकारी व विश्वासपात्र बनने के लिए वीतराग सर्वज्ञ व हितोपदेशी ऋषभादि तीर्थङ्कर भगवान, निर्ग्रन्थ दिगम्बर वीतराग गुरुओं तथा अहिंसामय धर्म का श्रद्धालु बनना चाहिए ।। यही मोक्षमार्ग का साधन बनता है ।।65।।

भगवान का स्वरूप व उसकी नाम माला :-

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषो देवः ।।66।। तस्यैवैतानि खलु विशेष नामान्यर्हन्नजोऽनन्त शंभु र्बुद्धस्तमोऽन्तक इति ।।67।।

अन्वयार्थ :- (क्लेश) दुःखरूप (कर्मविपाकः) कर्मों के फल को (आशयैः) अभिप्राय (अपराः) अन्य कारणों के (आमृष्टः) नाशक (पुरुषविशेषः) पुरुषविशेष को (देवः) देव कहते हैं ।। (तस्य) उसके (एव) ही (एतानि) ये (खलु) निश्चय से (विशेष) विशेष (नामानि) नाम (अर्हन्नजोऽनन्तःशंभुर्बुद्धःतमोऽन्तक इति) अर्हत् अज, अनन्त, शम्भु, बुद्ध तमऽन्तक आदि हैं ।

विशेषार्थ :- देव या भगवान वह पुरुष कहलाता है जिसने जन्म, मरण और जरा का नाश किया है, अर्थात् संसार दुःखों का नाश किया है । ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मों का नाश कर अनन्त चतुष्टय प्राप्त किया है, कर्मोदय से होने वाले राग-द्वेष, मोह आदि का सर्वथा उच्छेद किया है वे ही वीतरागी, सर्वज्ञ, हितोपदेशी होता है ।। इस भगवान को ही अनेक नामों से स्मरण करते हैं यथा अर्हन्, अज, अनन्त, शम्भु, बुद्ध व तमोऽन्तक आदि ।।67।।

अर्हन् :- त्रिलोक से पूजित होने से । जन्मरहित होने से "अज" । मृत्युशून्यता से अनन्त आत्मीय सुख सम्पन्न होने से "शम्भु" । केवलज्ञानी होने से "बुद्ध" । अज्ञानांधकार के नाशक होने से "तमोऽन्तक" कहते हैं ।। यशस्तिलकचम्पू में देव का लक्षण :-

सर्वज्ञ, सर्वलोकेशं सर्वदोषविवर्जितम् ।
सर्वसत्वहितं प्राहुराप्तमाप्तमतोचिताः ।।1।।

कर्त्तव्यपालन, असमय का कार्य, कर्त्तव्य में विलम्ब से हानि :-

आत्मसुखानरोधेन कार्याय नक्तमहश्च विभजेत् ।।68।। कालानियमेन कार्यानुष्ठानं मरणसमम् ।।69।। आत्यन्तिके कार्येनास्त्यवसरः ।।70।। अवश्यं कर्त्तव्ये कालं न यापयेत् ।।71।।

अन्वयार्थ :- (आत्मसुखम्) अपने सुख को (अनवरोधेन) विघ्न न करता (कार्याय) कर्त्तव्य पालन को (नक्तम्) रात्रि (च) और (अहः) दिन का (विभजेत्) भाग करे ।।68॥ (कालः) समय (अनियमेन) नियमित बिना (कार्यानुष्ठानम्) कार्य करना (हि) निश्चय से (मरणसमम्) मरण के समान [अस्ति] है ।।69॥ (आत्यन्तिकेकार्ये) अत्यावश्यक कार्यों में (अवसरः) समय की प्रतीक्षा (न) नहीं (अस्ति) है ।।70॥ (अवश्यम्) अवश्य (कर्त्तव्ये) करने योग्य कार्य में (कालम्) समय (न) नहीं (यापयेत्) व्यतीत करे।।71॥

विशेषार्थ :- प्रत्येक व्यक्ति अपनी सुख-सुविधा में विघ्न नहीं डालते हुए सतत् कर्त्तव्य पालन करता रहे। हाँ रात्रि और दिन में कौन-कौन कार्य करने योग्य है इनका विभाजन अवश्य कर ले ।।68॥ प्रत्येक कार्य समयानुसार होना चाहिए । काल टालकर अर्थात् उचित समय का उलंघनकर किया कार्य मरण के समान है अर्थात् व्यर्थ होता है । समय का अतिक्रान्त करने पर किया कार्य निष्फल हो जाता है । वादीभसिंह ने भी कहा है :-

न ह्यकालकृता वाञ्छा संपुष्णाति समीहितम् ।
किं पुष्पावचयः शक्यः फलकाले समागते ।।1॥

क्षत्र चू.

अर्थ :- जिस प्रकार फल लगने पर दाडिम आदि के वृक्षों से पुष्पों का चयन करने की अभिलाषा व्यर्थ होती है उसी प्रकार समय चूक जाने पर कार्य करने से सफलता मिलना असंभव है ।।69॥

नीतिकुशल मानव को अत्यावश्यक कार्यों के सम्पादन में विलम्ब नहीं करना चाहिए । शाश्वत कल्याणकारी कार्यों के लिए कहा है "शुभस्यशीघ्रम्" अच्छे-पुण्यवर्द्धक कार्यों को अतिशीघ्र कर लेना चाहिए ।।70॥ अवश्य ही करने योग्य कार्यों के विषय में अधिक उहा-पोह करना उचित नहीं है । जिन कार्यों से नीतिलाभ, अर्थप्राप्ति व धर्मलाभ होता हो उन कार्यों को यथाविधि अविलम्ब कर लेने से ही इष्ट प्रयोजन सिद्धि होती है अन्यथा इष्टसिद्धि संभव नहीं हो सकती । अतः धर्मादि साधक कार्यों को अतिशीघ्र करना चाहिए ।।71॥

आत्मरक्षा, राजकर्त्तव्य, राजसभा में प्रवेश के अयोग्य, विनय के लक्षण :

आत्मरक्षायां कदाचिदपि न प्रमाद्येत ।।72॥ सवत्सां धेनुं प्रदक्षिणीकृत्य धर्मासनं यायात् ।।73॥ अनधिकृतोऽनभिमतश्च न राजसभां प्रविशेत् ।।74॥ आराध्यमुत्थायाभिवादयेत् ।।75॥

अन्वयार्थ :- (आत्मरक्षायाम्) स्व की रक्षा में (कदाचित्) कभी (अपि) भी (न) नहीं (प्रमाद्येत्) प्रमाद करना ।।72॥ राजा (सवत्साम्) बच्चेयुत (धेनुम्) गाय की (प्रदक्षिणी) परिक्रमा (कृत्य) करके (धर्मासनम्) राजसिंहासन को (यायात्) स्वीकार करे ।।73॥ (अनधिकृतः) अस्वीकार किया (अनभिमतः च) और बिना अभिप्राय वाला (राजसभाम्) राजसभा में (न) नहीं (प्रविशेत्) प्रविष्ट हो ।।74॥ (आराध्यम्) आराधनीय, पूज्य का (उत्थाय) उठकर (अभिवादयेत्) सम्मान करे ।।75॥

विशेषार्थ :- शारीरिक, मानसिक व आध्यामिक कष्टों को पृथक् कर मनुष्य को अपनी रक्षा करने में विलम्ब व प्रमाद नहीं करना चाहिए ।।72॥

प्रजापालक (राजा) को बछड़े सहित गाय की प्रदक्षिणा देकर न्याय सिंहसन पर आसीन होना चाहिए यह लोकपद्धति या सामान्य नीति है ।।73॥

जिसे राजा की ओर से अधिकार प्राप्त नहीं है और जो राजा द्वारा बुलाया नहीं गया है ऐसे व्यक्तियों को राजसभा में प्रविष्ट होने का अधिकार नहीं है । अर्थात् उन्हें राजसभा में नहीं आना चाहिए ।।74॥

सभ्य, सदाचारी व्यक्तियों को अपने पूज्य व आदरणीय माता-पिता, गुरु व अन्य महानुभावों का खड़े होकर अभिवादन करना चाहिए । अर्थात् प्रणामादि करना उचित है ।।75॥

स्वयं देख-रेख करने योग्य कार्य, कुसंगति त्याग, हिंसामूल काम क्रीडा त्याग :-

देवगुरुधर्मकार्याणि स्वयं पश्येत् ।।76॥ कुहकाभिचारकर्मकारिभिः सहन संगच्छेत् ।।77॥ प्राण्युपघातेन कामक्रीडां न प्रवर्तयेत् ।।78॥

अन्वयार्थ, विशेषार्थ :- धर्मात्मा पुरुषों को पुण्यार्जन के श्रेष्ठ कार्य देवस्थान (मन्दिर) गुरुकार्य (वैयावृत्ति-सेवादि) व धर्म कार्यों की देख-भाल-व्यवस्था स्वयं ही करनी चाहिए । अन्य सेवकादि के भरोसे नहीं छोडना चाहिए ।।76॥

अन्वयार्थ :- (कुलहकः) कपटी (अभिचारः) जारण, मारण (कर्मकारिभिः) उच्चाटनादि करने वालों के (सह) साथ (न) नहीं (संगच्छेत्) जावे ।।77॥ (प्राणिः) जीव (उपघातेन) हिंसा से (कामक्रीडाम्) कामसेवन को (न) नहीं (प्रवर्तयेत्) प्रवर्तन करे ।।78॥

विशेषार्थ :- विवेकी पुरुष को कपटी, जार, व्यभिचारी, जारण-मारण, उच्चाटनादि कर्म करने वालों की संगति नहीं करना चाहिए ।।77॥

मनुष्य को ज्ञान और विवेक से कार्य करना चाहिए । जिन कार्यों में प्राणिवध हिंसा अधिक हो ऐसे कार्यों में अर्थात् अन्याय से भोगों में प्रवृत्ति नहीं करना चाहिए ।।78॥ सतत् श्रेष्ठ पुरुषों की ही संगति करनी चाहिए ।

परस्त्री के साथ भगिनी, मातृभाव, पूज्यों के प्रति कर्त्तव्य, शत्रु स्थान प्रवेश निषेध :

जनन्यापि परस्त्रिया सह रहसि न तिष्ठेत् ।।79॥ नातिक्रुद्धोऽपि मान्यमतिक्रामेदवमन्येत् वा ।।80॥ नाप्ताशोधितपरस्थान-मुपेयात् ।।81॥

अन्वयार्थ :- (जननी) माता (अपि) भी (परस्त्रिया) परनारी (सह) साथ (रहसि) एकान्त में (न) नहीं (तिष्ठेत्) बैठे ।।79॥ (अतिक्रुद्धः) अत्यन्त क्रोधी (अपि) भी (मान्यम्) पूज्य को (न) नहीं (अतिक्रामेत्) उलंघन करे (वा) अथवा (अवमन्येत्) अपमानित करे ।।80॥ (आप्तः) अपने विश्वासी से (अशोधितः) बिना देखें (परस्थानम्) दूसरे से स्थान में (उपेयात्) प्राप्त हो जावे ।।81॥

विशेषार्थ :- सत्पुरुषों को परस्त्री वृद्धा या माँ भी हो तो भी एकान्त में अकेले उसके साथ बैठक न करे। अर्थात् वार्तालाप नहीं करे ।।79॥ इन्द्रियाँ बहुत चंचल होती हैं उन पर अधिकार करना सरल नहीं है वे विद्वानों को भी अपने चंगुल में फंसा लेती हैं । अतः आध्यात्म्यप्रिय सन्तपुरुषों को स्त्रीसहवास से सतत् दूर रहने का प्रयत्न

करना चाहिए ।।79॥ पूज्यपुरुष-माता-पिता-गुरुजन विशेष कारण वश अतिक्रुद्ध भी हों तो भी उनकी आज्ञा के विपरीत नहीं होना चाहिए और उनका अपमान करने की चेष्टा भी नहीं करना चाहिए । पूज्य पुरुषों का कोप भी कल्याणकारी होता है क्योंकि उनका कोप अकारण नहीं होता ।।80॥

अपने विश्वस्त व्यक्ति द्वारा अपरिक्षित स्थान में, तथा दूसरे के स्थान में भी सहसा प्रविष्ट नहीं होना चाहिए। शत्रुओं के स्थान में बिना परीक्षण के प्रवेश करने से विपत्ति आने का भय होता है । यहाँ तक कि आत्मघात-प्राणनाश का भी प्रसंग आ सकता है । अतः राजादि विवेकी पुरुषों को प्रथम अपने आत्मीयजनों द्वारा पता लगवाकर ही अपरिचित स्थानों में प्रवेश करना श्रेयस्कर है ।।81॥

रथादि सवारी, स्थान निषेध, अगन्त व्यस्थान, उपासना, अयोग्य पदार्थ, कण्ठस्थ न करने योग्य विद्या, राजकीय प्रस्थान:

आप्तजनैरनारुढं वाहनमध्यासीत् ।।82॥ न स्वैरपरीक्षितं तीर्थं सार्थं तपस्विनं वाभिगच्छेत् ।।83॥ न याष्टिकैरविविक्तं मार्गं भजेत् ।।84॥ न विषाय हारौषधिमणीन् क्षणमप्युपासीत ।।85॥ सदैव जाङ्गलिकीं विद्यां कण्ठे न धारयेत् ।।86॥ मंत्रिभिषग्नैमित्तिकरहितः कदाचिदपति न प्रतिष्ठेत् ।।87॥

अन्वयार्थ :- (आप्तजनैः) अपने विश्वासीजनों द्वारा (अनारुढम्) बिना चढे (वाहनम्) सवारी को (न) नहीं (अध्यासीत) प्रयोग करे ।।82॥ (स्वैः) अपने द्वारा (अपरिक्षितम्) परीक्षारहित (तीर्थम्) तीर्थ-स्थान (सार्थम्) वणिक् जन (तपस्विनम्) योगी, सन्यासी (वा) अथवा (अन्यः) अन्य कोई के पास (न) नहीं (अभिगच्छेत्) जावे ।।83॥ (याष्टिकैः) पुलिस द्वारा (अविविक्तम्) अपरिचित (मार्गम्) रास्ते को राजादि (न) नहीं (भजेत्) प्राप्त करे ।।जावे।।84॥ (विषापहारः) विष को दूर करने वाली (औषधिः) जडी-बूटी (मणीन्) मणियों को (क्षणम्) एकक्षण भी (न) नहीं (उपासीत्) सेवन करे ।।85॥ (जाङ्गलिकीम्) जहर उतारने की (विद्याम्) विद्या को (सदैव) सतत् (कण्ठे) कण्ठ में (न) नहीं (धारयेत्) धारण करे ।।85॥ (मंत्रिः) सचिव (भिषक्) वैद्य (नैमित्तिक) ज्योतिर्ष। (रिहतः) बिना (कदाचित्)

विशेषार्थ :- स्व परिचित विद्वान या अन्य पुरुष द्वारा यदि किसी घोडे, रथ आदि की आरुढ होकर परीक्षा नहीं की गई हो तो उस पर सवारी नहीं करनी चाहिए । अपने हितैषियों द्वारा विश्वस्त की हुई ही सवारी में आरुढ़ होना चाहिए ।।82॥

विद्वान पुरुष को चाहिए कि वह उन सरोवरादि तीर्थ, व्यापारी एवं तपस्वियों के पास नहीं जावे, जिनकी कि उसके विश्वस्त-निजी लोगों द्वारा तलाश नहीं की हो ।। अभिप्राय यह है कि प्रथम उपर्युक्त विषयों में अपने लोगों से जानकारी प्राप्त करे तदनन्तर उन्हें उपयोग में लावे ।।83॥

राजा को पुलिस द्वारा संशोधन, निर्णीत किये बिना मार्ग पर नहीं जाना चाहिए । क्योंकि ऐसे पथ पर खतरे की संभावना होना संभव है ।।84॥

विवेकी बुद्धिमान विष परिहार करने वाली औषधि व मणि की क्षण मात्र भी उपासना नहीं करे ।।85॥ इसी प्रकार विष उतारने की विद्या का अभ्यास करे, परन्तु उसे कण्ठस्थ न करे । अर्थात् सर्वत्र उसका प्रयोग करे ।।86॥

भूपति को मंत्री-सचिव, वैद्य, ज्योतिषी के बिना कदाऽपि दूसरी जगह प्रस्थान नहीं करना चाहिए ।।87।।

भोजन व वस्त्र परीक्षा विधि, कर्त्तव्यकाल, भोजन आदि का समय, प्रिय व्यक्ति का विशेष गुण, भविष्य-कार्य-सिद्धि के प्रतीक :-

वह्नावन्यचक्षुषि च भोज्यमुपभोग्यं च परीक्षेत् ।।88।। अमृते मरुति प्रविशति सर्वदा चेष्टेत ।।89।। भक्तिसुरतसमरार्थी दक्षिणे मरुति स्यात् ।।90।। परमात्मना समीकुर्वन् न कस्यापि भवति द्वेष्यः ।।91।। मनः परिजनशकुन पवनानुलोम्यं भविष्यतः कार्यस्य सिद्धेलिङ्गम् ।।92।।

अन्वयार्थ :- राजा का कर्त्तव्य है कि (भोज्यम्) भोजन सामग्री (च) और (उपभोग्यम्) वस्त्रा-भूषण (वह्नौ) अग्नि में (च) और (अन्यचक्षुषि) अन्य स्वजनों से दिखाकर (परीक्षेत्) परीक्षा करे ।।88।। (अमृते) अमृसिद्धि योग में (मरुते) वायु के चलने पर - (प्रविशति) प्रवेश करने पर (सर्वदा) हमेशा (चेष्टेत) कार्य करे ।।89।। (दक्षिणे) दक्षिण दिशा में (मरुति) वायु (स्यात्) होगी (भक्तिः) भगवद्भक्ति, (सुतरः) मैथुन (समरार्थी) युद्ध का इच्छुक होवे ।।90।। (परमात्मना) भगवान का उपासक (समीकुर्वन्) करने वाला (कस्यापि) किसी का भी (द्वैष्यः) द्वेषी (न) नहीं है ।।91।। (भविष्यतः) भावी (कार्यस्य) कार्य की (सिद्धेः) सिद्धि का (लिङ्गम्) चिन्ह (मनः) मन (परिजनः) परिवार (शकुनः) शुभशकुन (पवनानुलोम्यम्) अनुकूल वायु [अस्ति] है ।।92।।

विशेषार्थ :- राजा को चाहिए कि वह भोजन करने के पूर्व भोजनसामग्री को अग्नि में डालकर परीक्षा करे । आग में यदि नीली ज्वाला निकले तो समझ लो विषमिश्रित है । उसे त्याग दो । इसी प्रकार वस्त्रादि की भी परीक्षा अपने योग्य विश्वस्तजनों से करा लेना चाहिए । क्योंकि विघ्न बाधाओं से रक्षित रहने का यह उपाय है ।।88।।

जिस समय अमृत (योग) सिद्धि योग हो उस समय समस्त कार्य करने योग्य हैं । इससे मनुष्य की कार्य सिद्धि होती है ।।89।।

जिस समय दक्षिणी वायु चल रही हो, उस समय मनुष्य को भोजन, मैथुन व युद्ध में प्रवृत्ति करनी चाहिए। इस प्रकार करने से उस कार्य में पूर्ण सफलता प्राप्त होती है ।।90।। परमात्मा के प्रति अनुरागी-भक्त अथवा अन्य को अपने सदृश समझने वाला व्यक्ति किसी का भी शत्रु नहीं होता ।।91।।

मन, सेवक, शकुन व वायु की अनुकूलता भविष्य में करने वाले कार्यों की सफलता-सिद्धि के चिन्ह हैं। अर्थात् हृदय प्रफुल्ल होना, सेवकों का प्रसन्न सन्तुष्ट रहना, दाहिनी आँख फड़कना आदि शुभ शकुन हैं इनसे प्रतीत होता है कि भविष्य में अवश्य सफलता मिलेगी ।।92।।

गमन व प्रस्थान के विषय में, ईश्वरोपासना का समय व राजा का मंत्र जाप्य :-

नैको नक्तं दिवं वा हिंडेत ।।93।। नियमित मनोवाक्कायः प्रतिष्ठेत ।।94।। अहनि संध्यामुपासीताऽनक्षत्रदर्शनात्।।95।। चतुः पयोधिपयोधरां धर्मवत्सवतीमुत्साहबालधिं वर्णाश्रमखुरां कामार्थश्रवणांनय प्रताप विषाणां सत्य शौच चक्षुषं न्यायमुखीमिमां गां गोपयामि, अतस्तमहं मनसापि न सहे योऽपराध्येत्तस्यै, इतीमं मंत्रं समाधिस्थो जपेत् ।।96।।

अन्वयार्थ :- (एकः) अकेला (नक्तम्) रात्रि (वा) अथवा (दिवम्) दिनभर (न) नहीं (हिंडेत) घूमे । ।93॥ (मनोवाक् कायः) मन वचन काय को (नियमित) नियमित (प्रतिष्ठेत) स्थिर करे ।।94॥ (अहनि) दिन में (संध्याम्) प्रातः मध्यान्ह, शांय (आनक्षत्रम्) नक्षत्र (दर्शनात्) दिखनेपर्यन्त (उपासीत) उपासना करे ।।95॥ (चतुः) चार (पयोधिः) सागर रूप (पयोधरां) थनवाली (धर्मवत्सवतीम्) धर्म बछडा वाली (उत्साहबालधिं) उत्साह पूंछ (वर्णाश्रम) चार वर्ण व चार आश्रम (खुराम्) खुरवाली, (कामार्थ) काम, अर्थ (श्रवणाम्) कानों वाली (नयप्रतापविषाणाम्) नय, प्रताप सींग (सत्य शौच) सच, शुचि (चक्षुषम्) नेत्र (न्यायमुखीम्) न्यायमुखी (इमाम्) इस (ग्राम) पृथ्वी को (गोपयामि) रक्षा करता हूँ (अतः) इसलिए (तम्) उसे (अहं) मै (मनसा) मन से (अपि) भी (न) नहीं (सहे) सहता (यो) जो (तस्यै) उसके लिए (अपराध्येत्) अपराध करे (इति) इस (इमम्) इस प्रकार (मंत्रम्) मंत्र को (समाधिस्थः) स्थिरचित (जपेत्) जपे ।।96॥

विशेषार्थ :- मनुष्य को दिन-रात अकेले नहीं घूमना चाहिए ।।93॥ मनुष्य को प्रस्थान करते समय अपने मन, वचन व काय को स्थिर करना चाहिए तथा जितेन्द्रिय होना चाहिए ।।94॥

प्रत्येक मनुष्य को तीनों संध्याओं-प्रातः, मध्यान्ह और सायंकाल ईश्वरोपासना-भगवद्भक्ति करना चाहिए । इसका समय जब तक नक्षत्र दिखाई पडे करना चाहिए ।।95॥ राजा का कर्त्तव्य है प्रजापालन, राज्यधरा का रक्षण। उसी को यहाँ गौ का रूपक देकर कथन किया है कि राजा इसे मंत्र बनाये कि "मैं इस पृथ्वी रूपी गाय का संरक्षण करता हूँ । इसके चारों सागर थन हैं, धर्मशिष्टों का पालन दुष्टों का निग्रह) ही बछडा है, उत्साह पूँछ है, चारों वर्ण-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र तथा चार आश्रम-ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, गृहस्थ व सन्यास ही खुर हैं, काम एवं अर्थ दो श्रवण-कान हैं, नय और प्रताप दो सींग हैं, सत्य और पवित्रता नयन हैं एवं न्याय मुख है । इस स्वरूप वाली मेरी गाय रूपी भूमि-राज्यधरा का जो अपराध करेगा अर्थात् इस पर आक्रमण करेगा उसे मैं मन से ही सहन नहीं कर सकता । अभिप्राय यह है कि प्रजावत्सल नृपति प्रतिदिन इस प्रकार विचार करे ।।96॥

भोजन का समय, शक्तिहीन योग्य आहार, त्याज्य स्त्री, यथा प्रकृति वाले दम्पत्ति :

कोकवद्दिवाकामो निशि स्निग्धं भुञ्जीत ।।97॥ चकोरवन्नक्तं कामो दिवा च ।।98॥ पारावतकामो वृष्यान्नयोगान् चरेत् ।।99॥ बष्कयणीनां सुरभीणां पयः सिद्धं माषदलपरमान्नं परोयोगः स्मरसंवर्द्धने ।।100॥ अवृषस्यन्तीं स्त्रीमभियायात् ।।101॥ उत्तरः प्रवर्षवान् देशः परम रहस्य मनुरागे प्रथम-प्रकृतीनाम् ।।102॥ द्वितीय प्रकृतिः सशाद्वलमृदूपवन प्रदेशः ।।103॥ तृतीय प्रकृतिः सुरतोत्सवाय स्यात् ।।104॥

अन्वयार्थ :- (कोकवत्) चकवा-चकवी समान (कामः) मैथुन सेवी (निशि) रात्रि में (स्निग्धम्) चिकने पदार्थ (भुञ्जीत) भक्षण करे ।।97॥ (चकोरवत्) चकोरपक्षी समान (नक्तम्) रात्रि में (काम) मैथुनेच्छु (च) और (दिवा) दिन में (पारावत) कबूतर समान (काम) मैथुन सेवा चाहने वाला (वृष्यान्नयोगान्) वीर्य-वर्द्धक (चरेत्) भोजन करे ।।99॥ (बष्कयणीनाम्) प्रथम बार व्याई (सुरभीणाम्) गायों के (पयः सिद्धम्) दुग्ध से निष्पन्न (माषदल) उडद की दाल की (परमान्नम्) खीर (परोयोगः) भोजन से (स्मरसंवर्द्धने) कामोद्दीपन होता है ।।100॥ (अवृषस्यन्तीम्) कामसेवन की इच्छारहित (स्त्रीम्) स्त्री को (न) नहीं (अभियायात्) भोगे ।।101॥ (प्रवर्षवान्) वर्षा वाले (उत्तरः) उत्तर (देशः) देशवासी (परमरहस्यम्) पद्मिनी नारी को (अनुरागे) प्रेम में (प्रथम) पहली (प्रकृतीनाम्) प्रकृति के पुरुष [सन्ति] हैं ।।102॥ (द्वितीय प्रकृतिः) दूसरी प्रकृति वाले (सशद्वल) हरीदूब

(मृदुः) कोमल (उपवनम्) बगीचे के समान सेवती है ।।103॥ (तृतीयप्रकृतिः) तीसरी प्रकृति वाली (सुरत) काम के (उत्सवातय) उत्सव समान भोगती है ।।

विशेषार्थ :- जो पुरुष चकवा-चकवी के समान दिन में मैथुन सेवन करने वाले हैं वे रात्रि में सच्चिक्कण वस्तु का भक्षण करे । तथा चकोरपक्षी की भाँति रात्रि में मैथुन करने वाले व्यक्ति हैं, उन्हें दिन में भोजन करना चाहिए ।। सारांश यह है कि मनुष्य भी पक्षियों के समान रात्रि में मैथुन सेवन करते हैं, उन्हें दिन में ही भोजन करना चाहिए ।। इससे अहिंसाधर्मपालन और स्वास्थ्य संरक्षण होता है ।।97 98॥

जो कबूतर के समान हीनशक्ति होने पर भी काम सेवन करते हैं, उन्हें वीर्य वर्द्धक घृत, शर्करादि मिश्रित सुस्वादु, सुन्दर मालपुआ आदि पदार्थ भक्षण करने चाहिए ।।99॥ एक बार ही जिसने बच्चा उत्पन्न किया है ऐसी गाय के दूध में उडद से खीर बनाकर भोजन करने से कामोद्दीपन होता है ।।100॥ कामभोग से विरक्त हुई नारी के साथ सुरक्रीडा (कामसेवन) नहीं करना चाहिए ।।101॥ अधिक वर्षा वाले उत्तर प्रदेश का निवासी पुरुष अथवा वृष प्रकृति वाला पुरुष पद्मिनी स्त्रियों द्वारा विशेष प्रिय होता है । अर्थात् वे मान्यता देती हैं ।। कामशास्त्र में वृष, शश, और अश्व इन तीन प्रकृति वाले पुरुष एवं पद्मिनी, शंखनी और हस्तिनी ये तीन प्रकृति वाली महिलाओं का उल्लेख है । इनमें से प्रथम वृष प्रकृति पुरुष को पद्मिनी, दूसरे शश प्रकृति वाले को शंखिनी और तृतीय अश्व स्वभावी को हस्तिनी स्वभावी नारियाँ प्रेम करती हैं ।। ये नारियाँ पुरुष को हरी-हरी कोमल दूब युक्त बगीचे के रमणीय स्थल के समान सुखपूर्वक सेवन करती हैं । तीसरी अश्व प्रकृति वाला पुरुष अत्यन्त वीर्य युक्त होने से मैथुन के समय स्त्रियों को विशेष सन्तोष देने वाला होता है ।।102-104॥

प्रसन्नचित्त, वशीकरण, मल-मूत्रादि रोकने से हानि, विषय-भोग के अयोग्य काल व क्षेत्र, परस्त्री त्याग -

धर्मार्थस्थाने लिङ्गोत्सवं लभते ।।105॥ स्त्री पुंसयोर्नं समसमायोगात्परं वशीकरणमस्ति ।।106॥ प्रकृतिरूपदेशः स्वाभाविकं च प्रयोग वैदग्ध्यमितिसमसमायोग कारणानि ।।107॥ क्षुत्तृर्षपुरीषाभिष्यन्दार्तस्याभिगमो नापत्यमनवद्यं करोति ।।108॥ न संध्यासु न दिवा नाप्सु न देवायतने मैथुनं कुर्वीत ।।109॥ पर्वणि पर्वणि संधौ उपहते वाह्नि कुलस्त्रियं न गच्छेत् ।।110॥ न तद् गृहाभिगमने कामपि स्त्रियमधिशयीत ।।111॥

विशेषार्थ :- धर्मस्थान-जिनालय, सरस्वतीभवन, अर्थ स्थान-व्यापारादि के स्थानों में (लिङ्गाः) इन्द्रियाँ (उत्सवं) प्रसन्नता (लभते) प्राप्त करती हैं । अर्थात् इन स्थानों में इन्द्रियाँ सुखानुभव करती हैं ।।105॥

अन्वयार्थ :- (स्त्रीपंसयोः) स्त्री पुरुषों के (सम समायोगात्) समान संयोग से (परम्) अन्य (वशीकरणम्) मोहनमंत्र (न) नहीं (अस्ति) है ।।

विशेषता :- दम्पत्ति वर्ग के समान जोडी-योग मिलना सबसे बड़ा मोहन मंत्र है । आकर्षण का केन्द्र है। अर्थात् स्त्री पुरुषों के समसमायोग (एकान्त स्थान में मिलना जुलना, वार्तालाप करना आदि) को त्याग कर दूसरा कोई भी वशीकरण नहीं है ।।106॥

अन्वयार्थ :- (प्रकृतिः) स्वभाव (उपदेशः) उपदेश (स्वाभाविकम्) नैसर्गिक (प्रयोगः) उपयोग (च) और (वैदग्ध्यम्) चातुर्य (इति) ये (समसमायोग) एकान्त मिलन के (कारणानि) हेतू हैं ।।107॥

विशेषता :- पति पत्नि या स्त्री पुरुषों का एकान्त में परस्पर मिलना चार बातों से सफल होता है-1.प्रकृति-स्वभाव अर्थात् एकान्त में उचित वार्तालापादि द्वारा एक दूसरे के स्वभाव की परख करना, 2. उपदेश-अनुकूल बनाने वाली उपयुक्त शिक्षा-अनुकूल पठन-पाठन किया हुआ ज्ञान, 3. प्रयोग वैदग्ध्य अर्थात् एकान्त में करने योग्य हंसी, मजाक आदि ।।107॥

अन्वयार्थ :- (क्षुत्) भूख (तृष्) प्यास, (पुरीषम्) मल (अभिस्यन्द) मूत्रादि बाधा युत (आर्तस्य) पीड़ित के (अभिगमो) स्त्री संगम (अनवद्यम्) निर्दोष (अपत्यम्) पुत्र (न) नहीं (करोति) करता है ।।108॥ (सन्ध्यासु) तीनों संध्याओं में (न) नहीं (दिवा) दिन में (न) नहीं (आप्सु) जल में (न) नहीं (देवायतने) देवालय में (न) नहीं (मैथुनम्) भोग (कुर्वीत्) करना चाहिए ।।109॥ (पर्वणि पर्वणि) प्रत्येक पर्व में (सन्धौ) संध्याओं में (उपहते) होने पर (वा) अथवा (अह्निः) दिन में (कुलस्त्रियम्) धर्मपत्नी को (न) नहीं (गच्छेत) जावे ।।110॥ (तद्) उस (गृहाभिगमने) घर की ओर जा (काम्) किसी (अपि) भी (स्त्रियम्) नारी को (अधिशायीत) साथ ले शयन (न) नहीं करे ।।111॥

विशेषता :- भूखपीड़ित, प्यास, मल, मूत्र आदि के वेग को रोककर यदि स्त्री संभोग करता है तो उसके निर्दोष स्वस्थ सन्तान उत्पन्न नहीं होती ।। अर्थात् रोगी, निःशक्त, कुरुप अभद्र संतान होती है ।।108॥ विवेकीजनों की तीनों संध्याओं-प्रातः मध्यान्ह व सायंकाल में दिवस में, पानी में, जिनालय-मन्दिर में मैथुन क्रिया कभी नहीं करनी चाहिए ।।109॥ धर्मात्मा, आत्मार्थियों को पर्वों-पर्यूषण, आष्टान्हिकादि में, तीनों काल संध्याओं में, सूर्यग्रह आदि भयङ्कर उपद्रवों से व्याप्त दिनों में अपनी कुल वधू-धर्मपत्नी का सेवन नहीं करना चाहिए ।।110॥ किसी परायी स्त्री के घर में जाकर उसके साथ शयन नहीं करे । अर्थात् एक शैया पर नहीं सोये ।।111॥

नैतिक वेषभूषा व विचार-आचरण, आयात्-निर्यात् दृष्टान्त द्वारा समर्थन अविश्वास से हानि :

वंशवयोवृत्तविद्याविभवानुरुपोवेषः समाचारोवा कं न विडम्बयति ।।112॥ अपरिक्षितमशोधितं च राजकुले न किंचित्प्रवेशयेन्निष्कासयेद्वा ।।113॥ श्रूयते हि स्त्री वेषधारी कुन्तल नरेन्द्रप्रयुक्तोगूढ पुरुषः कर्णनिहितेनासिपत्रेणपल्हवनरेन्द्र हयपतिश्च मेषविषाण निहितेन विषेण कुशल्यलेश्वरं जघानेति ।।114॥ सर्वत्राविश्वासे नास्ति काचित्क्रिया ।।115॥

अन्वयार्थ :- (वंशः) कुल (वयः) उम्र (वृत्तः) आचरण (विद्या) शिक्षा (विभवः) धन (अनुरूपः) के अनुकूल (वेषः) वेषभूषा (वा) अथवा (समाचारः) आचार (कम्) किसी को (न) नहीं (विडम्बयति) दुखी करता है ।।112॥ (अपरिक्षितः) बिना विचारा (च) और (अशोधितम्) बिनाशोधा (राजकुले) राज कुल में (किंचित्) कुछ भी (न) नहीं (प्रवेशयेत्) प्रविष्ट करे (वा) अथवा (निष्कासयेत्) निकाले ।।113॥ (श्रूयते) सुना जाता है (हि) निश्चय से (स्त्रीवेषधारी) स्त्री रूप वाला (कुन्तलनरेन्द्रप्रयुक्तः) कुन्तल राजा से प्रयुक्त (गूढपुरुषः) गुप्तचर (कर्मनिहितेन) कान के पास छिपाये (असिपत्रेण) शस्त्र से (पल्हवनरेन्द्रम्) पल्लवराजा को (च) और (हयपतिः) हय राजा (मेषविषाणनिहितेन) मेष का सींग छिपाये (विषेण) विष द्वारा (कुशस्थलेश्वरम्) कुशस्थल को (जघानः) मार डाला (इति) वस ।।114॥ (सर्वत्र) सब जगह (अविश्वासे) अविश्वास करने पर (काचित्) कोई भी (क्रिया) कार्य (न) नहीं (अस्ति) है ।।115॥

विशेषता :- जो मनुष्य अपने वंश-कुटुम्ब, वय (उम्र) सदाचार-कुल धर्म आदि, विद्या-शिक्षा और धनादि ऐश्वर्य के अनुकूल अपनी वेशभूषा रहन-सहन रखता है, वैसा ही आचरण भी करता है, वह कभी भी दु:खी या पीडित नहीं होता अपितु सदैव सुखी रहता है ।।112॥ कारण कि उक्त प्रकार से रहने वाला समाज व राष्ट्र के सम्मान का पात्र बनता है उसे सभी प्रेम की दृष्टि से देखते हैं ।। सर्वत्र उसका सम्मान होता है ।।

राजा को निरन्तर सावधान रहना चाहिए । उसे अपने आत्महितैषियों से अपरीक्षित व सदोष वस्तुओं को अपने राजमहल में प्रविष्ट न होने दे और न ही बाहर निकलने दे । प्रत्येक आने वाली या जाने वाली वस्तु का अपने हितैषी, प्रामाणिक पुरुषों से प्रथम जाँच-पडताल कराना चाहिए ।।113॥

ऐतिहासिक सत्य प्रमाण है कि कुन्तल देश के राजा ने अपना गुप्तचर स्त्री के वेष में भेजा था । वह अपने कानों के पास खडग-असि छिपाये था । उसने राजमहल में प्रविष्ट हो पल्लवनरेश को मृत्यु का वरण कराया-मार डाला । इसी भाँति हयदेश के राजा ने अपना गुप्तचर मेढे के सींग में विष स्थापित कर भेजा, उसने उससे कुशस्थल के नरेश को समाप्त किया अर्थात् मार डाला । अत: अपरिक्षित व असंशोधित वस्तु राज-गृह में नहीं आना चाहिए और न ही बाहर निकालनी चाहिए ।।114॥

यद्यपि संसार स्वार्थ से भरा है तो भी यदि सर्वत्र विश्वास ही न किया जाय तो कोई भी कार्य सिद्ध ही नहीं होगा। अत: कहीं न कहीं विश्वास भी करना चाहिए ।।115॥

।। इति दिवसानुष्ठान समुद्देश समाप्त हुआ ।।

इति श्री परम पूज्य प्रात: स्मरणीय, विश्ववंद्य चारित्र चक्रवर्ती मुनि कुञ्जर सम्राट् महान तपस्वी, वीतरागी, दिगम्बराचार्य श्री आदिसागर जी अंकलीकर के पट्टाधीश परम् पूज्य समाधि सम्राट् तीर्थभक्त शिरोमणि आचार्य परमेष्ठी श्री 108 महावीर कीर्ति जी महाराज के संघस्था एवं परम पूज्य कलिकालसर्वज्ञ खंडिविद्या धुरंधर श्री 108 आचार्य विमलसागर जी महाराज की शिष्या ज्ञान चिन्तामणी सिद्धान्त विशारदा, प्रथम गणिनी 105 आर्यिका विजयामती द्वारा यह नीति वाक्यामृत की हिन्दी विजयोदय टीका का सान्वय श्री परम पूज्य वात्सल्यरत्नाकर, सिद्धान्त चक्रवर्ती श्री 108 अंकलीकर के तृतीय पट्टाधीश श्री आचार्य सन्मतिसागर जी के पावन चरण सान्निध्य में ''दिवसानुष्ठान'' नामा पच्चीसवां समुद्देश समाप्त हुआ ।।

।। ॐ नम: सिद्धेभ्य: ।।

26

सदाचार सम्मुद्देशः

अत्यधिक लोभ, आलस्य व विश्वास से हानि, वलिष्ठ शत्रु कृत आक्रमण से बचाव, परदेश के दोष, पाप प्रवृत्ति के कारण हानि :-

लोभप्रमादविश्वासैर्वृहस्पतिरपि पुरुषो वध्यते वञ्चयते वा ।।1 ॥ वलवताधिष्ठितस्य गमनं तदनुप्रवेशो वा श्रेयानन्यथा नास्ति क्षेमोपायः ।।2 ॥ विदेश वासोपहतस्य पुरुषकारः विदेश को नाम येनाविज्ञात स्वरूपः पुमान् सतस्य महानपि लघुरेव ।।3 ॥ अलब्ध प्रतिष्ठस्थ निजान्वयेनाहङ्कारः कस्य न लाघवं करोति ।।4 ॥ आर्तः सर्वोऽपि भवति धर्मबुद्धिः ।।5 ॥ स नीरोगो यः स्वयं धर्माय समीहते ।।6 ॥ व्याधि ग्रस्तस्य ऋःते धैर्यान्न परमौषधमस्ति ।।7 ॥ स महाभागो यस्य न दुरपवादोपहतं जन्म ।।8 ॥

अन्वयार्थ :- (लोभः) लालच (प्रमादः) अनुत्साह (विश्वासैः) विश्वास द्वारा (वृहस्पतिः) वृहस्पति (अपि) भी (पुरुषः) मनुष्य (वध्यते) बंधता है (वा) अथवा (वञ्चयते) ठगाया जाता है ।।1 ॥ (वलवताधिष्ठितस्य) बलवान से युक्त (गमनम्) जाना (वा) अथवा (तदनुप्रवेशः) उसके साथ प्रवेश (श्रेयान्) कल्याणकारी है (अन्यथा) नहीं तो (क्षेमोपायः) कल्याण का उपाय (न) नहीं (अस्ति) है ।।2 ॥ (विदेशवासः) परदेश में निवास (उपहतस्य) पीडित का (पुरुष्कारः) परिचय (विदेशकोनाम) क्या प्रयोजन (येन) जिससे (अविज्ञातस्वरुपः) नहीं जानने वाला (पुमान्) पुरुष (सः) वह (तस्य) उसका (महान्) विशिष्ट (अपि) भी (लघुः) छोटा (एव) [अस्ति] है ।।3 ॥ (अलब्धप्रतिष्ठस्य) प्रतिष्ठाहीन का (निजान्वयेन) अपने अन्वय से (अहंकारः) अभिमान (कस्य) किसके (लाघवम्) लघुता को (न) नहीं (करोति) करता है ? ।।4 ॥

व्याधिपीडित व्यक्ति का कार्य, धर्मात्मा का महत्व, बीमार की औषधि व भाग्यशाली पुरुष :

अन्वयार्थ :- (आर्तः) पीड़ित (सर्वाः) सभी (अपि) भी (धर्मबुद्धिः) धर्मात्मा (भवति) होता है ।।5 ॥ (सः) वह (नीरोगः) स्वस्थ है (यः) जो (स्वयम्) स्वयं (धर्माय) धर्म के लिए (समीहते) चाहता है ।।6 ॥ (व्याधिग्रस्तस्य) रोगी की (धैर्यात्) साहस के (ऋते) बिना (परमम्) उत्कृष्ट (औषधम्) दवा (न) नहीं (अस्ति) है ।।7 ॥ (सः) वह (महाभागः) भाग्यशाली है (यस्य) जिसके (दुरपवाद-उपहतम्) अपवाद युक्त (जन्म) जीवन (न) नहीं [अस्ति] है।।8 ॥

विशेषता :- जो पुरुष वृहस्पति के समान भी विद्वत्ता में प्रसिद्ध है वह भी अति लोभ, प्रमाद-आलस्य व विश्वास के द्वारा बन्धन को प्राप्त हो जाता है अथवा वंचित हो जाता है ।। कहावत है "अति सर्वत्र वर्जयेत्" प्रत्येक कार्य व स्वभाव की सीमा रहने पर उसकी शोभा होती है । अन्यथा विपरीतता ही प्राप्त होती है ।।1॥ अपने से बलवान के साथ विद्रोह होने पर उसे या तो अन्यत्र चला जाना श्रेयस्कर है अथवा उससे सन्धि कर लेना उपयुक्त है, इसके अतिरिक्त रक्षा का अन्य कोई उपाय नहीं है ।।2॥ शुक्र विद्वान ने भी कहा है-

बलवान् स्याद्यदा शंसस्तदा देशं परित्यजेत् ।
तेनैव सह सन्धिं वा कुर्यान्न स्थीयतेऽन्यथा ।।1॥

वही अर्थ है ।

जो व्यक्ति पापोदय से समाज व राष्ट्र द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सका स्वयं अपने वंश का अभिमान लिए बैठा है, उस अहंकारी को संसार में कौन लघु नहीं मानेगा ? सभी तुच्छ समझते हैं ।।4॥

विदेश जाने से दूषित व्यक्ति का स्वयं की विद्वता आदि के परिचय कराने का पुरुषार्थ (वक्तृत्वकला आदि) व्यर्थ हैं, क्योंकि जिसके द्वारा उसका स्वरूप नहीं ज्ञात है वह महान को भी लघु समझ लेता है । अत्रि का भी यही आशय है:

महानपि विदेशस्थः स परैः परिभूयते ।
अज्ञायमानैस्तद्देशमाहात्म्यं तस्य पूर्वकम् ।।

वही अर्थ है ।।3॥

संसारी प्राणी विषयासक्त रहने से प्रायः व्याधि पीड़ित होने पर ही भगवान का स्मरण करते हैं क्योंकि मृत्यु का भय बुद्धि में आता है । उससे बचने के उद्देश्य से धर्म में प्रीति करते हैं, नीरोगी अवस्था में नहीं । कहा भी है -

"सुख के माथे सिल परो जो प्रभु नाम भुलाय ।
बलिहारी वा दुख की जो पल पल नाम रटाय ।।

शौनिक ने भी लिखा है :-

व्याधिग्रस्तस्य बुद्धिः स्याद्धर्मस्योपरि सर्वतः ।
मयेन धर्मराजस्य न स्वभावात् कथंचन ।।1॥

अर्थ वही है ।।5॥

जो प्राणी अन्य की प्रेरणा के बिना ही धर्म कार्य करने का प्रयत्न करता है । वह धर्मात्मा यथार्थ में निरोगी समझा जाता है । धर्म विमुख-पापी स्वस्थ होने पर भी बीमार माना जाता है ।।6॥ हारीत ने भी कहा है :-

नीरोगः स परिज्ञेयो यः स्वयं धर्मवाञ्छकः ।
व्याधिग्रस्तोऽपि पापात्मा नीरोगोऽपि स रोगवान् ।।1॥

वही अर्थ है ।।

प्राय: पीड़ा-व्याधि से सभी घबराते हैं । परन्तु इससे रोगमुक्त नहीं होता । रोगों की सर्वोत्तम औषधि है धैर्य । जो मनुष्य धैर्यहीन है वह कितनी ही बहुमूल्य औषधियों का सेवन करे तो भी आरोग्य लाभ नहीं पाता । धीर-वीर पुरुष आत्मविश्वास से सरलता से रोगमुक्त हो जाता है । अत: धैर्य परमोत्तम औषधि है ।।7॥ धन्वन्तरि विद्वान स्वयं कहता है:

व्याधिग्रस्तस्य यद्धैर्यं तदेव परमौषधम् ।
नरस्य धैर्यहीनस्य किमौषधशतैरपि ।।1॥

अर्थ वही है ।।

जो मानव अपने जीवन में अपवाद का पात्र नहीं हुआ, वास्तव में उसी का जीवन सफल है । जिसने कभी निंद्य कार्य नहीं किये, - हिंसा असत्य चोरी, कुशील परिग्रह पापों में नहीं फंसा वही बे दाग मानव महान है । वही भाग्यशाली है ।।8॥ गर्ग ने कहा है :-

आजन्म मरणान्तं च वाच्यं यस्य न जायते ।
सुसूक्ष्मं स महाभागो विज्ञेय: क्षितिमण्डले ।।1॥

वही अर्थ है ।।

मूर्खता, भयकाल में कर्त्तव्य, धनुर्धारी व तपस्वी का कर्त्तव्य, कृतघ्नता से हानि, हितकारक वचन, दुर्जन व सज्जन के वचन, लक्ष्मी से विमुख व वंशवृद्धि में असमर्थ :-

पराधीनेष्वर्थेषु स्वोत्कर्षसंभावनं मन्दमतीनाम् ।।9॥ न भयेषु विषाद: प्रतिकार: किन्तु धैर्यवलम्बनम् । ।।10॥ कृते प्रतिकृतकुर्वतो नैहिकफलमस्ति नामुत्रिकं च ।।12॥ शत्रुणापि सूक्तमुक्तं न दूषयितव्यम् ।।13॥ कलह जननमप्रीत्युत्पादनं च दुर्जनानां धर्म: न सज्जनानाम् ।।14॥ श्रीर्नतस्याभिमुखी यो लब्धार्थमात्रेण सन्तुष्ट: ।।15॥ तस्य कुतो वंशवृद्धिर्यो न प्रशमयति वैरानुबन्धम् ।।16॥

अन्वयार्थ :- (पराधीनेषु) दूसरे के (अर्थेषु) प्रयोजनों में (स्वोत्कर्षम्) अपना उत्थान (संभावनम्) मानना (मन्दमतीनाम्) मूर्खों का काम [अस्ति] है ।।9॥ (भयेषु) भय आने पर (विषाद:) दुख (प्रतिकार:) निवारक (न) नहीं (किन्तु) अपितु (धैर्यम्) धीरता (धैर्यावलम्बनम्) धैर्यधारण है ।।10॥ (स:) वह (किम्) क्या (धन्वी) धनुर्धर (य:) जो (रणे) संग्राम में (शरसंधाने) तीर चलाने में (मुह्यति) चूकता है तथा (च) और (स:) किं) वह क्या (तपस्विन:) तपस्वी है (य:) जो (मरणे) समाधि काल में (मन: समाधाने) मन की स्थिरता में (मुह्यति) मुग्ध हो।।11॥ (कृते) उपकारी का (प्रतिकृतम्) प्रत्युपकार (अकुर्वत:) नहीं करने वाले को (ऐहिकफलम्) इस लोक का फल (च) और (न) नहीं (अमुत्रिकम्) परलोक ही का फल होता है ।।12।। (शत्रूणा) शत्रु द्वारा (अपि) भी (सूक्तम्) यथार्थ (उक्तम्) कहा (न) नहीं (दूषयितव्यम्) दूषित करना उचित नहीं ।।13॥ (कलह:) झगड़ा (जननम्) पैदा करना (च) और (अप्रीति:) शत्रुता (उत्पादनम्) उत्पन्न करना (दुर्जनानाम्) दुर्जनों का (धर्म:) काम है (न सज्जनानाम्) सज्जनों का नहीं ।।14॥ (तस्य) उसके (अभिमुख) सम्मुख (श्री) लक्ष्मी (न) नहीं (य:) जो (लब्धार्थ) प्राप्त (मात्रेण) मात्र से (सन्तुष्ट:) सन्तुष्ट हो ।।15॥ (तस्य) उसके (वंशवृद्धि) कुलवृद्धि (य:) जो (वैरानुबन्धम्) वैर को (न) नहीं (प्रशमयति) शान्त करता है ।।16॥

विशेषतार्थ :- जो पुरुष पराई सन्तति, सम्पत्ति की वृद्धि को इष्ट प्रयोजन सिद्धि को स्वयं की इष्ट सिद्धि समझकर सन्तुष्ट होते हैं । आनन्द व्यक्त करते हैं वे मूर्ख हैं ।।9॥ कौशिक ने भी कहा है :

कार्येषु सिद्ध्यमानेषु परस्य वशगेषु च ।
आत्मीयेष्विव तेष्वेव तुष्टिं याति स मन्दधीः ।।1॥

वही अभिप्राय है ।

आपत्तिकाल में आकुल-व्याकुल होना उपकारी नहीं है, अपितु धैर्यधारण करना लाभकारी है । भय के स्थानों में यथोचित धैर्यावलम्बन करना चाहिए ।।10॥ भृगु ने कहा है :

भयस्थाने विषादं यः कुरुते स विनश्यति ।
[तस्य तज्जयदं ज्ञेयं] यच्च धैर्यावलम्बनम् ।।1॥

संशोधित व परिवर्धित है ।

वह धनुर्धारी ही क्या जो संग्राम भूमि में प्रविष्ट हो, धनुष चढ़ाकर भी एकाग्रचित्त हो लक्ष्य भेद में प्रमाद करे-चूक जाये । इसी प्रकार वह तपस्वी भी निंद्य है जो अन्तसमय-समाधिकाल में एकाग्रचित हो आत्मदर्शन, मनन, श्रवण, निदिध्यासन-ध्यान में प्रवृत्त न होकर जीवन, आरोग्य व इन्द्रियविषयजन्य सुख में प्रवृत्त होता है ।।11॥ नारद विद्वान का भी यही कथन है :-

व्यर्था यान्ति शरा यस्य युद्धे स स्यान्न चापधृक् ।
योगिनोऽत्यन्त कालेन स्मृति न च योगवान् ।।1॥

यही आशय है ।।

जो व्यक्ति अपने उपकारी का उपकार नहीं मानता, उसका प्रत्युपकार नहीं करता तथा अपकार करने वाले का प्रतीकार-शोधन नहीं करता वह इस लोक और परलोक में भी अपनी इष्ट सिद्धि नहीं कर सकता । अर्थात् इष्ट फल सिद्ध्यर्थ प्रत्युपकार और अपकारी का विरोध करना चाहिए ।।12॥ हारीत ने भी यही लिखा है :-

कृतेप्रतिकृतं नैव शुभं वा यदि वाशुभम् ।
यः करोति च मूढात्मा तस्य लोकद्वयं न हि ।।1॥

दूरदर्शी, नीतिकुशल पुरुष शत्रु द्वारा कथित भी न्यायसंगत, हितकारी वचनों का तिरस्कार न करे अर्थात् उनकी उपेक्षा नहीं करना चाहिए । अपितु ग्राह्य समझकर स्वीकार करना योग्य है । उन्हें निर्दोष समझकर तदनुसार प्रवृत्ति करे ।।13॥ **'नारद' के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है :-**

शत्रुणापि हि यत् प्रोक्तं सालङ्कारं सुभाषितम् ।
न तद्दोषेण संयोज्यं ग्राह्यं बुद्धिमता सदा ।।1॥

दुर्जन और सज्जनों के वचन क्रमशः विष व अमृत सदृश समझना चाहिए । दुष्टों की वाणी कलह, वैर-

विरोध, व द्वेषोत्पादक होती है जबकि सत्पुरुषों की वचनावली विद्वेष रूपी ज्वाला का शमन करने वाली शीतल जल सदृश होती है । सर्व का कल्याणकारी होती है ।।14॥ भारवि विद्वान ने कहा है :-

खलो वदति तद्येन कलहः संप्रजायते ।
सज्जनो धर्ममाचष्टे तत्छेतव्यं क्रिया तथा ।।1॥

जो प्रमादी-पुरुषार्थहीन प्राप्त लक्ष्मी को लेकर ही सन्तुष्ट हो जाता है लक्ष्मी उससे विमुख हो जाती है । क्योंकि साधारण धन में ही वह निमग्न होकर उसे वृद्धिंगत करने का प्रयत्न ही नहीं करता । अभिप्राय यह है कि न्यायोचित द्रव्यार्जन में प्रयत्नशील रहना चाहिए ।।15॥ भागुरि विद्वान भी कहते हैं :-

अल्पेनापि प्रलब्धेन यो द्रव्येण प्रतुष्यति ।
पराङ्मुखो भवेत्तस्य लक्ष्मानैवात्र संशयः ।।1॥

अर्थ उपर्युक्त ही है ।

जो पुरुष शत्रुओं के द्वारा आक्रमित होने पर उसका प्रतिकार नहीं करता अर्थात् साम, दाम, भेद, दण्ड आदि नीतियों का प्रयोग नहीं करता उसके वंश की वृद्धि किस प्रकार होगी ? अर्थात् शत्रुओं के वैर-विरोध की परम्परा रोकने से ही अपने वंश की वृद्धि होती है ।।16॥ शुक्र विद्वान ने भी शक्तिशाली वंश के ह्रास के विषय में लिखा है :-

सामादिभिरुपायैर्यो वैरं नैव प्रशामयेत् ।
बलवानपि तद्वंशो नाशं याति शनैः शनैः ।।1॥

उत्तम दान, उत्साह से लाभ, सेवक के पापकर्म का फल, दुःख का कारण :-

भीतेष्वभयदानात्परं न दानमस्ति ।।17॥ स्वस्यासम्पत्तौ न चिन्ता किंचित् कांक्षितमर्थं [प्रसुते] दुग्धे किन्तूत्साह।।18॥ स खलु स्वस्यैवापुण्योदयोऽपराधो वा सर्वेषु कल्पफलप्रदोऽपि स्वामी भवत्यात्मनि बन्ध्यः ।।19॥ स सदैव दुःखितो यो मूलधनमसंबर्धयन्नुभवति ।।20॥

अन्वयार्थ :- (भीतेषु) भय से युक्त को (अभय) निर्भय (दानात्) करने से (परम्) अन्य (दानम्) दान (न) नहीं [अस्ति] है ।।17॥ (स्वस्य) अपने (असम्पत्तौ) धनहीन होने पर (चिन्ता) फिक्र (न) नहीं (किञ्चित्) कुछ (कांक्षितम्) इच्छित (अर्थम्) धन [प्रसूते] उत्पन्न करती है या (दुग्धे) देता है (किन्तु) अपितु (उत्साहः) उत्साह ।।18॥ (सः) वह (खलु) निश्चय (स्वस्य) अपना (एव) ही (अपुण्योदयः) पाप का (अपराधः) अपराध (वा) अथवा (सर्वेषु) सम्पूर्ण (फलप्रदः) फल देने वाले (अपि) भी (स्वामी) मालिक (आत्मनि) अपने में (वन्ध्यः) अफल (भवति) होता है ।।19॥ (सः) वह (सदैव) सतत (दुःखितः) दुखी है (यः) जो (मूलधनम्) मूल धन को (असंबर्धयत्) नहीं बढ़ाता (अनुभवति) अनुभव करता है॥20॥

विशेषार्थ :- किसी भी भय से भीत को जो निर्भय करता है वह सबसे बड़ा दानी है । अर्थात् अभयदान

से अधिक अन्य कोई दान नहीं है ।।17॥ क्षुधा, तृषा, शत्रु आदि से भयभीत प्राणी का रक्षण करना सर्वोत्तम दान है ।।17॥ जैमिनि विद्वान ने कहा है :

भयभीतेषु यद्दानं तद्दानं परमं मतम् ।
रक्षात्मकं किमन्यैश्च दानैर्गजरथादिभिः ।।1॥

अर्थात् गज, अश्व रथादि की अपेक्षा अभय दान ही उत्तम दान है ।।1॥

धन नहीं होने पर उसके प्राप्त करने की चिन्ता मनुष्यों द्वारा अभिलषित फल-धनादि देने में समर्थ नहीं होती, किन्तु उत्साहः उद्योग ही इच्छित व प्रभूत धनार्जन में कारण होता है ।।18॥ शुक्र विद्वान ने भी यही आशय प्रकट किया है :

उत्साहिनं सिंह मुपैति लक्ष्मी दैवेन देयमिति का पुरुषावदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ।।1।।

अर्थात् उत्साही पुरूष सिंहसम लक्ष्मी कमाता हैं। 'भाग्य से प्राप्त होगी' इस प्रकार कायर पुरूष कहते हैं। अतः भाग्य की उपेक्षा कर अपनी शक्ति अनुसार पुरूषार्थ करो। यत्न करने पर भी यदि सिद्धि न हो तो इसमें क्या अपराध? कुछ नहीं ॥1॥

यदि कोई स्वामी किसी एक सेवक को छोडकर शेष सभी को कल्पवृक्ष के समान समस्त इच्छित पदार्थों को प्रदान करता है तो इसमें उस सेवक के ही पापकर्म का उदय समझना चाहिए। अथवा वह अपराधी है जिससे कि स्वामी रूष्ट है॥19॥

भागुरि ने भी यही कहा है—

यत्प्रयच्छति न स्वामी सेवितोऽप्यल्पकं फलम्।
कल्पवृक्षोपमऽन्येषां तत्फलं पूर्वकर्मणः॥1॥

जो पुरुष अपने मूलधन-पैतृक धन को अथवा स्व अर्जित सम्पत्ति को व्यापारादि द्वारा नहीं बढ़ाता अपितु व्यय-खर्च ही करता रहता है, वह निश्चित दुःखी होता है ।। अर्थात् भविष्य में दारिद्र्य का भयंकर कष्ट उठाना पड़ता है । इसलिए विवेकी पुरुष को निरन्तर अपनी आय के अन्तर्गत ही व्यय-खर्च करना चाहिए ।। गौतम ने कहा है :-

न वृद्धिं यो नयेद्वित्तं पितृ पैतामहं कुधीः ।
केवलं भक्षयत्येव स सदा दुःखितो भवेत् ।।1॥

अर्थ विशेष नहीं है ।।20॥

कुसंग का त्याग, क्षणिकचित्त वाले का प्रेम, उतावले का पराक्रम व शत्रु निग्रह का उपाय :

मूर्खदुर्जन चाण्डालपतितैःसह सङ्गतिं न कुर्यात् ।।21॥ किं तेन यस्य हरिद्रारागइव चित्तानुरागः । ।22॥ स्वात्मानम विज्ञाय पराक्रमः कस्य न परिभवं करोति ।।23॥ नाक्रान्तिः पराभियोगस्योत्तरं किन्तु युक्तेरुपन्यासः ।।24॥ राज्ञोऽस्थाने कुपितस्य कुतः परिजनः ।।25॥

अन्वयार्थ :- मूढ़, दुष्ट, मातङ्ग, एवं नीचों की संगति नहीं करना ।

विशेषार्थ :- सत्पुरुषों को मूर्ख-अज्ञानी, दुर्जन, दुष्ट, चाण्डाल-मातङ्ग एवं नीच-कुल जाति च्युत व विधर्मीजनों के साथ नहीं रहना चाहिए ।। कहा भी है :-

मूर्खं दुर्जन चाण्डालैः संगतिं कुरुतेऽत्र यः ।
स्वप्नेऽपि न सुखं तस्य कथंचिदपि जायते ।।1॥

अन्वयार्थ :- (किम्) क्या (तेन) उससे (यस्य) जिसका (चित्तः) मन (हरिद्रा) हल्दी के (रागः) रंग समान (इव) समान (अनुरागः) प्रेमयुत है - क्षणिक है ? ।।22॥

विशेषता :- जिस पुरुष का चित्त हल्दी के रंग समान क्षणिक प्रेम से पगा हो उससे क्या लाभ ? कुछ भी लाभ नहीं है । जैमिनि विद्वान ने भी कहा है :-

आजन्म मरणान्ते यः स्नेहः स स्नेहउच्यते ।
साधूनां यः खलानां च हरिद्रारागसन्निभः ।।1॥

अर्थ :- जन्म से लेकर मरणपर्यन्त समान रूप से रहने वाला स्नेह वास्तविक प्रेम है । साधुओं और दुर्जनों का स्नेह हल्दी के रंग की भाँति क्षणिक होता है । साधु वीतरागता के पोषक होते हैं परन्तु दुर्जन स्वार्थ का पोषक होता है। यह विशेष अन्तर है ।।1 ।।22॥

अन्वयार्थ :- (स्व) अपनी (आत्मानम्) आत्मशक्ति (अविज्ञाय) बिना जाने (पराक्रमः) पराक्रम (कस्य) किसके (परिभवम्) तिरस्कार को (न) नहीं (करोति) करता है ।।23॥ (पराभियोगस्य) शत्रु का (उत्तरम्) पराक्रम उत्तर मात्र से (न) नहीं (आक्रान्तिः) परास्त हो (किन्तु) अपितु (युक्तेः) युक्ति द्वारा (उपन्यासः) दूर हो ।।24॥ (राज्ञः) राजा का (अस्थाने) अकारण (कुपितस्य) कोप के (कुतः) कहाँ (परिजनः) परिवार रहें ? ।।25॥

विशेषार्थ :- स्वयं की शक्ति का विचार किये बिना ही आक्रमण करने वाले का पराभव क्यों नहीं होगा? किसका नहीं होगा ? सभी का होता है ।।23॥ वल्लभदेव विद्वान ने भी कहा है :-

यः परं केवलो याति प्रोन्नतं मदमाश्रितः ।
विमदः स निवर्तेत शीर्णदन्तो गजो यथा ।।1॥

अर्थात् अपने से अधिक बलवान का सामना करने को जो अहंकारवश जाता है वह टूटे दांत वाले गज समान परास्त होकर ही लौटता है ।।1॥

शत्रु पर आक्रमण करने मात्र से वह परास्त नहीं होता, अपितु युक्तियों-साम,दाम,भेद और दण्ड आदि युक्तियों के द्वारा पराजित किया जाता है ।।24॥ गर्ग ने भी कहा है :-

नाक्रान्त्य गृह्यते शत्रुर्यद्यपि स्यात् सुदुर्लभः ।
युक्ति द्वारेण संग्राह्यो यद्यपि स्याद्बलोत्कटः ।।1॥

अर्थात् बलवान भी शत्रु युक्तियों द्वारा वश किया जाता है मात्र आक्रमण करने से नहीं । राजनीति के अनुसार शत्रु वश करना योग्य है ।।1॥

निष्कारण कोपानल में भभकते राजा के समक्ष सेवकादि क्षणभर भी स्थिर नहीं रह सकते । अतः अपने सेवकों के साथ स्वामी को प्रेम का बर्ताव करना चाहिए ।।25॥ कहा भी है :-

काकः काको धन हरे, कोयल काको देय ।
मीठी वाणी बोलकर जग अपनो कर लेय ।।

रुदन व शोक से हानि, निंद्यपुरुष, स्वर्ग च्युत का प्रतीक, जीवित पुरुष :

न मृतेषु रोदितव्यमश्रुपातसमा हि किल पतन्ति तेषां हृदयेष्वङ्गाराः ।।26॥ अतीते च वस्तुनि शोकः श्रेयानेव यद्यस्ति तत्समागमः ।।27॥ शोकमात्मनि चिरमनुवासयंस्त्रिवर्गमनुशोषयति ।।28॥ सकिं पुरुषो योऽकिंचनः सन् करोति विषयाभिलाषम् ।।29॥ अपूर्वेषु प्रियपूर्वं सम्भाषणं स्वर्गच्युतानां लिङ्गम् ।।30॥ न ते मृता येषामिहास्ति शाश्वती कीर्तिः ।।31॥

अन्वयार्थ :- (मृतेषु) मरने पर (न) नहीं (रोदितव्यम्) रोना चाहिए (हि) निश्चय से (अश्रुपात) आंसुओं के (समा) समान (तेषाम्) मृतकों के, उनके (हृदयेषु) हृदयों पर (किल) निश्चय ही (अङ्गाराः) अंगार (पतन्ति) गिरते हैं ।।26॥ (अतीते) व्यतीत होने पर (वस्तुनि) वस्तु के लिए (शोकः) शोच करना (श्रेयान्) कल्याण कर है (एव) ही (च) और (यदि) अगर (अस्ति) है तो (तत्समागमः) संगम (श्रेयान्) कल्याणकारी (अस्ति) है (एव) ही ।।27॥ (आत्मनि) चित्त में (शोकम्) शोक (चिरम्) बहुत समय (अनुवासयन्) रहने पर (त्रिवर्गम्) धर्म, अर्थ, काम (अनुशोषयति) नष्ट करता है ।।28॥ (सः) वह (किम्) क्या (पुरुषः) पुरुष है (यः) जो (अकिंचनः) निर्धन (अपि) भी (विषयाभिलाषम्) विषयों की इच्छा (करोति) करता है ।।29॥ (अपूर्वेषु) अपरिचितों में (प्रियपूर्वम्) प्रीतिपूर्वक (सम्भाषणम्) बोलना (स्वर्गच्युतानाम्) स्वर्ग से आये हुओं का (लिङ्गम्) चिन्ह [अस्ति] है ।।30॥ (ते) वे (मृताः) मरे (न) नहीं (येषाम्) जिनकी (इह) इस लोक में (शाश्वती) चिर (कीर्तिः) यश (अस्ति) है ।।31॥

विशेषार्थ :- बन्धु-बांधवों का कर्त्तव्य है कि अपने कुटुम्बी का स्वर्गवास होने पर रुदन करना त्याग, प्रथम उनका शरीर संस्कार दहन क्रिया करें । जो लोग रोते हैं, वे उनके अग्नि संस्कार में विलम्ब करने वाले होते हैं। इससे उन्हें कष्ट होता है । रुदनकरने वालों के अश्रु मृतक की हृदय भूमि पर अङ्गारों के समान गिरकर उन्हें दाह उत्पन्न करते हैं ।।26॥ गर्ग ने भी कहा है :-

श्लेष्मास्तु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतोभुङ्क्ते यतोयशः ।
तस्मान्न रोदितव्यं स्यात् क्रिया कार्या प्रयत्नतः ।।1॥

किसी प्रिय सम्बन्धी के मरने पर और अन्य किसी इष्ट वस्तु का वियोग होने पर या खो जाने पर यदि वह जीवित हो जाये अथवा मिल जाये तो उसके लिए शोक करना तथा रोना सार्थक है अन्यथा व्यर्थ है ।। भारद्वाज ने भी शोक को शरीर शोषक कहा है :

मृतं वा यदि वा नष्टं यदि शोकेन लभ्यते ।
तत्कार्येणान्यथा कार्यः केवलं कायशोषकृत् ।।1।।27॥

जो व्यक्ति इष्ट वियोग अनिष्ट संयोगों में पडकर चिरकाल तक शोकाग्नि से सन्तप्त रहता है, वह अपने धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों को नष्ट कर देता है ।। अतएव इष्ट वियोग में कभी भी सत्पुरुषों को शोक नहीं करना चाहिए।।28॥ कौशिक ने भी कहा है :-

यः शोकं धारयेद् देहे त्रिवर्गं नाशयेद्धि सः ।
क्रियमाणं चिरं कालं तस्मात्तं दूरतस्त्ययजेत् ।।1॥

अर्थ वही है ।।

इन्द्रिय जन्य भोगों का साधन धन है । श्रीमन्त भोगाकाञ्छा करें तो करें । परन्तु जो निर्धन दरिद्री है, वह भी इन्द्रियजन्य सुखों की कामना करे तो वह निंद्य है-पशु तुल्य है ।। नारद विद्वान ने भी कहा है।।29।।

दरिद्रो यो भवेन्मर्त्यो हीनो विषय सेवने ।
तस्य जन्म भवेद् व्यर्थं प्राहेदं नारदः स्वयम् ।।1॥

जो पुरुष का कभी परिचित नहीं है । अचानक मिलने पर अत्यन्त प्रीति से वार्तालाप करे । अपनत्व प्रदर्शित करे, शान्त्वना दर्शाये तो समझना चाहिए कि वह स्वर्ग से आया हुआ है । प्रेमालाप, सरल स्नेह ज्ञापन स्वर्ग च्युत मानव के चिन्ह हैं ।।30॥ गुरु विद्वान ने भी मधुरभाषियों को देवता घोषित किया है :-

अपूर्वमपि यो दृष्ट्वा संभाषयति वल्गु च ।
स ज्ञेयः पुरुषस्तज्ज्ञै र्यतोऽसावागतो दिवः ।।1॥

शरीर मरता है विचार नहीं मरते । शरीरधारी स्वर्गस्थ होता है उसका यश नहीं । जिन मनीषियों की कीर्तिलता दिशाम्बर में फैली होती है उनके परोपकारादिगुण उसे चिर बहार प्रदान करते हैं । अतः वे मरण वरण करके भी जीवित हैं ऐसा समझना चाहिए ।।31॥ नारद विद्वान ने भी कहा है :-

मृता अपि परिज्ञेया जीवन्तस्तेऽत्र भूतले ।
येषां सन्दिश्यते कीर्तिस्तडागाकर पूर्विका ।।1॥

पृथ्वीतल का भार रूप, सुख प्राप्ति का उपाय, (परोपकार) शरणागत के प्रति कर्त्तव्य व स्वार्थ-युक्त परोपकार का दुष्परिणाम :-

स केवलं भूभाराय जातो येन न यशोभिर्धवलितानि भुवनानि ।।32॥ परोपकारो योगिनां महान् भवति श्रेयोबन्ध इति ।।33॥ का नाम शरणागतानां परीक्षा ।।34॥ अभिभवनमंत्रेण परोपकारो महापातकिनां न महासत्वानाम् ।।35॥

अन्वयार्थ :- (येन) जिसके (यशोभि:) यश के द्वारा (भुवनानि) तीनों लोक (न) नहीं (धवलितानि) शुभ्र होती (स:) वह (केवलम्) मात्र (भूभाराय) पृथ्वी के भार के लिए है ।।32॥ (योगिनाम्) योगियों के (परोपकार:) दूसरे का उपकार (महान्) बहुत बड़ा (श्रेयोबन्ध:) कल्याण का हेतू (इति) होता है ।।33॥ (शरणागतानाम्) रक्षार्थ आये की (का नाम) क्या (परीक्षा) परीक्षा ? ।।34॥ (अभिभवन) स्वार्थवश (मन्त्रेण) मंत्र से (परोपकार:) परउपकार (महापातकिनाम्) महापापियों का काम है (महासत्त्वानाम्) महा पुरुषों का (न) नहीं है ।।35॥

जो मनुष्य संसार में जन्म धारण कर श्रेष्ठ कार्य नहीं करता । उत्तम कर्मों से स्थायी यश प्राप्त नहीं करता तथा अपनी कीर्ति चन्द्रिका से भूमण्डल को धवलित नहीं बनाता वह भूपर भार मात्र ही समझना चाहिए ।।32॥ गौतम ने भी कहा है:

भुवनानि यशोभिर्नो यस्य शुक्लीकृतानि च ।
भूमिभाराय संजातः स पुमानिह केवलम् ।।1॥

उपर्युक्त अर्थ समझना ।।

संसार में यशस्वी, शिष्ट, दयालु महानुभावों द्वारा किया गया उपकार उनके महाकल्याण का समर्थ कारण होता है ।।33॥ जैमिनि ने भी यही अभिप्राय प्रकट किया है :-

उपकारो भवेद्योऽत्र पुरुषाणां महात्मनाम् ।
कल्याणाय प्रभूताय स तेषां जायते ध्रुवम् ।।1॥

जो अर्थी या दु:खी व्यक्ति अपनी रक्षा की भावना से शरण में आया है उसकी परीक्षा जांच पड़ताल करना, उसकी सज्जनतादि के विषय में ऊहा-पोह करना व्यर्थ है । अभिप्राय यह है कि उसकी जानकारी के प्रपञ्च में न पड़ कर यथायोग्य सेवा-सहायता करनी चाहिए ।।34॥

जो पुरुष अपनी स्वार्थ सिद्धि के अभिप्राय रूप मन्त्र द्वारा दूसरों का उपकार भलाई करते हैं वे महापापी-नीच हैं, महापुरुष नहीं कहला सकते ।।35॥ शुक्र ने भी स्वार्थियों की कड़ी आलोचना की है :-

महापातक युक्ताः स्युस्ते निर्यान्ति वरं वलात् ।
अभिभवनमन्त्रेण न सद्गाढं कथंचन ।।1॥

गुणगान शून्य नरेश, कुटुम्ब संरक्षण, परस्त्री समान पर द्रव्य रक्षण का दुष्परिणाम, अनुरक्त सेवक के प्रति

स्वामी का कर्त्तव्य, त्याज्य सेवक, उचित दण्ड :-

तस्य भूपतेः कुतोऽभ्युदयोजयो वा यस्य द्विषत्सभासु नास्ति गुणग्रहण प्रागल्भ्यम् ।।36॥ तस्य गृहे कुटुम्बं धरणीयं यत्र न भवति परेषामिषम् ।।37॥ परस्त्री द्रव्यरक्षणेन नात्मनः किमपि फलं विप्लवेन महाननर्थसम्बन्धः ।।38॥ आत्मानुरक्तं कथमपि न त्यजेत् यद्यस्ति तदन्ते तस्य सन्तोषः ।।39॥ आत्मसंभावितः परेषां भृत्यानामसहमानश्च भृत्यो हि बहुपरिजनमपि करोत्येकाकिनं स्वामिनम् ।।40॥ अपराधानुरूपो दण्डः पुत्रेऽपि प्रणेतव्यः ।।41॥ देशानुरूपो करो ग्राह्यः ।।42॥

अन्वयार्थ :- (तस्य) उस (भूपतेः) राजा का (अभ्युदयः) उत्थान (वा) अथवा (जयः) विजय (कुतः) कहाँ / (यस्य) जिसका (द्विषत्सभासु) शत्रुसभा में (गुणग्रहण) गुण मान्यता (प्रागलभ्यम्) प्रकर्षता (न) नहीं (अस्ति) है ।।36॥ (तस्य) उसके (गृहे) घर में (कुटुम्बम्) परिवार को (धरणीयम्) रखना चाहिए (यत्र) जहाँ (परेषाम्) दूसरों से (इषम्) नष्ट (न) नहीं (भवति) होता है ।।37॥ (परस्त्री द्रव्यरक्षणेन) दूसरों के कलत्र व धनरक्षण से (आत्मनः) आत्मा का (किम्) कुछ (अपि) भी (फलम्) फल (न) नहीं (विप्लवेन) हरण या नाश से (महान्) बहुत (अनर्थसम्बन्धः) अनर्थ हो।।38॥ (आत्मानुरक्तम्) अपने प्रिय को (कथम्) किसी (अपि) भी प्रकार (न) नहीं (त्यजेत्) त्यागे (यदि) अगर (तदन्ते) उसके अन्त में (तस्य) उसके (सन्तोषः) सन्तोष (अस्ति) है ।।39॥ (आत्मसंभावितः) स्वाभिमानी (परेषाम्) दूसरे (भृत्यानाम्) सेवकों को (असहमानः) नहीं सहता (च) और (भृत्यः) घमंडी सेवक (हि) निश्चय से (बहुपरिजनम्) बहुतों से (अपि) भी (स्वामिनम्) राजा को (एकाकिनम्) अकेला (करोति) करता है ।।40॥ (अपराधानुरूपः) दोषानुसार दण्ड (पुत्रे) पुत्र में (अपि) भी (प्रणेतव्यः) प्रयुक्त करना चाहिए ।।41॥ (देशानुरूपः) देश के अनुसार (करः) टैक्स (ग्राह्यः) ग्रहण करे ।।42॥

विशेषार्थ :- जिस नृपति का शत्रुसभा में विशेष रूप से गुणानुवाद नहीं होता अर्थात् शत्रु जिसका गौरव गान नहीं करता उस पृथिवीपति का उत्थान व विजय किस प्रकार हो सकती है ? नहीं हो सकती । अतः विजिगीषु को शूरवीरता व नीतिमत्ता, राजशास्त्रज्ञानी सद्गुणों से अलंकृत होना चाहिए ।।36॥ शुक्र ने भी यही कहा है :-

कथं स्याद्विजयस्तस्य तथैवाभ्युदयः पुनः ।
भूपतेर्यस्य नो कीर्तिः कीर्त्यतेऽरि सभासु च ।।1॥

वही अर्थ है ।

विवेकी पुरुष को अपना परिवार ऐसे श्रेष्ठ घर में रखना चाहिए जहाँ पर शत्रुकृत उपद्रवों से सुरक्षित रह सकें। अर्थात् शत्रुओं से अगम्य घर में रखना चाहिए ।।37॥ जैमिनी ने भी कहा है :-

नामिषं मन्दिरे यस्य विप्लवं वा प्रपद्यते ।
कुटुम्बं धारतेत्तत्र य इच्छेच्छ्रेयमात्मनः ।।1॥

पराई नारी और पर धन का संरक्षण करने से कोई लाभ नहीं है । क्योंकि उसके परिणाम भयङ्कर हो सकते हैं अर्थात् कदाच दुर्भाग्यवश किसी शत्रु द्वारा उनका अपहरण हो जाय या नष्ट हो जावे तो विपरीत परिणाम होगा क्योंकि उसका-उनका स्वामी वैर विरोध करने लगता है ।।38॥ अत्रि विद्वान ने लिखा है :-

परार्थं परनारीं च रक्षार्थं योऽत्रगृह्णाति ।
विप्लवं याति चेद्वित्तं तत्फलं वैरसंभवम् ।।1।।

कहावत है पराई वस्तु और परनारी की रक्षा मित्रता अपेक्षा वैर का कारण है ।।

जो सेवक स्वामी के प्रति अनुरक्त है - श्रद्धालु है और सन्तुष्ट रहता है, उसे स्वामी को अपनी दरिद्रावस्था होने पर भी नहीं छोड़ना चाहिए ।।39।। गुरु विद्वान ने भी लिखा है :-

अभियुक्तजनं यच्चा न त्याज्यं तद्विवेकिना ।
पोषणीयं प्रयत्नेन यदि तस्य शुभार्थता ।।1।।

विवेकी स्वामी को अपने प्रति अनुरक्त व सन्तुष्ट भृत्य को प्रयत्नपूर्वक पोषण करना चाहिए ।।

अहंकारी सेवक ईर्ष्यावश अन्य सेवकों का उत्कर्ष सहन नहीं करता । उन्हें सताता है । फलतः वे सेवक मालिक को छोड़ देते हैं । इस प्रकार वह घमंडी सेवक सबको भगाकर राजा को अकेला ही कर देता है । अभिप्राय यह है कि अहंकारी सेवक को कभी भी नहीं रखना चाहिए ।।40।। राजपुत्र ने भी कहा है :-

प्रसादाढ्यो भवेद् भृत्यः स्वामिनो यस्य दुष्टधीः ।
स त्यज्यतेऽन्य भृत्यैश्च शुष्को वृक्षोंऽडजैर्यथा ।।

जिसके दुष्टबुद्धि सेवक हो तो अन्य सेवक उसी प्रकार छोड़ देते हैं जैसे शुष्क वृक्ष को पक्षी छोड़ देते हैं ।।

जिस प्रकार का अपराध हो उसी प्रकार का दण्ड होना अनिवार्य है । अपना पुत्र भी क्यों न हों । पुत्र को यथायोग्य सजा देने वाला प्रजा को क्यों नहीं योग्य न्याय संगत दण्डविधान करेगा ? अवश्य ही करेगा । न्यायसंगत ही है ।।41।। शुक्र ने कहा है :

अपराधानुरूपोऽत्र दण्डः कार्यो महीभुजा ।
पुत्रस्यापि किमन्येषां ये स्युः पाप परायणाः ।।1।।

राजा अपने देशानुसार प्रजा से कर वसूल करे । जहाँ जब जिस प्रकार वर्षादि हो और फसल हो तदनुसार ही टैक्स लेना न्याय संगत है । अन्यथा फसल न होने पर प्रजा अधिक टैक्स (कर) से पीडित होकर राज विरुद्ध हो राजा के साथ विद्रोह करेगी । अतः राज्य में अमन-चैन बनाये रखने को उचित कर लेना राजा का परम कर्त्तव्य है ।।42।।

वक्ता के वचन, वय, वेष-भूषा, त्याग, कार्यारम्भ, सुख, अधम पुरुष :

प्रतिपाद्यानुरूपं वचनमुदाहर्त्तव्यम् ।।43।। आयानुरूपो व्ययः कार्यः ।।44।। ऐश्वर्यानुरूपो विलासो विधातव्यः ।।45।। धनश्रद्धानरूपस्त्यागोऽनुसर्तव्यः ।।46।। सहायानुरूपं कर्म आरब्धव्यम् ।।47।। स पुमान् सुखी यस्यास्ति सन्तोषः ।।48।। रजस्वलाभिगामी चाण्डालादपि अधमः ।।49।।

अन्वयार्थ :- (प्रतिपाद्यानुरूपम्) उपदेश के विषय अनुसार (वचनम्) वाणी (उदाहर्तव्यम्) बोलना चाहिए ।143॥ (आयानुरूपः) आमदनी के अनुसार (व्ययः) खर्च (कार्यः) करे ।144॥ (ऐश्वर्यः) वैभव (अनुरूपः) अनुकूल (विलासः) सज्जा (विधातव्यः) करे ।145॥ (धन,श्रद्धान रूपः) धन श्रद्धानुसार (त्यागः) त्याग का (अनुसर्तव्यः) अनुसरण करे ।146॥ (सहायानुरूपम्) सहायक अनुसार (कर्म) कार्य (आरब्धव्यम्) प्रारम्भ करे ।147॥ (सः) वह (पुमान्) मनुष्य (सुखी) सुखी (यस्य) जिसके (सन्तोषः) सन्तोष (अस्ति) है ।148॥ (रजस्वलाभिगामी) रजस्वला सेवी (चाण्डालात्) भंगी से (अपि) भी (अधमः) नीच है ।149॥

विशेषार्थ :- वक्ता का कर्त्तव्य है कि वह श्रोता के अनुकूल वचन कहे ।143॥ अपनी आमदनी के अनुसार व्यय-खर्च करना योग्य है, क्योंकि बिना सोचे-विचारे खर्च करने वाला कुबेर के समान भी दरिद्री-निर्धन हो जाता है ।144॥ अपने धन-वैभव के अनुकूल वेष-भूषा श्रृंगार, सज्जादि करना चाहिए ।145॥ धन और श्रद्धानुसार, पात्रदान करने से आर्थिक कष्ट नहीं होता । शक्ति के अनुसार ही दानादि करना चाहिए ।146॥ अपने सहयोगियों के अनुसार कार्य का प्रारम्भ करना चाहिए ।147॥ संसार में सुख का मूल सन्तोष है । कहा है "सन्तोषी सदा सुखी" । कारण कि तीन लोक की सम्पदा मिलने पर भी तृष्णा शान्त नहीं होती, उसके त्याग से ही सुख प्राप्त होता है ।148॥

रजस्वला समय में स्त्री का भोग-सेवन करने वाला पुरुष चाण्डाल से भी अधिक नीच है । पशु समान है।149॥

मर्यादापालन, दुराचार से हानि, सदाचार से लाभ, संदिग्ध, उत्तमभोज्य रसायन, पापियों की वृत्ति, पराधीन भोजन, निवास योग्य देश :

सलज्जं निर्लज्जं न कुर्यात् ।150॥ स पुमान् पटावृतोऽपि नग्न एव यस्य नास्ति सच्चारित्रमावरणम्।151॥ स नग्नोऽप्यनग्न एव यो भूषितः सच्चरित्रेण ।152॥ सर्वत्र संशयानेषु नास्ति कार्यसिद्धिः ।153॥ न क्षीर घृताभ्यामन्यत् परं रसायनमस्ति ।154॥ परोपघातेन वृत्तिनिर्भाग्यानाम् ।155॥ वरमुपवासो, न पुनः पराधीनं भोजनम् ।156॥ स देशोऽनुसर्तव्यो यत्र नास्ति वर्णसङ्करः ।157॥

विशेषार्थ :- लज्जाशील पुरुष को निर्लज्ज बनाना दुर्जनता है । अर्थात् नीतिवान पुरुष को शर्मयुक्त मानव को बेशर्म नहीं बनाना चाहिए । सारांश यह है कि कुसंस्कार वश नीति-विरुद्ध प्रवृत्ति करने वाला पुरुष लज्जावश अपने हितैषियों के मध्य उनके भय से अवैध व अनर्थ रूप कार्य को नहीं करता । यदि कोई उसके अयोग्य कार्य को देखकर उसे निर्लज्ज बनाने की चेष्टा करे तो फिर वह भी बेशर्म हो जाता है और अनर्गल प्रवृत्ति करने से नहीं चूकता है ।150॥

जिस पुरुष के पास सच्चारित्र-सदाचार रूपी आवरण वस्त्र नहीं है वह सुन्दर बहूमूल्य वस्त्रों को धारण किये हुए भी नग्न है । अतः मानव का सदाचार व शिष्टाचार ही वस्त्र है ।151॥ सदाचार शिष्ट पुरुष नग्न होने पर भी नग्न नहीं गिने जाते । क्योंकि लज्जा, शील, सद्वृत, सदाचार ही उसके सुन्दर यथार्थ वस्त्र हैं ।। अतः लोकप्रिय होने के लिए पुरुष को सदाचारी शिष्ट होना चाहिए ।। अपने आचरण के विशुद्ध रखने का प्रयत्न करना चाहिए ।152॥ जो व्यक्ति हर समय प्रत्येक व्यक्ति व कार्य के प्रति शंकालु रहता है उसके कार्य की सिद्धि ही नहीं होती ।। क्योंकि ऊहा-पोह के झूले में ही रहता है ।153॥ आयु और शक्ति को वर्द्धन करने वाली वस्तु दूध व घृत को छोडकर अन्य कोई नहीं है । वस्तुतः घृत-दुग्ध सर्वोत्तम उत्तम रसायन सतत सेवनीय है ।154॥

अन्य प्राणियों को पीड़ित कर जीविकोपार्जन करना पाप है । पर पीड़ा देने वाला पापी है । अतः अपने

जीवन निर्वाह के लिए न्यायनीति से ही धनार्जन करना चाहिए । शिष्टजन सावद्य कार्यों से बचने का प्रयत्न करते हैं ।।55।। पराश्रित भोजन की अपेक्षा उपवास करना श्रेयस्कर है ।। क्योंकि दूसरे के आश्रित भोजन अनिश्चित और अनियमित होता है ।। अतः विशेष कष्टदायक होता है ।। स्वाधीनता मानव का गौरव है इसलिए सदास्वाधीन रहना चाहिए ।।56।। निवास स्थान वहाँ करना चाहिए जहाँ की समाज वर्णसंकर न हो ।।57।।

जन्मान्ध, ब्राह्मण, निस्पृह, दुःखकारण, उच्चपदप्राप्ति और सच्चा आभरण :

स जात्यन्धो यः परलोकं न पश्यति ।।58।। व्रतं विद्या सत्यमानृशंस्यमलौल्यता च ब्राह्मण्यं न पुनर्जातिमात्रम्।।59।। निस्पृहाणां का नाम परापेक्षा ।।60।। कं पुरुषमाशान क्लेशयति ।।61।। संयमी गृहाश्रमी व यस्याविद्या तृष्णाभ्यामनुपहतं चेतः ।।62।। शीतमलङ्कारः पुरुषाणां न देह खेदावहो बहिराकल्पः ।।63।।

अन्वयार्थ :- (सः) वह (जातिः) जन्म (अन्धः) अन्धा है (यः) जो (परलोकम्) परलोक को (न) नहीं (पश्यति) देखता है ।।58।। (व्रतम्) पाँचव्रत (विद्या) ज्ञान (सत्यम्) सत्यभाषण (अन्हशंस्यं) अहिंसा (अलौल्यता) लोभत्याग (च) और (सन्तोषः) सन्तोषादि (ब्राह्मण्यम्) द्विजत्व (न पुनः) न कि (जातिमात्रम्) ब्राह्मण कुल में जन्म मात्र ? ।।59।। (निस्पृहाणाम्) निर्वाञ्छ को (का नाम) क्या (परापेक्षा) पर की अपेक्षा है ? ।।60।। (आशा) आकांक्षा (काम्) किस (पुरुषम्) पुरुष को (क्लेशयति) क्लेश (न) नहीं देती ? ।।61।। (संयमी) साधु (वा) अथवा (गृहाश्रमी) गृहस्थ वही महान है (यस्य) जिसका (चेतः) चित्त (अविद्या) अज्ञान (तृष्णाभ्याम्) तृष्णा के द्वारा (अनुपहतम्) पीड़ित नहीं है ।।62।।

विशेषार्थ :- जिस व्यक्ति को परलोक सुधारने की चिन्ता या अभिप्राय नहीं होता है वह जन्मान्ध ही है ।।58।। ब्राह्मण कुल में जन्म लेने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता, अपितु, व्रत-अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, विद्या-ज्ञानाभ्यास, सत्यभाषण, क्रूरता त्याग, लोलुपता परिहार से ब्राह्मणत्व सिद्ध होता है, जातिमात्र से नहीं ।।59।। जिसे धनादि के प्रति लालसा नहीं होती वह परापेक्षी नहीं होता अर्थात् पराधीनता उसे मान्य नहीं होती ।।60।। भगवज्जिनसेनाचार्य जी भी कहते हैं :

तपः श्रुतं जातिश्च त्रयं ब्राह्मण कारणम् ।
तपः श्रुताभ्यां यो हीनो जाति ब्राह्मण एव सः ।।1।।

आदिपुराण ।।

अर्थात् - तप, श्रुत-ज्ञान, ब्राह्मण कुल में जन्मधारण करने वालों को सच्चा ब्राह्मण और इसके विपरीत को मात्र जातिब्राह्मण कहा है ।। तृष्णा के विषय में कहा है :-

जो दस बीस पचास हुए शत लक्ष करोर की चाह जगेगी ।
अरब खरब लों द्रव्य भयो तो धरापति होने की चाह जगेगी ।।

उदय अस्त तक राज्य भयो पर तृष्णा और ही और बढ़ेगी ।
सुन्दर एक सन्तोष बिना नर तेरी तो भूख कभी न मिटेगी ।।1।।60।।

का आशय

आशा पिशाची है । संसार का कौन पुरुष है जो इससे ग्रसित न हो । अर्थात् प्रत्येक पुरुष आशा द्वारा पीड़ित

होता ही है । अतः सुखी होना है तो आशा का त्याग करो ।161॥ सच्चा, बुद्धिमान व विवेकी वही सन्त-साधु-संयमी अथवा गृहस्थ है जो अविद्या और तृष्णा से अपने चित्त-मन को अलिप्त रखता है ।162॥ शील-नैतिकाचार ही पुरुषों का अलङ्कार (आभूषण हैं) न कि ऊपर से लादे गये कङ्कण कडे, केयूर मुकुटादि । ये तो शरीर को कष्ट देने वाले हैं । अतः ये वास्तविक आभरण नहीं हो सकते हैं ।163॥ भर्तृहरि ने भी यही कहा है - ।163॥

श्रोतं श्रुतेनैव न कुण्डलेन, दानेन पाणि र्न तु कङ्कणेन ।
विभाति कायः करुणाकुलानां, परोपकारेण न तु चन्दनेन ।।1॥

अर्थ :- कर्णाभरण शास्त्रश्रवण है न कि कुण्डल । तीन प्रकार के पात्रों को चतुर्विध दान देना हाथों की शोभा है कङ्कणादि आभरणों से शोभा नहीं होती । शरीर की सुन्दरता करुणाभाव है, परोपकार है न कि चन्दनलेपादि ।। अतः बाह्य साधनों के अतिरिक्त तत्वपरिज्ञान, दान व परोपकारादि से जीवन को अलंकृत करना चाहिए ।163।।

भूपति किसका मित्र होता है ? किसी का भी नहीं । क्योंकि अपराध करने पर वह किसी भी अपराधी को दण्ड दिये बिना नहीं छोड़ता ।164॥

सत्पुरुषों को दुर्जन के साथ भी सद्व्यवहार करना चाहिए । दुष्ट के प्रति यही व्यवहार कार्यकारी होता है, अन्य नहीं । क्योंकि सज्जन की सज्जनता के व्यवहार से प्रभावित होकर वह अपनी दुर्जनता का परित्याग कर सकता है ।165॥ कारण यदि याचक-भिक्षुक को कुछ देने में असमर्थता है तो उसे मधुरवाणी से तृप्तकर देना चाहिए। कटु व अभद्रवचन व्यवहार कभी भी नहीं करना चाहिए । क्योंकि दुर्व्यवहार करने से दाता का यश और सम्मान नष्ट होता है और याचक को भी कष्टानुभव होगा । दाता की प्रतिष्ठा मर्यादा के साथ भिक्षुक की भी मानहानि होगी । फलतः वह उसका अनिष्ट चिन्तवन करने लगेगा । अतः सद्व्यवहार ही सन्मार्ग है ।166॥ वह स्वामी मरुभूमि के समान है जिसके समीप जाकर याचक पूर्णमनोरथ नहीं होते ।। इच्छित वस्तु न पाने से वे उसका जीवन व्यर्थ ही समझते हैं ।167॥ राजा का सबसे बडा यज्ञ प्रजा की रक्षा करना है । प्राणियों की बलि चढाना यज्ञ कदाऽपि नहीं हो सकता है । अतः यक्ष इच्छुक राजा को प्रजा का कल्याण करना चाहिए ।168॥ राजा का कर्त्तव्य है कि वह अपनी विशाल सेना और योग्य तीरन्दाज सुभटो का उपयोग प्रजा व राज्य की रक्षा में लगावे, शरणागतों की कामनापूर्ति में करना चाहिए । निरपराध प्राणियों के सताने में नहीं । अतः न्यायोचित कार्य करे ।169॥

।। इति सदाचार-समुद्देश ।।26॥

परम् पूज्य चारित्रचक्रवर्ती मुनि कुञ्जर सम्राट् विश्ववंद्य, घोर तपस्वी, एकान्त प्रिय, आध्यात्मय रसिक दिगम्बराचार्य श्री 108 आदिसागर जी महाराज(अंकलीकर)के पट्टाधीश परम् पूज्य समाधि सम्राट् तीर्थ भक्त शिरोमणि आचार्य वर्य श्री महावीर कीर्ति जी महाराज की संघस्था श्री प. पूज्य वात्सल्य रत्नाकर, निमित्त ज्ञान शिरोमणि श्री 108 आचार्य परमेष्ठी विमलसागर जी महाराज जी की शिष्या प्रथमगणिनी, ज्ञानचिन्तामणि 105 आर्यिका विजयामती माता जी द्वारा हिन्दी विजयोदयटीका का छब्बीसवाँ समुद्देश श्री परम पूज्य 108 तपस्वी सम्राट् भारतगौरव, सिद्धान्तचक्रवर्ती, अंकलीकर के तृतीय पट्टाधीश श्री आचार्य सन्मतिसागर जी महाराज के पावन चरण सान्निध्य में समाप्त किया ।। इत्यलम् ।।

।। ॐ नमः शुभम् भूयात् ।।

27

व्यवहार-समुद्देशः

मनुष्यों का दृढ़ बन्धन, अनिवार्य-पालन-पोषण, तीर्थसेवा का फल :

कलत्रं नाम नराणाम निगडमपि **दृढं बन्धनमाहुः** ।।1॥ त्रीण्यवश्यं भर्त्तव्यानि मातकलत्रमप्राप्तव्यवहाराणि चापत्यानि ।।2॥ दानं तपः प्रायोपवेशनं तीर्थोपासनफलम् ।।3॥

अन्वयार्थ :- (कलत्रंनाम) स्त्री ही (अनिगडम्) बेड़ी नहीं होने पर (अपि) भी (नाराणाम्) मनुष्यों का (दृढम्) मजबूत (बन्धनम्) बंधन (आहुः) है-कहा है ।।1॥ (त्रीणि) तीन (अवश्यम्) अनिवार्य (भर्त्तव्यानि) पोषण चाहिए (मातकलत्रमप्राप्तव्यवहाराणि) माता, स्त्री, अप्रौढ़ (च) और (अपत्यानि) पुत्रों को ।।2॥ (तीर्थोपासनम्) तीर्थ क्षेत्रों की भक्ति-पूजा का (फलम्) फल (दानम्) सत्पात्रदान (तपः) तप (प्रायोपवेशनम्) सन्यास मरण है ।।3॥

विशेषार्थ :- संसार में दो प्रकार के बन्ध हैं - अन्तरङ्ग और वहिरङ्ग । वाह्य में पत्नी लौह शृंखला नहीं होने पर भी मनुष्यों का सुदृढ बन्धन कहा है । अभिप्राय यह है कि पुरुष के मोह की उत्कटता का सबसे अधिक आकर्षण स्त्री संभोग है । अतः विषयी अनेकों कष्ट सहकर भी उसका व्यामोह तजने में समर्थ नहीं होता । इसी से इसे (नारी को) बन्धन कहा है ।। शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

न कलत्रात्परं किंचिद्बन्धनं विद्यते नृणाम् ।
यस्मात्तत्स्नेह निर्बद्धो न करोति शुभानि यत् ।।1॥
नारी व्यामोह में उलझा मनुष्य शुभ कर्मों को भूल जाता है ।।1॥

मानव को अपने आश्रित रहने वाले माता, पत्नी और असमर्थ पुत्रों का अवश्य ही भरण-पोषण करना चाहिए।।2॥ गुरु विद्वान ने भी कहा है :-

मातरं च कलत्रं च गर्भरूपाणि यानि च ।
अप्राप्त व्यवहाराणि सदा पुष्टिं नयेद् बुधः ।।1॥

किन्हीं नीतिकारों ने ''अप्राप्त व्यवहाराणि'' का अर्थ 'नावालिग' अर्थात् जिन बच्चों का कोई वारिस-संरक्षक

नहीं है उनका पालन-पोषण करना चाहिए'' किया है ।। दया सर्वोपरि धर्म है, इसे ही ''अहिंसा परमोधर्म:'' कहा है ।।2।।

तीर्थ स्थानों की सेवा का फल विद्वानों ने सत्पात्रदान, वाह्याभ्यन्तर तप और सन्यासमरण करना कहा है । अर्थात् विवेकी-तत्वज्ञ पुरुष उपर्युक्त क्रियाओं के सम्यक् अनुष्ठानों से तीर्थ सेवा का फल स्थायी आत्म सुख प्राप्त कर सकता है। इसके विपरीत अज्ञानी नीति विरुद्ध आचरण करते, उसकी सेवा से पापार्जन कर अज्ञानवत् विपरीत फल प्राप्त करते हैं ।।3।। गर्ग विद्वान ने कहा है :-

मुक्त्वा दानं तपो वाथ तथा प्रायोपवेशनम् ।
करोति यश्चतुर्थं यत्तीर्थे कर्म सपापभाक् ।।1।।

तीर्थ वन्दना कर जो दान, तप व सन्यासमरण नहीं करता, चतुर्थ कार्य करे तो वह पाप कमाने का ही पात्र होकर दुर्गति का उपार्जन करता है ।।1।।

तीर्थ स्थानों में रहने वाले का स्वभाव, निंद्य-स्वामी, सेवक, मित्र, स्त्री व देश :-

तीर्थोपवासिषु देवस्वापरिहरणं क्रव्यादेषु कारुण्यमिव, स्वाचारच्युतेषु पापभीरुत्वमिव प्राहुरधार्मिकत्वमतिनिष्ठुरत्वं वञ्चकत्वं प्रायेण तीर्थवासिनां प्रकृतिः ।।4।। स किं प्रभुर्यः कार्यकाले एव न सम्भावयति भृत्यान् ।।5।। स किं भृत्यः सखा वा यः कार्यमुद्दिश्यार्थं याचते ।।6।। यार्थेनप्रणयिनी करोति चाङ्गाकृष्टिं सा किं भार्या ।।7।। स किं देशः यत्र नास्त्यात्मनो वृत्तिः ।।8।।

अन्वयार्थ :- (तीर्थोपवासिषु) तीर्थ सेवियों में (देवस्वम्) देव द्रव्य (अपरिहरणम्) नहीं लेना (क्रव्यादेषु) हिंस्र जीवों में (कारुण्यम्) करुणा (इव) समान, (स्व) अपने (आचारच्युतेषु) आचारभ्रष्टों में (पापभीरुत्वम्) पाप से भय (इव) समान (अधार्मिकत्वम्) अधर्मपना (अतिनिष्ठुरत्वम्) कठोरता (वञ्चकत्वम्) ठगाई (प्रायेण) सामान्यत: (तीर्थवासिनाम्) तीर्थ निवासियों में (प्रकृतिः) स्वभावत: (प्राहु:) कहा जाता है ।।4।। (स:) वह (किम्) क्या (प्रभु:) स्वामी (य:) जो (कार्यकाले) समय पर (एव) ही (भृत्यान्) सेवकों को (न सम्भावयति) उन्हें वेतन नहीं देता ।।5।। (स:) वह (किम्) क्या (भृत्य:) सेवक (वा) अथवा (मित्र:) मित्र (य:) जो (कार्यम्) कार्य (उद्दिश्य) को उद्देशकर (अर्थम्) धन (याचते) मांगता है ।।6।। (या) जो नारी (अर्थेन) धन से (प्रणयनी) प्रीति (करोति) करती है (च) और (अङ्गाकृष्टिं) गाढालिंगन [करोति] करती है (सा) वह (किम्) क्या (भार्या) पत्नी है ? ।।7।। (स:) वह (किम्) क्या (देश:) देश है (यत्र) जहाँ (आत्मन:) आजीविका की (वृत्ति:) साधन सामग्री (न) नहीं ? (अस्ति) है ।।8।।

विशेषार्थ :- संसार में सिंह व्याघ्रादि हिंस्र, क्रूर प्राणियों में दयाभाव एवं आचारभ्रष्टों में पाप भीरुता का होना आश्चर्य कारक माना जाता है उसी प्रकार तीर्थों पर रहने वाले पण्डों पुजारी ब्राह्मणों में भी देवता को चढ़ाई हुई वस्तुओं का त्याग करना महान् आश्चर्यकारी है । विद्वानों का कथन है और प्रत्यक्ष भी देखा जाता है कि वे पण्डे ब्राह्मण प्राय: अधार्मिक, निर्दयी, लोभी, (क्रूर) और छल-कपट करने वाले होते हैं ।।4।।

जो स्वामी-राजादि अपने कार्य की सिद्धि होने पर उन्हें निष्कासित कर देते हैं, अथवा उन्हें समय पर वेतनादि नहीं देते वे निंद्य हैं ।।5॥ भृगु ने भी कहा है :

कार्यकाले तु सम्प्राप्ते संभावयति न प्रभुः ।
यो भृत्यं सर्वकालेषु स त्याज्यो दूरतो बुधैः ।।1॥

प्रयोजन सिद्धि होने पर सेवकों की नियुक्ति न करने वाले स्वामी निंद्य हैं ।।1॥5॥ जो सेवक या नौकर अपने द्वारा स्वामी के कार्य के सिद्ध होने पर उसके बदले में उससे पारिश्रमिक याचता है, तथा इसी प्रकार जो मित्र अपने मित्र की प्रयोजन सिद्धि में सहायक होकर उससे धन चाहता है या याचना करता है, वे भृत्य व मित्र दोनों ही दुष्ट-दुर्जन व अभद्र हैं ।।6॥ भारद्वाज का भी यही अभिप्राय है :-

वह स्त्री भी निंद्य व अशोभन मानी जाती है जो धन के लिए पति से प्रेम करती है । लालच से उसका गाढालिंगन करती है । सारांश यह है कि पतिव्रता-शीलवती नारी को अपने पति के सुख-दुख में समान रूप से प्रेम व्यवहार करना चाहिए ।।7॥ नारद ने भी कहा है :-

मोहने रक्षतेऽङ्गानि यार्थेन विनयं व्रजेत् ।
न सा भार्या परिज्ञेया पण्यस्त्री सा न संशयः ।।1॥

जिस देश में मनुष्य के जीविका के साधन कृषि, व्यापार, आदि की सुलभता न हो वह देश निंद्य है, त्याज्य है। अतः विवेकी मनुष्य को जीविका के साधन योग्य देश में निवास करना चाहिए ।।8॥ गौतम विद्वान ने भी कहा है :-

स्वदेशेऽपि न निर्वाहो भवेन् स्वल्पोऽपि यत्र च ।
विज्ञेयः परदेशः स त्याज्यो दूरेण पण्डितैः ।।1॥

अर्थात् जिस देश में जीवन निर्वाह न हो वह स्वदेश भी परदेश समान है ॥8॥

निंद्यबन्धु, मित्र, गृहस्थ, दान, आहार, प्रेम आचरण, पुत्र, ज्ञान, सौजन्य व लक्ष्मी :-

स किं बन्धुर्यो व्यसनेषु नोपतिष्ठते ।।9॥ तत्किं मित्रं यत्र नास्ति विश्वासः ।।10॥ स किं गृहस्थो यस्य नास्ति सत्कलत्रसम्पत्तिः ।।11॥ तत्किं दानं यत्र नास्ति सत्कारः ।।12॥ (स किम् गृहस्थो यस्य नास्ति सत्कलत्र सम्पत्तिः ।।12॥) तत्किं भुक्तं यत्र नास्त्यतिथि-संविभागः ॥13॥ तत्किं प्रेम यत्र कार्यवशात् प्रत्यावृत्तिः ॥14॥ (तत्किं) आचरणं यत्र वाच्यता मायाव्यवहारो वा ।।15॥ तत्किं अपत्यं यत्र नाध्ययनं विनयो वा ।।16॥ तत्किं ज्ञानं यत्र मदेनान्धया चित्तस्य ।।17॥ तत्किं सौजन्यं यत्र परोक्षे पिशुनभावः ।।18॥ सा किं श्री र्यया न सन्तोषः सत्पुरुषाणाम् ।।19॥

विशेषार्थ :- वह क्या बन्धु-भाई है जो आपत्तिकाल में पास नहीं रहता ? अर्थात् विपत्ति में साथ देने वाला सच्चा भाई बन्धु कहलाता है ।।9॥ चाणक्य :

परोऽपिहितवान् बन्धुर्बन्धुरप्यहितः परः ।
अहितो देहजो व्याधिर्हितमारण्यमौषधम् ।।1।।

अर्थ :- जिस प्रकार शरीर में रोग होने पर भी अनिष्ट समझा जाता है, और दूर देश वन प्रदेश में उत्पन्न औषधि इष्ट व प्रिय समझी जाती है । उसी प्रकार अनिष्ट अहित करने वाला सहोदर-सगाभाई भी शत्रु है और विपत्ति में सहायता देने वाला दूसरा अपरिचित शत्रु भी उपकारी होने से बन्धु से भी अधिक प्रिय माना जाता है ।।1।।

क्या वह मित्र है जो विश्वासपात्र न हो ? नहीं । अभिप्राय यह है कि जो अपने मित्र के धन, धान्य, कलत्र की रक्षा करने में विश्वासघात करे वह मित्र निंद्य और दुर्जन है । मित्र को यथार्थ विश्वास पात्र होना चाहिए ।।10।। गर्ग ने कहा है :

धनं धान्यं कलत्रं वा निर्विकल्पेन चेतसा ।
अर्पितं रक्षयेद्यत्तु तन्मित्रं कथितं बुधैः ।।1।।

अर्थ उपर्युक्त ही है ।

क्या वह गृहस्थ है जिसके श्रेष्ठ-शीलवती गृहणीरूपी सम्पत्ति नहीं है ? अभिप्राय यह है कि "गृहणी घर है" कहा भी है "बिना गृहणी घर भूत का डेरा ।" जिसके घर में कुलबधू रूप सम्पदा नहीं वह घर यथार्थ नहीं ।। शुक्र ने भी कहा है :-

कुरूपा गतशीला च बंध्या युद्धपरा सदा ।
स गृहस्थो न भवति स नरकस्थः कथ्यते ।।1।।

जिसके घर में कुरुपा, शीलभ्रष्ट (व्यभिचारिणी) बांझ, युद्ध करने में तत्परा नारी हो वह गृहस्थी नरक समान समझना चाहिए । अतः उभयकुल विकासिका कुल बधू होना गृह की शोभा है ।।1।।

वह दान क्या है, जहाँ सम्मान न हो ? दाता को पात्र के प्रति विनम्र होना चाहिए । जो दानी याचक को यथाविधि, यथायोग्य, यथाविनय पूर्वक दान नहीं देता उसको दान का यथोचित फल प्राप्त नहीं होता । अर्थात् दान का पारत्रिक (परलोक) सम्बन्धी फल प्राप्त नहीं होता है ।। यथाकाल देना चाहिए ।।12।। बलिष्ठ ने कहा है -

काले पात्र तथा तीर्थे शास्त्रोक्तविधिना सह ।
यद्दत्तं चाक्षयं तद्विशेषं स्यादेक जन्मजम् ।।1।।

योग्य काल में योग्य पात्र को यथोक्त विधिवत् दान देने से अक्षयपदप्राप्त होता है ।।12।। वह क्या भोजन है, जहाँ स्वयं भोजन करने के पूर्व अतिथि सत्कार न किया जाय ? अतिथिसंविभागव्रत पालन कर ही भोजन करना चाहिए ।। यथाशक्ति भोजन काल में जो व्यक्ति सत्पात्रों को दान नहीं देता उसका भोजन करना निंद्य है, पशु-प्रवृत्ति है । अर्थात् जिस प्रकार पशु तृणादि भक्षण कर मल मूत्र विसर्जन करता है दान धर्म को जानता ही नहीं, उसी

प्रकार दानहीन पुरुष भी उसी पशु समान भोजन कर मल-मूत्र क्षेपण करने वाला पशु ही है । अतः सत्पुरुषों को आहारदान देकर ही स्वयं भोजन करना चाहिए ।।13॥ नारद ने भी लिखा है :-

अदत्वा यो नरोऽप्यत्र स्वयं भुंक्ते गृहाश्रमी ।
सपशुर्नास्ति सन्देहो द्विपदः शृंगवर्जितः ।।1॥

जो गृहस्थ अतिथिसंविभाग नहीं करके स्वयं भोजन करता है वह निः सन्देह बिना सींग का दो पैर वाला पशु है ।।1॥ आचार्य कुन्दकुन्द देव ने भी कहा है :-

योग्यातिथेः सदा यस्य स्वागते मानसी स्थितिः
श्रियोऽपि जायते मोदो वासार्थं तस्य सद्मनि ।।4॥

कुरल काव्य

अर्थात् जो मनुष्य योग्य अतिथि को प्रसन्नतापूर्वक स्वागत कर तृप्त करता है उसके घर में लक्ष्मी भी निवास करने को आह्लाद मानती है ।।4॥ अतः सद्गृहस्थ वही है जो यथायोग्य दान करे ।।

निःस्वार्थ प्रेम ही सच्चा प्रेम होता है । जहाँ स्वार्थ वश प्रेम किया जाय और मतलब सिद्ध होने पर प्रीति न रहे वह प्रेम नहीं धोखा है । वंचना निंद्य होती है । अतः निस्वार्थभाव से स्थायी प्रेम महत्वपूर्ण है ।।14॥ राजपुत्र ने कहा है :-

यद्गम्यं गुरुगौरवस्य सुहृदो यस्मिंल्लभन्तेऽन्तरम् ।
यद्दाक्षिण्यवशाद्ध्रयाच्यसहसा नर्मोपहासाच्च्यान् ।
यल्लज्जं न रुणद्धि यत्र शपथैरुत्पद्यते प्रत्ययः ।
तत्किं प्रेम स उच्यते परिचयस्तत्रापि कोपेन किं ।।1॥
''एककोटिगतस्नेहो जडानां खलु चेष्टितम् ।।

'' वादीभसिंह सूरि ।।

इक तरफा प्रेम मूर्खों की चेष्टा मात्र है ।।

मनुष्य का आचार ही क्या है यदि वह पाप पूर्ण है- पर स्त्री सेवन, चोरी आदि से सहित है अथवा मायाचार युक्त है ? छल कपट युक्त आचरण इस लोक में निंद्य और परलोक में कष्ट दायक होता है ।।15॥ कुरल काव्य में कहा है:

परोत्कर्षासहिष्णूनां यथा नैव समृद्धयः ।
न गौरवं तथा किंचित् दुराचारवतः कृते ।।5॥

परिच्छेद 14

अर्थ :- सुख समृद्धि, ईर्ष्या करने वालों के लिए नहीं है । इसी प्रकार गौरव भी दुराचारियों के लिए नहीं है ।। जैमिनि भी यही अभिप्राय प्रकट करते हैं :-

जायते वाच्यता यस्य श्रोत्रियस्य वृथा हि तत् ।
अनाचारात्मदादिष्टं श्रोत्रियत्वं वदन्ति ना ? /1॥

जिसका आचरण लोकनिंद्य है वह विद्वान नहीं माना जाता है ।।15॥

उस पुत्र से क्या प्रयोजन, जिसका अध्ययन नहीं हुआ हो और न जिसमें विनयाचार ही हो ? अभिप्राय यह है कि जो विद्या-विहीन और माता-पितादि गुरुजनों का विनय सम्मान नहीं करे वह पुत्र कहलाने का अधिकारी नहीं ।।16॥ वल्लभदेव ने भी कहा है :-

कोऽर्थःपुत्रेण जातेन योन विद्वान्न धार्मिकः ।
किंतया क्रियते धेन्वा या न सूते न दुग्धदा ।।1॥

अर्थ :- उस पुत्र के उत्पन्न होने से क्या प्रयोजन, जो न तो विद्वान है और न ही धर्मात्मा ही है । वह तो गर्भरहित व दुग्ध न देने वाली गाय के समान व्यर्थ है ।।16॥

विद्या की शोभा नम्रता से है । ज्ञान के साथ चित्त सरल होना चाहिए यदि इसके विपरीत ज्ञान प्राप्ति के साथ मद-अहंकार बढ़ता है तो वह मदान्ध का ज्ञान निंद्य है उससे क्या प्रयोजन ? कुछ नहीं । शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

विद्या मदो भवेन्नीचः पश्यन्नपि न पश्यति ।
पुरस्थे पूज्यलोकं च नातिवाह्यं च वाह्यतः ।।1॥

ज्ञान मद से उद्धत मनुष्य नेत्रों के रहते हुए भी अन्धा है क्योंकि समक्ष उपस्थित पूज्यों का भी विनय नहीं करता। अभिप्राय यह है कि विद्या-ज्ञान के साथ विवेक होना भी अनिवार्य है ।।17॥

पीठ पीछे निन्दा व चुगली करे और समक्ष में मधुरालाप कर गाढ़ प्रेमदर्शित करे, उसकी सज्जनता का दिखावा अतिनिंद्य है । कहा भी है :-

परोक्षे कार्य हंतारं प्रत्यक्षेप्रियवादिनाम् ।
वर्जयेत्तादृशं मित्रं विषकुम्भपयोमुखम् ।।

अर्थात् दूध मुख पर लगा विष भरा घड़ा जिस प्रकार त्याज्य है उसी प्रकार परोक्ष में निन्दक और प्रत्यक्ष में स्नेह दिखाने वाला मित्र भी परिहार करने योग्य है । गुरु ने भी कहा है :-

प्रत्यक्षेऽपि प्रियं ब्रूतेपरोक्षे तु विभागते ।
सौजन्यं तस्य विज्ञेयं यथा किं पाक भक्षणम् ।।

अर्थात् परनिन्दक व चुगलखोर की सज्जनता विषभक्षण समान हानिकारक बतलाई है ।। अभिप्राय यह है परनिन्दा व चुगली सर्वथा त्याज्य है ।।18॥

वह लक्ष्मी ही क्या है जिसके द्वारा सत्पुरुषों को सन्तोष न हो ? कुछ भी प्रयोजन नहीं है । अपनी विद्यमान सम्पत्ति से सन्तुष्ट नहीं होने वाले शिष्ट पुरुषों की सम्पत्ति निंद्य हैं । क्यों तृष्णावश वे दु:खी ही रहते हैं । अत: सन्तोष धारण कारण चाहिए ।।19॥

निंद्य उपकार, नियुक्ति अयोग्य, दान दी गई वस्तु, सत्पुरुषों का कर्त्तव्य :

तत्किं कृत्यं यत्रोक्तिरुपकृतस्य ।।20॥ तयो: को नाम निर्वाहो यौ द्वावपि प्रभूत मानिनौ पंडितौ लुब्धौ मूर्खौ चासहनौ वा ।।21॥ स्ववान्त इव स्वदत्ते नाभिलाषं कुर्यात् ।।22॥ उपकृत्य मूकभावोऽभिजातीनाम् ।।23।।

अन्वयार्थ :- (तत्) वह (किम्) क्या (कृत्यम्) कर्तव्य हैं (यत्र) जहाँ (उपकृतस्य) उपकर्ता के समक्ष (उक्ति:) कहा जाय ? (तयो:) दो का (को नाम) क्या (निर्वाह:) एक साथ रहना (यौ) जो दो (द्वौ) दोनों (अपि) भी (प्रभूतमानिनौ) घमण्डी, (पण्डितौ) विद्वान (लुब्धौ) लोभी (मूर्खौ) मूर्ख (च) और (असहनौ) असहनशील (वा) अथवा ।।21॥ (स्व) स्वयं (वान्तम्) वान्ति (इव) समान (स्वदत्ते) स्वयं प्रदत्त में (अभिलाषम्) लेने की इच्छा (न) नहीं (कुर्यात्) करे ।।22॥ (उपकृत्य) उपकार करके (अभिजातीनाम्) कुलीनों का (मूकभाव:) मौन उत्तम है ।।23॥

विशेषार्थ :- किसी भी व्यक्ति का उपकार करके उसी के समक्ष कहना उचित नहीं । कारण कि उपकृत्य इसमें अपनी मानहानि समझ कर उसका प्रत्युपकार के स्थान में शत्रुता का कारण हो सकता है । वैर-विरोध होना संभव हैं।। भागुरि ने कहा है :

योन्यस्य कुरुते कृत्यं प्रतिकृत्यतिवाञ्छया ।।
न तत्र कृत्यं भवेत्तस्य पश्चात् फलप्रदायकम् ।।1॥

अर्थात् उपकारी यदि अपना किया उपकार स्वयं प्रकट करता है तो वह उसे फलदायक नहीं होता । अर्थात् प्रत्युपकार नहीं मिलता ।।20॥

जो विद्वान होकर भी अभिमानी व कृपण अथवा मूर्ख होकर लालची है, घमण्डी, असहिष्णु व पारस्परिक कलह कराने में चतुर पुरुषों को बुद्धिमान-विवेकी पुरुष किसी भी कार्य में नियुक्त न करे । कारण इससे कार्य सिद्धि नहीं होगी। क्योंकि दोनों का निर्वाह नहीं हो सकता । मूर्ख के साथ मूर्ख, लोभी-लोभी आदि एक साथ रह नहीं सकते ।।21॥ हारीत का भी यही अभिप्राय है :

समर्थौ मानसंयुक्तौ पण्डितौ लोभ संश्रयौ ।
मिथोपदेशपरौ मूर्खौ कृत्ये मिथो न योजयेत् ।।1॥

अर्थ वही है ।

बुद्धिसम्पन्न मानव स्वयं दिये हुए दान द्रव्य को लेने की वाञ्छा नहीं करता, वह उसे छर्दि (वमन) के समान समझता है । जैमिनि ने भी कहा है :-

स्वयं दत्तं च यद्दानं न ग्राह्यं पुनरेव तत् ।
यथा स्ववान्तं तद्वच्च दूरतः परिवर्जयेत् ।।1।।22।।

उत्तम कुलोत्पन्न सत्पुरुष किसी का उपकार करके उसे प्रकट नहीं करते । अपितु उस विषय में मौन ही रहते हैं ।।23।। नीतिकारों का कथन है :-

[illegible] महतां गहनो वा भावचित्तता ।
उपकृत्य भवन्ति दूरतः परतः प्रत्युपकारशंकया ।।1।।

सत्कार, धर्मरक्षा व दोष शुद्धि का साधन :

परदोष श्रवणे वधिरभावः सत्पुरुषाणां ।।24।। परकलत्रदर्शनेऽन्धभावो महाभाग्यानाम् ।।25।। शत्रावपि गृहायाते संभ्रमः कर्त्तव्यः किं पुनर्महति ।।26।। अन्तः सारधनमिव स्वधर्मो न प्रकाशनीयः ।।27।। मद प्रमादजैर्दोषैर्गुरुषु निवेदनमनुशयः प्रायश्चित्तं प्रतीकारः ।।28।।

अन्वयार्थ :- (सत्पुरुषाणाम्) सज्जनों के (परदोषश्रवणे) दूसरे के दोष सुनने में (वधिरभावः) बहरे समान भाव [भवति] होता है ।।24।। (महाभाग्यानाम्) भाग्यवानों का (परकलत्रदर्शने) परस्त्री अवलोकन में (अन्धभावः) अन्धे समान [भवन्ति] होते हैं ।।25।। (गृहायाते) घर में आये (शत्रौ) शत्रु का (अपि) भी (संभ्रमः) स्वागत (कर्त्तव्यः) करना चाहिए (पुनः) फिर (महति) महापुरुष के आने पर (किम्) क्या (न) नहीं ? ।।26।। (अन्तःसारधनम्) गुप्त धन के (इव) समान (स्वधर्मः) अपना धर्म (प्रकाशनीयः) प्रकट करने योग्य (न) नहीं है ।।27।। (मदप्रमादजैः) घमण्ड व आलस्य से उत्पन्न (दोषैः) दोषों को (गुरुषु) गुरु से (निवेदनम्) निवेदन करना (अनुशयः) अनुशय; (प्रायश्चित्तम्) दण्ड लेना, (प्रतीकारः) विरोध करना ।।28।।

विशेषार्थ :- सत्पुरुष परदोष सुनने में वधिर होते हैं । प्रथम तो सुनते ही नहीं बलात् श्रवण में आ जांये तो सुनी-अनसुनी कर देते हैं ।।24।। गर्ग ने भी कहा है :-

परदोषान्न शृण्वन्ति येऽपि स्युर्नरपुङ्गवाः ।
शृण्वतामपि दोषः स्याद्यतो दोषान्यसंभवात् ।।1।।

अर्थात् महापुरुष वही है जो दूसरे के दोषों को श्रवण नहीं करता ।।24।।

वादीभसिंह सूरि ने भी मोक्षमार्गी का यही लक्षण कहा है :-

अन्यदीयमिवात्मीयमपि दोषं प्रपश्यता ।
कः समः खलु मुक्तोऽयंयुक्तः कायेन चेदपि ।।1।।

अर्थात् जो पर दोषों पर दृष्टि नहीं रखता वह शरीर में स्थित भी मुक्त है अर्थात् नियम से मुक्ति मार्ग पर आरुढ है ।।1॥

जो पुरुष सर्व प्रकार की परस्त्रियों को कुदृष्टि से नहीं देखते वे भाग्यशाली हैं । अर्थात् परनारी अवलोकन में अन्धे के समान आचरण करने वाले शीलवान धन्य पुरुष हैं ।। पत्नी सिवाय अन्य सभी स्त्रियों को माता, बहिन और पुत्री समान समझने वाले महापुरुष होते हैं ।।25।। हारीत का भी यही अभिप्राय है :-

अन्यदेहान्तरे धर्मो यैः कृतश्च सुपुष्कलः ।
इह जन्मनितेऽन्यस्य न वीक्षन्ते नितम्बिनीम् ।।1॥

अर्थात् जो सन्त पुरुष परनारी को कुदृष्टि से नहीं देखता है वह प्रभूत पुण्यसंचित कर उभयलोक में सुखानुभव करता है ।।1।।25॥

अपने द्वार पर यदि शत्रु भी आ जाय तो उसका भी सम्मान करना चाहिए । यदि पुण्य पुरुष, पूज्य गुरुजन आयें तो फिर कहना ही क्या है ? ।।26॥ भागुरि ने भी कहा है :

अनादरो न कर्त्तव्यः शत्रोरपि विवेकिना ।
स्वगृहे आगतस्थात्र किं पुनर्महतोऽपि च ।।1॥

अर्थात् महापुरुषों का अवश्य ही प्रसन्नचित्त से सम्मान करना चाहिए ।।26॥

ज्ञानी-विवेकी पुरुष को अपने घर में निक्षिप्त गुप्तधन की भाँति अपने हृदयस्थ धर्म का भी संरक्षण करना चाहिए। अर्थात् जिस प्रकार बहुमूल्य धन का किसी के सामने प्रकट नहीं किया जाता उसी प्रकार अपने अमूल्य धर्मरत्न का भी प्रकाशन नहीं करना चाहिए ।।27॥ व्यास ने भी कहा है :-

स्वकीयं कीर्तयेद्धर्मं यो जनाग्रे स मन्दधीः ।
क्षयं गतः सयायाति पापस्य कथितस्य च ।।1॥

उपयुक्त ही अर्थ है ।।

मनुष्य काम क्रोध, प्रमाद अज्ञानादि दोषों से युक्त है । इनके निमित्त से उत्पन्न दोषों की निवृत्ति के तीन उपाय हैं - 1. अपने दोषों को अपने गुरुजनों के समक्ष सरल हृदय से यथाजात निरूपण करना-कहना । 2. किये हुए दोषों के प्रति पश्चाताप करना, ग्लानि करना और 3. प्रायश्चित्त लेना अर्थात् गुरुजनों को निवेदन कर उनसे दण्ड ग्रहण करना।।28॥ भारद्वाज ने कहा है :

मद प्रमादज तापं यथास्यात्तन्निवेदयेत् ।
गुरुभ्यो युक्तिमाप्नोतिमनस्तापो न भारत ।।1॥

धनार्जन के लिए कष्ट की सार्थकता, नीच पुरुषों का स्वरूप, वन्द्यचारित्र, पीडाजनक कार्य व पातकी पञ्च :-

श्रीमतोऽर्थार्जने कायक्लेशो धन्यो यो देवद्विजान् प्रीणाति ।।29॥ चणका इव नीचा उदर स्थापिता अपि नाविकुर्वाणास्तिष्ठन्ति ।।30॥ वन्द्यचरित्रो यः प्रत्युपकारमनपेक्ष्य परोपकारं करोति ।।31॥ अज्ञानस्य वैराग्यं भिक्षोर्विटत्वमधनस्य विलासो वेश्यारतस्य शौचमविदित वेदितव्यस्य तत्वाग्रह इतिपंच न कस्य मस्तकशूलानि ।।32॥ सहि पञ्चमहापातकी यो अशस्त्रमशास्त्रं वा पुरुषमभियुञ्जीत ।।33॥

अन्वयार्थ :- (श्रीमतः) धनाढ्य का (अर्थः) धन (अर्जने) कमाने में (कायक्लेशः) शरीर श्रम (धन्यः) प्रशंसनीय है (यः) जो (देवद्विजान्) देव, ब्राह्मण (प्रीणयति) प्रसन्न करता है ।।29॥ (चणकाः) चनों (इव) समान (नीचाः) तुच्छ पुरुष (उदरस्थापिता) पेट में रखने पर (अपि) भी (अविकुर्वाणाः) विकार रहित (न) नहीं (तिष्ठन्ति) रहते हैं ।।30॥ (सः) वह (पुमान्) मनुष्य (वन्द्यचरितः) चरित्र में वंद्य है (यः) जो (प्रत्युपकारम्) प्रत्युपकार की (अनपेक्ष्य) अपेक्षा न कर (परोपकारं) दूसरे की भलाई (करोति) करता है ।।31॥ (अज्ञानस्य) अज्ञानी का (वैराग्यम्) वैराग्य (भिक्षोः) तापसी का (विटत्वम्) कामसेवन (अधनस्य) निर्धन का (विलासः) शृंगार (वेश्यारतस्य) वेश्यासेवी के (शौचम्) पवित्रता, (अविदितवेदितव्यस्य) आत्म तत्व ज्ञान शून्य का (तत्वाग्रह) तत्त्व का आग्रह (इति) ये (पञ्च) पाँच (कस्य) किसका (मस्तकशूलानि) शिरदर्द (न) नहीं हैं ? ।।32॥ (सः) वह (हि) निश्चय से (पञ्च) मुखिया (महापात की) महापापी (यः) जो (अशस्त्रम्) शस्त्ररहित (अशास्त्रम्) शास्त्र ज्ञान शून्य (वा) अथवा (पुरुषम्) पुरुष को (अभियुञ्जीत) समान करता है ।।33॥

विशेषार्थ :- जो श्रीमन्त अपने वैभव द्वारा देवता, ब्राह्मण और याचकों को सन्तुष्ट करता है उसका धनार्जन का श्रम सार्थक है । ऋषिपुत्रक का भी यही अभिप्राय है :

कायक्लेशोभवेद्यस्तु धनार्जन समुद्भवः ।
स शंस्यो धनिनो योऽत्र-संविभागो द्विजार्थिषु ।।1॥

अर्थ :- धनार्जन करने में कायक्लेश वही सफल है जिसका धन ब्राह्मणादि के सन्तोष के लिए होता है ।। वही धन व श्रम प्रशंसा योग्य है ।।29॥

नीच पुरुषो का कितना हा उपकार किया जाय परन्तु वे उपकार का बदला अपकार कर ही देते हैं । जिस प्रकार चनों के उदर में रखने पर भी वे पीड़ा ही उत्पन्न करते हैं । कृतध्न पुरुषों को भी गले लगाने पर भी वे कष्ट ही देते हैं ।।30॥ भागुरी ने कहा है :

चणकैः सदृशा ज्ञेया नीचास्तान्न समाश्रयेत् ।
सदा जनस्य मध्ये तु प्रकुर्वन्ति विडम्बनम् ।।1॥

तुच्छ पुरुष सदैव मनुष्यों की विडम्बना करते हैं ।।

जो व्यक्ति प्रत्युपकार की आकांक्षा न करके दूसरों का उपकार करता है, असहायों की सहायता करता है उसका सदाचार वंद्य-पूज्य होता है ।।31॥ भागुरि ने कहा है :-

उपकार रतो यस्तु वाञ्छते न स्वयं पुनः ।
उपकारः स वन्द्यः स्याद्वाञ्छते यो न च स्वयम् ।।1।।

अर्थ विशेष नहीं ।

भर्तृहरि ने भी कहा है "एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्यये ।।"

जो व्यक्ति स्वार्थ त्याग कर परोपकार रत रहते हैं वे सत्पुरुष निराले होते हैं ।।

1. मूर्ख-अज्ञानी का वैराग्य भाव, 2. तपस्वी का काम सेवन करना, 3. धनहीन-दरिद्री का विलास-हास-शृंगार, 4. वेश्यासक्त की पावनता, 5. आत्मत्व में मूढ़ का तत्त्वविज्ञान का आग्रह, इस प्रकार ये पाँच प्रकार के लोग किसे मस्तक की पीड़ा उत्पन्न नहीं करते ? करते ही हैं । सभी को पीड़ादायक होते हैं ।। अभिप्राय यह है कि वैराग्य इच्छुक को ज्ञानी, तपस्वी को काम वासना से दूर, दरिद्री को हास-विलास-शृंगार से रहित होना, या धनाढ्य वैराग्य इच्छुक को विलासी होना, पवित्रता के इच्छुक को वेश्यात्यागी और वस्तु विचार के इच्छुक को आत्मज्ञानी होना चाहिए ।।32।। भगवत्पाद ने भी कहा है:-

मूर्खस्य तु सुवैराग्यं विटकर्म तपस्विनः ।
निर्धनस्य विलासित्वं शौचं वेश्यारतस्य च ।।1।।
तत्वत्यागो ब्रह्मविदो पंचैते कंटकाः स्मृताः ।। 1/2

उपर्युक्त पाँचों ही कण्टक समझना चाहिए ।।32।।

जो मनुष्य-वीर सुभट निशस्त्र पर शस्त्र प्रहार करता है और मूर्ख-अज्ञानी के साथ वाद-विवाद शास्त्रार्थ करता है, वह पञ्च पापों के महा कटुक फल को भोगता है । वे पाँच पाप हैं - 1. स्त्रीवध, 2. बालवध, 3. गोवध, 4. ब्राह्मणवध, 5. स्वामी वध । अतः बुद्धिमान को मूर्ख से विवाद और शस्त्ररहित पर प्रहार नहीं करना चाहिए ।।33।। गर्ग विद्वान का भी यही अभिप्राय है :-

स्त्रीबाल गोद्विजस्वामि पंचानां बधकारका ।
अशस्त्रं शास्त्रहीनं चहि युंजति .... ।।

उपर्युक्त अर्थ ही है ।

प्रयोजनवश नीच संगति, स्वार्थ, गृहदासीरत, वेश्या से हानि, दुराचारी की चित्तवृत्ति :-

उपाश्रुतिं श्रोतुमिव कार्यवशान्नीचमपि स्वयमुपसर्पेत् ।।34।। अर्थी दोषं न पश्यति ।।35।। गृहदास्यभिगमो गृहं गृहिणीं गृहपतिं च प्रत्यवसादयति ।।36।। वेश्या संग्रहो देव-द्विज-गृहिणी-बन्धूनामुच्चा-टनमन्त्रः ।।37।। अहो लोकस्य पाप, यन्निजा स्त्री रतिरपि भवति निम्बसमा, परगृहीता शुन्यपि भवति रम्भासमा ।।38।।

अन्वयार्थ :- (उपश्रुतिम्) शकुन शब्द (श्रोतुम्) सुनने के (इव) समान (कार्यवशात्) प्रयोजनवश (नीचम्) तुच्छ के पास (अपि) भी (स्वयम्) अपने आप (उपसर्पेत्) जावे ।।34।। (अर्थी) स्वार्थी (दोषम्) दोष (न) नहीं

(पश्यति) देखता है ।।35॥ (गृहदासी अभिगमः) दासी के पास लगा (गृहम्) घर को (गृहणीम्) पत्नी को (च) और (गृहपतिम्) गृहस्वामी (प्रत्यवसादयति) विपरीत हो पीड़ा देता है ।।36॥ (वेश्यासंग्रहः) वेश्यासंग्रह (देवं) देवम् (द्विजम्) ब्राह्मण, (गृहणीम्) पत्नी (बन्धूनाम्) भाई-बन्धुओं के (उच्चाटनमन्त्रः) उच्चाटन का मंत्र है ।।37॥ (अहो) आश्चर्यः (लोकस्य) संसार का (पापम्) पाप ! (यत्) जो कि (निजा) अपनी (स्त्री) पत्नी (रतिः) सुन्दरी (अपि) भी (निम्बसमा) नींम के समान (भवति) होती है (परगृहीता) परस्त्री (शुनी) कुत्ती (अपि) भी (रम्भा समा) रति समान [भवति] होती है।।38॥

विशेषार्थ प्रयोजन की सिद्धि के लिए शकुनि निमित्त में शुभ-अशुभ शब्दों को सुनाता है । शुभ-सूचक हो तो कार्य किया जाता है, अन्यथा त्याग दिया जाता है, उसी प्रकार बुद्धिवान, ज्ञानी मनुष्य स्वार्थ सिद्धि के लिए नीच-तुच्छ पुरुष के भी निकट पहुँच कर वचन श्रवण करता है - करना ही चाहिए । यदि अनुकूल होने पर उन्हें मानना चाहिए और प्रतिकूल हो तो छोड़ देना चाहिए ।।34॥ स्वार्थी व्यक्ति जिससे अपना स्वार्थ सिद्धि समझता है, उसके दोषों को देखकर भी अनदेखे कर देता है ।।35॥ गुरु ने कहा है :-

अपि नीचोऽपि गन्तव्यः कार्ये महति संस्थिते ।
यदि स्यात्तद्वचोभद्रं तत्कार्यमथवात्यजेत् ।।1॥

34वीं नीति समान अर्थ है ।

जो मूर्ख गृहदासी से प्रेमासक्त हो जाता है वह अपनी स्वयं की पत्नी, घर, व घर के स्वामी माता-पिता का भी त्याग कर देता है ।। अर्थात् बेघर-बार हो जाता है ।।36॥ वेश्या संग्रह महापाप है । इसके करने वाले पातकी को देव, ब्राह्मण, स्त्री, बन्धुजन विमुख हो छोड़ देते हैं । अतः सर्व मित्र परिवार से जुदाई कराने में यह एक सफल उच्चाटन मन्त्र है । अतएव उक्त दोषों से रक्षण करने के लिए वेश्या संग्रह का त्याग करना चाहिए ।।37॥ गुरु विद्वान ने भी कहा है:

न वेश्या चिन्तयेत्पुंसां किमप्यस्ति च मन्दिरे ।
स्वकार्यमेव कुर्वाणा नरः सोऽपिच तद्रसात् ।।1॥

कृत्वा शील परित्यागं तस्या वाञ्छां प्रपूरयेत् ।
ततश्च मुच्यते सर्वैर्भार्याबान्धवपूर्वजैः ।।2॥

अर्थ :- सत्पुरुष को वेश्या का चिन्तन भी नहीं करना चाहिए । वेश्या के घर में यदि स्वकार्यवशात् गया भी तो निश्चित अपने शील रतन को गंवा देगा और उसकी इच्छापूर्ति में लग जायेगा । उसके भोग का रस लोलुपी बना देगा-चारुदत्त के समान और वह सरलता से घर-बार, पत्नि, परिवार से त्याज्य हो जायेगा । अतः वेश्या के आने जाने का सर्वथा त्याग करना ही श्रेयस्कर है ।।37॥

नीतिशास्त्रवेत्ता कहते हैं कि, लोगों का पाप ज्ञात कर महान् आश्चर्य होता है । दुर्बुद्धि जन अपनी स्वधर्मिणी पत्नि जो रति समान अति रूपवती है नीम के समान कटु समझता है और परस्त्री कुरुप है तो भी उसे देवाङ्गना

सम सुन्दर समझकर प्रेम करता है । अभिप्राय यह है कि विवेकियों को परनारी से प्रीत नहीं करना चाहिए ।।38॥

एक स्त्री से लाभ, परस्त्री, वेश्या त्याग, सुख के कारण, गृहप्रवेश :

स सुखी यस्य एक एव दारपरिग्रहः ।।39॥ व्यसनिनोयथासुखमभिसारिकासु न तथार्थवतीषु ।।40॥ महान् धनव्ययस्तदिच्छानुवर्तनं दैन्यं चार्थवतीषु ।।41।। अस्तरणं कम्बलो जीवधनं गर्दभः परिग्रहो बोढा सर्वकर्माणश्च भृत्या इति कस्य नाम न सुखावहानि ।।42॥

अन्वयार्थ :- (यस्य) जिसके (एक एव) एक ही (दारपरिग्रहः) स्त्री (सः) वह (सुखी) सुखी [अस्ति] है ॥39॥ (व्यसनिनः) व्यभिचारियों को (यथा) जिस प्रकार (अभिसारिकासु) व्यभिचारिणियों में (न) नहीं (तथा) उसी प्रकार (अर्थवतीषु) वेश्याओं में [न भवति] नहीं होता ।।40।। (तद्) (अर्थवतीषु) उस वेश्या वेश्याओं की (इच्छानुवर्तनम्) इच्छापूर्ति में (महान्) अत्यन्त (धनव्ययः) धनखर्च होता है, जिससे (दैन्यम्) दीन रहता है ।।41॥ (अस्तरणम्) बिछावन (कम्बलः) कामरी (जीवधनम्) जीवनोपयोगी साधन-कृषि के साधन बैल, गाय, स्त्री रूप परिग्रह, कार्यनिपुण सेवक आदि (गर्दभः) गधा (परिग्रहः) वस्तुएँ (बोढा) पत्नि (च) और (सर्वकर्माणः) सर्व कार्यनिपुण (भृत्याः) नौकर (इति) ये (कस्य) किसके (नाम) नहीं (सुखावहानि) सुख के हेतु नहीं ? हैं ही ।।42॥

विशेषार्थ :- कलयुग की लीला विचित्र है । इस समय जिसके एक ही पत्नि है वही सुखी रहता है ।।39॥ चाणक्य ने भी कहा है :

अपि साधुजनोत्पन्ने द्वे भार्ये यत्र संस्थिते ।
कलहस्तत्र नो याति गृहाच्चैव कदाचन ।।1॥

अर्थात् सत्पुरुष के भी यदि दो स्त्रियाँ हैं और उनमें परस्पर कलह न हो ऐसा कदाऽपि नहीं हो सकता । कलह से रक्षक को एक ही पत्नी बनाना चाहिए ।।1॥

व्यभिचारी पुरुषों को जिस प्रकार कुशीली-व्यभिचारिणी स्त्रियों से सुख प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार वेश्याओं से भी उसे सुख कदाऽपि नहीं मिल सकता । क्योंकि वेश्यानुरागी का प्रचुर धनखर्च होता है । सब कुछ उनको अर्पण करने पर भी वे तृप्त नहीं होतीं यह निर्धन हो जाता है, दीन होकर धनेश्वरों से याचना करता है और अपमान जन्य अनुताप सहता है । नीतिज्ञ सदाचारी पुरुषों को दुराचारिणी और वेश्याओं से सतत् दूर रहना चाहिए ।।40-41॥

यदि मनुष्य को सोने के लिए गद्दे, तकिया, ओढ़ने को कम्बल, जीविका के साधन कृषि के लिए क्षत्र, गाय, बैल, आदि जीव धन, धर्मपत्नी, कार्यनिपुण सेवक आदि वस्तुएँ मिल जायें तो सुख क्यों न होगा. ? सभी को सुख होगा ही।।42॥

लोभयाचना से हानि, दारिद्र दोष, धनाढ्य की प्रशंसा :

लोभवति भवन्ति विफलाः सर्वे गुणाः ।।43॥ प्रार्थना कं नाम न लघयति ।।44॥ न दारिद्र्यात्परं पुरुषस्य लाञ्छनमस्ति यत्संगेन सर्वेगुणा निष्फलतां यान्ति ।।45॥ अलब्धार्थोपि लोको धनिनो भाण्डो भवति ।।46॥

धनिनो यतयोऽपि चाटुकारः ।147॥

अन्वयार्थ :- (लोभवति) लोभी में (सर्वे) सभी (गुणाः) गुण (विफलाः) निष्फल (भवन्ति) होते हैं ।143॥ (प्रार्थना) याचना (कं नाम) किसको (न) नहीं (लघयति) लघु करती ? ।144॥ (पुरुषस्य) पुरुष का (दारिद्र्यात्) दरिद्रता से (परम्) अधिक (लाञ्छनम्) दूषण (न) नहीं (अस्ति) है (यत्) जो (संगेन) साथ से (सर्वे) सभी (गुणाः) गुण (निष्फलताम्) व्यर्थ (यान्ति) जाते हैं ।145॥ (अलब्धः) धन न पाने पर (अपि) भी (लोकः) संसारी (धनिनः) धनिकों का (भाण्डः) कीर्तन (भवति) करने वाला होता है ।146॥ (यतयः) साधु (अपि) भी (धनिनः) धनिकों के (चाटुकारः) प्रशंसक होते हैं ।147॥

विशेषार्थ :- "लालच बुरी बलाय" लोभी के समस्त गुण व्यर्थ हो जाते हैं क्योंकि उनकी महिमा प्रकट नहीं करता, अपितु तृष्णावश उन्हें अप्रकट रखता है ।143॥

याचक के महत्व को वह स्वयं पी जाता है । अर्थात् याचना करने वाले को कौन लघु नहीं मानता ? सभी की दृष्टि में लघु हो जाता है ।144॥ संसार में जीवन को दूषित करने वाली वस्तु दरिद्रता से बढ़कर अन्य कुछ भी नहीं है। यह इतना विशाल दोष है कि इसके उदर में मनुष्य समस्त गुण समा जाते हैं । "दो" यह शब्द मुंह से निकलते ही मानव की श्री, ह्री, धृति, कीर्ति व यश निकल कर विलीन हो जाते हैं ।145॥ किसी विद्वान ने भी कहा है कि :-

उपकार परोयातिः निर्धनकस्यचिद्गृहे ।
पारयिष्यति मात्रेण धनाढ्यो मन्यते गृही ।।1॥

दरिद्र सज्जनतापूर्वक किसी का उपकार भी करता है तो लोग उसे सन्देह रूप दृष्टि से ही देखते हैं कि कहीं प्रत्युपकार में कुछ मांग न ले ।145॥

याचक को धनिक से धन नहीं मिले तो भी वह उसका यशोगान ही करता है, क्योंकि दूसरे दिन मिल जाने की आशा जगी रहती है । धन मिलने पर तो कहना ही क्या है । तब तो वह प्रशंसा के गीत गायेगा ही ।146॥ वल्लभदेव ने कहा है :

न त्वया सदृशो दाता कुलीनो न च रूपवान् ।
कुलीनोऽपि विरूपिपोऽपि गीयते च धनार्थिभिः ।।1॥

अर्थ :- धन चाहने वाला याचक दुष्कुलीन, कुरुप, अदाता को भी श्रेष्ठकुली सुन्दर रुपवान, बड़ादाता कहकर यश गाते हैं ।।1॥

साधुजन भी यदि धनिकों का यशोगान करें तो फिर साधारणजनों का क्या दोष है । वे तो उसकी प्रशंसा करते ही हैं ।147॥ वल्लभदेव ने कहा है :-

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः स पण्डितः सश्रुतवान्गुणज्ञः
स एव वक्ता स चदर्शनीयः सर्वेगुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ।।1॥

अर्थात् जिसके पास वैभव है वह धनेश्वर ही कुलीन, पण्डित, श्रुतवान, गुणमण्डित, वक्ता-उपदेशक, शोभनीय माना जाता है । अभिप्राय यह है कि संसार के समस्त गुण धन के आश्रय से फलते फूलते हैं ।।1॥

पवित्र वस्तु, उत्सव, पर्व, तिथि व यात्रा का माहात्म्य :

न रत्नहिरण्य पूताज्जलात्परं पावनमस्ति ।।48॥ स्वयं मेध्या आपोवह्नितप्तावि शेषतः ।।49॥ स एवोत्सवोयत्र वन्दिमोक्षो दीनोद्धनं च ।।50॥ तानिपर्वाणि येष्वतिथि परिजनयोः प्रकामं सन्तर्पण्म्।।51॥ तास्तिथियो यासुवयोविद्योचितमनुष्ठानम् ।।54॥ सा तीर्थयात्रा यस्यामकृत्यनिवृत्तिः ।।53॥

अन्वयार्थ :- (रत्नहिरण्यपूतात्) रतन व सुवर्ण से कृत (जलात्) जल से (परम्) बढ़कर (पावनम्) पवित्र (न) नहीं (अस्ति) है ।।48॥ (स्वयम्) अपनी प्रकृति से (मेध्या) पवित्र (आपः) जल (वह्नितप्त) अग्नि से गर्म (विशेषतः) विशेष शुद्ध है ।।49॥ (सः) वह (एव) ही (उत्सवः) उत्सव है (यत्र) जहाँ (वन्दिमोक्षः) कैदियों को मुक्त (च) और (दीनोद्धनम्) दीनों को अर्थयुत किया जाय ।।50॥ (तानि) वे (पर्वाणि) पर्व हैं (येषु) जिनमें (अतिथिपरिजनयोः) अतिथि और कुटुम्बी का (प्रकामम) विशिष्टाता से (सन्तर्पणम्) सन्तुष्ट किया जाय ।।51॥ (तिथियः) तिथि (तानि) वे हैं (यासु) जिनमें (अधर्माचरणम्) अधर्म का आचरण (न) न हो ।।52॥ (सा) वह (तीर्थयात्रा) यात्रा (यस्याम्) जिसमें (अकृत्य) नहीं करने योग्य की (निवृत्तिः) निवृत्ति हो ।।53॥ इति अन्वयार्थ :-

विशेषार्थ :- वैडूर्य, पन्नादि रत्न और सुवर्ण डालकर पवित्र किये जल से अधिक पावन वस्तु अन्य कोई भी नहीं है ।। सारांश यह है कि मरकतमणी आदि से पवित्र किया शुद्ध जल पीने व स्नान करने के लिए योग्य है ।।48॥

जल स्वभाव से निर्मल व पवित्र होता है । यदि उसे अग्नि से उष्ण-गर्म कर लिया जाय तो विशेष शुद्ध हो जाता है ।।49॥ मनु के उद्धरण से भी :-

आपः स्वभावतो मेध्याः किं पुनर्वन्हि संयुताः ।
तस्मात् सन्तस्तदिच्छन्ति स्नानमुष्णेन वारिणः ।।1॥

वही अर्थ है ।।49।।

"अहिंसा परमोधर्मः" अहिंसा सर्वोत्तम धर्म है । धार्मिक महोत्सवों में इसका ही पुट होना चाहिए । अतएव उत्सव वे ही वास्तविक हैं जिनमें वन्दिजनों को बन्धक मुक्त किया जाय । और अनाथों की रक्षा की जाय । रक्षाबन्धनादि पर्वों का यही सन्देश है कि अतिथियों का दान सम्मान किया जाय, और साधर्मियों व कुटुम्बियों का भी यथायोग्य भरण-पोषण किया जाय ।।50-51॥ भारद्वाज ने कहा है :-

अतिथि पूज्यते यत्र पोषयेत् स्व परिग्रहम् ।
तस्मिन्नहनि सर्वाणि पर्वाणि मनुरब्रवीत् ।।

तीस तिथियाँ हैं इनमें वे ही तिथियाँ सार्थक हैं जिनमें मनुष्य पापाचार से विरत हो और धर्माचरण में प्रवृत्त हो। जैमिनि ने भी कहा है :

यासु न क्रियते पापं ता एव तिथयः स्मृताः ।
शेषा वन्ध्यास्तु विज्ञेया इत्येवं मनुरब्रवीत् ।।1 ॥

अर्थात् पापयुक्त तिथियाँ निरर्थक और पुण्य युक्त सार्थक हैं ।।52 ॥

तीर्थयात्रा वही है जहाँ पाप रूप क्रिया न हो । अर्थात् जहाँ पर मनुष्यपापाचरण से विरत हों वही तीर्थयात्रा सार्थक है । सारांश यह है कि अन्यत्र उपार्जित पाप कर्म तीर्थ क्षेत्रों पर नष्ट होते हैं, वहाँ उत्पन्न पाप तो वज्रलेप होंगे ही । नीतिकारों ने कहा है :

अन्यत्र यत् कृतं पापं तीर्थस्थाने प्रयाति तत् ।
क्रियते तीर्थगैर्यच्च वज्रलेपं तु जायते ।।1 ॥

पाण्डित्य, चातुर्य, व लोक व्यवहार :

तत्पाण्डित्यं यत्र वयोविद्योचितमनुष्ठानम् ।।54 ॥ तच्चातुर्यं यत्परप्रीत्या स्वकार्यं साधनम् ।।55 ॥ तल्लोकिचतत्वं यत्सर्वजनादेयत्वम् ।।56 ॥

अन्वयार्थ :- (तत्) वह (पाण्डित्यम्) पण्डिताई है (यत्र) जहाँ (वयः) उम्र (विद्या) विद्या (उचितम्) योग्य (अनुष्ठानम्) आचरण है ।।54 ॥ (चातुर्यम्) चतुराई (तत्) वह है (यत्) जो (परप्रीत्या) पर से प्रेम द्वारा (स्वकार्यम्) अपना काम (साधनम्) सिद्ध करे ।।55 ॥ (तत्) वह (लोकोचितत्वम्) लोकाचार है (यत्) जो (सर्वजनाः) सभी (आदेयत्वम्) ग्रहण करें ।।56 ॥

विशेषार्थ :- पण्डित बनना सरल है किन्तु पण्डिताई पाना दुर्लभ है । वास्तव में पाण्डित्य वह है जो अपनी प्राप्त विद्या और आयु-उम्र के अनुरूप आचरण करे । अर्थात् मन, वचन, काय की सरलता से सत्कार्यों का सम्पादन करे वही यथार्थ विद्वत्ता मानी जाती है ।।54 ॥ गुरु विद्वान् का भी यही अभिमत है :-

विद्यायावयसश्चापि या योग्या क्रिया इह ।
तथा वेषश्च योग्यः स्यात् स ज्ञेयः पण्डितो जनैः ।।1 ॥

अर्थ :- अपनी उम्र व विद्या के अनुरूप वेषभूषा व आचरण पाले वही पण्डित है ।। पण्डित होकर तिलक, धोती दुपट्टा न धारण करे, पैंट, बूट, सूट पहन कर घूमे तो वह विपरीत है । अर्थात् अनुकूल कार्य ही शोभा पाता है ।।1 ॥

जिससे अपना कार्य सिद्ध होता है उससे स्नेह का व्यवहार कर कार्य सिद्धि कर लेना चातुर्य है ।।55 ॥ शुक्र ने भी कहा है :

यः शास्त्रात् साधयेत् कार्यं चतुरः स प्रकीर्तितः ।
साधयन्ति भेदाद्यैर्येते मतिर्विवर्जिताः ।।1 ॥

अर्थ :- सामनीति द्वारा जो पुरुष अपने कठिन भी कार्य को सरलता से सिद्ध कर लेता है वह चतुर है । इसके विपरीत भेदनीति द्वारा या दण्ड प्रयोग से जो व्यक्ति अपना प्रयोजन सिद्ध करता है उसे नीतिज्ञजन "मूर्ख" कहते हैं ।।1 ॥

यथार्थ लोकाचार या अनुष्ठान वह है जिसके द्वारा संसार उसे सम्मान प्रदान करे । अर्थात् अनुष्ठाता सर्वजनप्रिय हो जावे ।।56 ॥

सज्जनता व धीरता की महिमा, सौभाग्य, सभा-दोष, हृदयहीन का अनुराग व्यर्थ :

तत्सौजन्यं यत्र नास्ति परोद्वेगः ।।57 ॥ तद्धीरत्वं यत्र यौवनेनानपवादः ।।58 ॥ तत्सौभाग्यं यत्रादानेन वशीकरणम् ।।59 ॥ सा सभारण्यानी यस्यां न सन्ति विद्वान्सः ।।60 ॥ किं तेन आत्मनः प्रियेण यस्य न भवति स्वयं प्रियः ।।61 ॥

अन्वयार्थ :- (तत्) वह (सौजन्यम्) सज्जनता है (यत्र) जहाँ (परोद्वेगः) दूसरों को उद्वेगभय (नास्ति) नहीं होता ।।57 ॥ (धीरत्वम्) धैर्य (तत्) वह है (यत्र) जहाँ (यौवनेन) यौवन द्वारा (अनपवादः) व्यसन न हों ।।58 ॥ (सौभाग्यम्) सौभाग्य (तत्) वह है (यत्र) जहाँ (अदानेन) दान न देकर भी (वशीकरणम्) वशीकरण हो ।।59 ॥ (सा) वह (सभा) सभा (अरण्यानि) जंगल है (यस्याम्) जिसमें (विद्वान्सः) विद्वान (न) नहीं (सन्ति) हैं ।।60 ॥ (तेन) उससे (किम्) क्या (यस्य) जिसके (आत्मनः) स्वजनों को (प्रियेण) प्रेम द्वारा (स्वयम्) आप (प्रियः) स्नेही (न) नहीं (भवति) होता है ।।61 ॥

विशेषार्थ :- सज्जनता उसे कहते हैं जिससे कि दूसरों के हृदय में भय या उद्वेग का संचार न हो । अर्थात् देखते ही दूसरों के हृदय में उल्लास-प्रसन्नता की लहरें उठने लगें ।।57 ॥ वादरायण ने भी कहा है :

यस्य कृत्स्नेन कृत्स्नेन सानन्दः स्याज्जनोऽखिलः ।
सौजन्यं तस्य तज्ज्ञेयं विपरीतमतोऽन्यथा ।।1 ॥

भावार्थ वही है ।।57 ॥ का

जो पुरुष यौवन की तरुणाई में भी शान्तचित्त रहकर परदार रत नहीं होते, वेश्या सेवन से विमुख रहते हैं अर्थात् इन दोषों से अछूते रह स्वदार सन्तोष व्रत पालन करते हैं वे धीरतागुण धारी माने जाते हैं ।।58 ॥ शौनक ने भी कहा है:

परदारादिदोषेण रहितं यस्य यौवनम् ।
प्रयाति वा पुमान् धीरो न धीरो युद्धकर्मणि ।।1 ॥

युद्ध भूमि में धैर्य दिखाना यथार्थ नहीं, अपितु यौवनकाल में उद्धतता न आना धैर्य है ।।

दान न देने पर भी जो जनसमुदाय को आकृष्ट कर ले वही भाग्यशाली है ।।59 ॥ गौतम ने कहा है-

दानहीनोऽपि वशगोजनो यस्य प्रजायते ।
सभगः स परिज्ञेयो न यो दानादिभिर्नरः ।।1 ॥

अभिप्राय यह है कि पैसे के बल पर दूसरों को आधीन करना भाग्यवानी नहीं, अपितु अपने दिव्याचरण प्रेम से वश करना सौभाग्यपना है ।।59॥

जिस सभा में विद्वानों की उपस्थिति न हो वह सभा नहीं अपितु निर्जन वन प्रदेश है । कारण कि विद्वानों-ज्ञानियों के बिना धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्तव्यादि का उपदेश कौन करेगा । विवेक बोध ही जहाँ न हो उस सभा का प्रयोजन ही क्या है ? कुछ भी नहीं ।

वह व्यक्ति शत्रु सदृश है जो किसी के द्वारा प्रेम-स्नेह किये जाने पर भी उसके प्रति प्रेम का व्यवहार नहीं करता अपितु रुष्टता दिखलाता है । राजपुत्र के संग्रहीत श्लोक का भी यही अभिप्राय है :-

बल्लभस्यच योभूयोबल्लभः स्याद्विशेषतः ।
स वल्लभपरिज्ञेयो योऽन्यो वैरो स उच्यते ।।1॥

प्रिय के साथ प्रेम का व्यवहार करे वही स्नेही मित्र है अन्य शत्रु है ।।1॥ ।।61॥

निंद्य स्वामी, लेख का स्वरूप व उसका अप्रामाण्य, तत्काल फलदायी पाप :

स किं प्रभुर्यो न सहते परिजन सम्बाधम् ।।62॥ न लेखाद्वचनं प्रमाणम् ।।63॥ अनभिज्ञाते लेखेऽपि नास्ति सम्प्रत्ययः ।।64॥ त्रीणि पातकानि सद्यः फलन्ति स्वामिद्रोहः स्त्रीबधो बालवधश्चेति ।।65॥

अन्वयार्थ :- (सः) वह (किम्) क्या (प्रभुः) स्वामी (यः) जो (परिजनसम्बाधम्) परिजनों की बाधा को (न) नहीं (सहते) सहन करता है ।।62॥ (लेखात्) लेख से (वचनम्) वचन (प्रमाणम्) प्रमाणित (न) नहीं हैं ।।63॥ (अनभिज्ञाते) अज्ञात (लेखे) लेख होने (अपि) पर भी (सम्प्रत्यय) सच्ची प्रमाणता (न) नहीं (अस्ति) होती है ।।64॥ (त्रीणि) तीन (पातकानि) पाप (सद्यः) शीघ्र (फलन्ति) फल देते हैं (स्वामीद्रोहः) मालिकों को धोखा देना (स्त्रीबधः) नारी की मृत्यु (च) और (बालबधः) बच्चे की हत्या ।।65॥

विशेषार्थ :- जो स्वामी अपने सेवकों की अवस्था का विचार नहीं करता, अर्थात् उन्हें यथा योग्य समय पर वेतनादि नहीं देता अथवा अन्य कार्यों में सहायक नहीं होता । उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति में हिचकिचाता है वह निंद्य है।।62॥ गौतम ने भी कहा है :-

भृत्यवर्गार्थजे जाते योऽन्यथा कुरुते प्रभुः
स स्वामी न परिज्ञेय उदासीनः स उच्यते ।।1॥

जो भृत्यवर्ग के रक्षण-भरण-पोषण में असमर्थ पुरुष है वह स्वामी नहीं - अपितु सन्यासी समझना चाहिए ।।1॥

लेख एवं वचन इन दोनों में लेख को विशेष प्रतिष्ठित व अत्यधिक प्रमाणित माना जाता है । और वचनों को चाहे वे वृहस्पति के ही क्यों न हों प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होती ।। राजपुत्र का भी यही अभिप्राय है ।

लिखिताद्वाचिकं नैव प्रतिष्ठां याति कस्यचित् ।
बृहस्पतेरपि प्रायः किं तेन स्यापि कस्यचित् ।।1।।

उपर्युक्त ही अर्थ है ।।63।।

जो लेख (दस्तावेजादि) अनिश्चित होते हैं, वे प्रमाणित नहीं माने जाते । सारांश यह है कि मनुष्य को किसी की लिखी हुई वार्ता पर सहसा विश्वास नहीं करना चाहिए । सम्यक् प्रकार सोच-विचार कर प्रत्यक्ष व साक्षी द्वारा निर्णय करना चाहिए ।।64।। शुक्र ने भी कहा है :-

कूटलेख प्रपंचेन धूर्तैरार्यतमा नराः ।
लेखार्थो नैव कर्त्तव्यः साभिज्ञानं विना बुधैः ।।1।।

अर्थ :- धूर्त जन असत्य-कूटलेख लिखवाकर सत्पुरुषों को धोखा देने में नहीं चूकते । अतः अनिर्णीत लिखी बातों पर विश्वास नहीं करना चाहिए ।।64।।

संसार में तीन पाप भयङ्कर और तत्काल फल देने वाले कहे हैं :- 1. स्वामी का बध करना, 2. स्त्री हत्या, 3. बाल बध । इनका कुफल मनुष्य को इसी भव में अत्यन्त विकट रूप में भोगना पड़ता है ।।65।। नारद ने भी कहा है --

स्वामिस्त्रीबालहन्तृणां सद्य फलति पातकम् ।
इह लोकेऽपितद्वच्च तत्परत्रोपभुज्यते ।।1।।

अर्थ सरल है ।

बलिष्ठ के साथ विरोध से हानि, बलवान के साथ उद्दण्डता से क्षति, प्रवास व सुख :

अप्लवस्य समुद्रावगाहनमिवाबलस्य बलवत्तासहविग्रह टिरिटिल्लितम् ।।66।। बलवन्तमाश्रित्य विकृतिभंजनं सद्योमरणकारणम् ।।67।। प्रवासः चक्रवर्तिनामपि सन्तापयति किं पुनर्नान्यम् ।।68।। बहुपाथेयं मनोनुकूलः परिजनः सुविहिश्चोपस्करः प्रवासे दुःखोत्तरण तरण्डको वर्गः ।।69।।

अन्वयार्थ :- (अप्लवस्य) नौकारहित का (समुद्रावगाहनम्) सागर तिरने (इव) समान (अबलस्य) दुर्बल का (बलवत्तासह) बलवान के साथ (टिरिटिल्लितम्) विरोध (विग्रहा) युद्ध नाश के लिए है ।।66।। (बलवन्तम्) बली का (आश्रित्य) आश्रय कर (विकृतिभंजनम्) विरोध-उद्दण्डता करना (सद्यः) शीघ्र (मरणकारणम्) मृत्यु का कारण [अस्ति] है ।।67।। (प्रवासः) परदेश (चक्रवर्तिनाम्) चक्रियों को (अपि) भी (सन्तापयति) दुख देता है (पुनः) फिर (अन्यम्) दूसरे को (किम्) क्या (न) नहीं देगा ? ।।68।। (प्रवासे) यात्रा में (बहुपाथेयम्) भोजनसामग्री पर्याप्त (मनोनुकूलः) अनुकूल (परिजनः) सेवक (च) और (सुविहितः) उत्तम (उपस्करः) धन-वस्त्रादि (दुःखोत्तरण) दुःख से पार का (तरण्डकः) नौका (वर्गः) साधन समूह [सन्ति] हैं ।।69।।

विशेषार्थ :- विशाल सागर को बिना नौकादि साधन के मात्र भुजाओं से पार करने का प्रयास शीघ्र मृत्यु का कारण होता है उसी प्रकार बलवान के साथ विग्रह युद्ध करना अवश्य मृत्यु का ग्रास बनना है । अभिप्राय यह

है कि अपनी शक्ति देखकर युद्ध करना चाहिए ।। बलिष्ठ के साथ युद्ध नहीं करना चाहिए । ।66॥

बलिना सह युद्धं यः प्रकरोति सुदुर्बलः।।
क्षणं कृत्वात्मनः शक्त्या युद्धं तस्य विनाशनम् ।।1॥

गुरु विद्वान रचित

जो व्यक्ति बलवान का आश्रय लेकर या उपकार प्राप्त कर उसी के साथ उद्दण्डता करे, अर्थात् विरोध करे तो तत्काल मृत्यु को निमन्त्रण देता है । अभिप्राय यह है कि उपकारी के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए ।।67॥

विदेश की यात्रा करने वाले चक्रवर्ती को भी कष्टदायक प्रवास होता है तो फिर अन्य सामान्य मनुष्य की क्या बात? उसे तो संकट का सामना करना ही होगा । चारायण ने भी कहा है :-

प्रवासे सीदति प्रायश्चक्रवर्त्यपि यो भवेत् ।
किं पुनर्यस्य पाथेयं स्वल्पं भवति गच्छतः ।।1॥

अर्थ उपर्युक्त समान ही है ।

यदि मनुष्य को परदेश यात्रा में पर्याप्त भोजन सामग्री, आज्ञाकारी अनुकूल सेवकजन, उत्तम पर्याप्त धन व वस्त्रादि सामग्री दुःख रुप सागर से पार करने के लिए जहाज के समान हैं ।।69॥

'' ॥ इति व्यवहार समुद्देश''

इति श्री परम् पूज्य प्रातः स्मरणीय विश्ववंद्य चारित्र चक्रवर्ती मुनिकुञ्जर सम्राट् आचार्य परमेष्ठी, महातपस्वी, वीतरागी दिगम्बर जैनाचार्य श्री 108 आदिसागर जी अंकलीकर के पट्टधीश परम पूज्य तीर्थ भक्त शिरोमणि आगमतत्त्ववेत्ता 18 भाषाभाषी आचार्य श्रीमहावीर कीर्ति जी महाराज के संघस्था, परम् पूज्य वात्सल्य रत्नाकर, सन्मार्ग दिवाकर श्री 108 आचार्य विमल सागर जी महाराज की शिष्या ज्ञानचिन्तामणि प्रथम गणिनी आर्यिका विजयामती द्वारा यह हिन्दी विजयोदय की टीका का 27वाँ समुद्देश प.पूज्य तपस्वी सम्राट् सिद्धान्त चक्रवर्ती अंकलीकर के तृतीय पट्टाधीश आचार्य श्री सन्मतिसागर जी के पावन चरण सानिध्य में समाप्त किया ।

।। ॐ शान्ति ॐ ।।

।।0॥

28

विवाद समुद्देश

राजा का स्वरूप, उसकी समदृष्टि, विधान परिषद् के अधिकारी, अयोग्य सभासद, उनसे हानि, न्यायाधीश की पक्ष-पात दृष्टि :-

गुणदोषयोस्तुलादण्डसमो राजा स्वगुणदोषाभ्यां जन्तुषु गौरव लाघवे ।।1॥ राजात्वपराधालिंगितानां समवर्ती तत्फलमनुभावयति ।।2॥ आदित्यवद्यथावस्थितार्थ प्रकाशन प्रतिभाः सभ्याः ।।3॥ अदृष्टाश्रुतव्यवहारा परिपन्थिनः सामिषा न सभ्याः ।।4॥ लोभपक्षपाताभ्यामयथार्थवादिनः सभ्याः सभापतेः सद्योमानार्थहानिलभेरन् ।।5॥ तत्रालंविवादेन यत्र स्वयमेवं सभापतिः प्रत्यर्थी सभ्यसभापत्योरसामंजस्येन कुता जयः किं बहुभिश्छगलैः श्वा न क्रियते ।।6॥

अन्वयार्थ :- (गुणदोषयोः) गुण और दोष की (राजा) राजा (तुलादण्डसमः) तराजू समान है (स्व गुणदोषाभ्याम्) स्वयं उनके गुण दोषों द्वारा (जन्तुषु) प्राणियों में (गौरवलाघवे) बड़े छोटेपन [विचारयेत्] विचार करे ।।1॥ (समवर्ती) समदृष्टि (राजा) राजा (तु) निश्चय से (अपराधलिंगितानाम्) अपराधियों को (तत्फलम्) अपराधफल को (अनुभावयति) अनुभव कराता है ।।2॥ (आदित्यवत्) सूर्य समान (यथाव-स्थित) ज्यों के त्यों (अर्थप्रकाशन) पदार्थ प्रकटीकरण की (प्रतिभाः) योग्यता वाले (सभ्याः) सभ्यजन हैं ।।3॥ (अदृष्टाः) जिन्हें दृष्ट नहीं (अश्रुताः) सुना भी नहीं (व्यवहाराः) राज व्यवहार (परिपन्थिनः) शत्रु [सन्ति] हैं ।।4॥ (लोभपक्षपाताभ्याम्) लोभ और पक्षपात द्वारा (अयथार्थवादिनः) अयोग्यवादी (सभ्याः) सभासद (सभापतेः) सभापति की (मानार्थ) मान और अर्थ की (हानिः) नाश (लभेरन्) प्राप्त करेंगे ।।5॥ (तत्र) उसमें (विवादेन) विवाद से (अलम्) बस (यत्र) जहाँ (स्वयमेव) स्वयं ही (सभापतिः) सभापति (प्रत्यर्थी) स्वार्थी (सभ्यसभापत्यः) सभ्यसभासद (असामंजस्येन) असमंजस से (कुता) कहाँ (जयम्) जय हो ? (किं) क्या (बहुमः) बहुत से (छगलैः) बकरों द्वारा (श्वा) कुत्ता [पराजितः] परास्त (न क्रियते) नहीं किया जाता ? ।।6॥

विशेषार्थ :- तराजू के समान राजा को गुण दोषों का निर्णायक होना चाहिए । निष्पक्षभाव से गुण दोषों का निर्णय कर ही उन्हें महत्ता व लघुता प्रदान करनी चाहिए ।।1॥ उनके साथ यथायोग्य व्यवहार करे अर्थात् शिष्टों का पालन और दुष्टों का निग्रह करे ।।1॥

समस्त प्रजाजनों के समान नजर से देखने वाला न्यायवन्त राजा होता है । वह अपराधियों के अपराध-दोषों

के अनुसार उन्हें दण्डित करता है ।।2॥ गुरु ने भी कहा है कि अपराधी के अपराध के विषय में सत्यासत्य विचार कर ही दण्ड देना चाहिए । यथा :-

विजानीयात् स्वयं वाथ भूभुजा अपराधिनाम् ।
मृषा किं वाथवा सत्यं स्वराष्ट्र परिवृद्धये ।।1॥

इस प्रकार न्याय से राष्ट्र की वृद्धि होती है ।। राजा को न्यायी होना चाहिए ।।2॥

राजसभा (विधानपरिषद्) के सभासद-एक्जीक्युटिव कौन्सिल या पार्लियामेंट के अधिकारीगण (गवर्नरजनरल, प्रधानमन्त्री, गृहमन्त्री तथा सेना-अर्थ-स्वास्थ्य-न्याय-यातायात सचिव, शिक्षा सचिव आदि) सूर्य के समान पदार्थ को जैसा का तैसा प्रकाश करने वाली प्रतिभा सम्पन्न होना चाहिए । अर्थात् उन्हें समस्त राज्य शासन सम्बन्धी न्याय कानून नीति व्यवहार को यथार्थ रूप में जानना व मानना चाहिए । तभी राज्य व्यवस्था सुचारु रह सकती है ।।3॥ गुरु ने कहा है :-

यथादित्योऽपि सर्वार्थान् प्रकटान् प्रकरोति च ।
तथा च व्यवहारार्थान् ज्ञेयास्तेऽभी सभासदः ।।1॥

जिन लोगों ने राज्यशासन सम्बन्धी क्रिया-कलापों, व्यवहारों को अर्थात् शिष्ट पालन, दुष्ट निग्रहादि की रीति-नीति को शास्त्र द्वारा अध्ययन कर अनुभव नहीं किया है और न राजनीति वेत्ताओं के साथ सत्समागम ही किया है उनसे उन्हें श्रवण भी नहीं किया है तथा राजा के साथ ईष्यालु और वाद-विवाद करने वाले हैं, उन्हें राजा का शत्रु ही समझना चाहिए। वे विधानसभा के सभासद बनने के सर्वथा अयोग्य हैं ।। अतएव विधानसभा के सभासदों के पद पर उन्हें ही नियुक्त करना चाहिए जो राजसञ्चालन में चतुर हों, अपने उत्तरदायित्व को सम्यक् प्रकार निर्वाह करते हों, अनुभवी हो, वाद-विवाद नहीं करने वाले हों, जो न्याय-प्रणाली को उचित व्यवस्थापूर्वक कार्य रूप में परिणत कर सकने की क्षमता रखते हों, तथा राजनीतिज्ञ एवं अपने उत्तरदायित्वपूर्ण राज्यशासन आदि कार्यभार को पूर्ण रूप से संभालने में सक्षम हों ।। शुक्र विद्वान ने भी कहा है - ।।4॥

न दृष्टो न श्रुतो वापि व्यवहारः सभासदैः ।
न ते संभ्याख्यस्ते च विज्ञेया पृथ्वीपतेः ।।1॥

तेः ।।1॥ संग्रहीत श्लोक है ।

जिस राज्यसभा में लोभी एवं पक्षपाती असत्यभाषी सभासद होते हैं, वे निःसन्देह राजा के मान व धन का नाश करेंगे ।।5॥ गर्ग ने भी कहा है :-

अयथार्थं प्रवक्तारः सम्या यस्य महीपतेः ।
मानार्थहानिं कुर्वन्ति तस्य सद्यो न संशयः ।।1॥

अर्थ वही है ।।

जिस सभा में सभापति (न्यायाधीश) पक्षपाती वादी (मुद्दई) हो वहाँ वाद विवाद करना व्यर्थ है । क्योंकि विवाद करने वाले सभासद् और सभापति में एकमत न होने से वादी की विजय कदाऽपि संभव नहीं है । कारण स्पष्ट है अन्य सभी राजा का ही पक्ष स्वीकार करेंगे क्योंकि "जल में रहकर मगरमच्छ से बैर" युक्ति कौन अपनायेगा? कोई नहीं । फलतः वादी की पराजय सुनिश्चित है । जिस प्रकार बलशाली कुत्ता भी अनेक बकरों द्वारा परास्त कर दिया जाता है, उसी भांति प्रभावशाली वादी विरोधी राजा आदि द्वारा पराभव को प्राप्त करता है ।।6।। शुक्र ने भी कहा है :-

प्रत्यर्थी यत्र भूपः स्यात् तत्र वादं न कारयेत् ।
यतो भूमिपतेः पक्षं सर्वे प्रोचुस्तथानुगाः ।।1।।

तथैव अर्थ है ।

विवाद में पराजित का लक्षण, अधम सभासद, वाद-विवाद में प्रमाण :-

विवाद भास्थाय यः सभायां नोपतिष्ठेत्, समाहूतोऽपसरति, पूर्वोक्तमुत्तरोक्तेन बाधते, निरुत्तरः पूर्वोक्तेषु युक्तेषु युक्तमुक्तं न प्रतिपद्यते, स्वदोषमनुवृत्य परदोषमुपालभते, यथार्थे वादेऽपि द्वेष्टि सभामिति पराजितलिङ्गानि ।।7।। छलेनाप्रतिभासेन वचनाकौशलेन चार्थ हानिः ।।8।। भुक्तिः साक्षी शासनं प्रमाणम् ।।9।।

प्रमाणों की निरर्थकता व वेश्या और जुआरी की बात भी प्रामाण्य कब ? :-

भुक्ति सापवादा, साक्रोशाः साक्षिणः शासनं च कूटलिखितमिति न विवादं समापयन्ति ।।10।। बलोत्कृतमन्यायकृतं राजोपधिकृतं च न प्रमाणम् ।।11।। वेश्याकितवयोरुक्तं ग्रहणानुसरितया प्रमाणयितव्यम् ।।12।।

अन्वयार्थ :- (यः) जो (विवादमास्थाय) वाद-विवाद समाप्त होने पर (सभायाम्) सभा में (न उपतिष्ठते) उपस्थित न हो, (समाहूतः) बुलाने पर (अपसरति) चला जाता है, (पूर्वोक्तं) पहले कथन को (उत्तरोक्तेन) बाद में (बाधते) बाधित करे (निरुत्तरः) उत्तर न दे (पूर्वोक्तेषु) पूर्व कथन पर (युक्तेषु) युक्त में (युक्तम्) सही (उक्तम्) कथन (न) नहीं (प्रतिपद्यते) स्वीकृत करे (स्वदोषम्) अपने दोष को (अनुवृत्य) छुपा (परदोषम्) दूसरे के दोष को (उपालभते) दुहरावे (यथार्थवादे) सत्य कथन पर (अपि) भी (सभाम्) सभा से (द्वेष्टि) द्वेष करे (इति) ये (पराजितः) पराजयी के (लिङ्गानि) चिन्ह [सन्ति] हैं ।।7।। (छलेन) कपट से (अप्रतिभासेन) विपरीत कथन से (च) और (वचनः) वाणी के (अकौशलेन) अचतुराई से (अर्थहानिः) धन हानि [भवति] होती है ।।8।। (भुक्तिः) अनुभव (साक्षी) प्रत्यक्ष (शासनम्) लेख (प्रमाणम्) प्रमाण।।9।। (भुक्तिः) अनुभव (सापवादः) अपवाद युत हो, (सीक्षणः) गवाह (साक्रोशाः) कोपयुत हों, (च) और (शासनम्) लेख (कूटलिखितम्) कपटी हो (विवादम्) विवाद (न समापयन्ति) समाप्त नहीं होता है ।।10।। (बलोत्कृतम्) बलात् (अन्यायकृतम्) अन्याय (च) और (राज्योपधिकृतम्) राजविरोधी (न) नहीं (प्रमाणम्) प्रमाणित ।।11।। (वेश्या कितवयोः) वेश्या व जुआरी का (उक्तम्) कथन (ग्रहणानुसरितया) विवाद-न्यायालय में समयानुसार (प्रमाणयितव्यम्) प्रमाणित करना चाहिए ।।12।।

विशेषार्थ :- जो व्यक्ति विवाद कर सभा में न आवे, आग्रह से बुलाने पर भी जो सभा में आने को तैयार न हो, प्रथम कुछ कहकर अपनी ही बात को पुनः बदलकर अन्य प्रकार कथन करे, असत्य नई बात बनावे, न्यायी विद्वानों द्वारा उसी के कथन पर प्रश्न करने पर जो उत्तर न दे सके, जो अपने कथन को सत्य सिद्ध न कर सके, जो अपना कथन सिद्ध न कर उसके विपरीत प्रतिवादी को ही दोषी ठहरावे, सज्जनोंनीतिज्ञों की उचित परामर्श के विरुद्ध सभा से ही विरोध करे तो इन लक्षणों से निर्णय हो जाता है कि वह वादी, प्रतिवादी या साक्षी (गवाही) वाद-विवाद में हार गया है ।।7॥ जो पुरुष सभा में छल-कपट, बलात्कार व वाक्चातुर्य द्वारा वादी की स्वार्थ हानि करने का प्रयास करते हैं, वे तुच्छ, अधम व नीच समझे जाते हैं ।।8॥ भारद्वाज ने भी कहा है :-

छलेनापि बलेनापि वचनेन सभासदः ।
वादिनः स्वार्थहानिं ये प्रकुर्वन्ति च तेऽधमाः ।।1॥

अर्थ वही है ।

यर्थार्थ अनुभव, सत्य गवाही (साक्षी) और यथार्थ सच्चे लेखों द्वारा प्राप्त प्रमाणों से वाद-विवाद में सत्यता का निर्णय किया जाता है ।।9॥ जैमिनि ने कहा है :-

सं वादेषु च सर्वेषु शासनं भुक्तिरुच्यते ।
भुक्तेरनन्तरं साक्षी तदभावे च शासनम् ।।1॥

अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभव के अभाव में साक्षी और साक्षी के अभाव में लेख को प्रमाण रूप स्वीकार किया जाता है ।।1॥

किसी भी वाद-विवाद के निर्णय में गूढ़ अनुभव, गवाही-साक्षी व लेखों द्वारा कार्य किया जाता है । जहाँ ये तीनों ही असत्य या विपरीत हों तो वहाँ झगड़ा शान्त न होकर उलटा अधिक उलझ जाता है । अर्थात् सदोष अनुभव, झूठे गवाह और बनावटी लेख-दस्तावेज वाद-विवाद को जटिल बना देते हैं ।।10॥ रैम्य ने भी कहा है :-

बलात्कारेण या भुक्तिः साक्रोशाः साक्षिणोऽत्र ये ।
शासनं कूटलिखितप्रमाणानि त्रीण्यपि ।।1॥

सभासदों द्वारा अनुभव, साक्षी व प्रमाण बलात् अथवा अन्याय एवं राजकीय शक्ति द्वारा समन्वित किये जाते हैं तो उन्हें प्रमाणित नहीं माना जाता । क्योंकि उनके पीछे स्वार्थ छिपा रहता है । भागुरि ने भी इसी का समर्थन किया है :-

बलात्कारेण यत् कुर्युः सभ्याश्चान्यायतस्तथा ।
राजोपधिकृतं तत्प्रमाणं भवेन्न हि ।।1॥

अर्थ :- बलात्कार, अन्याय व राजकीय शक्ति से किये जाने वाले अनुभव आदि को असत्य ही समझा जाता है ।।1॥

संसार में वेश्या एवं जुआरी लोगों को अविश्वासी माना जाता है । परन्तु न्यायालय में उनके द्वारा कही हुई वार्ता को अनुभव, साक्षी आदि द्वारा निर्णय किये जाने पर प्रमाणित माना जाता है ।।12॥ रैम्य ने भी कहा है -

या वेश्या बंधकं प्राप्य लघुमात्रं बहु व्रजेत् ।
सहिको द्यूतकारश्च हतौ द्वावपि ते तनौ ।।1॥

विवाद की निष्फलता, धरोहर-विवाद-निर्णय, गवाही की सार्थकता :-

असत्यङ्कारे व्यवहारे नास्ति विवादः ।।13॥ नीवीविनाशेषु विवादः पुरुष प्रामाण्यात् सत्यापयितव्यो दिव्य क्रियया वा ।।14॥ यादृशे तादृशे वा साक्षिणि नास्ति दैवी क्रिया किं पुनरुभयसम्मते भनुष्ये नीचेऽपि ।।15॥

अन्वयार्थ :- (असत्यङ्कारे) मिथ्या (व्यवहारे) व्यवहार में (विवादः) विवाद (नास्ति) नहीं होता ।।13॥ (नीवी) धरोहर (बिनाशेषु) नष्ट होने पर (विवादः) विवाद (पुरुषप्रमाण्यात्) पुरुष की प्रमाणता से (सत्यापयितव्यः) सत्य निर्णय करना चाहिए (वा) अथवा (दिव्य) शपथ (क्रियया) क्रिया से निर्णय करे ।।14॥ (यादृशे) ऐसा (वा) अथवा (तादृशे) वैसा (साक्षिणि) गवाह होने पर (दैवी) शपथादि (क्रिया) कर्म (नास्ति) नहीं चलता (पुनः) फिर (उभयसम्मते) मुद्दई मुद्दालय (पुरुषे) पुरुषों के (नीचे) तुच्छ होने पर (अपि) भी (किम्) क्या कहना ? ।।15॥

विशेषार्थ :- जिस स्थान पर मिथ्या-असत्य विवाद खड़ा हो जाता है वहाँ यथार्थ निर्णय करने के लिए सज्जनों को प्रयास नहीं करना चाहिए । क्योंकि जिस केश (मुकदमे) में मुद्दई व मुद्दालय अथवा वादी-प्रतिवादी दोनों ही असत्यभाषी हों अथवा वादी के स्टाम्प आदि असत् होते हैं वहाँ विवाद खड़ा ही नहीं हो सकता मुकदमा चल ही नहीं पाता, फिर निराधार निर्णय की आशा करना व्यर्थ है ।।13॥ ऋषिपुत्रक ने भी कहा है :-

असत्यंकार संयुक्तो व्यवहारो नराधिप ।
विवादो वादिना तत्र नैव युक्त. कथंचन ।।1॥

किसी अर्थी पुरुष ने अन्य किसी पुरुष के पास अपना सुवर्णादि कुछ धरोहर रूप में स्थापित किया (रक्खा) कारणवश वह नष्ट हो गया है और पुनः स्वामी के मांगने पर वह मनाई कर दे कि मुझे धन दिया ही नहीं । उस हालत में न्यायाधीश का कर्त्तव्य है कि उस धरोहर का निर्णय रखने वाले पुरुष की सचाई से करे और यदि धरोहर रखने वाला प्रामाणित पुरुष न हो तो उससे शपथ कराकर अथवा दण्डभय दर्शाकर यथार्थता का पता लगावे और उसका धन धनी को दिलवा दे । साथ ही यदि धरोहर रखने वाला कहता है कि धन चोरी हो गया तो उसका पता लगाकर निर्णय करे कि सत्य क्या है ? और पुनः निर्णय करे ।।14॥ नारद ने भी कहा है :-

निक्षेपो यदि नष्टः स्यात् प्रमाणः पुरुषार्पितः ।
तत्प्रमाणं सकार्यो यद्दिव्ये तं वा नियोजयेत् ।।1॥

उपर्युक्त ही अर्थ है ।

जिस मुकद्दमे में यदा तदा कोई भी पुरुष साक्षी होता है तब न्यायाधीश द्वारा वादी प्रतिवादी को शपथ दिलाकर भी सत्य का निर्णय करना व्यर्थ है क्योंकि दुराग्रह में निर्णय करने में सार्थकता नहीं होती । यदि दोनों मुद्दई मुद्दायले द्वारा माने हुए श्रेष्ठपुरुष के साक्षी-गवाही होने पर सत्य की जांच के लिए शपथ कराना सर्वथा निरर्थक है ।।15॥ भार्गव ने भी कहा है :-

अधर्मापि भवेत् साक्षी विवादे पर्यवस्थिते ।
तथा दैवी क्रिया न स्यात् किं पुनः पुरुषोत्तमे ।।1॥

शपथ के योग्य अपराधी, उसके निर्णय पर दण्डविधान :-

यः परद्रव्यमभियुञ्जीताभिलुम्पते वा तस्य शपथः क्रोशो दिव्यं वा ।।16॥ अभियोगैर्विशुद्धस्याभियुक्तार्थ सम्भावनायां प्राणाशेषोऽर्थापहारः ।।17॥

अन्वयार्थ :- (यः) जो (परद्रव्यम्) धरोहर को (अभियुञ्जीतः) हड़पे (वा) अथवा (अभिलुम्पते) नष्ट करे (तस्य) उसको (शपथः) सौगन्ध, (क्रोशः) कोप-भय (वा) अथवा (दिव्यम्) दिव्यक्रिया-शपथ द्वारा न्याय है ।।16॥ (अभियोगैः) कूटनीति द्वारा (विशुद्धस्य) शुद्ध की (अभियुक्तार्थ) अपराध के (सम्भावनायाम्) संभवति होने पर (प्राणावशेषः) प्राण दण्ड छोड़ (अर्थाः) धन (अपहारः) हरण करना ।।17॥

विशेषार्थ :-दूसरे का धन या धरोहर हरण करने वाला या नष्ट करने वाले अपराधी का निर्णय करने के लिए साक्षी के अभाव में न्यायाधीश को दिव्यक्रिया (शपथ कराना आदि) उपाय काम में लाने चाहिए ।। गर्ग ने भी कहा है :-

अभियुञ्जीत चेन्मर्त्यः परार्थं वा विलुम्पते ।
शपथस्तस्य क्रोशो वा योग्यो वा दिव्यमुच्यते ।।1॥

इसमें भी अपराधी की जांच के लिए शपथ का विधान किया है ।।1॥16॥

यदि वादी प्रबुद्धोऽपि दिव्याद्यैः कटजैः कृतैः ।
पश्चात्तस्य च विज्ञानं सर्वस्वहरणं स्मृतम् ।।1॥

विशेषार्थ :- जिस अपराधी ने अपने अपराध की शुद्धि प्रथम कूटिनीतियों, घूंसादि के साक्षी-गवाहों द्वारा सिद्ध कर दी हो और पुनः अपराध का भेद प्रकट हो जाय तो अर्थात् चोरी आदि सिद्ध होने पर न्यायाधीश उसे प्राण दण्ड की सजा न देकर उसके धन अपहरण करावे ।।17॥ शुक्र विद्वान ने भी यही कहा है-

शपथ के अयोग्य अपराधी व उनकी शुद्धि का उपाय, लेख व पत्र के संदिग्ध होने पर फैसला, न्यायाधीश के बिना निर्णय की निरर्थकता, ग्राम व नगर सम्बन्धी मुकद्दमा, राजकीय निर्णय एवं उसको न मानने वाले को कड़ी सजा :-

लिङ्गिनास्तिकस्वाचारच्युतपतितानां दैवी क्रिया नास्ति ।।18॥ तेषां युक्तितोऽर्थ सिद्धिरसिद्धिर्वा ।।19॥ संदिग्धे पत्रे साक्षे वा विचार्य परिच्छिंद्यात् ।।20॥ परस्पर विवादे न युगैरपि विवादपरिसमाप्तिरानन्त्या-द्विपरीतप्रत्युक्तीनाम् ।।21॥ ग्रामेपुरे वा वृत्तो व्यवहारस्तस्य विवादे तथा राजानमुपेयात् ।।22॥ राज्ञा दृष्टे व्यवहारे नास्त्यनुबन्धः ।।23॥ राजाज्ञां मर्यादां वाऽतिक्राम् सद्यः फलेन दण्डेनोपहन्तव्यः ।।24॥

अन्वयार्थ :- (लिङ्गिः) सन्यासी (नास्तिकः) नास्तिक (स्वाचारच्युत) आचरणभ्रष्ट (पतितानाम्) पतितजनों को (दैवीक्रिया) शपथ कार्य (नास्ति) नहीं है ।।18॥ (तेषाम्) उनको (युक्तितः) युक्तियों से (अर्थसिद्धिः) प्रयोजन सिद्धि (वा) अथवा (असिद्धिः) असिद्धि [कर्त्तव्या] करनी चाहिए ।।19॥ (पत्रे) लेख (वा) अथवा (साक्षेः) गवाही के (सन्दिग्धेः) सन्देहास्पद होने पर (विचार्य) विचार कर (परिच्छिन्दियात्) निर्णय करे ।।20॥ (परस्पर विवादे) विवाद होने पर (युगैः) युगों से (अपि) भी (विवादपरिसमाप्तिः) विवाद का अन्त (न) नहीं (आनन्त्यात्) अनन्तों (विपरीत) विरुद्ध (प्रत्युक्तीनाम्) प्रत्युत्तर युक्तियों का ।।21॥ (ग्रामे) गाँव में (पुरे) नगर (वा) अथवा (वृतः) चारित्र (व्यवहारः) व्यवहार सम्बन्धी (विवादे) झगड़ा होने पर (तस्य) उसका (तथा) उचित न्याय को (राजानम्) राजा केपास (उपेयात्) लाना चाहिए ।।22॥ (राज्ञा) राजा से (दृष्टे) देखने पर (व्यवहारे) मुकदमे-या-झगड़े में (अनुबन्धः) शंकादि (न) नहीं (अस्ति) है ।।23॥ (राजाज्ञाम्) राजा की आज्ञा का (वा) अथवा (मर्यादाम्) सीमा के (अतिक्रामन्) उलंघन करने पर (सद्यः) शीघ्र (फलेन) फल (दण्डेन) दण्ड द्वारा (उपहन्तव्यः) मृत्यु दण्ड देना चाहिए ।।24॥

विशेषार्थ :- सन्यासी वेषधारी, नास्तिक (ईश्वर को नहीं मानने वाले), चारित्रहीन व जातिच्युत मानवों के अपराध यदि साक्षी-गवाह आदि द्वारा सिद्ध नहीं होने पर भी धर्माध्यक्ष-न्यायाधीश को उन्हें शपथ दिलाकर उनके अपराध साबित नहीं कराना चाहिए क्योंकि ये लोग प्रायः असत्य-झूठी शपथ भी खाकर अपने को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। अतः न्यायाधीश को सुयोग्य बलिष्ठ युक्तियों द्वारा उनकी प्रयोजन सिद्धि का उपाय करना चाहिए । अर्थात् अनेकों उपायों द्वारा उन्हें अपराधी या निरपराध सिद्ध कर दण्डित करना अथवा छोड़ देना चाहिए ।।18-19॥ वादरायण ने भी कहा है -

युक्त्या विचिन्त्य सर्वेषां लिंगिनां तपसः क्रिया ।
देवा वचनतया शुद्धिरसंगत्या विवर्जनम् ।।1॥

सन्यासियों आदि का न्याय इसी प्रकार करना चाहिए ।।1॥

यदि वादी-मुद्दई द्वारा पेश किये गये स्टाम्प, गवाह, लेख साक्षी आदि प्रमाण सन्देहास्पद प्रतीत हों तो न्यायाधीश सम्यक् प्रकार ऊहा-पोहकर-सोच-समझकर सावधानी से निर्णय-फैसला करे ।।20॥ शुक्र ने भी कहा है :-

सन्दिग्धे लिखिते जाते साक्ष्ये वाथ सभासदैः ।
विचार्य निर्णयः कार्यो धर्मो शास्त्र सुनिश्चयः ।।1॥

वादी और प्रादवादी स्वयं ही अपना निर्णय करने बैठ जाँय तो सुनिश्चित है कि वे बारह वर्षों में भी निर्णय नहीं ले सकेंगे । अतः मध्यस्थ धर्माध्यक्ष अवश्य होना ही चाहिए । क्योंकि वे परस्पर अपना-अपना पक्ष समर्थित करते रहेंगे और इस प्रकार अनन्त युक्तियाँ खड़ी होंगी । इसलिए दोनों को न्यायालय में जाकर जज (न्यायाधीश) द्वारा अपना निर्णय कराना चाहिए । वहाँ सत्यासत्य का प्रामाणिक निर्णय होना संभव है । किसी विद्वान ने कहा है - ।।21॥

धर्माधिकारिभिः प्रोक्तं यो वादं चान्यथा क्रियात् ।
सर्वस्वहरणं तस्य तथा कार्य महीभुजाः ।।1॥

अर्थात् राजा को न्यायाधीश के निर्णय को स्वीकार कर नहीं मानने वाले का समस्त धन हरण कर लेना चाहिए ।।1॥

ग्राम, नगर व शहर में किसी सम्बन्धी विवाद को लेकर राजा के पास ही आना चाहिए । मुद्दई और मुद्दालयों को राजा से निर्णीत कराकर फैसला करवाना चाहिए ।।22॥ गौतम विद्वान के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है :-

पुरे वा यदि वा ग्रामे यो विवादस्य निर्णयः ।
कृतः स्याद्यदि भूयः स्यात्तद् भूपाग्रे निवेदयेत् ।।1॥

राजा द्वारा किया गया फैसला निर्दोष होता है । इसलिए जो वादी या प्रतिवादी राजा के निर्णय को अमान्य करता है, मर्यादा का उल्लंघन करता है अर्थात् राजाज्ञा को नहीं मानता है तो उसे मृत्युदण्ड दिया जाना चाहिए ।।23-24॥ शुक्र ने भी राजशासन विरोधी को मृत्युदण्ड कहा है :-

वादं नृपति निर्णीतं योऽन्यथा कुरुते हठात् ।
तत्क्षणादेव वध्यः स्यान्न विकल्पं समाचरेत् ।।1॥

दुष्ट निग्रह, सरलता से हानि, धर्माध्यक्ष का राजसभा में कर्त्तव्य, कलह के बीज व प्राणों के साथ आर्थिक क्षति का कारण :-

न हि दुर्वृत्तानां दण्डादन्योऽस्ति विनयोपायोऽग्निसंयोग एव वक्रं काष्ठं सरलयति ।।25॥ ऋजुं सर्वेऽपि परिभवन्ति न हि तथा वक्र तरुश्छिद्यते यथा सरलः ।।26॥ स्वोपलम्भ परिहारेण परमुपालभेत स्वामिनमुत्कर्षयन्

गोष्ठीमवतारयेत् ।।27॥ न हि भर्तुरभियोगात् परं सत्यमसत्यंवा वदन्तमवगृह्णीयात् ।।28॥ अर्थ सम्बन्धः सहवासश्च नाकलहः सम्भवति ।।29॥ निधिराकस्मिको वार्थलाभः प्राणैः सह संचितमप्यर्थमपहारयति ।।30॥

अन्वयार्थ :- (दुर्वृत्तानाम्) दुष्टों को (दण्डात्) दण्ड से (अन्यः) दूसरा (विनयोपायः) नम्र करने का उपाय (न) नहीं (अस्ति) है (वक्रम) टेड़े (काष्ठम्) काठ या लकड़ी को (अग्निसंयोग) आग का संयोग (एव) ही (हि) निश्चय से (सरलयति) सीधा करता है ।।25॥ (ऋजुम्) सरल को (सर्वे:) सभी (अपि) ही (भी) (परिभवन्ति) तिरस्कार करते हैं (हि) निश्चय से (तथा) उस प्रकार (वक्रः) टेड़ा (तरुः) वृक्ष (न) नहीं (छिद्यते) कटता है (यथा) जिस प्रकार (सरलः) सीधा ।।26॥ (स्व उपालम्भ) अपने उलाहने का (परिहारेण) दूर करने से (परम्) दूसरे के (उपालभेत्) न्याय पायें (स्वामिनम्) राजा को (उत्कर्षयन्) उन्नत करते हुए (गोष्ठीम्) विषय को (अवतारयेत्) उपस्थित करे ।।27॥ (हि) निश्चय से (भर्तुः) स्वामी के (अभियोगात्) अभिप्राय से (परम्) अतिरिक्त (सत्यम् असत्यम् वा ?) झूठ-सच (वदन्तम्) कहने वाले को (न) नहीं (अवगृह्णीयात्) ग्रहण करे ।।28॥ (अर्थसम्बन्धः) आर्थिक संबन्ध (च) और (सहवासः) एकत्र निवास (अकलहः) बिना कलह (न) नहीं (सम्भवति) संभव होता है ।।29॥ (आकस्मिकः) अचानक (निधिः) खजाना (वा) अथवा (अर्थलाभः) धन प्राप्ति (प्राणैः) प्राणों के (सह) साथ (सञ्चितम्) एकत्रित (अर्थम्) धन को (अपि) भी (अपहारयति) हरण करता है ।।30॥

विशेषार्थ :- दुराचारी अन्यायरत एवं दुष्टों को वश करने के लिए दण्ड नीति ही समर्थ है अन्य कोई उपाय नहीं। क्योंकि टेड़ी व तिरछी लकड़ी को आग लगाने तपाने से ही सीधी होती है, उसी प्रकार पापी, नीच लोग भी दण्ड से ही सीधे होते हैं - न्यायमार्ग पर चलते हैं अन्यथा नहीं ।।25॥ शुक्र विद्वान भी कहता है :-

यथात्र कुटिलं काष्ठं वन्हियोगात् भवेदृजुः ।
दुर्जनोऽपि तथा दण्डादृजुर्भवति तत्क्षणात् ।।1।।

दुर्जन, अन्यायियों को सन्मार्ग पर लाने को दण्डनीति ही समर्थ है ।।1॥

सरल स्वभावी मानव का सभी पराभव-तिरस्कार करते हैं, जिस प्रकार वन प्रदेश में टेड़े-मेड़े वृक्षों को त्याग कर सरल-सीधों को ही काटा जाता है ।।26॥ गुरु विद्वान का भी यही अभिप्राय है :-

ऋजु सर्वं च लभते न वक्रोऽथ पराभवम् ।
यथा च सरलो वृक्षः सुखं छिद्यते छेदकैः ।।1॥

न्यायाधीश धर्माध्यक्ष होता है । उसे न्याय करते समय राजा की अनुकूलता से उसे प्रसन्न करते हुए वादी-प्रतिवादी का विवाद (मुकद्दमा) देखना चाहिए । न्याय इस प्रकार का हो कि उसे कोई उपालम्भ (उलाहना) न दे और मुद्दई एवं मुद्दालयों में से कोई एक दोषी कानूनन निर्णीत किया जावे ।।27॥ कहा है-

धर्माधिकृत मर्त्येन निवेद्यः स्वामिनोऽखिलः
विवादो न यथा दोषः स्वस्थ स्यान्न तु वादिनः ।।1॥

गौतमेन ।।

न्यायाधीश अपने स्वामी-राजा का पक्ष स्वीकार करे, परन्तु सत्य-असत्य प्रतिपादित करने वाले वादी के साथ वाक्युद्ध न करे ।।28॥ भागुरि ने कहा है :-

यो न कुर्याद्रणं भूयो न कार्यस्तेन विग्रहः ।
विग्रहेण यतो दोषो महतामपि जायते ।।1॥

परस्पर रुपये-पैसों का लैन-दैन और एक ही घर में निवास करना ये दोनों बातें कलह विसम्बाद उत्पन्न करते हैं ।।29॥ गुरु ने भी कहा है :-

न कुर्यादर्थसम्बन्धं तथैक गृह संस्थितिम् ।
तस्य युद्धं बिना कालः कथंचिदपि न व्रजेत् ।।1॥

अकस्मात् प्राप्त हुआ खजाना (जमीन में गढ़ा हुआ धन) अन्याय से प्राप्त धन ये दोनों ही खतरनाक हैं । क्योंकि इनके द्वारा प्राणों के साथ ही साथ पूर्वसंचित धन को भी नष्ट कर डालती हैं ।।30॥

वाद-विवाद में ब्राह्मण आदि के योग्य शपथ :-

ब्राह्मणानां हिरण्ययज्ञोपवीत स्पर्शनं च शपथः ।।31॥ शस्त्ररत्न भूमिवाहन पल्याणानां: तु क्षत्रियाणाम् ।।32।। श्रवणपोत स्पर्शनात् काकिणीहिरण्यो वां वैश्यानाम् ।।33॥ शूद्राणां क्षीरबीजयोर्वल्मीकस्य वा ? ।।34॥ कारूणां यो येन कर्मणा जीवति तस्यतत्कर्मोपकरणानाम् ।।35॥ व्रतिनामन्येषा चेष्टदेवतापादस्पर्शनात् प्रदक्षिणाद्दिव्यकोशात्तन्दुल तुलारोहणैर्विशुद्धिः ।।36॥ व्याधानां तु धनुर्लंघनम् ।।37॥ अन्त्यवर्णावसायिनामार्द्रचर्मावरोहणाम् ।।38॥

अन्वयार्थ :- (ब्राह्माणानाम्) विप्रों की (हिरण्यः) सुवर्ण (च) और (यज्ञोपवीतम्) जनेऊ (स्पर्शनम्) छूना (शपथः) सौगन्ध है ।।31॥ (क्षत्रियाणाम्) क्षत्रियों का (शस्त्र) हथियार (रत्नम्) रत्न (भूमिः) पृथ्वी (वाहनम्) वाहन (तु) तथा (पल्याणानाम्) और पलाण की ।।32॥ (वैश्यानाम्) वैश्या का नियम (श्रवणपोत स्पर्शनात्) कर्ण बच्चा नौका (स्पर्शनात्) छूने से (वा) अथवा (काकिणी) कौड़ी, पैसा रुपया (हिरण्ययोः) सुवर्णादि ।।33॥ (शूद्राणाम्) शूद्रों की (क्षीर बीजयोः) दूध, बीज (वा) अथवा (वल्मीकस्य) सर्प की वामी का ।।34॥ (कारूणाम्) धोबी चमार आदि का (यः) जो (येन) जिस कर्म द्वारा (कर्मणा) कार्य से (जीवित) जीता है (तस्य) उसे (तत्कर्मोकरणानम्) उस कर्म के अस्त्रशस्त्रों का स्पर्श करना । (व्रतिनाम्) व्रतियों का (अन्येषाम्) और भी अन्य लोगों को (च) और सबको (इष्टदेवता) उन उन के इष्ट देव के (पादस्पर्शनात्) चरणकमल स्पर्शनम् (प्रदक्षिणा) फेरी लगाने (तथा) एवं (दिव्यकोशात्) धन (तन्दुलः) चावल (तुलारो हणैः) तराजू लांघने से (विशुद्धिः) शुद्धि [भवति] होती है ।।36॥ (व्याधानाम्) बहेलियों की (तु) तो (धनुर्लंघनम्) धनुष के उल्लंघन से ।।37॥ (अन्त्यवर्णावसायिनाम्) नीच-चाण्डालादि की (आर्द्रचर्मावरोहणम्) गीले चमड़े पर चढ़ने की शपथ कराना ।।38॥

विशेषार्थ :-न्यायालय में या राजदरबार में वाद-विवाद के निर्णय के लिए वर्णों के अनुसार शपथ दिलाना चाहिए । ब्राह्मणों को सुवर्ण व जनेऊ-यज्ञोपवीत छूने की, क्षत्रियों को शस्त्र, रत्न, पृथ्वी, गज, अश्वादि वाहन और पलाण की, वैश्यों-व्यापारियों को कर्ण, बाल-बच्चा, कौड़ी, रुपया, पैसा व सुवर्ण के स्पर्श की, शुद्रों को दूध, बीज व सर्प की वामी छूने तथा धोबी, चमार आदि कारु सूद्रों को उनके जीविनोपकरणों की शपथ करानी चाहिए ।।31-35॥ गुरु विद्वान ने भी उपर्युक्त कथन का ही समर्थन किया है :-

हिरण्य स्पर्शनं यच्च ब्रह्मसूत्रस्य चापरम् ।
शपथो ह्येष निर्दिष्टो द्विजातीनां न चापरः ।।1॥

शस्त्र रत्न क्षमायाणां न पल्याणां स्पर्शनाद्भवेत् ।
शपथः क्षत्रियाणां च पंचानां च पृथक् पृथक् ।।2॥

शपथो वैश्य जातीनां स्पर्शनात् कर्णबालयोः ।
काकिणी स्वर्णयोर्वापि शुद्धिर्भवति नान्यथा ।।3॥

दुग्धस्यान्नस्य संस्पर्शाद्वल्मीकस्य तथैव च ।
कर्त्तव्यः शपथः शूद्रैः विवादे निजशुद्धये ।।4॥

यो येन कर्मणा जीवेत् कारुस्तस्य तदुद्भवम् ।
कर्मोपकरणं किंचित् तत्स्पर्शाच्छुद्ध्यते हि सः ।।5॥

इसी भाँति व्रती व अन्य पुरुषों की शुद्धि उनके अपने-अपने इष्ट देवता के चरणकमल स्पर्श से अथवा प्रदक्षिणा कराने से होती है । तथा धन-शालि-चावल व तराजू को लांघने से होती है । एवं व्याधों से धनुष लांघने की और चाण्डाल, कंजर चमार आदि से गीले चमड़े पर चढ़ने की शपथ खिलानी चाहिए ।।36-38॥ गुरु ने भी व्रती, व्याध व चाण्डालादि से इस प्रकार शपथ विधि बताई है :-

व्रातनोऽन्ये च ये लोकास्तेषां शुद्धिः प्रकीर्तिता ।
इष्ट देवस्य संस्पर्शात् दिव्यैर्वा शास्त्र कीर्तितैः ।।1॥

पुलिन्दानां विवादे च चापलंघनतो भवेत् ।
विशुद्धि र्जीवनं तेषां यतः स्वयं प्रकीर्तितः ।।2॥

अन्त्यजानां तु सर्वेषामार्द्र चर्मावरोहणं
शपथः शुद्धिदः प्रोक्तो यथान्येषां च वैदिकः ।।3॥

क्षणिक वस्तुएँ, वेश्यात्याग, परिग्रह से हानि, दृष्टान्त से समर्थन, मूर्ख का आग्रह :-

वेश्या महिला, भृत्यो, भाण्डः, क्रीणिनियोगो, नियोगिमित्रं चत्वार्यशाश्वतानि ।।39।। क्रीतेष्वाहारेष्विव पण्यस्त्रीषु क आस्वादः ।।40।। यत्र यावानेव परिग्रहस्तस्य तावानेव सन्तापः ।।41।। गजे गर्दभे च राजरजकयोः सम एव चिन्ता भारः ।।42।। मूर्खस्याग्रहो नापायमनवाप्य निवर्तते ।।43।।

अन्वयार्थ :- (वेश्यामहिला) पण्यस्त्री (भृत्यः) नौतर (भाण्डः) भांड (क्रीणिनियोगः) टैक्स लेने वाला (नियोगिमित्रम्) अधिकारी मित्र (चत्वारि) ये चारों (अशाश्वतानि) आनित्य हैं ।।39।। (क्रीतेषु) खरीदा (आहारेषु) भोजन के (इव) समान (पण्यस्त्रीषु) वेश्या में (कः) क्या (आस्वादः) आनन्द है ? ।।40।। (यत्र) जहाँ (यावान्) जितना (एव) ही (परिग्रहः) परिग्रह (तस्य) उसके (तावान्) उतना (एव) ही (सन्तापः) कष्ट है ।।41।। (गजे) हस्ती में (गर्दभे) गदहे के पालन में (राजा) राजा (च) और (रजकः) धोबी (अनयोः) इन दोनों के (सम) समान (एव) ही (चिन्ताभारः) चिन्ताभार है ।।42।। (मूर्खस्य) मूर्ख का (आग्रहः) आग्रह-हठ (अपायम्) कष्ट (अनवाप्य) प्राप्त किये बिना (न) नहीं (निवर्तते) जाता है ।।43।।

विशेषार्थ :- वेश्या-बाजारु स्त्री, उद्दण्ड या क्रोधी नौकर-सेवक, अधिक टैक्स या चुंगी लेने वाला अधिकारी मित्र, इनकी मित्रता स्थिर रहने वाली नहीं है । अर्थात् इनके प्रेम में स्वार्थ और विशिष्ट लोभ रहता है, यही कारण है कि स्वार्थ में कमी आते ही इनकी मित्रता रफूचक्कर हो जाती है ।।39।। शुक्र :-

वेश्यापत्नि तथा भण्डः सेवकः कृतसंग्रहः ।
मित्र नियोगिनं यच्च न चिरं स्थैर्यतां व्रजेत् ।।1।।

1. वेश्या, 2. भण्ड-उद्दण्ड सेवक, 3. संग्रही अधिकारी और अधिकारी मित्र ये चारों अस्थायी हैं अर्थात् इनके साथ मित्रता नश्वर है ।।39।। चारों क्षणिक हैं ।

जिस प्रकार बाजार से खरीदा हुआ रुखा, सूखा, अशुद्ध भोजन सुखदायक नहीं होता, आरोग्यवर्द्धक व स्वादिष्ट नहीं होता है, उसी प्रकार बाजारू वेश्याओं से सुख प्राप्त नहीं होता । अतः विवेकीपुरुषों को सदा के लिए वेश्याओं का सेवन त्याग करना चाहिए ।।40।। शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

क्रय क्रीतेन भोज्येन याद्दग्भुक्तेन सा भवेत् ।
ताद्दक् संगेन वेश्याः सन्तोषो जायते नृप ।।1।।

संसार में कहावत है - "गाय न बाछी नींद आवे आछी" अर्थात् परिग्रह दुःख का मूल है । जिस व्यक्ति के पास जितना अधिक वाह्याडम्बर-परिग्रह, धन, धान्य, गाय, भैंस, मकान, रुपये-पैसा वस्त्राभरणादि, दासी आदि रहते हैं उसे उतना ही कष्ट सहना पड़ता है । अर्थात् अधिक परिग्रह से अधिक सन्ताप और अल्प से अल्प सन्ताप होता है । इसीलिए आचार्यदेव श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने कुरल काव्य में कहा है "जिस जिस वस्तु का त्याग करा जाता है उस उस सम्बन्धी आपत्तियों का भी त्याग हो जाता है"।। नारद विद्वान ने भी कहा है - ।।41।।

अनित्येऽत्रैव संसारे यावन्मात्रः परिग्रहः ।
तावन्मात्रस्तु सन्तापस्तस्मात्त्याज्यः परिग्रहः ।।1।।

राजा और धोबी की चिन्ता समान है क्योंकि राजा को अपने गज के पालन-पोषण रक्षण की चिन्ता रहती है और धोबी-रजक को अपने गधे के विषय में आकुलता बनी रहती है । अभिप्राय यह है कि परिग्रह सर्वत्र सबके लिए समान रूप से आकुलता का कारण रहता है ।। अतः इसका त्याग ही सुख का कारण है ।।42।। नारद ने कहा है :-

गजस्य पोषणे यद्वद्राज्ञः चिन्ता प्रजायते ।
रजकस्य च बालेये तादृक्षा बाधिका भवेत् ।।1।।

अज्ञानी दुराग्रही होता है । उसका कदाग्रह उसी का घातक सिद्ध होता है । हठ को अपने ही विनाश का कारण ज्ञात कर विद्वानों को हठग्राहिता का त्याग करना चाहिए ।। जैमिनि ने भी कहा है :-

एकाग्रहोऽत्र मूर्खाणां न नश्यति बिना क्षयम् ।
तस्मादेकाग्रहो विज्ञैर्न कर्त्तव्यः कथंचन ।।1।।

अर्थात् मूर्खों का हठ नाश का कारण होता है क्योंकि वह इसे छोड़ना नहीं चाहता । लोक में कहा है -

पकडी को छोडे नहीं मूर्ख गधे की पूंछ ।
शास्त्ररीति जाने नहीं उलटी ताने मूंछ ।।

परिणामतः लातों का पात्र होकर अपना ही नाश करता है ।। अतः हठ नहीं करना सज्जनता का हेतू है - सुख का कारण है ।।43।।

मूर्ख के प्रति विवेकी का कर्त्तव्य, मूर्ख को समझाने से हानि व निर्गुण वस्तु :-

कार्पासाग्नेरिव मूर्खस्य शान्तावुपेक्षणमौषधम् ।।44।। मूर्खस्याभ्युपपत्तिकरणमुद्दीपन पिण्डः ।।45।। कोपाग्नि प्रज्वलितेषु मूर्खेषु तत्क्षणप्रशमनं घृताहुति निक्षेप इव ।।46।। अनस्तितोऽनड्वानिव ध्रियमाणो मूर्खः परमाकर्षति ।।47।। स्वयमगुणं वस्तु न खलु पक्षपातात् गुणवद्भवति न गोपाल स्नेहादुक्षा क्षरति क्षीरम् ।।48।।

अन्वयार्थ :- (कार्पासः) रूई की (अग्निः) आग के (इव) समान (मूर्खस्य) मुर्ख के (शान्तौ) शान्त का उपाय (उपेक्षणम्) उपेक्षा (औषधम्) औषधि है ।।44।। (मूर्खस्य) मूर्ख का (अभ्युपपतिकरणम्) अभ्युदय का उपदेश (उद्दीपनपिण्डः) मूर्खता को ही बढ़ाना है ।।45।। (कोपाग्नि प्रज्वलितेषु) क्रोध अग्नि जलने पर (मुर्खेषु) मुर्खों में (तत्क्षण) उस समय (प्रशमनम्) शान्त करना (घृता हुतिः) घी के होम (निक्षेपः) डालने के (इव) समान है।।46।। (अनस्तितः) नथुने रहित (अनड्वान्) वृषभ (इव) समान (ध्रियमानः) समझाने पर (मूर्खः) अज्ञानी

(परमाकर्षति) तेजी से खींचता है ।147॥ (स्वयम्) अपने (अगुणम्) निर्गुण (वस्तु) पदार्थ (खलु) निश्चय से (पक्षपातात्) पक्षपात से (गुणवत्) गुणवान (न) नहीं (भवति) होती हैं (गोपालस्नेहात्) ग्वाले के प्रेम से (उक्षा) वृषभ-बैल (क्षीरम्) दूध (न) नहीं (क्षरति) निकालता है ।148॥

विशेषार्थ :- रुई और अग्नि का भयंकर विरोध है । कपास के कोठे में तीव्र अग्नि प्रज्वलित हो जाय तो उसके बुझाने का प्रयास विफल होता है उसी प्रकार मूर्ख-अज्ञानी जिस समय दुराग्रह ग्रहण कर ले अर्थात् हठ पकड़ ले तो उस समय उसे दुराग्रह छोड़ने का उपदेश करना व्यर्थ है क्योंकि जिद्दी पर चढ़ा वह उसे कदाऽपि नहीं छोड़ता । अतः इस अवसर पर उसकी उपेक्षा करना ही परमौषधि है । उससे भाषण नहीं करना ही उत्तम कार्य है ।144॥ विद्वान भागुरी ने भी कहा है :-

कर्पासे दह्यमाने तु यथा युक्तमुपेक्षणम् ।
एक ग्रहपरे मूर्खे तद्वदन्यं न विद्यते ।।1॥

अर्थ :- मूर्ख एकान्त हठग्राही होने पर विवेकी उसकी उपेक्षा कर दे यही उत्तम है क्योंकि रुई के ढेर को अग्नि पकड़ ले तो उसकी उपेक्षा ही श्रेयस्कर है ।।1॥

मूर्ख-अविवेकी को हित का उपदेश देना उसकी उद्दण्डता या अनर्थकारी प्रवृत्ति को बढ़ाना ही है । अतः विवेकी जनों को मूर्खों के प्रति उपदेश नहीं करना चाहिए । कहा है :-

उपदेशो हि मूर्खानामपकाराय जायते ।
पयः पानं भुजंगानां केवलं विष वर्द्धनम् ।।

सर्पराज को मधुर दुग्धपान भी मात्र विष की वृद्धि का ही कारण होता है उसी प्रकार मूर्ख-जड़-बुद्धि पुरुष को कल्याणकारी उपदेश भी नाश का ही कारण होता है ।145॥ गोतम ने भी कहा है :-

यथा यथा जडो लोको विज्ञैः लोकैः प्रबोध्यते ।
तथा तथा च तज्जाड्यं तस्य वृद्धिं प्रयच्छति ।।1॥

कोपानल के जाज्वल्यमान होने पर मूर्खों को तत्काल समझाना मानों अग्नि में घी की आहुति डालने के समान है। अर्थात् जिस प्रकार आग में घृत डालने से वह भभक उठती है उसी प्रकार मूर्ख भी समझाने पर शान्त न होकर उसके विपरीत और अधिक कुपित होता जाता है । अतः मूर्ख को कुपितावस्था में समझाना निरर्थक है ।146॥

जिस वृषभ के नथुने नहीं होते वह उसे खींचने वाले पुरुष को अपनी ओर तेजी से खींचता है, उसी प्रकार बेमर्याद हठी मूर्ख पुरुष भी उपदेशकर्ता को अपनी ओर ही खींचता है अर्थात् उस शिष्ट से अधिक शत्रुता करता है । अतएव विवेकीजन मूर्खों को हित का उपदेश नहीं देवे ।147॥ भागुरि ने भी कहा है :-

नस्तया रहितो यद्वद्धियमाणोऽपि गच्छति ।
वृषस्तद्वच्च मूर्खोऽपि भूयः कोपान्न निष्कृति ।।48।।

ग्वाला बैल को अत्यधिक स्नेह करे तो क्या वह दुग्ध देता है ? नहीं । उसी प्रकार निर्गुण वस्तु पक्षपात-वश किसी के द्वारा प्रशंसित किये जाने पर भी क्या गुणाधिक सम्पन्न हो सकती है ? नहीं कदाऽपि नहीं होती । कहा भी है कि -

''जीको जौन स्वभाव जाय न जी सो
नींम न मीठो होय खाओ घी गुड़ सो ।।''

नारद ने भी कहा है :-

स्वयमेव कुरुपं यत् तन्न स्याच्छंसितं शुभम् ।
यथोक्षा शासितः क्षीरं गोपालेन ददाति नो ।।

अभिप्राय यह है कि वस्तु स्वभाव अन्यथा नहीं किया जा सकता ।।48।।

''इति विवाद समुद्देशः''

इति श्री परम् पूज्य चारित्र चक्रवर्ती प्रथमाचार्य मुनिकुञ्जर समाधि सम्राट् परम दिगम्बर, विश्ववंद्य, सन्तशिरोमणि आचार्य श्री 108 आदिसागर जी ''अंकलीकर'' महाराज के पट्टाधीश परम् पूज्य तीर्थभक्तशिरोमणि, अठारह भाषा भाषी, उद्भट, विद्वान श्री 108 आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज के संघस्था एंव परम् पूज्य वात्सल्य रत्नाकर, सन्मार्ग दिवाकर, खण्डविद्याधुरंधुर श्री 108 आचार्य विमलसागरजी की शिष्या प्रथमगणिनी, ज्ञानचिन्तामणि 105 आर्यिका विजयामती माताजी द्वारा यह हिन्दी विजयोदय टीका का 28वाँ समुद्देश परम् पूज्य, उग्र-तपस्वी सम्राट् सिद्धान्त चक्रवर्ती, अंकलीकर के तृतीय पट्टाधीश श्री 108 सन्मति सागर जी महाराज के परम पावन चरण सान्निध्य में समाप्त हुआ ।।

।। ॐ नमः शान्ति ।।

।।0।।

29

षाड्गुण्य - समुद्देश

शम व उद्योग का परिणाम, लक्षण, भाग्य व पुरुषार्थ विवेचन :-

शमव्यायामौ योगक्षेमयोर्योनिः ।।1।। कर्मफलोपभोगानां क्षेमसाधनाशमः कर्मणां योगाराधनो व्यायामः ।।2।। दैवं धर्माधर्मौ ।।3।। मानुषं नयानयौ ।।4।। दैवं मानुषञ्च कर्म लोकं यापयति ।।5।। तच्चिन्त्यमचिन्त्यं वा दैवम् ।।6।। अचिन्तितोपस्थितोऽर्थसम्बन्धो दैवायत्तः ।।7।। बुद्धिपूर्वं हिताहित प्राप्ति परिहार सम्बन्धो मानुषायत्तः ।।8।। सत्यपि दैवेऽनुकूले न निष्कर्मणो भद्रमस्ति ।।9।। न खलु दैवमीहमानस्य कृतमप्यन्नं मुखे स्वयं प्रविशति ।।10।। न हि दैवमवलम्बमानस्य धनुः स्वयमेव शरान् संधत्ते ।।11।। पौरुषमवलम्बमानस्यार्थानर्थयोः सन्देहः ।।12।। निश्चित एवानर्थो दैवपरस्य ।।13।। आयुरौषधयोरिव दैवपुरुषकारयोः परस्पर संयोगः समीहितमर्थं साधयति ।।14।।

अन्वयार्थ :- (शम व्यायामौ) शान्ति और व्यायाम (योगक्षेमयोः) संयोग और कुशलता की (योनिः) स्थानभूमि हैं ।।1।। (कर्मफलोपभोगानां) कर्म और फल भोगने में (क्षेमसाधना) सन्तोष धारण (शमः) शम (कर्मणाम) कर्मों का (योगाराधनः) प्रारम्भ करने का उद्यम (व्यायमः) व्यायाम [अस्ति] है ।।2।। (दैवम) शुभाशुभ कर्म (धर्माधर्मौ) धर्म और अधर्म [स्तः] हैं ।।3।। (नयानयौ) नय अनय विचार (मानुषम्) मनुष्यता पुरुषार्थ है ।।4।। (दैवम्) भाग्य (च) और (मानुषम्) पुरुषार्थ (कर्म) कार्य (लोकम्) लोक को (यापयति) चलाता है ।।5।। (अचिन्तितः) बिना विचारे (उपस्थितः) प्राप्ति (अर्थ सम्बन्धः) अर्थ-धन मिलना (दैवायत्तः) भाग्य से प्राप्त है ।।7।। (तत्) वह (दैवम्) भाग्य (चिन्तितम्) विचारपूर्वक (वा) अथवा (अचिन्तितम्) बिना विचारे हो ।।6।। (बुद्धिपूर्वः) बुद्धि से (हिताहितम्) हित और अहित (प्राप्ति परिहारः) उपलब्धि व त्याग (सम्बन्धः) सम्बन्ध (मानुषः) पुरुषार्थ से (आयत्तः) आया [अस्ति] है ।।8।। (दैवे) भाग्य के (अनुकूले) अनुकूल (सति) होने पर (अपि) भी (निष्कर्मणः) पुरुषार्थ बिना (भद्रम्) कल्याण (न) नहीं (अस्ति) है ।।9।। (खलु) निश्चय से (दैवम्) भाग्य से (इह) यहाँ (आनीयमानस्य) लाये जाने पर भी (कृतम्) किया (अपि) भी (अन्नम्) अन्न (मुखे) मुख में (स्वयम्) अपने आप (न) नहीं (प्रविशति) प्रविष्ट होता ।।10।। (हि) निश्चय से (दैवम्) भाग्य (अवलम्ब्यमानस्य) का सहारा लेने से (धनुः) धनुष (स्वयमेव) अपने आप (शरान्) तीरों को (न) नहीं (संधत्ते) तानता है ।।11।। (पौरुषम्) पुरुषार्थ (अवलम्बमानस्य) आलम्बन लेने वाले का (अर्थानर्थयोः) अर्थ, अनर्थ का (सन्देहः) सन्देह है ।।12।। (निश्चित) निश्चयपरक (एव) ही (अनर्थो) अनर्थ (दैवपरस्य) भाग्य के अधीन [अस्ति] है ।।13।। (आयुः)

उग्र-जीवन (औषधयोः) दवा (इव) समान (दैवपुरुषकारयोः) भाग्य और पुरुषार्थ का (परस्पर-संयोगः) आपस का सम्बन्ध (समीहितम्) इच्छित (अर्थम्) प्रयोजन को (साधयति) सिद्ध करता है ।।14॥

विशेषार्थ :- शम-कर्मों के फलभोगने में कुशलता उत्पन्न करने वाला गुण और व्यायाम अर्थात् नैतिक पुरुषार्थ-कार्य की प्राप्ति और उसमें सफलता प्राप्त कराते हैं । सारांश यह है कि शिष्ट-सज्जन पुरुष लौकिक एवं धार्मिक कार्यों में तभी सफल हो सकते हैं जब वह पुण्य के फलोपभोग-इष्ट वस्तु की प्राप्ति में कुशल हो, गर्व-अहंकार रहित और पापफलोपभोग-अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति में धीर वीर सहनशील हो ।।1॥

पुण्य पाप कर्मों के फल इष्ट और अनिष्ट वस्तुओं के संयोग के समय समता रखने वाला गुण शम कहलाता है। सम्पत्ति में अहंकार नहीं होना और विपत्ति में व्याकुल नहीं होना शम गुण का फल है । शम एवं कार्यारम्भ किये जाने वाला उद्योग "व्यायाम" कहा जाता है ।।2॥

प्राणी शुभ या अशुभ कुछ न कुछ कर्म करता ही है । पूर्व भवों में संचित यह शुभाशुभ कर्म ही "दैव" या 'भाग्य' कहलाता है ।।3॥ व्यास ने भी कहा है :-

येन यत्र कृतं पूर्वं दानमध्ययनं तपः ।
तेनैवाभ्यासयोगेन तच्चैवाभ्यस्यते पुनः ।।1॥

आज का पुरुषार्थ ही आगे का भाग्य बनता है । यही आगे-आगे अभ्यास बनकर सुख-दुःख का कारण हो जाता है ।।1॥

अहिंसा, सत्यादि न्यायपूर्ण कार्यों के सम्पादन करने तथा दुराचारादि कुकर्मों के करने में होने वाले उद्योग को "पुरुषार्थ" कहते हैं । परन्तु श्रेयस् इच्छुक, कल्याण चाहने वाले सत्पुरुषों को सदैव नीतिपूर्ण शुभ-कल्याणप्रद कार्यों में ही प्रयत्नशील रहना चाहिए ।।4॥ गर्ग विद्वान ने भी कहा है :-

नयो वाप्यनयोवापि पौरुषेण प्रजायते ।
तस्मान्नयः प्रकर्त्तव्यो नानयश्च विपश्चिता ।।1॥

यही अर्थ है ।

भाग्य और पुरुषार्थ दोनों ही कार्य सिद्धि या प्रयोजनसिद्धि में समान रूप से सहायक होते हैं । कहीं भाग्य का प्राध्यान्य होता है तो पुरुषार्थ गौण हो जाता है और पुरुषार्थ की प्रधानता में भाग्य गौण पड़ जाता है । सारांश यह है कि लोक में पुरुषों को अनुकूल भाग्य और नीति-न्यायपूर्ण पुरुषार्थ से इष्ट कार्यों की सिद्धि होती है, और प्रतिकूल से अनिष्ट होता है । मात्र पुरुषार्थ व भाग्य से नहीं होती ।।5॥ स्वामी समन्त भद्राचार्य ने पुरुषार्थ व भाग्य की विशद विवेचना की है :-

दैवादेवार्थसिद्धिश्चेद्दैवं पौरुषतः कथम् ।
दैवतश्चेदनिर्मोक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत् ।।88॥

पौरुषादेव सिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवतः कथम् ।
पौरुषाच्चेदमोघं स्यात् सर्वप्राणिषु पौरुषम् ।।89।।

अबुद्धि पूर्वापेक्षायामिष्टनिष्टं स्वदैवतः ।
बुद्धिपूर्व व्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ।।91।।

(मीमांसा ।

अर्थ :- जो जन अनुकूल व प्रतिकूल भाग्य द्वारा ही इष्ट एवं अनिष्ट पदार्थ की सिद्धि मानते हैं, उनके यहां उस समय उद्योग-पुरुषार्थ नगण्य गौण है, तब नीति न्यायपूर्ण पुरुषार्थ द्वारा अनुकूल भाग्य और अन्याय युक्त पुरुषार्थ द्वारा प्रतिकूल भाग्य का सम्पादन नहीं हो सकता । इसी प्रकार भाग्य की परम्परा अक्षुण्ण चालू रहने से सांसारिक व्याधियों के कारण कर्मों का नैतिक पुरुषार्थ द्वारा नाश न होने से मुक्ति श्री की भी प्राप्ति नहीं हो सकेगी। एवं लौकिक-कृषि-व्यापारादि व धार्मिक दान, शील, संयमादि कार्यों की सिद्धि के लिए किया जाने वाला पुरुषार्थ व्यर्थ हो जायेगा ।।

इसी भाँति जो जन पुरुषार्थ से ही कार्यसिद्धि मानते हैं, उनके यहाँ दैव प्रामाण्य से पुरुषार्थ निष्फल नहीं होना चाहिए और समस्त प्राणियों का पुरुषार्थ सफल होना चाहिए । अतः अर्थ सिद्धि में भाग्य और पुरुषार्थ दोनों ही की उपयोगिता है । एक से कार्य सिद्धि नहीं होती । साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि जिस समय मनुष्यों को इष्ट (सुखादि) अनिष्ट (दुःखादि) पदार्थ बिना पुरुषार्थ के उद्योग बिना अचानक (सहसा) प्राप्त होते हैं वहां उनकी अनुकूलता व प्रतिकूलता का कारण भाग्य ही समझना चाहिए । यहाँ पुरुषार्थ गौण है । इसी प्रकार पुरुषार्थ के माध्यम से इष्टानिष्ट सामग्री का सम्पादन होता है तो वहाँ पुरुषार्थ की मुख्यता और भाग्य-दैव को गौण समझना चाहिए ।। इस प्रकार जीवन में पुरुषार्थ और भाग्य दोनों ही की उपयोगिता है ।। गुरु ने भी कहा है :-

यथा नैकेन हस्तेन ताला संजायते नृणाम् ।
तथा न जायते सिद्धिरेकेनैव च कर्मणा ।।1।।

अर्थ :- जिस प्रकार एक हाथ से मनुष्य ताली बजाने में समर्थ नहीं हो सकता, उसी प्रकार एक ही पुरुषार्थ व दैव वशात् कार्य सिद्धि नहीं होती है ।।

अन्य किसी भी कार्य के विषय में सोचने-विचारने वाले व्यक्ति को बिना विचारे अन्य ही कार्य की अचानक सिद्धि या प्राप्ति हो जाय तो यह इष्ट या अनिष्ट सिद्धि भाग्याधीन समझना चाहिए ।।7।। शुक्र ने भी कहा है :-

अन्यच्चिन्तयामानस्य यदन्यदपि जायते ।
शुभं वा यदि वा पापं ज्ञेयं दैवकृतं च तत् ।।1।।

विवेकी मनुष्य को भाग्य के भरोसे नहीं बैठना चाहिए । अपने लौकिक-कृषि व्यापारादि तथा आध्यात्मिक-धार्मिक कार्यों - दान, पूजा, स्वाध्यायादि में प्रमाद करना योग्य नहीं है । यथा शक्ति पुरुषार्थ प्रयत्न करना ही चाहिए।

वल्लभदेव ने भी कहा है :-

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी दैवेन देयमिति का पुरुषावदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरुपौरुषमात्मशक्त्या, यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्र दोषः ॥

उद्योगी-पुरुषार्थी सिंह पुरुष अपने कठोर परिश्रम से लक्ष्मी प्राप्त करते हैं । कायर भाग्य भरोसे बैठे रहते हैं । अतः दैवाधीन न रहकर यथायोग्य पुरुषार्थ करने में दत्तचित्त होना चाहिए ।।6॥

मनुष्य जो कुछ भी बुद्धिपूर्वक सम्पन्न किये हुए कार्यों को पुरुषार्थ के आधीन कहा है । मनुष्य बुद्धिपूर्वक सुखदायक पदार्थों की प्राप्ति व कष्टदायक पदार्थों से निर्वृत्ति करता है वह उसके नैतिक पुरुषार्थ पर निर्भर है ।।8॥ शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

बुद्धिपूर्वं तु यत्कर्म क्रियतेऽत्रशुभाशुभम् ।
नरायत्तं च तज्ज्ञेयं सिद्धं वासिद्धमेव च ।।1।।8॥

भाग्य की अनुकूलता रहने पर भी यदि मनुष्य कार्य करने का उद्योग न करे । निरुत्साही (आलसी) बना बैठा रहे तो उसके कार्य की सिद्धि कदाऽपि नहीं हो सकती । समझना चाहिए उसका हित-कल्याण अभी दूर है। सारांश यह है कि विवेक-कर्मठ मनुष्य को भाग्याधीन बन कर चुप नहीं बैठना चाहिए अपितु सदैव लौकिक व धार्मिक कार्यों में पुरुषार्थ करते रहना चाहिए । इसी में उसका कल्याण है अन्यथा नहीं ।।9॥ वल्लभदेव ने भी उद्योग द्वारा कार्य सिद्धि लिखी है :-

उद्यमेन हि सिद्धयन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ।।1॥

अर्थात् उद्यमद्वारा ही कार्य सिद्ध होते हैं मन में चिन्तवन मात्र से नहीं । क्योंकि सिंह पशुओं में बलिष्ठतम है तो भी निद्रावस्था में उसके मुख में आकर पशुगण स्वयं नहीं घुसते । उसे पुरुषार्थ-प्रयत्न करना ही पड़ता है ।।1॥

यद्यपि भाग्यवशात् किसी महानुभाव को अन्न प्राप्त हो भी जाय तो भी क्या बिना हस्त-पाद चलाये स्वयं वह मुख में प्रविष्ट होगा ? नहीं हो सकता । इसी प्रकार भाग्यभरोसे बैठे रहने मात्र से मनुष्य को कार्य की सफलता नहीं मिल सकती। अपितु पुरुषार्थ से ही सफलता प्राप्त होती है ।।10॥ भागुरि ने भी कहा है :-

प्राप्तं दैव वशादन्नं क्षुधार्तस्यापि चेच्छुभम् ।
सावन्न प्रविशेद् वक्त्रे यावत्प्रेषति नोत्करः ।।1॥

धनुष में डोरी लगी ही रहती है, परन्तु क्या वह पुरुष के प्रयत्न बिना उस पर बाणों को चढ़ा सकता है? कदाऽपि नहीं । उसी प्रकार भाग्याधीन बैठने वाला पुरुष बिना उद्योग-पुरुषार्थ के कार्य सिद्धि नहीं कर सकता । किसी भी कार्य में वह सफल नहीं हो सकता ।।11।। जैमिनि का भी यही मन्तव्य है :-

नोद्यमेन बिना सिद्धिं कार्यं गच्छति किंचन ।
यथा चापं न गच्छन्ति उद्यमेन बिना शराः ।।1।।

पुरुषार्थ का आश्रय लेकर जो कार्यारम्भ करता है उसको इष्ट व अनिष्ट में सन्देह रहता है । अभिप्राय यह है कि पुरुष उद्यमशील होकर व्यापारादि करना प्रारम्भ करता है परन्तु वह सोचता है इसमें मुझे लाभ होगा या नहीं? अथवा इसमें कहीं हानि तो नहीं होगी ? इस प्रकार उसे सन्देह बना रहता है । कर्त्तव्य दृष्टि से विचार करे तो यही अभिप्राय सिद्ध होता है कि उद्योगशील की सफलता भाग्य पर निर्भर करती है । परन्तु भाग्य की अनुकूलता व प्रतिकूलता भी बिना पुरुषार्थ-उद्योग के ज्ञात नहीं होती । अतः विवेकशील को कर्त्तव्यनिष्ठ होना ही चाहिए ।।12।। वशिष्ठ ने भी यही अभिप्राय व्यक्त किया है :-

पौरुषमाश्रित्य लोकस्य नूनमेकतमं भवेत् ।
धनं वा मरणं वाथ वशिष्ठस्य वचो यथा ।।1।।

जो मनुष्य सर्वथा भाग्य का आश्रय लेकर निरुद्यमी होकर बैठा रहता है उसका अनर्थ सुनिश्चित है ।।13।। नारद ने कहा है :-

प्रमाणीकृत्य यो दैवं नोद्यमं कुरुते नरः ।
स नूनं नाशमायाति नारदस्य वचो यथा ।।1।।

जिस प्रकार आयु कर्म और योग्य औषधि का संयोग जीवन रक्षा करता है, उसी प्रकार भाग्य और पुरुषार्थ दोनों का संयोग मनोवाञ्छित कार्य सिद्धि करता है । अभिप्राय यह है कि जिस तरह आयु शेष रहने पर ही औषधि कार्यकारी होती है अर्थात् योग्य दवा रोग नाश कर स्वास्थ्य लाभ प्रदान करती है उसी प्रकार भाग्य की अनुकुलता रहने पर ही पुरुषार्थ उद्योग कार्यकारी होता है । भाग्य की अनुकूलता से ही उद्योग-पुरुषार्थ सफल होता है अन्यथा नहीं । भारद्वाज ने भी यही कहा है - ।।14।।

विनायुषं न जीवेत भेषजानां शतैरपि ।
न भेषजैर्विना रोगः कथञ्चिदपि न शाम्यति ।।1।।

धर्म का परिणाम एवं धार्मिक राजा :-

अनुष्ठीयमानः स्वफलमनुभावयन्न कश्चिद्धर्मोऽधर्ममनुबध्नाति ।।15।। त्रिपुरूषमूर्तित्वान्न भूभुजः प्रत्यक्षं दैवमस्ति ।।16।। प्रतिपन्न-प्रथमाश्रमः परे ब्रह्मणि निष्णातमतिरुपासित गुरुकुलः सम्यग्विद्यायामधीती कौमार वयाऽलंकुर्वन् क्षयपुत्रोभवति ब्रह्मा ।।17।। संजात राज्य कुल लक्ष्मी दीक्षाभिषेकं स्वगुणैः प्रजास्वनु रागं जनयन्तं राजानं नारायणमाहुः ।।18।। प्रवृद्ध प्रताप तृतीय लोचनानलः परमैश्वर्यमातिष्ठमानो राष्ट्रकण्टकान् द्विषद्दानवान् छेत्तुं यतते । विजिगीषु भूपतिर्भवति पिनाक पाणिः ।।19।।

अन्वयार्थ :- (अनुष्ठीयमानः) विधवत् किया (कश्चित्) कोई (धर्मः) धर्म (स्वफलमनुभावयन्) अपने

फल का अनुभव कराता हुआ (अधर्मम्) पाप को (न) नहीं (अनुबध्नाति) बांधता है ।।15॥ (त्रिपुरुषमूर्तित्वात्) तीन देवोमय होने से (भूभुजः) राजा (प्रत्यक्षम्) साक्षात् अन्य (दैवम्) देवता (न) नहीं (अस्ति) है ।।16॥ (प्रतिपन्नः) प्राप्त (प्रथमाश्रमः) ब्रह्मचर्य (परे ब्रह्मणि) ईश्वर में आसक्त (निष्णातमतिः) निपुण बुद्धि (उपासित गुरुकुलः) गुरुकुल सेया (सम्यग्विद्यायामधीती) सर्व विद्या पारगामी (कौमारवयालं कुर्वन्) कुमारावस्था शोभनीय (कुर्वन्) करता हुआ (क्षत्रपुत्रः) क्षत्रिय का पुत्र (ब्रह्मा) ब्रह्मा (भवति) होता है ।।17॥ (संजातः) प्राप्त किया (राज्य कुल लक्ष्मी दीक्षाभिषेकम्) राजवंश लक्ष्मी दीक्षा अभिषेक को प्राप्त कर (स्वगुणैः) अपने गुणों द्वारा (प्रजासु) प्रजा में (अनुरागम्) प्रेम (जनयन्तम्) उत्पन्न करते हुए (नारायणम्) नारायण (आहुः) कहा है ।।18॥ (प्रवृद्धः) बढ़ी हुई (प्रतापतृतीयलोचनः) प्रतापनैत्र की (अनलः) अग्नि (परमैश्वर्यम्) उत्तम ऐश्वर्य (आतिष्ठामानः) प्राप्त (राष्ट्रकण्टकान्) राष्ट्र के शत्रुओं को (द्विषद्) द्वेषी (दानवान्) दानवों को (छेत्तुं) नाश के लिए (यतते) प्रयत्न करता है (विजिगीषु) जयेच्छु (भूपतिः) राजा (पिनाकपाणिः) महेश (भवति) होता है ।।19॥

विशेषार्थ :- आगमोक्त विधिवत् धर्मानुष्ठान करने वाले पुरुष उसके फल का अनुभव करता हुआ अधर्म को नहीं बांधता अर्थात् पापास्रव नहीं करता है । अभिप्राय यह है कि अहिंसादि धर्म का अनुष्ठान-पालन करने वाले के पाप बन्ध नहीं होता । क्योंकि धर्म और अधर्म सर्वथा विरोधी हैं । धर्म रूपी सूर्योदय होते ही अधर्म रूपी अन्धकार तत्क्षण विलीन हो जाता है । अतः प्राणी को सांसारिक व्याधियों के नष्ट करने को धर्मानुष्ठान करना चाहिए ।।15॥ श्री भगवज्जिनसेनाचार्य ने लिखा है :-

धर्मः प्राणिदयासत्यं क्षान्तिः शौचं वितृसता ।
ज्ञानवैराग्य सम्पत्तिरधर्मस्तद्विपर्ययः ।।1॥
धर्मैकपरतां धत्तेबुद्धोऽनर्थजिहासया ।।

आदि पुराण प.10

अर्थ :- अहिंसा, सत्य, क्षमा, शौच, तृष्णा का त्याग सम्यग्ज्ञान व वैराग्य सम्पत्ति को धर्म और इनसे विपरीत हिंसा, असत्यादि को अधर्म बताते हुए बुद्धिमानों को अनर्थ परिहार (संकट निवारण) की इच्छा से धर्मानुष्ठान करने का उपदेश दिया है ।।1॥

पृथ्वी का पालक राजा तीन देव - ब्रह्मा, विष्णु, महेश स्वरूप होता है । इसके अतिरिक्त अन्य कोई प्रत्यक्ष देवता नहीं हैं ।।16॥ मनु ने भी कहा है :-

सर्वदेवमयो राजा सर्वेभ्योऽप्यधिकोऽथवा ।
शुभाशुभफलं सोऽत्र देयाद्देवो भवान्तरे ।।1॥

अर्थ :- दैव तो शुभाशुभ कर्मों का फल परभव में देते हैं परन्तु राजा तो प्रत्यक्ष में ही शिष्टों का पालन और दुष्टों का निग्रह कर प्रत्यक्ष फल प्रदान करता है । इसीलिए राजा को सर्व देवमय कहा है ।।1॥

जिस कुमार ने अपनी प्रथमावस्था ब्रह्मचर्याश्रम में व्यतीत की, जिसकी तीक्ष्ण बुद्धि, कुशाग्र प्रतिभा परब्रह्म

परमेश्वर (ब्रह्मचर्य) में आसक्त है (गुरुकुल की उपासना करने वाला, एवं समस्त राजविद्याएँ-आन्वीक्षिकी त्रयी, वार्ता और दण्डनीति का सम्यक् परिज्ञान कर लिया है, अपनी कुशलता से युवराजपद प्राप्त किया है, इस प्रकार क्षत्रिय पुत्र राजा ब्रह्मा के समान माना जाता है ।।17॥

राज्य लक्ष्मी की दीक्षा से अभिषिक्त, अपने शिष्ट पालन व दुष्ट निग्रह आदि सद्गुणों के कारण प्रजा में अपने प्रति अनुराग उत्पन्न करने वाला राजा विष्णु के समान नीतिकारों द्वारा कहा गया है ।।18॥ व्यास ने भी कहा है :-

"नाविष्णुः पृथिवीपतिः" विष्णु विष्णु नहीं राजा विष्णु है ।।1॥

जिसके प्रताप की प्रचण्ड अग्नि तृतीय नेत्र समान विस्तृत है, परमैश्वर्य को जिसने प्राप्त कर लिया है, राष्ट्र के कण्टक शत्रु रूप दानवों के संहार करने में प्रयत्नशील ऐसा विजिगीषु राजा महेश के समान माना गया है ।।19॥

राजकर्त्तव्य, उदासीन, मध्यस्थ, विजीगीषु, अरि का लक्षण :-

उदासीन - मध्यम-विजिगीषु-अमित्रपार्ष्णिग्राहाक्रन्दासारान्तर्द्धयो यथा सम्भव गुणगण विभवतारतम्यान्मण्डलानामधिष्ठातारः ।।20॥ अग्रतः पृष्ठतः कोणे वा सन्निकृष्टे वा मण्डले स्थितोमध्यमादीनां विग्रहीतानां निग्रहे संहितानामनुग्रहे समर्थोऽपि केनचित् कारणेनान्यस्मिन् भूपतौ विजिगीषुमाणो य उदास्ते स उदासीनः ।।21॥ उदासीनवदनियतमण्डलोऽपरभूपापेक्षया समधिकबलोऽपि कुतश्चित् कारणादन्यस्मिन् नृपतौ विजिगीषुमाणे यो मध्यस्थभाव मवलम्बते स मध्यस्थः ।।22॥ राजात्मदैवद्रव्यप्रकृतिसम्पन्नो नय विक्रमयोरधिष्ठानं विजिगीषुः ।।23॥ य एव स्वस्याहितानुष्ठानेन प्रतिकूल्यमियर्ति स एवारिः ।।24॥

अन्वयार्थ :- (मण्डलानामिधिष्ठातारः) राज मण्डल अधिकारी (उदासीन-मध्यम-विजिगीषु-अमित्र) शत्रु (मित्र) सुहृद् (पार्ष्णिग्राहः) पार्ष्णिग्राह (आक्रन्द, आसार व अन्तर्द्धयोः) आक्रन्द, आसार, अन्तर्द्धि (यथासम्भवम्) यथायोग्य (गुणगणः) गुणसमूह (विभवः) वैभव ऐश्वर्य (तारतम्य) क्रम से [भवन्ति] होते हैं ।।20॥ (अग्रतः) आगे (पृष्ठतः) पीछे (कोणे) बगल में (वा) अथवा (सन्निकृष्टे) निकट में (वा) अथवा (मण्डले) बीच में (स्थितः) स्थित (मध्यमादीनां) मध्यम के (विग्रहीतानाम्) युद्ध के समय (निग्रहे) निग्रह करने में (संहितानामनुग्रहे) निकटों के अनुग्रह में (समर्थः) शक्तिशाली (अपि) भी (केनचित् कारणेन) किसी कारण से (अन्यस्मिन्) दूसरे (भूपतौ) राजा (विजिगीषुमाणो) जीतने के इच्छुक (यः) जो (उदास्ते) शान्त (सः) वह (उदासीनः) उदासीन है ।।21॥ (उदासीनवत्) उदास समान (अनियत) अनिश्चित (मण्डलः) मण्डल (अपरभूपापेक्षया) अन्य राजा की अपेक्षा (समधिकबलोऽपि) समान व अधिक बल वाला भी (कुतश्चित्) कभी भी (कारणात्) कारण से (अन्यस्मिन्) दूसरे (नृपतौ) राजा (विजिगीषुमाणे) जीतने वालों में (यः) जो (मध्यस्थः) मध्यस्थ [अस्ति] है ।।22॥ (राजात्म) राज्याभिषिक्त (दैव द्रव्य) खजाना (प्रकृतिः) अमात्यादि (सम्पन्नः) युक्त (नयविक्रमयोरधिष्टानम्) नय, वीर्य का स्थान (विजिगीषु) जीतने का इच्छुक [भवति] होता है ।।23॥ (यः) जो (एव) ही (स्वस्य) अपने (अहित) अकल्याण (अनुष्ठानेन) करने रूप से (प्रतिकूल्यम्) विपरीतता (इयर्ति) धारण करता है (सः) वह (एव) ही (अरिः) शत्रु है ।।

विशेषार्थ :- राजाओं का राजमण्डल होता है । उसके अधिष्ठाता उदासीन मध्यम, विजिगीषु, अरि, मित्र, पार्ष्णिग्रह, आक्रन्द, आसार व अन्तर्द्धि है । ये यथायोग्य गुणसमूह और ऐश्वर्य के तारतम्य से युक्त होते हैं । सारांश में कहा जा सकता है कि विजिगीषु (विजय का इच्छुक) का कर्त्तव्य है कि वह इन सबके साथ स्नेह का बर्ताव कर अपने अनुकूल रखने का प्रयत्न करे ।।20॥

जो राजा अपने देश में वर्तमान किसी अन्य राजा जो विजिगीषु हो, और उसके आगे-पीछे या पार्श्व (बगल) में स्थित हो, युद्ध करने में जो मध्यम हों, स्वयं उनसे बलवान, विजय करने में समर्थ हो तो भी किसी कारण से या किसी अपेक्षा वश उनकी उपेक्षा करता है, सामर्थ्य होने पर उनसे युद्ध कर विजय लाभ नहीं करता है उसे ''उदासीन' कहते हैं ।।21॥

दो प्रतिपक्षियों में युद्ध होने पर दोनों ही सहयता चाहते हों, उस स्थिति में जो महीपति यह विचार कर कि ''मैं जिसका सहाय करूँगा, दूसरा मेरा शत्रु हो जायेगा'' इस अभिप्राय से किसी भी विजिगीषु के साथ नहीं मिलता वह मध्यस्थ रहता है उसे ''मध्यस्थ'' कहते हैं ।।22॥

जिसका राज्याभिषेक हो चुका हो, भाग्यशाली, खजाना, अमात्यादि प्रकृति से युक्त हो, राजनीतिज्ञ, सुभट हो, उसे ''विजिगीषु'' कहते हैं ।।23॥ जो अपने विकटवर्ती कुटुम्बी जनों के सदा सतत दुष्टता करता है उसे ''अरि'' कहते हैं ।।24॥

पार्ष्णिग्राह, आसार व अन्तर्द्धि का लक्षण :-

मित्र लक्षणमुक्तमेव पुरस्तात् ।।25॥ यो विजिगीषौ प्रस्थितेऽपि प्रतिष्ठमाने वा पश्चात् कोपं जनयति स पार्ष्णिग्राहः ।।26॥ पार्ष्णिग्राहाद्य पश्चिमः स आक्रन्दः ।।27॥ पार्ष्णिग्राहामित्रमासार आक्रन्द मित्रं च ।।28॥ अरि विजिगीषोर्मण्डलान्तर्विहितवृत्तिरुभयवेतनः पर्वताटवी कृताश्रयश्चान्तर्द्धि ।।29॥

विशेषार्थ :- पिछले मित्र समुद्देश में मित्र का लक्षण कहा है वही है ।।25॥ विजय के इच्छुक राजा के साथ प्रथम संग्राम भूमि की ओर प्रस्थान करे और पुनः उसके विरोध में खड़ा होकर उसके देश-राज्य की लूट-पाट कर नष्ट करे उसे ''पार्ष्णिग्रह'' कहते हैं ।।26॥ जो राजा पार्ष्णिग्राह से सर्वथा विपरीत चलता है अर्थात् युद्ध में जिसके साथ गया है उसे विजय में हर प्रकार सहायता करता है उसे ''आक्रन्द'' कहते हैं ।।27॥ जो पार्ष्णिग्राह से मित्रता न रखता है अर्थात् विरोधी हो, और आक्रन्द के साथ मैत्री रखता है उसे ''आसार'' कहते हैं ।।28॥ शत्रुराजा और विजिगीषु राजा इन दोनों के देश में जो आजीविका रखता है अर्थात् दोनों ओर से वेतन पाने वाला है उसे 'अन्तर्द्धि' कहते हैं ।। यह पर्वत पर या अटवी में रहने वाला होता है ।।29॥

युद्ध करने योग्य शत्रु उसके प्रति राजकर्त्तव्य, शत्रुओं के भेद :-

अराजबीजी लुब्धः क्षुद्रो विरक्त प्रकृतिरन्यायपरो व्यसनी विप्रतिपन्न मित्रामात्य सामन्त सेनापतिः शत्रुरभियोक्तव्यः।।30॥ अनाश्रयोदुर्बलाश्रयो वा शत्रुरुच्छेदनीयः ।।31॥ विपर्ययोनिष्पीडनीयः कर्षयेद्वा ।।32॥ समामिजनः सहज शत्रुः।।33॥ विरोधो विरोधयिता वा कृत्रिमः शत्रुः ।।34॥

अन्वयार्थ :- (अराजबीजी) जार से उत्पन्न (लुब्धः) लोभी, (क्षुद्रः) नीच (विरक्तप्रकृतिः) प्रजादि विरुद्ध

(अन्यायपरः) अन्यायी (व्यसनी) सप्त व्यसन सेवी (विप्रतिपन्न) विवाद ग्रस्त-विपरीत (मित्रः) सुहृद (आमात्यः) मंत्री, सामन्त सेनापति हों उस (शत्रुः) रिपु (राजा) नृप पर (अभियोक्तव्यः) आक्रमण करना चाहिए ।।30॥ (अनाश्रयः) आश्रयरहित (वा) अथवा (दुर्बलाश्रयः) कमजोर सहाय वाले (शत्रुः) रिपु को (उच्छेदनीयः) नष्ट करना चाहिए ।।31॥ (विपर्ययो) विपरीत (निष्पीडनीयः कर्षयेद्वा) उसका धन छीन ले या अति शक्तिहीन कर दे ।।32॥ (समामिजनः) कुटुम्बी (सहजशत्रुः) स्वाभाविक शत्रु [अस्ति] है ।।33॥ (विरोधः) पूर्व विरोध (वा) अथवा (विरोधयिता) विरोध कराने वाला (कृत्रिमः) बनाये (शत्रुः) रिपु हैं ।।34॥

विशेषार्थ :- जो राजा व्यभिचारिणी से उत्पन्न हो, अथवा जिसके देश, राज का पता न हो, लोभी, दुष्ट हृदय सम्पन्न, प्रजा जिससे विरुद्ध है, अन्यायी, कुमार्गगामी, जुआ, मद्यपानादि व्यसनासक्त हो, मित्र-अमात्य-सामन्त-सेनापति जिसके विरोधी हों इस प्रकार के शत्रु राजा पर विजयाभिलाषी को अविलम्ब आक्रमण कर विजय लाभ करना चाहिए ।।30॥ शुक्र विद्वान ने भी कहा है :-

विरक्त प्रकृति वैरी व्यसनी लोभ संयुतः ।
क्षुद्रोऽमात्यादिभिर्मुक्तः स गम्यो विजिगीषुणा ।।1॥

विजयाभिलाषी राजा को आश्रयहीन अथवा निर्बल आश्रयी वाले शत्रु को युद्ध कर परास्त कर देना चाहिए ।।31॥ यही बात शुक्र ने भी कही है :-

अनाश्रयो भवेच्छत्रुर्यो वा स्याद्दुर्बलाश्रयः ।
तेनैव सहितः सोऽत्र निहतव्यो जिगीषुणा ।।1॥

यदि कारणवश शत्रु से सन्धि (मित्रता) हो जावे, तो भी विजयेच्छु भविष्य के लिए अपना मार्ग निष्कण्टक करने के लिए उसका समस्त धन छीन लेना चाहिए अथवा इस प्रकार शक्ति हीन कर दे कि पुनः सिर उठाने का साहस न करे ।।32॥

अपने ही कुल का पुरुष, राजा का स्वाभाविक शत्रु है क्योंकि वह ईर्ष्यावश उसका उत्थान सहन न कर सतत् पतन का प्रयत्न करता है । विडाल व चूहे समान यह सहज विरोध होता है ।।33॥ नारद ने भी कहा है :-

गोत्रजाः शत्रुः सदा....तत्पद वाञ्छकः ।
रोगस्येव न तद्विद्धं कदाचित्कारयेत्सुधीः ।।1॥

विजय के अभिलाषी के साथ जिसने पूर्व में विरोध किया हो अथवा जो स्वयं आकर विरोध करता है ये दोनों ही कृत्रिम शत्रु हैं ।।34॥ गर्ग ने कहा है :-

यदिहीन बलः शत्रुः कृत्रिमः संप्रजायते ।
तदा दण्डोऽधिको वा स्याद्देयो दण्डः स्वशक्तितः ।।1॥

शत्रुता-मित्रता का कारण व मन्त्रशक्ति प्रभुशक्ति और उत्साहशक्ति का कथन व उक्तशक्तित्रय की अधिकता से विजयी की श्रेष्ठता :-

अनन्तरः शत्रुरेकान्तरं मित्रमिति नैषः एकान्तः कार्यं हि मित्रत्वामित्रत्वयोः कारणं न पुनर्विप्रकर्ष-सन्निकर्षौ ।।35।। ज्ञानबलं मन्त्रशक्तिः ।।36।। बुद्धिशक्तिरात्मशक्तेरपि गरीयसी ।।37।। शशकेनेव सिंहव्यापादनमत्र दृष्टान्तः ।।38।। काशदण्डबलं प्रभु शक्तिः ।।39।। शूद्रकशक्तिकुमारौ दृष्टान्तौ ।।40।। विक्रमो बलं चोत्साहशक्तिस्तत्ररामो दृष्टान्तः ।।41।। शक्तित्रयोपचितोज्यायान् शक्तित्रयाषंचितो हीनः समान शक्तित्रयः समः ।।42।।

अन्वयार्थ :- (अनन्तरः) दूरवर्ती (शत्रुः) रिपु (ऐकान्तरम्) निकटवर्ती (मित्रम्) मित्र (इति) इस प्रकार (एषः) यह (एकान्तः) एकान्त (न) नहीं है । (कार्यम्) कार्य (हि) निश्चय से (मित्रत्वामित्रत्वयोः) मित्र व शत्रुता का (कारणम्) कारण [अस्ति] है (पुनः) फिर (विप्रकर्षसन्निकर्षौ) दूर व निकटपना (न) नहीं है ।। (ज्ञानबलम्) ज्ञानशक्ति (मन्त्रशक्तिः) मंत्रशक्ति है ।।36।। (बुद्धिशक्तिः) बुद्धिशक्ति (आत्मशक्तेः) अपनी शक्ति से (अपि) भी (गरीयसी) अधिक है ।।37।। (शशकेन) खरगोश से (अत्र) यहाँ (सिंह व्यापादनम्) शेर मारा गया (दृष्टान्तः) उदाहरण है ।।38।। (कोशदण्डबलम्) खजाना और दण्ड (बलम्) बल (प्रभु-शक्तिः) राजा की शक्ति ।।39।। शूद्रकशक्तिकुमार का दृष्टान्त है ।।40।। (विक्रमः) शूरत्व (बलम्) शक्ति (च) और (उत्साहः) उत्साह (शक्तिः) ताकत का (दृष्टान्तः) उदाहरण (रामः) राम है ।।41।। (शक्तित्रयोपचितः) तीन शक्तियों युक्त (ज्यायान्) बड़ो को (शक्तित्रयापंचितः) तीनों शक्ति (हीनः) लघु (समानशक्तित्रयः) तीनों शक्तिसमान (समः) सम है ।।42।।

विशेषार्थ :- दूरवर्ती राजादि शत्रु और निकटवर्ती मित्र हों यह एकान्त सत्य नहीं है । शत्रु-मित्र का लक्षण अन्य ही है । दूरवर्ती या निकटवर्ती नहीं । देखा जाता है पास में रहने वाला शत्रु और अति दूर रहने वाला भी मित्र हो जाता है ।।35।। शुक्र ने कहा है :-

कार्यात्सीमाधिपो मित्रं भवेत्तत्परतो रिपुः
विजिगीषुणा प्रकर्त्तव्यः शत्रुमित्रोपकारितः ।।1।।

ज्ञान बल को मन्त्र शक्ति कहते हैं ।। शारीरिक बलापेक्षा बुद्धि बल महान व श्रेष्ठ होता है । इस दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाता है - बुद्धि बल में प्रवीण एक खरगोश छोटे से प्राणी ने शरीर से वलिष्ठ सिंह को परास्त कर दिया । उसे कुए में डाल दिया । बेचारा मारा गया । सारांश यह है कि विजय के इच्छुक राजा को मन्त्रशक्ति, प्रभुत्व शक्ति और उत्साहशक्ति सम्पन्न होना चाहिए तभी वह विजयश्री का वरण कर सकता है । अन्यथा नहीं ।।36-37-38।। पञ्चतंत्र में भी यही दृष्टान्त है ।।

जिस राजा के पास गज, अश्व, रथ और पयादे यह चतुरंग सेना है यही उसकी प्रभुत्वशक्ति है जो कि उसे तुमुल युद्ध में शत्रु को परास्तकर विजयश्री प्राप्ति में सहायक होती है ।।39।। इसके लिए शूद्रक और शक्तिकुमार का दृष्टान्त सुप्रसिद्ध है । शूद्रक ने अपनी चतुरङ्ग सेना से शक्तिकुमार को परास्त कर दिया । यह उसकी प्रभुत्वशक्ति ही है । उसी का माहात्म्य है ।।40।। विजयलक्ष्मी की चाह रखने वाले की पराक्रम और सैन्यशक्ति को "उत्साहशक्ति"

कहते हैं । उसके ज्वलन्त दृष्टान्त मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र महाराज हैं जिन्होंने अपने पराक्रम और वानखंशियों की सेना की सहायता से त्रिखण्डाधिपति रावण को परास्त किया ।141॥ गर्ग ने भी कहा है :-

सहजो विक्रम यस्य सैन्यं बहुतरं भवेत् ।
तस्योत्साहो तद्युद्धे या ! दाशरथैः पुरः ।।1॥

जो भूपति तीनों शक्तियों - 1. मन्त्रशक्ति, 2. प्रभुत्व और 3. उत्साहशक्ति सम्पन्न होता है वही श्रेष्ठ माना जाता है क्योंकि इनके बल से वह शत्रु को परास्त कर विजयपताका फहराता है ।। जो इन तीनों शक्तियों से रहित है वह हीन माना जाता है और जो तीनों में समान होता है वह 'सम' कहा जाता है । हीन और समान शक्ति वालों को शत्रु से युद्ध नहीं करना चाहिए ।। गरु ने भी कहा है :- ।142॥

समेनापि न योद्धव्यं यद्युपायत्रयं भवेत् ।
अन्योव्याहति यो संगो द्वाभ्यां संजायते यतः ।।1॥

षाडगुण्य सन्धि-विग्रहादि का निरुपण :-

सन्धि विग्रहयानासन संश्रयद्वैधीभावाःषाडगुण्यम् ।143॥ पणबन्धः सन्धिः ।144॥ अपराधो विग्रह ।145॥ अभ्युदयो यानम् ।146॥ उपेक्षणमासनम् ।147॥ परस्यात्मार्पणं संश्रयः ।148॥ एकेनसह सन्धायान्येन सह विग्रहकरणमेकत्र वा शत्रौ सन्धानपूर्वं विग्रहो द्वैधीभावः ।149॥ प्रथमपक्षे सन्धीयमानो विग्रह्यमाणो विजिगीषुरिति द्वैधीभावो बुद्ध्याश्रयः ।150॥ विशेष निरुपणम् :-

1. सन्धि - शत्रु के साथ मैत्रीभाव स्थापित करना, 2. विग्रह - दुर्जनों को वश करने के लिए या अपनी सत्ता बढाने के लिए संग्राम करना विग्रह है । 3. यान - शत्रु पर हमला-आक्रमण करना, 4. आसन् - शत्रु की उपेक्षा करना, 5. संश्रय - पराजय स्वीकार करना और 6. द्वैधीभाव - शत्रुदल में भेद डालना ये राजाओं के षडगुण हैं· ।143॥ विजय का इच्छुक अपना बल कमजोर देखता है तो शत्रु के साथ प्रतिज्ञाबद्ध मित्रता कर लेता है इसे ''सन्धि'' कहते हैं ।144॥ शुक्र ने भी कहा है :-

दुर्बलो बलिनं यत्र पणदानेन तोषयेत् ।
तावत्सन्धिर्भवेत्तस्य यावन्मात्रः प्रजल्पितः ।।1॥

विजयवैजन्ती का इच्छुक किसी के द्वारा अपराध-वश युद्ध करने में प्रवर्तित होता है उसे विग्रह कहते हैं ।145॥ विजिगीषु द्वारा शत्रु पर आक्रमण किया जाना ''यान'' कहलाता है अथवा शत्रु का विशेष बल-पौरुष विशेष ज्ञात कर पलायन कर जाना भाग जाना भी ''यान'' कहा जाता है ।146॥ वलिष्ठ शत्रु को चढ़ाई करने में तत्पर देखकर उसकी उपेक्षा करना - वहाँ से भाग जाना आसन कहलाता है ।147॥ बलवान शत्रु द्वारा देश पर आक्रमण होने पर जो उस के प्रति आत्मसमर्पण किया जाता है, उसे संश्रय कहते हैं ।148॥ बलवान और निर्बल दोनों शत्रुओं द्वारा आक्रमण किये जाने पर विजयेच्छु को बलिष्ठ के साथ सन्धि और दुर्बल के साथ संग्राम करना चाहिए । अथवा

बलवान के साथ सन्धि कर युद्ध करने को "द्वैधीभाव" भी कहते हैं ।149॥ जब विजिगीषु अपने से बलवान शत्रु के साथ पहिले मित्रता स्थापित करता है और फिर कुछ समय बाद शत्रु के हीन शक्ति हो जाने पर पुनः उसी पर आक्रमण कर संग्राम करने को आह्वान करना "बुद्धि-आश्रित द्वैधीभाव" है, क्योंकि इस प्रकार करने से अवश्य विजय लाभ होता है ।150॥

सन्धि-विग्रह-आदि के विषय में विजिगीषु का कर्त्तव्य :-

हीयमानः पणबन्धेन सन्धिमुपेयात् यदि नास्ति परेषां विपणितेऽर्थे मर्यादोल्लंघनम् ।151॥ अभ्युच्चीयमानः परं विगृह्णीयाद्यदि नास्त्यात्मबलेषुक्षोभः ।152॥ न मां परो हन्तुं नाहं परं हन्तुं शक्त इत्यासीत यद्यायत्यामस्ति कुशलम् ।153॥ गुणातिशययुक्तो यायाद्यदि न सन्ति राष्ट्रकण्टकामध्ये न भवति पश्चात्क्रोधः ।154॥ स्वमण्डलमपरिलायतः परदेशाभियोगो विवसनस्य शिरोवेष्टनमिव ।155॥ वज्रुवलनमिव शक्तिहीनः संश्रयं कुर्याद्यदि न भवति परेषामामिषम् ।156॥

विशेषार्थ :- अन्वयार्थ सरल है और पहले आ चुका है ।। अतः विशेषार्थ इस प्रकार है कि विजयलाभ का इच्छुक अपने शत्रु को विशेष बलवान समझे तो उसे यथायोग्य धनादि देकर उसके साथ सन्धि कर ले । परन्तु इस मैत्री भाव प्रणबन्ध में दृढता होनी चाहिए । शत्रु भविष्य में पुनः आक्रमण नहीं करेगा इस प्रकार उसके साथ प्रतिज्ञा करानी चाहिए । यदि वह प्रतिज्ञाबद्ध हो तो सन्धि करे अन्यथा नहीं ।151॥ शुक्र ने भी कहा है :-

हीयमानेन दातव्यो दण्डः शत्रोर्जिगीषुणा ।।
बलयुक्तेन यत्कार्यं तैः समं निधिनिश्चयो ।।1॥

यदि आक्रमण का इच्छुक सामने वाले शत्रु से कोष व सैन्यबल में विशेष शक्ति सम्पन्न है तो उसे शत्रु से संग्राम छेड़ना चाहिए । परन्तु सेना में क्षोभ न हो ।152॥ गुरु ने भी कहा है :-

यदि स्यादधिकः शत्रोर्विजिगीषु र्निजैर्बलैः ।
क्षोभेन रहितैः कार्यः शत्रुणा सह विग्रहः ।।1॥

यदि विजयलाभेच्छु शत्रु द्वारा भविष्यकालीन अपनी कुशलता निश्चित हो, यह विश्वास हो कि भविष्य में यह मुझे नष्ट नहीं करेगा और न मैं शत्रु को! तब उसके साथ विग्रह न करके सन्धि-मित्रता ही करना चाहिए ।153॥ जैमिनि कहते हैं :-

न विग्रहं स्वयं कुर्यादुदासीने परे स्थिते ।
बलाढ्येनापि यो न स्यादायत्यां चेष्टितं शुभम् ।।1॥

आक्रमण कर्ता यदि अपने कोष, सेना, प्रकृति बल से पूर्ण सम्पन्न है, एवं उसका राज्य निष्ककण्टक है, तथा प्रजा भी अनुकूल सुखी है, तो उसे शत्रु के साथ अवश्य युद्ध करना चाहिए । अर्थात् उसे इस प्रकार का ध्यान रखना चाहिए कि राज्य और प्रजा को कोई क्षति न हो ।154॥ भागुरि ने भी कहा है :-

गुण युक्तोऽपि भूपालोऽपि यायाद्विद्विषोपरि ।
यद्येतेन हि राष्ट्रस्य बहवः शत्रवोऽपरे ।।1 ॥

जो नृपति प्रथम अपने देश की सुरक्षा न करके शत्रु पर आक्रमण करता है उसका यह कार्य नग्न व्यक्ति के सिर पर पगड़ी बांधने के समान है । क्योंकि पगड़ी मात्र से नग्न की नग्नता का रक्षण नहीं हो सकता, उसी प्रकार राज्य की रक्षा न कर शत्रु पर हमला करने से उसे विपत्तियों से छुटकारा नहीं मिल सकता ।155॥ विदुर ने भी कहा है :-

य एव यत्नः कर्त्तव्यः परराष्ट्रं विमर्दने ।
स एव यत्नः कर्त्तव्यः स्वराष्ट्र परिपालने ।।1 ॥

अपना सैन्य व कोष बल निर्बल है और बलवान शत्रु व्यसनों से रहित है - सदाचारी है तो उसके साथ सन्धि करना योग्य है उसके प्रति आत्मसमर्पण कर देना चाहिए । इस प्रकार करने से वह निःशक्त भी सशक्त हो जाता है जिस प्रकार बहुत एक-एक तन्तुओं को एकत्रित कर उससे रस्सी बनाने पर वह मजबूत हो जाती है ।156॥ गुरु ने भी कहा है :-

स्याद्यदा शक्तिहीनस्तु विजिगीषु हिं वैरिणः ।
संश्रयीत तदा चान्यं बलाय व्यसनच्युतात् ।।1 ॥

शक्तिहीन व चञ्चल के आश्रय से हानि, स्वाभिमानी का कर्त्तव्य, प्रयोजनवश विजिगीषु का कर्त्तव्य, राजकीय कार्य व द्वैधीभाव :-

बलवद् भयादबलवदाश्रयणं हस्तिभयादेरण्डाश्रयणमिव ।157॥ स्वयमस्थिरेणास्थिराश्रयणं नद्यां वहमानेन वहमानस्या श्रयणमिव ।158॥ वरं मानिना मरणं न परेच्छानुवर्तनादात्मविक्रयः ।159॥ आयति कल्याणे सति कस्मिंश्चित्सम्बन्धे परसंश्रयः श्रेयान् ।160॥ निधानादिव न राजकार्येषु कालनियमोऽस्ति ।161॥ मेघवदुत्थानं राजकार्याणामन्यत्र च शत्रोः सन्धिविग्रहाभ्याम् ।162॥ द्वैधीभावं गच्छेद् यदन्योवश्यमात्मना सहोत्सहते ।163॥

विशेषार्थ :- अपने से अधिक बलवान शत्रु के भय से निर्बल का सहारा लेना, गज के भय से भीत हो ऐरण्ड के वृक्ष पर आश्रय लेने के समान है ।। ऐरण्ड का वृक्ष इतना कमजोर होता है कि मनुष्य का वजन सहन नहीं कर सकता, फिर गज की बलवत्ता क्या उसे जड़ से उखाड़ नहीं फेंक देगी ? फिर रक्षण ही क्या हुआ ? गज उसे गिरायेगा ही और उसे मृत्यु का ग्राह्य बनाकर ही रहेगा ।157॥ भागुरि ने भी कहा है :-

स बलाद्व्यस्य बलाद्धीनं यो बलेन समाश्रयेत् ।
स तेन सहनश्येत यथैरण्डाश्रयो गजः ।।1 ॥

जिस समय कोई विजिगीषु राजा शत्रु द्वारा सताया जाता है और वह अपने समान शत्रु द्वारा सतृप्त किसी

अन्य राजा की सहायता लेना चाहता है तो उसका यह कार्य उसी प्रकार का समझना चाहिए कि जैसे कोई नदी प्रवाह में बहता हुआ मनुष्य डूबते हुए अन्य व्यक्ति का सहारा ले । अर्थात् जो स्वयं डूब रहा है वह दूसरे का कैसे रक्षण कर सकता है ? नहीं कर सकता । अतः क्षीण शक्ति नृपति को बलिष्ठ और स्थिर व्यक्ति का आश्रय लेना चाहिए ।।58॥ नारद ने कहा :-

बलं बलाश्रितेनैव सह नश्यति निश्चितम् ।
नीयमानो यथा नद्यां नीयमानं समाश्रितः ।।1॥

स्वाभिमानी को मरण वरण करना श्रेष्ठ है, परन्तु पर की इच्छापूर्वक अपने को बेचना उत्तम नहीं । संग्राम भूमि में वीर सुभट को शत्रु को आत्मसमर्पण करना योग्य नहीं हैं । पराजय स्वीकार नहीं करना चाहिए ।।59॥ नारद कहते हैं :-

वरं वनं वरं मृत्युः साहंकारस्य भूपतेः ।
न शत्रो संश्रयाद्राज्यं.....कार्यं कथंचन ।।1॥

शत्रु को आत्मसमर्पण की अपेक्षा मरना श्रेयस्कर है ।।59॥

यदि भविष्यकाल में शत्रु द्वारा किसी प्रकार के कल्याण की संभावना हो तो पराजय स्वीकार करना अर्थात् आधीनता स्वीकार करना श्रेष्ठ है ।।60॥ हारीत ने कहा है :-

परिणामं शुभं ज्ञात्वा शत्रुजः सांश्रयोऽपि च ।
कस्मिंश्चिद्विषये कार्यः सततं न कथंचन ।।1॥

अर्थात् प्रयोजनवश शत्रु का आश्रय भी कल्याणकारी होता है ।।60॥

जिस प्रकार अचानक निधिकोष प्राप्त हो जाय तो उसी क्षण स्वीकार कर लिया जाता है, उसी प्रकार राजकर्मचारियों को राज्य सम्बन्धी कार्यों को अविलम्ब सम्पादित करना चाहिए ।।61॥ गौतम विद्वान ने भी कहा है :-

निधान दर्शने यद्वत्कालक्षेपो न कार्यते ।
राजकृत्येषु सर्वेषु तथा कार्यः सुसेवकैः ।।1॥

शरद्कालीन मेघों की भाँति राजकार्य भी सहसा आ उपस्थित होते हैं । अतएव सन्धि एवं विग्रह सम्बन्धी कार्यों के अतिरिक्त अन्य कार्यों को यथाशीघ्र सम्पादित कर लेना चाहिए । सन्धि-विग्रह में ऊहा-पोह विचार विमर्श करना चाहिए। अन्य कार्यों में नहीं ।।62॥ गुरु विद्वान ने भी कहा है :-

राजकृत्यंमचिन्त्यं यद्कस्मादेव जायते ।
मेघवत् तत्क्षणात्कार्यं मुक्त्वैकं सन्धिविग्रहम् ।।1॥

जब विजिगीषु को विदित हो कि आक्रमणकारी शत्रु उसके साथ युद्ध करने को पूर्ण सन्नद्ध है उस समय उसे द्वैधीभाव नीति को अवश्य अपनाना चाहिए । अर्थात् यदि शत्रु निर्बल है तो युद्ध करे और प्रबल है तो सन्धि कर ले । गर्ग ने भी लिखा है :-

यद्यसौसन्धिमादातुं युद्धाय कुरुते क्षणम् ।
निश्चयेन तदातेन सहसन्धिस्तथा रणम् ।।1 ॥

दोनों बलिष्ठ विजिगीषुओं के मध्यवर्ती शत्रु, सीमाधि पति विजिगीषु का कर्त्तव्य भूमिफल, भूमि देने से हानि, चक्रवर्ती होने का कारण तथा वीरता से लाभ :-

बलद्वयमध्यस्थितः शत्रुरुभयसिंह मध्यस्थितः करीव भवति सुखसाध्यः ।।64 ॥ भूम्यर्थिनंभूफल प्रदानेन संदध्यात्।।65 ॥ भू फल फलदानमनित्यं परेषु भूमिर्गता गतैव ।।66 ॥ अवज्ञयापि भूमावारोपितस्तरुर्भवति वद्धतलः ।।67 ॥ उपायोपन्नविक्रमोऽनुरक्त प्रकृतिरल्पदेशोऽपि भूपतिर्भवति सार्वभौमः ।।68 ॥ न हि कुलागता कस्यापि भूमिः किन्तु वीर भोग्या वसुन्धरा ।।69 ॥

अन्वयार्थ :- (शत्रुः) रिपु (बलद्वयमध्यस्थितः) दो शत्रुओं के बीच (उभयसिंहमध्यस्थितः) दो शेरों के मध्य (करिः) हाथी (इव) समान (सुखसाध्यः) सुख से जीता जा सकता है ।।64 ॥

विशेषार्थ :- दो जीतने के इच्छुकों के मध्य में घिरा शत्रु उसी प्रकार सरलता से जीता जा सकता है जिस प्रकार दो सिंहों के मध्य गज को सरलता से नष्ट कर दिया जाता है ।।64 ॥ शुक्र ने कहा है :-

सिंहयोर्मध्ये यो हस्ती सुखसाध्यो यथाभवेत् ।
तथा सीमाधिपोऽन्येन विगृहीतो वशो भवेत् ।।1 ॥

जिस समय कोई सीमाधिपति शक्तिशाली हो और विजेच्छु की भूमि हड़पना चाहता हो तो उसे भूमि से उत्पन्न होने वाली फसल देकर शान्त कर देना चाहिए न कि भूमि देना । गुरु ने कहा है ।।65 ॥ :-

सीमाधिपो बलोपेतो यदाभूमिं प्रयाचते ।
तदातस्मै फलं देयं भूमेनद्य धरां निजाम् ।।1 ॥

अर्थात् सीमाधिपति के बलिष्ठ होने पर उसे भूमि में उत्पन्न अन्न देकर शान्त करना चाहिए न कि भूमि देकर ।।65 ॥

भूमि में उत्पन्न धान्य देने का अभिप्राय यह है कि वह अनित्य होता है पर को दे देने पर उसे उसके पौत्रादि नहीं भोग सकते । भूमि देने पर वह पुनः हाथ में आना दुर्लभ ही नहीं असंभव भी हो सकती है ।।66 ॥ गुरु विद्वान ने भी कहा है :-

भूमिपस्य न दातव्या निजा भूमिर्बलीयसः ।
स्तोकापि वा भयं चेत् स्यात्तस्माद्देयं च तत्फलम् ।।1 ॥

जिस प्रकार कोई व्यक्ति तिरस्कार भाव से भी किसी बीज या पौधा आरोपण करता है तो वह वृक्षरुप धारण करता हुआ शनैः शनैः अपनी जड़ों को मजबूत फैला कर सुदृढ हो जाता है उसी प्रकार सीमाधिपति राजा भी अनिच्छा से निर्बल राजा द्वारा भूमि ग्रहण कर विशेष शक्तिशाली हो जाता है । पुनः उस भूमि को नहीं छोडता ।।67॥ रैभ्य ने भी कहा है :-

लीलयापि क्षितौ वृक्षः स्थापितौ वृद्धिमाप्नुयात् ।।
तस्या गुणेन नो भूपः कस्मादिह न वर्धते ।।1॥

सामदानादि नैतिक उपायों के प्रयोग में निपुण पराक्रमी व जिससे अमात्य आदि राजकर्मचारीगण एवं प्रजा अनुकूल है, इस प्रकार का नृप अल्पदेश का अधिपति होने पर भी वह चक्रवर्ती के समान है क्योंकि कहा है "आज्ञा मात्र फलं राज्यम्" जिसकी आज्ञा का पालन प्रजा करती है तो वह राजाधिराजपति है ।।68॥ अपनी कुल परम्परा से चली आई भूमि किसी को नहीं देना चाहिए क्योंकि एक बार हाथ से निकली वस्तु हाथ में आना दुर्लभ है । भूमि किसी राजा की नहीं होती अपितु वीर सुभट की ही होती है कहा भी है "वीर भोग्या हि वसुन्धरा" अतः राजा को पराक्रमशील और सुभट होना चाहिए ।।69॥ शुक्र ने भी कहा है :-

कातराणां न वश्या स्याद्यद्यपि स्यात् क्रमागता ।
परकीयापि चात्मीया विक्रमो यस्य भूपतेः ।।1॥

अर्थ :- वंशपरागत भूमि वीर पुरुषों के भोग्य योग्य होती है कायरों के नहीं ।।1॥ सारांश यह है कि राजाओं के प्रेम के शासन द्वारा अपनी शक्ति बढ़ाना चाहिए । न्यायपूर्वक शासन स्थायी होता है ।।69॥

सामादि चार उपाय, सामनीति का भेद पूर्वक लक्षण, आत्मोपसन्धान रूप सामनीति का स्वरूप, दान, भेद और दण्डनीति का स्वरूप :-

सामोपप्रदानभेददण्डा उपायाः ।।70॥ तत्र पञ्चविधं साम, गुणसंकीर्तनं, सम्बन्धोपाख्यानम्, परोपकारदर्शमायति प्रदर्शनमात्मोपसन्धानमिति ।।71॥ यन्ममद्रव्यं तद्भवता स्वकृत्येषु प्रयुज्यतामित्यात्मोपसन्धानम् ।।72॥ वह्वर्थं संरक्षणायाल्पार्थप्रदानेनन पर प्रसादनमुपप्रदानम् ।।73॥ योग तीक्ष्णगूढपुरुषोभयवेतनैः परबलस्य परस्परशंकाजननं निर्भर्त्सनम् वा भेदः ।।74॥ बधः परिक्लेशोऽर्थहरणं च दण्डः ।।75॥

विशेषार्थ :- शत्रु नृपति या प्रतिकूल पुरुष को वश-आधीन करने के चार उपाय हैं - 1. साम, 2. उपप्रदान, 3. भेद और 4. दण्ड ।।70॥ सामनीति इनमें प्रथम है । इसके भी पाँच भेद हैं - 1. गुण संकीर्तन - प्रतिकूल राजा या अन्य व्यक्ति के समक्ष उसके गुणों का बखान करना, प्रशंसाकर उसे प्रसन्न करना । 2. सम्बन्धोपाख्यानम् - जिस उपाय या युक्ति से प्रतिकूल की मित्रता होना संभव हो उस उपाय को उसके समक्ष कथन करना । 3. परोपकारदर्शन :- विरुद्ध शत्रु की भलाई प्रदर्शित करना । 4. आयति प्रदर्शनम् - "हम लोग यदि परस्पर मैत्री कर लेते हैं तो भावीकाल में सुखी बनाने का साधन होगा" इस प्रकार का अभिप्राय उस प्रतिकूल के समक्ष प्रयोजन प्रकट करना ।। 5. आत्मोपसन्धानम् - मेरा कोष-खजाना आप ही का है, आप व्यय-खर्च कर सकते हैं । इस

प्रकार दूसरे को आश्वासन देना । इन पाँचों उपायों से यथायोग्य समयानुसार प्रतिकूल को अनुकूल बनाना चाहिए ।।71॥ व्यास ने भी कहा है :-

साम्नाथसिद्धिदं कृत्यंततो नो विकृतिं व्रजेत् ।
सज्जनानां यथा चित्तं दुरुक्तैरपि कीर्तितैः ।।1॥

साम्नैवयत्र सिद्धिर्न दण्डो बुधेन विनियोज्यः ।।
पित्तं यदि शर्करया शाम्यति तत्किं पटोलेन ।।2॥

अर्थ :- जिस प्रकार सज्जन पुरुष कर्कश-कठोर वचनों द्वारा अपने चित्त को विकृत नहीं होने देते हैं, उसी प्रकार सामनीति का आश्रय लेने से प्रयोजनार्थी का कार्य विकृत-विपरीत न होकर सिद्ध ही होता है । जिस प्रकार पित्त की शान्ति यदि शक्कर सेवन से हो जाती है तो उसे पटोल (औषधि विशेष) खिलाने से क्या प्रयोजन ? व्यर्थ है उसी प्रकार सामनीति से सिद्ध होने वाले कार्य में दण्डनीति का प्रयोग व्यर्थ है ।।2॥

शत्रु राजा को बिना संग्राम किये वश करने के लिए अपनी सम्पत्ति का एक प्रकार से समर्पण करना । विजिगीषु राजा कहे कि मेरा वैभव आपका ही है आप अपनी इच्छानुसार उसको अपने आवश्यक कार्यों में लगा सकते हैं। इस प्रकार के उपाय को "आत्मोपसन्धान" नामक साम्यनीति कहते हैं ।।72।।

विजय का अभिलाषी राजा यह सोचकर कि संग्राम में समय और धन व्यय अधिक होगा, शत्रु को थोडा-अल्प धन् देकर प्रसन्न कर लेता है, अपने प्रचुर सम्पत्ति का रक्षण कर ले इसे उपप्रदान-दाननीति कहते हैं । शुक्र भी कहते हैं :-

बहूवर्थं स्वल्पवित्तेन यदा शत्रोः प्ररक्षते ।
पर प्रसादनं तत्र प्रोक्तं तच्च विचक्षणैः ।।1।।

अर्थ वही है ।

विजयाभिलाषी राजा अपने सेनापति, या तीक्ष्ण बुद्धि अन्य गुप्तचर तथा दोनों पक्षों से वेतन लेने वाले गुप्तचरों द्वारा शत्रु सेना में फूट डाल दे, एक दूसरे के प्रति सन्देह उत्पन्न कर, तिरस्कार पैदाकर परस्पर में विग्रह उत्पन्न कर फूट डालने को भेद नीति कहते हैं ।।74॥ गुरु विद्वान ने भी कहा है :-

सैन्यं विषं तथा गुप्ताः पुरुषाः सेवकात्मकाः ।
तैश्च भेदः प्रकर्त्तव्यो मिथः सैन्यस्य भूपतेः ।।1॥

उपर्युक्त ही अर्थ है ।

शत्रु को मृत्यु वरण कराना-बध करना, उसे पीड़ित करना, उसका धनहरण करना इसे दण्ड नीति कहते हैं ।।75॥ जैमिनि ने भी इसी प्रकार व्याख्या की है :-

वधस्तु क्रियते यत्र परिक्लेशो वा रिपोः
अर्थस्य ग्रहणं भूरिर्दण्डः स परिकीर्तितः ।।1॥

अर्थ विशेष नहीं है ।

शत्रु के पास से आये हुए व्यक्ति का अति सूक्ष्म, विवेकनी बुद्धि से परीक्षण करना चाहिए । पूर्ण परीक्षित करने पर सही सिद्ध हो तो उसका अनुग्रह करना चाहिए अन्यथा नहीं । अपरिक्षित का विश्वास नहीं करना चाहिए ।।76॥ भागुरि ने कहा है :-

शत्रोः शकाशतः प्राप्तं सेवार्थं शिष्ट सम्मतम् ।
परीक्षा तस्य कृत्वाथ प्रसादः क्रियते ततः ।।1॥

दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण एवं शत्रु के निकट सम्बन्धी गृहप्रवेश से हानि :-

किमरण्यजमौष धं न भवति क्षेमाय ।।77॥ गृह प्रविष्ट कपोत इव स्वल्पोऽपि शत्रु सम्बन्धो लोकस्तंत्रमुद्वासयति ।।78॥

विशेषार्थ :- क्या बीहड़ वन प्रदेश में उत्पन्न हुई औषधि रोग को कल्याणकारी नहीं होती ? होती ही है । इस प्रकार शत्रु के यहाँ से आया हुआ व्यक्ति भी कल्याणकारी हो सकता है ।।77॥ गुरु ने भी कहा है-

परोऽपि हितवान् बन्धुर्बन्धुरप्यहितः परः ।
अहितो देहजो व्याधिर्हितमारण्यमौषधम् ।।1॥

अर्थ :- जिस प्रकार व्याधि-रोग शरीर में है और वह पीड़ाजनक है, औषध जंगल-अरण्य में दूर होने पर भी हितकर होती है उसी प्रकार अहित-चिन्तक बन्धु भी शत्रु व हितचिन्तक शत्रु भी बन्धु माना जाता है ।।1॥

जिस प्रकार गृह में प्रविष्ट हुआ पारावत (कबूतर) मकान को उजाड देता है, उसी प्रकार शत्रु दल का अति लघु व्यक्ति भी विजयेच्छु के तन्त्र (सैन्य) को नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है । वादरायण ने लिखा है :-

शत्रुपक्ष भवोलोकः स्तोकोऽपि गृहमाविशेत् ।
यदा तदा समाधत्ते तद्गृहं च कपोतवत् ।।1॥

उत्तम लाभ, भूमिलाभ की श्रेष्ठता, मैत्रीद्योतक शत्रु के प्रति कर्त्तव्य :-

मित्रहिरण्यभूमिलाभानामुत्तरोत्तर लाभः श्रेयान् ।।79॥ हिरण्यं भूमिलाभाद् भवति मित्रं च हिरण लाभादिति ।।80॥ विशेष पाठ भी है - स्वयमसहायश्चेत् भूमिहिरण्य लाभायालं भवति तदा मित्रं गरीयः ।।1॥ सहानुयायि मित्रं स्वयं वास्थास्तु भूमित्राभ्यां हिरण्यं गरीयः ।।2॥ शत्रोर्मित्रत्वकारणं विमृश्च तथा चरेद्यथा न वञ्च्यते ।।81॥

विशेषार्थ :- सुहृद, सुवर्ण एवं भूमि इन तीनों का लाभ होने पर उत्तरोत्तर वस्तु विशेष कल्याणकारी है ।

अर्थात् मित्र की प्राप्ति होना श्रेष्ठ है । मित्र की अपेक्षा सुवर्ण का लाभ श्रेष्ठतर है और सुवर्णपेक्षा भी भूमिलाभ श्रेष्ठतम है । अतः विजय के अभिलाषी को भूमि प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए ।।79॥ गर्ग ने भी कहा है :-

उत्तमो मित्र लाभस्तु हेमलाभस्ततोवरः ।
तस्माच्छ्रेष्ठतरं चैव भूमिलाभं समाश्रयेत् ।।1॥

अर्थ विशेष नहीं ।

चूंकि भूमि यदि प्राप्त हो जाती है तो सुवर्ण - धन सुलभता से मिल ही जायेगा । और सुवर्ण होने पर मित्र प्राप्त होता है । इसीलिए भूमि लाभ सर्वश्रेष्ठ कहा है ।।80॥ शुक्र महोदय भी यही कहते हैं :-

न भूमि र्न च मित्राणि कोशनष्टस्य भूपतेः ।
द्वितीयं तद्भवेत्सद्यो यदि कोशो भवेद् गृहे ।।1॥

अर्थ :- जिस नृपति के पास खजाना नहीं है उसके पास न मित्रों की मण्डली हो सकती है और न भूमि की प्राप्ति ही और जो भरपूर खजाना रखता है उसे मित्र व भूमि दोनों ही का लाभ होता है ।।1॥

यदि कोई सत्पुरुष शत्रु के साथ मित्रता का व्यवहार चाहता है तो उसे सोच-समझकर विवेक पूर्वक उसके साथ इस प्रकार का व्यवहार करे कि वह उसके द्वारा ठगा न जाय ।।81॥ शुक्र ने भी कहा है :-

पर्यालोचं बिना कुर्याद्यो मैत्री रिपुणा सह ।
स वंचनामवाप्नोति तस्य पार्श्वादसंशयः ।।1॥

अर्थात् बिना विचारे शत्रु के साथ मित्रता करने वाला नियम से उसके द्वारा वंचित किया जाता है ।।1॥

विजिगीषु का निन्दा की कारण, शत्रु चेष्टा ज्ञात करने का उपाय, शत्रु निग्रह के उपरान्त विजयी का कर्त्तव्य, प्रतिद्वन्दी के विश्वास के साधन, चढ़ाई न करने का अवसर :-

गूढ़ोपायेन सिद्धकार्यस्यासंवित्ति-करणं सर्वां शंकां दुरपवादं च करोति ।।82॥ गृहीतपुत्रदारानुभयवेतनान् कुर्यात् ।।83॥ शत्रुमपकृत्य भूदानेन तद्दायादानात्मनः सफलयेत् क्लेशयेद्वा ।।84॥ पर विश्वास-जनने सत्यं शपथः प्रतिभूः प्रधानपुरुषपरिग्रहो वा हेतुः ।।85॥ सहस्रैकीयः पुरस्ताल्लाभः शतैकीयः पश्चात्कोप इति न यायात् ।।86॥ सूचीमुखा ह्यनर्था भवन्त्यल्पेनापि सूचीमुखेन महान् दोरकः प्रविशति ।।87॥

विशेषार्थ :- जिस शत्रु ने सन्धि कर ली है वह विजेता के प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर उसके प्रति विश्वस्त नहीं होता । यदि विजयी राजा उसका यथोचित स्वागत-सम्मान नहीं करे तो उसके मन में अनेक शंकाएँ उत्पन्न होती हैं । अभिप्राय यह है कि वह सोचता है कि मेरे द्वारा उपकृत यह राजा पहले तो मुझसे प्रेमालाप करता था, मेरा सम्मान भी करता था, उचित व्यवहार था परन्तु अब प्रतिकूल रहता है इससे विदित होता है कि मेरे शत्रु से इनकी मित्रता हो गई है । इसके अतिरिक्त लोक निन्दा भी होगी क्योंकि लोग कहेंगे कि यह अपने स्वामी की सेवा सही नहीं करता इसीसे इसके विरुद्ध चलता है । यह बड़ा ही कृतघ्न है । अतः विजिगीषु को उसकी सेवा-सुश्रुषा

करना चाहिए ।82॥ गुरु ने कहा है :-

वृद्धिं गच्छेद्यतः पार्श्वात्तं प्रयत्नेन तोषयेत् ।
अन्यथा जायते शंका रणगोपाद्धिगर्हणा ।।1॥

अर्थ :- जिसकी सहायता से राजा की वृद्धि हुई हो उसको उसे सन्तुष्ट करना योग्य है । विजयेच्छु दोनों पक्ष से वेतन पाने वाले गुप्तचरों के स्त्री-पुरुषों को अपने यहाँ सुरक्षित रखकर उन्हें शत्रु के देश में भेजे, ताकि वे वापिस आकर शत्रु की समस्त चेष्टा निवेदन करे ।83॥ जैमिनी ने भी कहा है :-

गृहीतपुत्रदारांश्च कृत्वा चोभय वेतनान् ।
प्रेषयेद्वैरिणः स्थाने येन तच्चेष्टितं लभेत् ।।1॥

विजिगीषु शत्रु का अपकार करके उसके शक्तिहीन परिवारों के लिए उसकी भूमि प्रदान कर उन्हें अपने आधीन करने का प्रयत्न करे, अथवा यदि वह विशेष बलिष्ठ हो तो उसे पीडित करे ।84॥ नारद ने भी कहा है :-

साधयित्वा भरं युद्धे तद्भूमिस्तस्य गोत्रिणः ।
दातव्यात्मवशो यः स्यान्नान्यस्य तु कथंचन ।।1॥

विजयेच्छु अपने शत्रु-प्रतिद्वन्दी का तभी विश्वास करे जबकि वह शपथ करे अथवा किसी विश्वस्त की साक्षी करावे। गवाही उपस्थित करे । अथवा उसके आमात्यादि प्रधान पुरुष उसके द्वारा अपने पक्ष में मिला लिये गये हों ।85॥ गौतम ने भी कहा है :-

शपथैः कोशपानेन महापुरुष वाक्यतः ।
प्रतिभूरिष्टसंग्रहाद्रिपोविश्वसतां व्रजेत् ।।1॥

यदि शत्रु देश पर आक्रमण करने से सहस्र मोहरें (स्वर्णमुद्रायें) प्राप्त होती हों परन्तु अपने देश की सौ-100 मुद्राओं की हानि होती हो तो उस राजा का कर्त्तव्य है कि शत्रु पर आक्रमण न करे ।86॥ भृगु का भी यही अभिप्राय है :-

पुरस्तात् भूरिलाभेऽपि पश्चात्कोषोऽल्पको यदि ।
तद्यात्रा नैव कर्त्तव्यातत्स्वल्पोऽप्यधिकोभवेत् ।।1॥

अर्थ :- यदि शत्रु पर आक्रमण कर संग्राम में प्रभूत लाभ हो, परन्तु स्वयं का या अपने देश की अल्प भी हानि होती हो तो उससे युद्ध नहीं करना चाहिए ।

शत्रु विजय का इच्छुक संग्राम भूमि में उतर जाय, पश्चात् प्रजा यदि तनिक भी कुपित हो जाय तो उस

पर अनेकों विपत्तियाँ आना स्वाभाविक है । क्योंकि सूई से वस्त्र में छेद होने पर उसमें से बहुत लम्बा धागा आसानी से निकल आता है । इसी प्रकार देश में पीठ-पीछे तनिक-सा भी उपद्रव होने पर राजा को महान क्षति का सामना करना पड़ता है । अतएव इस प्रकार की संभावना रहने पर शत्रु पर आक्रमण-चढ़ाई न करे ।।87॥ वादरायण ने भी कहा है :-

स्वल्पेनापि न गन्तव्यं पश्चात्कोपेन भूभुजा ।
यतः स्वल्पोऽपि त द्वाह्यः स वृद्धिं परमां व्रजेत् ।।1॥

विजयेच्छु का सर्वोत्तमलाभ, अपराधियों के प्रति क्षमा से हानि :-

न पुण्यपुरुषापचयः क्षयो हिरण्यस्य धान्यापचयो व्ययः शरीरस्यात्मनो लाभ विच्छेद्येन सामिष क्रव्याद इव न परैरवरुध्यते ।।88॥ शक्तस्यापराधिषु या क्षमा सा तस्यात्मनस्तिरस्कारः ।।89॥

अन्वयार्थ :- (पुण्यपुरुषाः) अमात्यादि (अपचयः) हानि (हिरण्यस्य) सुवर्ण की (क्षयः) क्षति (धान्यस्य) धान्य का (अपचयः) नाश (आत्मनः) अपने (शरीरस्य) शरीर का (व्ययः) नाश (लाभविच्छेद्येन) लाभ का अभाव होने से (सामिषक्रव्याद्) मांसग्रहीत पक्षी (इव) समान (परैः) दूसरे पक्षी द्वारा (न) नहीं (अवरुध्यते) रोका जाये ।।88॥ (शक्तस्य) समर्थ का (अपराधिषु) अपराधियों पर (या) जो (क्षमा) क्षमा करना (सा) वह (तस्य) उसके (आत्मनः) स्वयं का (तिरस्कार) अपमान है ।

विशेषार्थ :- शत्रु पर विजय प्राप्ति के इच्छुक राजा को इस प्रकार के राज्य व देश को पाने की इच्छा करना चाहिए जिससे कि उसके अमात्य-सचिव, सेनाध्यक्ष आदि प्रधान पुरुषों, कोष, अन्न तथा स्वयं उसके जीवन का नाश न होने पावे। तथा जिस प्रकार मांस खण्ड को मुंह में धारण करने वाले पक्षी को दूसरा पक्षी अवरुद्ध कर है उस प्रकार वह अन्य राजा-द्वारा रोका न जा सके ।।88॥ शुक्र का भी यही अभिप्राय है :-

स्वतंत्रस्य क्षयो न स्यात्तथा चैवात्मनोऽपरः ।
येनलाभेन नान्यैश्च रुध्यते तं विचिन्तयेत् ।।1॥

जो नृपति शक्ति सम्पन्न होकर भी अपराधियों को क्षमा प्रदान करता है, उन्हें यथोचित दण्ड तिरस्कार होता है । अतः राजा को अपराधियों के प्रति क्षमाधारण नहीं करना चाहिए ।।8 है :-

शक्तिमानपि यः कुर्यादपराधिषु च क्षमा
स पराभवमाप्नोति सर्वेषामपि वैरि

जो राजा दण्ड देने की क्षमता रखता हुआ भी अपराधियों क तिरस्कार प्राप्त करता है ।।1॥

शत्रु निग्रह से लाभ, नैतिक पुरुष का कर्त्तव्य, अग्रेसर होने से हानि :-

अतिक्रम्यवर्तिषु निग्रहं कर्तुः सर्पादिव दृष्टप्रत्यवायः सर्वोऽपि बिभेति जनः ।।90॥ अनायकां बहुनायकां वा सभां न प्रविशेत् ।।91॥ गणपुरश्चारिणः सिद्धे कार्ये स्वस्य न किंचित् भवत्यसिद्धे पुनः ध्रुवमपवादः ।।92॥

अन्वयार्थ :- (अतिक्रम्यवर्तिषु) विपरीत को (निग्रहम्) दण्डित (कर्तुः) करने वाले का (सर्पात्) सर्प से (दृष्टप्रत्यवायः) दंशित के अपाय (इव) समान (सर्वाः) सभी (अपि) भी (जनः) लोक (बिभेति) डरते हैं ।।90॥ (अनायकाम्) प्रधान रहित (वा) अथवा (बहुनायकाम्) अधिक नायकों की (सभाम्) सभा में (न) नहीं (प्रविशेत्) प्रवेश करे ।।91॥ (गणपुरश्चारिणः) गण का मुखिया (सिद्ध कार्ये) कार्य सिद्ध होने पर (स्वस्य) स्वयं का (न) नहीं (किंचित्) कुछ भी (भवति) होता है (पुनः) फिर यदि (असिद्धे) कार्य न हो तो (ध्रुवम्) निश्चय से (अपवादः) अपवाद ...

विशेषार्थ :- जो राजा अपराधियों को यथोचित्त दण्ड देने में कठोरता अपनाता है उससे सभी लोग भयभीत रहते हैं जिस प्रकार सर्प के डसने के भय से जनता भयातुर रहती है । अर्थात् कोई भी अपराध नहीं करता ।।90॥ भागुरि ने कहा है :-

अपराधिषु यः कुर्यान्निग्रहं दारुणं नृपः ।
तस्माद्बिभेति सर्वोऽपि सर्व संस्पर्शनादिव ।।1॥

बुद्धिमान, नीतिज्ञ पुरुष को इस प्रकार की सभा में जहाँ कोई नायक न हो अथवा बहुत नायक हों प्रवेश नहीं करना चाहिए ।।91॥

जन समुदाय या राजसभा मे विवेकी पुरुष को अग्रेसर-नेता या मुखिया नहीं बनना चाहिए । क्योंकि कार्य सिद्धि होने पर स्वयं को कुछ मिलने वाला नहीं और यदि असिद्धि हो गई तो निश्चय से अपवाद का शिकार बनना ही पड़ता है । सभी सभासद कहेंगे इसी मूर्ख ने बोलकर सारा काम बिगाड दिया ।।92॥ नारद ने भी कहा है :

बहूनामग्रगो भूत्वा यो ब्रूते न नतं परः ।
तस्य सिद्धौ नो लाभः स्यादसिद्धौ जनवाच्यता ।।1॥

दूषित राजसभा, प्राप्त धन के विषय में, व धनार्जन का उपाय :-

सा गोष्ठी न प्रस्तोतव्या यत्र परेषामपायः ।।93॥ गृहागतमर्थं के नापि कारणेन नावधीरयेद्यदैवार्थ-गमस्तदैव सर्वातिथि नक्षत्र ग्रहबलम् ।।94॥ गजेन गजबन्धनमिवार्थेनार्थोपार्जनम् ।।95॥

विशेषार्थ :- वह सभा प्रशंसनीय नहीं कही जा सकती, जहाँ आये हुए सभासदों, के साथ पक्षपात का व्यवहार किया जाय । अर्थात् प्रयोजन सिद्धयर्थ आगत सत्पुरुषों की मान्यता न हो उस सभा में नहीं जाना ही श्रेष्ठ है ।।93॥ जैमिनि ने कहा है :-

सभायां पक्षपातेन कार्यार्थी यत्र हन्यते ।
न सा सभा भवेच्छस्या शिष्टैस्त्याज्यासुदूरतः ।।1॥

पक्षपात जहाँ हो उस सभा को दूर ही से त्याग देना चाहिए ।।1॥

गृह में प्राप्त हुई सम्पदा के ग्रहण करने में तिथि, नक्षत्र, बार आदि के शुभाशुभ का विचार नहीं करना चाहिए। अपितु उसे तत्काल ग्रहण कर लेना चाहिए । क्योंकि जिस समय लक्ष्मी का आगमन होता है वह क्षण, दिन, घड़ी नक्षत्र, तिथि आदि सभी शुभ ही माने जाते हैं ।। सभी ग्रह बलिष्ठ होते हैं ।94॥ गर्ग ने भी कहा है :-

गृहागतस्य वित्तस्य दिनशुद्धिं न चिन्तयेत् ।
आगच्छति यदा वित्तं सदैव सुशुभं दिनम् ।।1॥

जिस प्रकार गज से गज बांधा जाता है, उसी प्रकार लक्ष्मी-धन से वित्तार्जन किया जाता है । अर्थात् धन से धन कमाया जाता है ।95॥ जैमिनि ने कहा है :-

अर्था अर्थेषु बध्यन्ते गजैरिव महागजः ।
गजा गजैर्बिना न स्युरर्था अर्थैर्बिना तथा ।।1॥

दण्डनीति का निर्णय, प्रशस्तभूमि, राक्षसीवृत्ति वाले पर प्रेमी राजा, आज्ञापालन :-

न केवलाभ्यां बुद्धि पौरुषाभ्यां महतो जनस्य सम्भूयोत्थाने संघातविघातेन दण्डं प्रणयेच्छतमवध्यं सहस्त्रंमदण्ड्यम् न प्रणयेत् ।।96॥ सा राजन्वती भूमिर्यस्यां ना सुरवृत्ती राजा ।।97॥ पर प्रणेया राजाऽपरिक्षितार्थमानप्राणहरोऽसुर वृत्तिः ।।98॥ परकोपप्रसादानुवृत्तिः पर प्रणेयः ।।99॥ तत्स्वामिच्छन्दोऽनुवर्तनं श्रेयो यन्न भवत्यत्यामहिताय ।।100॥

अन्वयार्थ :- (केवलाभ्यां बुद्धिपौरुषाभ्याम्) मात्र बुद्धि पुरुषार्थ द्वारा (महतो) महान (जनस्य) जनों को (सम्भूय) समूह को (उत्थाने) लेकर (संघातविघातेन) समुदाय के विघात द्वारा (न) नहीं (दण्डम्) दण्ड (प्रणयेत्) देवे (क्योंकि) (शतम्) सौ (अवध्यम्) दण्ड योग्य नहीं (सहस्रम्) हजार (अदण्डयम्) अदण्डनीय (न) नहीं (प्रणयेत्) दण्डित करे ।।96॥ (सा) वह (भूमिः) पृथ्वी (राजन्वती) प्रशस्त (यस्याम्) जिसमें (असुरवृत्तिः) आसुरीवृत्ति वाला (राजा) राजा (न) नहीं है ।।97॥ (परप्रणेया) दूसरों की प्रीति से चलने वाला (राजा) नृपति (अपरिक्षितार्थ) बिना विचारे (मानप्राण हरः) सम्मान व प्राणनाशक (असुरवृत्तिः) आसुरी भावना वाला है ।।98॥ (परकोपप्रसादानुवृत्तिः) बिना विचारे कोप व प्रसाद करने वाला (परप्रणेयः) परप्रणेय है ।।99॥ (तत्) वह (स्वामिच्छन्दानुवर्तनम्) आज्ञा (श्रेया) श्रेष्ठ है (यत्) जो (आयत्याम) भविष्य में (महिताय) स्वामी के लिए (न भवति) संकट के लिए नहीं होती ।।100॥

विशेषार्थ :- यदि सौ पुरुष एक साथ एकमत से ही एक ही प्रकार कथन करते हैं अथवा हजार व्यक्ति एक रूप से एक ही प्रकार से एक ही प्रकार कथन भाषण करते हैं तो बुद्धिमान राजा को अपने ज्ञान-विज्ञान व पौरुष के अहंकारवश उन श्रेष्ठ महान पुरुषों को अपराधी सिद्ध कर दण्डित नहीं करना चाहिए ।। क्योंकि एक ही

प्रकार बात कहने वाले 100 बध के अयोग्य और 1000 एक हजार व्यक्ति अदण्डनीय होते हैं ।।96।। शुक्र ने भी यही कहा है :-

बुद्धिपौरुषगर्वेण दण्डयेन्नृन महाजनम् ।
एकानुगामिकं राजा यदा तु शत्रुपूर्वकम् ।।1।।

जिस भूमि का अधिपति अपराध के प्रतिकूल अधिक दण्डविधान नहीं करे अपितु न्यायनीति से चलता है, सदाचारी है उसकी भूमि राजन्वती प्रशस्त भूमि है ।।97।। गुरु ने भी कहा है :-

यस्यां राजा सुवृत्तः स्यात् सौम्यवृक्षः सदैव हि ।
सा भूमिः शोभते नित्यं सदा वृद्धिं च गच्छति ।।1।।

जो राजा स्वयं की बुद्धि का उपयोग नहीं करता, बिना सोचे विचारे ही दूसरों की प्रेरणा से अपराधियों के अर्थमान व प्राणमान को नहीं ज्ञात कर यों ही उन्हें प्राणघात का दण्ड, धनहरण, मानहरण आदि दण्ड निर्धारित कर दे । सौ रुपये के योग्य दण्ड पर सहस्र और सहस् के स्थान पर लक्ष का दण्ड घोषित करे, तुच्छ दोष पर फांसी की सजा देने वाला ''असुरवृत्ति'' कहलाता है । राक्षसवृत्ति वाला माना गया है ।।98।। भागुरि ने भी कहा है -

पर वाक्यैर्नृपो यत्र सद्वृत्तां सुप्रपीडयेत् ।
प्रभूतेन तु दण्डेन सोऽसुरवृत्ति रुच्यते ।।

अल्प अपराध होने पर भी कठोर मृत्यु दण्डादि देकर पीडित करे उसे 'असुरवृत्ति' राजा कहते हैं ।।98।।

जो राजा स्वयं की बुद्धि का उपयोग नहीं करके, बिना सोचे-विचारे दूसरो के कहने मात्र से चाहे जिसके प्रति कुपित और प्रसन्न हो उसे 'पर प्रणेय' कहते हैं ।।99।। गुरु विद्वान ने भी कहा है :-

परप्रणेयो भूपालो न राज्यं कुरुते चिरम् ।
पितृपैतामहं चेत् स्यात्किं पुनः परभूपजम् ।।1।।

भृत्य या सेवक को अपने स्वामी की आज्ञापालन करना अनिवार्य है । परन्तु वही आज्ञा मान्य करनी चाहिए जिससे स्वामी को भविष्य में कष्ट न हो, विपत्ति न आवे ।।100।। गर्ग ने भी कहा है :-

मंत्रिभिस्तत्प्रियं वाच्यं प्रभोः श्रेयस्करं च यत् ।
आयत्यां कष्टदं यच्च कार्यं तन्न कदाचन ।।1।।1।।

वही अर्थ है ।

राजा द्वारा ग्राह्य व दूषित धन तथा धनप्राप्ति :-

निरनुबन्धमर्थानुबंधं चार्थमनुगृह्णीयात् ।।101।। नासवर्थो धनाय यत्रायत्यां महानर्थानुबन्धः ।।102।। लाभस्त्रिविधोनवो भूतपूर्वः पैत्र्यश्च ।।103।।

विशेषार्थ :- भूपति का कर्त्तव्य है कि वह प्रजा से करादि द्वारा इस प्रकार धन ग्रहण करे कि प्रजा को कष्ट न हो और उसका धन भी क्षय न हो ।। अथवा यह भी अर्थ हो सकता है कि नीतिज्ञ पुरुष इस प्रकार से धन संचय करे कि जिससे साधारण लोगों को कष्ट न हो एवं भविष्य में धन प्राप्ति का सम्बन्ध बना रहे ।।101॥ भविष्य में महान् अनर्थ (राजदण्डादि) उत्पन्न करने वाला अन्याय संचित धन स्थिर नहीं रहता है । सारांश यह है कि चोरी आदि से प्राप्त निंद्य अर्थ है । पाप निंद्य हैं। उनके निमित्त से अर्जित सम्पत्ति भी निंद्य ही कहलायेगी इस प्रकार का अन्यायार्जित धन पूर्व संचित धन को लेकर नष्ट होता है । अतएव नीति निपुण जनों को न्यायोचित धनार्जन करना चाहिए ।।103॥ अत्रि ने भी लिखा है :-

अन्यायोपार्जितं वित्तं यो गृहं समुपानयेत् ।
गृह्यते भूभुजा तस्य गृहंगेन समन्वितम् ।।1॥

अर्थ प्राप्ति के हेतू तीन हैं - 1. नवीनकृषि व व्यापारादि साधनों के द्वारा नवीन धन उपार्जन होता है । 2. भूतपूर्व धन- वंशपरम्परागत प्राप्त धन । 3. भूतपूर्व में स्वयं संचित किया हुआ कोषादि । ये तीनों प्रकार के लाभ श्रेष्ठ हैं ।।103॥ शुक्र ने भी कहा है :-

उपार्जितो नवोऽर्थ स्याद् भूतपूर्वस्तथापरः ।
पितृपैतामहोऽन्यस्तु त्रयो लाभाः शुभावहाः ।।1॥

इसका अभिप्राय भी वही है ।

''इति व्यवहार समुद्देशः ।।''

इति श्री परम पूज्य, विश्ववंद्य चारित्र चक्रवर्ती 20वीं शदी के प्रथमाचार्य श्री 108 मुनिकुञ्जर समाधि सम्राट् आचार्य, घोरतपस्वी, एकान्त प्रिय ध्यानी, मौनी परम योगी श्री आदिसागर जी महाराज अंकलीकर के पट्टाधीश मेरे शिक्षा गुरु परमपूज्य तीर्थभक्त शिरोमणि 18 भाषा भाषी घोरोपसर्ग परीषहजयी श्री 108 आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज के संघस्था, परम् पूज्य कलिकाल सर्वज्ञ, सन्मार्ग दिवाकर, वात्सल्य रत्नाकर श्री 108 आचार्य विमल सागर जी की शिष्या ज्ञानचिन्तामणि प्रथम गणिनी 105 आर्यिका विजयामती जी द्वारा यह हिन्दी विजयोदय टीका का 29वां समुद्देश परम पूज्य तपस्वी सम्राट् सिद्धान्त चक्रवर्ती, उपसर्ग परीषह विजेताश्री 108 आचार्य सन्मति सागर जी महाराज के पावन चरण सानिध्य में पूर्ण हुआ ।।

।। शुभम् ॐ शुभम् ।।

।। 0 ।।

30

युद्ध समुद्देश

मंत्री व मित्र का दोष, भूमिरक्षार्थं कर्त्तव्य, शस्त्रयुद्ध का अवसर :-

स किं मंत्री मित्रं वा यः प्रथममेव युद्धोद्योगं भूमित्यागं चोपदिशति, स्वामिनः सम्पादयति च महन्तमनर्थं संशयम् ।।1॥ संग्राम्ये को नाम कालमनाकाङ्क्षन् स्वामिनं प्राणसन्देह तुलायामारोपयति ।।2॥ भूम्यर्थं नृपाणां नयो विक्रमश्च न भूमित्यागाय ।।3॥ बुद्धियुद्धेन परं जेतुमशक्तः शस्त्रयुद्धमुपक्रमेत् ।।4॥

विशेषार्थ :- (सः) वह (किम्) क्या (मंत्री) सचिव (वा) अथवा (मित्रम्) मित्र है (यः) जो प्रथम ही (युद्धोद्योगम्) संग्राम (च) और (भूमित्यागम्) पृथिवी त्याग का (उपदिशति) उपदेश देता है (स्वामिनः) स्वामी का (महन्तम) बहुत (अनर्थम्) अकल्याण (च) और (संशयम्) सन्देह (सम्पदायति) उत्पन्न करता है ।।

जो मन्त्री व मित्र शत्रु द्वारा आक्रमण किये जाने पर अपने स्वामी को भविष्य में कल्याणकारक अन्य सन्धि, सामनीति आदि का परामर्श न देकर प्रथम ही उसे संग्राम करने या देश छोड़कर भाग जाने को वाध्य करें वे शत्रु हैं । मन्त्री या मित्र नहीं क्योंकि स्वामी के जीवन को ही सन्देह की तुला पर चढ़ा दिया ।।1॥ गर्ग ने कहा है :-

उपस्थिते रिपौ मंत्री युद्धं बुद्धिं ददाति यः ।
मंत्रिरुपेण वैरी स देशत्यागं च यो वदेत् ।।1॥

वास्तव में ऐसा कौन बुद्धिशाली सचिव होगा जो सर्वप्रथम अपने स्वामी को युद्ध करने का परामर्श देकर उसके प्राणों को सन्देह की तुला पर चढायेगा ? कोई भी नहीं । सारांश यह है कि शत्रु द्वारा हमला किये जाने पर प्रथम मन्त्री उसे सन्धि करने का परामर्श दे, उसमें असफल होने पर संग्राम के लिए प्रेरित करे ।।2॥ गौतम ने भी इसी प्रकार कहा है :-

उपस्थिते रिपौ स्वामी पूर्वं युद्धे नियोजयेत् ।
उपायं दापयेद् व्यर्थे गते पश्चान्नियोजयेत् ।।1॥

भूपालों की नीति व पराक्रम की सार्थकता अपनी भूमि की रक्षा में होती है । न कि भूमित्याग कर भाग जाने में। फिर भला भूमि त्याग किस प्रकार हो सकता है ? नहीं । शुक्र ने भी कहा है :-

भूम्यर्थं भूमिपैः कार्यो नयो विक्रम एव च ।
देशत्यागो न कार्यस्तु प्राणत्यागेऽपि संस्थिते ।।1।।

अर्थ :- राजाओं को अपने राज्य-भूमि की रक्षार्थ अपनी नीति व पराक्रम का प्रयोग करना चाहिए । यदि इस कार्य में प्राणोत्सर्ग भी हो तो परवाह नहीं परन्तु देश त्याग कदाऽपि नहीं करना चाहिए । पीठ दिखाना कायरों का काम है वीरों का नहीं ।।1।।3।।

शत्रु पर विजयश्री पाने का इच्छुक प्रथम बुद्धि युद्ध करे पश्चात् यदि इस कार्य में सफल न हो, साम नीति भी असफल हो जाय तो फिरद्ध शस्त्रयुद्ध करना चाहिए। गर्ग ने भी कहा है :-

युद्धं बुद्ध्यात्मकं कुर्यात् प्रथमं शत्रुणा सह ।
व्यर्थेऽस्मिन् समुत्पन्ने ततः शस्त्ररणं भवेत् ।।1।।

बुद्धियुद्ध निरर्थक होने पर शस्त्रयुद्ध करना चाहिए ।।1।।

बुद्धि युद्ध व बुद्धि युद्ध का माहात्म्य :-

न तथेषवः प्रभवन्ति यथा प्रज्ञानतां प्रज्ञाः ।।5।। दृष्टेऽप्यर्थे सम्भवन्त्यपराद्धेषवो धनुष्मतोऽदृष्टमर्थं साधु साधयति प्रज्ञावान् ।।6।। श्रूयते हि किल दूरस्थोऽपि माधवपिता कामन्दकीयप्रयोगेन माधवाय मालतीं साधयामास ।।7।। प्रज्ञा हि अमोघं शस्त्रं कुशलबुद्धीनाम् ।।8।। प्रज्ञाहता कुलिशहता इव न प्रादुर्भवन्ति भूमिभृतः ।।9।।

विशेषार्थ :- जिस प्रकार प्रज्ञावताम्-बुद्धिमानों की प्रज्ञा-तीक्ष्णबुद्धि शत्रु को परास्त करने में अपना कौशल दिखाती है उस प्रकार ईषवः- तीक्ष्ण वाणों का प्रहार प्रभाव नहीं दिखला सकते हैं ।।5।। गौतम ने भी कहा है

न तथात्र शरास्तीक्ष्णाः समर्थाः स्यू रिपो वधे ।
यथा बुद्धिमतां प्रज्ञा तस्मात्तां सन्नियोजयेत् ।।1।।

अर्थात् तीक्ष्ण वाणों की अपेक्षा विद्वानों की बुद्धि को शत्रु-बध में विशेष उपयोगी माना जाता है । कहा है "बुद्धिर्यस्य बलं तस्य" ।।1।।

विशिष्ट तिरंदाज धनुर्धारियों को भी प्रत्यक्ष देखे निशाने पर चलाये तीर असफल हो जाते हैं । अर्थात् वर्तमान लक्ष्य-भेद करने में चूक जाते हैं । परन्तु बुद्धिमान पुरुष अपने बुद्धिबल के माध्यम से परोक्ष बिना देखे हुए पदार्थ भी भली-भांति सिद्ध कर लेते हैं ।।6।। शुक्र का भी यही अभिमत है :-

धानुकस्य शरो व्यर्थो दृष्टे लक्ष्येऽपि याति च ।
अदृष्टान्यपि कार्याणि बुद्धिमान् सम्प्रसाधयेत् ।।1।।

निम्न दृष्टान्त दर्शनीय है - महाकवि श्री भवभूति विरचित "मालतीमाधव" -

यह "मालतीमाधव" एक नाटक है । इसमें लिखा है कि माधव के पिता देवरात ने अत्यन्त दूर रहते हुए भी 'कामन्दकी' नामक एक सन्यासिनी को प्रसन्न किया । उसके प्रयोगों से उसे मालती के निकट भेजा और अपने पुत्र माधव के लिए मालती को प्राप्त कर लिया । यह उसकी बुद्धिकौशल का ही माहात्म्य है ।।7॥ प्रज्ञावानों की बुद्धि ही शत्रु पर विजयश्री प्राप्त करने में सफल शस्त्र माना गया । क्योंकि जिस प्रकार वज्र प्रहार से ताड़ित किये हुए पहाड़-पर्वत पुनः पर्वत रूप से नहीं बनते उसी प्रकार विद्वानों की बुद्धि से विजित शत्रु पुनः शत्रु भाव को प्राप्त नहीं होते ।।8-9॥ गुरु ने भी कहा है :-

प्रज्ञाशस्त्रममोघं च विज्ञानाद् बुद्धि रुपिणी ।
तया हता न जायन्ते पर्वता इव भूमिपाः ।।1॥

डरपोक, अतिक्रोध, युद्धकालीन, राजकर्तव्य, शत्रुबलमाहात्म्य, बलिष्ट शत्रु के प्रति राजा का कर्त्तव्य-

परैः स्वस्याभियोगमपश्यतो भयं नदीमपश्यत उपानत्परित्यजनमिव ।।10॥ अतितीक्ष्णो बलवानपि शरभ इव न चिरं नन्दति ।।11॥ प्रहरतोऽपसरतो वा समे विनाशे वरं प्रहारो यत्र नैकान्तिको विनाशः ।।12॥ कुटिला हि गतिर्दैवस्य मुमूर्षुमपि जीवयति जिजीविषुंमारयति ।।13॥ दीपशिखायां पतंगवदैकान्तिकं विनाशेऽविचारमपसरेत् ।।14।।

अन्वयार्थ :- (परैः) शत्रु (स्वस्य) अपने (अभियोगम्) आक्रमण को (अपश्यतः) नहीं देख (भयम्) भय माने तो (नदीम्) नदी को (अपश्यत) नहीं देख (उपानत्) जूते (परित्यजमन्) उतारने वाले (इव) समान ।।10॥ (अतितीक्ष्णः) अतिक्रोधी (बलवान्) बलिष्ठ (अपि) भी (शरभः) अष्टापद (इव) समान (न) नहीं (चिरम्) अधिक (नन्दति) जीता है ।।11॥ (प्रहरतः) प्रहारव्यास (अपसरतः) भागता हुआ (समे विनाशे) समर में विनाश (वरं) श्रेष्ठ (प्रहारः) प्रहार श्रेष्ठ है (यत्र) जहाँ (विनाशः) मरण (एकान्तिकः) निश्चित (न) नहीं है ।।12॥ (दैवस्य) भाग्य की (गति) भविता (हि) निश्चय से (कुटिला) दुष्ट है (मुमूर्षः) मरता हुआ (अपि) भी (जीवयति) जिलाता है (जिजीविषुः) जीते हुए को (मारयति) मारता है ।।13॥ (दीपशिखायाम्) दीप लौ में (पतंगवत्) पतंग समान (ऐकान्तिके) निश्चित (विनाशे) विनाश होने पर (अविचारम्) बिना विचारे (अपसरेत्) संग्राम से दूर हो ।।14॥

विशेषार्थ :- जिस प्रकार नदी को देखे बिना ही कोई भय से त्रस्त होकर जूते उतार कर हाथ में ले ले तो वह हास्य का पात्र होता है उसी प्रकार शत्रु कृत उपद्रव को जाने बिना ही पहले से भयातुर होने वाला व्यक्ति भी हास्य का पात्र होता है । अतः शत्रु द्वारा आक्रमण किये जाने पर उसका बल-पौरुष देखकर यथोचित्त प्रतिकार करना चाहिए ।।10॥ शुक्र ने भी यही कहा है :-

यथा चादर्शने नद्या उपानत्परिमोचनम् ।
तथा रात्रावदृष्टेऽपि भयं हास्याय भूभुजाम् ।।1॥

अत्यन्त कोप उचित नहीं क्योंकि वह नाश का कारण बनता है । क्रोधी बलिष्ठ होने पर भी अष्टापद के समान चिरकाल तक जीवित नहीं रह सकता । नष्ट हो जाता है । अर्थात् जिस प्रकार अष्टापद मेघ की गर्जना

सुनकर उसे हाथी की चिंघाड समझ कर सहन न करता हुआ पर्वत के शिखर से गिरकर पृथ्वी पर पड स्वयं नष्ट हो जाता है । अतएव अत्यन्त क्रोधी होना उचित नहीं है ।।11॥ संग्राम में शत्रु से युद्ध करना अथवा युद्धभूमि त्याग भाग जाना, इन दोनों में से जिसे जीतने के इच्छुक को अपनी मृत्यु का निश्चय हो जाय तो उसे युद्ध करना ही श्रेष्ठ है क्योंकि संभव है विजयश्री मिल जाय, परन्तु भागने पर तो मृत्यु ही होती है ।।12॥ कर्म की गति-भाग्यरेखा बड़ी ही वक्र व जटिल होती है । क्योंकि वह मरने की कामना करने वाले को दीर्घायु व जीवन की आकांक्षा करने वाले को मृत्यु का वरण करा देती है ।।13॥ कौशिक ने भी कहा है-

मर्तुकामोऽपि चेन्मर्त्यः कर्मणा क्रियते हि सः ।
दीर्घायु र्जीवितेच्छाढ्यो म्रियते तद्रक्तोऽपि सः ।।1॥

जिस समय शत्रु को बलवान देखे । यह निश्चित हो जाय कि अब मुझे दीप शिखा में पतिंगा समान समाप्त ही होना पडेगा, जीवन होमना ही होगा तो बिना कुछ सोचे-विचारे उसे वहाँ से दूर हट जाना चाहिए । अर्थात् समरभूमि त्यागकर निकल जाना चाहिए ।। गौतम ने भी कहा है :- ।।14॥

बलवन्तं रिपुं प्राप्य यो न नश्यति दुर्बलः ।
स नूनं नाशमभ्येति पतंगो दीपमाश्रितः ।।1॥

भाग्य की अनुकूलता, सार असार सैन्य से लाभ-हानि, युद्धार्थ राज प्रस्थान :-

जीवितसम्भवे दैवो देयात्कालबलम् ।।15॥ वरमल्पमपि सारं बलं न भूयसी मुण्डमण्डली ।।16॥ असारबलभंगः सारबलभंगं करोति ।।17॥ नाप्रतिग्रहो युद्धमुपेयात् ।।18॥ विशेष स्पष्टीकरण :-

मनुष्य जब दीर्घायु होता है, तब भाग्य भी अनुकूल हो ऐसी सहायता करता है कि अतिबलवान शत्रु को भी आसानी से परास्त कर देता है अर्थात् बलवान शत्रु को भी मार देता है ।।15॥ शुक्र ने कहा है कि :-

पुरुषस्य यदायुः स्याद् दुर्बलोऽपि तदा परम् ।
हिनस्ति चेद्बलोपेतं निजकर्म प्रभावतः ।।1॥

निस्सार, शक्तिविहीन एवं कर्त्तव्यविमुख विशाल सेना से क्या प्रयोजन है ? कुछ नहीं । इस प्रकार की सेना की अपेक्षा वीर सुभटों-शक्तिशाली और कर्त्तव्यनिष्ठ थोड़ी-सी सेना भी उत्तम है ।।16॥ नारद ने भी कहा है कि :-

वरं स्वल्पापि च श्रेष्ठा नास्वल्पापि च कातरा ।
भूपतीनां च सर्वेषां युद्धकाले पताकिनी ।।1॥

बलवान विजयाभिलाषी के द्वारा शत्रु की सारहीन सेना उसके उपद्रवों से त्रस्त हो जाती है-नष्ट हो जाती

है तब उसकी शक्तिशाली सेना भी नष्ट हो जाती है- अधीर बन जाती है । अत: विजिगीषु को दुर्बल सैन्यबल नहीं रखना चाहिए॥ कौशिक ने भी कहा है :- ।।17॥

कातराणां च यो भंगो संग्रामे स्यान्महीपते: ।
महि भंगं करोत्येव सर्वेषां नात्र संशय: ।।1॥

संग्राम भूमि में पृथिवीपति को अकेले युद्ध करने नहीं जाना चाहिए ।।18॥ गुरु ने भी कहा है :-

एकाकी यो व्रजेद्राजा संग्रामे सैन्यवर्जिता: ।
स नूनं पृथुनाऽऽयाति यथापि स्याद्धनञ्जय: ।।1॥

अर्थ :- अर्जुन के समान वीर योद्धा को भी अकेले समरांगण में जाने से खतरा होता है । अतएव अकेले युद्ध मे नहीं जाना चाहिए ।।1॥

प्रतिग्रह का स्वरूप व फल, युद्ध की पृष्ठभूमि, जलमाहात्म्य :-

राजव्यञ्जनं पुरस्कृत्य पश्चात्स्वाम्यधिष्ठितस्य सारबलस्य निवेशनं प्रतिग्रह: ।।19॥ सप्रतिग्रहं बलं साधुयुद्धयोत्सहते ।।20॥ पृष्ठत: सदुर्गजल: भूमिर्बलस्य महानाश्रय: ।।21॥ नद्यानीयमानस्य तदस्थ पुरुषदर्शनमपि जीवित हेतु: ।।22॥ निरन्नमपि सप्राणमेव बलं यदि जलं लभेत् ।।23॥

विशेषार्थ :- राज व्यञ्जन अर्थात् चिन्ह स्वरूप रणभेरी व प्रस्थान नगाड़े बजवाकर पुन: भूपति को सन्नद्धकर वलिष्ठ प्रचुर सैन्यदल तैयार करे । पुन: शत्रु पर आक्रमण करने को सेना स्थापित करना "प्रतिग्रह" कहलाता है। इस प्रकार प्रतिग्रह पूर्वक युद्धविजयाकांक्षी यदि चढ़ाई करता है तो सेना विशेष उत्साह से संग्राम संलग्न होती है जिसका शुभ प्रतिफल है विजयलाभ ।।19-20॥ नारद व शुक्र का भी प्रतिग्रह का यही लक्षण है :-

स्वामिनं पुरत: कृत्वा तत्पश्चादुत्तमं बलम् ।
धियते युद्धकाले य: स प्रतिग्रह संज्ञित: ।।1॥

"नारद"

राज पुर: स्थितो यत्र तत्पश्चात्संस्थितं बलम् ।
उत्साहं कुरुते युद्धे तत: स्याद्विजये पदम् ।।1॥

शुक्र ।।

युद्ध के अवसर पर सेना के पीछे दुर्ग व जल-सहित पृथ्वी रहे तो उसे पर्याप्त सहारा होता है । कारण कि यदि पराजित हो जाये तो दुर्ग में प्रविष्ट होकर, जल द्वारा अपना जीवन रक्षण कर सकता है । यह जल का आश्रय उसी प्रकार आलम्बन व धैर्य का साधन होता है जिस प्रकार सरिता के प्रवाह में प्रवाहित होने वाला पुरुष तटस्थ पुरुष को देख कर परमानन्द-आशान्वित होता है । जीवन का रक्षण समझ हर्षान्वित होता है ।।21-22॥ गुरु व जैमिनी ने भी कहा है :-

जल दुर्गवती भूमिर्यस्य सैन्यस्य पृष्ठतः ।
पृष्ठ देशे भवेत्तस्य तन्महाश्वासकारणम् ।।1 ।।

गुरु द्वारा -

नीयमानोऽत्र यो नद्या तटस्थं वीक्षते नरम् ।
हेतुं तं मन्यते सोऽत्र जीवितस्य हितात्मनः ।।1 ।।

समरभूमि में संलग्न सेना को यदि क्वचित् कदाच् अन्न नहीं मिले तो चल सकता है परन्तु नीर का साधन अवश्य होना चाहिए ।। अन्नाभाव में जल के सहारे से सेना अपना प्राण रक्षण कर सकती है ।123॥ अभिप्राय यह है कि विजिगीषु को जलयुक्त भूमि का आश्रय लेना चाहिए ।। भारद्वाज ने भी कहा है :-

अन्नाभावादपि प्रायो जीवितं न जलं बिना ।
तस्माद्युद्धं प्रकर्त्तव्यं जलं कृत्वा च पृष्ठतः ।।1 ।।

शक्तिशाली के साथ युद्धःहानि, राज-कर्त्तव्य, मूर्ख का कार्य व दृष्टान्त :-

आत्मशक्तिभविज्ञायोत्साहाः शिरसा पर्वत भेदनमिव ।124॥ सामसाध्यं युद्ध साध्यं न कुर्यात् ।125॥ गुडादभिप्रेतसिद्धौ को नाम विषं भुञ्जीत ।126॥ अल्पव्ययभयात् सर्वनाशं करोति मूर्खः ।127॥ का नाम कृतधीः शुल्कभयाद् भाण्डं परित्यति ।128।।

विशेषार्थ :- जो पृथिवीपति अपनी प्रकृति, सैन्यबलादि बिना ज्ञात किये बलिष्ठ के साथ युद्ध करता है, उसका यह कार्य मस्तक से पर्वत फोड़ने के समान असम्भव व घातक है ।124॥ कौशिक ने भी कहा है :-

आत्मशक्तिमजनानो युद्धं कुर्याद्बलीयसा ।
सार्द्धं स च करोत्येव शिरसा गिरिभेदनम् ।।1 ।।

शत्रु पर विजय प्राप्त करने की इच्छा करने वाले नीतिज्ञ व कर्त्तव्यनिष्ठ भूप को सामनीति द्वारा यदि इष्ट प्रयोजन सिद्ध हो तो संग्राम नहीं करना चाहिए । क्योंकि यदि गुड सेवन करने मात्र से आरोग्यलाभ हो जाय तो कौन बुद्धिमान विषभक्षण करेगा । कहावत है "जो मरता हो मिठाई से तो क्यों फिर विष दिया जावे ।।" अर्थात् कोई भी विष नहीं खायेगा 125-26॥ वल्लभदेव व हारीत ने कहा है :-

साम्नैव यत्र सिद्धिस्तत्र न दण्डो बुधैर्विनियोज्यः ।
पित्तं यदि शर्करया शाम्यति ततः किंतत्पटोलेन ।।1 ।।

गुडास्वादनतः शक्तिर्यदिगात्रस्य जायते ।
आरोग्यलक्षणा नाम तद्भक्षयति को विषम् ।।1 ।।

अर्थ विशेष नहीं है ।

मूर्ख मनुष्य अल्प खर्च के पीछे अपना सर्वनाश कर डालता है । प्राकरणिक अभिप्राय यह है कि अज्ञानी-राजनीति अनभिज्ञ राजा से प्रतिद्वन्दी राजा सामनीति से यदि भूमि आदि मांगता है तब वह अल्प क्षति के भय से उसे कुछ भी नहीं देता, पश्चात् उसके साथ संग्राम होने पर सर्वनाश कर बैठता है, सारा का सारा राज्य हार जाता है । अतः नीतिज्ञ को चाहिए अल्प व्यय के भय से अधिक या सर्वनाश से अपना रक्षण करे ।127॥ वल्लभदेव ने कहा है :-

हीनो नृपोऽल्पं गणते नृपाय सन्धिं विग्रहं वा ददाति साम्ना ।
कदर्थमानने ददति खारिं तेषां स चूर्णस्य पुनर्ददाति ।।1॥

कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो कर (टैक्स) देने के भय से अपना व्यापार त्याग देगा ? कोई नहीं छोड़ सकता है ।128॥ कौशिक ने भी कहा है :-

यस्य बुद्धिर्भवेत् काचित् स्वल्पापि हृदये स्थिता ।
न भाण्डं त्यजेत् सारं स्वल्पदान कृताद्भयात् ।।

अभिप्राय वही है ।

प्रशस्त व्यय त्याग, बलिष्ठ शत्रु को धन न देने का दुष्परिणाम, धन देने का तरीका :-

स किं व्ययो यो महान्तमर्थं रक्षति ।129॥ पूर्णसर :- सलिलस्य हि न परीवाहा दपरोऽस्ति रक्षणोपायः ।130॥ अप्रयच्छतो बलवान् प्राणैः सहार्थं गृह्णाति ।131॥ बलवति सीमाधिपेऽर्थं प्रयच्छन् विवाहोत्सवगृहगमनादिमिषेण प्रयच्छेत् ।132॥

अन्वयार्थ :- (सः) वह (किम्) क्या (व्ययः) खर्च है (यः) जो (महान्तम्) महान (अर्थम्) पदार्थ-धन को (रक्षति) रक्षा करता है ? ।129॥ (पूर्णसरः) भरे सरोवर के (सलिलस्य) जल का (हि) निश्चय से (परिवाहात्) बहाव से (अपरः) अन्य (न) नहीं (अस्ति) है (रक्षणस्य) रक्षण का (उपायः) उपाय ।130॥ (अप्रयच्छतः) नहीं देने वाले के (बलवान) बलिष्ठ (प्राणैः) प्राणों के (सह) साथ (अर्थम्) धन को (गृह्णाति) ग्रहण करता है ।131॥ (बलवति) बलवान (सीमाधिपे) सीमापति (अर्थम्) धन (प्रयच्छन्) देता हुआ (विवाहोत्सव) विवाह का उत्सव हो तो (गृहगमनादि) घर जाकर (मिषेण) बहाने से (प्रयच्छेत्) धन दे ।132॥

विशेषार्थ :- जिस अल्प धन खर्च करने पर प्रचुर धन रक्षित होता है, वह क्या व्यय होगा ? नहीं । अभिप्राय यह है कि शत्रु के बलवान होने पर उसे अल्प धनादि देकर सन्धि करना खर्च नहीं माना जाता । क्योंकि इससे उसके संचित प्रचुर धन की रक्षा होती है व इष्टप्रयोजन सिद्धि होती है ।129॥ शौनक का कथन है कि :-

उपचार परित्राणहत्वा वित्तं सुबुद्धयः ।
बलिनो रक्षयन्ति स्म यच्छेषंगृह संस्थितम् ।।1॥

अर्थात् निर्बल राजा को बलिष्ठ पृथिवीपति को धनादि द्वारा सेवाकर अपने प्रचुर धन का रक्षण करना उचित है ।1॥

जिस प्रकार सलिल-जल से लबालब भरे सरोवर की रक्षा उसका ही बहाव है, अन्य उपाय नहीं । उसी प्रकार वैभवशाली धनाढ्य पुरुष के धन का रक्षक धन ही है अन्य नहीं ।।30॥ विष्णुशर्मा का भी यही अभिप्राय है :-

उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम् ।
तडागोदर संस्थानां परीवाह इवाम्भसाम् ।।1॥

अर्थ वही है ।

यदि अपने से विशेष बलवान पुरुष आवश्यक कुछ धन चाहता है और निर्बल उसे अज्ञान व लोभ-वश नहीं देता है तो उसका धन बलवान द्वारा बलात् अपहरण कर लिया जाता है ।।31॥ भागुरि ने भी कहा है-

बलाढ्येनर्थितः साम्ना यो न यच्छति दुर्बलः ।
किंचिद्वस्तु समं प्राणैस्तत्तस्यासौ हरेद् ध्रुवम् ।।1॥

शक्तिहीन महीपति अपने से विशेष शक्तिशाली किसी नृपति को कुछ धनादि प्रयोजन सिद्धयर्थ देना चाहता है तो उसे उस सीमाधिपति को विवाहादि उत्सव के बहाने अपने घर पर बुलाकर बहुमान पूर्वक इसे किसी बहाने से प्रदान करना चाहिए ।।32॥

शुक्र ने भी इसकी पुष्टि की है :-

वृद्ध्युत्सवगृहातिथ्य व्याजैर्देयं बलाधिके ।
सीमाधिपे सदैवात्र रक्षार्थंस्वधनस्य च ।।1॥

अर्थ न देने से आर्थिक क्षति, दृष्टान्तमाला, स्थान भ्रष्ट राजा व समष्टि का माहात्म्य :-

आमिषमर्थमप्रयच्छतोऽनवधिः स्यान्निबन्धः शासनम् ।।33॥ कृतसंघात विघातोऽरिभिर्विशीर्णयूथो गज इव कस्य न भवति साध्यः ।।34॥ विनिःस्रावित जले सरसि विषमोऽपि ग्रहो जलव्यालवत् ।।35॥ वनविनिर्गतः सिंहोऽपि शृगालायते ।।36॥ नास्ति संघातस्य निःसारता किन्न स्खलयति मत्तमपि वारणं कुथिततृण संघातः ।।37॥ संहतैर्बिसतंतुभिर्दिग्गजोऽपि नियम्यते ।।38॥

अन्वयार्थ :- (आमिषम्) प्रतिद्वन्द्वी को (अर्थम्) धन (अप्रयच्छतः) नहीं देने वाला, (अनवधिः) अपरिमत (स्यात्) देगा (निबन्धः) कारण (शासनम्) अधिकार का ।।33॥ (कृतसंघात विघातः) समूह का नाशक (अरिभिः) शत्रुओं द्वारा (विशीर्णयूथः) नष्ट समुदाय (गज इव) हाथीसमान (कस्य) किसका (साध्यः) साध्य (न) नहीं (भवति) होता है ।।34॥ (बिनिः स्रावित जले) जल निकलने पर (सरसि) सरोवर में (विषयोऽपि) भयंकर भी (ग्राहः) घड़ियाल (जल व्यालवत्) जलसर्पवत् हो जाता है ।।35॥ (वन विनिर्गतः) वन से निकला (सिंहः) शेर (अपि) भी (शृगालायते) गीदड होता है ।।36॥ (संघातस्य) समुदाय के (निस्सारता) शक्तिहीनता (न) नहीं (अस्ति) है (किम्) क्या (कुथिततृणसंघातः) घास से बटा रस्सा (मत्तम्) मदोन्मत्त (अपि) भी (वारणम्)

हाथी को (न) नहीं (स्खलयति) रोकता है ।। ।137॥ (संहतैः) एकत्रित (विषतन्तुभिः) मृणाल द्वारा (दिग्गजः) गज (अपि) भी (नियम्यते) बांधा जाता है ।138॥

विशेषार्थ :- अपने से अधिक शक्तिशाली सीमाधिपति-प्रतिद्वन्दी के कुछ धनराशि की मांग करने पर यदि हीनशक्ति वाला लोभादिवश उसे धन नहीं देता तो भविष्य में उसे अपरिमित असंख्य धन राशि देने को वाध्य होना पड़ता है, तथा उसकी कठोर आज्ञा पालन करनी पडती है । अतः अपरिमित धन राशि के संक्षणार्थ एवं अपहरण, राष्ट्रविनाश से बचने के लिए निर्बल राजा को सबल के लिए धनादि देकर सन्तुष्ट कर वश करे ।133॥ गुरु ने कहा है :-

सामाधिपे बलाढ्ये तु यो न यच्छति किंचन ।
व्याजं कृत्वा स तस्याथ संख्याहीनं समाचरेत् ।।1॥

शत्रु द्वारा जिसका सैन्य नष्ट कर दिया गया है या जो परदेश से आया है । वह शक्तिहीन हो जाता है । इस प्रकार का शत्रु अपने यूथ से भ्रष्ट कुंजर हाथी के समान किससे परास्त नहीं होता ? सभी के द्वारा वश किया जा सकता है । अर्थात् क्षुद्र लोग भी उसे पराजित कर देते हैं - ।134॥ नारद ने कहा है कि :-

उच्चादितोऽरिभि राजा परदेशसमागतः
वन हस्तीव व साध्यः स्यात् परिग्रहविवर्जितः ।।1॥

जिस सरोवर का नीर पूर्णतः निकाल दिया गया है, उस जलहीन सर में निवासी मगर, घडियाल आदि जलजन्तु भयङ्कर होने पर भी जलसर्प के समान निर्विष व शक्तिहीन हो जाता है उसी प्रकार सैन्य के क्षय हो जाने पर वह राजा भी क्षीण शक्ति हो जाता है ।135॥ रैम्य ने कहा है :-

सरसः सलिले नष्टे यथा ग्राह्यस्तुलां व्रजेत् ।
जल सर्पस्य तद्वच्च स्थानहीनोनृपो भवेत् ।।1॥

यदि शक्ति सम्पन्न सिंह वन प्रदेश से निकल जाये तो श्याल (गीदड़) के समान शक्तिहीन हो जाता है, उसी प्रकार सैन्य-बल के नष्ट होने पर विक्रमशाली भी राजा क्षीणशक्ति हो जाता है ।136॥ शुक्र ने भी कहा है :-

शृगालतां समभ्येति यथा सिंहो वनच्युतः ।
स्थानभ्रष्टो नृपोप्येवं लघुतामेति सर्वतः ।।1॥

अर्थ में विशेषता नहीं है ।

समूह में शक्ति निहित होती है । कहा भी है "एकता ही बल है" भिन्न-भिन्न तृणों को एकत्रित कर रस्सा बट लेने पर क्या वह हाथी के गमन को नहीं रोकता ? अवश्य रोकता है । अर्थात् उससे मदोन्मत्त गजराज भी बांधा जा सकता है । विष्णुशर्मा ने भी कहा है :-

बहूनामप्यसाराणां समवायो बलाधिकः ।
तृणैरावेष्टितो रज्जुर्यथा नागोऽपि बध्यते ।।1॥

जिस प्रकार अत्यन्त मृदु-कोमल मृणाल तन्तुओं को एकत्रित कर बडे-बडे दिग्गज भी बांधे जा सकते हैं, उसी प्रकार शक्तिहीन राजा भी बलिष्ठ सैन्य बल के द्वारा शक्तिशाली शत्रु को भी वश कर लेता है । समरांगण में परास्त कर विजलक्ष्मी प्राप्त कर लेता है ।38॥ हारीत ने भी कहा है :-

अपि सूक्ष्मतरैर्भृत्यैर्बहुभिर्वश्यमानयेत् ।
अपि वीर्योत्कटं शत्रुं पद्म सूत्रैर्यथा गजम् ।।1॥

अर्थ उपर्युक्त ही है ।

दण्डसाध्य शत्रु व दृष्टान्त, शक्ति व प्रतापहीन का दृष्टान्त, शत्रु की चापलूसी :-

दण्डसाध्ये रिपावुपायान्तर मग्नावाहुतिप्रदानमिव ।।39॥ यत्र शस्त्राग्निक्षार प्रतीकारे व्याधौ किं नामान्यौषधं कुर्यात्।।40॥ उत्पाटित दंष्ट्रो भुजंगो रज्जुरिव ।।41।. प्रतिहतप्रतापोऽङ्गारः संपततोऽपि किं कुर्यात् ।।42॥ विद्विषां चादुकारं न बहुमन्येत।।43॥

विशेषार्थ :- जो शत्रु दण्डनीति द्वारा वश करने योग्य है उसे अन्य साम-दाम आदि नीतियों द्वारा वश करने का उपाय करना व्यर्थ है । अपितु अग्नि में घृताहुति के समान उसकी क्रोधाग्नि को अधिक प्रज्वलित करना है ।। माघ कवि ने भी कहा है :-

सामवादाः सकोपस्य तस्य प्रत्युत दीपकाः ।
प्रज्वलस्येव सहसा सर्पिषस्तोयविन्दवः ।।1॥

अर्थात् अग्नितप्त घृत में पानी के छींटे डालने पर वह अधिक कुपित हो जलाता है उसी प्रकार दण्डनीति से वश करने योग्य शत्रु को साम्य नीति का प्रयोग विपरीत फल देता है ।39॥

जिस प्रकार यन्त्र, शस्त्र, अग्नि व क्षारचिकित्सा द्वारा नष्ट होने योग्य व्याधि-रोग अन्य सामान्य औषधियों द्वारा नष्ट नहीं की जाती है, उसी प्रकार दण्ड द्वारा वश में करने योग्य शत्रु भी अन्य सामादि नीतियों द्वारा शमित-काबू में नहीं किया जा सकता । जिस प्रकार विषधर (सर्प) की दाढ़ें तोड़ दी जायं तो वह निर्विष हो सामान्य रस्सी के समान शक्तिहीन हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जिस राजा की सेना व कोष (खजाना) नष्ट हो जाय तो वह भी शक्तिविहीन हो जाता है । अतः राजाओं को अपने सैन्यबल और धन बल का रक्षण करना चाहिए ।40-41॥ नारद ने भी कहा है :-

दंष्ट्राविरहितः सर्पो भग्नशृंगोऽथवा वृषः ।
तथा वैरी परिज्ञेयो यस्य नार्थो न सेवकाः ।।1॥

जिस अंगारे का ताप नष्ट हो गया है - ज्वालनशक्ति जिसकी समाप्त हो गयी तो वह शरीर पर पडने पर

भी जलाने में समर्थ नहीं होता उसी प्रकार जिस राजा की सेना एवं धन नष्ट हो गया है वह भी कार्य करने में सक्षम नहीं होता।42॥ नैतिक पुरुष को शत्रु की चिकनी-चुपडी बातों में नहीं फंसना चाहिए ।। उधर अधिक लक्ष्य नहीं देवे, कपटपूर्ण व्यवहारों में सावधान रहता हुआ वर्तन करे ।।43॥

दृष्टान्त, अकेला युद्ध न करे, अपरीक्षित शत्रु व भूमि :-

जिह्वया लिहन् खड्गोमारत्येव ।।44॥ तन्त्रावापौ नीतिशास्त्रम् ।।45॥ स्वमण्डलपालनाभियोग स्तंत्रम् ।।46॥ परमण्डलावाप्त्यभियोगोऽवापः ।।47॥ बहूनेको न गृह्णीयात् सदर्पोऽपि सर्पो व्यापाद्यत एव पिपीलिकाभिः ।।48॥ अशोधितायां परभूमौ न प्रविशेन्निर्गच्छेद्वा ।।49॥

विशेषार्थ :- तलवार की अति प्रीति से जिह्वा से चाटने पर भी उसे काटती है । घायल ही करती है, उसी प्रकार शत्रु भी मधुरवाणी का प्रयोग करता हुआ, मार डालता है । अतः चापलूसों का विश्वास नहीं करना चाहिए ।।44॥

तन्त्र का अर्थ है स्वदेश रक्षार्थ सैन्य आदि का संगठन करना, अथवा अन्य देश को जीतने के लिए सन्धि-विग्रहादि करना आदि का उपाय जिस शास्त्र में वर्णित हो उसे "नीतिशास्त्र" कहते हैं । अपने स्वराज्य-राष्ट्र व देश की सुरक्षा के लिए किये जाने वाला सैन्य संगठन आदि "तन्त्र" कहलाता है और परदेश की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले सन्धि-विग्रहादि उपायों को "अवाप" कहते हैं ।।45-46॥ शुक्र ने भी कहा है कि :-

स्वमण्डलस्य रक्षायै यत्तंत्रं परिकीर्तितम् ।।
परदेशस्य संप्राप्त्या अवापो नयलक्षणम् ।।1॥

एकाकी राजा बहुसंख्यक शत्रु के साथ कभी भी युद्ध करने में प्रवृत्ति नहीं करे । क्योंकि मदोन्मत्त विषैला सर्प भी बहुत-सी पिपिलिकाओं (चींटिओं) द्वारा भक्षण कर लिया जाता है ।।48॥ नारद ने भी कहा है कि :-

एकाकिना न योद्धव्यं बहुभिः सह दुर्बलैः ।।
वीर्याढ्यैर्नापि हन्येत यथा सर्पः पिपीलिकैः ।।1॥

विजिगीषु राजा को शत्रु भूमि में प्रवेश करते समय तथा वहाँ से निकलते समय प्रथम भूमि व वहाँ के वातावरण की परीक्षा करना चाहिए ।। अपरिक्षित भूमि न तो प्रवेश करे और न निर्गमन ही ।।49॥

युद्ध या उसके पूर्व राज-कर्त्तव्य, विजयप्राप्ति मन्त्र, शत्रुरक्ष को अपने में मिलाना:-

विग्रहकाले परस्मादागतं कमपि न संगृह्णीयात् गृहीत्वा न संवासयेदन्यत्र तद्दायादेभ्यः, श्रूयते हि निजस्वामिना कूटकलहं विधायावाप्त विश्वासः कृकलासो नामानीक पतिरात्मविपक्षं विरुपाक्षं जघानेति ।।50॥ बलमपीडयन् परानभिषेणयेत् ।।51॥ दीर्घप्रयाणोपहतं बलं न कुर्यात् स तथाविधमनायासेन भवति परेषां साध्यम् ।।52॥ न दायादादपरः परबलस्या कर्षणमन्त्रोऽस्ति।।53॥

विशेषार्थ :- संग्रामकाल में यदि कोई अनजान व्यक्ति बाहर से आवे तो उसकी परीक्षा किये बिना अपने

सैन्यदल में नहीं मिलावे । पूर्ण परीक्षित होने पर भी स्वीकार कर ले परन्तु अपनी छावनी में निवास स्थान न दे। यदि शत्रु के कुटुम्बी उससे रुष्ट होकर आयें तो उनकी परीक्षा कर निवास स्थान दे, अपने पक्ष में मिला ले । इतिहास प्रसिद्ध घटना है कि कृकलास नाम के अनीकपति-सेनापति ने अपने स्वामी से बनावटी असत्य कलह कर शत्रु के हृदय को विश्वस्त कर दिया उससे मिल गया और उस शत्रु विरुपाक्ष नृपति को मार डाला ।।50॥ जैमिनी ने भी इसकी पुष्टि की है :-

यद्यपि स्याल्लघुः सिंहस्तथापि द्विपमाहवे ।
एवं राजापि वीर्याढ्यो महारि हन्ति चेल्लघुः ।।1॥

विजेता राजा पराभूत नृप को अधिक पीड़ित न करे । अर्थात् एक बार से अधिक पुनः उस पर आक्रमण करने की चेष्टा नहीं करे । अपनी सेना की शक्ति अनुसार उसे युद्ध की प्रेरणा दे और स्वयं सेना की प्रसन्नता का ध्यान रखते हुए उसे दान-सम्मानादि से संतुष्ट कर उसके साथ शत्रु पर चढ़ाई करे ।।51॥

विजयलाभ लेकर अपने नगर में प्रविष्ट होने पर राजा अपनी सेना को विश्राम प्रदान करे । उसे इधर-उधर अधिक न घुमावे । क्योंकि लम्बी मुसाफिरी करने से वह श्रमित होगी और कदाच शत्रु आक्रमित हुई तो फिर सरलता से परास्त कर शत्रु विजय कर लेगा ।।52॥ शत्रु के कुटुम्बी यदि आकर मिलें तो उन्हें अवश्य अपने पक्ष में ले ले । क्योंकि शत्रु को परास्त करने के लिए इससे बढ़कर कोई अन्य मन्त्र नहीं है ।।53॥ शुक्र ने भी कहा है -

न दायादात्परो वैरी विद्यतेऽत्र कथंचन ।
अभिचारकमंत्रश्च शत्रुसैन्य निषूदने ।।1।।

शत्रुनाश का परिणाम व दृष्टान्त, अपराधी के प्रति राजनीति व दृष्टान्त:-

यस्याभिमुखंगच्छेत्तस्यावश्यंदायादानुत्थापयेत् ।।54॥ कण्टकेन कण्टकमिवपरेण परमुद्धरेत् ।।55॥ विल्वेन हि विल्वं हन्यमानमुभयथाप्यात्मनो लाभाय ।।56॥ यावत्परेणापकृतं तावतोऽधिकमपकृत्य सन्धिं कुर्यात् ।।57॥ नातसं लोहं लोहेन सन्धत्ते ।।58॥

विशेषार्थ :- विजय का इच्छुक शत्रु पर आक्रमण करे । उसके परिवार के लोग दायादादि को योग्य उपायों द्वारा अपने पक्ष में मिलावे । उन्हें युद्ध को प्रेरित करे । उसे अपनी सैन्य की क्षति द्वारा शत्रु को नष्ट करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए अपितु कांटे से कांटा निकालने की नीति द्वारा शत्रु संहार का प्रयत्न करना चाहिए । जिस प्रकार बेल से बेल फाड़े जाने पर दोनों में से एक अथवा दोनों ही फूट जाती हैं । इसी प्रकार विजिगीषु द्वारा शत्रु से शत्रु लड़ाया जाता है तब उनमें से एक का अथवा दोनों ही का नाश निश्चित होता है । अतः विजेता को दोनों ही प्रकार से लाभ होता है ।।54-55-56॥

विजेता राजा का कर्त्तव्य है कि पराजित शत्रु द्वारा उसकी जितनी हानि हुयी हो उससे अधिक शत्रु की क्षति होने पर उससे सन्धि कर ले ।।57॥ गौतम ने भी कहा है :-

यावन्मात्रोऽपराधश्च शत्रुणा हि कृतोभवेत् ।
तावत्तस्याधिकं कृत्वासन्धिः कार्यो बलान्वितैः ।।1।।

जिस प्रकार ठण्डा लोहा ठण्डे लोहे के साथ नहीं जुड़ता, किन्तु गरम लोहे से जुड़ता है उसी प्रकार दोनों पक्ष कुपित होने पर परस्पर सन्धि के सूत्र में बंधते हैं ।।58।। शुक्र भी कहते हैं :-

द्वाभ्यामपि तप्ताभ्यां लोहाभ्यां च यथा भवेत् ।
भूमिपानां च विज्ञेयंस्तथासन्धिः परस्परम् ।।1।।

विजय का उपाय, शक्तिशाली का कर्त्तव्य व उन्नति, सन्धियोग्य शत्रु, तेज :-

तेजो हि सन्धाकारणं नापराधस्य क्षान्तिरुपेक्षा वा ।।59।। उपचीयमान घटेनेवाश्मा हीनेन विग्रहं कुर्यात् ।।60।। दैवानुलोम्य पुण्यपुरुषोपचयोऽप्रतिपक्षता च विजिगीषोरुदयः ।।61।। पराक्रमकर्कशः प्रवीरानीकश्चेद्धीनः सन्धाय साधूपचरितव्यः ।।62।। दुःखामर्षजं तेजो विक्रमयति ।।63।।

विशेषार्थ :- अपराधी शत्रु पर विजय प्राप्त करने का साधन सैन्यबल व कोषशक्ति है न कि शत्रु के प्रति क्षमाभाव या उपेक्षा बुद्धि । अर्थात् तेज द्वारा शत्रु को जीता जा सकता है, क्षमा या उपेक्षा से नहीं ।।59।। जिस प्रकार नन्हा सा पाषाण खण्ड भी बड़े घड़े को भिन्न करने में सक्षम होता है उसी प्रकार सैन्यशक्ति सुदृढ़ रहने पर बलिष्ठ भी शत्रु परास्त किया जा सकता है । अतः अपनी सेना और कोष बलशाली रहने पर ही शत्रु पर आक्रमण करना चाहिए ।।60।। जैमिनि ने भी यही कहा है :-

यदि स्याच्छक्ति संयुक्तो लघुः शत्रोश्च भूपतिः ।
तदा हन्ति परं शत्रुं यदि स्यादति पुष्कलम् ।।।।

अर्थ सामान्य है ।।

पूर्व संचित पुण्य का उदय, अर्थात् भाग्य की अनुकूलता, उत्तम, कर्त्तव्यनिष्ठ पुरुषों का समागम और विरोधियों का अभाव आदि गुणों का समन्वय होने पर विजयेच्छु का उत्थान होता है ।।61।। गुरु ने भी कहा है :-

यदि स्यात्प्राञ्जलं कर्म प्राप्तियोग्य नृणां तथा ।
तथा चाप्रतिपक्षत्वं विजिगीषोरिमे गुणाः ।।1।।

वही अर्थ है ।

विजयवाञ्छा रखने वाला नृप देखे कि शत्रु अपने से अधिक पराक्रमी है तो उसे चाहिए कि उसके साथ संग्राम न करके सन्धि कर लेना चाहिए ।।62।। शुक्र ने भी कहा है :-

यदा स्याद्वीर्ययान् शत्रुः श्रेष्ठ सैन्यसमन्वितः ।
आत्मानं बलहीनं च तदा तस्योपचर्यते ।।1।।

वही अर्थ है ।

पीड़ा या दुःख होने पर क्रोध उत्पन्न होता है, कोप से तेज जाग्रत होता है वह तेज शत्रु को परास्त करने में प्रेरित करता है । अभिप्राय यह है कि आक्रमण कर्त्ता शत्रु को कष्ट देता है तो उसका कोप प्रचण्ड होता है और उसके सुसुप्त तेज-ओज जाग्रत होता है, क्लेशित होने पर प्रतिद्वन्दी की कोपाग्नि अत्यन्त जाज्वल्यमान हो उठती है । यह शत्रु से युद्ध करने में प्रेरित करती है । बलिष्ठ शत्रु कदाच एक बार परास्त भी हो जाता है तो भी वह शान्त हो नहीं बैठता है अपितु पुनः पुनः आक्रमण कर सकता है । अतः सर्वोत्तम व कल्याणकारी मार्ग यही है कि बलिष्ठ शत्रु के परास्त होने पर भी उसके साथ सन्धि कर लेना चाहिए ।163॥ किसी विद्वान ने कहा है :-

दुःखामर्षोद्भवं तेजो यत् पुंसां सम्प्रजायते ।
तच्छत्रुं समरे हत्वा ततश्चैव निवर्तते ।।1॥

अर्थात् शत्रु द्वारा प्रदत्त क्लेश उस ओज को जाग्रत करता है जिससे वह विजय लाभ प्राप्त कर सकता है ।।1॥

लघु शक्ति वाला बलिष्ठ से युद्ध का फल, व दृष्टान्त, पराजित प्रति राजनीति, शूरवीर शत्रु के सम्मान का दुष्परिणाम :-

स्वजीविते हि निराशस्याचार्यो भवति वीर्यवेगः ।164॥ लघुरपि सिंहशावो हन्त्येव दन्तिनम् ।165॥ न चातिभग्नं पीडयेत् ।166॥ शौर्यैकधनस्योपचारो मनसि तच्छागस्येव पूजा ।167॥

विशेषार्थ :- जो विजयाभिलाषी पृथिवीपति अपने जीवन की भी अभिलाषा नहीं करता-मृत्यु से भी भय नहीं करता उसकी वीरता का वेग उसे शत्रु से संग्राम करने के लिए प्रेरित करता है ।164॥ नारद ने भी कहा है :-

न तेषां जायते वीर्यं जीवितव्यस्य वाञ्छकाः ।
न मृत्योर्ये भयं चक्रुस्ते वीरास्युजयान्विताः ।।1॥

अर्थ :- मृत्यु से भय करने वाले कायर और निर्भय रहने वाले वीर कहे जाते हैं ऐसे ही वीर विजय लाभ प्राप्त करते हैं ।।1॥

जिस प्रकार सिंह का बच्चा लघु होने पर भी शक्तिशाली व पराक्रमी होने के कारण बड़े भारी हाथी को भी मार डालता है, उसी प्रकार विजयेच्छु भी प्रबल सैन्य की शक्ति से महान शत्रु को युद्ध में परास्त कर देता है ।165॥ जैमिनि ने भी कहा है :-

यद्यपि स्याल्लघुः सिंहस्तथापि द्विपमाहवे ।
एवं राजापि वीर्याढ्यो महारिंहन्तिचेल्लघुः ।।1।।

जीतने की इच्छा करने वाला पराजित शत्रु को अधिक पीड़ित नहीं करे । क्योंकि वह फिर से चढ़ाई करेगा

क्योंकि अपने नाश की आशंका से भीत होने से पराक्रमशक्ति का प्रयोग करता है ।।66॥ विदुर ने भी कहा है :-

भग्नः शत्रुर्न गन्तव्यः पृष्ठतो विजिगीषुणा ।
कदाचिच्छूरतां याति मरणे कृतनिश्चयः ।।1॥

विजयेच्छु देखता है कि शत्रु स्वाभिमानी है, शूरत्व ही जिसका धन है ऐसा सुभट है तो वह उसका दुरभिप्राय से सम्मान करता है । तब उसका छल समझ कर वह और अधिक कुपित होता है । उसका कोप बकरे की पूजा समान उबलता है । अर्थात् बलि चढाने के पूर्व की जाने वाली बकरे की पूजा उसे अधिक कुपित करती है, उसी प्रकार दुरभिप्राय से शत्रु द्वारा किया सम्मान भी शत्रु की क्रोधानल में घृताहुति का कार्य करता है । नैतिक राजा को कपट व्यवहार कर शत्रु को कुपित कर अपने को खतरे में नहीं डालना चाहिए ।।67॥ भागुरि ने भी यही अभिप्राय लिखा है :-

उपायोचितदानेनच्छागेनापि प्रपुष्यति ।
चण्डिका बलवानभूपः स्वल्पयाऽपितथेज्यया ।।1॥

अर्थ वही है ।

समान शक्ति या अधिक शक्ति वाले के साथ युद्ध से हानि, धर्म, लोभ व असुर विजयी राजा का स्वरूप असुर विजयी के आश्रय से क्षति :-

समस्यसमेनसह विग्रहे निश्चितं मरणं जये च सन्देहः , आमं हि पत्रमामेनाभिहतमुभयतः क्षयं करोति ।।68॥ ज्यायसा सह विग्रहो हस्तिना पदाति युद्धमिव ।।69॥ स धर्म विजयी राजा यो विधेयमात्रेणैव सन्तुष्टः प्राणार्थमानेषु न व्यभिचरति।।70॥ स लोभ विजयी राजा यो द्रव्येण कृतप्रीतिः प्राणाभिमानेषु न व्यभिचरति ।।71॥ सोऽसुरविजयी यः प्राणार्थमानोपघातेन महीमभिलषति ।।72॥ असुर विजयिनः संश्रयः सूनागारे मृगप्रवेशइव ।।73॥

विशेषार्थ :- दो समान शक्ति वाले शत्रुओं में संग्राम होने पर दोनों का मरण सुनिश्चि हैं और विजय प्राप्ति सन्देहास्पद होती है । निश्चय से कच्चे दो घड़े परस्पर टकरायें-ताड़ित किये जाने पर दोनों का विनाश निश्चित है ।।68॥ भागुरी ने भी कहा है :-

समेनापि न योद्धव्यमित्युवाच वृहस्पतिः ।
अन्योन्याहतिना भंगो घटाभ्यां जायते यतः ।।1॥

यदि पैदल सेना गज सेना के साथ समर-युद्ध करे तो निश्चित ही पैदल सैनिकों का संहार होगा । इसी प्रकार हीनशक्ति वाला विजयेच्छु भी अपने से अधिक बलवान शत्रु के साथ युद्ध करने से नष्ट ही होगा । अतः बलवान से युद्ध नहीं करना चाहिए ।।69॥ भारद्वाज ने भी कहा है :-

हस्तिना सह संग्रामः पदातीनां क्षयावहः ।
तथा बलवता नूनं दुर्बलस्य क्षयावहः ।।1।।

अर्थ वही है ।।

जो भूपति अपनी प्रजा के जीवन, धन, सम्मान का रक्षण करता हुआ न्यायोचितनियत टैक्स से सन्तुष्ट रहता है, अन्याय नहीं करता, अनावश्यक प्राणदण्डादि कठोर दण्ड नहीं देता, धर्म संरक्षण का प्रयत्न करता है । वह राजा "धर्मविजयी" कहलाता है ।70॥ इसके विपरीत जो भूपाल धन से ही प्रेम करता है, अर्थ संचयार्थ न्याय-अन्याय का विचार नहीं करता, प्रजा की सुख सुविधा की चिन्ता न कर उसका शोषण कर मात्र खजाने की वृद्धि में लगा रहता है । धर्म और धर्मात्माओं का रक्षण नहीं करता । किसी के प्राण, मर्यादा व धर्म का रक्षण नहीं करता वह "लोभविजयी" कहलाता है ।71॥ तथा जो प्रजा के प्राण, धन और सम्मान का नाश कर शत्रु का वध करके उसकी भूमि हड़पना चाहता है वह "असुरविजयी" कहलाता है ।72॥ शुक्र ने भी यही स्वरूप कहा है :-

प्राणवित्ताभिमानषु यो राजा न द्रूहेत प्रजाः ।
सधर्म विजयी लोके यथा लोभेन कोशभाक् ।।1।।

प्राणेषु चाभिमानेषु यो जनेषु प्रवर्तते ।
स लोभ विजयी प्रोक्तो यः स्वार्थेनैवतुष्यति ।।2।।

अर्थमानोपघातन योमहीं वाञ्छते नृपः ।
देवारि विजयी प्रोक्तो भूलोकेऽत्र विचक्षणैः ।।3।।

स्वच्छन्द बिहारी भोल मृग यदि दुष्ट चाण्डाल के घर में प्रविष्ट हो जाय तो उसका वध होता है, उसी प्रकार असुरविजयी राजा के आश्रय से प्रजा का नाश ही होना निश्चित है । शुक्र ने भी कहा है :-

"असुर विजयिनं भूपं संश्रयेन मतिवर्जितः ।
स नूनं मृत्युमाप्नोति सूनं प्राप्य मृगी यथा ।।1।। ।।73।।

श्रेष्ठ से सन्निधान से लाभ, निहत्थे पर प्रहार अनुचित, युद्ध से भागने वाले बन्दियों से भेट :-

यादृशस्तादृशो वा यायिनः स्थायी बलवान् यदि साधुचरः संचारः ।।74॥ चरणेषु पतितं भीतमशस्त्रं च हिंसन् ब्रह्महा भवति ।।75॥ संग्रामधृतेषु यायिषु सत्कृत्य विसर्गः ।।76॥ स्थायिषु संसर्गः सेनापत्यायत्तः ।।77॥

विशेषार्थ :- विजयेच्छु आक्रमण करने वाला यदि दुर्बल एवं कोषहीन है, परन्तु यदि वह उत्तम कर्त्तव्य-परायण व वीर सुभटों के सन्निधान से सहित है तो उसे महान बलिष्ठ समझना चाहिए ।74॥ नारद ने भी इसका समर्थन किया है :-

राज्यं च दुर्बलो वापि स्थायी स्याद्बलवत्तरः ।
स काशाद्यायिनश्चेत् स्यात् सुनद्धः सुचारकः ।।1।।

जो राजा संग्राम भूमि में परास्त हुए शरणागत, भयभीत, शस्त्रविहीन, रक्षा का इच्छुक हुए शत्रु का घात करता है वह ब्रह्मघाती है ।।75॥ कहा भी है :-

भग्नशस्त्र तथा त्रस्तं तथास्मीति च वादिनम् ।
यो हन्याद्वैरिणं सख्ये ब्रह्महत्यां समश्नुते ।।1॥

जैमिनि ।।

संग्रामभूमि से पलायन करने वाले जो शत्रु विजयी द्वारा पकड़ लिए गये हैं, उनका वस्त्रादि द्वारा सम्मान कर छोड़ देना चाहिए ।।76॥ भारद्वाज ने भी कहा है :-

संग्रामे वैरिणो ये च यायिनः स्थायिनो वृताः ।
गृहीता मोचनीयास्ते क्षात्रधर्मेण पूजिताः ।।1॥ भारद्वाजः ।।

जो शत्रु बन्दी किये गये हैं उनके साथ स्थायी-युद्ध करने वाले शत्रुओं के साथ भेंट कराना सेनापति के अधिकार में होता है । वह चाहे और खतरा न समझे तो मिलने दे अन्यथा नहीं ।।77॥

बुद्धि सरिता का बहाव, वचन प्रतिष्ठा, सदसद् पुरुषों का व्यवहार, पूज्यता का साधन :-

मतिनदीयं नाम सर्वेषां प्राणिमुभयतो वहति पापाय धर्माय च तत्राद्य स्रोतोऽतीव सुलभम्, दुर्लभं तद् द्वितीयमिति ।।78॥ सत्येनापि शपथ्यं महतामभयप्रदान वचनमेव शपथः ।।79॥ सतामसतां च वचनायत्ताः खलु सर्वे व्यवहाराः स एव सर्व लोक महनीयो यस्य वचनमन्यमनस्कतयाप्यायातं भवति शासनम् ।।80॥

विशेषार्थ :- संसारी प्राणी की बुद्धि रूपी सरिता दो धाराओं में प्रवाहित होती रहती है - 1. पुण्य और 2. पाप। इसमें से पाप रूप बहाव प्रथम समझना चाहिए क्योंकि यह बिना प्रयास सहज-सुलभता से बहता रहता है। परन्तु पुण्य रूप-धर्मपथ पर बहने वाला प्रवाह महादुर्लभ है - कठिन प्रयत्नसाध्य है । अन्याय, व्यसन, अनाचार, परपीड़ादि में मन रोकने पर भी दौड़-दौड़ जाता है, शील संयम, तप, त्याग, जप, तपादि में बलात्प्रेरित किये जाने पर भी नहीं लगता । सदाचार में प्रयत्नशील नहीं होता । अतः कल्याण चाहने वालों को अपनी बुद्धि अनीति व अनाचार से हटाकर नीति व सदाचार की ओर प्रेरित करने में प्रयत्नशील रहना चाहिए ।।78॥ कहा भी है "हेये स्वयं सती बुद्धिर्यत्नेनाप्यसती शुभे ।।" त्याज्य में स्वयं बुद्धि जाती है उपादेय में प्रयत्न से भी नहीं जाती ।।"वादीभसिंह सूरि" ।।

नीतिकुशल मनुष्य को विश्वस्त बनने के लिए सदैव सत्य शपथ खानी चाहिए असत्य कभी नहीं खाये । अभयदान प्रदायक प्रामाणिक वचन बोलना ही महापुरुषों की सौगंध (कसमखाना) है, अन्य नहीं ।।79॥

संसार में सत्पुरुषों एवं असत्पुरुषों के समस्त व्यवहार उनके वचनों पर आधारित होते हैं । अतः नीतिज्ञ पुरुषों को अपने वचनानुसार कर्त्तव्य करना चाहिए । जिसके वचन मानसिक उपयोग के बिना भी कहे हुए स्टाम्प (लिखित) के समान प्रामाणिक-सत्य होते हैं, वही पुरुष लोक में समस्त मनुष्यों द्वारा पूज्य होता है ।।80॥ शुक्र ने भी कहा है :-

स एव पूज्यो लोकानां यद्वाक्यमपि शासनम् ।
विस्तीर्णं प्रसिद्धं च लिखितं शासनं यथा ।।1 ॥

वाणी की महत्ता, मिथ्या वचनों का दुष्परिणाम, विश्वासघात-आलोचना, असत शपथ परिहार :-

नयोदिता वाग्वदति सत्या ह्येषा सरस्वती ।।81 ॥ व्यभिचारी वचनेषु नैहिकी पारलौकिकी वा क्रियास्ति ।।82 ॥ न विश्वासघातात् परं पातकमस्ति ।।83 ॥ विश्वासघातकः सर्वेषामविश्वासं करोति ।।84 ॥ असत्यसन्धिषु काशपानांजातान् हन्ति ।।85 ॥

विशेषार्थ :- सम्यक् नयावलम्बन से प्रसूत वाणी शिष्ट पुरुषों की होती है । वस्तुतः यह वाणी साक्षात् सरस्वती रूपा प्रिय और हितकर प्रतीत होती है ।।81 ॥ कहा भी है :-

नीत्यात्मकात्रयां वाणीप्रोच्यते साधुभिर्जनैः ।।
प्रत्यक्षा भारती ह्येषा विकल्पो नास्ति कश्चन ।।1 ॥

इति गौतमा ।।

जो व्यक्ति अनैतिक और असत्य भाषण करते हैं उनके ऐहिक-इस लोक सम्बन्धी और पारलौकिक-परलोक सम्बन्धी क्रियाएँ सफल नहीं होतीं ।।82 ॥ कहा है :-

न तेषामिह लोकोऽस्ति न परोऽस्ति दुरात्मनाम् ।
यैरेव वचनं प्रोक्तमन्यथा जायते पुनः ।।1 ॥

गौतम

संसार में सबसे बडा पाप विश्वासघात है । अतएव शिष्ट-सदाचारी पुरुष कभी भी किसी के साथ विश्वासघात न करें ।।83 ॥ कहा भी है 'अंगिर' ने :-

विश्वासघातकादन्यः परं पातकसंयुतः ।
न विद्यते धरापृष्ठे तस्मात्तं दूरतस्त्यजेत् ।।1 ॥

विश्वासघाती संसार में सबका अविश्वास पात्र हो जाता है । कदाच वह सत्य कार्य भी करे तो भी लोग उसका विश्वास नहीं करते ।।84 ॥ रैभ्य ने कहा है :-

विश्वास घातको यः स्यात्तस्य माता पिताऽपि च ।
विश्वासं न करोत्येव जनेष्वन्येषु का कथा ।।1 ॥

विश्वासघातक पुरुष का उसके माता-पिता भी उसका विश्वास नहीं करते अन्य लोगों की तो बात ही क्या है ?

असत्प्रलापी यों ही यत्र-तत्र असत्य प्रतिज्ञा करते हैं, सौगन्ध खाते हैं । उनकी सन्तान हानि होती है । लोक में निंद्य होते हैं । कहा भी है :-

बिना दई सौगंध करें, हसन बोलन की बात ।
बचते रहना दूर से, झूंठ कपट की खान ।।

और भी कहते हैं :-

यदसत्यं जने कोशपानं तदिह निश्चितम् ।
करोति पुत्रपौत्राणां घातं गोत्र समुद्भवम् ।।1।।

सैन्यव्यूह रचना का कारण, स्थिरता, युद्धशिक्षा, शत्रुनगर प्रवश का समय:-

बलंबुद्धिर्भूमिर्ग्रहानुलोम्यं परोद्योगश्च प्रत्येकं बहुविकल्पं दण्डमण्डलाभोगा संहत व्यूह रचनाया हेतव: ।।86।। साधुरचितोऽपि व्यूहस्तावत्तिष्ठति यावन्न परबलदर्शनम् ।।87।। न हि शास्त्र शिक्षा क्रमेण योद्धव्यं किन्तु पर प्रहाराभिप्रायेण ।।88।। व्यसनेषु, प्रमादेषु वा परपुरे सैन्य प्रेष्यणमवस्कन्द: ।।89।।

विशेषार्थ :- अनेक प्रकार का सैन्यदल (हाथी, अश्व, पयादे आदि) बुद्धि, जीते की इच्छा करने वाले के ग्रहों की अनुकूलता, शत्रु द्वारा संग्राम का उद्योग, सैन्य समूह का विस्तार, सैन्य संगठन आदि सैन्य व्यूह (विन्यास) रचना के कारण हैं । अर्थात् उपर्युक्त कारण सामग्री के सन्निधान होने पर विजयेच्छु द्वारा सैन्य की व्यूह रचना की जाती है. ।।86।। सम्यक् प्रकार रचित सैन्य व्यूह तब तक ही स्थिरशील रहता है जब तक कि शत्रु सैन्यदल उसके दृष्टिगोचर नहीं होता अभिप्राय यह है कि शत्रु सेना दृष्टिपथ पर आने पर वीर सैनिक व्यूह छोड कर शत्रु सेना में प्रविष्ट हो घन-घोर युद्ध में संलग्न हो जाते हैं ।।87।। शुक्र ने कहा है :-

व्यूहस्य रचना तावत्तिष्ठतिशास्त्रनिर्मिता ।
यावदन्यद्बलं नैव दृष्टिगोचरमागतम् ।।1।।

विजयाभिलाषी राजा के वीर सैनिकों को युद्धशास्त्र की शिक्षानुसार युद्ध नहीं करना चाहिए अपितु शत्रु सेना के अभिप्रायानुसार शस्त्रप्रहारादि करना चाहिए ।।88।। शुक्र का कथन :-

शिक्षाक्रमेण नो युद्धं कर्त्तव्यं रण संकुले ।।
प्रहारान् प्रेक्ष्य शत्रूणां तदहँ युद्धमाचरेत् ।।1।।

जिस समय शत्रु मद्यपान, द्यूतादि व्यसन में फंसा हो या प्रमाद में फंसा हो, उस समय अपना सैन्य नगर में प्रविष्ट करावे अर्थात् नगर में घेरा डाले ।।89।। शुक्र ने कहा है :-

व्यसने वा प्रमादे वा संसक्त: स्यात् परो यदि ।
तदावस्कन्द दानं च कर्त्तव्यं भूतिमिच्छता ।।1।।

कूट युद्ध व तूष्णीयुद्ध, अकेले सेनाध्यक्ष से हानि :-

अन्याभिमुखं प्रयाणकमुपक्रम्या न्योपघातकरणं कूट युद्धम् ।।90।। विषविषम पुरुषोपनिषदवाग्योगोपजापै: परोपघातानुष्ठानं तूष्णीदण्ड: ।।91।। एकं बलस्याधिकृतं न कुर्यात्, भेदापराधेनैक: समर्थो जनयति महान्तमनर्थम् ।।92।।

विशेषार्थ :- आक्रमण किसी अन्य शत्रु पर करे, वहाँ से सैन्य को लौटा कर अचानक अन्य पर (जो असावधान है) हमला करना "कूटयुद्ध" है । अर्थात् धोखे से पर भूपति का घात करना 'कूटयुद्ध' है ।।90॥ शुक्र ने कहा है -

अन्याभिमुखमार्गेण गत्त्वा किंचित् प्रयाणकम् ।।
व्याधुट्य घातः क्रियते सदैव कुटिलाहवः ।।1॥

धोखे से विष-पान कराना, घातक पुरुषों को भेजना, एकान्त में चुपचाप स्वयं शत्रु के पास जाना व भेदनीति का प्रयोग करना, इत्यादि उपायों द्वारा शत्रु का घात करना इसे "तूष्णीयुद्ध" कहते हैं ।।91॥ गुरु ने भी कहा है :-

विषदानेन योऽन्यस्य हस्तेन क्रियते बधः ।
अभिचारक कृत्येन रिपो मौनाहवो हि सः ।।1॥

राजा किसी अकेले व्यक्ति को सैन्याधिकारी नहीं बनावे । क्योंकि एकाधिपत्व होने से वह मनमानी स्वेच्छाचार प्रवृत्ति करेगा । क्योंकि वह राजा से भी अधिक शक्तिशाली हो जायेगा । अतएव वह फूट जाने पर शत्रु से मिलकर अपने स्वामी के विरोध में हो जायेगा । फलतः राज्य, राजा व राष्ट्र का ही नाश कर देगा । अतः विरुद्ध होने पर सर्वनाश का कारण हो सकता है ।।92॥ भागुरी ने भी लिखा है :-

एकं कुर्यान्न सैन्येशं सुसमर्थं विशेषतः ।
धनाकृष्टः परैर्भेदं कदाचित् स परैः क्रियात् ।।1॥

ऋणीराजा, वीरता से लाभ, युद्ध विमुख की हानि, युद्ध प्रस्थानी व पर्वतवासी का कर्त्तव्य, छावनी योग्य स्थान, अयोग्य पडाव से हानि, शत्रु भूमि में प्रविष्ट होने के विषय में राजकर्त्तव्य :-

राजा राजकार्येषु मृतानां सन्तति मपोषयन्नृणभागीसागी स्यात् साधुनोपचर्यते तंत्रेण ।।93॥ स्वामिनः पुरः सरणं युद्धेऽश्वमेधसमम् ।।94॥ युधि स्वामिनं परित्यजतो नास्तीहामुत्र च कुशलं ।।95॥ विग्रहायोच्चलितस्यार्द्धं बलं सर्वदा सन्नद्धमासीत्, सेनापतिः प्रयाणमावासं च कुर्वीत चतुर्दिशमनीकान्य दूरेण संचरयुस्तिष्ठेयुश्च ।।96॥ धूमाग्नि रजोविषाणध्वनिव्याजैनाटविकाः प्रणधयः परबलान्यागच्छन्ति निवेदयेयुः ।।97॥ पुरुष प्रमाणोत्सेधमबहुजन विनिवेशनाचरणापसरणयुक्त मग्रतो महामण्डपावकाशं च तदंगमध्यास्य सर्वदा स्थानं दद्यात् ।।98॥ सर्वसाधारण भूमिकं तिष्ठतो नास्ति शरीररक्षा ।।99॥ भूचरो दोलाचरस्तुरंगचरो वा न कदाचिद् परभूमौ प्रविशेत् ।।100॥ करिणं जम्पाणं वाप्यध्यासीने न प्रभवन्ति क्षुद्रोपद्रवाः ।।101॥

विशेषार्थ :- तुमुल युद्ध के अनन्तर राजा का कर्त्तव्य है कि समरभूमि में मरने वाले वीर सुभटों के बाल, बच्चे, पत्नी, पुत्र-पौत्रादि का संरक्षण करे यदि कोई ऐसा नहीं करता, तो वह उनका ऋणी रहता है और ऐसा अनर्थ करने से विरुद्ध हुए सचिवादि प्रकृतिवर्ग भी उसकी समुचित भक्ति, आदर-सत्कार नहीं कर सकते । अतएव राजा को चाहिए कि संग्राम में प्राणाहुति देने वालों के पुत्र-पौत्रादि सबका संरक्षण करने की व्यवस्था करे ।। अर्थात् सेवकों की सन्तति का पालन-पोषण करे ।।93॥ वशिष्ठ ने कहा है :-

मृतानां पुरतः संख्ये योऽपत्यानि न पोषयेत् ।
तेषां सहत्यायाः तूर्णं गृह्यते नात्र संशयः ।।1॥

अर्थ :- युद्ध में मृत्यु को प्राप्त हुए सैनिकों की सन्तति का पालन पोषण नहीं करने वाला राजा निःसन्देह उनकी हत्या का पापी है ।।1॥

जो सैनिक वीरभट अपने स्वामी के आगे जाकर शत्रु का सामना करता है अर्थात् युद्ध करता है वह अश्वमेघ यज्ञ समान फल दृष्टि से अश्वमेघयज्ञ में संकल्पी हिंसा होने से महापाप है । उसका कर्त्ता महापापी दुर्गति का पात्र होता है॥ महादुःख भोगता है । इसका स्पष्टीकरण यशस्तिलक चम्पू में आचार्य श्री ने किया है ।।94॥

समराङ्गण में अपने स्वामी को छोड़कर भागने वाले सैनिक का ऐहलौकिक व पारलौकिक अकल्याण होता है । अर्थात् ''रणेऽपलायणं'' युद्ध से नहीं भागना इस क्षात्र धर्म का त्याग करने से उसकी इस लोक में अपकीर्ति व परलोक में दुर्गति होती है ।।95॥ भागुरि ने भी यही बताया है :-

यः स्वामिनं परित्यज्य युद्धे याति पराङ्मुखः ।
इहाकीर्तिं परां प्राप्य मृतोऽपि नरकं व्रजेत् ।।1॥

शत्रु पर आक्रमण (चढ़ाई) करने के पूर्व सेनापति अपनी आधी सेना को सज्जा (लैसड्) कर तैयार रखे। सुसज्जित सेना होने पर ही चढाई करे । जिस समय शत्रु दल के सन्निकट पहुँचे तो चारों ओर से सेना द्वारा घिरा रहे । तथा उसके पीछे अपने डेरे में भी सेना सुसज्जित तैयार रहनी चाहिए । इसका कारण यह है कि विजयाभिलाषी कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो आक्रमण करने के समय व्याकुल हो सकता है और शूर-वीरों द्वारा आक्रान्त किया जा सकता है ।।96॥ शुक्र ने भी लिखा है :-

परभूमि प्रतिष्ठानां नृपतीनां शुभं भवेत् ।
आवासे च प्रयाणे च यतः शत्रुः परीक्ष्यते ।।1॥

जिस समय आक्रान्त-चढाई करने वाला दूर हो और शत्रु की सेना उसकी ओर बढ़ती आ रही हो, उसके गुप्तचर जो जंगल में छुपे हैं उन्हें चाहिए कि वे धुंआ धार कर, आग जलाकर, धूल उड़ाकर, अथवा भैंसे के सींग बजाकर अपने स्वामी को सावधान करें अर्थात् शत्रुदल की सूचना दें ताकि वह सुबुद्ध सावधान हो जाये ।।97॥

पर्वतीय गुप्तचरों का कर्त्तव्य :-

प्रभौ दूरस्थिते वैरी यदागच्छति सन्निधौ ।
धूमादिभिर्निवेद्यः स चरैश्चारण्य संभवैः ।।1॥

आक्रमणकर्त्ता अपनी फौज का पड़ाव इस प्रकार की भूमि में डाले कि जो मनुष्य की ऊँचाई समान ऊँची हो, जिसमें अल्प संख्यक लोग प्रवेश कर सकें, घूमना तथा निकलना हो सके, एवं जिसके सामने विशाल सभा मण्डप हो जिसमें पर्याप्त जन स्थान पा सकें । स्वयं उसके मध्य में निवास कर चारों ओर सेना को निवेसित करे। सर्वसाधारण लोगों के आने-जाने के स्थान में पड़ाव डालने से अपना रक्षण-प्राण रक्षण नहीं हो सकता ।।98॥ शुक्र ने कहा है :- ।।99॥

परदेशं गतो यः- स्यात् सर्वसाधारणं नृपः ।
आस्थानं कुरुते मूढो घातकैः स निहन्यते ।।1॥

युद्धेच्छु विजयाभिलाषी पैदल, शिविकारूढ अथवा अश्वारोही होकर शत्रु भूमि में प्रवेश नहीं करे क्योंकि इस प्रकार से उसे अचानक शत्रु आक्रमण की आशंका होती है । सहसा होने वाले उपद्रवों से वह अपनी रक्षा नहीं कर सकेगा।।100॥ शुक्र विद्वान का भी यही अभिप्राय है :-

परभूमिं प्रविष्टो यः परदारी परिश्रमेत् ।
हये स्थितो वा दोलायां घातकै र्हन्यते हि सः ।।1॥

जिस समय आक्रान्त, विजयाभिलाषा के कुञ्जर गजारोही होकर अथवा जपान (सवारी विशेष) पर आरुढ़ हो शत्रुभूमि में प्रविष्ट होता है तो वह क्षुद्रोपद्रवों से सुरक्षित रहता है । अर्थात् शत्रु द्वारा क्षुद्र-उपद्रवों द्वारा मारे जाने का भय नहीं होता। अभिप्राय यह है कि शत्रु स्थान में स्वयं की सुरक्षा का पूर्ण उपाय रखते हुए ही प्रवेश करना श्रेयस्कर है ।।101।।

भागुरि विद्वान का भी यही सुझाव है :-

परभूमो महीपालः करिणं यः समाश्रितः ।
व्रजन् जंपणमध्यास्य तस्य कुर्वन्ति किं परे ।।1॥

उपर्युक्त विधि से शत्रु सेना या शत्रु भूमि में प्रवेश करने वाला भूपति सुरक्षित रहता है ।

" ।। इति 30वां युद्ध समुद्देशः ।"

इति श्री परम् पूज्य, विश्ववंद्य, जगद्गुरु, प्रातः स्मरणीय, चारित्र चक्रवर्ती, घोर तपस्वी, एकाकी मौनप्रिय, वीतरागी, दिगम्बराचार्य मुनि कुञ्जर सम्राट् आचार्य 108 आदिसागर जी अंकलीकर के पट्टशिष्य परम् पूज्य तीर्थभक्त शिरोमणि, उद्भट 18 भाषा-भाषी परम् गुरुदेव आचार्य महावीर कीर्ति जी महाराज संघस्था, परम् पूज्य सन्मार्ग दिवाकर, वात्सल्य रत्नाकर, निमित्त ज्ञान शिरोमणि 108 आचार्य विमलसागर जी महाराज की शिष्या श्री 105 प्रथमगणिनी आर्यिका ज्ञानचिन्तामणि विजयामती माता जी द्वारा यह हिन्दी विजयोदय टीका का 30वां युद्धसमुद्देश श्री परम पूज्य तपस्वी सम्राट् घोरोपसर्गपरीषहजयी, भारतगौरव सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य परमेष्ठी श्री सन्मति सागर जी महाराज के चरण सान्निध्य में समाप्त हुआ ।।

।। ॐ नमः परम् सिद्धाय ।।

।। ॐ शान्तिः ।।

समुद्देश 31

विवाह समुद्देश

काम सेवन की योग्यता, विवाह का परिणाम, लक्षण, आह्य, दैवादि चारों विवाहों का स्वरूप :-

द्वादशवर्षा स्त्री षोडशवर्षः पुमान् प्राप्तव्यवहारौ भवतः ।।1।। विवाह पूर्वो व्यवहारश्चातुर्वर्ण्यं कुलीनयति ।।2।। युक्तितो वरण विधानमग्नि देवद्विज साक्षिकं च पाणि ग्रहणं विवाहः ।।3।। स आह्ययो विवाहो यत्र वरायालंकृत्य कन्या प्रदीयते।।4।। स दैवो यत्र यज्ञार्थमृत्विजः कन्याप्रदानमेव दक्षिणा ।।5।। गो मिथुन पुरः सरं कन्यादानादार्षः ।।6।। त्वं भवास्य महाभागस्य सहधर्मं चारणीति'' विनोयोगेन कन्याप्रदानात् प्राजापत्यः ।।7।। एते चत्वारो धर्म्या विवाहाः ।।8।।

अर्थ विशेष :- बारह वर्ष की कन्या एवं 16 वर्ष का पुरुष व्यवहार प्राप्त अर्थात् कामपुरुषार्थ साधने योग्य होते हैं ।।1।। अभिप्राय यह है कि इस अवस्था में कन्या व वर का विवाह होना न्यायोचित है । स्वाभाविक नियम का उल्लंघन नैतिकाचार का घातक होता है । वर्तमान पद्धति में सुधार करना अनिवार्य है । अन्यथा अत्याचार, अनाचार व व्यभिचार को प्रोत्साहन देना है जो धर्म और समाज व्यवस्था के प्रतिकूल है ।।

धर्म नीति पूर्वक विवाह होने पर कामसेवन करने से चारों वर्ण की सन्तान में कुलीनता उत्पन्न होती है ।।2।। राजपुत्र एवं जैमिनी का भी यही अभिप्राय है :-

यदा द्वादश वर्षा स्यान्नारी षोडशवार्षिकः ।
पुरुषः स्यात्तदा रंगस्ताभ्यां मैथुनजः परः ।।1।।

सुवर्ण कन्यका यस्तु विवाहयति धर्मतः
सन्तानं तस्य शुद्धं स्यान्नाकृत्येषु प्रवर्तते ।।2।।

अर्थात् अपने-अपने वर्ण-जाति में विवाह होने से कुलीन-शुद्ध सन्तान उत्पन्न होती है जो अपने कुलाचार का त्याग न कर शुद्धाचरणी होती है । अभिप्राय यह है कि कुलीन-सत्पुरुषों को जाति संकर व वर्णसंकर नहीं होकर अपने ही वर्ण-जाति में विवाह कर वंश परम्परा की शुद्धि रखना चाहिए । तभी शुद्ध-कुलीन सन्तान होगी ।।2।।

युक्तिपूर्वक कन्यावरण (विवाह) निश्चय से अग्निदेव व ब्राह्मण की साक्षीपूर्वक वर द्वारा पाणिग्रहण किया जाता है उसे विवाह कहते हैं ।। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि विवाह कन्या का ही होता है विधवा का या परित्यक्ता का नहीं । जो ऐसा करते हैं वे आगम, धर्म और समाज विरोधी हैं ।।3॥

विवाह के 8 भेद हैं - 1. ब्राह्म्य, 2. दैव, 3. आर्ष, 4. प्राजापत्य, 5. गान्धर्व, 6. आसुर, 7. पैशाच और 8. राक्षस विवाह ।।

जिसमें कन्या के पिता आदि अपनी शक्ति अनुसार कन्या के वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके 'वर' को प्रदान करते हैं उसे ब्राह्मय विवाह कहते हैं ।।4॥

भारद्वाज एवं अन्य विद्वान ने भी कहा है :-

वरणं युक्तितो यच्च वह्निब्राह्मणसाक्षिकम् ।
विवाहः प्रोच्यते शुद्धो योऽन्यस्य स्याच्च विप्लवः ।।1॥

ब्राह्मयो दैवस्त थैवार्थः प्राजापत्यस्तथापरः ।
गन्धर्वश्चासुरश्चैव पैशाचो राक्षसस्तथा ।।1॥

यज्ञ कराने वाले यज्ञ के विद्वान पण्डित यज्ञ कराते हैं उसके निमित्त से दक्षिणा के रूप संरक्षकों द्वारा जो कन्या दी जाती है वह दैव विवाह कहलाता है ।।5॥ जिसमें गौ मिथन (गाय बैल का जोड़ा) आदि दहेज में देकर कन्या दी जाती है उसे आर्ष विवाह कहते हैं ।।6॥ कहा भी है :-

कृत्वा यज्ञ विधानं तु यो ददाति च ऋत्विजः ।
समाप्तौ दक्षिणां कन्यां दैवं वैवाहिकं हितत्।।1॥

कन्यां दत्वा पुनर्दद्याद्यत्र गोमिथुन परम् ।
वराय दीयते सोऽत्र विवाहश्चार्ष संज्ञितः ।।1॥

"तू महाभाग्यशाली की धर्मचारिणी अर्थात् व्यावहारिक धार्मिक क्रियाओं में सहायता पहुँचाने वाली सहधर्मिणी-धर्मपत्नी हो" इस प्रकार नियोग करके जब कन्या प्रदान की जाती है वह "प्राजापत्य" विवाह कहलाता है ।।7॥

गुरु ने कहा है :-

धनिनो धनिनं यत्र विषये कन्यकामिह ।
सन्तानाय स विज्ञेयः प्राजापत्यो मनीषिभिः ।।1॥

अर्थात् धनेश्वर किसी योग्य धनवान को अपनी कन्या प्रदान करता है उसे "प्राजापत्य विवाह" कहा है ।।1॥

इस प्रकार ये चारों प्रकार के ही विवाह न्याय संगत व श्रेष्ठ हैं ।।8।।

गांधर्वादि विवाहों के लक्षण, उनकी समालोचना, कन्यादूषण :-

मातुः पितुर्बन्धूनां चाप्रामाण्यात् परस्परानुरागेण मिथः समवायाद् गान्धर्वः ।।9।। पणबन्धेन कन्या प्रदानादासुरः ।।10।। सुप्त प्रमत्तकन्या दानात्पैशाचः ।।11।। कन्यायाः प्रसहयादानाद्राक्षसः ।।12।। एते चत्वारोऽधमा अपि नार्म्या यद्यस्ति वधूवरयोरनपवादं परस्परस्य भाव्यत्वं ।।13।। उन्नतत्वं कनीनिकयोः लोभशत्वं जंघयोरमांसलत्वमूर्वोरचारुत्वं कटिनाभिजठर कुच युगलेषु, शिरालुत्वमशुभ संस्थानत्वं च बाह्वोः, कृष्णत्वं तालुजिह्वाधर हरीतकीषु, विरलविषमभावो दशनेषु, कूपत्वं कपोलयोः, पिंगलत्वमक्ष्णोर्लग्नत्वं पि (चि) ल्लिकयोः, स्थपुटत्वं ललाटे, दुः सन्निवेशत्वं श्रवणयो, स्थूलकपिल परुषभावः केशेषु, अतिदीर्घातिल-घुन्यूनाधिकता समकक्ष लुब्ध वाम्न किराताङ्गत्वं कन्यादेहस्थां, सज्ञानताधिकत्वं चेति कन्यादोषाः सहसा तदगृहे स्वयं दूतस्य चागतस्याग्रे अभ्यक्ता व्याधिमती रुदती पतिघ्नी सुप्ता स्तोकायुष्का वहिर्गता कुलटाऽप्रसन्ना दुःखिता कलहोद्यता परिजनोद्वासिन्य प्रियदर्शना दुर्भगेति नैतां वृणीति कन्याम् ।।14।।

विशेषार्थ :- जिसमें वर और कन्या अपने-अपने माता-पिता की आज्ञा के बिना उनकी उपेक्षा कर स्वयं ही पारस्परिक प्रेम बन्धन-दाम्पत्य प्रेम में बंध जाते हैं उसे "गांधर्व विवाह" कहते हैं ।।9।। जिसमें कन्या के माता-पिता लोभवश वरपक्ष से इच्छित धन राशि लेकर कन्या को अयोग्य वर को दे देते हैं अर्थात् वेमेल विवाह करते हैं उसे "आसुर विवाह" कहते हैं ।।10।। जिसमें किसी सुषुप्त या वेहोश कन्या का अपहरण कर लिया जाता है उसे "पैशाच विवाह" कहते हैं ।।11।। जिसमे कन्या बलात्कारपूर्वक (जबरन) ले जाई जाती है या अपहरण की जाती है उसे "राक्षस विवाह" कहा जाता है।।12।। कहा भी है :-

रुदतां च बन्धुवर्गाणां हठाद् गुरुजनस्य च ।
गृह्णाति यो वरो कन्यां स विवाहस्तु राक्षसः ।।1।।

यद्यपि उपर्युक्त चारों प्रकार के विवाह जघन्य श्रेणी के हैं, तो भी यदि कन्या व वर दाम्पत्यप्रेम में निर्दोष हैं अर्थात् योग्य हैं तो इन्हें अन्याययुक्त नहीं कहा जा सकता ।।13।।

कन्या में यदि निम्न दोष हों तो उसके साथ विवाह नहीं करना चाहिए वे दोष :- जिसकी आंखों की तारिकाएँ उठी हों, जंघाओं में रोमावली हो, एवं उर भाग अधिक पतले तथा कमर, नाभि, कुच और उदर भद्दे हों । जिसकी भुजाओं में अधिक नशें दृष्टिगोचर हों, और उसका आकार भी अशुभ प्रतीत हो । जिसके तालु, जिह्वा, व ओष्ठ हरड़ के समान काले हों व दाँत विरल और विषम-छोटे-बड़े हों । गालों में गड्ढे आँखें पीली, बन्दर समान रंग वाली हों । जिसकी दोनों भृकुटियाँ जुड़ी हुई हों, मस्तक ऊँचा-नीचा, कानों की आकृति भद्दी हो, एवं केश मोटे, भूरे व रुक्ष हों । जो बहुत बड़ी या छोटी हो । जिसके कमर के पार्श्व भग सम हों, जो कुबड़ी, बौनी व भीलों के समान अङ्गों वाली हो । जो वर के बराबर आयु वाली या बड़ी हो । जो वर के दूत के साथ एकान्त में प्रकट होती हो । इसी प्रकार रोगी, रोने वाली, पतिघातक, सोने वाली, क्षीण आयु, अप्रसन्न व दुखी रहने वाली, बाहर घूमने वाली-मर्यादा के बाहर चलने वाली, व्यभिचारिणी, कलह प्रिय, परिवार को उजाड़ने वाली, कुरुपा व भाग्यहीना। इन दोषों से युक्त कन्या विवाहने योग्य नहीं होती ।।14।।

पाणिग्रहण की शिथिलता का दुष्परिणाम, नव वधू की प्रचण्डता का कारण, उसके द्वारा तिरस्कार व द्वेष का पात्र, प्राप्त होने योग्य प्रणय का साधन, विवाह योग्य गुण एवं उनके अभाव से हानि :-

शिथिले पाणिग्रहणे वरः कन्यया परिभूयते ।।15॥ मुखमपश्य तो वरस्यनिमीलित लोचना कन्या भवति प्रचण्डा।।16॥ सह शयने तूष्णीं भवन् पशुवन्मन्येत ।।17॥ बलादाक्रान्ता जन्म विद्वेष्यो भवति ।।18॥ धैर्यचातुर्यायत्तं हि कन्या विस्रम्भणम् ।।19॥ सम-विभवाभिजनयोरसमगोत्रयोश्च विवाह सम्बन्धः ।।20॥ महतः पितुरैश्वर्यादल्पमवगणयति । अल्पस्य कन्या, पितुर्दौर्बल्यान् महतावज्ञायते ।।22॥ अल्पस्य महतासह संव्यवहारे महान् व्योऽल्पश्चायः ।।23॥ वर वेश्यायाः परिग्रहो नाविशुद्धकन्याया परिग्रहः ।।24॥ वरं जन्मनाशः कन्यायाः नाकुलीनेष्ववक्षेपः ।।25॥

विशेषार्थ :- वर और कन्या का पाणिग्रहण शिथिल हो जाने से कन्या द्वारा वर का तिरस्कार होता है ।।15॥ वर अधिक लजीला हो, और अपनी नवोढा बधू का मुखावलोकन ही न करे, और वधू अपने पति की ओर सतृष्ण नेत्रों से देखती रहे, तब वह खीझकर प्रचण्डरूपा हो जाती है ।।16॥

नारद व जैमिनी ने भी कहा है :-

शिथिलं पाणिग्रहँ स्यात् कन्यावरयोर्यदा:
परिभूयते तदा भर्ता कान्तया तत्प्रभावतः ।।1॥

नारदः ।।

मुखं न वीक्षते भर्ता वेदिमध्ये व्यवस्थितः ।
कन्याया वीक्ष्यमाणायाः प्रचण्डा सा भवेत्तदा ।।1॥

जो वर अपनी नव विवाहिता पत्नी के साथ एकान्त शयन तो करता है, परन्तु उसके साथ लज्जावश चुप-चाप बैठा या सोया रहता है । उसके साथ अपना पतिधर्म रूप कार्य हास-विलास, चतुराई से संलाप आदि नहीं करता तो उसे वह नवोढा पत्नी पशु समान मूर्ख समझती है ।।17॥ यदि वर नव वधू के साथ बलात् काम क्रीड़ा की चेष्टा करता है तो उसकी बधू जीवनपर्यन्त उसके साथ द्वेषभाव करती रहती है ।।18॥ कारण कि नववधू का पति के प्रति अनुराग व भक्ति वर के धैर्य व चातुर्य पर ही आश्रित होता है । अभिप्राय यह है कि वर अपनी नववधू के साथ सौम्यता का व्यवहार कर स्नेह से व्यवहार करता है और दान-मान देता है तो उसका प्रणय उसे प्राप्त होता है । अन्यथा नहीं ।।19॥ जिनका समान ऐश्वर्य व परिवार-कुटुम्ब हो उनका ही विवाह सम्बन्ध माना गया है । अर्थात् भिन्न गोत्रवाले वर-कन्याओं में ही विवाह सम्बन्ध माना जाता है ।।20॥ अगर इस प्रकार भिन्न गोत्रीय कन्या नहीं होवे तो समाज व्यवस्था नहीं बन सकती । तथा धनाढ्य की कन्या दरिद्र के यहाँ जाती है तो वह अपने पिता के ऐश्वर्य से उन्मत्त हो पति का अनादर करती है, यदि निर्धन की कन्या धनाढ्य वर के साथ विवाही जायेगी तो वह ऐश्वर्यवान पति व परिवार द्वारा तिरस्कृत होती है ।।21-22॥ यदि साधारण पैसे वाला धनवान के साथ विवाह सम्बन्ध करता है तो उसके द्वारा उसमें खर्च व आमदनी कम होती है ।।23॥

किसी कारणवश कदाच वेश्यासेवन करना अच्छा है परन्तु व्यभिचारिणी अथवा असज्जातीय (जिसका कुल वंश परम्परा शुद्ध नहीं) या विजातीय कन्या के साथ विवाह करना उचित नहीं । क्योंकि इससे भविष्य में असज्जाति सन्तान उत्पन्न होने के कारण उसका मोक्षमार्ग बन्द हो जाता है ।।24।। कन्या का जन्म होते ही मर जाना उत्तम है परन्तु नीचकुल वाले वर के साथ विवाह करना अथवा उसका नीच कुल में पैदा होना श्रेष्ठ नहीं ।।25।।

कन्या के विषय में पुनर्विवाह में स्मृतिकारों का अभिमत, विवाह सम्बन्ध, स्त्री से लाभ, गृह का लक्षण, कुलबधू की रक्षा के उपाय, वेश्या त्याग, कुलागत कार्य :-

सम्यग्वृत्तकाकन्या तावत्सन्देहास्पदं यावन्न पाणिग्रहः ।।26।। विकृत प्रत्यूढाऽपि पुनर्विवाहमर्हतीति स्मृतिकारः ।।27।। आनुलोम्येन चतुस्त्रिद्विर्षाः कन्याभाजनाः ब्राह्मण क्षत्रियविशः ।।28।। देशापेक्षो मातुल-सम्बन्धः ।।29।। धर्मसंततिरनुपहता रतिर्गृहवार्तासुविहितत्वभामिजात्याचार विशुद्धिर्देवद्विजातिथि बान्धव सत्कारानवद्यत्वं च दारकर्मणः फलम् ।।30।। गृहणी गृहमुच्यते न पुनः कुड्यकट संघातः ।।31।। गृहकर्म विनियोगः परिमितार्थत्वमस्वातन्त्रयम् सदाचारः मातृव्यं जन स्त्री जनावरोध इति कुलबधूनां रक्षणोपायः ।।32।। रजकशिला कुर्कुर खर्परसमाहि वेश्याः कस्तास्वभिजातोऽभिरज्येत ।।33।। दानैर्दौभाग्यं सत्कृतौ परोपभोग्यत्वं आसक्तौ परिभवो मरणं वा महोपकारेष्वनात्मीयत्वं बहुकाल सम्बन्धेऽपि त्यक्तानां तदेवपुरुषान्तरगामित्वमिति वेश्या नां कुलागतो धर्मः ।।34।।

विशेषार्थ :- सत्कुलीन एवं सदाचारिणी भी कन्या जब तक विवाहित नहीं होती तब तक सन्देह की तुला बनी रहती है । अर्थात् विश्वास पात्र नहीं होती ।।26।। यदि किसी कन्या की सगाई हो गई हो और पुनः वर कारण वश लंगड़ा, लूला, काना, काला या कालकवलित हो गया हो तो उसका अन्य वर के साथ विवाह कर देना चाहिए ऐसा स्मृतिकार मानते हैं ।।27।। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अनुलोम (क्रम) से तीनों व दोनों वर्ण की कन्याओं से विवाह करने के पात्र हैं। अर्थात् ब्राह्मण-ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य की और क्षत्रिय-क्षत्रिय व वैश्व एवं वैश्य-वैश्य व क्षत्रिय के साथ कन्या प्रदानादि कर सकता है ।।28।। मामा के साथ कन्या का विवाह लोक व कुल के एवं देश पद्धति के अनुसार योग्य समझा जाता है । अर्थात् जिस देश में मामा-पुत्री का सम्बन्ध प्रचलित है वहाँ वह विवाह सम्बन्ध योग्य माना जाता है, सर्वत्र नहीं ।।29।। धर्मापत्नी के साथ ही निम्न कार्यों का सम्पदान होना अनिवार्य और धर्मानुकूल है - 1. धर्म परम्परा का अक्षुण्ण चलते रहना, 2. धर्मात्मा सज्जातीय सन्तान लाभ होना, 3. कामोपभोग में बाधा नहीं आना, 4. गृहव्यवस्था का सुचारु रूप से संचालन, 5. कुलीनता व आचार शुद्धि, 6. देव, ब्राह्मण, अतिथि और बन्धुजनों का योग्य सम्मान, 7. इसी प्रकार अन्य पूजा-विधानादि धार्मिक कार्य धर्मपत्नी के सहयोग से ही सम्पादित-निर्दोष सम्पन्न होते हैं ।।30।। जहाँ सुयोग्य-सदाचारिणी पत्नी गृहणी विद्यमान है वह "गृह" कहा जाता है । ईंट, पत्थर, लकड़ी, व मिट्टी आदि का संघातकर बना हुआ घर 'गृह' नहीं कहलाता । वह तो भूतों का डेरा कहा है यथा "बिना घरणी-गृहणी घर भूत का डेरा" ।।31।। कुल वधुओं के शील संयम के रक्षण के निम्न उपाय हैं - 1. गृह कार्यों में दक्षता और उनके संचालन में सदैव लगाये रखना, क्योंकि "खाली माथा भूतों का डेरा" कहा है। 2. उसे खर्च के लिए आवश्यकतानुसार उचित-सीमित धन देना, 3. स्वच्छन्द घूमने-फिरने नहीं देना, 4. सन्तान संरक्षण पालन पोषण का उत्तरदायित्व में पूर्ण स्वतन्त्र्य प्रदान करना, परन्तु स्वयं का हस्तक्षेप भी बनाये रखना, 5. सदाचार की शिक्षा देना, 6. माता-दादी सदृश अनुभवी महिलाओं द्वारा देख-भाल

रहना, अर्थात् स्वच्छन्दवृत्ति नहीं होना देना-उनके द्वारा चौकसी रखना ।।32।। वेश्याएँ, कुत्तों के खप्पर, धोबी का शिला, के समान सर्वसाधारण व घृणास्पद होती हैं, उनमें कौन कुलीन पुरुष अनुरक्त होगा ? कोई भी सत्पुरुष अनुरागी नहीं होगा ।।33।। वेश्याओं के कुलक्रमागत-परम्परा से चले आये कार्य क्या हैं ? निम्न है :- दान देने में भाग्य फूटा रहता है - कभी भी दान देना नहीं जानता, 2. अनुरक्त पुरुषों द्वारा सम्मानित किये जाने पर भी अन्य पुरुषों के साथ काम सेवन करना, 3. आसक्त पुरुषों का लोभ व कुटिलता से तिरस्कार व घात करना, 4. अनुरागी पुरुषों द्वारा महान उपकार किये जाने पर भी उनकी अवज्ञा-अपमान करना, 5. अनुरक्त पुरुषों द्वारा त्याज्य होने पर अर्थात् छोड दिये जाने पर अन्य पुरुषों के साथ रति क्रीडा करना-कराना । इस प्रकार वेश्याएँ सदा व्यभिचारिणी, कृतघ्न व अविश्वासिनी होती हैं । सत्पुरुषों को उनका सहवास कभी भी नहीं करना चाहिए ।।34।।

नोट :- इस उद्देश्य में सज्जातीत्व सम्बन्धी प्रकरण विशेष पठनीय मननीय व ग्राह्य है । वर्तमान युग में पाश्चात्य शिक्षण में रंगे लड़के लड़कियाँ अधिकाँश धर्माचरण व जाति पाँति के बंधनों को तोड़ने-फोड़ने में ही अपना गौरव समझते हैं । परन्तु इसके दुष्परिणाम की ओर ध्यान नहीं देते । सज्जातीयत्व का रक्षण न केवल धर्म, समाज व जीवन के वर्तमान क्रिया-कलापों का रक्षण है अपितु परलोक की भी सुरक्षा है । दुर्गति से रक्षण का उपाय है । सद्गति का कारण है यही नहीं परम्परा से मोक्ष का साधन है । नं. 24 की नीति में स्पष्ट किया है कि सज्जाति का उल्लंघन करने वाला आगामी मोक्षमार्ग का अवरोधक अर्गल है । उसकी परम्परा में मोक्षमार्ग नहीं बनता ।

विजातीय, विधवा या नीच कुलीन कन्या के साथ भी विवाह वर्जनीय एवं निंद्य माना है । देखिये नं. 24 की नीति। अभिप्राय यह है कि वर्तमान की कुरीतियों का परिहार कर हमें धर्मानुकूल विवाहादि सम्बन्ध कर सदाचार, धर्माचार व शिष्टाचार पालन करना चाहिए । परम् पूज्य आचार्य श्री आदिसागर जी अंकलीकर, परम् पूज्य आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी, आदि वर्तमान आचार्यों ने भी डंके की चोट पर सज्जातीत्व संरक्षण का उपदेश दिया था । हमें उस पर गहराई से विचार कर अपनी संतति का रक्षण करना चाहिए ।।

" ।। इति विवाह समुद्देश ।।31।। "

इति श्री परमपूज्य, विश्ववंद्य, चारित्रचक्रवर्ती, मुनिकुञ्जर सम्राट् दिगम्बराचार्य, वीतरागी श्री 108 आचार्य आदिसागर जी अंकलीकर महाराज के पट्टशिष्य परम् पूज्य तीर्थभक्त शिरोमणि, 18 भाषाभाषी, आर्षपरम्परा के पोषक श्री 108 आचार्य महावीरकीर्ति जी के संघस्था, परम् पूज्य वात्सल्य रत्नाकर कलिकाल सर्वज्ञ श्री 108 आचार्य विमल सागर जी महाराज की शिष्या श्री 105 प्रथम गणिनी, आर्यिका, ज्ञान चिन्तामणि विजयामती जी द्वारा यह हिन्दी विजयोदय टीका का 31वां समुद्देश परम् पूज्य भारत गौरव, कठोर तपस्वी सम्राट अनेकपदालंकृत सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य श्री 108 सन्मति सागर जी के पावन चरण सान्निध्य में समाप्त किया ।।

" ।। ॐ शान्ति ॐ ।। "

32

प्रकीर्णक समुद्देश

प्रकीर्णक व राजा का लक्षण, विरक्त एवं अनुरक्त के चिन्ह, काव्य के गुण, दोष, कवियों के भेद तथा लाभ, गीत, वाद्य तथा नृत्य गुण :-

समुद्र इव प्रकीर्णक सूक्तरत्नविन्यासनिबन्धनं प्रकीर्णकम् ।।1॥ वर्णपदवाक्य प्रमाण प्रयोग निष्णात-मतिः सुमुखः सुव्यक्तोमधुरगम्भीरध्वनिः प्रगल्भः प्रतिभावान् सम्यगूहापोहावधारणगमकशक्तिसम्पन्नः संप्रज्ञात समस्त लिपि भाषा वर्णाश्रमसमयस्वपरव्यवहारस्थितिराशुलेखनवाचनसमर्थश्चेति सन्धि विग्रहिकगुणाः ।।2॥ तथा व्यवच्छेदो व्याकुलत्वं मुखेवैरस्यमनवेक्षणं स्थान त्यागः साध्वाचरितेऽपि दोषोद्भावनं विज्ञप्ते च मौनम क्षमाकालयापनमदर्शनम् । वृक्षथाभ्युपगमश्चेति विरक्तलिंगानि ।।3॥ दूरादेवेक्षणं, मुख प्रसादः संप्रश्नेष्वादरः प्रियेषुवस्तुषुस्मरणं, परोक्षेगुणग्रहणं तत्परिवारस्य सदानुवृत्तिरित्यनुरक्त लिङ्गानि ।।4॥ श्रुतिसुखत्वमपूर्वा-विरुद्धार्थातिशययुक्तत्व मुभयालंकार सम्पन्नत्वम न्यूनाधिक वचनत्वमतिव्यक्तान्वयत्वमितिकाव्यस्यगुणाः ।।5॥ अतिपरुषवचन विन्यासत्वमनून्वितगतार्थत्वं दुर्बोधानुपपन्नपदोपन्यासमयथार्थयति विन्यासत्वमभिधानाभिधेय शून्यत्वमिति का व्यस्य दोषाः ।।6॥ वचन कविरर्थकविरुमयकविश्चित्रकविर्वर्णकविर्दुष्करकविररोचकी मतुषाभ्यवहारी चेत्यष्टौकवयः ।।7॥ मनः प्रसादः कलासुकौशलं सुखेन चतुर्वर्गविषयाव्युत्पत्तिरासंसारं च यश इति कविसंग्रहस्यफलं ।।8॥ आलप्ति शुद्धि र्माधुर्यातिशयः प्रयोग सौन्दर्यमतीवमसृणतास्थान कम्पित कुहरितादिभावो रागान्तर संक्रान्तिः परिगृहीतरागनिर्वाहो हृदयग्राहिता चेतिगीतस्यगुणाः ।।9॥ समत्वं तालानुयायित्वंगेयाभिनेयानुगतत्वं श्लक्ष्णत्वं प्रव्यक्तयति प्रयोगत्वंश्रुति सुखावहत्वं चेतिवाद्यगुणाः ।।10॥ दृष्टि हस्तपादक्रियासु समसमायोगः संगीतकानुगतत्वं सुश्लिष्ट ललिताभिनयांग हारप्रयोगभावो सरभाव वृत्ति लावण्यभावइति नृत्यगुणाः ।।11॥

विशेषार्थ :- जिस प्रकार रत्नाकर (सागर) में अनन्त अनेक प्रकार के रत्न बिखरे रहते हैं उसी प्रकार सुभाषित रूप रत्नों की रचना का स्थान है उसे "प्रकीर्णक" कहते हैं ।। अर्थात् जिस प्रकार समुद्र में फैली हुयी प्रचुर रत्नराशि वर्तमान होती है, उसी प्रकार प्रकीर्णक काव्य समुद्र में भी फैली हुयी सुभाषित रत्नराशि पाई जाती है ।।1॥ राजा के अपने विशेष गुण होते हैं यथा वर्ण, पद, वाक्य और तर्कशास्त्र आदि में परिपक्व बुद्धि होना चाहिए । स्पष्ट और सार्थक बोलने वाला मधुर और गंभीर वाणी होना चाहिए । जो चतुर हो, प्रतिभा सम्पन्न, समस्त देशों की लिपि और भाषा का जानकार, योग्यायोग्य विचारक, धारणाशक्ति सम्पन्न तथा चारो वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र) व चार आश्रमों (ब्रह्मचारी आदि) के शास्त्र के रहस्य का ज्ञाता, समस्त स्व व पर के व्यवहार का जानकार

तथा शीघ्र लिखने व पढ़ने की कला में चतुर ये राजा के गुण हैं । इन गुणों से अलङ्कृत पुरुष "राजा" बनने योग्य होता है ।।2।। विरक्त पुरुष के चिन्हों को बताते हैं । जो ध्यानपूर्वक कथा श्रवण नहीं करता हो, बैठा भी रहे तो व्याकुल हो उठे । सुनने के समय मुखाकृति विवर्ण हो जाय, वक्ता के कथन को सुनते समय उसकी ओर मुख न करे मुंह लटकाये बैठा रहे, अपने स्थान से उठ कर अन्यत्र जा बैठे, वक्ता के श्रेष्ठ कार्य करने पर भी उसे दोषी बतावे, समझाने पर मौन धारण कर ले, कुछ भी उत्तर नहीं दे । जो स्वयं क्षमा (वक्ता की बात को सहन करने की शक्ति) नहीं होने के कारण अपना काल क्षेपण व्यर्थ ही करता हो - निरर्थक समय बिताता हो, जो वक्ता को अपना मुख न दिखावे, और अपने वायदे को भी पालन न करता हो, कथा से या अपने से विरक्त रहने वाले मनुष्य के ये चिन्ह हैं । उक्त चिन्हों से विरक्त की परीक्षा होती है ।।3।। अपने को आते हुए दूर से ही देखकर जिसका मुखकमल विकसित हो जाय, कुछ भी प्रश्न करने पर अपना सम्मान कर प्रेम से उत्तर दे, पूर्व में किये हुए उपकारों का जो स्मरण करे, कृतज्ञ हो, परोक्ष में गुणानुवाद करता हो, अपने मित्र के परिवार से भी सतत प्रीति-स्नेह करने वाला हो, ये सभी अपने से "अनुक्त पुरुष" के लक्षण समझना चाहिए ।। अर्थात् उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न पुरुष को नैतिक पुरुष अपना मित्र व प्रेमी समझे ।।4।।

जिसका श्रवण श्रोत्रियेन्द्रिय को प्रिय लगे, अपूर्व प्रतीत हो, विरोधादि दोष शून्य-निर्दोष अर्थ का निरुपण करने से अतिशय युक्त शब्दालङ्कार-अनुप्रास आदि और अर्थालंकार (उपमा, उत्प्रेक्षा प्रभृति) से व्याप्त, हीनाधिक वचनो से रहित और जिसका अन्वय अति स्पष्ट हो - जो दूरान्वयी न हो ये काव्य के गुण हैं । अर्थात् उक्त गुण - युक्त "काव्य उत्तम" माना गया है ।।5।। जिस काव्य में श्रुतकटु-सुनने में कठोर लगने वाले पदों की रचना, व अप्रसंगत अर्थ पाया जावे, दुर्बोध (कठिन) एवं अयोग्य शब्दों की रचना से युक्त, छन्द-भ्रष्ट होने के कारण जिसमें यथार्थ यतिविन्यास (विश्रान्तरचना) न हो, जिसकी पद-रचना कोश विरुद्ध हो, जिसमें स्वरुचि-कल्पित (मन-गढन्त) ग्राम्य (असभ्य) पद रचना वर्तमान हो, ये काव्य के दोष हैं ।।6।। कवियों के 8 भेद हैं - 1. वचन कवि - जो आचार्य श्री वीरनन्दीस्वामी, कालिदास आदि कवियों के समान ललित पदों की रचना द्वारा काव्य रचना करते हों, 2. अर्थकवि - जो महाकवि हरिश्चन्द्र एवं भारवि कवि समान गूढार्थ वाले काव्यों की रचना करते हों, 3. उभय कवि - जो ललित पद-शब्दावलि युक्त और गूढार्थ पदों की काव्य माला का निर्माण गुम्फ न करें ।।4।। चित्रकवि - चित्रालङ्कार युक्त काव्य रचयिता, 5. वर्ण कवि - शब्दाडम्बर सहित काव्य रचना करने वाले कवि, 6. दुष्कर कवि - चाणक्य आदि कवियों के समान अत्यन्त कठिन शब्द सुमनों द्वारा काव्य माला गुम्फन करने वाला 7. अरोचक कवि - जिसकी काव्य रचना रुचिकर न हो, और 8. सम्मुखाभ्यवहारी - श्रोताओं के समक्ष तत्काल काव्य रचना करने वाला । इस प्रकार ये आठ प्रकार के कवि होते हैं ।।7।।

मानसिक आह्लाद, ललितकलाओं-काव्यरचनादि में चातुर्य, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थों में सरलता से प्रवेश अर्थात् चारों पुरुषार्थों का सम्यग्ज्ञान एवं उमास्वामी आचार्य व व्यास आदि के समान संसार पर्यन्त स्थायी कीर्ति रहना, आदि का लाभ होता है, कवि होने से ये लाभ प्राप्त होते हैं ।।8।। षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद (सा रे ग म प ध नि) इन सातों स्वरों का आलाप शुद्ध (एक स्वर में अन्य का सम्मिश्रण-सांकर्यन होना) हो, श्रोत्रेन्द्रिय को अत्यन्त प्रिय मालूम हो, (जिसमें अत्यन्त मिठास हो) सुकोमल पद रचना-युक्त अथवा अभिनय (नाट्य) क्रिया में निपुणता का प्रदर्शक हो, जिसके पदोच्चारण में घनाई हो, जिसमें त्रिमात्रा, वाले

षड्ज व ऋषभ आदि स्वरों का विस्तार ((आरोहीपन) व संकोच (अवरोहीपन) वर्तमान हो, जिसमें एक राग से दूसरी राग में गति प्रारम्भ किया गया हो, उसी राग में उसका वेध पाया जावे, जिस राग में गीत प्रारम्भ किया गया हो, उसी राग में उसका निर्वाह-समाप्त हो एवं जिसे सुनकर हृदय फडक (आल्हादक) हो उठे ये गायन के गुण हैं ।।9॥ कर्कशता का अभाव, पाँच प्रकार का ताल तथा गीत व नृत्य के अनुकूल बजने वाला, वाद्य (बाजे) सम्बन्धी दोषों से रहित (निर्दोष) जिसमें यति (विश्रान्ति) यथोचित व प्रकट रीति से पाई जावे एवं जिनके सुनने से श्रोत्रेन्द्रिय को सुख प्रतीत हो, ये बाजे के गुण हैं ।।10॥ जिसमें नेत्र, हस्त व पैरों की संचालन की क्रिया का एक काल में मिलाप गाने व बजाने के अनुकूल एवं यथोचित पाया जावे संगीत (गाने-वजाने) का अनुकरण करने वाला, जिसमें गायनाचार्य द्वारा सूचित किये हुए सघन और ललित अभिनय नाटक द्वारा अङ्ग-संचालन, अभिव्यक्त किया गया हो, तथा शृंगार आदि नवरस और आलम्बन भाव व उद्दीपन भावों के प्रदर्शन से जिसमें दर्शकों को आनन्द प्रतीत हो, लावण्य प्रतीत हो ये "नृत्य" के गुण हैं । अर्थात् उक्त गुणों वाला नृत्य सर्वोत्तम-श्रेष्ठतम माना जाता है ।।11॥

महापुरुष, निंद्यगृहस्थ, तत्कालीन सुख चाहने वालों के कार्य, दान विचार, कर्जा के कटु फल, कर्जा लेने वाले के स्नेहादि के फल, अवधि, सत्यासत्य निर्णय व पापियों के दुष्कर्म :-

स महान यः खल्वार्तोऽपि न दुर्वचनं ब्रूते ।।12॥ स किं गृहालक्ष्मी यत्रागत्यार्थिनो न भवन्ति कृतार्थाः ।।13॥ ऋणग्रहणेन धर्मः सुखं सेवा वाणिज्या च तादात्विकानां नायति हित वृत्तीनाम् ।।14॥ स्वस्य विधमानमर्थिभ्यो देयं नाविधमानम् ।।15॥ ऋण दातुरासन्नं फलं परोपास्तिः कलहः परिभवः प्रस्तावेऽर्था-लाभश्च ।।16॥ अदातुस्तावत्स्नेहः सौजन्यं प्रियभाषणं वा साधुता च यावन्नार्थावाप्तिः ।।17॥ तदसत्यमपि नासत्यं यत्र न सम्भाव्यार्थहानिः ।।18॥ प्राणवधे नास्ति कश्चिदसत्यवादः ।।19॥ अर्थात् मातरमपि लोको हिनस्ति किं पुनरसत्यं न भाषते ।।20॥

विशेषार्थ :- जो शिष्ट पुरुष पीडित-दुःखी किये जाने पर भी या निन्दा किये जाने पर भी दुर्वचन-कटुवाणी नहीं बोलता वह महान् कहा जाता है ।।12॥ वह गृहाश्रम क्या है जहाँ आया हुआ अतिथि तृप्त न हो । अर्थात् गृहस्थ का कर्त्तव्य दान देना है, यदि वह दान देकर आगत अतिथि का सम्मान नहीं करता तो वह गृहस्थ कहलाने का अधिकारी नहीं है ।।13॥ शुक्र एवं गुरु ने कहा है :-

दुर्वाक्यं नैव यो ब्रूयादत्यर्थकुपितोऽपिसन् ।
समहत्वमावाप्नोति समस्ते धरणी तले ।।1॥

वार्तिक 12 के सम्बन्ध में :-

तृणानि भूमिरुदकं वाचा चैव तु सूनृता,
दरिद्रैरपि दातव्यं समांसन्नस्य चार्थिनः ।।1॥

अर्थ :- तृण, भूमि, उदक, वचन और मधुरवाणी निर्धन गृहस्थ भी याचकों को प्रदान करता है ।। अर्थात् आसनादि प्रदान करने में दरिद्री भी नहीं चूकता ।।

तात्कालिक क्षणिक सुखाभिलाषी पुरुष कर्ज-ऋण लेकर अर्थात् दूसरे से उधार लेकर धार्मिक क्रिया, सुख साधन कार्य-विवाहादि, सेवा-टहल आदि की सेवा और व्यापारादि करते हैं परन्तु भविष्य में स्थायी सुखेच्छु इस प्रकार ऋणी होकर राजादि की सेवादि कार्य नहीं करते ।।14॥ दाता को अपने पास जो कुछ भी हो उसी में से यथायोग्य दान देना चाहिए। ऋणादि लेकर नहीं ।।15॥ गृहस्थाश्रम को परम मित्र कहा है :-

अनाथानां हि नाथोऽयं निर्धनानां सहायकृत्
निराश्रितामृतानाञ्च गृहस्थाः परमः सखा ।।2॥

कुरल काव्य प.च्छे 5

अर्थात् गृहस्थ अनाथों का नाथ, दरिद्रों का सहायक और निराश्रितों-मृतकों का मित्र है । गर्ग विद्वान ने भी दोनों विषयों का समर्थन किया है :-

धर्मकृत्यं ऋणप्राप्त्या सुखं सेवा परं परम ।
तादात्विक विनिर्दिष्टं तद्धनस्य न चापरं ।।1॥

अविद्यमानं यो दद्याद्दणं कृत्वापि वल्लभः ।
कुटुम्बं पीड्यते येन तस्य पापस्य भाग्भवेत् ।।2॥

ऋण देने वाले धनी पुरुष को अनेक कटुफल भोगने पडते हैं । यथा - 1 सर्व प्रथम उसे ऋण लेने वाले की सेवा सुश्रुषा करना पडता है । 2. कलह-यदि ऋणी समयानुसार धनराशि नहीं लौटाता तो उसके साथ कलह विसंवाद करना पडता है । 3. तिरस्कार - ऋण लेने वाले के द्वारा अपमानित होना पडता है । 4. अवसर आने पर धन न मिलने से स्वयं की कार्यक्षति उठाना । सारांश यह है कि किसी को ऋण रुप में धन देना योग्य नहीं ।।16॥ धनवान के साथ स्नेह, प्रियभाषण, सज्जनता का व्यवहार तभी तक दर्शाता है जब तक कि उससे धन प्राप्त नहीं होता, धन मिलने पर उसका सारा व्यवहार विपरीत हो जाता है । शिष्टाचारादि को भूल जाता है ।।17॥ अत्रि एवं शुक्र ने भी यही कहा है :-

उद्धारक प्रदातृणां त्रयो दोषाः प्रकीर्तिताः
स्वार्थदानेन सेवा च युद्धं परिभवस्तथा ।।1॥

तावत्स्नेहस्य बन्धोऽपिततः पश्चाच्च साधुता ।
ऋणकस्य भवेद्यावत्तस्य गृह्णाति नो धनम् ।।2॥

अर्थात् ऋण देने से उपर्युक्त हानि होती हैं ।।

वचनों की सत्यता व असत्यता का मापदण्ड वक्ता का अभिप्राय माना जाता है । इष्ट प्रयोजन-प्राणी रक्षार्थ मिथ्या वचन भी सत्य की कोटि में आता है । अर्थात् वह वचन असत्य होने पर भी मिथ्या नहीं माना जाता जिससे

प्राणी रक्षा आदि इष्ट कार्य की क्षति नहीं होती अपितु उसकी सिद्धि होती है । क्योंकि वक्ता के वचनों में सत्यता व असत्यता लौकिक प्रमाणों द्वारा निर्णीत की जाती है, किसी के कहने मात्र से नहीं अपितु नीतिपूर्वक विचार करने से मिथ्या व सत्य का निर्णय किया जाता है । अतएव विशिष्ट-गुरुतर इष्ट प्रयोजनार्थ कहे हुए मिथ्या वचन भी सत्य माने जाते हैं । अहिंसा विशिष्ट-गुरुतर इष्ट प्रयोजनार्थ कहे हुए मिथ्या वचन भी सत्य माने जाते हैं । अहिंसा परमोधर्म के पोषक वचन असत्य भी सत्य में गर्भित हैं ।।18॥ किसी प्राणी का प्राणघात होने वाला है उस समय उसकी रक्षार्थ यदि असत्य-झूठ कहा जाता है तो वह वचन सत्य है असत्य नहीं भी है ।।19॥ वादरायण ने भी कहा है :-

तदसत्यमपि नासत्यं यदत्र परिगीयते ।
गुरुकार्यस्य हानिं चज्ञात्वा नीतिरिति स्फुटम् ।।1॥

व्यास ने पाँच स्थानों पर असत्यभाषण को मिथ्यावचन नहीं है कहा है :-

नासत्ययुक्तं वचनं हिनस्ति, न स्त्रीषु राजा न विवाह काले
प्राणात्यये सर्वधनापहारी, पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ।।1॥

अर्थात् प्राण रक्षार्थ-वध नहीं हो, स्त्रियों, राजा व विवाहकाल में, सर्वधनापहार संकट में असत्य वचन भी सत्य की कोटि में भी आते हैं ।।

धन सर्व पापों का मूल है । धनार्थी पुरुष अपनी माता का भी वध करने से नहीं चूकता । यदि उसके लिए (धनप्राप्त्यर्थ) यदि असत्य-मिथ्याभाषण करे तो क्या आश्चर्य ? कुछ भी नहीं । अतएव धन के विषय में किसी का भी विश्वास नहीं करना चाहिए । भले ही वह अनेकों शपथ भी क्यों न खाये ।।20॥ शुक्र ने भी कहा है :-

अपि स्याद्यदि मातापि तां हिनस्ति जनोऽधनः ।
किं पुनः कोशपानाद्यं तस्मादर्थे न विश्वसेत् ।।1॥

भाग्याधीन वस्तुएँ, रतिकालीन पुरुष वचनों की मीमांसा, दाम्पत्य प्रेम की अवधि, युद्ध में पराजय का कारण, स्त्री को सुखी बनाने से लाभ, विनय की सीमा, अनिष्ट प्रतीकार, स्त्रियों के बारे में, साधारण मनुष्य से लाभ व लेख, युद्ध सम्बन्धी नैतिक विचार :-

सत्कला सत्योपासनं हि विवाह कर्म, दैवायत्तस्तु वधूवरयोर्निर्वाहः ।।21॥ रतिकाले यन्नास्ति कामार्तो यत्र ब्रूते पुमान् न चैतत्प्रमाणम् ।।22॥ तावत्स्त्रीपुरुषयोः परस्परं प्रीतिर्यावन्न प्रातिलोम्यं कलहो रतिकैतवं च ।।23॥ तादात्विक बलस्य कुतोरणे जयः प्राणार्थः स्त्रीषु कल्याणं वा ।।24॥ तावत्सर्वः सर्वस्यानु वृत्तिपरो यावन्न भवति कृतार्थः ।।25॥ अशुभस्य कालहरणमेव प्रतीकारः ।।26॥ पक्वान्नादिव स्त्री जनाद्दाहोप शान्तिरेव प्रयोजनं किं तत्र रागविरागाभ्याम् ।।27॥ तृणेनापि प्रयोजनमस्ति किं पुन र्न पाणिपादवता मनुष्येण ।।28॥ न कस्यापि लेखमवमन्येत, लेखप्रधाना हि राजानस्तन्मूलत्वात् सन्धि-विग्रहयोः सकलस्य जगद् व्यापारस्यच ।।29॥ पुष्ययुद्धमपि नीतिवेदिनो नेच्छन्ति किं पुनः शस्त्रयुद्धम् ।।30॥

विशेषार्थ :- संसार में मनुष्यों को सम्यक् कलाओं का परिज्ञान, सत्य की उपासना अर्थात् समीचीन धर्म, तत्त्व, द्रव्य, वस्तुओं में रुचि, तथा विवाहादि सम्बन्ध पूर्वार्जित पुण्यकर्मों के उदय से ही प्राप्त होती हैं परन्तु विवाह के अनन्तर दाम्पत्य जीवन का सुख-शान्तिपूर्वक निर्वाह भी उनके भाग्य की अनुकूलता पर ही निर्भर करता है ।121॥ काम पीडित पुरुष रतिकाल में (काम सेवन के समय) ऐसा कोई भी वचन (सत्य व असत्य) बाकी नहीं रखता, जिसको वह अपनी प्रियतमा (पत्नी) से नहीं बोलता हो । वह सभी असत्य भाषण बोलता है, परन्तु उसके वे वचन प्रामाणिक नहीं होते । अभिप्राय यह है कि विषयाभिलाषी व सज्जाति सन्तान के इच्छुक पुरुष को रतिकाल के समय तात्कालिक प्रिय मधुर वचनों द्वारा अपनी प्रिया को अनुरक्त करना चाहिए ।122॥ गुरु एवं राजपुत्र ने भी कहा है :-

विद्यापत्यं विवाहश्च दम्पत्योश्चामिता रतिः ।
पूर्वकर्मानुसारेण सर्वं सम्पद्यते सुखम् ।।1॥

नान्याचिन्तां भजेन्नारीं पुरुषः कामपण्डितः ।
यतो न दशयेद्भावं नैवं गर्भं ददाति च ।।1॥

विद्या, कला विद्या-विज्ञानादि पूर्व कर्माधीन है

दाम्पत्य जीवन भारतीय संस्कृति में पवित्र सम्बन्ध माना जाता है । दम्पत्तियों में पारस्परिक प्रेम तभी तक रहता है जब तक कि उनमें प्रतिकूल का, कलह और विषयोगभोग सम्बन्धी कुटिलता नहीं पायी जाती ।123॥ जिस विजेता के पास अल्प समय तक टिकने वाली कम सेना हो, वह शत्रु पर कैसे विजय प्राप्त कर सकता है ? नहीं कर सकता । इसी प्रकार स्त्रियों का कल्याण (उपकार) करने से भी मानव अपनी प्राण रक्षा करने में समर्थ नहीं होता है । संग्राम और स्त्री प्रेम का विरोध है । युद्ध में विजयलाभार्थ मजबूत प्रचुर सुभटों का संग्रह होना चाहिए। सशक्त सैन्यदल होना अनिवार्य है तथा विवेकी पुरुष नारीकृत उपकार को प्राण रक्षा का साधन नहीं समझे ।124॥ राजपुत्र व शुक्र का भी यही अभिप्राय है :-

ईषः कलह कौटिल्यं दम्पत्योर्जायते यदा ।
तथाकोश विदेहंगस्ताभ्यामेव परस्परम् ।।1॥

तावन्मात्रं बलं यस्य नान्यत् सैन्यंकरोति च ।
शत्रुभिर्हीन सैन्यः स लक्षयित्वा निपात्यते ।।1॥

संसार में एक दूसरे के प्रति प्रीति व स्नेह एवं श्रद्धा विनय का प्रदर्शन करते हैं जब तक कि उनके स्वार्थ की सिद्धि नहीं होती । इष्ट प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर कौन किसको पूछता है ? कोई नहीं पूछता ।125॥ अपने से विरोध करने वाले कलहकारी व्यक्ति से समय पर नहीं मिलना ही उसकी शान्ति का उपाय है । अर्थात् शत्रुता करने वाला मनुष्य समय पर न मिलकर काल का उल्लंघन करने पर उसके साथ मधुर भाषण कर वंचित किया जाता है तभी वह शान्त होता है अन्यथा नहीं ।126॥ व्यास और नारद ने भी कहा है :-

सर्वस्य हि कृतार्थस्य मतिरन्या प्रवर्तते ।
तस्मात् सा देवकार्यस्य किमन्यैः पोषितैः विटैः ।।1।।

अशुभस्य पदार्थस्य भविष्यस्य प्रशान्तये ।
कालातिक्रमणं मुक्त्वा प्रतिकारो न विद्यते ।।1।।

जिस प्रकार बुभुक्षा पीडित मनुष्य को भोजन इष्ट-प्रयोजनीय होता है उसी प्रकार कामपीडा से पीडित पुरुष को भी शारीरिक ताप (मैथुनेच्छा) की तृप्ति के लिए स्त्री से प्रयोजन होता है अन्य कोई प्रयोजनीय नहीं होता । अतः उनमें राग व विरोध करने से कोई प्रयोजन नहीं होता । अर्थात् उनके साथ माध्यस्थ भाव रखे । क्योंकि उनमें अत्यासक्त होने पर पुरुष-अपने कर्त्तव्य-राज-काज, धर्म ध्यान दान पूजादि एवं व्यापारादि से विमुख हो जाता है। धार्मिक व आर्थिक क्षति कर बैठता है । एवं उनके साथ विरोध रखने वाला काम पुरुषार्थ से वंचित रह जाता है। अतः स्त्रियों के प्रति माध्यस्थ भाव ही श्रेयस्कर है ।।27।। संसार में समस्त वस्तुएँ यथावसर प्रयोजनीय हुआ करती हैं । तिनका भी मनुष्य के दन्त मैल सफाई के काम में आ सकता है तो क्या मनुष्य से उसका कार्य सिद्ध नहीं होगा ? अवश्य ही होगा । अतएव मनुष्य को उत्तम, मध्यम और अधम सभी कोटि के मनुष्यों के साथ मैत्रीभाव धारण करना चाहिए । अधम-लघु पुरुषों की अवज्ञा कभी नहीं करना चाहिए । "सत्वेषु मैत्री" सिद्धान्त सर्वमान्य और सर्वव्यापी है । गौतम व विष्णु शर्मा ने उक्त दोनों बातों का समर्थन किया है :-

न रागो न विरागो वा स्त्रीणां कार्योविचक्षणैः ।
पक्वान्नमिवतापस्य शान्तये स्याच्च सर्वदा ।।

दन्तस्य निष्कोषणकेन नित्यं कर्णस्य कण्डूयकेन चापि ।
तृणेन कार्यं भवतीश्वराणां किं पाद युक्तेन नरेण न स्यात् ।।1।।

विजयेच्छु पुरुष-राजा अथवा विवेकी पुरुष किसी भी साधारण व्यक्ति के भी लेख-पत्रक आदि की अवज्ञा नहीं करे । क्योंकि राजाओं को शत्रुओं के लेख-पत्रकों द्वारा ही उनकी गति-विधि मनोभावों का पता लगता है। शत्रुओं की चेष्टा अवगत करने के लिए उनके लेखों को प्रधानता देना चाहिए । इसी प्रकार सन्धि-विग्रह व अन्य समस्त व्यापारों की स्थिति का परिज्ञान भी लेखों द्वारा ही होता है ।।29।। राजनीति कुशल नृप सदैव साम्य भाव से सन्धि के ही प्रेमी होते हैं । वे तो पुष्पों से भी संग्राम करना नहीं चाहते फिर शस्त्रों से युद्ध किस प्रकार कर सकते हैं ? नहीं करते । ।।30।। गुरु व विदुर भी इसी प्रकार कथन करते हैं :-

लेख मुख्यो महीपालो लेखमुख्यं च चेष्टितम् ।
दूरस्थस्यापि लेखो हि लेखोऽतो नावमन्यते ।।1।।

पुष्पैरपि न योद्धव्यं किं पुनः निशितैः शरैः ।
उपायपतया ? पूर्वं तस्माद्युद्धं समाचरेत् ।।2।।

स्वामी और दाता का स्वरूप, राजा, परदेश, बन्धुहीन दरिद्र तथा धनाढ्य के विषय में निकट विनाशी की बुद्धि, पुण्यवान, भाग्य की अनुकूलता, कर्मचाण्डाल एवं पुत्रों के भेद :-

स प्रभुर्यो बहून विभर्ति किं मर्जुनतरोः फलसम्पदा या न भवति परेषामुपभोग्या ।।31।। मार्गपादप इव स त्यागी यः सहते सर्वेषां संबाधाम् ।।32।। पर्वता इव राजानो दूरतः सुन्दरालोकाः ।।33।। वातरिमणीयः सर्वोऽपि देशः ।।34।। अधनस्याबान्धवस्य च जनस्य मनुष्यवत्यपि भूमिर्भवति महाटवी ।।35।। श्रीमतो ह्यरण्यान्य पिराजधानी ।।36।। सर्वस्याप्यासन्न विनाशस्य भवति प्रायेणमतिर्विपर्यस्ता ।।37।। पुण्यवतः पुरुषस्य न क्वचिदप्यस्ति दौः स्थ्यम् ।।38।। दैवानुकूलः कां सम्पदं न करोति विघट्यति वा विपदम् ।।39।। असूयकः पिशुनः कृतघ्नो दीर्घरोष इति कर्मचाण्डालाः ।।40।। औरसः क्षेत्रजोदत्तः कृत्रिमोगूढोत्पन्नोऽपविद्धएतेषट् पुत्रा दायादाः पिण्डदाश्च ।।41।। पाठान्तर :- कानीनः सहोढः क्रीतः पौनर्भवः स्वयंदत्तः शौद्रश्चेतिषट् पुत्रान दायादा नापि पिण्डदाश्च ।।41।।

विशेषार्थ :- जो पुरुष सामान्य धन का स्वामी होकर भी उदार चेता है, अनेकों असहायों की सहायता करता है, सबके पालन-पोषण की व्यवस्था में अनुरक्त रहता है वही स्वामी है ।। जो धनाढ्य होकर भी कृपणतावश किसी का उपकार नहीं करता उसका धन अर्जुनवृक्ष के फल समान निरर्थक है । अर्थात् जिस प्रकार अर्जुनवृक्ष का फल किसी के उपभोग में न आकर यों ही नष्ट हो जाता है उसी प्रकार कृपण का प्रभूत धन-वैभव व्यर्थ ही समझा जाता है ।।31।।

जो पुरुष मार्ग के किनारे स्थित वृक्षों की भाँति पथिकों के अनेकों उपद्रवों को सहन करता हुआ भी उनका उपकार करता है उसी प्रकार याचकों के अनेकों उपद्रवों को भी सहनकर उनकी इच्छाओं की पूर्ति करता है वह श्रेष्ठ होता है । अर्थात् जिस प्रकार राह पर स्थित वृक्ष के फल-फूलों पत्तियों को तोडने पर भी वह उसे उत्तम छाया व विश्रान्ति प्रदान करता है उसी प्रकार जो अभ्यागतों के भोजन-शयन आदि की व्यवस्था को उपद्रव न समझकर उनका यथोचित सम्मान ही करता है वही श्रेष्ठ दानी कहलाता है ।।32।। व्यास और गुरु ने भी दाता व स्वामी के विषय में यही कहा है :-

स्वल्पवित्तोऽपि यः स्वामी यो विभर्ति बहून् सदा ।
प्रभूत फल युक्तोऽपि सम्पदाप्यर्जुनस्य च ।।1।।

यथामार्ग तरुस्त द्रत्सहते य उपद्रवम् ।
अभ्यागतस्य लोकस्य स त्यागी नेतरः स्मृतः ।।1।।

भूपति लोग पर्वतों के समान दूर से ही शोभित दिखाई पडते हैं । समीप जाने पर नहीं । अर्थात् जिस प्रकार विशाल भूधर पार्श्ववर्ती अनेकों पल्लवित-पुष्पित वृक्षों से हरा-भरा मनोहर दृष्टिगत होता है, परन्तु जब उसके ऊपर नजदीक जाकर देखा जाता है तो वहाँ अनेकों थूहर आदि कटीले वृक्षों, विशाल चट्टानों कंकरीली राहों से भरा भयङ्कर कष्टप्रद प्राप्त होता है । इसी प्रकार भूपति भी छत्र, चामर, सिंहासन आदि विभूतियों से युक्त दूर से अति रमणीय प्रतीत होता है, परन्तु समीप जाने पर आर्थिक दण्डादि द्वारा पीडित करने वाले कष्टदायक होते हैं । अतः उनसे

दूर रहना ही श्रेष्ठ है ।।33॥ प्रत्येक देश उसके बारे में लोगों के द्वारा नवीन कथा, विन्यास आदि का वर्णन सुनकर सुन्दर प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में वह रमणीयता कितने अंश में है इसकी परीक्षा अवश्य करनी चाहिए । अतः बिना परीक्षा किये ही किसी के कहने मात्र से ही परदेश को गुणयुक्त समझकर स्वदेश का त्याग नहीं करना चाहिए ।।34॥ कहा भी है :-

दुरारोहा हि राजानः पर्वता इव चोन्नताः ।
दृश्यन्ते दूरतो रम्याः समीपस्थाश्च कष्टदाः ।।1॥

गौतमः रचित

दुर्भिक्षाढ्योऽपि दुःस्थितोऽपि दूराजसहितोऽपिच ।
स्वदेशं च परित्यज्यनान्यस्मिंश्चिच्छुभे व्रजेत् ।।

रैम्यः रचित

धन विहीन दरिद्री व्यक्ति का जीवन कष्टसाध्य होता है, उसका जीवन निर्वाह सर्वत्र दुःखद और पीडाकारक होता है अतः सारी पृथ्वी मनुष्यों से युक्त भी भयङ्कर अटवी के समान होती है । क्योंकि दारिद्रय व कुटुम्ब हीनता के कारण उसे सांसारिक सुख प्राप्त नहीं होता । धनाढ्य पुरुष को वनस्थली भी राजधानी के समान सुख देने वाली हो जाती है ।।35-36॥

निर्धनस्य मनुष्यस्य बान्धवैः रहितस्य च ।
प्रभूतैरपि संकीर्णा जनैर्भूमिर्महाटवी ।।1॥

रैम्यः ।।

विनाशकाल आने पर प्रायः सभी की बुद्धि विपरीत हो जाती है, क्योंकि निकट विनाश वाला व्यक्ति अपने हितैषियों से विपरीत-विरोधी हो उनकी निन्दा और शत्रु की प्रशंसा आदि विपरीत कार्य करता है, इससे विदित होने लगता है कि इसका विनाश सन्निकट आया है ।।37॥

भाग्यशाली पुण्यात्मा पुरुषों को विपत्तियाँ कभी भी नहीं आती हैं ।।38।।

पूर्वोपार्जित शुभ कर्म अनुकूल रहने पर भाग्यशाली पुरुष को कौनसी सम्पदा प्राप्त नहीं होती ? सभी सम्पत्तियाँ चरण चूमती हैं । भाग्यवान की कौन-कौनसी विपत्तियाँ नष्ट नहीं होती ? सभी नष्ट होती हैं ।। कहा भी है -

यस्य स्यात् प्राक्तनं कर्म शुभं मनुजधर्मणः ।
अनुकूलं तदा तस्य सिद्धिं यान्ति समृद्धयः ।।1॥

दूसरों की निन्दा करने वाला, चुगलखोर, कृतघ्न-परोपकार को नहीं मानने वाला अर्थात् गुणभेटा और दीर्घकाल तक क्रोध करने वाला ये चारों प्रकार के मनुष्य अनीति करने वाले होने से कर्म चाण्डाल कहलाते हैं ।।40॥ गर्ग ने भी यही कहा है :-

पिशुनो निन्दकैश्चेव कृतघ्नो दीर्घरोषकृत् ।
एते तु कर्म चाण्डाला जात्या चैव तु पञ्चमः ।।1।।

छह प्रकार के पुत्रों को किनको दायादि अधिकार प्राप्त होते हैं ? वे पुत्र इस प्रकार हैं :- 1. औरस-अपनी धर्मपत्नी से उत्पन्न हुआ पुत्र, 2. क्षेत्रज - दूसरे स्थान में धर्मपत्नी से प्रसव हुआ, 3. दत्तक - गोत्रीय परिवार से गोद आया पुत्र, 4. कृत्रिम - बन्धन से मुक्त किया हुआ, 5. गुढोत्पन्न - गूढगर्भ से उत्पन्न हुआ और 6. अपविद्ध - पति के अन्यत्र चले जाने पर होने वाला पुत्र । इन छहों प्रकार के पुत्रों को दायाद अर्थात् पैतृक सम्पत्ति करने का अधिकार होता है । पिता के स्वर्गारोहण होने के पश्चात् उसकी स्मृति में अन्नादि (पिण्ड) का दान करने के ये अधिकारी होते हैं ।।41।। अन्य नीतिकारों ने भी कहा है :-

और सो धर्मपत्नीतः संजातः पुत्रिका सुतः ।
क्षेत्रजः क्षेत्रजातः स्वगोत्रेणेतरेण वा ।।1।।

दधान्माता पिता बन्धुः स पुत्रो दत्त संज्ञितः ।
कृत्रिमो मोचितो बन्धात् क्षत्रयद्धेन वा जितः ।।2।।

गृह प्रच्छन्नकोत्पन्नो गूढजस्तु सुतः स्मृतः ।
गते मृतेऽथवोत्पन्नः सोऽपविद्ध सुतः पतौ ।।3।।

इसी के पाठान्तर का अर्थ निम्न है :-

1. कानोन - कन्या से उत्पन्न पुत्र, 2. सहोढ (दामाद), 3. क्रीत-मोल खरीदा हुआ, 4. पौनर्भव-विधवा से उत्पन्न हुआ, 5. स्वयं दत्त और 6. शूद्रा से जन्मा ये पुत्र अधम हैं । इन्हें पैत्रिक सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकार नहीं है, और न ये पिता के मरने पर उसकी स्मृत्ति में अन्नदान देने के अधिकारी हैं ।।41।।

दायभाग के नियम, अतिपरिचय, सेवक के अपराध का फल, महत्ता का दूषण :-

देशकाल कुलापत्यस्त्रीसमापेक्षो दायाद विभागोऽन्यत्र यतिराजकुलाभ्यां ।।42।। अतिपरिचयः कस्यावज्ञां न जनयति ।।43।। भृत्यापराधे स्वामिनोदण्डो यदिभृत्यं न मुञ्चति ।।44।। अलं महत्तया समुद्रस्य यः लघुं शिरसा वहत्यधस्ताच्च नयति गुरुम् ।।45।।

विशेषार्थ :- आचार्यकुल और राजकुल को वर्जित कर दायभाग (पैतृक सम्पत्ति प्राप्त करना) ये अधिकारियों में देश, काल, पुत्र, स्त्री व शास्त्र की अपेक्षा भेद होता है । अर्थात् भिन्न-भिन्न देशों और कुलों में दायाधिकारी एक समान नहीं होते हैं । यथा केरल देश में पुत्र उपस्थित रहने पर भी भाग्नेय-भानजा पैतृक सम्पत्ति का अधिकारी होता है । अन्य नहीं । किन्हीं-किन्हीं कुलों में दुहिता-पुत्री का पुत्र दायाधिकारी होता है इत्यादि और भी नियम यथायोग्य रहते हैं । परन्तु आचार्यकुल में उसका प्रधान शिष्य (जैन दिगम्बराम्राय के अनुसार प्रमुख दीक्षित मुनि ही आचार्य परम्परा की पदवी के योग्य माना गया है । अन्य नहीं इसी प्रकार राजकुल में प्रधान महिषी-पटरानी से उत्पन्न ज्येष्ठ पुत्र ही राज्याधिकारी होगा अन्य नहीं ।।42।। गुरु ने भी कहा है :-

देशाचाराननाचारौ स्त्रियापेक्षासमन्वितौ ?
दैवो दायादभागस्तु तेषां चैवानुरुपतः ।।1।।

एकस्मैदीयते सर्वं विभवं रूप सम्भवम् ।
यः स्याददभुतस्तु सर्वेषां तथा च स्याद् समुद्भवः ।।2।।

अधिक घनिष्ट संसर्ग-परिचय से किसकी अवज्ञा नहीं होती ? सभी की होती है ।।43।। यदि भृत्य-सेवक अपराध करे और उसका स्वामी उसे अपने पास ही स्थान आश्रय देवे तो वह स्वामी दण्ड का पात्र होता है क्योंकि अपराधी का पक्षपाती भी अपराधी माना जाता है । यदि राजा या स्वामी अपने नौकर को नहीं रखता निकाल देता है तो वह अपराधी नहीं है ।।44।। वल्लभदेव व गुरु ने भी अतिपरिचय और नौकर के विषय में कहा है :-

अतिपरिचयादवज्ञाभवति विशिष्टेऽपि वस्तुनि प्रायः ।
लोकः प्रयागवासी कूपे स्नानं समाचरति ।।

यः स्वामी न त्यजेदभृत्यमपराधे कृते सति ।
तस्य परितो दण्डो दुष्टभृत्य समुद्भवः ।।1।।

उस सागर की विशालता-महत्ता से क्या प्रयोजन ? कुछ भी नहीं । क्योंकि जो रत्नाकर तिनकों को ऊपर शिर पर धारण करे और दीर्घ भारी वस्तुओं की नीचे डुबा दे । इसी प्रकार साधारण लोगों को सम्मानित करने वाला और पूज्य-बडे पुरुषों का अपमान करने वाला स्वामी भी निंद्य है ।।45।। कहा भी है :-

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यानामपमानता ।
त्रीणि तत्र प्रवर्तन्ते दुर्भिक्षं मरणं भयम् ।।

अर्थात् जहाँ सामान्यजनों की पूजा और पूज्य महापुरुषों का अपमान हो, वहाँ अकाल, मृत्यु और भय वृद्धि को प्राप्त होते हैं । विष्णु शर्मा ने भी कहा है :-

स्थानेष्वेन नियोज्यन्ते भृत्याश्च निजपुत्रकाः ।
न हि चूडामणिंपादे कश्चिदेवात्र संन्यसेत् ।।1।।

अर्थ :- सेवक और पुत्रों को यथायोग्य स्थानों पर नियुक्त करना चाहिए । तभी शोभा है, क्योंकि चूडामणि को पैरों में कौन धारण करेगा ? कोई भी सुबुद्ध नहीं पहनेगा । वह तो शीश पर लगाने से ही शोभित होता है ।।1।।

रति आदि की बेला, पशुओं के प्रति वर्ताव, मत्त गज व अश्व की क्रीडा एवं ऋण :-

रतिमन्त्राहारकालेषु न कमप्युपसेवेत ।।46।। सुष्ठुपरिचितेष्वपि तिर्यक्षु विश्वासं न गच्छेत् ।।47।। मत्तवारणारोहिणो

जीवितव्ये सन्देहो निश्चितश्चापाय: ।।48।। अत्यर्थं हयविनोदोऽङ्गभङ्गमनापाद्य न तिष्ठति ।।49।। ऋण मददानो दासकर्मणा निर्हरेत् ।।50।। अन्यत्र यतिब्राह्मण क्षत्रियेभ्य: ।।51।।

विशेषार्थ :- तीन कार्यों - 1. रति क्रीडा, 2. मन्त्राराधना और 3. भोजन करते हुए व्यक्ति के पास नहीं जाना चाहिए । क्योंकि इन कालों में आने से द्वेष उत्पन्न होता है । यदि कोई काम-सेवन (मैथुन) करने वाले के समीप जाता है तो लज्जावस वह उस आगन्तुक के साथ द्वेष भाव करेगा । मन्त्रसाधना के समय आने पर साधक मन्त्रभेद की आशंका से वह उसे द्वेष का पात्र समझेगा और यदि भोजन बेला में कोई आया और उस समय भोजनकर्ता ने लालच से अधिक भोजन कर लिया जिससे कि उसे वमन (उलटी) अथवा उदर शूल हो गया तो आगत पुरुष का दृष्टि दोष समझकर उससे घृणा करने लगेगा । अतएव उपर्युक्त तीनों कालों को टाल कर किसी से मिलना चाहिए ।।46।। सींगवाले गाय आदि पशुओं पर विश्वास नहीं करना चाहिए, भले ही वे चिर-परिचित ही क्यों न हो ।।47।। कहा भी है :-

शुक्र ने कहा ।।

रति मन्त्रासन विधिं कुर्वाणो नोपगम्यते ।
अभीष्टतमश्च लोकोऽपि यतो द्वेषमवाप्नुयात् ।।1।।

वल्लभदेव- **सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिने: ।**
मीमांसाकृतमुन्ममाथ तरसा हस्ती मुनिं जैमिनि ।।1।।
छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिंगलम् ।
चाज्ञानावृतचेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्चांगुणै: ।।1।।

अर्थ :- व्याकरणाचार्य पाणिनी का प्राणान्त सिंह ने किया, मीमांसा कर्त्ता जैमिनि का वध उन्मत्त हाथी ने, छन्द शास्त्र निर्माता पिंगल को सागर तट पर मगर ने विदारण किया । अत: अज्ञानी बेचारे मूक तिर्यञ्चों से स्वयं ही सावधान रहना चाहिए ।

जो व्यक्ति मदगलन से उन्मत्त गज पर आरोहण करता है उसका जीवन खतरे में रहता है और यदि शुभ भाग्य से वह जीवन्त रह भी जाये तो उसके अङ्ग-भङ्ग तो अवश्य ही होते हैं ।।48।। अश्वारोहण करने वाला यदि उसके साथ अधिक विनोद-क्रीडा करता है तो वह फिर आरोही (सवार) के हाथ-पाँव तोडे बिना नहीं रहता ।।49।। गौतम व रैभ्य ने कहा है :-

यो मोहान्मत्त नागेन्द्रं समारोहति दुर्मति: ।
तस्य जीवितनाश: स्याद् गात्रभंगस्तु निश्चित: ।।1।।

अत्यर्थं कुरुते यस्तु वाजिक्रीडां स कौतुकाम् ।
गात्रभंगोभवेत्तस्य रैभस्य वचनं यथा ।।1।।

जो पुरुष किसी से ऋण लेकर उसे बिना चुकाये ही कालकवलित हो जाता है, उसे भावी (अगले) भव में उस ऋणदाता का सेवक (दास) होकर चुकाना पडता है । परन्तु साधु, ब्राह्मण व क्षत्रियों पर यह नियम लागू नहीं होता है। अतएव वे ऋणी नहीं रहते हैं । इसका कारण यह है कि साधुओं व विद्वान ब्राह्मणों से धनेश्वरों-ऐश्वर्यवानों का हितसाधन होता रहता है । अतः वे ऋणी नहीं रहते ।। इसी प्रकार क्षत्रिय राजा लोग जो प्रजा से न्यायोचित टैक्स आदि लेते हैं वह ऋण नहीं कहा जाता है ।।50-51॥ नारद ने भी कहा है :-

ऋणं यच्छति नो यस्तु धनिकाय कथंचन ।
देहान्तरमनुप्राप्तस्तस्य दासत्वमाप्नुयात् ।।1॥

व्याधिग्रस्त शरीर, साधु जीवन-धारी महापुरुष, लक्ष्मी, राजाओं का प्रिय व नीच:-

तस्यात्मदेह एव वैरीयस्य यथालाभमशनं शयनं च न सहते ।।52॥ तस्य किमसाध्यं नाम यो महामुनिरिव सर्वान्नीनः सर्वक्लेश सहः सर्वत्र सुखशायी च ।।53॥ स्त्री प्रीतिरिव कस्य नामेयं स्थिरा लक्ष्मीः ।।54॥ परपैशून्योपायेनराज्ञां वल्लभोलोकः ।।55॥ नीचोमहत्त्वमात्मनो मन्यते परस्य कृते नापवादेन ।।56॥

विशेषार्थ :- जिसका शरीर रुग्ण-रोगी होने से यथायोग्य भोजन, शयन (निद्रा) लाभ नहीं कर सकता वह सुखदायक नहीं, अपितु दुःख देने वाला शत्रु ही समझना चाहिए । अर्थात् जिस प्रकार शत्रु के भय से मनुष्य न तो प्रीतिपूर्वक भोजन करने का आनन्द ले सकता है और न ही निश्चिन्त हो निद्रा का सुखानुभव ही करने में समर्थ होता है ।।52॥ उस पुरुष को संसार में कौनसा कार्य असाध्य है ? जो महापुरुष महा-मुनियों की भाँति उत्तम, मध्यम-जघन्य प्रकार के शुद्ध भक्ष्य अन्न का भोजन करने की रुचि वाला हो, तथा समस्त प्रकार के शीत, उष्ण, आदि कष्टों को सहन करने में सक्षम हों, एवं सर्वत्र पाषाण भूमि-फलकादि पर सुखपूर्वक शयन करने में समर्थ हों ? इस प्रकार की रुचि वालों को संसार में कोई भी कार्य दुर्लभ व असाध्य नहीं होता ।।53॥ सांसारिक वैभव व लक्ष्मी स्त्री के प्रेम समान क्षणभंगुर-अस्थिर-नाश युक्त है ।।54॥ जैमिनि व गुरु ने भी कहा है :-

भोजनं यस्य नो याति परिणामं न भक्षितं
निद्रा सुशयने नैति तस्य कायो निजोरिपुः ।।1॥

नारुचिः क्वचिद्धान्ये तदन्तेऽपि कथंचन ।
निर्व्रांकुशं हि तस्याऽपि स समर्थः सदाभवेत् ।।1॥

राजा लोग प्रायः कान के कच्चे होते हैं । इसीलिए कहा है कि राजाओं को वे ही लोग वल्लभ-प्रियपात्र होते हैं जो उनके समक्ष अन्य लोगों की चुगली किया करते हैं ।।55॥ नीच या तुच्छ पुरुष स्वभाव से ही परनिन्दा कर स्वयं को महान मानते हैं ।।56॥ हारीत व जैमिनि ने भी कहा है :-

पैशून्ये निरतो लोको राज्ञां भवति वल्लभः ।
कातरोऽप्यकुलीनोऽपि बहुदोषान्वितोऽपि च ।।1॥

आत्मानं मन्यते भद्रं नीचैः परापवादतः ।
न जानाति परे लोके पाते नरक सम्भवम् ।।1।।

गुणों का महत्व, महापुरुष, सदसद् संगति का फल, प्रयोजनार्थी, निर्धन का धनी के प्रति कर्त्तव्य :-

न खलु परि माणोरल्पत्वेन महान् मेरुः किन्तु स्वगुणेन ।।57।। न खलु निर्निमित्तं महान्तो भवन्ति कलुषितमनीषाः ।।58।। स खन्हे प्रभावो यत्प्रकृत्या शीतलमपि जलं भवत्युष्णं ।।59।। सुचिर स्थायिनं कार्यार्थी वा साधुपचरेत् ।।60।। स्थितैः सहार्थोपचारेण व्यवहारं न कुर्यात् ।।61।। सत्पुरुष पुरश्चारितया शुभमशुभं वा कुर्वतो ना स्त्यपवादः प्राणव्यापादो वा ? ।।62।।

विशेषार्थ :- सुमेरु पर्वत की महानता परमाणु की लघुता से नहीं है, अपितु स्वयं उसी की उच्चता, रमणीयता व पवित्रतादि गुणों से है, उसी प्रकार मनुष्य की महानता व गौरवता उसके गुणों-विद्वत्ता, सरलता, उदारता, सदाचार आदि सद्गुणों से आंकी जाती है न कि दुष्टों की दुष्टता से । अर्थात् सरोवर को तुच्छ कहने से सागर की गरिमा या विशालता नहीं मानी जाती अपितु स्वयं उसका विस्तार उसे विशाल कहता है उसी प्रकार किसी व्यक्ति विशेष की निन्दा करने या उसे लघु कहने से अन्य को महान या पूज्य नहीं बनाया जा सकता ।।57।। महापुरुष अकारण विकारभाव को प्राप्त नहीं होते । स्वभाव से वे निर्मल चित्त व उज्जवल बुद्धि धारण करते हैं । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मच्छरों के समान दुष्ट अभिप्राय वाले बिना प्रयोजन के ही रुष्ट हो पीडाकारक हो जाते हैं उस प्रकार सतपुरुष नहीं होते । वे किसी कारण विशेष होने पर ही कुपित होते हैं ।।58।। कहा भी है :-

नीचेन कर्मणा मेरुर्न महत्व मुपागतः ।
स्वभाव नियतिस्तस्य यथा याति महत्वताम् ।।1।।

गुरु द्वारा

न भवान्त महात्मानो निर्निमित्तं क्षुधान्विताः ।
निमित्तेऽपि संजाते यथान्ये दुर्जनाः जनाः ।।1।।

भारद्वाजः ।।

स्वभाव से सुशीतल जल भी अग्नि के संस्कार से उष्ण हो जाता है, उसी प्रकार दुर्जनों की दुष्टता से स्वभाव से शान्तिप्रिय शान्त-दान्त महापुरुष भी क्षुभित-कुपित हो जाते हैं । दुष्टों की संगति का असर उन्हें भी प्रभावित कर ही देता है ।।59।। वल्लभ देव ने भी कहा है :-

अश्वः शस्त्रं शास्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च ।
पुरुष विशेषं लब्धवा भवन्ति योग्या अयोग्याश्च ।।1।।

अर्थ :- घोटक (घोडा) हथियार, शास्त्र (आगम) वीणा और वाणी एवं पुरुष व नारी ये पुरुष विशेष को (शुभ-अशुभ) प्राप्त कर योग्य व अयोग्य होते हैं । अर्थात् सत्संगति और कुसंगति से अच्छे-बुरे हो जाते हैं ।।1।।

अपने प्रयोजन की सिद्धि के इच्छुक पुरुष को योग्य एवं स्थिर चित्त वाले पुरुष की सेवा करने में दत्तचित्त होना चाहिए जिससे कि वह उसके प्रयोजन की सिद्धि में सहायक बना रहे ।160॥ शुक्र ने भी कहा है :-

कार्यार्थी वा यशोर्थी वा साधु संसेवयेत्स्थिरम् ।
सर्वात्मना ततः सिद्धिः सर्वदा यत् प्रजायते ।।1॥

निर्बल व दरिद्र पुरुष को स्थिरशील-धनवान पुरुषों के साथ धन देने का व्यवहार नहीं करना चाहिए । इससे उसकी आर्थिक क्षति-व्यय नहीं होने पाती । अभिप्राय यह है कि धनवान के साथ आर्थिक लैन-दैन का व्यवहार करने से उसके पद-योग्यतानुसार व्यय करना पडेगा और स्वयं के पास उतनी राशि है नहीं तो और दारिद्रय ही घेर लेगा । अतः समवर्तियों के साथ ही धनादि का लेन-देन वाला व्यवहार करना चाहिए ।161॥ गुरु ने भी कहा है :-

महद्भिः सह नो कुर्याद् व्यवहारं सुदुर्बलः ।
गतस्य गोचरं तस्य न स्यात् प्राप्त्या महान व्ययः ।।1॥

महापुरुषों की संगति का माहात्म्य अद्भुत प्रभावशाली होता है, महात्माओं के आश्रित रहने वाला पुरुष असावधानी या प्रमादवश यदि कोई अपराध व अयोग्य कार्य भी कर बैठता है तो उसे लोकापवाद का पात्र नहीं बनना पडता । अर्थात् उसकी निन्दा नहीं होती और प्राणदण्ड जैसा दण्ड भी प्राप्त नहीं होता ।162॥

प्रयोजनार्थी दोष नहीं देखता, चितापहारी वस्तुए, राजा के प्रति कर्त्तव्यः-

सपदि सम्पदमनुबध्नाति विपच्च विपदं ।163॥ गोरिवदुग्धार्थी को नाम कार्यार्थी परस्पर विचारयति ।164॥ शास्त्रविदः स्त्रियश्चानुभूतगुणाः परमात्मा नं रञ्जयन्ति ।165॥ चित्रगतमपि राजानं नावमन्येत क्षात्रं हि तेजो महती सत्पुरुष देवता स्वरुपेण तिष्ठति ।166॥

विशेषार्थ :- सम्पदा सम्पत्ति बढाती है और विपत्ति आपत्तियों को आह्वान करती है । अभिप्राय यह है कि सत्पुरुषों का समागम तत्काल सम्पत् प्रदान कराता है और विपत्तियों का नाश करता है ।163॥ हारीत ने भी कहा है :-

महापुरुष सेवायामपराधेऽपि संस्थिते ।
नापवादोभवेद् पुंसांन च प्राणवधस्तथा ।।1॥

शीघ्रं समान ! नः यो लक्ष्मी र्नाशयेद्व्यसनं महत् ।
सत्पुरुषे कृता सेवा कालेनापि चनान्यथा ।।2॥

संसार में स्वार्थी-प्रयोजनार्थी पुरुष कौन ऐसा होगा जो अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए दूध की चाहना वाले के समान गाय के विषय में विचार नहीं करने । सदृश मनुष्य के विषय में विचार करता हो ? कोई नहीं

करता । अर्थात् जिस प्रकार गाय का दूध चाहने वाला व्यक्ति गाय के आचार-विचार गोत्र के सम्बन्ध में विचार नहीं करता, अपितु गाय दुह कर अपने कार्य की सिद्धि करता है उसी प्रकार प्रयोजनार्थी भी "अर्थी दोषा न पश्यति" युक्ति के अनुसार दूसरे के आचार-विचारादि के दोषों की ओर दृष्टि न रखकर अपने प्रयोजन की सिद्धि पर ही दृष्टि रखता है, तभी सिद्धि प्राप्त करता है ।164॥ शुक्र ने भी कहा है :-

कार्यार्थी न विचारं च कुरुते च प्रियान्वितः ।
दुग्धार्थी चयशो धेनोरमेध्यास्य प्रभक्षणात् ।।1॥

जिसके विशिष्ट एवं विस्तृत ज्ञान व सदाचार आदि गुणों का परिचय प्राप्त किया है एकानेक अनेक श्रेष्ठ गुणों की परख कर ली है ऐसे विद्वान पुरुष को कमनीय कान्ताएँ अत्यन्त रञ्जायमान-प्रसन्न करती हैं ।165॥ चित्र चित्रित (फोटों) राजा का भी तिरस्कार नहीं करना चाहिए । क्योंकि उसमें ऐसा अपूर्व क्षात्र तेज विद्यमान रहता है जो क्षत्रिय वीरों के अंग में देवता रूप में विद्यमान रहता है । कहा भी जाता है "सर्व देव मयो राजा ।" अतः देव प्रतिमा समान नृपति के चित्र व विम्ब का भी सम्मान करना चाहिए ।166॥ शुक्र व गर्ग ने भी यही कहा है :-

स्त्रियं वा यदि वा किञ्चिदनुभूय विचक्षणाः ।
आत्मानं चापरं वापि रञ्जयन्ति न चान्यथा ।।1॥

नावमन्येत भूपालं हीनकोशं सुदुर्बलम् ।
क्षात्रं तेजोयतस्तस्य देवरुपं ततो वसेत् ।।1॥

विचारपूर्वक कार्य न करने व ऋणी रहने से हानि, नया सेवक, प्रतिज्ञा, निर्धन अवस्था में उदारता, प्रयोजनार्थी एवं पृथक् किये हुए सेवक का कर्त्तव्य :-

कार्यमारम्यपर्यालोचः शिरो मुण्डयित्वा नक्षत्र प्रश्न इव ।167॥ ऋणशेषाद्रि पुशेषादिवावश्यं भवत्यायात्यां भयम् ।168॥ नव सेवकः को नाम न भवति विनीतः ।169॥ यथा प्रतिज्ञं को नामात्र निर्वाहः ।।170॥ अप्राप्तेऽर्थे भवति सर्वोऽपि त्यागी ।171॥ अर्थार्थी नीचैराचराणान्नोद्विजेत् किन्नाधो व्रजति कूपेजलार्थी ।172॥ स्वामिनोपहतस्य तदाराधनमेव निर्वृत्ति हेतु जनन्या कृतविप्रियस्य हि बालस्य जनन्येव भवति जीवित-व्याकरणम् ।173॥

विशेषार्थ :- जो मनुष्य कार्य-आरम्भ करने के अनन्तर उसके लाभा-लाभ के विषय में विचार करते हैं वे मूर्ख उसी प्रकार मूढ ने जैसे जो शिर मुडा कर नक्षत्र, लग्न, मुहूर्त घडी आदि का विचार करने बैठे । अर्थात् जिस प्रकार शिरमुडन आदि क्रिया करने के पश्चात् शुभ दिन, घडी, लग्नादि का विचार करना व्यर्थ है उसी प्रकार कार्यारम्भ करके उसके शुभाशुभ के सम्बन्ध में विचार करना निरर्थक है । लाभ या हानि का विचार करने से कोई लाभ नहीं होता । कहावत है "उतावला सो बावरा" जल्दी का काम शैतान का होता है । कहा भी है - "बिना विचारे जो करे, सो पाछे पछताय ।" काम बिगाडे आपनो जग में होय हंसाय ।।" इस प्रकार के कार्य हृदयशल्य कांटे के चुभने के समान कष्टदायक होता है ।167॥

शत्रु और ऋण को जड मूल के समाप्त करना सुख शान्ति का हेतू है । जो पुरुष शत्रु को जीवित रखने के समान ऋण (कर्ज) को भी बाकी रखता है, उसे भविष्य में भय का शिकार होना पडता है अतः सुखेच्छु को अग्नि, रोग, शत्रु और ऋण इन चारों वस्तुओं को कष्टदायक समझकर मूल से सर्वथा नष्ट करना चाहिए ।। क्योंकि तनिक भी बाकी रहने पर ये महान कष्ट देने वाली होती हैं ।168॥ नारद ने भी यही कहा है :-

अनारम्भेण कृत्यानामालोचः क्रियते पुरा ।
आरम्भे तु कृते पश्चात् पर्यालोचो वृथाहि सः ।।1॥

ऐसा कौन सेवक होगा जो प्रारम्भ में नम्रता का प्रदर्शन नहीं करता ? प्रायः सभी करते हैं । अभिप्राय यह है कि प्रारम्भ में सेवक अपने स्वामी को प्रसन्न रखने के लिए नाना प्रकार के प्रलोभनों, चापलूसी आदि करके विनम्र व्यवहार करता है । स्वामी को विश्वस्त रखने या करने का वह सतत प्रयत्नशील रहता है । पश्चात् नाना प्रकार के विकृत कार्यों में संलग्न हो प्रमादी-आलसी हो जाता है । अतः नवीन सेवक पर विश्वास नहीं करना चाहिए ।169॥ वल्लभदेव ने भी कहा है -

अभिनव सेवक विनयैः प्राघूर्णिकोक्तै र्विलासिनीरुदितैः।
धूर्तजन वचन निकरैरिह कश्चिद्वञ्चितो नास्ति ।।1॥

इस दुष्कर कालिकाल में कौन पुरुष अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह करता है ? कोई नहीं करता । अतः सम्यक् प्रकार पूर्वापर विचार कर प्रतिज्ञा करनी चाहिए और पूर्ण दृढता से उसका निर्वाह करना चाहिए । अन्यथा प्रतज्ञा भङ्ग होने से पुण्यक्षीण हो जाता है ।170॥ वैभव का भूत जब तक सवार नहीं होता, दरिद्र दशा के विशेष मनोरथों का प्रदर्शन करते हैं कि मैं भी धनाढय होता तो अवश्य ही पूजा, दान, जिनप्रतिमा जिनालय निर्माण कराता , प्रचुर दान प्रभावना करता आदि ।171॥ नारद ने भी कहा है :-

प्रतिज्ञां यः पुरा कृत्वा पश्चाद् भंगं करोति च
ततः स्याद् गमनिश्च हसत्येव जानन्ति के ? ।।1॥

रैम्य ने भी कहा है :-

दरिद्रः कुरुते वाञ्छां सर्वदान समुद्भवाम् ।
यावन्नाप्नोति वित्तं स वित्ताप्त्या निपुणो भवेत् ।।1॥

स्वार्थी मनुष्य विषयान्ध के समान अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए नीच आचरण से भयभीत नहीं होते । क्या जलाभिलाषी मनुष्य कूप खनन के प्रयास में निम्न तल में नहीं जाता ? जाता ही है । अभिप्राय यह है कि स्वार्थी इष्ट प्रयोजन सिद्धि के लिए उत्तम आचरण ही श्रेयस्कर है ।172॥ शुक्र ने भी कहा है :-

निः सारितस्य भृतस्य स्वामिनिर्वृतिकारणम् ।
यथा कुपितया मात्रा बालस्यापि च सागतिः ।।1।।

जिस प्रकार अपराधी बालक माता द्वारा तिरस्कृत किये जाने पर भी वह माता ही उसके जीवन की रक्षक होती है । उसी प्रकार सेवक के अपराध किये जाने पर सेवक की जीवन रक्षा उसके द्वारा की जाने वाली स्वामी की सेवा-सुश्रुषा द्वारा ही होती है ।73॥ शुक्र ने भी यही किया है :-

निः सारितस्य भृतस्य स्वमिनिर्वृतिकारणम् ।
यथा कुपितया मात्रा बालस्यापि च सा गतिः ।।1।।

माँ की ममता संसार प्रसिद्ध है । अपने बच्चे के प्रति उसका असीम प्यार होता है । इसी प्रकार अपनी सन्तान का सर्वाङ्गीन विकास करने में भी अथक परिश्रम करती है । यही भावना उपर्युक्त वार्तिक में स्पष्ट की है । बालक के अपराध करने पर माता उसे जो कुछ डाट-फटकार करती है उसका उद्देश्य उसे निर्दोष बनाकर उच्च, महान, आदर्श महापुरुष बनाना है ।।

इति श्री प्रकीर्णक - समुद्देश

इति श्री प्रातः स्मरणीय परमपूज्य चारित्र चक्रवर्ती, मुनिकुञ्जर सम्राट्, विश्ववंद्य, दिगम्बर जैनाचार्य श्री 108 आचाय परमेष्ठी आदिसागर जी अंकलीकर के पट्टशिष्य परम पूज्य तीर्थभक्त शिरोमणि, 18 भाषा-भाषी, तार्किक चूडामणि, उद्भटविद्वान, घोरोपसर्ग विजेता, परम तपस्वी श्री 108 आचार्य महावीर कीर्ति जी महाराज की संघस्था, परम पूज्य वात्सल्य रत्नाकर, सन्मार्ग दिवाकर, कलिकाल सर्वज्ञ श्री 108 आचार्य विमलसागर जी की शिष्या वर्तमानसदी की प्रथमगणिनी, ज्ञान चिन्तामणि 105 आर्यिका विजयामती जी द्वारा नीतिवाक्यामृत की हिन्दी विजयोदय टीका का 32वाँ प्रकीर्णक समुद्देश, परम पूज्य भारतगौरव, वात्सल्य रत्नाकर घोर तपस्वी सम्राट्, सिद्धान्त चक्रवर्ती, महोपवासी कठोर परीषह-उपसर्ग विजेता श्री 108 आचार्य अंकलीकर के तृतीय पट्टाधीश श्री सन्मति सागर जी महाराज के परम् पावन चरण सान्निध्य में समाप्त किया ।

।। समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।।

"यह ग्रन्थ समाप्त हुआ"

।।ॐ नमः शान्ति ॐ नमः शान्ति ॐ नमः शान्ति ।।

मिती पौष वदी एकम चन्द्रवार (सोमवार) प्रातः काल श्री 1008 आदिनाथ जिनेश्वर चरणारविन्द सान्निध्य में ता. 19-12-94 वीर सं. 2521 शुभ बेला में समाप्त किया ।। जयपुर (राजस्थान) चातुर्मास काल में ।। छोटे दीवानजी का श्री आदिनाथ जिनालय ।।

[redacted] ग्रन्थकार की प्रशस्ति [redacted]

इति सकलतार्किक चक्रचूड़ामणि चुम्बित चरणस्य पञ्च, पञ्चाशन्महावादि विजयोपार्जित कीर्ति मन्दाकिनी पवित्रित त्रिभुवनस्य, परम तपश्चरण रत्नोदन्वत: श्री मन्नेमिदेवभगवत: प्रियशिष्येण वादीन्द्रकालानल श्री मन्महेन्द्र देव भट्टारकानुजेन, स्याद्वादाचलसिंह-तार्किक चक्रवर्ती वादीभ पञ्चानन-वाक्कल्लोलपयोनिधि कविकुल राजप्रभृति प्रशस्ति प्रशस्तालङ्कारेण, षण्णवति प्रकरण युक्ति चिन्तामणि सूत्र महेन्द्रमातलि संजल्प यशोधर महाराज चरितमहाशास्त्र वेधसा श्री सोमदेवसूरिणा विरचितं (नीतिवाक्यामृतं) समाप्तमिति ।।

अर्थ :- सम्पूर्ण तार्किक-समूह में चूडामणि-शिरोरत्न-श्रेष्ठतम आभूषण, विद्वानों द्वारा पूजित हैं चरण सरोज जिनके, पचपन महान वादियों पर विजयलक्ष्मी से उपार्जित धवलकीर्ति रुपी जाहवी से पावन किये हैं तीनों भुवनों को जिन्होंने एवं परमतपश्चरण रूप रत्नों के रत्नाकर (सागर) ऐसे श्री मत्पूज्य नेमिदेव भगवान के प्रिय शिष्य ''वादीन्द्रकालानल'' (बड़े-बड़े वादियों के लिए जो प्रलयकालीन अग्नि सदृश हैं) उपाधि विभूषित श्रीमान् महेन्द्रदेव भट्टारक के अनुज-लघुभ्राता, ''स्याद्वादाचलसिंह'' (स्याद्वादरूप विशाल पर्वत के सिंह), तार्किक चक्रवर्ती, ''वादीभपंचानन'' (वादीरूप गजों के गर्वोन्मूलन करने के लिए शेर समान), ''वाक्कल्लोपयोनिधि'' (सुक्ति-तरङ्गों के सागर) ''कविकुलराज'' इत्यादि प्रशस्तियाँ (उपाधियाँ) ही हैं प्रशस्त आभूषण जिनके तथा षण्णवतिप्रकरण (96 अध्याय वाला शास्त्र), युक्ति चिन्ता मणि (दार्शनिक ग्रन्थ) त्रिवर्गमहेन्द्रमातलिसंजल्प (धर्मादि पुरुषार्थ तीनों के निरुपक नीतिशास्त्र) और यशोधर महाराज चरित्र (यशस्तिलक चम्पू) इन महाशास्त्रों के वृहस्पति समान रचयिता श्रीमत्सोमदेवसूरि द्वारा रचा गया यह ''नीति वाक्यामृत'' समाप्त हुआ ।

अल्पेऽनुग्रहधी: समे सुजनता मान्ये महानादर:, सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्रचरिते श्री सोमदेवे मयि । य: स्पर्धेत तथाऽपि दर्पदृढता प्रौढ़िप्रगाढ़ाग्रहस्तस्यारवर्वितगर्व पर्वत पविर्मद्राक् कृतान्तायते ।।1 ॥

सकल समय तर्के नाकलङ्कोसि वादी, न भवसि समयोक्तौ हंस सिद्धान्त देव: ।

न च वचन विलासे पूज्यपादोऽसि तत्वं, वदसि कथमिदानी सोमदेवेन सार्धम् ।।2 ॥

दुर्जनांघ्रिप कठोरकुठारस्तर्क कर्कश विचारणसार:

सोमदेव इव राजनि सूरिर्वादिमनोरथ भूरि: ।।3 ॥

संशोधित व परिवर्तित दर्पान्ध बोधबुध सिन्धुर सिंहना दे, वादिद्विपोद्दलनदुर्धर वाग्विवादे । श्री सोमदेवमुनिपे वचना रसाले, वागीश्वरोऽपि पुरतोऽस्ति न वादकाले ।।4 ॥

अर्थ :- अपने से जो अल्पबुद्धि वाले हैं उनके प्रति अनुग्रह बुद्धि रखना अनिवार्य है । अपने बराबर आयु वित्त बुद्धि वालों के साथ सज्जनता और पूज्य महापुरुषों के साथ महान् विनय सम्मान-भक्ति का वर्ताव करना चाहिए। यह उच्च व चित्र चारित्रधारी उदात्त मुझ (सोमदेव) का सिद्धान्त है । तथाऽपि जो व्यक्ति अत्यधिक अहंकार से--गर्व से गर्विष्ठ हुए दुराग्रही होकर मुझसे स्पर्द्धा करते हैं - अकड दिखाते हैं उनके अहं रूप पर्वत को भेदन करने के लिए मेरे वचन वज्र के समान कराल काल मृत्यु तुल्य आचरण करते हैं ।।1॥ हे वाद-विवाद की खाज खुजाने वाले न तो तू समस्त शास्त्रों-दर्शनशास्त्रों पर तर्क करने के लिए अकलङ्क देव के समान है, और न ही तू जैन सिद्धान्त निरुपण करने के लिए "हंससिद्धान्त देव" है । और न व्याकरण में पूज्यपाद के समान उसका पारदर्शी है, फिर इस समय में सोमदेवसूरि के साथ किस बूते पर वार्तालाप करने को तैयार हुआ है ।।2॥ श्री सोमदेव सूरि राजा के समान शुभ्र गुण-विभूषित हैं, क्योंकि वे दुर्जन रूपी कटीले वृक्षों को जड़ मूल से उखाड़ फेंकने निग्रह करने में तीक्ष्ण कुठार, तर्कशास्त्र-न्यायशास्त्र और दर्शनशास्त्र में परम प्रवीण हैं । जिस प्रकार राजा राजनीतिशास्त्र पारंगत होने पर अन्याय उन्मूलनार्थ दुर्जनों को कठोर दण्ड देकर शान्त कर देता है उसी प्रकार श्री सोमदेवाचार्य जी तीक्ष्ण गम्भीर विचार विमर्श में बलिष्ठ और अपनी ललित दार्शनिक मनोनुकूल प्रवृत्ति द्वारा वादियों को परास्त करने वाले हैं । राजकीय पक्ष में मुद्दई के मनोरथों को पूर्ण करने वाला, तुला के समान परीक्षा द्वारा केस (मुकदमे की) सत्यता का निर्णायक होता है । इस प्रकार श्री सोमदेव स्वामी अपनी विद्वत्ता और ज्ञान गरिमा से राजा सदृश शोभायमान होते हैं ।।3॥

जो विद्वान अपनी विद्वता के अत्यधिक अभिमानी हैं उन उन्मत्त मदोन्मत्त विद्वान रुपी कुञ्जरों-हाथियों से मद का मर्दन करने में शेर समान हैं, उन्हें अपनी ललकार रूप गर्जना-ताड़ना से पलायित करने वाले, वादी रूपी गजों को परास्त करने में दुर्धर विवाद करने वाले और तार्किक चूड़ामणि अर्थात् तर्कशास्त्र विज्ञानियों में मूर्धन्य-सर्वोपरि सोमदेव सूरि के समक्ष वाद के समय साक्षात् बृहस्पति भी ठहरने में सक्षम नहीं हो सकता, अन्य की बात ही क्या है ? अन्य साधार पण्डित विद्वानों की तो बात ही क्या है ? अर्थात् वे तो क्षणभर भी टिक ही नहीं सकते।

।। इति ग्रन्थकार की प्रशस्ति समाप्त ।।

अन्त्यमङ्गलम्

मोक्षमार्ग के नेता जो, सत्यार्थ वस्तु दर्शाते हैं,
घात-चारों घातिया जो सर्वज्ञाता के नाथ हैं,
जिनके चरण प्रसाद से अनुवाद यह मैं कर सकी,
उन ऋषभ जिनके चरण में शत-शत नमन कर हरषती ।।1।।

"प्रस्तुत नीतिवाक्यामृतग्रन्थ की हिन्दी विजयोदय टीका की प्रशस्ति"

अथ श्री मूलसंघे, सरस्वतीगच्छे, बलात्कारगणे, श्री कुन्दकुन्दाचार्य परम्परायां, दिगम्बराम्नाये परम् पूज्य श्री अंकलीकर चारित्रचक्रवर्ती, मुनिकुञ्जर सम्राट प्रथमाचार्या आदिसागरस्य पट्टशिष्य परम् पूज्य तीर्थभक्त शिरोमणि, समाधि सम्राट् 18 भाषाभाषी उद्भटविद्वान आचार्य श्री महावीर कीर्ते: संघस्था कलिकालसर्वज्ञ-वात्सल्यरत्नाकर सन्मार्ग दिवाकरस्य शिष्या 105 प्रथम गणिनी आर्यिका ज्ञान चिन्तामणि विजयामती जी प्रासाज्ञया श्री 20वीं शताब्दे प्रथमाचार्य अंकलीकरस्य तृतीय पट्टाशिष्यतपस्वी सम्राट् भारत गौरव, वात्सल्यरत्नाकर सिद्धान्त चक्रवर्ती परम पूज्य आचार्य रत्न श्री 108 सन्मतिसागरस्य, इयं नीतिवाक्यामृतस्य हिन्दी विजयोदय टीका" विरचिता मया अद्य पौषकृष्णा द्वितीया मंगल वासरे, संध्याकाले पूर्वाह्नरात्रौ वीर नि.सं. 2521 परिसमाप्ता ता. 19-12-94 दिवसे श्री छोटे दीवान जी आदिनाथ जिनालये, जयपुरनाम्नानगरे । राजस्थान प्रान्ते ।।

शुभम् भूयात् ॐ नमः शान्ति

"।। जयतु श्री जिनवीर शासनम् ।।"

विनम्र सूचना :- इस टीका में मैंने अपनी अल्पबुद्धि के अनुसार शब्दार्थ, भावार्थ एवं मतार्थ का स्पष्टीकरण करने में यथाशक्ति प्रयास किया है, फिर भी कदाच कहीं अक्षर, पद, मात्रा, व्यञ्जन, स्वरादि की भूल हुई हो, अर्थ स्खलित हुआ हो तो परम् पूज्य गुरुजनों से प्रार्थना है कि वे अवश्य सुधार कर मुझे सूचित करें । विद्वानों से आशा है कि वे भी कमी या प्रमाद वश भूल हुई हो उसे सुधारकर पढ़ें और आगे के लिए मुझे सावधान होने का सुझाव भेजें । छद्मस्थ दशा में भूल होना स्वाभाविक है ।